अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रति का—॥)

[नोट—दूकानदारों तथा स्थायी ग्राहकोंके लिए २५% कमीशन काटकर ४॥) वार्षिक]

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट काशी ।

मुद्रक—द० ल० निघोजकर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी ।



अच्युत

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
तप्यतापकभाव अपारमार्थिक है [सिद्धान्त] ...	११५३	२
असंगपुरुषवादी सांख्य भी तप्यतापकभावको अपारमार्थिक ही कहता है उक्तिप्रत्युक्तिसे ऐसा निरूपण करके अपने मतमें दोषाभावका समर्थन	११५४	८
तप्यतापकभावको पारमार्थिक माननेमें सांख्योंकी अपवर्गकथा व्यर्थ ही है ऐसा दिखलाकर औपनिषद मतका औचित्य-प्रदर्शन	११५७	४
महद्दीर्घाधिकरण [११५८–११६९]		
द्वितीय अधिकरणका सार	११५८	६
कारणद्रव्यमें समवायसम्बन्धसे रहनेवाले गुण कार्यद्रव्यमें सजातीय अन्य गुणोंको उत्पन्न करते हैं वैशेषिकोंके इस नियमसे चेतनकारणवादके विरोधका उद्भावन ...	११५९	२
११वॉ सूत्र—महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ...	११६०	१
वैशेषिकोंकी प्रक्रियाका प्रदर्शन	११६१	२
परमाणुगुण पारिमाण्डल्य द्व्यणुकमें अपर पारिमाण्डल्यके आरम्भक न होनेसे उक्त प्रक्रियामें व्यभिचार है ...	११६२	३
'अणुपरिमाण दो द्व्यणुकोंके स्थूल कार्यके आरम्भक होनेसे वैशेषिकोंकी परिभाषा अप्रयोजक है' इसका विस्तारपूर्वक निरूपण	११६३	३
कार्यद्रव्यके विरोधी परिमाणसे आक्रान्त होनेसे पारिमाण्डल्य आदि आरम्भक नहीं हैं [शङ्का]	११६४	४
उक्त शङ्काका परिहार	११६५	४
संयोग आदिका उदाहरण देकर व्यभिचारका प्रपञ्चन ...	११६८	२
न विलक्षणत्वाधिकरण और शिष्टापरिग्रहाधिकरणसे यह गतार्थ नहीं है	११६९	६

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
परमाणुजगदकारणत्वाधिकरण [११७०–१२०८]		
तृतीय अधिकरणका सार	११७०	६
१२वाँ सूत्र—उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ...	११७०	१२
परमाणुकारणवादका उत्थापन	११७१	२
परमाणुओंके आद्यकर्मके निमित्तको न माननेपर कर्म नहीं होगा, और माननेपर भी उस समयमें दृष्ट प्रयत्न आदिके अभावसे कर्म नहीं होगा इस प्रकार परमाणुकारणवादका निरसन	११७४	७
आत्मामें समवायसम्बन्धसे रहने अथवा अणुओंमें समवायसंबन्धसे रहनेसे अदृष्ट आद्य कर्मका निमित्त नहीं है ...	११७५	८
संयोगके स्वरूपका खण्डन	११७७	५
महाप्रलयमें भी विभागकी उत्पत्तिके लिए परमाणुओंके कर्मका असम्भव-प्रदर्शन	११७८	७
१३वाँ सूत्र—समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ...	११८०	१
भिन्न समवायको माननेपर उसके अन्य समवायकी कल्पना करनेमें अनवस्था दिखलाकर समवाय निराकणपूर्वक परमाणुकारणवादका निराकरण	११८०	१५
'यहाँपर' इस प्रतीतिसे ग्राह्य समवाय समवायीसे नित्यसम्बद्ध ही है अतः अनवस्था नही है इस संभावनाका निराकरण ...	११८१	६
१४वाँ सूत्र—नित्यमेव च भावात्	११८३	१
परमाणुओंके प्रवृत्तिस्वभावत्व आदिसे चार प्रकारसे विकल्प करके अन्य दोषका प्रदर्शन	११८३	१०
१५वाँ सूत्र—रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ...	११८४	१२
परमाणुओंके रूपादियुक्त होनेसे उनमें स्थूलता और अनित्यताकी प्राप्ति होगी	११८५	४
परमाणुओंको नित्य सिद्ध करनेके लिए कणादसूचित प्रथम हेतुका खण्डन	११८६	४
द्वितीय हेतुका खण्डन	११८६	६
तृतीय हेतुका खण्डन	११८७	६
१६वाँ सूत्र—उभयथा च दोषात्	११९१	१
परमाणु अधिक गुणवाले और न्यूनगुणवाले माने जाते हैं अथवा नहीं इस प्रकार विकल्पकर अन्य दोषका प्रदर्शन ...	११९२	२
१७वाँ सूत्र—अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा	११९३	२५

विषय	पृ०	पं०
शिष्टोंसे स्वीकृत न होनेके कारण परमाणुकारणवाद प्रधानकारणवादके समान एक अंशसे भी आदरणीय नहीं है ...	११९४	२
गुणादिकी द्रव्याधीनता अत्यन्त भेद माननेसे विरुद्ध होती हुई गुणोंकी द्रव्यरूपतामें पर्यवसित होती है ...	११९४	७
अयुतसिद्धत्व अपृथग्देशत्व है या अपृथक्कालत्व है अथवा अपृथक्स्वभावत्व है ? तीन तरहसे विकल्प करके उसका खण्डन	११९७	६
युतसिद्धोंका सम्बन्ध संयोग है, अयुतसिद्धोंका सम्बन्ध समवाय है इसका खण्डन	११९९	२
स्वरूप और बाह्यरूपकी अपेक्षासे अनेक शब्द और प्रतीतिके दर्शनके समर्थनपूर्वक सम्बन्धीसे अतिरिक्त सम्बन्धका खण्डन	१२००	७
निरवयव अणु, आत्मा और मनके अवयवकी कल्पना करके संयोग माननेमे दोषप्रदर्शन	१२०२	३
निरवयव परमाणुओंसे सावयव द्व्यणुकका जतुकाष्ठके समान संयोग नहीं हो सकता	१२०३	९
परिच्छिन्न परमाणु सावयव होनेसे नित्य नहीं हो सकते ...	१२०५	३
सूत्रवाक्यशेषपूरणपूर्वक अधिकरणका उपसंहार	१२०८	३
समुदायाधिकरण [१२०९—		
चतुर्थ अधिकरणका सार	१२०९	६
१८ वाँ सूत्र—समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ...	१२१०	१
पूर्वोत्तरसङ्गतिका निरूपण	१२१०	१२
बौद्धमतोंका विभाग	१२११	२
वैभाषिक और सौत्रान्तिक मतमें स्वीकृत सर्वास्तित्वका निरूपण	१२११	५
उक्त मतका खण्डन	१२१३	४
१९ वाँ सूत्र—इतरेतर प्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्ति० ...	१२१६	१
संघातकर्त्ताके अभावमे भी अविद्या आदिके परस्पर कारण होनेसे लोकयात्रा हो सकती है यह पूर्वपक्ष और इस पूर्वपक्षका खण्डन	१२१६	१५
अविद्या आदिसे संघातके आक्षिप्त होनेपर भी निमित्त न होनेसे संघातकी सिद्धि नहीं होती	१२१८	६
संघातकी अनादिता विचारसह नहीं है	१२२०	२
भोक्ताके अभावसे संघातकी असिद्धि है	१२२१	३
२० वाँ सूत्र—उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्	१२२२	१

विषय	पृष्ठ पंक्ति
बौद्धों द्वारा स्वीकृत अविद्या आदि अन्योऽन्यकी उत्पत्तिमें निमित्त हैं, इसका खण्डन	१२२२ – ९
२१ वॉ सूत्र—असति प्रतिज्ञोपरोधो यौग०	१२२६ – १
हेतुके न रहनेपर भी फलोत्पत्ति माननेसे प्रतिज्ञाकी हानि होगी	१२२६ – १४
२२ वॉ सूत्र—प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधा०	१२२८ – १
पदार्थोंके बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक निरोधका प्रत्याख्यान	१२२८ – ११
२३ वॉ सूत्र—उभयथा च दोषात्	१२३१ – १
अविद्यादिके निरोधका प्रत्याख्यान	१२३१ – ११
२४ वॉ सूत्र—आकाशे चाविशेषात्	१२३२ – १
आकाश असद्रूप है, इसका खण्डन	१२३२ – १०
२५ वॉ सूत्र—अनुस्मृतेश्च	१२३५ – १
अनुभव और स्मरण दोनोंके एककर्तृक होनेपर भी ज्ञाता ... क्षणिक नहीं हो सकता	११३५ – ८
२६ वॉ सूत्र—नासतोऽदृष्टत्वात्	१२४२ – १९
अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती	१२४३ – २

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष २ } माघी पूर्णिमा १९९१ { अङ्क १

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

श्रीमणिकर्णिकाष्टकम् ।

त्वत्तीरे मणिकर्णिके ! हरिहरौ सायुज्यमुक्तिप्रदौ
वादं तौ कुरुतः परस्परमुभौ जन्तोः प्रयाणोत्सवे ।
मद्रूपो मनुजो ऽयमस्तु हरिणा प्रोक्तः शिवस्तत्क्षणात
तन्मध्याद् भृगुलाञ्छनो गरुडगः पीताम्बरो निर्गतः ॥ १ ॥

इन्द्राद्यास्त्रिदशाः पतन्ति नियतं भोगक्षये ते पुनः
जीयन्ते मनुजास्ततोऽपि पशवः कीटाः पतङ्गादयः ।
ये मातर्मणिकर्णिके तव जले मज्जन्ति निष्कल्मपाः
सायुज्येऽपि किरीटकौस्तुभधरा नारायणाः स्युर्नराः ॥ २ ॥

काशी धन्यतमा विमुक्तिनगरी सालङ्कृता गङ्गया
तत्रेयं मणिकर्णिका सुखकरी मुक्तिर्हि तत्किङ्करी ।
स्वर्लोकस्तुलितः सदैव विबुधैः काश्या समं ब्रह्मणा
काशी क्षोणितले स्थिता गुरुतरा स्वर्गो लघुः खे गतः ॥ ३ ॥

गङ्गातीरमनुत्तमं हि सकलं तत्रापि काश्युत्तमा
तस्यां सा मणिकर्णिकोत्तमतमा यत्रेश्वरो मुक्तिदः ।
देवानामपि दुर्लभं स्थलमिदं पापौघनाशक्षमं
पूर्वोपार्जितपुण्यपुञ्जगमकं पुण्यैर्जनैः प्राप्यते ॥ ४ ॥

दुःखाम्भोनिधिमग्नजन्तुनिवहास्तेषां कथं निष्कृतिः
ज्ञात्वैतद्धि विरञ्चिना विरचिता वाराणसी शर्मदा ।
लोकाः स्वर्गमुखास्ततोऽपि लघवो भोगान्तपातप्रदाः
काशी मुक्तिपुरी सदा शिवकरी धर्मार्थकामोत्तरा ॥ ५ ॥

एको वेणुधरो धराधरधरः श्रीवत्सभूपाधरो
योऽप्येकः किल शङ्करो विपधरो गङ्गाधरो माधरः ।
ये मातर्मणिकर्णिके ! तव जले मज्जन्ति ते मानवाः
रुद्रा वा हरयो भवन्ति वहवस्तेषां वहुत्वं कथम् ॥ ६ ॥

त्वत्तीरे मरणं तु मङ्गलकरं देवैरपि श्लाघ्यते
शक्रस्तं मनुजं सहस्रनयनैः द्रष्टुं सदा तत्परः ।
आयान्तं सविता सहस्रकिरणैः प्रत्युद्गतोऽभूत सदा
पुण्योऽसौ वृपगोऽथवा गरुडगः किं मन्दिरं यास्यति ॥ ७ ॥

मध्याह्ने मणिकर्णिकास्नपनजं पुण्यं न वक्तुं क्षमः
स्वीयैरब्दशतैश्चतुर्मुखसुरो वेदार्थदीक्षागुरुः ।
योगाभ्यासवलेन चन्द्रशिखरस्तत्पुण्यपारं गतः
त्वत्तीरे प्रकरोति सप्तपुरुषं नारायणं वा शिवम् ॥ ८ ॥

—श्रीशंकराचार्यः ।

भाष्य

न्योन्यभिन्नौ लक्ष्येते, यद्यर्थिनः स्वतोऽन्योऽर्थो न स्यात्, यस्याऽर्थिनो यद्विषयमर्थित्वं स तस्याऽर्थो नित्यसिद्ध एवेति तस्य तद्विषयमर्थित्वं न स्यात्, यथा प्रकाशात्मनः प्रदीपस्य प्रकाशाख्योऽर्थो नित्यसिद्ध एवेति न तस्य तद्विषयमर्थित्वं भवति, अप्राप्ते ह्यर्थेऽर्थिनोऽर्थित्वं स्यादिति। तथाऽर्थस्याऽप्यर्थत्वं न स्यात्, यदि स्यात् स्वार्थत्वमेव स्यात्, न चैतदस्ति। संबन्धिशब्दौ ह्येतावर्थी चार्थश्चेति। द्वयोश्च संबन्धिनोः संबन्धः स्यान्नैक-

भाष्यका अनुवाद

प्रसिद्ध है। वैसे ही अर्थ और अर्थी जगत्में परस्पर भिन्न ही देखे जाते हैं। यदि अर्थीका अपनेसे भिन्न कोई अर्थ न हो, तो जिस अर्थीका जिस विषयमें अर्थित्व है, उसके लिए वह विषय नित्यसिद्ध ही है, अतः उस विषयमें उसका अर्थित्व नहीं बन सकता। जैसे प्रकाशरूप दीपकका प्रकाश अर्थ नित्यसिद्ध ही है, इसलिए वह दीपक प्रकाशका अर्थी नहीं बन सकता, क्योंकि अप्राप्त अर्थमें ही अर्थीका अर्थित्व होता है। वैसे ही अर्थका अर्थत्व भी नहीं होता और यदि हो तो वह स्वके लिए ही होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। क्योंकि अर्थ और अर्थी ये दोनों शब्द एक दूसरेसे संबन्ध रखनेवाले हैं। और दो सम्बन्धियोंका सम्बन्ध

रत्नप्रभा

अर्थी तप्यः, तयोरभेदे बाधकमाह—यदीति। अर्थिनोऽन्यस्याऽर्थस्याऽभावाद् अर्थित्वाऽभाववत् अर्थाद् अन्यस्य अर्थिनोऽसत्त्वात् अर्थत्वाऽभावः प्रसज्येतेत्याह—तथाऽर्थस्यापीति। प्रसङ्गस्य इष्टत्वं निराकरोति—न चैतदस्तीति। अर्थत्वं हि कामनाविषयत्वम्, तच्च काम्यादन्यस्य कामयितुरसत्त्वान्न स्यात्, नहि स्वस्य स्वार्थत्वमस्ति, काम्यस्यैव कामयितृत्वायोगात्, तस्माद् भेदोऽङ्गीकार्य इत्यर्थः। इतश्च भेद इत्याह—सम्बन्धीति। तथाऽनर्थानर्थिनौ अपि भिन्नौ इत्यन्वयः। अर्थानर्थयोः स्वरू-

रत्नप्रभाका अनुवाद

तप्य है। उनका अभेद माननेमें बाधक कहते हैं—"यदि" इत्यादिसे। अर्थीसे भिन्न अर्थका अभाव होनेसे अर्थित्वके अभावकी भाँति अर्थसे अतिरिक्त अर्थीके अभावसे भी अर्थत्वके अभावकी प्राप्ति होगी ऐसा कहते हैं—"तथाऽर्थस्यापि" इत्यादिसे। उक्त अर्थत्वाभावकी इष्टताका निवारण करते हैं—"न चैतदस्ति" इत्यादिसे। अर्थत्व—कामनाका विषय होना। काम्यसे अतिरिक्त कामना करनेवालेके अभावमें अर्थत्व नहीं हो सकता। स्वका स्व अर्थ हो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि काम्य ही कामयिता नहीं हो सकता। इसलिए दोनोंमें परस्पर भेद मानना चाहिए ऐसा अर्थ है। इससे भी दोनोंमें भेद मानना चाहिए ऐसा कहते हैं—"सम्बन्धि"

भाष्य

स्यैव। तस्माद्भिन्नावेतावर्थार्थिनौ, तथाऽनर्थानर्थिनावपि। अर्थिनोऽनुकूलोऽर्थः प्रतिकूलोऽनर्थः, ताभ्यामेकः पर्यायेणोभाभ्यां संबध्यते। तत्राऽर्थस्याऽल्पीयस्त्वाद् भूयस्त्वाच्चाऽनर्थस्योभावप्यर्थानर्थावनर्थ एवेति तापकः स उच्यते। तप्यस्तु पुरुषो य एकः पर्यायेणोभाभ्यां संबध्यत इति तयोस्तप्यतापकयोरेकात्मतायां मोक्षानुपपत्तिः। जात्यन्तरभावे तु तत्संयोगहेतुपरिहारात् स्यादपि कदाचिद् मोक्षोपपत्तिरिति।

भाष्यका अनुवाद

होता है, एक का नहीं, इसलिए अर्थ और अर्थी दोनों भिन्न ही हैं। वैसे ही, अनर्थ और अनर्थी भी भिन्न हैं। अर्थीके अनुकूल विषयको अर्थ कहते हैं और प्रतिकूलको अनर्थ कहते हैं। एकका उन दोनोंके साथ क्रमसे सम्बन्ध होता है। उनमें अर्थके अल्प होने और अनर्थके अधिक होनेसे अर्थ और अनर्थ दोनों अनर्थरूप ही हैं, इसलिए अर्थको तापक कहते हैं। और क्रमसे दोनोंके साथ जो एक संबद्ध होता है, वह पुरुष तप्य है। यदि तप्य और तापकको एक मान लें, तो मोक्षकी सिद्धि नहीं होगी। परन्तु यदि उनमें जातिका भेद माना जाय, तो उसके संयोगके हेतुके त्यागद्वारा कदाचित् मोक्षकी सिद्धि हो भी सकती है।

रत्नप्रभा

पोक्तिपूर्वकं तापकत्वं स्फुटयति—अर्थिनोऽनुकूल इति। अद्वैतमते मुक्तेः अयोगम् उक्त्वा स्वमते योगमाह—जात्यन्तरेति। तया तप्यया बुद्ध्या पुरुषस्य संयोगः स्वस्वामिभावः, तस्य हेतुः अनादिः अविवेकः, तस्य परिहारो विवेकः, तस्मात् नित्यमुक्तस्याऽपि पुरुषस्य कथञ्चिद् उपचाराद् मोक्षोपपत्तिः इत्यर्थः। यथा योद्धृगतौ जयपराजयौ राजनि उपचर्येते, तथा पुरुषात् अत्यन्तभिन्नबुद्धिगतौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। उसी प्रकार अनर्थ और अनर्थी भी परस्पर भिन्न हैं ऐसा अन्वय है। अर्थ और अनर्थका स्वरूप कहकर उनमें तापकताका स्पष्टीकरण करते हैं—"अर्थिनोऽनुकूल" इत्यादिसे। अद्वैतमतमें मुक्तिकी अनुपपत्ति दिखलाकर अपने मतमें मुक्तिकी उपपत्ति दिखलाते हैं—"जात्यन्तर" इत्यादिसे। उस तप्य बुद्धिसे पुरुषका संयोग—स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध होता है, उसका कारण अनादि अविवेक है और विवेकसे उसका परिहार होता है। इसलिए नित्यमुक्त पुरुषके भी उपचारसे किसी प्रकार मोक्षकी उपपत्ति हो सकती है ऐसा तात्पर्य है। जैसे योद्धाओंके जय और पराजयका राजामें उपचार किया जाता है उसी प्रकार पुरुषसे अत्यन्त-

भाष्य

अत्रोच्यते—न, एकत्वादेव तप्यतापकभावानुपपत्तेः। भवेदेष दोषो यद्येकात्मतायां तप्यतापकावन्योन्यस्य विषयविषयिभावं प्रतिपद्येयाताम्। न त्वेतदस्त्येकत्वादेव। न ह्यग्निरेकः सन् स्वमात्मानं दहति, प्रकाशयति वा, सत्यप्यौष्ण्यप्रकाशादिधर्मभेदे परिणामित्वे च; किमु कूटस्थे ब्रह्मण्येकस्मिंस्तप्यतापकभावः संभवेत्। क्व पुनरयं तप्यतापकभावः स्यादिति ? उच्यते—किं न पश्यसि कर्मभूतो जीवद्देहस्तप्यः, तापकः

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—यह ठीक नहीं है, क्योंकि परमार्थमें एकता होनेसे ही तप्य-तापक भाव नहीं बनता। यदि इस अद्वैत अवस्थामें तप्य और तापक विषय-विषयि-भावको प्राप्त होते, तो ऊपर कहा हुआ दोष प्राप्त होता। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि वहां तो भिन्नता ही नहीं है। अकेली अग्नि यद्यपि उष्णता, प्रकाश आदि भिन्न धर्मोंसे युक्त है और परिणामशील है, तो भी वह अपनेको जलाती नहीं या प्रकाशित नहीं करती। फिर एक ही कूटस्थ ब्रह्ममें तप्यतापक-भाव किस प्रकार घटेगा। और यह तप्य-तापक भाव भी कहां होगा ? क्या तुम नहीं देखते कि कर्म (कारक) चैतन्ययुक्त देह तप्य है और सविता तापक है ?

रत्नप्रभा

बन्धमोक्षौ पुरुषे उपचर्येते, तदुक्तम्—'सैव च बध्यते मुच्यते च' इति।

सिद्धान्तयति—अत्रेति। किं परमार्थदृष्ट्या तप्यतापकभावानुपपत्तिरुच्यते, व्यवहारदृष्ट्या वा ? नाद्यः इत्याह—न, एकत्वादेवेति। दोषत्वमिति शेषः। तस्या अदोषत्वं विवृणोति—भवेदित्यादिना। एतत्—तात्त्विकं विषयविषयित्वं न तु अस्तीत्यर्थः। यत्र तप्यतापकभावो दृष्टः, तत्रैव इति व्यवहारपक्षमादाय सिद्धान्ती ब्रूते—किं न पश्यसीति। देहस्य तप्यत्वे देहात्मवादापत्तिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

भिन्न बुद्धिमें रहनेवाले बन्ध और मोक्षका पुरुषमें उपचार किया जाता है। सांख्यकारिकामें कहा है—वह बुद्धि ही बद्ध होती है और बुद्धि ही मुक्त होती है।

"अत्र" इत्यादिसे सिद्धान्त करते हैं। परमार्थदृष्टिसे तप्यतापकभावकी अनुपपत्ति कहते हो या व्यवहारदृष्टिसे ? पहला पक्ष ठीक नहीं है ऐसा कहते हैं—"नैकत्वादेव" इत्यादिसे। 'नैकत्वात्'के अनन्तर 'दोषत्वम्' इतना शेष समझना चाहिए। उक्त अनुपपत्तिकी अदोषता कहते हैं—"भवेत्" इत्यादिसे। एतत्—वास्तविक विषय-विषयित्व नहीं है ऐसा अर्थ है। जहाँपर तप्यतापकभाव देखा जाता है, वहींपर तप्यतापकभाव है इस व्यवहार-

भाष्य

सवितेति। ननु तप्तिर्नाम दुःखं सा चेतयितुर्नाऽचेतनस्य देहस्य। यदि हि देहस्यैव तप्तिः स्यात् सा देहनाशे स्वयमेव नश्यतीति तन्नाशाय साधनं नैषितव्यं स्यादिति। उच्यते—देहाभावेऽपि केवलस्य चेतनस्य तप्तिर्न दृष्टा। न च त्वयापि तप्तिर्नाम विक्रिया चेतयितुः केवलस्येष्यते। नाऽपि देहचेतनयोः संहतत्वम्, अशुद्ध्यादिदोषप्रसङ्गात्। न च तप्तेरेव तप्तिमभ्युपगच्छसि। कथं तवाऽपि तप्यतापकभावः? सत्त्वं तप्यं तापकं रज इति चेत्, न; ताभ्यां चेतनस्य संहतत्वानुपपत्तेः। सत्त्वानुरोधित्वाच्चेतनोऽपि

भाष्यका अनुवाद

ताप दुःखको कहते हैं और दुःख चेतनको होता है, अचेतन देहको नहीं होता। यदि देह ही को दुःख होता हो, तो देहके नाश होनेपर दुःख आपही आप नष्ट हो जायगा; उसके नाशके लिए साधन ढूंढ़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है। समाधान कहते हैं—देहके अभावमें केवल चेतनकी तप्ति कहीं भी नहीं देखी जाती। और तापरूपी विकार केवल चेतन को हो यह तुम्हें भी इष्ट नहीं है। वैसे ही, अशुद्धि आदि दोषोंकी प्राप्ति होनेसे देह और चेतनका संघात भी तुम्हें इष्ट नहीं है, न तप्तिका ताप होना तुम्हें मान्य है, फिर तुम्हारे मतमें भी तप्यतापकभाव किस प्रकार सिद्ध होगा? यदि कहो कि सत्त्व गुण तप्य है और रजोगुण तापक है, तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि उनका चेतनसे संबन्ध नहीं हो सकता। यदि कहो कि

रत्नप्रभा

इति शङ्कते—नन्विति। अचेतनस्यैव देहस्य तप्तिः न इति वदता सांख्येन वक्तव्यम्—किं चेतनस्य केवलस्य तप्तिः, किं वा देहसंहतस्य, उत तप्तेः, आहोस्वित् सत्त्वस्य। नाद्यः इत्याह—उच्यते इति। न द्वितीयतृतीयौ इत्याह—नापीत्यादिना। चतुर्थं शङ्कते—सत्त्वमिति। सत्त्वरजसोस्तप्यतापकत्वे

रत्नप्रभाका अनुवाद

पक्षको लेकर सिद्धान्ती कहते हैं—"किं न पश्यसि" इत्यादिसे। देहको यदि तप्य मानें, तो देहात्मवादकी आपत्ति हो जायगी ऐसी आशङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। केवल अचेतन देहका ताप नहीं होता है यह कहते हुए सांख्यसे पूछना चाहिए कि केवल चेतनकी तप्ति होती है अथवा देहसंहत—देहके साथ तादात्म्यको प्राप्त हुए चेतनकी तप्ति होती है या तापकी तप्ति होती है या सत्त्वगुणकी तप्ति होती है? उनमें केवल चेतनकी तप्ति होती है यह पहला कल्प ठीक नहीं है ऐसा कहते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे। दूसरा और तीसरा कल्प भी ठीक नहीं है ऐसा कहते हैं—"नापि" इत्यादिसे। चतुर्थ कल्पकी आशङ्का करते हैं—

भाष्य

तप्यत इव इति चेत्, परमार्थतस्तर्हि नैव तप्यत इत्यापततीवशब्द-प्रयोगात्। न चेत्तप्यते नेवशब्दो दोषाय। नहि डुण्डुभः सर्प इवेत्येतावता सविषो भवति, सर्पो वा डुण्डुभ इवेत्येतावता निर्विषो भवति। अतश्चाऽविद्याकृतोऽयं तप्यतापकभावो न पारमार्थिक इत्यभ्युपगन्तव्य-

भाष्यका अनुवाद

बुद्धिके अनुरोधसे चेतन दुःख भोगतासा प्रतीत होता है, यदि ऐसा हो, तो परमार्थसे वह दुःखी नहीं होता, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि इव शब्दका प्रयोग है। यदि परमार्थतः आत्मा तप्त नहीं होता, तब इवशब्द दोषावह नहीं है। निर्विष डुमुही साँपसा होता है—ऐसा कहनेसे डुमुही विषवाला नहीं हो जाता, वैसे ही साँप डुमुहीसा होता है—ऐसा कहनेसे साँप निर्विष नहीं हो जाता, इसलिए यह तप्यतापकभाव

रत्नप्रभा

पुरुषस्य बन्धाभावात् शास्त्रारम्भवैयर्थ्यम् इति परिहरति—नः ताभ्यामिति। असङ्गत्वेऽपि पुरुषस्य तप्यसत्त्वप्रतिबिम्बत्वात् तप्तिः इति शङ्कते—सत्त्वेति। तर्हि जलचन्द्रस्य चलनवत् मिथ्यैव तप्तिः इत्यस्मत्पक्ष आगत इत्याह—परमार्थत इति। इवशब्दमात्रेण कथं मिथ्यातप्त्यवगम इति चेत्, उच्यते—इवशब्दः तप्यबुद्धिसत्त्वसादृश्यं ब्रूते, तच्च सादृश्यं पुरुषस्य तप्यत्वरूपं चेत्, कल्पितमेव वस्तुतः तप्त्यभावाद् इत्युपपादयति—न चेदिति। पुरुषो वस्तुतस्तप्तिशून्यश्चेत् इवशब्दो न दोषाय, मिथ्यातप्तिपरत्वात् इत्यर्थः। मिथ्या-सादृश्यमेव दोष इति चेत्, नेत्याह—नहीति। सविषत्वं निर्विषत्वं च इव-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सत्त्वम्" इत्यादिसे। सत्त्वगुण और रजोगुणका परस्पर तप्यतापकभाव मानें, तो पुरुषके बन्धका अभाव होनेसे शास्त्रारम्भ ही व्यर्थ हो जायगा इस प्रकार परिहार करते हैं—"न ताभ्याम्" इत्यादिसे। पुरुषके असंग होनेपर भी तप्य जो सत्त्व है उसका प्रतिबिम्ब होनेसे पुरुषमें ताप होता है [उसकी निवृत्तिके लिए शास्त्रके आरम्भकी आवश्यकता है] ऐसी शङ्का करते हैं—"सत्त्व" इत्यादिसे। तब जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके गमनके समान तप्ति मिथ्या ही है यह हमारा मत ही आ गया ऐसा कहते हैं—"परमार्थतः" इत्यादिसे। केवल 'इव' शब्दसे तप्ति मिथ्या कैसे होती है ऐसा यदि कहो तो कहते हैं—'इव' शब्द तप्य बुद्धि-सत्त्वके सादृश्यको कहता है। वह सादृश्य पुरुषका तप्यत्वरूप है यह यदि कहो तो वह कल्पित ही है, क्योंकि वस्तुतः पुरुषमें तप्ति नहीं है ऐसा उपपादन करते हैं—"न चेत्" इत्यादिसे। पुरुष यदि वास्तवमें तप्तिरहित है तो 'इव'शब्द दोषाधायक नहीं है, क्योंकि वह मिथ्या-तप्तिपरक है ऐसा अर्थ है। मिथ्यासादृश्य ही दोष है ऐसा यदि कहो, तो सो भी नहीं

भाष्य

मिति, नैवं सति ममापि किंचिद् दुष्यति । अथ पारमार्थिकमेव चेतनस्य तप्यत्वमभ्युपगच्छसि, तवैव सुतरामनिर्मोक्षः प्रसज्येत, नित्यत्वाभ्युपगमाच्च तापकस्य । तप्यतापकशक्त्योर्नित्यत्वेऽपि सनिमित्तसंयोगापेक्षत्वात् तप्तेः । संयोगनिमित्तादर्शननिवृत्तावात्यन्तिकः संयोगोपरमः, ततश्चा-

भाष्यका अनुवाद

अविद्यात्मक है, ऐसा ही मानना पड़ेगा और ऐसा माननेमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है । परन्तु चेतनका भोक्तापन यदि तुम परमार्थ रूपसे मानोगे तो तुम्हारे ही मतमें मोक्षका अभाव हो जायगा, क्योंकि तुम्हारे मतमें ताप देनेवाला रजोगुण नित्य माना गया है । तप्य और तापक दोनों शक्तियोंके नित्य होनेपर भी ताप निमित्त सहित संयोगकी अपेक्षा रखता है । इससे संयोगके हेतुरूप अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेसे संयोगका आत्यन्तिक विराम हो जाने पर आत्यन्तिक

रत्नप्रभा

शब्दार्थः कल्पित एव द्रष्टव्यः । सांख्यस्य आविद्यके तप्यतापकत्वे सति ममाऽपि किञ्चित् न दुष्यति, किन्तु इष्टमेव सम्पन्नम् इत्यर्थः । यदि मिथ्यातप्यत्वाङ्गीकारे अपसिद्धान्तः स्यादिति भीत्या सत्यं तप्यत्वं पुरुषस्य उच्यते, तथापि अपसिद्धान्तः, कौटस्थ्यहानात् । अनिर्मोक्षश्च, सत्यस्य आत्मवन्निवृत्त्ययोगादित्याह— अथेत्यादिना । किञ्च, रजसो नित्यत्वाद् दुःखसातत्यमित्याह— नित्यत्वेति । अत्र सांख्यः शङ्कते— तप्येति । सत्त्वं पुरुषो वा तप्यशक्तिः, तापकशक्तिः तु रजः, निमित्तम् अविवेकात्मकम् अदर्शनं तमः, तेन सहितः सनिमित्तः संयोगः पुरुषस्य गुणस्वामित्वरूपः तदपेक्षत्वादित्यर्थः । मोक्षः— तप्यभावः । निमि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कह सकते ऐसा कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे । सविषयत्व और निर्विषयत्व जो इस शब्दका अर्थ है वह कल्पित ही है ऐसा समझना चाहिए । सांख्यमतका तप्यतापकभाव यदि अविद्या कल्पित हो, तो हमारी कोई हानि नहीं है, बल्कि इष्ट ही है ऐसा अर्थ है । मिथ्या तप्ति माननेसे सिद्धान्त चौपट हो जायगा, इस भयसे पुरुषकी तप्ति सत्य ही है ऐसा यदि कहो तो भी पुरुषकी कूटस्थताकी हानिसे अपसिद्धान्त होगा । और मोक्षका अभाव होगा क्योंकि सत्यवस्तुकी आत्माके समान निवृत्ति नहीं हो सकती ऐसा कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे । और रजके नित्य होनेसे दुःखकी नित्यता हो जायगी, ऐसा कहते हैं—"नित्यत्व" इत्यादिसे । यहांपर सांख्य शङ्का करता है—"तप्य" इत्यादिसे । सत्त्व अथवा पुरुष ही तप्यशक्ति है और रज ही तापकशक्ति है । निमित्त—अविवेकरूप अदर्शन अर्थात् तम । उस निमित्तके सहित होनेके कारण पुरुषका गुणस्वामित्वरूप संयोग सनिमित्त है । तप्ति उसकी अपेक्षा करती

भाष्य

त्यन्तिको मोक्ष उपपन्न इति चेत्, नः अदर्शनस्य तमसो नित्यत्वाभ्युपगमात्। गुणानां चोद्भवाभिभवयोरनियतत्वादनियतः संयोगनिमित्तोपरम इति वियोगस्याऽप्यनियतत्वात् सांख्यस्यैवाऽनिर्मोक्षोऽपरिहार्यः स्यात्। औपनिषदस्य त्वात्मैकत्वाभ्युपगमादेकस्य च विषयविषयिभावानुपपत्तेर्विकारभेदस्य च वाचारम्भणमात्रत्वश्रवणादनिर्मोक्षशङ्का स्वप्नेऽपि नोपजायते। व्यवहारे तु यत्र यथा दृष्टस्तप्यतापकभावस्तत्र तथैव स इति न चोदयितव्यः परिहर्तव्यो वा भवति ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

मोक्षकी सिद्धि होगी। यह ठीक नहीं है, अज्ञान तमोगुणरूप है और वह तमोगुण नित्य है, ऐसा तुम्हारे मतमें माना गया है। गुणोंका उद्भव और लय अनियमित होनेसे संयोगके निमित्तका उपराम भी अनियत है उसका वियोग भी अनियत है, इसलिए सांख्योंके ही मतमें मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। उपनिषत् पक्षमें तो आत्माके एक होनेसे विषय और विषयी ये दो भाव ही नहीं बनते और भिन्न २ विकार वागारम्भणमात्र हैं, ऐसी श्रुति होनेसे मोक्षके अभावका प्रसङ्ग स्वप्नमें भी नहीं आ सकता। परन्तु व्यवहारमें जहां जैसा तप्यतापकभाव है वहां वैसा ही है, इसलिये उसके लिए कोई प्रश्न उठाना या उसका खण्डन करना अनावश्यक है ॥१०॥

रत्नप्रभा

तस्य निवृत्त्यभावात् न मोक्ष इति सिद्धान्ती परिहरति—नेति। तमसो निवृत्त्यभावेऽपि विवेकेन उपरमात् मोक्ष इत्यत आह—गुणानां चेति। 'चलं गुणवृत्तम्' इत्यङ्गीकारादिति भावः। परपक्षे बन्धमोक्षानुपपत्तिम् उक्त्वा स्वपक्षमुपसंहरति—औपनिषदस्य त्विति। वस्तुत एकत्वेन बन्धाभावाद् न मुक्त्यभावशङ्कावसरः, व्यवहारे तु भेदाङ्गीकारात् तप्यतापकभावो बन्धः, तत्त्वज्ञानात् तन्निवृत्तिश्च उपपद्यत इति न चोद्यावसर इत्यर्थः ॥१०॥ (१) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है ऐसा अर्थ है। तप्ति—तापका अभाव मोक्ष है। निमित्तकी निवृत्ति न होनेसे मोक्ष नहीं होगा इस प्रकार सिद्धान्ती परिहार करता है—"न" इत्यादिसे। तमकी निवृत्ति न होनेपर भी विवेक द्वारा उसका उपरम होनेसे मोक्ष होता है इसपर कहते है—"गुणानाञ्च" इत्यादिसे। 'चलं गुणवृत्तम्' गुणोंका स्वभाव अस्थिर है ऐसा अंगीकार किया गया है ऐसा तात्पर्य है। परके पक्षमें बन्ध और मोक्षकी अनुपपत्ति दिखलाकर अपने पक्षका उपसंहार करते हैं—"औपनिषदस्य तु" इत्यादिसे। एक होनेके कारण वस्तुतः बन्धका अभाव है, इससे मुक्तिके अभावकी शंका होनेका अवकाश ही नहीं है, परन्तु व्यवहारमें भेदका अंगीकार करनेके कारण तप्यतापकभावरूप बन्ध और तत्त्वज्ञानसे उसकी निवृत्तिकी उपपत्ति होती है इसलिए आक्षेपका अवसर ही नहीं है ऐसा भावार्थ है ॥१०॥

[२ महद्दीर्घाधिकरण सू० ११]

नास्ति काणाददृष्टान्तः किं वाऽस्त्यसदृशोद्भवे ।
नास्ति, शुक्लः पटः शुक्लात्तन्तोरेव हि जायते ॥ १ ॥
अणु द्व्यणुकमुत्पन्नमनणोः परिमण्डलात् ।
अदीर्घाद् द्व्यणुकाद्दीर्घं त्र्यणुकं तन्निदर्शनम्* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

पूर्वपक्ष—असदृशकी उत्पत्तिमें काणादमतसिद्ध दृष्टान्त है अथवा नहीं ?

सन्देह—नहीं है, क्योंकि शुक्लवस्त्र शुक्ल तन्तुओंसे ही उत्पन्न होता है ।

सिद्धान्त—पारिमाण्डल्य परिमाणवाले—अणुपरिमाणसे भी सूक्ष्म परिमाणवाले परमाणुसे अणुपरिमाण द्व्यणुक उत्पन्न होता है और अणुपरिमाणवाले द्व्यणुकसे महत्परिमाण त्र्यणुक उत्पन्न होता है, अतः असदृशकी उत्पत्तिमें काणादमतसिद्ध दृष्टान्त है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपादमें चेतन ब्रह्मसे विलक्षण—अचेतन जगत् उत्पन्न होता है इस विषयमें सांख्योंके प्रति लोकप्रसिद्ध गोबर और विच्छूका दृष्टान्त कहा गया है उसीसे सांख्यों द्वारा किये गये आक्षेपका परिहार होनेपर भी स्वपक्षसाधनयुक्त परपक्षके दूषणका इस पादमें भी उपक्रम करके पूर्व अधिकरणमें साख्यमतमें दोष दिखलाया गया है । इसके अनन्तर वैशेषिकोंका मत दूषणीय है । वैशेषिकमतके प्रक्रियाबहुल होनेके कारण उसकी वासनासे वासित पुरुष उनकी प्रक्रियासे सिद्ध विसदृशकी उत्पत्तिके दृष्टान्तको छोड़कर ब्रह्मवादका आदर नहीं करेगा, अतः विसदृशकी उत्पत्तिमें काणादमतसिद्ध दृष्टान्त है या नहीं ? ऐसा विचार किया जाता है ।

यहांपर पूर्वपक्षी कहता है कि चूँकि शुक्ल वस्त्र शुक्ल तन्तुओंसे ही उत्पन्न होता है रक्त तन्तुओंसे नहीं होता इससे प्रतीत होता है कि विसदृशकी उत्पत्तिमें काणादमतसिद्ध दृष्टान्त नहीं है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—विसदृशकी उत्पत्तिमें दृष्टान्त है ही, क्योंकि परमाणु पारिमाण्डल्यपरिमाणसे युक्त है, अणुपरिमाण युक्त नहीं है । अणुपरिमाणरहित दो परमाणुओंसे अणुपरिमाणयुक्त द्व्यणुक उत्पन्न होता है । यह एक दृष्टान्त है । और ह्रस्वपरिमाणयुक्त द्व्यणुक दीर्घपरिमाणरहित है । उन तीन विसदृश द्व्यणुकोंसे दीर्घपरिमाणसे युक्त अणुपरिमाणरहित त्र्यणुक उत्पन्न होता है यह दूसरा दृष्टान्त है । इसी प्रकार वैशेषिकोंकी प्रक्रियामें सिद्ध और भी दृष्टान्तोंका निदर्शन करना चाहिए ।

भाष्य

प्रधानकारणवादो निराकृतः। परमाणुकारणवाद इदानीं निराकर्तव्यः। तत्राऽऽदौ तावद्योऽणुवादिना ब्रह्मवादिनि दोष उत्प्रेक्ष्यते, स प्रतिसमाधीयते। तत्राऽयं वैशेषिकाणामभ्युपगमः—कारणद्रव्यसमवायिनो गुणाः कार्यद्रव्ये समानजातीयं गुणान्तरमारभन्ते, शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्लस्य पटस्य प्रसवदर्शनात् तद्विपर्ययादर्शनाच्च। तस्माच्चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेऽप्यभ्युपगम्यमाने कार्येऽपि जगति चैतन्यं समवेयात्, तददर्शनात्तु न चेतनं ब्रह्म जगत्कारणं भवितुमर्हति इति। इममभ्युपगमं तदीययैव प्रक्रियया व्यभिचारयति—

भाष्यका अनुवाद

प्रधानकारणवादका निराकरण किया जा चुका है, अब परमाणुवादका निराकरण करना चाहिए। यहाँपर परमाणुवादी द्वारा ब्रह्मवादियोंके पक्षमें जो दोष लगाये जाते हैं, प्रथम उनका समाधान करते हैं। परमाणुवादी वैशेषिकोंका सिद्धान्त है कि कारण द्रव्यमें रहनेवाले गुण कार्यद्रव्य में अपने समान जातिवाले अन्य गुणोंको उत्पन्न करते हैं; क्योंकि शुक्ल तन्तुओंसे शुक्ल वस्त्र ही उत्पन्न होता है, विरुद्ध रंगवाला वस्त्र उत्पन्न होता नहीं दिखाई देता। इसलिए यदि चेतन ब्रह्मको जगत्का कारण मानें, तो उसका कार्यरूप जगत् भी चैतन्ययुक्त होना चाहिए, परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता, इसलिए चेतन ब्रह्म जगत्का कारण नहीं हो सकता है। उनके इस सिद्धान्तका उन्हींकी प्रक्रियासे खण्डन करते हैं—

रत्नप्रभा

वृत्तानुवादेन "महद्दीर्घवद्" इति स्वमतस्थापनात्मकाधिकरणस्य सङ्गतिमाह—प्रधानेति। यद्यपि सांख्यमतनिरासानन्तरं परमाणुवादो निराकर्तव्यः स्वमतस्थापनस्य स्मृतिपादे सङ्गतत्वात्, तथापि पूर्वत्र प्रधानगुणानां सुखादीनां जगति अनन्वयात् प्रधानस्याऽनुपादानत्वम् उक्तम्। तथा ब्रह्मगुणचैतन्यानन्वयाद् ब्रह्मणोऽपि न उपादानत्वमिति दोषो दृष्टान्तसंगतिलाभाद् अत्र समाधीयते इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वोक्त विषयके अनुवादसे 'महद्दीर्घवत्' इस अपने मतकी पुष्टि करनेवाले अधिकरणकी संगति कहते हैं—"प्रधान" इत्यादिसे। यद्यपि सांख्यमतके निराकरणके पश्चात् परमाणुवादका निराकरण करना उचित था, क्योंकि अपने मतकी स्थापना स्मृतिपादमें की जा चुकी है, तथापि पूर्वमें प्रधानके सुख, दुःख आदि गुणोंका जगत्में सम्बन्ध नहीं होता, इसलिए प्रधान जगत्का उपादान नहीं है, ऐसा कहा गया है, उसी प्रकार ब्रह्मके गुण

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ ११ ॥

पदच्छेद—महद्दीर्घवत्, वा, ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ।

पदार्थोक्ति—ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्—द्व्यणुकपरमाणुभ्याम्, महद्दीर्घवत्, वा—च—ह्रस्वाणुवत् [चेतनाद् ब्रह्मणोऽचेतनं जगत् भवति] अयमाशयः—वैशेषिका हि ह्रस्वाणोः द्व्यणुकाद् महत् दीर्घञ्च त्र्यणुकं जायते, द्व्यणुकनिष्ठह्रस्वत्वाणुत्वे त्र्यणुके स्वसमानजातीयह्रस्वत्वाणुत्वे नारभेते, किन्तु द्व्यणुकगतत्रित्वसंख्या त्र्यणुके महत्त्वादिकमारभते । एवं परिमण्डलात् परमाणोरणु द्व्यणुकं जायते । परमाणुगतं पारिमण्डल्यपरिमाणं द्व्यणुके तादृशं पारिमण्डल्यं नारभते, किन्तु परमाणुगतद्वित्वसंख्या द्व्यणुके ह्रस्वत्वादिकमारभते इति प्रक्रियां प्रदर्शयन्ति । इत्थं प्रदर्शयतां वैशेषिकाणां 'कारणगुणाः कार्ये स्वसमानजातीयगुणारम्भकाः' इति न्यायाभासं वदतां कथं न लज्जा भवेत्, व्यभिचारस्य स्फुटत्वात् । अत उक्तन्यायाभासेन वेदान्तसमन्वयो न विरुध्यते ।

भाषार्थ—द्व्यणुक और परमाणुसे महत् और दीर्घ [त्र्यणुक] तथा ह्रस्व और अणु [द्व्यणुक]के समान चेतन ब्रह्मसे अचेतन जगत्की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह कि वैशेषिक कहते हैं कि सूक्ष्म और अणु परिमाण द्व्यणुकसे महत्परिमाण और दीर्घ त्र्यणुककी उत्पत्ति होती है। द्व्यणुकमें रहनेवाले ह्रस्वत्व और अणुत्व त्र्यणुकमें स्वसमानजातीय ह्रस्वत्व और अणुत्वके आरम्भक नहीं होते, किन्तु द्व्यणुकगत त्रित्व-संख्या त्र्यणुकमें महत्त्व आदिकी आरम्भिका है। इसी प्रकार परिमण्डलपरिमाण परमाणुसे अणुपरिमाण द्व्यणुक उत्पन्न होता है परमाणुगत पारिमाण्डल्यपरिमाण द्व्यणुकमें स्वसमानजातीय पारिमाण्डल्यका आरम्भक नहीं है, किन्तु परमाणुगत द्वित्व संख्या द्व्यणुकमें ह्रस्वत्व आदिकी आरंभिका होती है। यह उनकी प्रक्रिया है। इस प्रकारकी प्रक्रिया दिखलाते हुए वैशेषिकोंको यह न्यायाभास—'कारणगुण कार्यमें स्वसमानजातीय गुणोंका आरम्भ करते हैं' कहते लज्जा नहीं आती, क्योंकि व्यभिचार बिलकुल स्पष्ट है। इसलिए उक्त न्यायाभाससे वेदान्तसमन्वय-का कोई विरोध नहीं है।

रत्नप्रभाका अनुवाद

चैतन्यकी जगत्में अनुवृत्ति न होनेसे ब्रह्म भी जगत्का उपादान नहीं है, इस दोषका दृष्टान्त संगतिके लाभसे निराकरण किया जाता है।

भाष्य

एषा तेषां प्रक्रिया—परमाणवः किल कञ्चित् कालमनारब्धकार्या यथायोगं रूपादिमन्तः पारिमाण्डल्यपरिमाणाश्च तिष्ठन्ति, ते च पश्चाद् दृष्टादिपुरःसराः संयोगसचिवाश्च सन्तो द्व्यणुकादिक्रमेण कृत्स्नं कार्यजातमारभन्ते, कारणगुणाश्च कार्ये गुणान्तरम्। यदा द्वौ परमाणू

भाष्यका अनुवाद

वैशेषिकोंकी यह प्रक्रिया है—यथायोग्य—यथासम्भव रूप आदियुक्त पारिमाण्डल्यपरिमाणवाले परमाणु कुछ कालतक कार्य आरंभ किये विना रहते हैं। पीछे वे अदृष्ट आदि कारणसे युक्त होकर द्व्यणुक आदिके क्रमसे समस्त कार्यसमूहका आरंभ करते हैं और कारणके गुण कार्यमें अन्य गुणोंका आरंभ करते

रत्नप्रभा

चेतनाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गवादी वेदान्तसमन्वयो विषयः, स किं 'यः समवायिकारणगुणः, सः कार्यद्रव्ये स्वसमानजातीयगुणारम्भकः, तन्तुशौक्ल्यवत् इति' न्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे न्यायस्य अव्यभिचाराद् विरुध्यते इति प्राप्ते, व्यभिचारात् न तद्विरोध इति सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—एषेत्यादिना। यद्यपि "न विलक्षणत्वाद्" (ब्र० सू० २।२।४) इत्यत्र चेतनाद् अचेतनसर्गः साधितः, तथापि वैशेषिकन्यायस्य तदीयप्रक्रियया व्यभिचारोक्त्यर्थत्वात् अस्य सूत्रस्य न गतार्थता। प्रलयकाले परमाणवो निश्चला असंयुक्ताः तिष्ठन्ति, सर्गकाले चाऽदृष्टवदात्मसंयोगात् तेषु कर्म भवति, तेन संयोगाद् द्रव्यान्तरसृष्टिः भवति, कारणगुणाः कार्ये गुणान्तरमारभन्ते इति सामान्येन प्रक्रियाम् उक्त्वा विशेषतः

रत्नप्रभाका अनुवाद

चेतन ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाला वेदान्त समन्वय इस अधिकरणका विषय है। उक्त वेदान्तसमन्वय 'जो समवायी कारणका गुण है, वह कार्य द्रव्यमें अपने समानजातीय गुणका आरम्भक होता है, जैसे तन्तुओंकी शुक्लता पटकी शुक्लताकी आरम्भिका है' इस न्यायसे विरुद्ध है, अथवा नहीं, ऐसा सन्देह उपस्थित होनेपर उक्त न्यायके अव्यभिचरित—अबाधित होनेसे विरुद्ध है, ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थित होनेपर उक्त न्यायके बाधित होनेसे वेदान्तसमन्वयका कोई विरोध नहीं है, ऐसा सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"एष" इत्यादिसे। यद्यपि 'न विलक्षणत्वात्' —इसमें चेतनसे अचेतन की सृष्टि सिद्ध की गई है, तो भी वैशेषिकन्यायका व्यभिचार उनकी ही प्रक्रियासे सिद्ध करना इस सूत्रका प्रयोजन होनेसे यह सूत्र गतार्थ नहीं है। प्रलयकालमें परमाणु निश्चल और असंयुक्त रहते हैं, और सृष्टिकालमें अदृष्टयुक्त आत्माके संयोगसे उनमें कर्म होता है, उस संयोगसे अन्य द्रव्यकी सृष्टि होती है। कारणके गुण कार्यमें गुणान्तर उत्पन्न

भाष्य

द्व्यणुकमारभेते, तदा परमाणुगता रूपादिगुणविशेषाः शुक्लादयो द्व्यणुके शुक्लादीनपरानारभन्ते। परमाणुगुणविशेषस्तु पारिमाण्डल्यं न द्व्यणुके पारिमाण्डल्यमपरमारभते, द्व्यणुकस्य परिमाणान्तरयोगाभ्युपगमात्। अणुत्वह्रस्वत्वे हि द्व्यणुकवर्तिनी परिमाणे वर्णयन्ति। यदापि द्वे द्व्यणुके

भाष्यका अनुवाद

हैं। जब दो परमाणु द्व्यणुकका आरंभ करते हैं, तब परमाणुओंमें रहनेवाले रूप आदि गुणविशेष शुक्ल आदि द्व्यणुकमें अन्य शुक्ल आदिका आरंभ करते हैं। परन्तु परमाणुगुणविशेष पारिमांडल्य द्व्यणुकमें अपर पारिमाण्डल्यका आरम्भ नहीं करता, क्योंकि द्व्यणुकका अन्य परिमाण माना गया है। कारण कि द्व्यणुकमें रहनेवाले परिमाणोंको वे अणुत्व और ह्रस्वत्व कहते हैं।

रत्नप्रभा

तामाह—यदा द्वाविति। परमाणुः—परिमण्डलः, तद्गतं परिमाणं पारिमाण्डल्यम् इत्युच्यते, तच्च स्वसमानजातीयगुणारम्भकं न भवति इत्युक्तन्यायस्य व्यभिचार इति भावः। व्यभिचारस्थलान्तरमाह—यदापि द्वे इति। द्वे द्वे इति शब्दद्वयं पठितव्यम्, एवं सति चतुर्भिः द्व्यणुकैः चतुरणुकारम्भ उपपद्यते। यथाश्रुते तु द्वाभ्यां द्व्यणुकाभ्यां महतः चतुरणुकस्य आरम्भो न युज्यते, कारणगतं महत्त्वं बहुत्वं वा विना कार्ये महत्त्वायोगात् इति मन्तव्यम्। प्रकटार्थकारास्तु यद् द्वाभ्यां द्व्यणुकाभ्यामारब्धं कार्ये महत्त्वं दृश्यते, तस्य हेतुः प्रचयो नाम प्रशिथिलावयवसंयोग इति रावणप्रणीते भाष्ये दृश्यते इति चिरन्तनवैशेषिकदृष्ट्या

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं, सामान्य रीतिसे ऐसी प्रक्रिया कहकर विशेष रीतिसे उसे कहते हैं—"यदा द्वौ" इत्यादिसे। परमाणु परिमण्डल है और परमाणुगत परिमाण पारिमाण्डल्य कहलाता है, वह पारिमांडल्य परिमाण स्वसमानजातीय परिमाण उत्पन्न नहीं करता, इस प्रकार उक्त न्यायका व्यभिचार होता है, यह आशय है। व्यभिचारका अन्य स्थल कहते हैं—"यदापि द्वे" इत्यादिसे। दो दो इस प्रकार दो बार दो शब्द पढ़ना चाहिए। ऐसा करनेसे चार द्व्यणुकसे चतुरणुककी उत्पत्ति उपपन्न होगी। यथाश्रुत अर्थात् एक ही बार 'द्वि' शब्दका ग्रहण करनेसे तो दो द्व्यणुकोंसे महत् चतुरणुककी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कारणगत महत्त्व और बहुत्वके बिना कार्यमें महत्त्वका योग नहीं होता, ऐसा समझना चाहिए। किन्तु प्रकटार्थकार तो दो द्व्यणुकोंसे उत्पन्न कार्यमें जो महत्त्व दीखता है, उसका हेतु प्रचय अर्थात् प्रशिथिल अवयवोंका संयोग है, ऐसा रावणप्रणीत भाष्यमें है, इस प्रकार चिरन्तन वैशेषिक दृष्टिसे यह भाष्य

भाष्य

चतुरणुकमारभेते, तदापि समानं द्व्यणुकसमवायिनां शुक्लादीनामारम्भकत्वम्। अणुत्वह्रस्वत्वे तु द्व्यणुकसमवायिनी अपि नैवारभेते, चतुरणुकस्य महत्त्वदीर्घत्वपरिमाणयोगाभ्युपगमात्। यदापि बहवः परमाणवो बहूनि वा द्व्यणुकानि द्व्यणुकसहितो वा परमाणुः कार्यमारभते, तदापि समानैषा योजना। तदेवं यथा परमाणोः परिमण्डलात् सतोऽणु ह्रस्वं च द्व्यणुकं जायते, महद्दीर्घं च त्र्यणुकादि, न परिमण्डलम्, यथा वा द्व्यणुकादणो-

भाष्यका अनुवाद

परन्तु जब दो द्व्यणुक चतुरणुकका आरम्भ करते हैं, तब भी द्व्यणुकमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले शुक्ल आदि गुण पूर्ववत् ही कार्यके आरम्भक होते हैं। परन्तु अणुत्व और ह्रस्वत्व द्व्यणुकमें समवायसंबन्धसे रहनेपर भी कार्यके आरम्भक नहीं होते हैं, क्योंकि चतुरणुकका महत्त्व और दीर्घत्व परिमाण माना गया है। परन्तु जब बहुत परमाणु या बहुत द्व्यणुक या द्व्यणुकसहित परमाणु किसी कार्यका आरम्भ करते हैं, तब भी यह योजना समान है। तो इस प्रकारसे जैसे परिमण्डल परिमाण परमाणुओंसे, अणु और ह्रस्व द्व्यणुक उत्पन्न होता है, और महत्

रत्नप्रभा

इदं भाष्यमित्याहुः। सर्वथापि द्व्यणुकगतह्रस्वत्वाणुत्वपरिमाणयोः नारम्भकत्वाद् व्यभिचारः। यद्यपि तार्किकाः द्वाभ्यामेव परमाणुभ्यां द्व्यणुकं त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकमिति कल्पयन्ति, तथापि तर्कस्य अप्रतिष्ठानात् न नियम इति मत्वा ब्रूते—**यदापि बहव इति**। कारणगुणाः शुक्लादयः समानजातीयगुणारम्भकाः, कार्यद्रव्यपरिमाणं तु न कारणपरिमाणारभ्यम्, किन्तु कारणगतसंख्यारभ्यम् इति प्रक्रिया तुल्या इत्यर्थः। एवं प्रक्रियां दर्शयित्वा सूत्रं योजयन् व्यभिचारमाह—**तदेवमिति**। परमाणुभ्य एव महद् दीर्घं चेत्यनियतप्रक्रियामाश्रित्य उक्तम्, नियतप्रक्रियामाश्रित्य व्यभिचारमाह—**यथा वेति**। अणुह्रस्वेभ्यो द्व्यणुकेभ्योऽणुद्रव्यं न जायते

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसा कहते हैं। परन्तु सर्वथा द्व्यणुकगत ह्रस्वत्व और अणुत्व परिमाणके अनारंभक होनेसे व्यभिचार है ही। यद्यपि तार्किक दो ही परमाणुओंसे द्व्यणुक और तीन द्व्यणुकोंसे त्र्यणुक उत्पन्न होता है, ऐसी कल्पना करते हैं, तो भी तर्कके अप्रतिष्ठित होनेसे यह नियम नहीं है, ऐसा समझकर कहते हैं—"यदापि बहवः" इत्यादिसे। कारणके गुण शुक्ल आदि समानजातीय गुण उत्पन्न करते हैं, परन्तु कार्यद्रव्यपरिमाण कारणगतपरिमाणसे उत्पन्न नहीं होता, किन्तु कारणगत सङ्ख्यासे उत्पन्न होता है, यह प्रक्रिया तुल्य है, ऐसा तात्पर्य है। इस प्रकार प्रक्रिया दिखलाकर सूत्रको युक्त करके व्यभिचार कहते हैं—"तदेवम्" इत्यादिसे। परमाणुसे ही महत् और दीर्घ उत्पन्न होता है, ऐसी अनियत प्रक्रियाके आधारसे कहा गया

भाष्य

ह्रस्वाच्च सतो महद्दीर्घं च त्र्यणुकं जायते नाऽणु नो ह्रस्वम्, एवं चेतनाद् ब्रह्मणोऽचेतनं जगज्जनिष्यत इत्यभ्युपगमे किं तव च्छिन्नम्।

अथ मन्यसे—विरोधिना परिमाणान्तरेणाऽऽक्रान्तं कार्यद्रव्यं द्व्यणुकादीत्यतो नारम्भकाणि कारणगतानि पारिमाण्डल्यादीनीत्यभ्युपगच्छामि, न तु चेतनाविरोधिना गुणान्तरेण जगत आक्रान्तत्वमस्ति, येन कारणगता चेतना कार्ये चेतनान्तरं नाऽऽरभेत, न ह्यचेतना नाम

भाष्यका अनुवाद

और दीर्घ त्र्यणुकादि उत्पन्न होते हैं, परिमंडल उत्पन्न नहीं होता, अथवा जिस प्रकार द्व्यणुक अणु और ह्रस्व है, तो भी उससे महत् और दीर्घ त्र्यणुक उत्पन्न होता है, अणु उत्पन्न नहीं होता या ह्रस्व उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार चेतन ब्रह्मसे अचेतन जगत् उत्पन्न होगा, ऐसा स्वीकार करनेमें तुम्हारी क्या हानि है?

पूर्वपक्षी—यदि तुम ऐसा मानो कि द्व्यणुकादि कार्यद्रव्य विरोधी अन्य परिमाणसे व्याप्त हैं, इस कारण कारणगत पारिमाण्डल्यादि उनके आरम्भक नहीं होते ऐसा मैं स्वीकार करता हूँ। परन्तु चेतनासे विरोधी अन्य गुणसे जगत् युक्त नहीं है, जिससे कि कारणगत चेतना कार्यमें अन्य चेतनाका आरम्भ न करे, क्योंकि

रत्नप्रभा

ह्रस्वमपि न जायत इति व्यभिचार इत्यर्थः। सूत्रे वाशब्दश्चार्थोऽनुक्ताणुसमुच्चयार्थः। तथा च ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां द्व्यणुकपरमाणुभ्यां महद्दीर्घाणुवत् चेतनादचेतनं जायते इति सूत्रयोजना। तत्र ह्रस्वाद् महद्दीर्घं त्र्यणुकं परिमण्डलादणु द्व्यणुकमिति विभागः। दृष्टान्तवैषम्यं शङ्कते—अथ मन्यस इति। अचेतनैव विरोधिगुण इत्यत आह—नह्यचेतनेति। कार्यद्रव्यस्य परिमाणान्तराऽऽक्रान्तत्वम् अङ्गीकृत्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। नियत प्रक्रियाका आश्रयण करके व्यभिचार कहते हैं—"यथा वा" इत्यादिसे। अणु और ह्रस्व द्व्यणुकोंसे अणु द्रव्य उत्पन्न नहीं होता और ह्रस्व भी उत्पन्न नहीं होता, ऐसा व्यभिचार है, यह अर्थ है। सूत्रमें वाशब्द चकारार्थके (औरके अर्थमें) है और अनुक्त समुच्चयका वाचक है। इसलिए जैसे ह्रस्व और परिमण्डल द्व्यणुक और परमाणुओंसे महत्, दीर्घ, और ह्रस्व उत्पन्न होता है, वैसे ही चेतनसे अचेतन उत्पन्न होता है, ऐसी सूत्रकी योजना करनी चाहिए। उसमें ह्रस्वसे महत् और दीर्घ त्र्यणुक और परिमण्डलसे अणु द्व्यणुक उत्पन्न होता है, ऐसा विभाग है। दृष्टान्तमें विषमताकी शंका करते हैं—"अथ मन्यसे" इत्यादिसे। अचेतना ही विरोधी गुण है, ऐसी कोई शंका करे, तो उसपर कहते हैं—"न

भाष्य

चेतनाविरोधी कश्चिद् गुणोऽस्ति, चेतनाप्रतिषेधमात्रत्वात्, तस्मात् पारिमाण्डल्यादिवैषम्यात् प्राप्नोति चेतनाया आरम्भकत्वम्—इति।

मैवं मंस्थाः—यथा कारणे विद्यमानानामपि पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वमेवं चैतन्यस्यापीत्यस्यांशस्य समानत्वात्। न च परिमाणान्तराक्रान्तत्वं पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वे कारणम्, प्राक्परिमाणान्तरारम्भात् पारिमाण्डल्यादीनामारम्भकत्वोपपत्तेः, आरब्धमपि कार्यद्रव्यं प्राग्गुणारम्भात् क्षणमात्रमगुणं तिष्ठतीत्यभ्युगमात्। न च परिमाणान्तरा-

भाष्यका अनुवाद

अचेतना नामका चेतनाका विरोधी कोई गुण नहीं है, क्योंकि अचेतना चेतनाका अभावमात्र है। इसलिए पारिमाण्डल्य आदिसे भिन्न होनेसे चेतना कार्यका आरम्भ कर सकती है।

सिद्धान्ती—तो ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे कारणमें विद्यमान भी पारिमाण्डल्यादि अनारंभक हैं, वैसे चैतन्य भी—इतना अंश दोनों पक्षोंमें समान है। और पारिमाण्डल्यादिके अनारंभकत्वमें उनका (द्व्यणुकादिका) अन्य परिमाणसे युक्त होना कारण नहीं है, क्योंकि अन्य परिमाणके आरंभके पहिले पारिमाण्डल्यादिका आरंभकत्व उपपन्न हो सकता है, क्योंकि आरब्ध भी कार्य द्रव्य गुणोंके आरंभसे पहिले क्षणभर गुणरहित रहता है, ऐसा

रत्नप्रभा

विवक्षितांशसाम्यमाह—मैवमिति। अङ्गीकारं त्यजति—न चेति। उत्पन्नं हि परिमाणान्तरं विरोधि भवति, तदुत्पत्तेः प्राग्विरोध्यभावात् द्व्यणुके पारिमाण्डल्यारम्भः किं न स्यात् इत्यर्थः। ननु विरोधिपरिमाणेन सहैव द्रव्यं जायत इत्यत आह—आरब्धमपीति। सहोत्पत्तौ अपसिद्धान्तः। अतो विरोध्यभावः सिद्ध इति भावः। अणुत्वाद्यारम्भे व्यग्रत्वात् पारिमाण्डल्यादेः स्वसमानगुणानारम्भकत्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

ह्यचेतना" इत्यादिसे। कार्यद्रव्य अन्य परिमाणसे आक्रान्त—युक्त है, ऐसा स्वीकार करके विवक्षित अंशमें साम्य कहते हैं—"मैवम्" इत्यादिसे। अंगीकारका त्याग करते हैं—"न च" इत्यादिसे। उत्पन्न हुआ अन्य परिमाण विरोधी होता है। उसकी उत्पत्तिके पूर्व विरोधीका अभाव होनेसे द्व्यणुकमें पारिमाण्डल्यकी उत्पत्ति कैसे न होगी? ऐसा अर्थ है। परन्तु विरोधी परिमाणके साथ ही द्रव्य उत्पन्न होता है, इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—"आरब्धमपि" इत्यादिसे। साथ उत्पत्ति माननेमें अपसिद्धान्त होता है, ऐसा अर्थ है। इससे विरोधीका अभाव सिद्ध होता है, ऐसा तात्पर्य है। अणुत्व आदिके उत्पन्न

भाष्य

रम्भे व्यग्राणि पारिमाण्डल्यादीनीत्यतः स्वसमानजातीयं परिमाणान्तरं नारभन्ते, परिमाणान्तरस्याऽन्यहेतुत्वाभ्युपगमात्। 'कारणबहुत्वात् कारणमहत्त्वात् प्रचयविशेषाच्च महत्' (वै० सू० ७।१।९) 'तद्विपरीतमणु' (७।१।१०) 'एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते' (७।१।१७) इति हि

भाष्यका अनुवाद

स्वीकार किया गया है। उसी प्रकार पारिमाण्डल्यादि अन्य परिमाणके आरंभ करनेमें व्यग्र होनेके कारण अपने स्वसमानजातीय अन्य परिमाणका आरंभ नहीं करते, ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि अन्य परिमाणके अन्य हेतु कहे गये हैं, क्योंकि 'कारणबहुत्वात्०' (कारणके बहुत्वसे, कारणके महत्त्वसे और अवयवके संयोग विशेषसे महत परिमाण उत्पन्न होता है।) 'तद्विपरीतमणु०' (उससे विपरीत अणु परिमाण उत्पन्न होता है।) 'एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे०'

रत्नप्रभा

इत्याशङ्क्य निषेधति—न चेति। व्यग्रत्वम्—अन्यथासिद्धम्। तत्र हेतुः—परिमाणान्तरस्येति। अन्यहेतुकत्वे सूत्राणि उदाहरति—कारणेति। कारणानां द्व्यणुकानां बहुत्वात् त्र्यणुके महत्त्वम्, मृदो महत्त्वाद् घटे महत्त्वम्, द्वितूलपिण्डारब्धेऽतिस्थूलतूलपिण्डे प्रचयाद् अवयवसंयोगविशेषात् महत्त्वमित्यर्थः। महत्त्वविरुद्धम् अणुत्वं परमाणुगतद्वित्वसंख्यया द्व्यणुके भवतीत्याह—तदिति। यत् महत्त्वस्य असमवायिकारणम्, तदेव महत्त्वसमानाधिकरणस्य दीर्घत्वस्य, यच्च अणुत्वस्य असमवायिकारणम्, तदेव अणुत्वाऽविनाभूतह्रस्वत्वस्य असमवायिकारणमिति अतिदिशति—एतेनेति। अतो महत्त्वादौ अहेतुत्वात् पारिमाण्डल्यादीनां व्यग्रत्वम् असिद्ध-

रत्नप्रभाका अनुवाद

करनेमें व्यग्र होनेसे पारिमाण्डल्य आदि स्वसमान गुणको उत्पन्न नहीं कर सकते, ऐसी आशंका करके उसका निषेध करते हैं—"न च" इत्यादिसे। व्यग्रत्व अन्यथा सिद्ध है, इसपर हेतु कहते हैं—"परिमाणान्तरस्य" इत्यादिसे। परिमाणके अन्य हेतु हैं, यह सिद्ध करनेके लिए सूत्रोंको उद्धृत करते हैं—"कारण" इत्यादिसे। कारण—द्व्यणुकोंके बहुत्वसे त्र्यणुकमें महत्त्व उत्पन्न होता है, मृत्तिकाके महत्त्वसे घटमें महत्त्व उत्पन्न होता है और दो तूलपिंडोंसे आरब्ध अतिस्थूल तूलपिंडमें प्रचयसे—अवयवोंके संयोगविशेषसे महत्त्व उत्पन्न होता है, ऐसा अर्थ है। महत्त्वविरुद्ध अणुत्व परमाणुगत द्वित्व सख्यासे द्व्यणुकमें उत्पन्न होता है, ऐसा कहते हैं—"तत्" इत्यादिसे। महत्त्वका जो असमवायी कारण है, वही महत्त्वसमानाधिकरण दीर्घत्वका है और जो अणुत्वका असमवायी कारण है, वह अणुत्वसमानाधिकरण ह्रस्वत्वका है, ऐसा

भाष्य

काणभुजानि सूत्राणि। न च संनिधानविशेषात् कुतश्चित् कारणबहुत्वादीन्येवाऽऽरभन्ते, न पारिमाण्डल्यादीनीत्युच्येत, द्रव्यान्तरे गुणान्तरे वाऽऽरभ्यमाणे सर्वेषामेव कारणगुणानां स्वाश्रयसमवायाविशेषात्। तस्मात् स्वभावादेव पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वम्, तथा चेतनाया अपीति

भाष्यका अनुवाद

(इससे दीर्घत्व और ह्रस्वत्वका व्याख्यान हुआ) ये कणादके सूत्र हैं। और किसी संनिधानविशेषसे कारणबहुत्व आदि ही आरंभक होते हैं, पारिमाण्डल्य आदि आरंभक नहीं होते, ऐसा कहा नहीं जा सकता, क्योंकि अन्य द्रव्य या अन्य गुण आरंभ करनेमें सब कारणगुण स्वाश्रयमें समानरूपसे समवेत हैं। इसलिए स्वभावसे ही पारिमाण्डल्य आदि अनारंभक हैं, वैसे चेतना भी

रत्नप्रभा

मिति भावः। तेषां सन्निधिविशेषाभावाद् न समानगुणारम्भकत्वम् इत्यपि न वाच्यमित्याह—न चेति। पारिमाण्डल्यादीनाम् अपि बहुत्वादिवत् समवायिकारणगतत्वाविशेषात् इत्यर्थः। तेषाम् अनारम्भकत्वे कार्यद्रव्यस्य विरोधिगुणाक्रान्तत्वं व्यग्रत्वम् असन्निधिर्वा न हेतुरिति उक्तिफलमाह—तस्मादिति। यत्तु कारणगुणः स्वसमानगुणारम्भक इति व्याप्तेः सामान्यगुणेषु पारिमाण्डल्यादिषु व्यभिचारेऽपि यो द्रव्यसमवायिकारणगतो विशेषगुणः स स्वसमानजातीयगुणारम्भक इति व्याप्तेः चैतन्यस्य विशेषणत्वादारम्भकत्वं दुर्वारमिति, तत् मन्दम्; चित्रपटहेतु-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अतिदेश करते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। इस प्रकार महत्त्व आदिका हेतु न होनेसे पारिमाण्डल्य आदि व्यग्र हैं, यह प्रसिद्ध है, ऐसा तात्पर्य है। और कारणबहुत्व आदि सन्निहित हैं और पारिमांडल्य सन्निहित नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। बहुत्व आदिके समान पारिमाण्डल्य आदि भी समानरूपसे ही समवायी कारणमें स्थित हैं, ऐसा अर्थ है। पारिमांडल्य आदिके अनारंभक होनेपर कार्यद्रव्यका विरोधी गुणों द्वारा आक्रान्त होनारूप व्यग्रत्व अथवा असन्निधि कारण नहीं है, ऐसा फलित—"तस्मात्" इत्यादिसे कहते हैं। यहाँ कोई यदि शंका करे कि कारणगुण स्वसमानगुणका आरंभक है, इस व्याप्तिका यद्यपि पारिमांडल्यादि सामान्यगुणोंमें व्यभिचार है, तो भी द्रव्यके समवायी कारणमें स्थित जो विशेष गुण है, वह स्वसमानजातीय गुणका आरंभक है, ऐसी व्याप्ति होनेके कारण चैतन्यके विशेष गुण होनेसे उसका आरंभकत्व दुर्वार है, तो यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि चित्रपटके हेतु

भाष्य

द्रष्टव्यम्। संयोगाच्च द्रव्यादीनां विलक्षणानामुत्पत्तिदर्शनात् समानजातीयोत्पत्तिव्यभिचारः। द्रव्ये प्रकृते गुणोदाहरणमयुक्तमिति चेत्, न; दृष्टान्तेन विलक्षणारम्भमात्रस्य विवक्षितत्वात्। न च द्रव्यस्य द्रव्यमेवोदाहर्तव्यं गुणस्य वा गुण एवेति कश्चिन्नियमे हेतुरस्ति। सूत्रकारोऽपि भवतां द्रव्यस्य गुणमुदाजहार—'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात् संयोगस्य पञ्चात्मकं न विद्यते' (वै० सू० ४।२।२) इति, यथा प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयो-

भाष्यका अनुवाद

अनारंभक है, ऐसा समझना चाहिए। इसी प्रकार संयोगसे विलक्षण द्रव्य आदिकी उत्पत्ति देखनेमें आती है, इससे समान जातिवालेकी उत्पत्तिमें व्यभिचार है। द्रव्य प्रकृत है, उसमें गुणका उदाहरण अयुक्त है, ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि दृष्टान्तसे विलक्षण आरंभमात्र विवक्षित है। और द्रव्यका उदाहरण द्रव्य ही होना चाहिए और गुणका गुण ही, इस नियममें कोई हेतु नहीं है। तुम्हारे सूत्रकारने भी द्रव्यका गुण उदाहरण दिया है—'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात्०' (प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षका संयोग अप्रत्यक्ष होनेसे शरीर पंचभूतात्मक नहीं है) ऐसा। जैसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भूमि और

रत्नप्रभा

तन्तुगतेषु नीलादिरूपेषु विजातीयचित्ररूपहेतुषु व्यभिचारात् चैतन्यस्य आत्मत्वेन गुणत्वाभावाच्चेति मन्तव्यम्। तस्मात् चेतनाद् विजातीयारम्भो युक्त इति स्थितम्, तत्र उदाहरणान्तरमाह—संयोगाच्चेति। ननु चेतनं ब्रह्म कार्योपादानत्वाद् द्रव्यम्, तत्र विलक्षणस्य उपादानमिति प्रकृते किञ्चिद् द्रव्यमेव विलक्षणकार्यकरमुदाहर्तव्यम्, न संयोगस्य गुणस्य उदाहरणं युक्तमिति शङ्कते—द्रव्य इति। गुणाद् द्रव्यवत् चेतनादचेतनारम्भ इति विलक्षणारम्भकत्वांशेऽयं दृष्टान्त इति परिहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

तन्तुओंमें रहनेवाले नील आदि रूप जो विजातीय चित्र रूपके हेतु हैं, उनमें व्यभिचार है और चैतन्य आत्मा है, गुण नहीं है, इसलिए चेतन—ब्रह्मसे विजातीय—अचेतन जगत्की उत्पत्ति युक्त है। उसमें अन्य उदाहरण देते हैं—"संयोगाच्च" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि चेतन ब्रह्म कार्यका उपादान होनेसे द्रव्य है, वह विलक्षणका उपादान नहीं है, ऐसा प्रकृत होनेपर कोई द्रव्य जो विलक्षण कार्यकारक हो, उसीका उदाहरण देना चाहिए, संयोगरूप गुणका उदाहरण देना युक्त नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"द्रव्य" इत्यादिसे। गुणसे द्रव्यके समान, चेतनसे अचेतनकी उत्पत्ति, इस विलक्षण आरंभकत्व अंशमें यह दृष्टान्त है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—

भाष्य

भूम्याकाशयोः समवयन् संयोगोऽप्रत्यक्षः, एवं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षेषु पञ्चसु भूतेषु समवयच्छरीरमप्रत्यक्षं स्यात् । प्रत्यक्षं हि शरीरम् , तस्मान्न पाञ्चभौतिकमिति । एतदुक्तं भवति—गुणश्च संयोगो द्रव्यं शरीरम् । 'दृश्यते तु' (ब्र० सू० २।१।६) इति चाऽत्राऽपि विलक्षणोत्पत्तिः प्रपञ्चिता । नन्वेवं सति तेनैवैतद्गतम् । नेति ब्रूमः—त सांख्यं प्रत्युक्तम्, एतत्तु वैशेषिकं प्रति । नन्वतिदेशोऽपि समानन्यायतया कृतः—'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः' (ब्र० सू० २।१।१२) इति । सत्यमेतत् । तस्यैव त्वयं वैशेषिकप्रक्रियारम्भे तत्प्रक्रियानुगतेन निदर्शनेन प्रपञ्चः कृतः ॥११॥

भाष्यका अनुवाद

आकाशमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाला संयोग अप्रत्यक्ष है, इसी प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पांच भूतोंमें समवाय संबन्धसे रहनेवाला शरीर अप्रत्यक्ष हो जायगा । शरीरतो प्रत्यक्ष है, इसलिए पाञ्चभौतिक नहीं है । तात्पर्य यह है कि संयोग गुण है और शरीर द्रव्य है । 'दृश्यते तु' इसमें भी विलक्षणकी उत्पत्तिका विस्तारसे वर्णन किया गया है । परन्तु ऐसा हो, तो उससे ही यह सूत्र गतार्थ है । नहीं, ऐसा हम कहते हैं । वह सांख्यके प्रति कहा गया है, यह वैशेषिकके प्रति कहा जाता है । परन्तु अतिदेश भी 'एतेन शिष्टापरिग्रहा०' (इससे शिष्टोंसे अपरिगृहीतोंका भी प्रत्याख्यान हुआ समझना) इस प्रकार समान न्यायसे किया गया है । यह सत्य है, परन्तु उसीका इस वैशेषिक प्रक्रियाके आरंभमें उसकी प्रक्रियाके अनुसारी निदर्शन—दृष्टान्तसे प्रपंच किया है ॥११॥

रत्नप्रभा

नेति । अनियमः कणादसम्मत इत्याह—सूत्रकारोऽपीति । एतावता कथमनियमः ? तत्राह—एतदुक्तमिति । न विलक्षणत्वन्यायेन पुनरुक्त्यभावेऽतिदेशाधिकरणेन पुनरुक्तिरिति शङ्कते—नन्वतिदेश इति । समानगुणारम्भनियमस्य पारिमाण्डल्यादिदृष्टान्तेन भङ्गार्थमस्य आरम्भ इत्याह—सत्यमिति । तस्यैव अतिदेशस्य इत्यर्थः ॥ ११ ॥ (२)

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न" इत्यादिसे । अनियम कणादका सम्मत है, ऐसा कहते हैं—"सूत्रकारोऽपि" इत्यादिसे । इतने हीसे अनियम कैसे हुआ ? इसपर कहते हैं—"एतदुक्तम्" इत्यादिसे । 'न विलक्षणत्व' न्यायसे पुनरुक्ति न होनेपर भी अतिदेशाधिकरणसे पुनरुक्ति है, ऐसी शंका करते हैं—"नन्वतिदेश" इत्यादिसे । समान गुणारम्भ नियमका पारिमाण्डल्यादि दृष्टान्तोंसे भंग बतानेके लिए इसका आरम्भ है, ऐसा कहते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे । उसका ही—उस अतिदेशका ही ऐसा अर्थ है ॥११॥

[३ परमाणुजगदकारणत्वाधिकरण सू० १२-१७]

जनयन्ति जगन्नो वा संयुक्ताः परमाणवः ।
आद्यकर्मजसंयोगाद् द्व्यणुकादिक्रमाज्जनिः ॥ १ ॥
सनिमित्तानिमित्तादिविकल्पेष्वाद्यकर्मणः ।
असम्भवादसंयोगे जनयन्ति न ते जगत्* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—संयुक्त परमाणु जगत्‌को पैदा करते हैं अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—सृष्टिके पूर्वमें कर्मजन्य संयोगसे युक्त परमाणुओंसे द्व्यणुकादिके क्रमसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है।

सिद्धान्त—वह कर्म सनिमित्तक है या अनिमित्तक है ऐसे विकल्प होनेपर आदि कर्मके असंभव होनेसे संयोग न होनेपर संयुक्त परमाणु जगत्‌की उत्पत्ति नहीं कर सकते।

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥ १२ ॥

पदच्छेद—उभयथा, अपि, न, कर्म, अतः, तदभावः ।

पदार्थोक्ति—उभयथापि—वैशेषिका हि कर्मणा प्राक् सृष्टेः निश्चलयोः परमाण्वोः संयोगे द्व्यणुकादेरुत्पत्तिं वदन्ति । तस्य कर्मणः किञ्चित् निमित्तमभ्युपगम्यते न वा ? आद्ये कर्मनिमित्तं जीवप्रयत्नाभिघातादिकमङ्गीकर्तव्यम् । नहि तत्संभवति, सृष्ट्यनन्तरकालीनत्वात्तस्य, द्वितीये कर्मानुत्पत्तिः, अतः प्रकारद्वयेऽपि, न कर्म—न परमाण्वोः संचलनादिरूपं कर्म [अदृष्टस्य अचेतनस्य स्वतः कर्माभिमुख्यायोगात्] अतः—कर्माभावात्, तदभावः—द्व्यणुकादिक्रमेण सृष्ट्युत्पादनस्याभावः ।

भाषार्थ—वैशेषिक सृष्टिके पूर्व निश्चल परमाणुओंका कर्मसे संयोग होनेपर द्व्यणुक आदिकी उत्पत्ति होती है ऐसा कहते हैं। उस कर्मका कोई निमित्त माना जाता है अथवा नहीं ? प्रथमकल्पमें कर्मका निमित्त जीवोंके प्रयत्नसे जन्य अभिघात आदि मानना होगा, उसका संभव नहीं है, क्योंकि वह सृष्टिके अनन्तर हो सकता है। दूसरे कल्पमें कर्मकी उत्पत्ति नहीं होगी, इसलिये उभयथा परमाणुओंमें चेष्टा नहीं हो सकती, अदृष्ट अचेतन होनेसे उन्हें स्वतः कर्मकी ओर प्रवृत्त नहीं कर सकता, कर्म न होनेसे द्व्यणुकादि-क्रमसे सृष्टि नहीं हो सकती।

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—पूर्वसिद्ध जगत्‌के लीन होनेपर जब भगवान् सृष्टि करनेकी इच्छा करते हैं, तब प्राणियोंके कर्मोंसे सम्पूर्ण परमाणुओंमें आदि कर्म उत्पन्न होता है।

भाष्य

इदानीं परमाणुकारणवादं निराकरोति । स च वाद इत्थं समुत्तिष्ठते—

भाष्यका अनुवाद

अब परमाणुकारणवादका निराकरण करते हैं। वह वाद इस प्रकार

रत्नप्रभा

वैशेषिकमतपरीक्षाम् आरभते—उभयथापि न कर्मातस्तदभावः । नाऽस्य प्रासङ्गिकेन पूर्वाधिकरणेन सङ्गतिरपेक्षिता इति मन्वानः प्रधानस्य ईश्वरानधिष्ठितस्य अकारणत्वेऽपि परमाणूनां तदधिष्ठितानां कारणत्वम् इति प्रत्युदाहरणसङ्गत्या सांख्याधिकरणानन्तर्यम् अस्य वदन् तात्पर्यमाह—इदानीमिति । द्व्यणुकादिक्रमेण परमाणुभिः जगदारभ्यते इति वैशेषिकराद्धान्तोऽत्र विषयः, स किं मानमूलो भ्रान्तिमूलो वा इति सन्देहे पूर्वपक्षयति—स चेति । तैः पटा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैशेषिक-मतकी परीक्षा आरम्भ करते हैं—"उभयथापि न कर्मातस्तदभावः" इत्यादिसे । प्रासंगिक पूर्व अधिकरणके साथ इस अधिकरणकी संगति अपेक्षित नहीं है, ऐसा मानकर भाष्यकार, ईश्वरसे अधिष्ठित न होनेसे प्रधान जगत्का कारण नहीं है, तो भी ईश्वरसे अधिष्ठित होनेसे परमाणु जगत्के कारण हों, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे सांख्याधिकरणके अनन्तर यह अधिकरण है, ऐसा कहते हुए तात्पर्य कहते हैं—"इदानीम्" इत्यादिसे । द्व्यणुक आदिके क्रमसे परमाणुओंसे जगत् उत्पन्न होता है, ऐसा वैशेषिक सिद्धान्त इस अधिकरणका विषय है, उक्त सिद्धान्त प्रमाणमूलक है या भ्रान्तिमूलक है, ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वपक्ष कहते हैं—"स च" इत्यादिसे । तत्सामान्येन—उन अर्थात् पट आदिके साथ क्षिति

उस कर्मसे एक परमाणु दूसरे परमाणुसे संयुक्त होता है। उस संयोगसे द्व्यणुक उत्पन्न होता है। उन तीन द्व्यणुकोंसे एक त्र्यणुक होता है इत्यादि क्रमसे जगत्की उत्पत्ति होनेमें कोई बाधक न होनेसे संयुक्त परमाणु जगत्की उत्पत्ति करते हैं।

सिद्धान्ती कहते हैं—जो यह आदि कर्म कहा गया है वह सनिमित्तक है या अनिमित्तक है ? यदि अनिमित्तक है तो नियामकके न होनेसे सदा उसकी उत्पत्ति होनेपर प्रलयमें जगदुत्पत्तिकी नौबत आवेगी। यदि वह सनिमित्त है, तो वह निमित्त दृष्ट है या अदृष्ट ? दृष्ट निमित्त तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रयत्न या अभिघातका शरीरकी उत्पत्तिके पूर्व सम्भव नहीं है। ईश्वरका प्रयत्न नित्य है, इसलिए वह कादाचित्क आद्य कर्मका नियामक नहीं हो सकता। अदृष्ट भी आदि कर्मका निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले अदृष्टका परमाणुओंमे सम्बन्ध नहीं हो सकता—इत्यादि विकल्पोंके उपस्थित होनेपर आदि कर्मके सम्भव न होनेसे परमाणुओंका संयोग नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि 'संयुक्त परमाणुओंसे जगत्की उत्पत्ति होती है' यह मत नितरां अनुपपन्न है।

भाष्य

पटादीनि हि लोके सावयवानि द्रव्याणि स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्त-न्त्वादिभिर्द्रव्यैरारभ्यमाणानि दृष्टानि, तत्सामान्येन यावत्किञ्चित् सावयवं तत्सर्वं स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तैस्तैर्द्रव्यैरारब्धमिति गम्यते। स चाऽयमवयवावयविविभागो यतो निवर्तते, सोऽपकर्षपर्यन्तगतः परमाणुः, सर्वं चेदं जगद्गिरिसमुद्रादिकं सावयवम्, सावयवत्वाच्चाऽऽद्यन्तवत्, न चाऽ-

भाष्यका अनुवाद

उपस्थित होता है—व्यवहारमें देखा जाता है कि पट आदि सावयव द्रव्य अपने अनुकूल संयोगसहित तन्तु आदि द्रव्योंसे उत्पन्न होते हैं। इस उदाहरणसे प्रतीत होता है कि जो कोई सावयव—अवयवी द्रव्य हैं, वे सब अपने अनुकूल संयोगयुक्त तत्-तत् द्रव्योंसे ही उत्पन्न होते हैं। वह अवयवावयविविभाग—अवयव और अवयवीका विश्लेषण जहां से निवृत्त होता है, उस न्यून परिमाण की सीमाको परमाणु कहते हैं। पर्वत,

रत्नप्रभा

दिभिः सामान्यं क्षित्यादेः कार्यद्रव्यत्वम्, तेन इत्यर्थः। विमतं सावयवं क्षित्यादिकं स्वन्यूनपरिमाणसंयोगसचिवानेकद्रव्यारब्धम्, कार्यद्रव्यत्वात्, पटादिवत्, इति प्रयोगः। स्वेष्टपरमाणुसिद्ध्यर्थानि साध्यविशेषणानि। ननु एतावता कथं परमाणुसिद्धिः, तत्राऽऽह—स चाऽयमिति। विमतं सावयवत्वं पक्षतावच्छेदकं यतो निवर्तते, स न्यूनपरिमाणस्य अपकर्षस्य पर्यन्तत्वेन अवसानभूमित्वेन अवगतः परमाणुरित्यर्थः। यावत्सावयवमनुमानप्रवृत्तेः द्व्यणुकन्यूनद्रव्यं निरवयवं सिद्ध्यति इति भावः। जगन्नित्यत्ववादात् कार्यद्रव्यत्वहेत्वसिद्धिः इति वदन्तं

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिका सादृश्य होनेसे—पट आदिके समान क्षित्यादि कार्यद्रव्य हैं, इस सादृश्यसे। विमत सावयव क्षिति आदि अपनेसे न्यून परिमाणवाले संयोगसहित अनेक द्रव्योंसे आरब्ध हैं, कार्यद्रव्य होनेसे, पट आदिके समान, ऐसा अनुमानका प्रयोग है। अपने सिद्धान्तमें स्वीकृत परमाणुकी सिद्धिके लिए साध्यके विशेषण दिये हैं। परन्तु इतनेसे परमाणुकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती है? इसपर कहते हैं—"स चायम्" इत्यादिसे। विमत सावयवत्व पक्षताका अवच्छेदक जहांसे निवृत्त होता है, न्यून परिमाणकी अन्तिम सीमारूपसे अवगत वह परमाणु है, ऐसा अर्थ है। जहां तक सावयवत्व है, वहां तक अनुमान प्रवृत्त होता है, इस-लिए द्व्यणुकसे न्यून द्रव्य निरवयव है, ऐसा सिद्ध होता है, यह तात्पर्य है। परन्तु जगत्के अनादि अनन्त होनेसे कार्यद्रव्यत्वरूप हेतुकी असिद्धि होगी, ऐसा कहते हुए के प्रति कहते हैं—

भाष्य

कारणेन कार्येण भवितव्यमित्यतः परमाणवो जगतः कारणमिति कणभुगभिप्रायः। तानीमानि चत्वारि भूतानि भूम्युदकतेजःपवनाख्यानि सावयवान्युपलभ्य चतुर्विधाः परमाणवः परिकल्प्यन्ते। तेषां चाऽपकर्षपर्यन्तगतत्वेन परतो विभागासम्भवाद्विनश्यतां पृथिव्यादीनां परमाणुपर्यन्तो विभागो भवति, स प्रलयकालः। ततः सर्गकाले च वाय-

भाष्यका अनुवाद

'समुद्र आदि यह सम्पूर्ण जगत् सावयव है और सावयव होनेसे उत्पत्तिमान् और विनाशी है। कोई भी कार्य कारणके विना उत्पन्न नहीं हो सकता, इसलिए परमाणु जगत्के कारण हैं यह वैशेषिकोंका सिद्धान्त है। पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों को सावयव देखकर चार प्रकारके परमाणुओं की कल्पना की जाती है। वे न्यूनता की चरमसीमा हैं, उनसे आगे विभागका संभव न होनेसे नाशशील पृथिवी आदिका परमाणुपर्यन्त विभाग होता है, परमाणुपर्यन्त विभाग होना ही प्रलय है। फिर सृष्टिके समय वाय-

रत्नप्रभा

प्रत्याह—सर्वं चेति। विमतम् आद्यन्तवत्, सावयवत्वात्, पटवदित्यर्थः। हेतोः असिद्धिं निरस्य अप्रयोजकत्वं निरस्यति—न चेति। ते कतिविधा इत्याकाङ्क्षायामाह—तानीति। प्रलये चैषामपि नाशान्न जगत्कारणत्वम् इत्याशङ्क्याऽऽह—तेषां चेति। अवयवानां विभागात् नाशाद् वा अवयविनो नाशः परमाणूनां निरवयवत्वेन अवयवविभागादेः नाशहेतोः असम्भवान्न नाश इत्यर्थः। तेषां नित्यत्वे फलितं सृष्टिक्रममाह—तत इति। एवं काणादमतस्य मानमूलत्वात् तेन वेदान्तसमन्वस्य विरोधात् असिद्धिः इति पूर्वपक्षे फलम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सर्वञ्च" इत्यादिसे। विमत आद्यन्तवत् है, सावयव होनेसे, पटके समान, ऐसा अनुमानका प्रयोग है। हेतुकी असिद्धिका निरसन करके हेतुकी अप्रयोजकताका परिहार करते हैं—"न च" इत्यादिसे। वे परमाणु कितने प्रकारके हैं, ऐसी आशंका होनेपर कहते हैं—"तानि" इत्यादिसे। प्रलयमें इन परमाणुओंका भी नाश होनेसे ये जगत्के कारण नहीं हैं, ऐसी आशंका करके कहते हैं—"तेषां च" इत्यादिसे। अवयवोंके विभागसे या नाशसे अवयवीका नाश होता है, परमाणुके तो निरवयव होनेसे अवयवविभाग आदि नाशके हेतुओंका संभव न होनेसे उनका नाश नहीं होता है, ऐसा अर्थ है। परमाणुओंके नित्यत्व सिद्ध होनेपर फलित सृष्टि-क्रम कहते हैं—"ततः" इत्यादिसे। इस प्रकार काणादमतके प्रमाणमूलक होनेसे उसके साथ वेदान्त समन्वयका विरोध होनेसे समन्वय असिद्ध है, ऐसा पूर्वपक्षमें फल है।

भाष्य

वीयेष्वणुष्वदृष्टापेक्षं कर्मोत्पद्यते। तत् कर्म स्वाश्रयमणुमण्वन्तरेण संयुनक्ति, ततो द्व्यणुकादिक्रमेण वायुरुत्पद्यते, एवमग्निः, एवमापः, एवं पृथिवी, एवमेव शरीरं सेन्द्रियमिति। एवं सर्वमिदं जगदणुभ्यः सम्भवति, अणुगतेभ्यश्च रूपादिभ्यो द्व्यणुकादिगतानि रूपादीनि सम्भवन्ति तन्तुपटन्यायेनेति काणादा मन्यन्ते।

तत्रेदमभिधीयते—विभागावस्थानां तावदणूनां संयोगः कर्मापेक्षोऽभ्युपगन्तव्यः, कर्मवतां तन्त्वादीनां संयोगदर्शनात्। कर्मणश्च कार्यत्वान्नि-

भाष्यका अनुवाद

वीय—वायुके परमाणुओंमें अदृष्टवश कर्म उत्पन्न होता है। वह कर्म जिस परमाणुमें होता है उसका दूसरे परमाणुसे संयोग करता है। तत्पश्चात् द्व्यणुक आदिके क्रमसे वायुकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अग्नि, जल और पृथिवीकी उत्पति होती है। और इसी प्रकार इन्द्रियसहित शरीर उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् अणुओंसे उत्पन्न होता है। जैसे तन्तुओंके रूपसे वस्त्रमें रूप उत्पन्न होता है, वैसेही अणुमें रहनेवाले रूप आदिसे द्व्यणुकगत रूप आदि होते हैं, ऐसा वैशेषिकोंका सिद्धान्त है।

इस विषयमें हम कहते हैं—विभागकी अवस्थामें स्थित परमाणुओंका संयोग किसी कर्मकी अपेक्षा करता है यह मानना पडेगा, क्योंकि कर्मयुक्त

रत्नप्रभा

तस्य भ्रान्तिमूलत्वात् अविरोध इति सिद्धान्तयति—तत्रेदमिति। प्रलये विभक्तानां परमाणूनाम् अन्यतरकर्मणा उभयकर्मणा वा संयोगो वाच्यः, कर्मणश्च निमित्तं प्रयत्नादिकं दृष्टम्, यथा प्रयत्नवदात्मसंयोगाद् देहचेष्टा, वाय्वाद्यभिघाताद् वृक्षादिचलनम्, हस्तनोदनाद् इष्वादिगमनं तद्वद् अणुकर्मणो दृष्टं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस पूर्वपक्षके भ्रान्तिमूलक होनेसे वेदान्तसमन्वयमें विरोध नहीं है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"तत्रेदम्" इत्यादिसे। प्रलयमें विभक्त हुए परमाणुओंका संयोग संयुक्त होनेवाले दो परमाणुओंमेंसे एक परमाणुके कर्मसे होता है, अथवा दोनों परमाणुओंके कर्मसे होता है, और कर्मके निमित्त प्रयत्न आदि देखनेमें आते हैं, जैसे कि प्रयत्नवाले आत्माके संयोगसे देहचेष्टा होती है, वायु आदिके अभिघातसे वृक्ष आदिमें चलनक्रिया होती है, हाथकी प्रेरणासे शर आदिमें गमनक्रिया होती है, उसी प्रकार अणुओंके कर्मका दृष्ट कुछ निमित्त स्वीकार करते

भाष्य

मित्तं किमप्यभ्युपगन्तव्यम् , अनभ्युपगमे निमित्ताभावान्नाणुष्वाद्यं कर्म स्यात् , अभ्युपगमेऽपि यदि प्रयत्नोऽभिघातादिर्वा यथादृष्टं किमपि कर्मणो निमित्तमभ्युपगम्येत । तस्याऽसम्भवान्नैवाणुष्वाद्यं कर्म स्यात् । नहि तस्यामवस्थायामात्मगुणः प्रयत्नः सम्भवति, शरीराभावात् । शरीरप्रतिष्ठे हि मनस्यात्मनः संयोगे सत्यात्मगुणः प्रयत्नो जायते। एतेनाऽभिघाताद्यपि दृष्टं निमित्तं प्रत्याख्यातव्यम् । सर्गोत्तरकालं हि तत्सर्वं नाऽऽद्यस्य कर्मणो निमित्तं सम्भवति। अथाऽदृष्टमाद्यस्य कर्मणो निमित्तमित्युच्येत,

भाष्यका अनुवाद

तन्तु आदिमें संयोग दिखाई देता है। कर्म कार्य है, इसलिए उसका कोई निमित्त मानना पड़ेगा। यदि निमित्तका स्वीकार न किया जाय, तो निमित्तके अभावमें अणुओंमें आद्य कर्म नहीं होगा। यदि निमित्तका स्वीकार करें भी तो जैसे व्यवहारमें कर्मका निमित्त प्रयत्न या अभिघात दिखाई देता है, वैसेही अणुके कर्मका कोई निमित्त मानना पड़ेगा। उसका संभव न होनेसे अणुओंमें आद्य कर्म नहीं होगा। सृष्टिके पूर्व आत्मगुण प्रयत्न नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय शरीर ही नहीं रहता। शरीरमें रहनेवाले मनमें आत्माका संयोग होनेपर आत्माका गुण प्रयत्न होता है। इस कथनसे अभिघात आदि दृष्ट निमित्तका भी प्रत्याख्यान करना चाहिए, क्योंकि उन सबका सृष्टिके अनन्तर ही संभव है, अतः वे आदि कर्मके निमित्त नहीं

रत्नप्रभा

निमित्तम् अभ्युपगम्यते न वा ? द्वितीये कर्मानुत्पत्तिः । नाद्यः, प्रयत्नादेः सृष्ट्युत्तरकालीनत्वादिति उभयथाऽपि न कर्म सम्भवति, अतः—कर्माऽसम्भवात्, तस्य—संयोगपूर्वकद्व्यणुकादिसर्गस्य अभाव इति सूत्रार्थः । स्थिरस्य वेगवद्द्रव्यसंयोगविशेषोऽभिघातः, स एव चलस्य नोदनमिति भेदः । दृष्टनिमित्ताभावेऽपि अदृष्टवत् आत्मसंयोगात् अणुषु कर्म इति शङ्कते—अथाऽदृष्टमिति । विकल्पपुरःसरं

रत्नप्रभाका अनुवाद

हो या नहीं ? स्वीकार न करो, तो कर्म उत्पन्न नहीं होगा, और स्वीकार करनेपर भी कर्म उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि प्रयत्न आदि सृष्टिके उत्तरकालमें होते हैं, इस प्रकार दोनों प्रकारसे भी कर्म सम्भव नहीं है। अतः कर्मका संभव न होनेसे, उसका अर्थात् संयोगपूर्वक द्व्यणुक आदिकी सृष्टिका अभाव है, ऐसा सूत्रका अर्थ है। वृक्ष आदि स्थिर पदार्थोंका वायु, जल आदि वेगवाले द्रव्यके साथ संयोगविशेष अभिघात है, चल पदार्थका वही संयोग नोदन कहलाता है, यद्यपि दृष्ट निमित्तका अभाव है, तो भी अदृष्टवत् आत्माके संयोगसे अणुओंमें कर्म होता है,

भाष्य

तत्पुनरात्मसमवायि वा स्यादणुसमवायि वा ? उभयथापि नाऽदृष्टनिमित्तमणुषु कर्माऽवकल्पेत, अदृष्टस्याऽचेतनत्वात्। नह्यचेतनं चेतनेनाऽनधिष्ठितं स्वतन्त्रं प्रवर्तते, प्रवर्तयति वेति साङ्ख्यप्रक्रियायामभिहितम्। आत्मनश्चाऽनुत्पन्नचैतन्यस्य तस्यामवस्थायामचेतनत्वात्। आत्मसमवायित्वाभ्युपगमाच्च नाऽदृष्टमणुषु कर्मणो निमित्तं स्यात्, असम्बन्धात्। अदृष्टवता

भाष्यका अनुवाद

हो सकते हैं। यदि आप कर्मका निमित्त अदृष्ट है ऐसा मानो, तो प्रश्न होता है कि वह कर्म आत्मामें समवायसम्बन्धसे रहनेवाला है या अणुओंमें। दोनों प्रकारसे भी अणुओंमें अदृष्ट निमित्तक कर्म की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि अदृष्ट अचेतन है। चेतनसे अधिष्ठित हुए बिना अचेतन न तो स्वतन्त्ररूपसे प्रवृत्त हो सकता है और न किसीको प्रवृत्त करा सकता है ऐसा सांख्यप्रक्रिया में कहा गया है। चैतन्यके उत्पन्न न होनेसे आत्मा भी उस अवस्थामें अचेतन ही है। अदृष्ट आत्मामें समवायसम्बन्धसे रहता है ऐसा स्वीकृत होनेसे वह अणुओंमें कर्मका निमित्त नहीं होगा, क्योंकि उसका अदृष्टसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अदृष्टवाले पुरुषके साथ अणुओंका

रत्नप्रभा

दूषयति—तत्पुनरिति। जडात्मवत् अणोः आश्रयत्वं किं न स्यादिति मत्वा विकल्पः कृत इति मन्तव्यम्। अत्राऽपि सूत्रं योजयति—उभयथेति। जीवाधिष्ठितम् अदृष्टं निमित्तमस्तु इत्यत आह—आत्मनश्चेति। अचेतनत्वाद् न अधिष्ठातृत्वमिति शेषः, भिन्नेश्वरस्याऽधिष्ठातृत्वम् अग्रे निराकरिष्यते, अचेतनत्वम् अदृष्टस्य कर्मनिमित्तत्वाभावे हेतुरुक्तः। हेत्वन्तरमाह—आत्मसमवायित्वेति। गुरुत्ववद् अदृष्टमपि स्वाश्रयसंयुक्ते क्रियाहेतुः इति शङ्कते—

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसी शंका करते हैं—"अथादृष्टम्" इत्यादिसे। विकल्पपूर्वक खण्डन करते हैं—"तत्पुनः" इत्यादिसे। जड आत्माके समान अणु आश्रय क्यों न हो, ऐसा मानकर विकल्प किया है, ऐसा समझना चाहिए। इस द्वितीय व्याख्यानमें भी सूत्रकी योजना करते हैं—"उभयथा" इत्यादिसे। जीवसे अधिष्ठित हुआ अदृष्ट निमित्त हो, इसपर कहते हैं—"आत्मनश्च" इत्यादिसे। आत्मा अचेतन होनेसे अधिष्ठाता नहीं हो सकता, इतना शेष समझना चाहिए। भिन्न ईश्वर अधिष्ठाता नहीं हो सकता, ऐसा आगे निराकरण किया जायगा। अदृष्टका अचेतनत्व कर्मके निमित्तकारण न होनेमें कारण कहा गया है। अन्य हेतु कहते हैं—"आत्मसमवायित्व" इत्यादिसे। गुरुत्वके समान अदृष्ट भी स्वाश्रयसंयुक्त

भाष्य

पुरुषेणाऽस्त्यणूनां सम्बन्ध इति चेत्, सम्बन्धसातत्यात् प्रवृत्तिसातत्यप्रसङ्गः, नियामकान्तराभावात्। तदेवं नियतस्य कस्यचित् कर्मनिमित्तस्याऽभावान्नाऽणुष्वाद्यं कर्म स्यात्, कर्माभावात् तन्निबन्धनः संयोगो न स्यात्, संयोगाभावाच्च तन्निबन्धनं द्व्यणुकादि कार्यजातं न स्यात्। संयोगश्चाऽणोरण्वन्तरेण सर्वात्मना वा स्यादेकदेशेन वा? सर्वात्मना चेदुपचया-

भाष्यका अनुवाद

सम्बन्ध है ऐसा यदि कहो, तो सम्बन्धके सदा होनेसे, सदा प्रवृत्ति होने लगेगी; क्योंकि अन्य नियामक नहीं है। इस प्रकार कोई भी कर्मका नियत निमित्त नहीं है, अतः अणुओंमें आद्यकर्म नहीं होगा। कर्मके अभावमें कर्मसे होनेवाला संयोग नहीं होगा और संयोगके अभावसे उसके आधारपर होनेवाले द्व्यणुक आदि कार्य नहीं होंगे। और एक अणुका अन्य अणुके साथ संयोग सर्वात्मना होगा या एक देशसे होगा? सर्वात्मना होगा, तो उपचय की

रत्नप्रभा

अदृष्टवतेति। विभुसंयोगस्य अणुषु सदा सत्त्वात् क्रियासातत्ये प्रलयाभावः स्यादिति दूषयति—सम्बन्धेति। कादाचित्कप्रवृत्तेः अदृष्टनियम्यत्वायोगेऽपि ईश्वरात् नियम इत्यत आह—नियामकान्तरेति। यत् ज्ञानं तत् शरीरजन्यमिति व्याप्तिविरोधेन नित्यज्ञानासिद्धेस्तद्गुण ईश्वरो नास्ति, अस्तित्वेऽपि सदा सत्त्वान्न नियामकत्वमिति भावः। सूत्रार्थं निगमयति—तदेवमिति। संयोगस्य हेतुत्वं खण्डयित्वा स्वरूपं खण्डयति—संयोगश्चाऽणोरिति। संयोगस्य व्याप्यवृत्तित्वे एकस्मिन् इतरस्य अन्तर्भावात् कार्यस्य पृथुत्वायोगात् सर्वं कार्यं पर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्रियाका हेतु है, ऐसी शंका करते हैं—"अदृष्टवता" इत्यादिसे। विभु (आत्मा)के संयोगके अणुओंमें सदा विद्यमान होनेसे क्रियाके भी सतत होनेके कारण प्रलयका अभाव होगा, ऐसा दूषण देते हैं—"सम्बन्ध" इत्यादिसे। यद्यपि कादाचित्क प्रवृत्तिका नियामक अदृष्ट नहीं हो सकता, तो भी ईश्वर नियामक होगा, इसपर कहते हैं—"नियामकान्तर" इत्यादिसे। जो ज्ञान है, वह शरीरजन्य है, इस व्याप्तिके साथ विरोध होनेके कारण नित्यज्ञानके असिद्ध होनेसे नित्यज्ञानरूप गुणवाला ईश्वर नहीं है, हो भी तो उसका सर्वदा अस्तित्व होनेसे वह कादाचित्क प्रवृत्तिका नियामक नहीं है ऐसा अभिप्राय है। सूत्रार्थका निगमन करते हैं—"तदेवम्" इत्यादिसे। संयोगके हेतुत्वका खण्डन करके उसके स्वरूपका खण्डन करते हैं—"संयोगश्च" इत्यादिसे। दो परमाणुओंके संयोगके व्याप्यवृत्ति—सर्वात्मना व्याप्त होनेपर एकमें अन्यका अन्तर्भाव होनेसे

भाष्य

नुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गो दृष्टविपर्ययप्रसङ्गश्च, प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगस्य दृष्टत्वात्। एकदेशेन चेत्, सावयवत्वप्रसङ्गः। परमाणूनां कल्पिताः प्रदेशाः स्युरिति चेत्। कल्पितानामवस्तुत्वाद्-वस्त्वेव संयोग इति वस्तुनः कार्यस्याऽसमवायिकारणं न स्यात्, असति चाऽसमवायिकारणे द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यं नोत्पद्येत। यथा चाऽऽदिसर्गे निमित्ताभावात् संयोगोत्पत्त्यर्थं कर्म नाऽणूनां सम्भवत्येवं महाप्रलयेऽपि विभागोत्पत्त्यर्थं कर्म नैवाऽणूनां सम्भवेत्। नहि तत्रापि किञ्चिन्नियतं

भाष्यका अनुवाद

अनुपपत्तिसे अणुमात्रत्वका प्रसंग आवेगा और जो देखनेमें आता है, उससे विपरीतका प्रसंग आवेगा, क्योंकि प्रदेशवाले द्रव्यका प्रदेशवाले अन्य द्रव्यके साथ संयोग देखा जाता है। और एकदेशसे होगा तो सावयवत्वका प्रसंग आवेगा। परमाणुओंके कल्पित प्रदेश होंगे, ऐसा कहोगे, तो कल्पित अवस्तु होनेसे संयोग अवस्तुरूप होगा, इससे वस्तुरूप कार्यका असमवायी कारण नहीं होगा और असमवायी कारण न होनेसे द्व्यणुकादि कार्यद्रव्य उत्पन्न न होंगे। और जैसे आदि सृष्टिमें निमित्तके अभावसे संयोग की उत्पत्तिके लिये अणुओंमें कर्म नहीं हो सकता वैसे महाप्रलयमें भी विभाग की उत्पत्तिके लिये

रत्नप्रभा

माणुमात्रं स्यादित्यर्थः। किञ्च, सांशद्रव्ये संयोगस्य एकांशवृत्तित्वं दृष्टम्, तद्विरोधात् व्याप्यवृत्तित्वं न कल्प्यमित्याह—दृष्टेति। परमाणोः संयोगः एकदेशेन चेदिति सम्बन्धः, दिग्भेदेन कल्पितप्रदेशस्य संयोगस्याऽपि कल्पितत्वात् ततः कार्यं नोत्पद्येत, उत्पन्नं वा मिथ्या स्यादिति अपसिद्धान्त इत्यर्थः। काणादानां सर्गप्रत्युक्तौ सूत्रं योजयित्वा प्रलयनिरासेऽपि सूत्रं योजयति—यथा चेति। पर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्यमें पृथुत्वके अभावसे सब कार्य परमाणुमात्र ही होगा, ऐसा अर्थ है। और सावयव द्रव्यमें एकांशवृत्ति—अव्याप्यवृत्ति संयोग देखनेमें आता है, इसलिए उससे विरुद्ध व्याप्यवृत्ति संयोगकी कल्पना ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"दृष्ट" इत्यादिसे। यदि परमाणुओंका संयोग एक देशसे है, ऐसा सम्बन्ध है। दिशाओंके भेदके अनुसार परमाणुके कल्पित प्रदेश होंगे प्रदेशोंके संयोगके भी कल्पित होनेसे उससे कार्य उत्पन्न नहीं होगा, और यदि होगा, तो मिथ्या होगा, इस प्रकार सिद्धान्तकी हानि होगी, ऐसा अर्थ है। काणादोंकी सृष्टिके निराकरणमें सूत्रकी योजनाकर प्रलयके निराकरणमें भी सूत्रकी योजना करते हैं—"यथा च" इत्यादिसे। परमाणुओंमें

भाष्य

तन्निमित्तं दृष्टमस्ति। अदृष्टमपि भोगप्रसिद्ध्यर्थं न प्रलयप्रसिद्ध्यर्थमित्यतो¹ निमित्ताभावान्न स्यादणूनां संयोगोत्पत्त्यर्थं विभागोत्पत्त्यर्थं वा कर्म, अतश्च संयोगविभागाभावात् तदायत्तयोः सर्गप्रलययोरभावः प्रसज्येत। तस्मादनुपपन्नोऽयं परमाणुकारणवादः ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

अणुओंमें कर्म न होगा, क्योंकि उसमें भी उसका कुछ नियत निमित्त देखनेमें नहीं आता। अदृष्ट भी भोगकी प्रसिद्धिके लिए है, प्रलयकी प्रसिद्धिके लिये नहीं है, इसलिए निमित्तके अभावसे अणुओंमें संयोगकी उत्पत्तिके अर्थ और विभागकी उत्पत्तिके अर्थ कर्म नहीं होगा, इसलिए संयोग और विभागके—अभावसे उनके आधारपर होनेवाले सर्ग और प्रलयका अभाव हो जायगा, इसलिए यह परमाणुवाद अनुपपन्न है ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

माणूनां कर्मणा संयोगात् सर्गः, विभागात् प्रलयः, इति प्रक्रिया न युक्ता, युगपदनन्तपरमाणूनां विभागे नियतस्य अभिघातादेः दृष्टस्य निमित्तस्य असत्त्वात्, धर्माधर्मरूपादृष्टस्य सुखदुःखार्थत्वेन सुखदुःखशून्यप्रलयप्रयोजकत्वायोगात् न अदृष्टनिमित्तेन कर्मणा विभागः सम्भवति। तथा च दृष्टादृष्टनिमित्तयोः असत्त्वाद् उभयथाऽपि संयोगार्थत्वेन विभागार्थत्वेन च कर्म नास्ति, अतः कर्माभावात् तयोः संयोगविभागपूर्वकयोः सर्गप्रलययोरभाव इति सूत्रयोजना ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मसे संयोग होनेसे सृष्टि होती है और विभाग होनेसे प्रलय होता है, यह प्रक्रिया युक्त नहीं है, क्योंकि युगपत् अनन्त परमाणुओंके विभागमें नियत अभिघात आदि दृष्ट निमित्तोंका अभाव होनेसे और धर्माधर्मरूप अदृष्टके सुखदुःखार्थक होनेसे वे सुखदुःखशून्य प्रलयके प्रयोजक नहीं हो सकते। अतः अदृष्टनिमित्त कर्मसे विभाग नहीं हो सकता। इसलिए दृष्ट और अदृष्ट निमित्त न होनेसे दोनों प्रकारसे संयोगके अर्थ या विभागके अर्थ कर्म नहीं है, इसलिए कर्मके अभावसे संयोगपूर्वक सृष्टि और विभागपूर्वक प्रलयका अभाव है, ऐसी सूत्रकी योजना है ॥१२॥

(१) अणुओंके आद्य और अन्त्य कर्मका कोई निमित्त है या नहीं? यदि है, तो वह दृष्ट है या अदृष्ट? यदि दृष्ट है, तो वह यत्न है या अभिघात आदि? अदृष्ट है, तो वह परमाणुओंमें रहता है या आत्मामें? इनमेंसे किसी भी पक्षके स्वीकार करनेसे संयोगकी उत्पत्तिके लिए और विभागकी उत्पत्तिके लिए कर्म नहीं हो सकता। कर्मके न होनेसे सर्ग और प्रलयका अभाव होगा, इस प्रकार सूत्रकी योजनाका उपसंहार करते हैं—"अतः" इत्यादि भाष्यमें।

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥१३॥

पदच्छेद—समवायाभ्युपगमात्, च, साम्याद्, अनवस्थितेः ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, समवायाभ्युपगमात्—यथैव अणुभ्यामत्यन्तभिन्नं सद् द्व्यणुकं समवायेन ताभ्यां सम्बद्ध्यते एवं समवायोऽपि समवायिभ्योऽत्यन्तभिन्नः सन् अन्येन समवायेन समवायिभिः सम्बध्येत, साम्यात्—अत्यन्तभेदसाम्यात् । [ततश्च] अनवस्थितेः—तस्य तस्य अन्यः अन्यः समवायः कल्पनीय इत्यनवस्थानात् [तदभावः द्व्यणुकादिसृष्ट्युत्पादस्याभावः]

भाषार्थ—और जैसे अणुओंसे अत्यन्त भिन्न द्व्यणुक समवायसम्बन्धसे उनके साथ सम्बद्ध होता है, वैसे ही समवाय भी समवायियोंसे अत्यन्त भिन्न होता हुआ अन्य समवाय सम्बन्धसे समवायियोंके साथ सम्बद्ध होगा, क्योंकि अत्यन्त भेद दोनोंमें समान है। ऐसी स्थितिमें उस उस समवाय सम्बन्धके लिए अन्य अन्य समवाय की कल्पना करनी होगी, इस प्रकार अनवस्था होनेसे द्व्यणुकादिक्रमसे सृष्टिकी उत्पत्तिका अभाव होगा।

भाष्य

समवायाभ्युपगमाच्च तदभाव इति प्रकृतेनाऽणुवादनिराकरणेन संबध्यते। द्वाभ्यां चाऽणुभ्यां द्व्यणुकमुत्पद्यमानमत्यन्तभिन्नमणुभ्यामण्वोः समवैतीत्यभ्युपगम्यते भवता न चैवमभ्युपगच्छता शक्यतेऽणुकारणता

भाष्यका अनुवाद

और वैशेषिकों द्वारा समवायको स्वीकार करनेसे भी सृष्टि और प्रलयका अभाव है, इसका प्रकृत अणुवादके निराकरणके साथ संबन्ध है। दो अणुओंसे उत्पन्न होनेवाला द्व्यणुक अणुओंसे अत्यन्त भिन्न है और अणुओंमें समवेत है, ऐसा तुम स्वीकार करते हो। परन्तु ऐसा स्वीकार करते हुए तुम अणुकारणताका

रत्नप्रभा

समवायाभ्युपगमाच्च तदभाव इति। अणुवादासम्भव इति योग्यतया सम्बध्यते, द्व्यणुकसमवाययोः परमाणुभिन्नत्वसाम्याद्, द्व्यणुकवत् समवायस्याऽ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"समवायाभ्युपगमाच्च तदभाव."। अणुवादका सम्भव नहीं है, इसका योग्यतासे सम्बन्ध होता है। जैसे द्व्यणुक परमाणुसे भिन्न है, वैसे समवाय भी समवायी परमाणुओंसे भिन्न है, इस प्रकार द्व्यणुक और समवाय दोनोंमें परमाणुभिन्नत्व रूप साम्य है, इसलिए

भाष्य

समर्थयितुम्। कुतः? साम्यादनवस्थितेः। यथैव ह्यणुभ्यामत्यन्तभिन्नं सद् द्व्यणुकं समवायलक्षणेन सम्बन्धेन ताभ्यां सम्बध्यते, एवं समवायोऽपि समवायिभ्योऽत्यन्तभिन्नः सन् समवायलक्षणेनाऽन्येनैव सम्बन्धेन समवायिभिः सम्बध्येताऽत्यन्तभेदसाम्यात्। ततश्च तस्य तस्याऽन्योऽन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थैव प्रसज्येत। नन्विहप्रत्ययग्राह्यः समवायो नित्यसम्बद्ध एव समवायिभिर्गृह्यते नाऽसम्बद्धः सम्बन्धान्तरापेक्षो वा, ततश्च न तस्याऽन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्यो येनाऽनवस्था प्रसज्येतेति। नेत्युच्यते—संयोगोऽप्येवं सति संयोगिभिर्नित्यसम्बद्ध एवेति

भाष्यका अनुवाद

समर्थन नहीं करते। किससे? साम्यसे और अनवस्थितिसे। जिस प्रकार दो अणुओंसे अत्यन्त भिन्न होकर द्व्यणुक समवायलक्षण संबन्धसे उनके साथ संबद्ध होता है, उसी प्रकार समवाय भी समवायियोंसे अत्यन्त भिन्न होकर समवायलक्षण अन्य सबन्धसे ही समवायियोंके साथ संबद्ध होगा, क्योंकि (दोनोंमें) अत्यन्तभेदरूपी साम्य है। और तदनन्तर उस उस समवायके अन्य अन्य सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी, इस प्रकार अनवस्था की प्राप्ति होगी। परन्तु 'यहांपर' इस प्रतीतिसे ग्रहण करने योग्य समवाय समवायियोंके साथ नित्य संबद्ध ही गृहीत होता है, असम्बद्ध या अन्य सम्बन्ध की अपेक्षावाला नहीं है, इसलिए उसके लिए अन्य संबन्ध की कल्पना युक्त नहीं है जिससे कि अनवस्था प्रसक्त हो, ऐसी शंका करोगे, तो हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि ऐसी

रत्नप्रभा

पि समवायान्तरम् इति अनवस्थितिः इत्यर्थः। ननु इह तन्तुषु पट इत्यादिविशिष्टधीनियामकः समवायो न सम्बन्धान्तरमपेक्षते, स्वरूपेणैव नित्यसम्बद्धत्वादिति शङ्कते—नन्विहेति। संयोगस्याऽपि स्वरूपसम्बन्धोपपत्तेः समवायो न स्यादिति दूषयति—नेति। सम्बन्धिभिन्नत्वात् चेत्, अपेक्षा समवायस्याऽपि तुल्या।

रत्नप्रभाका अनुवाद

द्व्यणुकके समान समवायका भी समवायी परमाणुओंके साथ सम्बन्ध होनेके लिए अन्य समवाय चाहिए, इस प्रकार अनवस्थिति होगी, ऐसा अर्थ है। परन्तु इन तन्तुओंमें पट है, इत्यादि विशिष्टज्ञानका नियामक समवाय है, उसको अन्य संबन्धकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह स्वरूपसे ही नित्य संबद्ध है, ऐसी शंका करते हैं—"नन्विह" इत्यादिसे। तब संयोग भी स्वरूपसबन्धसे उपपन्न होगा, इसलिए समवाय स्वीकार करनेकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा

भाष्य

समवायवन्नाऽन्यं सम्बन्धमपेक्षेत। अथाऽर्थान्तरत्वात् संयोगः सम्बन्धान्तरमपेक्षेत, समवायोऽपि तर्ह्यर्थान्तरत्वात् सम्बन्धान्तरमपेक्षेत। न च गुणत्वात् संयोगः सम्बन्धान्तरमपेक्षते, न समवायोऽगुणत्वादिति युज्यते वक्तुम्, अपेक्षाकारणस्य तुल्यत्वात्, गुणपरिभाषायाश्चाऽतन्त्रत्वात्। तस्मादर्थान्तरं समवायमभ्युपगच्छतः प्रसज्येतैवानवस्था। प्रसज्यमानायां चाऽनवस्थायामेकासिद्धौ सर्वासिद्धेर्द्वाभ्यामणुभ्यां द्व्यणुकं नैवोत्पद्येत। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः॥ १३॥

भाष्यका अनुवाद

परिस्थितिमें संयोग भी संयोगियोंके साथ नित्य संबद्ध ही है, इसलिए समवायके समान उसको अन्य संबन्धकी अपेक्षा नहीं है, यदि अन्य अर्थ होनेसे संयोग अन्य संबन्धकी अपेक्षा रक्खे, तो समवाय भी अन्य अर्थ होनेसे अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा रक्खेगा। गुण होनेसे संयोग अन्य संबन्ध की अपेक्षा रखता है, परन्तु अगुण होनेसे समवाय अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि (दोनोंमें) अपेक्षाका कारण समान है और गुणपरिभाषा अतन्त्र है। इसलिए समवायका अन्य अर्थरूपसे स्वीकार करनेवाले (वैशेषिक) को अनवस्था प्राप्त होगी ही। और अनवस्था प्राप्त होनेपर एककी असिद्धिसे सब असिद्ध होनेसे दो अणुओंसे द्व्यणुक उत्पन्न होगा ही नहीं। इसलिए भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है॥ १३॥

रत्नप्रभा

गुणपरिभाषायाश्चेति। गुणत्वाभावेऽपि कर्मसामान्यादीनां समवायाङ्गीकाराद् गुणत्वं समवायित्वे न व्यापकम्, नापि व्याप्यम्, गुणस्याऽपि समवायिवत् स्वरूपसम्बन्धसम्भवेन व्याप्त्यनुकूलतर्काभावात्। तस्मात् सम्बन्धिभिन्नत्वमेव सम्बन्धान्तरापेक्षायां कारणम्, तस्य समवायेऽपि तुल्यत्वात् अनवस्था दुर्वारा। सा च मूलक्षयकरी, तया समवायासिद्धौ समवेतद्व्यणुकासिद्धिः इत्यर्थः॥ १३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

दूषण बताते हैं—"न" इत्यादिसे। संबन्धियोंसे भिन्न होनेसे यदि संयोगको अन्य संबन्धकी अपेक्षा हो, तो समवायको भी वह तुल्य है, क्योंकि वह भी संबन्धियोंसे भिन्न है। "गुणपरिभाषायाश्च" इत्यादि। यद्यपि कर्म, सामान्य आदि गुण नहीं हैं, तो भी उनके समवायका अंगीकार है, इसलिए गुणत्व समवायीका व्यापक नहीं है और व्याप्य भी नहीं है, क्योंकि समवायके समान गुणके भी स्वरूप संबन्धका संभव होनेसे, व्याप्तिके अनुकूल तर्कका अभाव है, इसलिए संबन्धियोंसे भिन्नत्व ही अन्य सम्बन्धकी अपेक्षाका कारण है और उसके समवायमें भी तुल्य होनेसे अनवस्था दुर्वार है। और अनवस्था मूलका ही क्षय करनेवाली है, उस अनवस्थासे समवायके असिद्ध होनेसे समवेत द्व्यणुक भी असिद्ध है, ऐसा अर्थ है॥१३॥

नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥

पदच्छेद—नित्यम्, एव, च, भावात् ।

पदार्थोक्ति—[परमाणूनां प्रवृत्तिस्वभावत्वे प्रवृत्तेः] नित्यमेव—सदैव, भावात्—सत्त्वात् [प्रलयाभावप्रसंगः], च —निवृत्तिस्वभावत्वे निवृत्तेः नित्यमेव सत्त्वात् सृष्ट्यभावप्रसंगः । [ततोऽप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः] ।

भाषार्थ—परमाणुओंको प्रवृत्तिस्वभाव मानें, तो प्रवृत्तिके नित्य होनेसे प्रलय के अभाव का प्रसंग होगा और निवृत्तिस्वभाव मानें, तो निवृत्तिके नित्य होनेसे सृष्टिके अभावका प्रसंग होगा । इससे भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है ।

भाष्य

अपि चाऽणवः प्रवृत्तिस्वभावा वा निवृत्तिस्वभावा वोभयस्वभावा वाऽनुभयस्वभावा वाऽभ्युपगम्यन्ते, गत्यन्तराभावात् । चतुर्धापि नोपपद्यते प्रवृत्तिस्वभावत्वे नित्यमेव प्रवृत्तेर्भावात् प्रलयाभावप्रसङ्गः । निवृत्तिस्वभावत्वेऽपि नित्यमेव निवृत्तेर्भावात् सर्गाभावप्रसङ्गः । उभयस्वभावत्वं च विरो-

भाष्यका अनुवाद

और अणु प्रवृत्तिस्वभाववाले माने जाते हैं या निवृत्तिस्वभाववाले माने जाते हैं या उभयस्वभाववाले माने जाते हैं या अनुभयस्वभाववाले माने जाते हैं, क्योंकि इनसे अन्य गतिका अभाव है । चारों प्रकारसे भी उपपत्ति नहीं होती । यदि उन्हें प्रवृत्तिस्वभाववाले मानें, तो नित्य ही प्रवृत्ति होनेसे प्रलयके अभावका प्रसंग आवेगा । यदि निवृत्तिस्वभाववाले मानें, तो नित्य ही निवृत्ति होनेसे सृष्टिके अभावका प्रसंग

रत्नप्रभा

सूत्रं व्याचष्टे—अपि चेति । अनुभयस्वभावत्वे नैमित्तिकी प्रवृत्तिः वाच्या, निमित्तं च कालादृष्टादिकं नित्यसन्निहितमिति नित्यमेव प्रवृत्तिप्रसङ्गः । तस्य अनिमित्तत्वे प्रवृत्त्यभाव इत्यर्थः ॥१४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । यदि अणु अनुभयस्वभाव हों अर्थात् उनमें प्रवृत्ति या निवृत्ति स्वाभाविक न हो, तो प्रवृत्तिका निमित्त कहना चाहिए—और निमित्त काल, अदृष्ट आदि नित्य सन्निहित ही है, इसलिए नित्य प्रवृत्तिका प्रसंग आवेगा, और उन काल, अदृष्ट आदिको निमित्त न माननेसे प्रवृत्तिका अभाव होगा ऐसा अर्थ है ॥१४॥

भाष्य

धादसमञ्जसम् । अनुभयस्वभावत्वे तु निमित्तवशात् प्रवृत्तिनिवृत्त्योरभ्युपगम्यमानयोरदृष्टादेर्निमित्तस्य नित्यसन्निधानान्नित्यप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, अतन्त्रत्वेऽप्यदृष्टादेर्नित्याप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

होगा । उभयस्वभाव होना तो विरोधसे ही अनुपपन्न है । यदि अनुभयस्वभाव मानें, तब तो उनकी प्रवृत्तिऔर निवृत्ति निमित्तवश मानी जाती है, इसलिए अदृष्ट आदि निमित्तके नित्य सन्निहित होनेसे नित्यप्रवृत्तिका प्रसंग आवेगा । अदृष्ट आदि अतन्त्र हों, तो भी नित्य अप्रवृत्तिका प्रसंग होगा । इससे भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है ॥ १४ ॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥ १५ ॥

पदच्छेद—रूपादिमत्त्वात्, च, विपर्ययः, दर्शनात् ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, रूपादिमत्त्वात्—वैशेषिकमते परमाणूनां रूपादिमत्त्वात्, विपर्ययः—निरवयवत्वाणुत्वनित्यत्वविपर्ययः सावयवत्वादिः [प्रसज्येत] दर्शनात्—लोके रूपादिमतः घटादेस्तथा दर्शनात् ।

भाषार्थ—और वैशेषिकमतमें परमाणुओंके रूप आदियुक्त होनेसे उनमें निरवयवत्व, नित्यत्व और अणुत्वके विपरीत सावयवत्व आदिका प्रसङ्ग होगा, क्योंकि लोकमें रूप आदिसे युक्त घटमें वैसा देखा जाता है ।

भाष्य

सावयवानां द्रव्याणामवयवशो विभज्यमानानां यतः परो विभागो

भाष्यका अनुवाद

अवयवशः विभक्त होनेवाले सावयव द्रव्योंका जहांसे आगे विभाग नहीं

रत्नप्रभा

किञ्च, परमाणवः समवायिकारणवन्तः कारणापेक्षया स्थूला अनित्याश्च, रूपवत्त्वाद् रसवत्त्वाद् गन्धवत्त्वात् स्पर्शवत्त्वाद्, घटवदिति सूत्रं योजयितुं पर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

परमाणु समवायिकारणवाले हैं, और अपने कारणकी अपेक्षासे स्थूल और अनित्य हैं, रूपवाले, रसवाले, गन्धवाले और स्पर्शवाले होनेसे, घटके समान, ऐसी सूत्रयोजनाके लिए

भाष्य

न सम्भवति, ते चतुर्विधा रूपादिमन्तः परमाणवश्चतुर्विधस्य रूपादिमतो भूतभौतिकस्याऽऽरम्भका नित्याश्चेति यद्वैशेषिका अभ्युपगच्छन्ति, स तेषामभ्युपगमो निरालम्बन एव; यतो रूपादिमत्त्वात् परमाणूनामणुत्वनित्यत्वविपर्ययः प्रसज्येत। परमकारणापेक्षया स्थूलत्वमनित्यत्वं च तेषामभिप्रेतविपरीतमापद्येतेत्यर्थः। कुतः? एवं लोके दृष्टत्वात्। यद्धि लोके रूपादिमद् वस्तु, तत् स्वकारणापेक्षया स्थूलमनित्यं च दृष्टम्, तद्यथा पट-

भाष्यका अनुवाद

हो सकता, वे चार प्रकारके रूप आदियुक्त परमाणु चार प्रकारके रूप आदियुक्त भूतभौतिकके आरंभक हैं और नित्य हैं, ऐसा जो वैशेषिक स्वीकार करते हैं, वह उनका स्वीकार करना निराधार ही है, क्योंकि रूप आदिसे युक्त होनेसे परमाणुओंके अणुत्व और नित्यत्वके विपर्ययकी प्राप्ति होगी। परम करणकी अपेक्षासे वे स्थूल और अनित्य हैं, इस प्रकार उनके अभिप्रायसे विपरीत की प्राप्ति होगी, ऐसा अर्थ है। किससे? इससे कि लोकमें इसी प्रकार देखनेमें आता है। लोकमें जो रूपादियुक्त वस्तु है, वह अपने कारणकी अपेक्षासे स्थूल और अनित्य दिखाई देती है। इसलिए जैसे पट तन्तुओंकी अपेक्षासे स्थूल

रत्नप्रभा

प्रक्रियामाह—सावयवानामित्यादिना। नन्वत्र परमाणुत्वं पक्षतावच्छेदकं तद्विरुद्धं स्थूलत्वं कथं साध्यते इति चेत्, न; वायुत्वतेजस्त्वादेः पृथगवच्छेदकत्वात्। न चाऽप्रयोजकता, कारणशून्यत्वे नित्यत्वे चाऽऽत्मवद् रूपादिमत्त्वायोगात्। न च तर्हि वायुः कारणवानिति पृथक् साधने रूपादिहेतूनां भागासिद्ध्यभावेऽपि सिद्धसाधनता स्यादिति वाच्यम्। यत्र स्पर्शः तत् कारणम्, यत्र रूपं तत् सकारण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रथम वैशेषिकोंकी प्रक्रिया कहते हैं—"सावयवानाम्" इत्यादिसे। इस अनुमानमें परमाणुत्व पक्षताका अवच्छेदक धर्म है, उसके विरुद्ध स्थूलत्व किस प्रकार सिद्ध किया जाता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वायुत्व, तेजस्त्व आदि पृथक् पृथक् अवच्छेदक हो सकते हैं। यदि कहो रूपवत्त्व आदि हेतु अप्रयोजक हैं अर्थात् रूपवत्त्व आदि हेतुसे परमाणुमें सकारणत्व और अनित्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि आत्माके समान कारणशून्य नित्य वस्तुमें रूपवत्ता नहीं रह सकती। यदि कहो कि वायु कारणवान् है इस प्रकार पृथक् पृथक् अनुमान द्वारा कारणत्व सिद्ध करनेमें रूप आदि हेतुओंकी भागासिद्धि न होनेपर भी सिद्धसाधनता होगी, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जहांपर स्पर्श है वह सकारण है, जहांपर रूप है वह सकारण है, इस

भाष्य

स्तन्तूनपेक्ष्य स्थूलोऽनित्यश्च भवति, तन्तवश्चांऽशूनपेक्ष्य स्थूला अनित्याश्च भवन्ति, तथा चाऽमी परमाणवो रूपादिमन्तस्तैरभ्युपगम्यन्ते, तस्मात् तेऽपि कारणवन्तस्तदपेक्षया स्थूला अनित्याश्च प्राप्नुवन्ति। यच्च नित्यत्वे कारणं तैरुक्तम्—'सदकारणवन्नित्यम्' (वै० सू० ४।१।१) इति, तदप्येवं सत्यणुषु न संभवति, उक्तेन प्रकारेणाऽणूनामपि कारणवत्त्वोपपत्तेः। यदपि नित्यत्वे द्वितीयं कारणमुक्तम्—'अनित्यमिति च विशेषतः प्रतिषेधा-

भाष्यका अनुवाद

और अनित्य हैं, इसी प्रकार ये परमाणु रूपादियुक्त हैं, ऐसा वे स्वीकार करते हैं, इसलिए कारणवाले होनेसे वे कारणकी अपेक्षा स्थूल और अनित्य हैं, ऐसा प्राप्त होता है और परमाणुओंमें नित्यत्व सिद्ध करनेके लिए उन्होंने जो कारण कहा है—'सदकारणवन्नित्यम्' (सत् अकारणवाला नित्य है), वह भी ऐसा होनेसे अर्थात् परमाणुओंके भी कारण होनेसे अणुओंमें संभव नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकारसे अणुओंका भी कारण है, ऐसा उपपन्न हो सकता है। और नित्यत्व सिद्ध करनेके लिए जो दूसरा कारण कहा है—'अनित्यमिति च विशेषतः' (अनित्य है, इस प्रकार विशेष रीतिसे प्रतिषेधका

रत्नप्रभा

मिति व्याप्तिग्रहकाले वायुत्वाद्यवच्छेदेन साध्यसिद्ध्यभावादिति भावः। परमाणवो नित्याः, सत्त्वे सति अकारणवत्त्वात्, आत्मवदिति सत्प्रतिपक्षमुत्थाप्य विशेष्यासिद्ध्या दूषयति—यच्च नित्यत्वे इति। सत्त्वं भावत्वं प्रागभावनिरासार्थम्। नित्यत्वप्रतिषेधः सप्रतियोगिकः, अभावत्वाद्, घटाभाववदिति नित्यस्य क्वचित् सिद्धौ कार्यम् अनित्यमिति विशेषतः कार्ये नित्यत्वप्रतिषेधात् कारणभूतपरमाणुषु नित्यत्वं सिध्यति, अन्यथा प्रतियोग्यभावे प्रतिषेधानुपपत्तिः इति कणादोक्तम-

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकार व्याप्तिग्रहके समयमें वायुत्व आदिके अवच्छेदसे साध्यकी सिद्धिका अभाव है, ऐसा अभिप्राय है। परमाणु नित्य है, सत्त्वयुक्त होकर अकारणवान् होनेसे, आत्माके समान, ऐसा सत्प्रतिपक्ष उठाकर विशेष्य (अकारणत्व) की असिद्धि है, ऐसा दिखलाकर दूषित करते हैं—"यच्च" इत्यादिसे। सत्त्व—भावत्व प्रागभावका निरसन करनेके लिए है, ऐसा समझना चाहिए। नित्यत्वका प्रतिषेध प्रतियोगीवाला है, अभाव होनेसे, घटाभावके समान, इस प्रकार अनुमानसे नित्यत्वका कहीं 'कार्य अनित्य है' इस प्रकार विशेषरूपसे कार्यमें प्रतिषेध होनेसे कारणभूत परमाणुमें नित्यत्व सिद्ध होता है, अन्यथा—प्रतियोगीके अभावमें प्रतिषेध अनुपपन्न होता है, ऐसा कणादके कथनका अनुवाद करके अन्यथासिद्धिसे

भाष्य

भावः' (वै० सू० ४।१।४) इति, तदपि नाऽवश्यं परमाणूनां नित्यत्वं साधयति, असति हि यस्मिन् कस्मिंश्चिन्नित्ये वस्तुनि नित्यशब्देन नञः समासो नोपपद्यते। न पुनः परमाणुनित्यत्वमेवाऽपेक्ष्यते, तच्चाऽस्त्येव नित्यं परमकारणं ब्रह्म। न च शब्दार्थव्यवहारमात्रेण कस्यचिदर्थस्य प्रसिद्धिर्भवति, प्रमाणान्तरसिद्धयोः शब्दार्थयोर्व्यवहारावतारात्। यदपि नित्यत्वे तृतीयं

भाष्यका अनुवाद

अभाव है) वह भी अवश्य परमाणुओंका नित्यत्व सिद्ध नहीं करता, क्योंकि यदि कोई नित्य वस्तु न हो, तो नित्य शब्दके साथ नञ्का समास उपपन्न न हो। और परमाणुके नित्यत्वकी ही अपेक्षा नहीं है, तो वह नित्य परम कारण ब्रह्म है ही। और शब्दार्थव्यवहारमात्रसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अन्य प्रमाणसे सिद्ध हुए शब्दार्थ व्यवहारमें आते हैं। इसी प्रकार नित्यत्व सिद्ध करनेके लिए जो तीसरा कारण कहा है—'अविद्या च' (और

रत्नप्रभा

नूद्याऽन्यथासिद्ध्या दूषयति—यदपीति। कार्ये नित्यत्वप्रतिषेधव्यवहारम् अङ्गीकृत्य ब्रह्मणि प्रतियोगिप्रसिद्धिः उक्ता, वस्तुतस्तु विशेषव्यवहार एव असिद्धः, कारणनित्यत्वस्य प्रमाणान्तरेण ज्ञानं विना कार्यम् अनित्यमिति व्यवहारायोगादित्याह—न च शब्देति। यदि प्रमाणान्तरं कारणनित्यत्वे स्यात्, तदाऽयं व्यवहारः समूलो भवति, ततो मूलज्ञानात् प्राग्व्यवहारमात्रान्न वस्तुसिद्धिः, वटे यक्षव्यवहारादपि तत्सिद्धिप्रसङ्गात्, मूलज्ञाने तु तेनैव अशेषसिद्धेः व्यवहारोपन्यासवैयर्थ्यम् इति भावः। एवं परमाणुनित्यत्वे काणादसूत्रद्वयं निरस्य तृतीयं निरस्यति—यदपीति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

दूषित करते हैं—"यदपि" इत्यादिसे। इस प्रकार कार्यमें नित्यत्वके प्रतिषेधका व्यवहार स्वीकार करके ब्रह्म प्रतियोगीरूपसे प्रसिद्ध है, ऐसा कहा गया है। परन्तु वस्तुतः विशेष व्यवहार ही असिद्ध है, क्योंकि कारण नित्य है ऐसा अन्य प्रमाणसे ज्ञान हुए बिना कार्य अनित्य है, यह व्यवहार नहीं होगा, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। यदि कारणकी नित्यता सिद्ध करनेके लिए अन्य प्रमाण हो, तो यह व्यवहार समूल हो, इसलिए मूलज्ञानके पहले केवल व्यवहारमात्रसे वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि यदि मूलप्रमाणके बिना केवल व्यवहारसे उसकी सिद्धि मानें तो वटमें यक्षके व्यवहारसे यक्षकी सिद्धि माननी पड़ेगी। मूलज्ञान होनेपर तो उसीसे सब सिद्ध होनेसे व्यवहारका उपन्यास व्यर्थ है, ऐसा तात्पर्य है। इस प्रकार परमाणुके नित्यत्वके साधक कणादके दो सूत्रोंका निरसन करके तीसरेका निरसन करते

भाष्य

कारणमुक्तम्—'अविद्या च' (वै० सू० ४।१।५) इति, तद् यद्येवं विव्रीयेत सतां परिदृश्यमानकार्याणां कारणानां प्रत्यक्षेणाऽग्रहणमविद्या—इति, ततो द्व्यणुकनित्यताऽप्यापद्येत। अथाऽद्रव्यत्वे सतीति विशेष्येत, तथाऽप्यकारणवत्त्वमेव नित्यतानिमित्तमापद्येत, तस्य च प्रागेवोक्तत्वात् 'अविद्या च' इति पुनरुक्तं स्यात्। अथापि कारणविभागात् कारणविनाशाच्चाऽन्यस्य तृतीयस्य विनाशहेतोरसम्भवोऽविद्या सा परमाणूनां नित्यत्वं ख्यापयतीति

भाष्यका अनुवाद

अविद्या) उसका यदि ऐसा विवरण करें कि जिसका कार्य परिदृश्यमान (सर्वतः दीखता हुआ) है, ऐसे विद्यमान कारणोंका प्रत्यक्षसे अग्रहण अविद्या है, तो द्व्यणुककी भी नित्यताका प्रसंग आवेगा। यदि 'अद्रव्ये सति' (अद्रव्य होकर) इतना विशेषण दें, तो भी अकारणवत्त्व ही नित्यताका निमित्त होगा और उसके पूर्वमें ही कथित होनेसे 'अविद्या च' यह पुनरुक्त हो जायगा। उसी प्रकार यदि कारणविभागसे या कारणविनाशसे अन्य तृतीय विनाशहेतुका असंभव अविद्या है और वह परमाणुओंका नित्यत्वस्थापन करती है,

---

रत्नप्रभा

सताम् अणूनां दृश्यमानस्थूलकार्याणां प्रत्यक्षेण कारणाज्ञानम् अविद्या इति यदि सूत्रार्थः, तर्हि अप्रत्यक्षकारणत्वं नित्यत्वे हेतुः स्यात्, तन्न द्व्यणुके व्यभिचाराद् इत्यर्थः। यदि आरम्भकद्रव्यशून्यत्वं हेतुविशेषणम्, तदा विशेष्यवैयर्थ्यम् आपद्येत, पुनरुक्तिश्चेत्याह—अथेत्यादिना। परमाणवो नित्याः, नाशकानुपलम्भात्, आत्मवदिति सूत्रार्थमाशङ्कते—अथापीति। तन्त्वाद्यवयवानां विभागात् नाशाद् वा पटादिनाशो दृष्टः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"यदपि" इत्यादिसे। जिनके स्थूल कार्य सर्वतः दृश्यमान हैं, ऐसे उन विद्यमान परमाणुओंके कारणका प्रत्यक्षसे अग्रहण अविद्या है, ऐसा यदि सूत्रार्थ करें, तो अप्रत्यक्ष कारणत्व नित्यत्वका हेतु होगा। वह युक्त नहीं है, क्योंकि द्व्यणुकमें नित्यत्वका व्यभिचार है। यदि उस व्यभिचारको दूर करनेके लिए अद्रव्य होकर अर्थात् आरंभक द्रव्य जिसका नहीं है, ऐसा होकर इतना हेतुमें विशेषण अधिक दें, अर्थात् जिसका आरंभक द्रव्य न हो, उसके कारणका प्रत्यक्षसे अग्रहण अविद्या है, ऐसी व्याख्या करें, तो 'कारणका प्रत्यक्षसे अग्रहण' यह विशेष्य व्यर्थ हो जायगा। और अकारणवत्त्व ही नित्यत्वका निमित्त होगा, इससे पुनरुक्ति होगी, ऐसा कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे। परमाणु नित्य हैं, नाशके उपलब्ध न होनेसे, आत्माके समान, इस प्रकार सूत्रके अर्थकी आशंका करते हैं—"अथापि" इत्यादिसे। तन्तु आदि अवयवोंके

भाष्य

व्याख्यायेत, नाऽवश्यं विनश्यद्वस्तु द्वाभ्यामेव हेतुभ्यां विनष्टुमर्हतीति नियमोऽस्ति, संयोगसचिवे ह्यनेकस्मिंश्च द्रव्ये द्रव्यान्तरस्याऽऽरम्भकेऽभ्युपगम्यमाने एतदेवं स्यात्। यदा त्वपास्तविशेषं सामान्यात्मकं कारणं विशेषवदवस्थान्तरमापद्यमानमारम्भकमभ्युपगम्यते, तदा घृतकाठिन्यविलयनवन्मू-

भाष्यका अनुवाद

ऐसी व्याख्या करो, तो विनष्ट होनेवाली वस्तु अवश्य दो ही हेतुओंसे विनष्ट होने योग्य है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि संयोगसहित अनेक द्रव्योंको अन्य द्रव्यका आरंभक स्वीकार करें, तो यह सिद्ध हो। परन्तु जिसमेंसे विशेष दूर हो गया है, ऐसा सामान्यात्मक कारण विशेषयुक्त अवस्थान्तर प्राप्त करनेवाले आरंभकरूपसे स्वीकार किया जाय, तो घीके काठिन्यके नाशके समान मूर्त्त अवस्थाके विलयसे

रत्नप्रभा

तच्च द्वयं निरवयवाणूनां नास्तीति नित्यत्वम् इत्यर्थः। परिणामवादम् आश्रित्य अणूनां नाशकं किञ्चित् सम्भवतीति परिहरति—नेति। अवयवानां संयोगेन द्रव्यान्तरोत्पत्तिः—आरम्भ इति यदि मतं स्यात्, तदा द्रव्यविनाशो द्वाभ्यामेव इति नियमः स्यात्, न आरम्भे मानमस्ति, संयुक्ततन्त्वन्यपटादर्शनात्, अतः कारणमेव स्वतो निर्विशेषं विशेषवदवस्थात्मना कार्यमिति अनुभवबलाद् आस्थेयम्। तथा च अणूनाम् अपि अविद्यापरिणामरूपाणां प्रलयनिमित्तेन कालादिना पिण्डात्मकस्वरूपतिरोभावेन कारणभावापत्तिः विनाश उपपद्यते। यथा अग्निसम्पर्काद् घृतकाठिन्यम् अवयवसंयोगस्य अवयवानां च नाशं विनैव लीयते, तद्वत्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

विभागसे या नाशसे पट आदिका नाश देखा जाता है, वे दोनों विभाग और नाश निरवयव अणुओंमें नहीं हैं, अतः परमाणु नित्य हैं, ऐसा अर्थ है। परिणामवादका आश्रयण करनेसे अणुओंका नाशक कोई एक हो सकता है, इस प्रकार परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। अवयवोंके संयोगसे द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति—आरंभ है, ऐसा यदि मत हो, तो द्रव्यविनाश दोसे ही हो सकता है, ऐसा नियम हो, परन्तु आरंभमें प्रमाण नहीं है, क्योंकि संयुक्त तन्तुओंमें अन्य पट दिखाई नहीं देता। इसलिए कारण ही जो स्वरूपसे निर्विशेष है, वही विशेष अवस्थामें कार्य है, ऐसा अनुभवबलसे मानना ही पड़ेगा। उसी प्रकार अणु जो अविद्याके परिणामरूप हैं, उनके प्रलयनिमित्त काल आदिसे पिंडात्मक स्वरूपके तिरोभाव—अदृश्य होनेसे कारणभावकी प्राप्तिरूप विनाश उपपन्न होता है, जैसे अग्निसंपर्कसे घृतकाठिन्यका, अवयव संयोगका या

भाष्य

र्यवस्थाविलयनेनापि विनाश उपपद्यते । तस्माद् रूपादिमत्त्वात् स्यादभिप्रेतविपर्ययः परमाणूनाम्, तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

भी विनाश उपपन्न हो सकता है[1] । इसलिए रूपादियुक्त होनेसे परमाणु जैसे माने गये हैं, उससे विपरीत होगा, इससे भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है ॥ १५ ॥

रत्नप्रभा

न च काठिन्यस्य संयोगविशेषत्वेन गुणत्वाद् द्रव्यनाशेऽनुदाहरणत्वमिति शङ्क्यम् । गुणवद् द्रव्यस्याऽपि कुतश्चिद् विनाश इत्यंशेन उदाहरणात्, गुणपरिभाषायाश्च अतन्त्रत्वात् । वस्तुतस्तु घृतं कठिनं द्रवमिति अनुस्यूतघृतपरिणामविशेषो द्रव्यमेव काठिन्यम् । न च द्रव्यत्वेऽपि अवयवविभागादेव तस्य नाश इति वाच्यम् । घृतस्य परिणामिन एकत्वेन विभागासम्भवात्, परमाणुकाठिन्यनाशे तदसम्भावाच्चेति भावः । किञ्च, प्रलये 'नासीद्रजो' 'नान्यत् किञ्चन' इति अणूनां नाशसिद्धिः । तस्मात् न तेषां परमकारणत्वम् इत्युपसंहरति—तस्मादिति ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अवयवोंका नाश हुए विना लय होता है, उसके समान । काठिन्य संयोगविशेष होनेसे गुण है, इससे द्रव्यके नाशमें उसका उदाहरणरूपसे उपन्यास युक्त नहीं है—ऐसी शंका न करनी चाहिए, क्योंकि गुणके समान द्रव्यका भी चाहे जिस किसी कारणसे विनाश होता है, इस अंशमें उदाहरण है, और गुण परिभाषा अतंत्र है । वास्तवमें तो घृत कठिन है, द्रव्य है, इस प्रकार घृत परिमाण विशेषसे युक्त द्रव्य ही काठिन्य है । द्रव्य होनेसे अवयवविभागसे ही उसका नाश होता है, ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि परिणामी घृतके एक होनेसे उसका विभाग नहीं हो सकता । और परमाणुके काठिन्यनाशसे भी विभागका संभव नहीं है, ऐसा तात्पर्य है । और प्रलयमें [नासीद्रजः' 'नान्यत् किंचन'] 'रज—धूली नहीं थी' 'अन्य कुछ नहीं था, इस प्रकार अणुके नाशकी सिद्धि है, इसलिए अणु परमकारण नहीं है, इस प्रकार उपसंहार करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे ॥१५॥

(१) तात्पर्य यह है—यदि संयोग सहित बहुत द्रव्य अन्य द्रव्योंको उत्पन्न करें, यह प्रक्रिया सिद्ध हो तो दो द्रव्य ही उसके विनाशके कारण हैं, ऐसा सिद्ध हो, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि द्रव्यके स्वरूपका इसमें परिज्ञान नहीं है । तन्तु है, ऐसा आधार जिसके तन्तुसे व्यतिरिक्त पट नामका पदार्थ नहीं है, जो संयोगसहित तन्तुओंसे उत्पन्न हो । कारण ही विशेषयुक्त अन्य अवस्थाको प्राप्त हुआ कार्य है, और वह सामान्यात्मक है, क्योंकि मृत्तिका या सुवर्ण घट, रुचक आदि कार्योंमें अनुगत सामान्यरूपसे अनुभवमें आते हैं, और ये घट, रुचक आदि मृत्तिका या सुवर्णसे भिन्न नहीं हैं, इसलिए मृत्तिका और सुवर्ण ही उस उस आकारसे परिणत होते हुए घट रुचक, कपाल, शर्करा, कण और शकल, कणिका और चूर्ण कहलाते हैं, क्योंकि वहां वहां उपादानकारण मृत्तिका और सुवर्णका प्रत्यभिज्ञान होता है, परन्तु घटादिका कपालादिमें, या कपालादिका घटादिमें,

उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

पदच्छेद—उभयथा, च, दोषात् ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, उभयथा–पृथिव्यादिपरमाणवः किम् उपचितानुपचितगुणात्मकाः कल्प्यन्ते न वा ? प्रथमे अणुत्वव्याघातः, उपचितानुपचितगुणात्मकपृथिव्यादेः स्वरूपोपचयदर्शनात्; द्वितीये तत्कार्यपृथिव्यादिषु रूपाद्यनुपलम्भप्रसङ्ग इति पक्षद्वयेऽपि, दोषात्—दोषसद्भावात्, [अनुपपन्नः परमाणुकारणवादः]

भाषार्थ—पृथिवी आदिके परमाणु अधिक गुणवाले और न्यून गुणवाले माने जाते हैं अथवा नहीं ? प्रथम पक्षमें अणुत्वकी हानि हो जायगी, क्योंकि अधिक तथा न्यून गुणवाले पृथिवी आदिके स्वरूपका उपचय देखा जाता है, दूसरे पक्षमें परमाणुसे उत्पन्न हुए पृथिवी आदिमे रूप आदिके अभावका प्रसंग होगा । इस प्रकार दोनों पक्षोंमें परमाणुकारणवाद सङ्गत नहीं है ।

या रुचकादिका शकलादिमें, या शकलादिका रुचकादिमें, प्रत्यभिज्ञान नहीं होता—जाननेमें नहीं आता जहां कार्यकारणभाव होता हो, इसलिए उपजन और अपाय जिसके धर्म हैं, ऐसी विशेष अवस्था सामान्यकी (कारणकी) स्वीकार करनी चाहिए। सामान्यस्वरूप तो उपादान है। ऐसी अवस्था होनेसे जैसे सुवर्णद्रव्य काठिन्य अवस्था को छोड़कर द्रव अवस्थामें परिणत होता है, उसमें अवयव विभाग है, तो भी द्रवत्वका कारण नहीं है, क्योंकि तुम्हारे मतानुसार परमाणुमें विभागके अभावसे द्रवत्व अनुपपन्न होगा, इसलिए जैसे परमाणुद्रव्य अग्निसंयोगसे काठिन्यका त्यागकर द्रवत्वमें परिणत होता है, परन्तु काठिन्य और द्रवत्व परमाणुसे अतिरिक्त नहीं हैं, इसी प्रकार मृत्तिका या सुवर्ण सामान्यपिण्डावस्थाका त्यागकर कुलाल, सुवर्णकार आदिके व्यापारसे घट, रुचक आदि अवस्था प्राप्त करते हैं। परन्तु अवयव विनाशसे या अवयवसयोगविनाशसे घट, रुचक आदिका विनाश होना युक्त नहीं है। कपालादि उसके उपादान नहीं है, या उनका संयोग असमवायिकारण नहीं है, किन्तु सामान्य ही उपादान है, और वह नित्य है। वह सयोगसहित नहीं है, क्योंकि वह एक है, और संयोग तो द्विष्ठ—दो में रहनेवाला—होनेसे एकमें नहीं रहता। इसलिए सामान्य परमार्थरूपसे विद्यमान है, इस अधिष्ठानकी अनिर्वाच्य विशेष अवस्था उपजन और अपायधर्मवाली है, जैसे भुजङ्गादि रज्जु आदि उपादानवाले और अधिष्ठानवाले हैं, वैसे, यह भी स्वीकार करना युक्त है। अवयव संयोग असमवायीकारण है, यह तार्किकपरिभाषा अप्रयोजक है। यद्यपि पाटादिकार्यस्थलमें अनेक अवयवोंका संयोग उपलब्ध होता है, तो भी पटका कारण नहीं है, क्योंकि तन्तुसंयोग और पट समानकालीन देखे जाते हैं, इससे कार्यकारणभावमें जो पूर्वापरभाव आवश्यक है, उसकी यहां कल्पना निर्मूल है, इसी प्रकार संयोगनाशसे पटनाश है, ऐसी कल्पना भी नहीं हो सकती, क्योंकि वह भी समानकालीन ही उपलब्ध होता है। निश्चय घटादिकार्यस्थलमें दो कपालोंका संयोग घटोत्पत्तिके पूर्व अनुभवमें नहीं आता। कुलाल दो कपालोंको बनाकर जोड़ नहीं देता, किन्तु पिंडको ही विस्तार विशेषसे घटावस्थामें परिणत करता है। उसमें कपालद्वयसंयोगनाश घटनाशका हेतु नहीं है, क्योंकि मुद्गरके प्रहारसे घटनाश और संयोगनाश एक ही समय उत्पन्न हो सकता है, इस कारणसे आरम्भवाद प्रतीतिविरुद्ध है, वह युक्तिविरुद्ध है ऐसा तो "युक्तेः शब्दान्तराच्च" इसमें दिखलाया है। इसलिए एक ही द्रव्य उत्तर अवस्था प्राप्त करे, उत्तर अवस्थामें आये हुए द्रव्यकी उत्पत्ति और पूर्व अवस्थाके द्रव्यका नाश ऐसा स्वीकार करना चाहिए, इसी प्रकारसे परमाणुकी अवस्थाको प्राप्त हुए मूलकारणका प्रलयमें कारणविशेषसे गन्धादि अवस्थाओंके नाशके साथ मूर्त्तत्व अवस्थाके भी नाशका सम्भव है, इससे परमाणुकी नित्यता सिद्ध नहीं होती ॥१५॥

भाष्य

गन्धरसरूपस्पर्शगुणा स्थूला पृथिवी, रूपरसस्पर्शगुणाः सूक्ष्मा आपः, रूपस्पर्शगुणं सूक्ष्मतरं तेजः, स्पर्शगुणः सूक्ष्मतमो वायुरित्येवमेतानि चत्वारि भूतान्युपचितापचितगुणानि स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमतारतम्योपेतानि च लोके लक्ष्यन्ते, तद्वत् परमाणवोऽप्युपचितापचितगुणाः कल्प्येरन्न वा ? उभयथापि च दोषानुषङ्गोऽपरिहार्य एव स्यात्। कल्प्यमाने तावदुपचितापचितगुणत्वे उपचितगुणानां मूर्त्युपचयादपरमाणुत्वप्रसङ्गः। न चाऽन्तरेणाऽपि मूर्त्युपचयं गुणोपचयो भवतीत्युच्यते, कार्येषु भूतेषु गुणोपचये मूर्त्यु-

भाष्यका अनुवाद

गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुणवाली पृथ्वी स्थूल है, रूप, रस और स्पर्श गुणवाला जल सूक्ष्म है, रूप और स्पर्श गुणवाला तेज सूक्ष्मतर है और स्पर्श गुणवाला वायु सूक्ष्मतम है, इस प्रकार ये चार भूत अधिक और न्यून गुणवाले एवं स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम तारतम्यसे युक्त लोकमें देखे जाते हैं। इसी प्रकार—स्थूल, सूक्ष्म पृथ्वी, जल आदिके समान उनके परमाणु भी अधिक और न्यून गुणोंसे युक्त हैं, ऐसी कल्पनाकी जाती है या नहीं ? कल्पना करें या न करें, दोनों प्रकारोंमें दोषकी प्राप्तिका परिहार नहीं किया जा सकता। उपचित और अपचित गुणवाले परमाणुओंकी यदि कल्पना की जाय, तो उपचित गुणवाले परमाणुओंकी मूर्तिके उपचयसे उनमें परमाणुत्वकी हानिका प्रसंग आवेगा। मूर्त्तिके उपचयके विना भी गुणका उपचय होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कार्य भूतोंमें गुणके उपचय होनेपर मूर्तिका उपचय

रत्नप्रभा

यद् यस्माद् अधिकगुणवत्, तत् तस्मात् स्थूलमिति व्याप्तिम् उक्त्वा विकल्पयति—तद्वदिति। पार्थिवः परमाणुः अधिकगुणः, तत एकैकन्यूनगुणा जलादिपरमाणव इति कल्प्यते न वा ? आद्ये दोषमाह—कल्प्यमाने इति। मूर्त्युपचयात्—स्थौल्याद् इत्यर्थः। पार्थिवोऽणुः आप्यात् स्थूलः, अधिकगुणत्वाद्, घटवदित्येवं प्रयोक्तव्यः। अप्रयोजकत्वं निरस्यति—न चाऽन्तरेणेति। दृष्ट-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो जिससे अधिक गुणवान् होता है, वह उससे स्थूल होता है, ऐसी व्याप्ति कहकर विकल्प करते हैं—"तद्वत्" इत्यादिसे। पृथिवीके परमाणु अधिक गुणवाले हैं, और जल आदिके परमाणुओंमें उसकी अपेक्षा क्रमशः एक एक गुण न्यून है, ऐसी कल्पना की जाती है, या नहीं ? प्रथम पक्षमें दोष कहते हैं—"कल्प्यमाने" इत्यादिसे। मूर्तिके उपचयसे—स्थूलतासे, ऐसा अर्थ है। पृथिवीके अणु जलके अणुओंसे स्थूल हैं, क्योंकि वे अधिक गुणवाले हैं, घटके समान, ऐसा अनुमानका प्रयोग करना चाहिए। गुणोंका उपचय, यह हेतु अप्रयोजक है, इसलिए द्रव्यके उपचयका प्रयोजक नहीं, ऐसी शंकाका निरसन करते हैं—"न चान्तरेण" इत्यादिसे। ऐसा माननेसे दृष्टविरोध—जो व्यवहारमें दिखाई देता है, उससे विरोध होगा।

भाष्य

पचयदर्शनात् । अकल्प्यमाने तूपचितापचितगुणत्वे परमाणुत्वसाम्यप्रसिद्धये यदि तावत् सर्वे एकैकगुणा एव कल्प्येरन्, ततस्तेजसि स्पर्शस्योपलब्धिर्न स्यात्, अप्सु रूपस्पर्शयोः, पृथिव्यां च रसरूपस्पर्शानाम्, कारणगुणपूर्वकत्वात् कार्यगुणानाम् । अथ सर्वे चतुर्गुणा एव कल्प्येरन्, ततोऽप्स्वपि गन्धस्योपलब्धिः स्यात्, तेजसि गन्धरसयोः, वायौ गन्धरूपरसानाम् । न चैवं दृश्यते । तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥१६॥

भाष्यका अनुवाद

देखा जाता है। यदि उपचित और अपचित गुणवाले परमाणुओंकी कल्पना न की जाय, और परमाणुत्वकी समताकी सिद्धिके लिये सब परमाणु एक एक गुणयुक्त माने जायँ, तो तेजमें स्पर्शकी उपलब्धि नहीं होगी, तथा जलमें रूप और स्पर्शकी पृथ्वीमें रस, रूप और स्पर्शकी उपलब्धि नहीं होगी, क्योंकि कार्यके गुण कारणगुणपूर्वक होते हैं अर्थात् कारणके गुणही कार्यमें आते हैं। यदि सब भूत चार गुणवाले हैं, ऐसी कल्पना करें, तो जलमें भी गन्धकी उपलब्धि होनी चाहिए, तेजमें गन्ध और रसकी और वायुमें गन्ध, रूप और रसकी उपलब्धि होनी चाहिए। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। इसलिए भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है ॥ १६ ॥

रत्नप्रभा

विरोधः स्यादिति भावः । नेति पक्षे सर्वेषाम् अणूनां साम्यार्थम् एकैकगुणत्वं वा स्यात् चतुर्गुणत्वं वा? उभयथापि दोषमाह—अकल्प्यमाने त्वित्यादिना ॥१६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

परमाणुके गुणोंमें उपचय या अपचय नहीं होता, इस पक्षमें सब अणुओंके एक समान होनेके लिए सभी परमाणु एक एक गुणवाले या चार चार गुणवाले मानने पड़ेंगे। दोनों पक्षोंमें दोष कहते हैं—"अकल्प्यमाने तु" इत्यादिसे ॥ १६ ॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

पदच्छेद—अपरिग्रहात्, च, अत्यन्तम्, अनपेक्षा ।

पदार्थोक्ति—अपरिग्रहात्–परमाणुकारणवादस्य केनचिदप्यंशेन कैश्चिदपि शिष्टैरनङ्गीकारात्, च–अपि, [तत्र] अत्यन्तमनपेक्षा [कार्या श्रेयोर्थिभिः] ।

भाषार्थ—मनु आदि शिष्टोंसे किसी भी अंशसे परमाणुकारणवादके अंगीकार न करनेसे भी उसमे कल्याणार्थी पुरुषोंको अत्यन्त हेय बुद्धि करनी चाहिए।

भाष्य

प्रधानकारणवादो वेदविद्भिरपि कैश्चिन्मन्वादिभिः सत्कार्यत्वाद्यंशोपजीवनाभिप्रायेणोपनिबद्धः। अयं तु परमाणुकारणवादो न कैश्चिदपि शिष्टैः केनचिदप्यंशेन परिगृहीत इत्यत्यन्तमेवाऽनादरणीयो वेदवादिभिः। अपि च वैशेषिकास्तन्त्रार्थभूतान् षट् पदार्थान् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्यानत्यन्तभिन्नान् भिन्नलक्षणानभ्युपगच्छन्ति, यथा मनुष्योऽश्वः शश इति। तथात्वं चाऽभ्युपगम्य तद्विरुद्धं द्रव्याधीनत्वं शेषाणामभ्युप-

भाष्यका अनुवाद

कितनेही मनु आदि वेदवेत्ताओंने प्रधानकारणवाद सत्कार्यत्व आदि अंशोंका उपजीवन करता है, इस अभिप्रायसे उसको अपनी स्मृतिमें स्थान दिया है अर्थात् सत्कार्यवाद सत्कार्यत्व, आत्माका असंगत्व, चिद्रूपत्व आदि अंशोंमें अपने सिद्धान्तका अनुसरण करता है, इस कारण मन्वादियोंने तत् तत् अंशोकी दृष्टिसे उसका अपनी स्मृतिमें संग्रह किया है। परन्तु परमाणु कारणवाद किन्हीं भी शिष्टों द्वारा किसी भी अंशमें स्वीकृत नहीं है, इसलिए वेदवादियोंसे अत्यन्त ही अनादरणीय है। और वैशेषिक अपने शास्त्रके अर्थभूत—प्रतिपाद्यरूप द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नामके मनुष्य, अश्व और शशके समान अत्यन्त भिन्न और भिन्न लक्षणवाले छः पदार्थोंका स्वीकार करते हैं। और इस प्रकार

रत्नप्रभा

न केवलमणुवादस्याऽयुक्तत्वात् उपेक्षा, किन्तु शिष्टबहिष्कृतत्वात् ग्रन्थतोऽर्थतश्च अग्राह्यत्वम् इत्याह—अपरिग्रहाच्चेति। चकारार्थं प्रपञ्चयितुम् उपक्रमते—अपि चेति। अत्यन्तभेदज्ञापकमाह—भिन्नलक्षणानिति। द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वजातयो लक्षणानि गुणाश्रयत्वाद्युपाधयो वा। निर्गुणत्वे सति जातिमत् अक्रियत्वम्—गुणलक्षणम्। संयोगविभागयोः निरपेक्षकारणम्—कर्म। नित्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अणुवादके केवल अयुक्त होनेसे वह उपेक्षणीय—अनादरणीय है, सो बात नहीं है, किन्तु शिष्टोंसे बहिष्कृत होनेसे भी वह ग्रन्थसे और अर्थसे अग्राह्य है, ऐसा कहते हैं—"अपरिग्रहाच्च" इत्यादिसे। चकारके अर्थका विस्तार करनेके लिए भूमिका रचते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। उनमें परस्पर भिन्नताके ज्ञापक कहते हैं—"भिन्नलक्षणान्" इत्यादिसे। द्रव्य, गुण और कर्मके द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व जाति लक्षण हैं। अथवा गुणाश्रयत्व आदि उपाधि ही लक्षण हैं अर्थात् जो गुणाश्रय है वह द्रव्य है, जो निर्गुण होकर जातिमान् और क्रियारहित है वह गुण है, जो संयोग और विभागका निरपेक्ष कारण है, वह कर्म है, नित्य, एक और अनेकमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाला सामान्य है,

भाष्य

गच्छन्ति, तन्नोपपद्यते। कथम्? यथा हि लोके शशकुशपलाशप्रभृतीनामत्यन्तभिन्नानां सतां नेतरेतराधीनत्वं भवति, एवं द्रव्यादीनामप्यत्यन्तभिन्नत्वान्नैव द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां भवितुमर्हति। अथ भवति द्रव्याधीनत्वं गुणादीनाम्, ततो द्रव्यभावे भावाद्, द्रव्याभावेऽभावाद् द्रव्यमेव संस्थाना-

भाष्यका अनुवाद

मानकर उसके विरुद्ध शेष सभी पदार्थ द्रव्यके अधीन हैं, ऐसा स्वीकार करते हैं। परन्तु उनका यह पक्ष उपपन्न नहीं है। किस प्रकार? लोकमें जैसे शश, कुश, पलाश आदि अत्यन्त भिन्न होनेसे, अन्योन्यके अधीन नहीं होते हैं, उसी प्रकार द्रव्य आदिके भी परस्पर अत्यन्त भिन्न होनेसे गुण आदि द्रव्यके अधीन नहीं होते। और गुण आदि द्रव्याधीन होते हैं, क्योंकि द्रव्यके अस्तित्वमें

रत्नप्रभा

मेकम् अनेकसमवेतम्—सामान्यम्। नित्यद्रव्यवृत्तयः—विशेषाः। नित्यः सम्बन्धः—समवाय इति भिन्नानि लक्षणानि। तैर्मिथोऽत्यन्तभेदसिद्धिः इत्यर्थः। तथात्वम्—अत्यन्तभिन्नत्वम्, तेन विरुद्धो यो धर्मधर्मिभावः। गुणादयो न द्रव्यधर्माः स्युः, ततोऽत्यन्तभिन्नत्वात् शशकुशादिवद् इत्यर्थः। भेदे बाधकमुपन्यस्य अभेदमाह—अथ भवतीति। गुणादिषु तदधीनत्वं तावत् अन्वयव्यतिरेकसिद्धम्। तथा च गुणादयो द्रव्याभिन्नाः, द्रव्याधीनत्वाद्, यद् यस्माद् भिन्नं तत् न तदधीनम्, यथा शशभिन्नः कुश इत्यर्थः। अभेदे द्रव्यं गुण इति शब्दप्रत्ययभेदः कथम्, तत्राह—द्रव्यमिति। कल्पितभेदोऽपि अस्तीति आशयः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

नित्य द्रव्यमें रहनेवाला विशेष है और नित्य सम्बन्ध समवाय है, इस प्रकार उनके लक्षण भिन्न हैं। और इन लक्षणोंके भेदसे द्रव्य आदि परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, ऐसा सिद्ध होता है। तथात्व—द्रव्य आदिकी अत्यन्त भिन्नता। उससे—पूर्व कथनसे विरुद्ध जो धर्मधर्मिभाव है, वह [उपपन्न नहीं होता]। गुण आदि द्रव्यधर्म नहीं हैं, द्रव्यसे अत्यन्त भिन्न होनेसे, शश, कुश आदिके समान, ऐसा अर्थ है। भेदमें द्रव्याधीनत्वरूप बाधकका उपन्यास करके—यदि द्रव्यसे अत्यन्त भिन्न गुण आदि हों तो गुण आदि द्रव्याधीन नहीं होंगे, इस प्रकार भेदमें गुण आदिका द्रव्याधीनत्व बाधक है, ऐसा दिखलाकर अभेद कहते हैं—"अथ भवति" इत्यादिसे। गुण आदि द्रव्यके अधीन हैं, यह बात अन्वय और व्यतिरेकसे सिद्ध है ऐसा दिखलाते हैं, गुण आदि द्रव्यसे अभिन्न हैं, द्रव्याधीन होनेसे, जो जिससे भिन्न है, वह उसके अधीन नहीं होता, जैसे शशभिन्न कुश, ऐसा अर्थ है। यदि द्रव्य और गुण आदि अभिन्न हों, तो द्रव्य और गुण इस प्रकार शब्दभेद और प्रतीतिभेद किस प्रकार होगा? इसपर कहते हैं—"द्रव्यम्" इत्यादिसे।

भाष्य

दिभेदादनेकशब्दप्रत्ययभाग् भवति । यथा देवदत्त एक एव सन्नवस्थान्तरयोगादनेकशब्दप्रत्ययभाग् भवति, तद्वत्। तथा सति साङ्ख्यसिद्धान्तप्रसङ्गः स्वसिद्धान्तविरोधश्चाऽऽपद्येयाताम् ।

नन्वग्नेरन्यस्यापि सतो धूमस्याऽग्न्यधीनत्वं दृश्यते । सत्यं दृश्यते, भेदप्रतीतेस्तु तत्राऽग्निधूमयोरन्यत्वं निश्चीयते, इह तु शुक्लः कम्बलः,

भाष्यका अनुवाद

उनका अस्तित्व और द्रव्यके अभावमें अभाव होता है। इसलिए संस्थानादि भेदसे द्रव्य ही अनेक शब्द और प्रतीतिवाला होता है। जैसे कि देवदत्त एक ही होता हुआ भी अन्य अवस्थाके योगसे अनेक शब्द और प्रतीतिवाला होता है। ऐसी परिस्थितिमें सांख्यसिद्धान्तका प्रसंग और स्वसिद्धान्तका विरोध प्राप्त होगा।

परन्तु अग्निसे अन्य होनेपर भी धूम अग्निके अधीन दिखाई देता है। ठीक है, दिखाई देता है, परन्तु भेदप्रतीतिसे उस स्थलमें अग्नि और धूम अन्य हैं, ऐसा निश्चय होता है। परन्तु यहां शुक्ल कम्बल, लाल

रत्नप्रभा

अन्यथा अत्यन्तभेदवदत्यन्ताभेदेऽपि धर्मधर्मित्वायोगादिति मन्तव्यम् । अस्तु गुणादीनां द्रव्यतादात्म्यमिति वदन्तं तार्किकम्मन्यं प्रत्याह—तथा सतीति । सांख्योऽत्र वेदान्ती ग्राह्यः । यद्वा, कापिलस्याऽपि तादात्म्यसिद्धान्त इति सांख्यग्रहणम् । यद्यपि तदधीनत्वम्—तद्धर्मत्वम्, तच्च धूमे नास्ति, अग्निं विनापि भावात्, तथापि तत्कार्यत्वं तदधीनत्वं मत्वा व्यभिचारं शङ्कते—नन्विति । कार्यत्वमन्यत्वं चाऽङ्गीकरोति—सत्यमिति । तथापि तादात्म्येन प्रती-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कल्पित भेद भी है ऐसा आशय है, क्योंकि ऐसा न हो, तो जैसे अत्यन्त भेदमें धर्मधर्मिभाव नहीं होता है, वैसे ही अत्यन्त अभेदमें भी द्रव्य और गुण आदिमें धर्म और धर्मित्व युक्त नहीं होगा, ऐसा समझना चाहिए। गुण आदि द्रव्यस्वरूप हों, इस प्रकार गुण आदिका द्रव्यसे तादात्म्य कहते हुए अपनेको तार्किक माननेवालेके प्रति कहते हैं—"तथा सति" इत्यादिसे। सांख्यपदसे यहाँपर वेदान्तीका ग्रहण करना चाहिए। अथवा कापिलोंका भी गुण और द्रव्यका तादात्म्य है, ऐसा सिद्धान्त है, यह सोचकर सांख्यका ग्रहण है। यद्यपि द्रव्याधीनत्व द्रव्यधर्मत्व है, वह धूममें नहीं है, क्योंकि वह अग्निका धर्म नहीं है, तो भी तदधीनत्व तत्कार्यत्व है—(उसके अधीन अर्थात् उसका कार्य) ऐसा समझकर व्यभिचारकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। धूम अग्निका कार्य है और अग्निसे अन्य है, ऐसा स्वीकार करते हैं—

भाष्य

रोहिणी धेनुः, नीलमुत्पलमिति द्रव्यस्यैव तस्य तस्य तेन तेन विशेषणेन प्रतीयमानत्वान्नैव द्रव्यगुणयोरग्निधूमयोरिव भेदप्रतीतिरस्ति, तस्माद् द्रव्यात्मकता गुणस्य। एतेन कर्मसामान्यविशेषसमवायानां द्रव्यात्मकता व्याख्याता।

गुणादीनां द्रव्याधीनत्वं द्रव्यगुणयोरयुतसिद्धत्वादिति यद्युच्येत, तत्पुनरयुतसिद्धत्वमपृथग्देशत्वं वा स्यादपृथक्कालत्वं वाऽपृथक्स्वभावत्वं वा, सर्वथापि नोपपद्यते। अपृथग्देशत्वे तावत् स्वाभ्युपगमो विरुध्येत।

भाष्यका अनुवाद

गाय, नील कमल, इस प्रकार तत् तत् द्रव्यकी उस उस विशेषसे प्रतीति होनेसे अग्नि और धूमके समान द्रव्य और गुणकी भेदप्रतीति नहीं है। इसलिए गुण द्रव्यात्मक है। इसीसे कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय द्रव्यात्मक है, ऐसा व्याख्यान हुआ।

गुण आदि द्रव्यके अधीन हैं, क्योंकि द्रव्य और गुण अयुत सिद्ध हैं, ऐसा यदि कहा जाय, तो वह अयुतसिद्धत्व अपृथक्देशत्व है या अपृथक्कालत्व है अथवा अपृथक्स्वभावत्व है, सर्वथा ही वह उपपन्न नहीं होता। जो पृथग्देशमें न हो, वह अयुतसिद्ध है, ऐसा यदि अयुतसिद्धत्वको मानें तो अपने सिद्धान्तसे विरोध होगा। किस प्रकार? क्योंकि तन्तुमें उत्पन्न

रत्नप्रभा

यमानत्वस्य हेतोः विवक्षितत्वात् न व्यभिचार इत्याशयः। अस्य हेतोः अन्यथासिद्धिम् आशङ्कते—गुणादीनामिति। गुणादीनां द्रव्येण अभेदाभावेऽपि अयुतसिद्धत्वेन तादात्म्यप्रतीतिसिद्धिः इत्यर्थः। दूषयितुं विकल्पयति—तत्पुनरिति। शौक्ल्यस्य पटनिष्ठत्वात् पटस्य तन्तुदेशत्वात् पटशौक्ल्ययोः अपृथग्देशत्वाभावात् शुक्लः पट इति सामानाधिकरण्यप्रतीतिः न स्यादिति आद्यं दूषयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सत्यम्" इत्यादिसे। तो भी तादात्म्यसे प्रतीयमान होना—तत्स्वरूपसे प्रतीत होना, इस हेतुके विवक्षित होनेसे व्यभिचार नहीं है, ऐसा आशय है। इस हेतुकी अन्यथासिद्धिकी आशङ्का करते हैं—"गुणादीनाम्" इत्यादिसे। यद्यपि गुण आदि द्रव्यसे अभिन्न नहीं हैं, तथापि अयुतसिद्ध होनेसे उनमें तादात्म्यप्रतीति सिद्ध है, ऐसा अर्थ है। इसे दूषित करनेके लिए विकल्प करते हैं—"तत्पुनः" इत्यादिसे। शुक्लत्व पटमें रहता है और पट तन्तुओंमें रहता है, इसलिए पट और शुक्लत्वमें एकदेशत्वका अभाव है अर्थात् पट और शुक्लत्व दोनोंके समानदेशमें स्थित न होनेसे 'शुक्लः पटः, (शुक्ल पट) ऐसी सामानाधिकरण्यप्रतीति

भाष्य

कथम् ? तन्त्वारब्धो हि पटस्तन्तुदेशोऽभ्युपगम्यते, न पटदेशः। पटस्य तु गुणाः शुक्लत्वादयः पटदेशा अभ्युपगम्यन्ते न तन्तुदेशाः। तथा चाऽऽहुः— 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्' (वै० सू० १।१।१०) इति। तन्तवो हि कारणद्रव्याणि कार्यद्रव्यं पटमारभन्ते, तन्तुगताश्च गुणाः शुक्लादयः कार्यद्रव्ये पटे शुक्लादिगुणान्तरमारभन्ते इति हि तेऽभ्युपगच्छन्ति। सोऽभ्युपगमो द्रव्यगुणयोरपृथग्देशत्वेऽभ्युपगम्यमाने बाध्येत। अथाऽपृथक्कालत्वमयुतसिद्धत्वमुच्येत, सव्यदक्षिणयोरपि गोविषाणयोरयुतसिद्धत्वं प्रसज्येत। तथाऽपृथक्स्वभावत्वे त्वयुतसिद्धत्वे न द्रव्यगुणयोरात्मभेदः संभवति, तस्य तादात्म्येनैव प्रतीयमानत्वात्।

भाष्यका अनुवाद

हुआ पट तन्तुदेश माना जाता है, पटदेश नहीं माना जाता, परन्तु पटके शुक्ल आदि गुण पटदेश माने जाते हैं, तन्तुदेश नहीं माने जाते। वैशेषिक कहते हैं— 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते०' (द्रव्य अन्य द्रव्य उत्पन्न करते हैं और गुण अन्य गुण), क्योंकि कारणद्रव्य तन्तु कार्यद्रव्य पटको उत्पन्न करते हैं और तन्तुगत शुक्ल आदि गुण कार्यद्रव्य पटमें शुक्ल आदि अन्य गुणोंको उत्पन्न करते हैं, ऐसा वे मानते हैं। द्रव्य और गुणको अपृथग्देश स्वीकार करनेसे उक्त सिद्धान्त बाधित हो जायगा। यदि जो पृथक्काल न हो वह अयुतसिद्ध है ऐसा यदि अयुतसिद्धत्व कहो, तो गायके बायें और दायें सींग अयुतसिद्ध हैं, ऐसा प्राप्त हो जायगा। उसी प्रकार जिसका स्वभाव पृथक् न हो, वह अयुतसिद्ध है, ऐसा यदि अयुतसिद्धत्व मानें, तो द्रव्य और गुणका स्वरूपभेद नहीं हो सकता, क्योंकि गुण और द्रव्यकी तादात्म्यसे प्रतीति होती है।

रत्नप्रभा

अपृग्थदेशत्व इति। काणादसूत्रद्वयं व्याचष्टे—तन्तवो हीति। स्वभावो हि स्वरूपम्, तस्याऽपृथक्त्वेऽस्मदिष्टाऽभेदसिद्धिरित्याह—अपृथक्स्वभावत्व इति। अभेदे युक्तिमाह—तस्येति। गुणस्य इत्यर्थः। एवं षट् पदार्थाः अत्यन्तभिन्ना इति सिद्धान्तोऽनुभवविरोधेन दूषितः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

न होगी। इस प्रकार प्रथम पक्षको दूषित करते हैं—"अपृथक्देशत्व" इत्यादिसे। कणादके दो सूत्रोंका व्याख्यान करते हैं—"तन्तवो हि" इत्यादिसे। स्वभाव अर्थात् स्वरूपको अपृथक्—एक माननेपर हमको जो अभेद इष्ट है, उसकी सिद्धि होगी, ऐसा कहते हैं—"अपृथक्स्वभावत्वे" इत्यादिसे। अभेदमें युक्ति कहते हैं—"तस्य" इत्यादिसे। तस्य अर्थात् गुणके। इस प्रकार छः पदार्थ अत्यन्ताभिन्न हैं, यह सिद्धान्त अनुभवविरुद्ध होनेसे दूषित किया गया।

भाष्य

युतसिद्धयोः सम्बन्धः संयोगोऽयुतसिद्धयोस्तु समवाय इत्ययमभ्युपगमो मृषैव तेषाम्, प्राक्सिद्धस्य कार्यात् कारणस्याऽयुतसिद्धत्वानुपपत्तेः। अथान्यतरापेक्ष एवायमभ्युपगमः स्यादयुतसिद्धस्य कार्यस्य कारणेन सम्बन्धः समवाय इति। एवमपि प्रागसिद्धस्याऽलब्धात्मकस्य कार्यस्य कारणेन सम्बन्धो नोपपद्यते, द्वयायत्तत्वात् सम्बन्धस्य। सिद्धं भूत्वा सम्बध्यते इति चेत्, प्राक्कारणसम्बन्धात् कार्यस्य सिद्धावभ्युपगम्यमाना-

भाष्यका अनुवाद

युतसिद्ध पदार्थोंका सम्बन्ध—संयोग है और अयुतसिद्ध पदार्थोंका सम्बन्ध—समवाय है, ऐसा उनका अङ्गीकार मिथ्या ही है, क्योंकि कार्यसे पूर्वमें सिद्ध कारण अयुतसिद्ध हो, यह उपपन्न नहीं हो सकता। अयुतसिद्ध कार्यका कारणके साथ जो सम्बन्ध है, वह समवाय है, यह अङ्गीकार दोनोंमें से एककी अपेक्षासे ही है, यदि ऐसा कहो, तो भी पूर्वमें असिद्ध, जिसने स्वरूप प्राप्त नहीं किया ऐसे कार्यका कारणके साथ सम्बन्ध युक्त नहीं होगा, क्योंकि सम्बन्ध दोनोंके अधीन होता है। कार्य सिद्ध

रत्नप्रभा

सिद्धान्तान्तरं दूषयति—**युतेति**। अयुतसिद्धत्वं किम् उभयोः उत अन्यतरस्य? न आद्यः इत्याह—**प्रागिति**। द्वितीयम् आशङ्क्य दूषयति—**अथेत्यादिना**। कारणस्य पृथक्सिद्धत्वेऽपि कार्यम् अपृथक्सिद्धमिति उक्तमुपेत्य सम्बन्धोऽसिद्धस्य सिद्धस्य वा इति विकल्प्य आद्यं दूषयित्वा द्वितीयं शङ्कते—**सिद्धं भूत्वेति**। सतोः अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः इत्यभ्युपगमात् तन्तुपटयोरपि संयोगापत्तिरिति अपसिद्धान्तः स्यादित्यर्थः। सद्योजातपटस्य क्रियाऽभावात् कथं

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब अन्य सिद्धान्तको दूषित करते हैं—"युत" इत्यादिसे। अयुतसिद्धि दोकी है अथवा दोमें से एककी है? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"प्राक्" इत्यादिसे। दूसरे पक्षकी आशंका करके उसको दूषित करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। कारणके पृथक्सिद्ध होनेपर भी कार्य अपृथक् सिद्ध है, ऐसा कहा गया है, उसको लेकर सम्बन्ध सिद्धका है या असिद्धका, ऐसा विकल्प कर, प्रथम पक्षका निराकरण करके द्वितीय पक्षकी आशंका करते हैं—"सिद्धं भूत्वा" इत्यादिसे। विद्यमान दो अप्राप्य पदार्थोंकी प्राप्ति संयोग है, इस प्रकार स्वीकार करनेसे तन्तु और पटमें संयोग प्रसक्त होगा, इस तरह सिद्धान्तकी हानि होगी, ऐसा अर्थ है। तुरन्त उत्पन्न हुए पटमें क्रिया न होनेसे संयोग किस प्रकार होगा, इसपर कहते

भाष्य

यामयुतसिद्ध्यभावात् 'कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते' इतीदमुक्तं दुरुक्तं स्यात्। यथा चोत्पन्नमात्रस्याऽक्रियस्य कार्यद्रव्यस्य विभुभिराकाशादिभिर्द्रव्यान्तरैः सम्बन्धः संयोग एवाऽभ्युपगम्यते, न समवायः; एवं कारणद्रव्येणाऽपि सम्बन्धः संयोग एव स्यान्न समवायः। नाऽपि संयोगस्य समवायस्य वा सम्बन्धस्य सम्बन्धिव्यतिरेकेणाऽस्तित्वे किञ्चित् प्रमाणमस्ति। सम्बन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवायशब्दप्रत्ययदर्शनात् तयोरस्तित्वमिति चेत्, न; एकत्वेऽपि स्वरूपबाह्यरूपापेक्षयाऽनेकशब्दप्रत्यय-

भाष्यका अनुवाद

होकर कारणसे सम्बद्ध होता है, ऐसा यदि कहो, तो कारणसम्बन्धके पूर्वमें कार्यकी सिद्धि स्वीकार करनेसे अयुतसिद्धिका अभाव होनेके कारण 'कार्य-कारणका संयोग और विभाग नहीं होता' वैशेषिकका यह कथन दुरुक्त हो जायगा। और जैसे उत्पन्नमात्र क्रियारहित कार्यद्रव्यका विभु आकाश आदि अन्य द्रव्योंके साथ सम्बन्ध—संयोग ही माना जाता है, समवाय नहीं माना जाता। इसी प्रकार कारणद्रव्यके साथ भी सम्बन्ध संयोग ही हो जायगा, समवाय नहीं होगा। और संयोग तथा समवाय सम्बन्धके सम्बन्धियोंकी अपेक्षासे पृथक् अस्तित्वमें कुछ भी प्रमाण नहीं है। 'सम्बन्धी' इस शब्द और प्रतीतिसे व्यतिरिक्त संयोग और समवाय, इन शब्दों और प्रतीतियोंके दर्शनसे उनका पृथक् अस्तित्व है, ऐसा यदि कहो, तो

रत्नप्रभा

संयोगः ? तत्राह—यथेति। किञ्च, सम्बन्धस्य अपि सम्बन्धे अनवस्थानात् असम्बद्धस्याऽनियामकत्वात् सम्बन्धोऽपि दुर्निरूप इत्याह—नाऽपीति। सम्बन्धः सम्बन्धिभिन्नः तद्विलक्षणशब्दधीगम्यत्वाद् वस्त्वन्तरवदिति शङ्कते—सम्बन्धीति। कल्पितभेदसाधने सिद्धसाधनता, वस्तुभेदसाधने तु व्यभिचार इति समाधत्ते—न, एकत्वेऽपीति। स्वरूपेणैव मनुष्यादिशब्दभागेव पुत्राद्यपेक्षया

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"यथा" इत्यादि। और सम्बन्धका भी सम्बन्ध स्वीकार करनेपर अनवस्था होनेसे असंबद्धका नियामक न होनेसे संबन्ध दुर्निरूप है, ऐसा कहते हैं—"नापि" इत्यादिसे। सम्बन्ध सम्बन्धियोंसे भिन्न है, भिन्न शब्द और प्रतीतिसे गम्य होनेसे, अन्य वस्तुके समान, ऐसी शङ्का करते हैं—"सम्बन्धि" इत्यादिसे। कल्पित भेद मानो, तो सिद्धसाधनता दोष होता है, वास्तविक भेद सिद्ध करनेमें व्यभिचार होता है, इस प्रकार समाधान करते हैं—

भाष्य

दर्शनात्। यथैकोऽपि सन् देवदत्तो लोके स्वरूपं सम्बन्धिरूपं चापेक्ष्याऽनेकशब्दप्रत्ययभाग् भवति—मनुष्यो ब्राह्मणः श्रोत्रियो वदान्यो बालो युवा स्थविरः पिता पुत्रः पौत्रो भ्राता जामाता इति, यथा चैकापि सती रेखा स्थानान्यत्वेन निविशमानैकदशशतसहस्रादिशब्दप्रत्ययभेदमनुभवति, तथा सम्बन्धिनोरेव सम्बन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवायशब्दप्रत्ययार्हत्वम्, न व्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वेन, इत्युपलब्धिलक्षणप्राप्तस्याऽनुपलब्धेर-

भाष्यका अनुवाद

यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि एकमें भी स्वरूप और बाह्यरूपकी अपेक्षासे अनेक शब्द और प्रतीतियां उपलब्ध होती हैं। जैसे यद्यपि देवदत्त एकही है, तो भी व्यवहारमें वह स्वरूप और सम्बन्धिरूपकी अपेक्षासे अनेक शब्द और प्रतीतियोंका भाजन होता है—मनुष्य, ब्राह्मण, श्रोत्रिय, दाता, बालक, युवक, वृद्ध, पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता और जामाता इत्यादि। और जैसे एक ही रेखा स्थानभेदसे—भिन्न भिन्न स्थानोंमें योजित होने के कारण एक, दश, शत, सहस्र आदि शब्द और प्रतीतियोंकी भाजन होती है, वैसे ही दो संबन्धी ही 'सम्बन्धी' शब्द और 'यह सम्बन्धी है' इस प्रतीतिके भेदसे संयोग और समवाय इन शब्द और प्रतीतियोंके पात्र होते हैं, 'संयोग' और 'समवाय' रूप व्यतिरिक्त वस्तुके अस्तित्वसे वे शब्द और प्रत्ययके पात्र नहीं होते हैं। इस

रत्नप्रभा

पिता इत्यादिविलक्षणशब्दधीगम्यो भवति, न च भिद्यते इति व्यभिचार इत्यर्थः। फलितमाह—इत्युपलब्धीति। विलक्षणशब्दधीगम्यत्वाद् इत्युपलब्धिघटितेन लक्षणेन लिङ्गेन प्राप्तस्य वस्त्वन्तरस्य संयोगादेः सम्बन्धिव्यतिरेकेण अनुपलब्धेः अभावो निश्चीयते इत्यर्थः। नहि अङ्गुलिद्वयस्य नैरन्तर्यातिरेकेण संयोग उपलभ्यते, समवायस्तु न कस्याऽपि क्वचिदपि अनुभवमारोहतीति भावः। सम्बन्धस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न एकत्वेऽपि" इत्यादिसे। स्वरूपसे मनुष्य आदि शब्दके भाजन देवदत्त आदि ही पुत्र आदिकी अपेक्षासे पिता आदि विलक्षण शब्द और प्रत्ययसे गम्य होता है, परन्तु इससे भिन्न नहीं हो जाता, ऐसा व्यभिचार है, यह अर्थ है। फलित कहते हैं—"इत्युपलब्धि" इत्यादिसे। भिन्न शब्द और प्रतीतिसे गम्य होनेके कारण, इस उपलब्धिरूप लिङ्गसे प्राप्त हुए अन्य पदार्थ संयोग आदिकी सम्बन्धियोंसे व्यतिरिक्त रूपसे उपलब्धि न होनेसे उनका अभाव निश्चित होता है ऐसा अर्थ है। दो अङ्गुलियोंकी निरन्तरतासे भिन्न संयोग उपलब्ध नहीं होता, समवाय तो कहीं भी किसीके भी अनुभवमें आरूढ़ नहीं होता, ऐसा तात्पर्य है। परन्तु सम्बन्ध

भाष्य

भावो वस्त्वन्तरस्य । नापि सम्बन्धिविषयत्वे सम्बन्धशब्दप्रत्यययोः संततभावप्रसङ्गः, स्वरूपबाह्यरूपापेक्षयेत्युक्तोत्तरत्वात् । तथाऽण्वात्ममनसामप्रदेशत्वान्न संयोगः संभवति, प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगदर्शनात् । कल्पिताः प्रदेशा अण्वात्ममनसां

भाष्यका अनुवाद

प्रकार उपलब्धिरूप लिङ्गसे प्राप्त अन्य पदार्थका (संयोग आदिकी सम्बन्धीकी अपेक्षा भिन्नरूपसे) अनुपलब्धिसे अभाव है। उसी प्रकार 'सम्बन्ध' इस शब्द और प्रतीतिके सम्बन्धी विषयक होनेसे उसके (सम्बन्धके) निरन्तर अस्तित्वकी प्राप्ति होगी, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि वह स्वरूप और बाह्यरूपकी अपेक्षा से है, ऐसा उसका उत्तर कहा जा चुका है । उसी प्रकार अणु, आत्मा और मनका संयोग नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें प्रदेश नहीं है, और प्रदेशवाले द्रव्यका प्रदेशवाले अन्य द्रव्यके साथ संयोग दिखाई देता है। यदि कहो कि अणु, आत्मा और

रत्नप्रभा

सम्बन्धस्य भेदे सम्बन्धिनः सदा सत्त्वात् सर्वदा सम्बन्धबुद्धिप्रसङ्ग इति शङ्कां निषेधति—नापीति । परापेक्षया नैरन्तर्यावस्थायाम् अङ्गुल्योः रूपरूपिणोश्च सम्बन्धधीः, न स्वत इति उक्तमित्यर्थः । पूर्वं परमाण्वोः संयोगनिरासेन द्व्यणुकादिसृष्टिः निरस्ता, संप्रति अदृष्टवदात्मना अणूनां संयोगोऽणुषु क्रियाहेतुः, आत्ममनसोः संयोगो बुद्ध्याद्यसमवायिकारणं निरस्यते—तथाऽण्वात्मेति । निरस्तमपि कल्पितप्रदेशपक्षमतिप्रसङ्गाख्यदोषान्तरं वक्तुं पुनरुद्भावयति—कल्पिता इति । कल्पनम्—ऊहः । ऊहितार्थाः सन्तोऽसन्तो वा ? द्वितीये न

रत्नप्रभाका अनुवाद

सम्बन्धियोंसे अभिन्न हो, तो सम्बन्धीके सदा रहनेसे सर्वदा सम्बन्धबुद्धिका प्रसङ्ग होगा, इस शङ्काका निषेध करते हैं—"नापि" इत्यादिसे । दो अङ्गुलियों और रूप-रूपी पदार्थोंकी नैरन्तर्यावस्थामें सम्बन्धबुद्धि होती है, स्वरूपतः वैसा प्रत्यय कहीं भी नहीं होता, ऐसा कहा गया है, ऐसा अर्थ है । पहले दो परमाणुओंके संयोगका निरसन करके द्व्यणुक आदि सृष्टिका निरसन किया, अब अदृष्टवत् आत्मासे अणुओंका संयोग अणुओंमें क्रियाका हेतु है, आत्मा और मनका संयोग बुद्धि आदिका असमवायी कारण है, इसका निरसन करते हैं—"तथाण्वात्म" इत्यादिसे । कल्पित प्रदेश पक्षका पहले निरास किया जा चुका है, तो भी अतिप्रसङ्ग नामक अन्य दोष दिखलानेके लिए फिर उसे कहते हैं—"कल्पिताः" इत्यादिसे । कल्पन—तर्क । कल्पित अर्थ विद्यमान हैं या

भाष्य

भविष्यन्तीति चेत्, न; अविद्यमानार्थकल्पनायां सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात्। इयानेवाऽविद्यमानो विरुद्धोऽविरुद्धो वाऽर्थः कल्पनीयो नातोऽधिक इति नियमहेत्वभावात्, कल्पनायाश्च स्वायत्तत्वात् प्रभूतत्वसम्भवाच्च। न च वैशेषिकैः कल्पितेभ्यः षड्भ्यः पदार्थेभ्योऽन्येऽधिकाः शतं सहस्रं वाऽर्था न कल्पयितव्या इति निवारको हेतुरस्ति, तस्माद्यस्मै यस्मै यद्यद्रोचते तत्तत् सिद्ध्येत्। कश्चित् कृपालुः प्राणिनां दुःखबहुलः संसार एव मा भूदिति कल्पयेत्। अन्यो वा व्यसनी मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिं कल्पयेत्, कस्तयोर्निवारकः स्यात्। किंचाऽन्यत् द्वाभ्यां परमाणुभ्यां निरवयवाभ्यां साव-

भाष्यका अनुवाद

मनके प्रदेश कल्पित होंगे, तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि अविद्यमान अर्थकी कल्पना करनेपर सब अर्थोंकी सिद्धि होनेका प्रसङ्ग आवेगा। इतनी ही अविद्यमान, विरुद्ध या अविरुद्ध अर्थकी कल्पना करनी चाहिए, अधिक नहीं, इस नियमके लिए हेतु नहीं है। और कल्पना स्वाधीन है, अतः उसके निरवधि होनेका सम्भव है। और वैशेषिकोंसे कल्पित छः पदार्थोंसे अतिरिक्त सैकड़ों या हज़ारों पदार्थोंकी कल्पना नही करनी चाहिए, इस तरहका कोई निवारक हेतु नहीं है। इसलिए जिस जिसको जो जो पदार्थ रुचिकर होगा वह सिद्ध हो जायगा। कोई एक कृपालु ऐसी कल्पना करेगा कि प्राणियोंका यह दुःख से परिपूर्ण संसार ही न हो अथवा कोई अन्य व्यसनी मुक्तोंकी भी पुनरुत्पत्तिकी कल्पना करेगा, ऐसी स्थितिमें उन दोनोंका निवारक कौन होगा और

रत्नप्रभा

संयोगसिद्धिः, स्वस्वाभावयोः एकत्र वृत्त्यवच्छेदकासत्त्वात्। आद्य तूहमात्रेण सर्वार्थसिद्धिप्रसंगः, ऊहस्य स्वाधीनत्वात्, प्रभूतत्वम् निरवधित्वम्, तत्सम्भवाच्चेत्यर्थः। यदि ऊहात् सर्वसिद्धिः, तदा पदार्थबन्धमुक्तिनियमा लुप्येरन् इत्याह—**न चेत्यादिना**। संयोगं दूषयित्वा समवायं दूषयति—**किञ्चाऽन्यदिति**। तन्मते

रत्नप्रभाका अनुवाद

अविद्यमान हैं? द्वितीय पक्षमें संयोग सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि वस्तु और उसका अभाव एकत्र नहीं रह सकते। प्रथम पक्षमें तो कल्पनामात्रसे सब अर्थ सिद्ध होनेका प्रसङ्ग आवेगा, क्योंकि कल्पना पुरुषके अधीन है और उसके निरवधि होनेका सम्भव है। यदि कल्पनासे सब सिद्ध हो, तो पदार्थ, बन्ध और मुक्तिके नियम लुप्त हो जायँगे, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। संयोगको दूषित करके समवायको दूषित करते हैं—"किञ्चान्यत्"

भाष्य

यवस्य द्व्यणुकस्याऽऽकाशेनेव संश्लेषानुपपत्तिः, न ह्याकाशस्य पृथिव्यादीनां च जतुकाष्ठवत्संश्लेषोऽस्ति। कार्यकारणद्रव्ययोराश्रिताश्रयभावोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यवश्यं कल्प्यः समवाय इति चेत्, न; इतरेतराश्रयत्वात्। कार्यकारणयोर्हि भेदसिद्धावाश्रिताश्रयभावसिद्धिः आश्रिताश्रयभावसिद्धौ च तयोर्भेदसिद्धिः कुण्डबदरवदितीतरेतराश्रयता स्यात्। नहि कार्यकारणयो-

भाष्यका अनुवाद

इसके अतिरिक्त दूसरा दूषण यह है कि जैसे निरवयव आकाशके साथ द्व्यणुकके सम्बन्धका सम्भव नहीं है, वैसे ही दो निरवयव परमाणुओंके साथ सावयव द्व्यणुकका सम्बन्ध अनुपपन्न है। आकाश और पृथिवी आदिका लाख और लकड़ीके समान संश्लेष नहीं है। यदि समवायको न मानोगे, तो कार्यद्रव्य और कारणद्रव्यका आश्रिताश्रयभाव अनुपपन्न हो जायगा। अतः समवायकी कल्पना अवश्य करनी चाहिए, ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि अन्योन्याश्रय हो जायगा। कारण कि कार्य और कारणका कुण्ड और बदरके समान भेद सिद्ध होनेपर आश्रिताश्रयभावकी सिद्धि होती है और कुण्ड बदरके समान आश्रिताश्रयभावके सिद्ध होनेपर भेद सिद्ध होता है, ऐसा अन्योन्याश्रय होता है। कार्य और कारणका भेद या आश्रिता-

रत्नप्रभा

दूषणान्तरमुच्यते इत्यर्थः। संश्लेषः—संग्रहः। यत एकाकर्षणेन अपराकर्षणं तस्य अनुपपत्तिः इत्यर्थः। द्व्यणुकं निरवयवासमवेतम्, सावयवत्वाद्, आकाशासमवेतभूमिवदिति भावः। ननु द्व्यणुकस्य असमवेतत्वे तदाश्रितत्वं न स्यात्, सम्बन्धं विना तदयोगात्, न च संयोगादाश्रितत्वम्, कार्यद्रव्यस्य प्रकृत्यसंयोगादिति शङ्कते—कार्येति। प्रकृतिविकारयोः अभेदादाश्रयाश्रयिभावानुपपत्तिरिष्टेति परिहरति—नेति। भेदात् तद्भाव इति वदन्तं प्रत्याह—इतरेतरा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। उनके मतमें दूसरा दोष कहा जाता है, ऐसा अर्थ है। संश्लेष—संग्रह। जिससे एक सम्बन्धीके आकर्षणसे अन्य सम्बन्धीका आकर्षण हो—उस (संश्लेश) की अनुपपत्ति हो जायगी, ऐसा अर्थ है। द्व्यणुक निरवयव (परमाणु) में असमवेत है, सावयव होनेसे, आकाशमें असमवेत पृथिवीके समान, यह भाव है। परन्तु द्व्यणुक परमाणुमें असमवेत हो, तो उसके आश्रित न हो, क्योंकि सम्बन्धके विना आश्रितत्व युक्त नहीं होता, संयोगसे आश्रितत्व नहीं होगा, क्योंकि कार्यद्रव्यका प्रकृतिके साथ संयोग नहीं होता, ऐसी शंका करते हैं—"कार्य" इत्यादिसे। प्रकृति और विकारका अभेद होनेसे आश्रयाश्रयिभावकी अनुपपत्ति इष्ट ही है, इस प्रकार शङ्काका परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। प्रकृति और विकारमें भेद

भाष्य

भेद आश्रिताश्रयभावो वा वेदान्तवादिभिरभ्युपगम्यते, कारणस्यैव संस्थानमात्रं कार्यमित्यभ्युपगमात्। किंचाऽन्यत् परमाणूनां परिच्छिन्नत्वाद्यावत्यो दिशः षडष्टौ दश वा तावद्भिरवयवैः सावयवास्ते स्युः, सावयवत्वादनित्याश्चेति नित्यत्वनिरवयवत्वाभ्युपगमो बाध्येत। यांस्त्वं दिग्भेदभेदिनोऽवयवान् कल्पयसि त एव मम परमाणव इति चेत्, न; स्थूलसूक्ष्मतारतम्य-

भाष्यका अनुवाद

श्रयभाव वेदान्ती स्वीकार नहीं करते, क्योंकि कारणका ही आकारविशेषमात्र कार्य है, ऐसा उनका सिद्धान्त है। और दूसरा दूषण यह है कि परमाणुओंके परिछिन्न होनेसे जितनी दिशाएँ, छः, आठ या दश हैं उतने अवयवोंसे वे सावयव हो जायँगे और सावयव होनेसे अनित्य हो जायँगे। इस प्रकार उनका नित्यत्व और निरवयवत्वके स्वीकारका बाध होगा। दिशाके भेदसे भेदवाले जिन अवयवोंकी तुम कल्पना करते हो, वे ही मेरे परमाणु हैं, ऐसा यदि कहो, तो यह

रत्नप्रभा

श्रयत्वादिति। कथं तर्हि कार्यस्य कारणाश्रितत्वव्यवहारः कल्पितभेदाद् इत्याह—कारणस्यैवेति। परमाणूनां निरवयवत्वमपि अयुक्तम् इत्याह—किञ्चेति। परमाणवः सावयवाः, अल्पत्वात्, घटवद् विपक्षे तेषां दिग्भेदावधित्वं न स्यात् आत्मवदित्यर्थः। ननु परमाण्वपेक्षया योऽयं प्राची दक्षिणा इत्यादिदिग्भेदव्यवहारस्तदवधित्वेन येऽवयवास्त्वयोच्यन्ते त एव मम परमाणवः तेऽपि सावयवाश्चेत् तदवयवा एवेत्येवं यतः परं न विभागः स एव निरवयवः परमाणुरिति शङ्कते—यांस्त्वमिति। परिहरति—न, स्थूलेति। अयमर्थः—

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे आश्रयाश्रयिभाव उपपन्न होगा, ऐसा कहनेवालेके प्रति कहते हैं—"इतरेतराश्रयत्वात्" इत्यादिसे। तब कार्य कारणके आश्रित है, ऐसा व्यवहार किस प्रकार होगा? कल्पित भेदसे होगा, ऐसा कहते हैं—"कारणस्यैव" इत्यादिसे। और परमाणु निरवयव हैं, यह कथन ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"किञ्च" इत्यादिसे। परमाणु सावयव हैं, परिच्छिन्न होनेसे, घटके समान, अपरिच्छिन्न हो तो आत्माके समान भिन्न भिन्न दिशाएँ उनकी अवधि न हों, ऐसा तात्पर्य है। यदि कोई कहे कि परमाणुकी अपेक्षासे जो यह पूर्व, दक्षिण, आदि दिशाओंका व्यवहार है और उनकी अवधिरूपसे जो अवयव तुम कहते हो, वही मेरे (तार्किकके) परमाणु हैं। वे भी सावयव हों, तो उनके भी अवयव हों, इस प्रकार जहांसे आगे विभाग न हो, वही निरवयव परमाणु है ऐसी शङ्का करते हैं—"यांस्त्वम्" इत्यादिसे। शङ्काका परिहार करते हैं—"न स्थूल"

भाष्य

क्रमेणाऽऽपरमकारणाद् विनाशोपपत्तेः। यथा पृथिवी द्व्यणुकाद्यपेक्षया स्थूलतमा वस्तुभूताऽपि विनश्यति, ततः सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं च पृथिव्येकजातीयकं विनश्यति, ततो द्व्यणुकम्, तथा परमाणवोऽपि पृथिव्येकजातीयकत्वाद् विनश्येयुः। विनश्यन्तोऽप्यवयवविभागेनैव विनश्यन्तीति चेत्। नायं दोषः। यतो

भाष्यका अनुवाद

कथन युक्त नहीं है, क्योंकि स्थूल-सूक्ष्मके तारतम्यक्रमसे परमकारणपर्यन्त विनाश उपपन्न होता है। जैसे द्व्यणुक आदिकी अपेक्षासे अति स्थूल और तुम्हारे मतमें वस्तुभूत होती हुई भी पृथिवी नष्ट होती है, उसके अनन्तर सूक्ष्म और सूक्ष्मतर पृथिवीत्वरूप एक जातिवाले नष्ट होते हैं और पीछे द्व्यणुक। वैसे ही परमाणु भी पृथिवीत्वरूप एक जातिवाले होनेसे नष्ट होंगे। नष्ट होते हुए भी अवयव

रत्नप्रभा

यत् सर्वात्मना विभागायोग्यं वस्तु स परमाणुरिति यदि उच्येत, तर्हि ब्रह्मण एव परमाणुसंज्ञा कृता स्यात्, तदन्यस्य अल्पस्य दिग्विभागार्हत्वेन अवयवविभागावश्यम्भावात्। यदि पृथिव्यादिजातीयाल्पपरिमाणविश्रान्तिभूमिर्यः स परिमाणुः इत्युच्येत, तर्हि तस्य न मूलकारणत्वम्, विनाशित्वात्, घटवत्। न च हेत्वसिद्धिः, अणवः विनाशिनः, पृथिव्यादिजातीयत्वात्, घटवदिति साधनात् इति। सम्प्रति निरवयवद्रव्यस्य नाशहेत्वभावात् आत्मवदविनाश इत्याशङ्क्य पूर्वोक्तं परिहारं स्मारयति—विनश्यन्त इत्यादिना। ब्रह्मातिरिक्तस्य आज्ञानिकत्वाच्च द्रव्यस्य निरवयवत्वम् असिद्धम्। निमित्तादृष्टादिनाशाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि जो सर्वात्मना—सब प्रकारसे विभागके अयोग्य वस्तु है, वह परमाणु है, ऐसा यदि कहो, तो ब्रह्मकी ही परमाणुसंज्ञा होगी, क्योंकि उससे अन्य अल्पवस्तु दिग्विभागयोग्य होनेसे उसके अवयवविभाग अवश्य होंगे। यदि पृथिवी आदिके समान अल्प परिमाणका जो विश्रामस्थल है, वह परमाणु है, ऐसा कहो, तो वह मूल कारण न होगा, क्योंकि वह विनाशी है, घटके समान। हेतु (विनाशित्व) असिद्ध है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि 'अणु विनाशी हैं, पृथिवीके समान होनेसे, घटके समान' ऐसा अनुमान है। अब निरवयव द्रव्यके नाशका हेतु न होनेसे वह आत्माके समान अविनाशी है, ऐसी आशङ्का करके पूर्वोक्त परिहारका स्मरण कराते हैं—"विनश्यन्तः" इत्यादिसे। ब्रह्मसे अतिरिक्त वस्तुके अज्ञानजन्य होनेसे द्रव्यकी निरवयवता असिद्ध है। अदृष्ट आदि निमित्तके नाशसे प्रलयमें विनाश हो

भाष्य

घृतकाठिन्यविलयनवदपि विनाशोपपत्तिमवोचाम। यथा हि घृतसुवर्णादीनामविभज्यमानावयवानामप्यग्निसंयोगाद् द्रवभावापत्त्या काठिन्यविनाशो भवति, एवं परमाणूनामपि परमकारणभावापत्त्या मूर्त्यादिविनाशो भविष्यति। तथा कार्यारम्भोऽपि नाऽवयवसंयोगेनैव केवलेन भवति,

भाष्यका अनुवाद

विभागसे नष्ट होंगे, ऐसा यदि कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि घृतके काठिन्यविलयनके समान विनाश उपपन्न है, ऐसा हम कह चुके हैं। जैसे घृत, सुवर्ण आदि जिनके अवयव विभक्त नहीं हो सकते, अग्निसंयोगसे द्रवभावकी प्राप्तिसे उनके भी काठिन्यका विनाश होता है, इसी प्रकार परमाणुओंके भी परमकारणभावकी प्राप्ति होनेसे उनकी मूर्ति आदिका विनाश होगा। उसी प्रकार कार्यकी

रत्नप्रभा

विनाशः प्रलये सम्भवति, मुक्तौ ज्ञानादज्ञाननाशे तत्कार्याणुनाशसम्भव इति भावः। यदुक्तम्—यत्कार्यद्रव्यम्, तत्संयोगसचिवानेकद्रव्यारब्धम् इति, तत् न इत्याह—तथा कार्यारम्भोऽपीति। कैवल्यम्—प्राधान्यम्। कार्यद्रव्यस्थितौ अपि हेतुत्वात् संयोगस्य क्षीरारम्भकसंयोगाद् दध्यारम्भकं न संयोगान्तरम्। तथा च दध्यादौ व्यभिचारात् न व्याप्तिः इत्यर्थः। किञ्च, यत् कार्यद्रव्यम्, तत् द्रव्यारभ्यम्, इत्येव व्याप्तिरस्तु, लाघवात्, न तु संयोगसचिवस्वन्यूनपरिमाणानेकद्रव्यारभ्यम् इति, गौरवात्, दीर्घविस्तृतदुकूलारब्धरज्जौ न्यूनपरिमाणायां व्यभिचाराच्च। न च रज्जुः न द्रव्यान्तरम् इति वाच्यम्, अवयविमात्रविप्लवापातात्। किञ्च, निरवयवद्रव्यत्वस्य एकात्मवृत्तित्वे लाघवात् न निरवयवानेकाणुसिद्धिः। यत्तु अणु-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सकता है। मुक्तिमें ज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर अज्ञानजन्य अणुके नाशका संभव है ऐसा भाव है। और कार्यद्रव्य संयोग सहित अनेक द्रव्योंसे आरब्ध है ऐसा जो कहा है, वह युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तथा कार्यारम्भोऽपि" इत्यादिसे। कैवल्य—प्रधानता। कार्यद्रव्यकी स्थितिमें भी संयोगके हेतु होनेसे क्षीरारम्भक संयोगसे दध्यारम्भक संयोगके अन्य न होनेसे दधि आदिमें व्यभिचार होनेके कारण व्याप्ति नहीं है ऐसा अर्थ है। और जो कार्यद्रव्य है, वह द्रव्यारभ्य है, इतनी ही व्याप्ति हो, क्योंकि उसमें लाघव है; न कि जो कार्यद्रव्य है, वह संयोग सहित अपनेसे न्यून परिमाणवाले अनेक द्रव्योंसे आरब्ध है, ऐसी व्याप्ति, क्योंकि उसमें गौरव है, और दीर्घ और विस्तारवाले दुकूलसे उत्पन्न हुई न्यून परिमाणवाली रस्सीमें व्यभिचार है, क्योंकि रस्सी अपनेसे न्यून परिमाणवाले अनेक द्रव्योंसे आरब्ध नहीं हुई है। रस्सी अन्य द्रव्य नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा हो तो अवयवी-

भाष्य

क्षीरजलादीनामन्तरेणाऽप्यवयवसंयोगान्तरं दधिहिमादिकार्यारम्भदर्शनात्, तदेवमसारतरतर्कसंदब्धत्वादीश्वरकारणश्रुतिविरुद्धत्वाच्छ्रुतिप्रवणैश्च शिष्टैर्मन्वादिभिरपरिगृहीतत्वादत्यन्तमेवाऽनपेक्षाऽस्मिन् परमाणुकारणवादे कार्या आर्य्यैः श्रेयोर्थिभिरिति वाक्यशेषः ॥ १७ ॥

भाष्यका अनुवाद

उत्पत्ति भी केवल अवयवसंयोगसे ही नहीं होती, क्योंकि अन्य अवयवसंयोगके विना भी दूध, जल आदिसे दही, हिम आदि कार्योंकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिए इस प्रकार परमाणुकारणवाद असारतर तर्कोंसे रचित है, तथा ईश्वरको कारण कहनेवाली श्रुतियोंसे विरुद्ध है और श्रुतिशरण शिष्ट मनु आदिसे परिगृहीत—स्वीकृत नहीं है। अतः अपना श्रेय चाहनेवाले सत्पुरुषोंको इस परमाणुकारणवादमें अत्यन्त हेय बुद्धि करनी चाहिए, ऐसा वाक्यशेष है ॥ १७ ॥

रत्नप्रभा

त्वतारतम्यविश्रान्तिभूमित्वेन तत्सिद्धिः इति, तन्न त्र्यणुकत्वेन उक्तत्रुटिषु विश्रान्तेः। न च त एव त्रुटिनामानो जगद्धेतव इति वाच्यम्, पृथिवीत्वादिना सावयवत्वाऽनित्यत्वयोः अनुमानात्। न च अवयवत्वस्य क्वचिद् विश्रान्तौ परमाणुसिद्धिः, अविश्रान्तौ अनवस्थेति वाच्यम्, मायायां ब्रह्मणि वाऽवयवत्वविश्रान्तिसम्भवात्। अतो न किञ्चिदणुसद्भावे प्रमाणम्। निरवयवानां संयोगसमवाययोः असम्भवात् समवेतद्व्यणुकाद्यारम्भकत्वायोग इत्यादि बाधकम् उक्तमेव। सम्प्रति "अपरिग्रहाच्च" इति सूत्रवाक्यशेषं पूरयन् अधिकरणार्थम् उपसंहरति—तदेवमिति। तस्माद् भ्रान्तिमूलेन वैशेषिकमतेन वेदान्ततात्पर्यस्य अविरोध इति सिद्धम् ॥ १७ ॥ (३) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मात्रका विनाश प्रसक्त होगा। और निरवयवद्रव्यत्व एक आत्मामें ही रहता है, ऐसी व्याप्ति होनेमें लाघव होनेसे निरवयव अनेक अणु सिद्ध नहीं होते। अणुत्वतारतम्यका जो विश्रान्तिस्थल है, वह परमाणु है, इस प्रकार परमाणुकी सिद्धि होगी, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त त्रुटिमें—त्र्यणुकमें त्र्यणुकत्वसे विश्रान्ति होती है। वे ही त्रुटिसंज्ञक जगत्के हेतु हैं, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि पृथिवीत्व आदिसे उनमें सावयवत्व और अनित्यत्वका अनुमान होता है। और अवयवत्वकी कहींपर विश्रान्ति होनी चाहिए, यह विश्रान्तिस्थल परमाणु हैं और अविश्रान्ति हो, तो अनवस्था होगी, यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि मायामें या ब्रह्ममें अवयवत्वकी विश्रान्तिका सम्भव है। इसलिये अणुके अस्तित्वमें कोई भी प्रमाण नहीं है। निरवयव पदार्थोंके संयोग और समवायका असम्भव होनेसे समवेत द्व्यणुक आदिके वे आरम्भक हों, यह युक्त नहीं है, इत्यादि बाधक पूर्वमें कहा ही है। अब "अपरिग्रहाच्च" इस सूत्रका वाक्यशेष पूरा करके अधिकरणके अर्थका उपसंहार करते हैं—"तदेवम्" इत्यादिसे। इसलिए भ्रान्तिमूलक वैशेषिकमतसे वेदान्ततात्पर्यका विरोध नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥ १७ ॥

[४ समुदायाधिकरण सू० १८—२७]

समुदायावुभौ युक्तावयुक्तौ वाऽणुहेतुकः ।
एकोऽपरः स्कन्धहेतुरित्येवं युज्यते द्वयम् ॥ १ ॥
स्थिरचेतनराहित्यात् स्वयं चाऽचेतनत्वतः ।
न स्कन्धानामणूनां वा समुदायोऽत्र युज्यते* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—बाह्य और आभ्यन्तर ये दो समुदाय हो सकते हैं या नहीं ?

पूर्वपक्ष—बाह्य समुदाय परमाणुजन्य है और आन्तर समुदाय स्कन्धहेतुक है इस प्रकार उक्त दोनों समुदायोंका संभव है।

सिद्धान्त—संघातकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत स्थायी चेतनके न होनेसे और स्वयं अचेतन होनेसे स्कन्धोंका और परमाणुओंका समुदाय नहीं हो सकता है।

---

* तात्पर्य यह है कि बाह्यास्तित्ववादी बौद्ध मानते हैं कि दो समुदाय हैं—(१) बाह्य और (२) आन्तर। उनमेंसे बाह्य समुदाय है—पृथिवी, नदी, समुद्र आदि और आन्तर समुदाय है चित्त और चैत्यरूप। ये दो समुदाय ही सारा जगत् है। बाह्य समुदायके कारण परमाणु हैं। वे परमाणु चार प्रकारके हैं—उनमें कठिन आकृतिवाले पार्थिव परमाणु कहलाते हैं, स्निग्ध परमाणु जलीय हैं, उष्ण परमाणु तैजस हैं और चलनात्मक परमाणु वायवीय हैं। एक ही समयमें पुञ्जीभूत हुए उक्त चार प्रकारके परमाणुओंसे बाह्य समुदाय उत्पन्न होता है। आन्तर समुदायके कारण (१) रूपस्कन्ध, (२) विज्ञानस्कन्ध, (३) वेदनास्कन्ध, (४) संज्ञास्कन्ध और (५) संस्कारस्कन्ध ये पांच स्कन्ध हैं। उनमें चित्तसे निरूपित किये जानेवाले शब्द, स्पर्श आदि पदार्थ रूपस्कन्ध हैं, उनकी अभिव्यक्ति विज्ञानस्कन्ध है, उनसे उत्पन्न होनेवाला दुःख वेदनास्कन्ध है, देवदत्त आदिका नाम संज्ञास्कन्ध है और इनकी वासना संस्कारस्कन्ध है। पुञ्जीभूत उक्त पांच स्कन्धोंसे आन्तर समुदाय उत्पन्न होता है। इस प्रकार दोनों समुदाय हो सकते हैं।

यहांपर सिद्धान्ती कहते हैं—अणुओंकी और स्कन्धोंकी संघातोत्पत्तिमें क्या कोई अन्य चेतन निमित्त है अथवा वे स्वयं ही संघीभूत होते हैं। प्रथम पक्षमें वह चेतन स्थायी है अथवा क्षणिक है ? यदि उसे स्थायी मानो, तो सिद्धान्तकी हानि होगी। यदि क्षणिक मानो, तो पहले स्वयं आत्मलाभ करके पीछे संघातकी उत्पत्ति करता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। दूसरे पक्षमें तो अचेतन स्कन्ध और परमाणु किसी नियामक चेतनके बिना प्रतिनियत आकारसे किस प्रकार संघीभूत होंगे। इसलिए दो समुदाय नहीं हो सकते।

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ १८ ॥

पदच्छेद—समुदाये, उभयहेतुके, अपि, तदप्राप्तिः ।

पदार्थोक्ति—उभयहेतुकेऽपि समुदाये—परमाणुहेतुके बाह्यसमुदाये स्कन्धहेतुके आध्यात्मिकसमुदाये च, तदप्राप्तिः—तस्य समुदायस्य अप्राप्तिः [अचेतनानामणूनां स्कन्धानाञ्च स्वतः समुदायायोगात्, अन्यस्य च स्थिरस्य चेतनस्य संहन्तुरभावात् तन्मतं भ्रान्तिमूलम्] ।

भाषार्थ—परमाणुहेतुक बाह्यसमुदाय और स्कन्धहेतुक आध्यात्मिक समुदायमें भी समुदायकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि अचेतन परमाणु और स्कन्धोंका अपने आप समुदाय नहीं हो सकता, अन्य किसी स्थिर चेतन संघातकर्ताका अभाव है, अतः उनका मत भ्रान्तिमूलक है ।

भाष्य

वैशेषिकराद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद् वेदविरोधाच्छिष्टापरिग्रहाच्च नाऽपेक्षितव्य इत्युक्तम् । सोऽर्धवैनाशिक इति वैनाशिकत्वसाम्यात् सर्ववैनाशिक-

भाष्यका अनुवाद

असत् तर्कोंके योगसे, वेदके विरोधसे और मनु आदि शिष्टोंसे स्वीकृत न होनेसे वैशेषिक सिद्धान्त उपादेय नहीं है, ऐसा कहा जा चुका है । वह अर्धवैनाशिक है, इसलिए वैनाशिकत्वरूप सादृश्यसे सर्ववैनाशिकोंका सिद्धान्त

रत्नप्रभा

वैशेषिकं निरस्य वैनाशिकं निरस्यति—समुदाय इति । परिमाणभेदेन देहादेः आशुतरविनाशाङ्गीकारात् अर्धवैनाशिकः वैशेषिकः, तस्य निरासानन्तरं सर्वक्षणिकवादी बुद्धिस्थो निरस्यते इति प्रसङ्गसंगतिमाह—वैशेषिकेति । "नाभाव

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैशेषिकका निरसन करके वैनाशिकका निरसन करते हैं—"समुदाय" इत्यादिसे । परिमाणभेदसे देह आदिका शीघ्र विनाश होता है,—वे केवल क्षणपर्यन्त स्थायी हैं, ऐसा अङ्गीकार करनेसे वैशेषिक अर्धवैनाशिक है, उसका निराकरण करनेके पश्चात् सर्वक्षणिकवादी—सब पदार्थ क्षणिक हैं, ऐसा कहने वाले बुद्धिस्थ सर्ववैनाशिकका निरसन किया जाता है, इस प्रकार प्रसङ्गसङ्गति कहते हैं—"वैशेषिक०" इत्यादिसे । "नाभाव उपलब्धेः" इस सूत्रमें

भाष्य

राद्धान्तो नतरामपेक्षितव्य इतीदमिदानीमुपपादयामः। स च बहुप्रकारः, प्रतिपत्तिभेदाद् विनेयभेदाद्वा। तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति—केचित् सर्वास्तित्ववादिनः, केचिद् विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः, अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिन इति। तत्र ये सर्वास्तित्ववादिनो बाह्यमान्तरं च वस्त्वभ्युप-

भाष्यका अनुवाद

अत्यन्त अनुपादेय है, इसका प्रतिपादन करते हैं। प्रतिपत्तिके भेदसे या शिष्योंके भेदसे वह बहुत प्रकारका है। उस सिद्धान्तमें तीन वादी हैं, कोई सर्वास्तित्ववादी हैं, कोई विज्ञानास्तित्ववादी हैं, और अन्य सर्वशून्यत्ववादी हैं। उनमें जो सर्वास्तित्ववादी बाह्य—भूत और भौतिक, आन्तर—चित्त और

रत्नप्रभा

उपलब्धेः"(ब्र०सू०२।२।२७) इति निरसनीयसिद्धान्तात् अत्र निरस्यसिद्धान्तस्य भेदं वक्तुं तत्सिद्धान्तं विभजते—स चेति। ननु सुगतप्रोक्तागमस्य ऐक्यात् कुतो बहुप्रकारता तत्राऽऽह—प्रतिपत्तीति। एकस्य एव आगमव्याख्यातुः शिष्यस्य अवस्थाभेदेन बुद्धिभेदात् मन्दमध्यमोत्तमधियां शिष्याणां वा भेदाद् बहुप्रकारता इत्यर्थः। तानेव प्रकारानाह—तत्रेति। सौत्रान्तिकः, वैभाषिकः, योगाचारः, माध्यमिकश्च इति चत्वारः शिष्याः। तेषु आद्ययोः बाह्यार्थानां परोक्षत्वापरोक्षत्वविवादेऽपि अस्तित्वसम्प्रतिपत्तेः तयोः सिद्धान्तम् एकीकृत्य निरस्यते इत्याह—तत्र ये सर्वास्तित्वेति। भूतं भौतिकं बाह्यम्, चित्तं चैत्तश्च कामादि आन्तरम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिस (क्षणिकविज्ञान) सिद्धान्तका निरसन करना है उससे जिसका इस सूत्रमें निरसन करते हैं, वह सिद्धान्त भिन्न है, ऐसा कहनेके लिए उन सिद्धान्तोंका विभाग करते हैं—"स च" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि सुगत प्रोक्त आगम एक होनेसे वह बहुत आकारका कैसे हुआ, एक बुद्धने विरुद्ध चार सिद्धान्त किस प्रकार दिखलाये, इसपर कहते हैं—प्रतिपत्ति" इत्यादिसे। आगमका व्याख्यान करनेवाले बुद्धके एक ही शिष्यकी भिन्न भिन्न अवस्थाओंके भेदसे बुद्धिभेद होनेसे अथवा मन्द, मध्यम और उत्तम बुद्धिवाले शिष्योंके भेदसे विविधप्रकारता है, ऐसा अर्थ है। उन्हीं प्रकारोंको कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। बुद्धके चार शिष्य थे—सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक। उनमें सौत्रान्तिक और वैभाषिकोंमें यद्यपि बाह्य पदार्थोंके परोक्षत्व और अपरोक्षत्वमें विवाद है, तो भी सर्वास्तित्ववादमें संवाद है, इससे उनके सिद्धान्तोंको एक करके उनका निरसन करते हैं—"तत्र ये सर्वास्तित्व" इत्यादिसे। "भूत"—पृथ्वी आदि चार महाभूत [बौद्धमतमें आकाश भाव (पदार्थ) नहीं है, किन्तु आवरणका अभाव है, इसलिए भूत चार हैं]— पृथ्वी, जल, तेज, और वायु। 'भौतिक'—पृथ्वी आदि भूतोंसे बने हुए भूतोंके कार्य गिरि, नदी आदि।

भाष्य

गच्छन्ति भूतं भौतिकं च चित्तं चैत्तं च, तांस्तावत् प्रतिब्रूमः ।

तत्र भूतं पृथिवीधात्वादयः, भौतिकं रूपादयश्चक्षुरादयश्च । चतुष्टये च पृथिव्यादिपरमाणवः खरस्नेहोष्णेरणस्वभावास्ते पृथिव्यादिभावेन संहन्यन्ते

भाष्यका अनुवाद

चैत्त वस्तुओंका स्वीकार करते हैं, पहले उनके मतका निरसन करते हैं।

उनमें भूत—पृथिवीधातु आदि हैं, भौतिक—रूप आदि और नेत्र आदि हैं। पृथिवी आदिके चार प्रकारके परमाणु कठिन, स्नेह, उष्ण और चलन स्वभाववाले होते हैं, वे पृथिवी आदि भावोंके रूपमें संघीभूत होते हैं, ऐसा

रत्नप्रभा

इति विभागः । तत्र सन्दिह्यते—किं मानमूलो भ्रान्तिमूलो वा अयं सिद्धान्त इति । तत्र मानमूल इति पूर्वपक्षयन् सिद्धान्तं तदीयं दर्शयति—तत्र भूतमिति । स्थिरः प्रपञ्चो ब्रह्महेतुक इति वेदान्तसिद्धान्तस्य मानमूलक्षणिकसिद्धान्तविरोधाद् असिद्धिः पूर्वपक्षे फलम्, सिद्धान्ते तदविरोध इति ज्ञेयम् । पृथिव्यादिभूतचतुष्टयं विषयेन्द्रियात्मकं भौतिकं च परमाणुसमुदाय एव न अवयव्यन्तरम् इति मत्वा परमाणून् विभजते—चतुष्टये चेति । चतुर्विधा इत्यर्थः । खरः—कठिनः, तत्स्वभावाः पार्थिवाः परमाणवः, स्निग्धा आप्याः, उष्णास्तैजसाः, ईरणं चलनस्वभावो वायव्यानामिति । बाह्यसमुदायम् उक्त्वा आध्यात्मिकसमुदायमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

"चित्त"—ज्ञान। "चैत्त"—चित्तसे बने हुए चित्तके कार्य, सुख आदि। भूत और भौतिक ये बाह्य पदार्थ हैं और चित्त और चैत्त आन्तर हैं। यहां सन्देह होता है कि बौद्धसिद्धान्त मानमूलक है या भ्रान्तिमूलक है? यहांपर प्रमाणमूलक है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हुए उनका सिद्धान्त दिखलाते हैं—"तत्र भूतम्" इत्यादिसे। स्थिर प्रपञ्च ब्रह्महेतुक है, यह वेदान्त-सिद्धान्त मानमूलक क्षणिक सिद्धान्तसे विरुद्ध होनेके कारण असिद्ध है, ऐसा पूर्वपक्षमें फल है, सिद्धान्तमें तो वेदान्तसमन्वयका उससे विरोध नहीं है, यह फल है, ऐसा समझना चाहिए। पृथिवी आदि चार भूत, और विषय और इन्द्रिय भौतिक, ये परमाणुओंके समुदाय ही हैं, उनसे अन्य अवयवी नहीं हैं, ऐसा मानकर परमाणुओंका विभाग करते हैं—"चतुष्टये" इत्यादिसे। चार प्रकारके हैं, ऐसा अर्थ है। खर—कठिन। पृथिवीके परमाणु काठिनस्वभाव—कठिन हैं; जलके परमाणु स्निग्ध, तेजके उष्ण और वायुके चलनस्वभाव हैं। [जैसे तार्किक मतमें परमाणु आदि द्व्यणुक आदि क्रमसे कार्य उत्पन्न करते हैं, वैसे बौद्धमतमें नहीं करते, किन्तु परमाणु समुदाय ही गिरि, नदी आदि सब है, उनसे अन्य अवयवी नहीं है।] इस प्रकार बाह्य भूतभौतिक-रूप परमाणुसमुदायका निरूपण करके अनन्तर पंचस्कन्ध समुदायका निरूपण करते हैं—

भाष्य

इति मन्यन्ते। तथा रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकाः पञ्च स्कन्धाः। तेऽप्यध्यात्मं सर्वव्यवहारास्पदभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते।

तत्रेदमभिधीयते—योऽयमुभयहेतुक उभयप्रकारः समुदायः परेषा-

भाष्यका अनुवाद

मानते हैं। उसी प्रकार रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार नामके पांच स्कन्ध हैं। वे आध्यात्मिक हैं और सब व्यवहारोंके विषयरूपसे संघीभूत होते हैं, ऐसा मानते हैं।

इस विषयमें कहते हैं—जो यह उभयहेतुक, उभय प्रकारके

रत्नप्रभा

तथेति। सविषयेन्द्रियाणि—रूपस्कन्धः। विषयाणां बाह्यत्वेऽपि देहस्थेन्द्रियग्राह्यत्वाद् आध्यात्मिकत्वम्। अहमहमिति आलयविज्ञानप्रवाहः—विज्ञानस्कन्धः। सुखाद्यनुभवः—वेदनास्कन्धः। गौरश्व इत्येवं नामविशिष्टसविकल्पकः प्रत्ययः—संज्ञास्कन्धः। रागद्वेषमोहधर्माधर्माः—संस्कारस्कन्धः। तत्र विज्ञानस्कन्धः चित्तम् आत्मेति गीयते। अन्ये चत्वारः स्कन्धाः चैत्ताः। तेषां संघातः आध्यात्मिकः, सकललोकयात्रानिर्वाहक इत्यर्थः। अवयवातिरिक्तावयव्यनुपलब्धेः अवयवाः शिष्यन्ते यत् सत् तत् क्षणिकम्, यथा विद्युदिति, तेषां क्षणिकत्वमिति मानमूलोऽयं सिद्धान्तः।

इति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं योजयति—योऽयमिति। सर्गादौ परमाणूनां च

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तथा" इत्यादिसे। [जिससे निरूपण किया जाय वह तथा जिसका निरूपण किया जाय वह दोनों रूप हैं इस प्रकार करण और कर्म व्युत्पत्तिसे रूपशब्दका अर्थ इन्द्रिय और विषय दोनों हैं,] इस प्रकार विषय सहित इन्द्रियाँ रूपस्कन्ध हैं। यद्यपि विषय बाह्य हैं, तो भी देहस्थ इन्द्रियोंसे ग्राह्य होनेके कारण आध्यात्मिक हैं। अहम्, अहम् (मैं, मैं) ऐसा आलयविज्ञानप्रवाह विज्ञानस्कन्ध है, सुख-दुखका अनुभव वेदना स्कन्ध है। गाय, घोड़ा, ऐसे नामविशिष्ट सविकल्पक प्रतीति संज्ञास्कन्ध है। राग, द्वेष, मोह, धर्म और अधर्म—ये संस्कारस्कन्ध हैं। उनमें विज्ञानस्कन्ध चित्त, आत्मा माना जाता है, और अन्य चार स्कन्ध चैत्त हैं, उनके संघात आध्यात्मिक हैं और वे सकल लोकयात्राके निर्वाहक हैं, ऐसा अर्थ है। अवयवसे भिन्न अवयवीके उपलब्ध न होनेसे अवयव अवशिष्ट रहते हैं और जो विद्यमान है, वह क्षणिक है, विद्युत्के समान, इस प्रकार सब बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थ क्षणिक हैं, इस प्रकार यह सिद्धान्त प्रमाणमूलक है।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त सूत्रकी योजना करते हैं—"योऽयम्" इत्यादिसे।

भाष्य

मभिप्रेतोऽणुहेतुकश्च भूतभौतिकसंहतिरूपः, स्कन्धहेतुकश्च पञ्चस्कन्धीरूपः, तस्मिन्नुभयहेतुकेऽपि समुदायेऽभिप्रेयमाणे तदप्राप्तिः स्यात् समुदायाप्राप्तिः। समुदायभावानुपपत्तिरित्यर्थः। कुतः? समुदायिनामचेतनत्वात्। चित्ताभिज्वलनस्य च समुदायसिद्ध्यधीनत्वात्, अन्यस्य च कस्यचिच्चेतनस्य भोक्तुः प्रशासितुर्वा स्थिरस्य संहन्तुरनभ्युपगमात् निरपेक्षप्रवृत्त्यभ्युपगमे च प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात्, आशयस्याऽप्यन्यत्वानन्यत्वाभ्यामनिरूप्यत्वात्। क्षणिकत्वा-

भाष्यका अनुवाद

समुदाय बौद्धोंको अभिप्रेत है, अणु जिसका हेतु है, ऐसा भूत भौतिक संघातरूप और स्कन्ध जिसका हेतु है, ऐसा पांच स्कन्धरूप उस उभयहेतुक समुदायके माननेपर भी उसकी अप्राप्ति है—समुदायकी अप्राप्ति है, समुदायभावकी अनुपपत्ति है, ऐसा अर्थ है। किससे? इससे कि समुदायी अचेतन हैं। चित्ताभिज्वलन समुदायसिद्धिके अधीन है, और अन्य कोई स्थिर चेतन भोक्ता या शासकका संघातकर्त्तारूपसे स्वीकार नहीं है, अपेक्षारहित प्रवृत्तिके स्वीकारमें तो प्रवृत्ति बन्द न होनेका प्रसङ्ग आवेगा। आलय-

---

रत्नप्रभा

स्कन्धानां च स्वतः संघातः तावत् न सम्भवति, अचेतनत्वात्। नाऽपि चित्ताख्यमभिज्वलनं विज्ञानं समुदायहेतुः। संघाते देहाकारे जाते विज्ञानम्, विज्ञाने जाते संघातः इति अन्योन्याश्रयात्। न च क्षणिकविज्ञानाद् अन्यः कश्चिज्जीव ईश्वरो वा त्वयाऽभ्युपगम्यते, यः संघातकर्ता भवेत्। न च कर्त्तारमनपेक्ष्य अणवः स्कन्धाश्च स्वयमेव संघातार्थं प्रवर्तन्ते इति वाच्यम्, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। ननु आलयविज्ञानसन्तानः संहन्ता अस्तु इत्यत आह—आशयस्येति। आशेरतेऽ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सृष्टिके आरम्भमें परमाणुओंका या स्कन्धोंका समुदाय स्वतः नहीं हो सकता, क्योंकि वे अचेतन हैं। चित्तसंज्ञक विज्ञान भी समुदायहेतु नहीं है, क्योंकि संघात देहाकार होनेपर विज्ञान होता है और विज्ञान होनेपर संघात होता है, ऐसा अन्योऽन्याश्रय दोष है। और क्षणिक विज्ञानसे अन्य कोई जीव या ईश्वरको बौद्ध नहीं मानते, जो कि संघातकर्त्ता अर्थात् समुदाय करनेवाला हो। उसी प्रकार कर्त्ताकी अपेक्षाके विना अणु और स्कन्ध स्वतः ही समुदाय उत्पन्न करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि निरपेक्ष प्रवृत्ति माननेसे प्रवृत्ति बन्द नहीं होगी, अतः अनिर्मोक्षका प्रसङ्ग आवेगा। यदि कोई कहे कि आलयविज्ञानसंतान संघातकर्ता हो, इसपर कहते है—"आशयस्य"

भाष्य

भ्युपगमाच्च निर्व्यापारत्वात् प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । तस्मात् समुदायानुपपत्तिः । समुदायानुपपत्तौ च तदाश्रया लोकयात्रा लुप्येत ॥ १८ ॥

भाष्यका अनुवाद

विज्ञानसंतानका भी संतानीसे अन्यरूपसे या अनन्यरूपसे निरूपण नहीं किया जा सकता। और उसको क्षणिक माननेसे व्यापाररहित होनेके कारण उसकी प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होगी। इसलिए समुदायकी अनुपपत्ति[1] है। और समुदायके अनुपपन्न होनेपर उसके आधारपर होनेवाली लोकयात्रा लुप्त हो जायगी ॥१८॥

रत्नप्रभा

स्मिन् रागादय इति आशयः—सन्तानः, स किं सन्तानिभ्योऽन्यो विज्ञानिभ्योऽन्योऽनन्यो वा ? आद्येऽपि स्थिरः क्षणिको वा ? नाऽऽद्यः, अस्मदिष्टनित्यात्मवादप्रसङ्गात् । द्वितीये दोषमाह—क्षणिकत्वेति । क्षणिकस्य जन्मातिरिक्तव्यापारो नास्ति, तस्मात् तस्य परमाण्वादिमेलनार्थं प्रवृत्तिः अनुपपन्ना, क्षणिकत्वव्याघातात् इत्यर्थः । एतेनाऽनन्यः सन्तान इति पक्षो निरस्तः, क्षणिकस्य मेलकत्वानुपपत्तेः, तस्मात् संहन्तुः असत्त्वात् संघातानुपपत्तिः इत्यर्थः ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। राग आदि जिसमें रहते हैं वह आशय—सन्तान है। आलयविज्ञानसंतान सन्तानियोंसे अन्य है या अनन्य ? यदि अन्य है, तो स्थिर है या क्षणिक, स्थिर तो हो नहीं सकता, क्योंकि ऐसा हो, तो अस्मदिष्ट (वेदान्तियोंका इष्ट) नित्य आत्मवादका प्रसंग आवेगा। दूसरे पक्षमें दोष कहते हैं—"क्षणिकत्व" इत्यादिसे। क्षणिकसे जन्मका अतिरिक्त व्यापार नहीं है, अतः परमाणु आदिका मेलन करनेके लिए उस सन्तानमें प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होती, क्योंकि क्षणिकत्वका व्याघात होता है, ऐसा अर्थ है। इससे सन्तान सन्तानीसे अनन्य है, इस पक्षका भी खण्डन हो गया, क्योंकि क्षणिक परमाणु आदिका मेलन नहीं कर सकता। इसलिए संघातकर्ता न होनेसे संघातकी अनुपपत्ति है, ऐसा अर्थ है ॥ १८ ॥

---

(१) संतान संतानियोंसे अन्य है या अनन्य है। यदि अन्य हो, तो उस संतानके हो स्थिर, चेतन जीव होनेसे वेदान्तपक्ष सिद्ध होगा। यदि अनन्य हो, तो पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोष आवेगा। और परमाणु भी क्षणिक हैं, ऐसा स्वीकार करनेसे मेलन–समुदाय नहीं हो सकता, क्योंकि परमाणुओंका मेलन परमाणुक्रियाके अधीन है, इसलिये अपनी क्रियाके कारण होनेसे क्रियाके पूर्व क्षणमें परमाणुओंको रहना चाहिए और परमाणु क्रियाके आश्रय होनेसे जिस क्षणमें क्रिया हो, उस क्षणमें भी परमाणुका अवस्थान अपेक्षित है। इसी प्रकार मेलन क्षणमें अवस्थान आवश्यक है, क्योंकि मेलन का आश्रय न हो, तो मेलनरूप प्रवृत्ति उपपन्न न होगी, इसलिये स्थिर परमाणुओंमें साध्य मेलनरूप प्रवृत्ति, परमाणु क्षणिक हों, तो किस प्रकार होगी ? यह तात्पर्य है।

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥१९॥

पदच्छेद—इतरेतरप्रत्ययत्वात्, इति, चेत्, न, उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ।

पदार्थोक्ति—इतरेतरप्रत्ययत्वात्—अविद्यादीनां परस्परकारणत्वात् [घटीयन्त्रमिवानिशमावर्तमानेषु अविद्यादिषु अर्थादाक्षिप्तसंघात उपपद्यते] इति चेन्न; उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्—अविद्यादीनामितरेतरकारणत्वेऽपि उत्पत्तिमात्रे निमित्तत्वात् [तवाभिमतो हेत्वधीनः कारणसमुदायाधीनश्च कार्य्योत्पादो न संभवति, संहन्तुः स्थिरस्य चेतनस्याऽनङ्गीकारात्] ।

भाषार्थ—अविद्या आदिके परस्पर कारण होनेसे घटीयन्त्रके समान अविद्या आदिके सदा घूमनेपर अर्थात् आक्षिप्त संघात की उपपत्ति होती है, ऐसा यदि कहो, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या आदिके परस्परके प्रति कारण होनेपर भी उनके केवल उत्पत्तिमे निमित्त होनेसे तुम्हारी अभिमत हेतुके अधीन और कारण समुदायोंके अधीन कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि तुम्हारे मतमें संघातकर्ता स्थायी चेतन नहीं माना गया है ।

भाष्य

यद्यपि भोक्ता प्रशासिता वा कश्चिच्चेतनः संहन्ता स्थिरो नाभ्युपगम्यते, तथाप्यविद्यादीनामितरेतरकारणत्वादुपपद्यते लोकयात्रा । तस्यां चोपपद्यमानायां न किञ्चिदपरमपेक्षितव्यमस्ति । ते चाऽविद्यादयोऽविद्या

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—यद्यपि भोक्ता या प्रशासिता (शासन करनेवाला) कोई स्थिर चेतन संघातकर्त्ताका स्वीकार नहीं किया गया है, तो भी अविद्या आदिके परस्परके प्रति कारण होनेसे लोकयात्रा उपपन्न होगी। और उसके उपपन्न होनेसे दूसरे निमित्तकी अपेक्षा नहीं है। और अविद्या, संकार, विज्ञान, नाम, रूप,

---

रत्नप्रभा

संहन्तुः अभावेऽपि संघातोपपत्तिम् आशङ्क्य निषेधति—इतरेति । कार्यं प्रति अयते गच्छति इति प्रत्ययः—कारणम् । अविद्यादिभिरेवाऽर्थात् संघातसिद्धौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

संघातकर्त्ताके विना भी संघात उपपन्न होगा, ऐसी आशङ्का करके उसका निषेध कहते हैं—"इतरेतरप्रत्ययत्वात्" इत्यादिसे । कार्यके प्रति जो जाता है अर्थात् जनकरूपसे जो प्राप्त होता है वह प्रत्यय—कारण है। अविद्या आदिसे ही अर्थात् समुदायसिद्धि होनेपर व्यवहारकी

भाष्य

संस्कारो विज्ञानं नाम रूपं षडायतनं स्पर्शो वेदना तृष्णा उपादानं भवो जातिर्जरा मरणं शोकः परिदेवना दुःखं दुर्मनस्तेत्येवंजातीयका इतरेतर-

भाष्यका अनुवाद

षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जरा, मरण, शोक, परिदेवना, दुःख और दुर्मनस्ता इस प्रकारके परस्परके कारणरूप वे अविद्या

रत्नप्रभा

व्यवहारोपपत्तिः इत्यर्थः। अविद्यादीनाह—ते चेति। क्षणिकेषु स्थिरत्वबुद्धिः—अविद्या, ततो रागद्वेषमोहाः संस्कारा भवन्ति, तेभ्यो गर्भस्थस्याऽऽद्यं विज्ञानम् उत्पद्यते, तस्मात् च आलयविज्ञानात् पृथिव्यादिचतुष्टयं नामाश्रयत्वात् नाम भवति। ततो रूपं सितासितात्मकं शुक्रशोणितं निष्पद्यते। गर्भस्थकललबुद्बुदावस्था नामरूपशब्दार्थ इति निष्कर्षः। विज्ञानं पृथिव्यादिचतुष्टयं रूपञ्चेति षट् आयतनानि यस्य इन्द्रियजातस्य तत् षडायतनम्, नामरूपेन्द्रियाणां मिथः संयोगः स्पर्शः, ततः सुखादिका वेदना, तया पुनर्विषयतृष्णा, तया प्रवृत्तिः उपादानम्, तेन भवति यस्मात् जन्मेति भवः—धर्मादिः, ततो जातिः—देहजन्म, पञ्चस्कन्धसमुदाय इति यावत्। जातानां स्कन्धानां परिपाकः—जरा, मरणम्—नाशः

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपपत्ति होती है, ऐसा अर्थ है। अविद्या आदिको दिखलाते हैं—"ते च" इत्यादिसे। क्षणिक पदार्थोंमें स्थिरत्वबुद्धि अविद्या है [अर्थात् अनित्य और अशुचि क्षणिक शरीराकारमें परिणत हुए अनात्म पदार्थोंमें ये नित्य, शुचि, स्थायी आत्मा हैं, ऐसी बुद्धि], अविद्यासे संस्कार—राग, द्वेष और मोह होते हैं, उन संस्कारोंसे गर्भस्थका आद्य विज्ञान उत्पन्न होता है [अन्य जन्मकी अविद्या और संस्कारसे गर्भमें स्थित शुक्रशोणित समुदायमें 'अहम्' (मैं) इस आलयविज्ञानका वृत्तिलाभ विज्ञान होता है], उन आलयविज्ञानसे पृथिवी आदि चार भूत, जिन्हें नामके आश्रय होनेसे 'नाम' कहते हैं, वे उत्पन्न होते हैं। उनसे रूप सित और असित शुक्र और शोणित उत्पन्न होते हैं। आलयविज्ञानके सम्बन्धसे गर्भगत शुक्रशोणितकी जो कलल बुद्बुदावस्था है, वह नामरूप—शब्दार्थ है ऐसा आशय है विज्ञान, पृथिवी आदि चार भूत और रूप ये छः जिस इन्द्रियसमूहके स्थान हैं; वह इन्द्रियसमूह षडायतन है। नाम, रूप और इन्द्रियोंका परस्पर संयोग स्पर्श है [गर्भगत शरीरके शीत उष्ण आदिका अनुभव स्पर्श है], उससे सुख आदि वेदना उत्पन्न होती है [वेदना अर्थात् सुखदुःख आदिका अनुभव], वेदनासे विषयोंकी तृष्णा उत्पन्न होती है [गर्भस्थ शरीरकी सुख प्राप्त करनेकी और दुःख त्यागनेकी इच्छा तृष्णा है], उस तृष्णासे जो प्रवृत्ति होती है, वह उपादान है, उससे 'भव' (जिससे जन्म होता है, वह) धर्म आदि उत्पन्न होता है, उससे जाति

भाष्य

हेतुकाः सौगते समये क्वचित् संक्षिप्ता निर्दिष्टाः क्वचित् प्रपञ्चिताः, सर्वेषामप्ययमविद्यादिकलापोऽप्रत्याख्येयः। तदेवमविद्यादिकलापे परस्परनिमित्तनैमित्तिकभावेन घटीयन्त्रवदनिशमावर्तमानेऽर्थाक्षिप्त उपपन्नः संघात इति चेत्,

तन्न। कस्मात्? उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्। भवेदुपपन्नः संघातो यदि संघातस्य किञ्चिन्निमित्तमवगम्येत, न त्ववगम्यते। यत इतरे-

भाष्यका अनुवाद

आदि बौद्धसिद्धान्तमें कहीं संक्षेपसे और कहीं विस्तारसे दिखलाये गये हैं और ये अविद्या आदि समुदाय सब वादियोंसे प्रत्याख्यान करने योग्य नहीं है। इसलिए इस प्रकार अविद्या आदि समुदायके परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावसे घटीयन्त्रके समान सर्वदा प्रवर्त्तमान होनेसे अर्थात् आक्षिप्त संघात उससे उपपन्न है।

सिद्धान्ती—यह कथन युक्त नहीं है। किससे? इससे कि वे उत्पत्तिमात्रके निमित्त हैं। यदि संघातका कोई निमित्त ज्ञात होता, तो संघात उपपन्न होता, परन्तु उसका निमित्त अवगत नहीं होता, क्योंकि अविद्या आदि यद्यपि

रत्नप्रभा

म्रियमाणस्य पुत्रादिस्नेहाद् अन्तर्दाहः—शोकः, तेन हा पुत्रेत्यादिविलापः—परिदेवना, अनिष्टानुभवः—दुःखम्, तेन दुर्मनस्ता—मानसी व्यथा, इति शब्दो मानापमानादिक्लेशसंग्रहार्थः। न केवलं सुगतानामेवाऽविद्यादयः सम्मताः, किन्तु सर्ववादिनामपि इत्याह—सर्वेषामिति। अविद्यादिहेतुका जन्मादयो जन्मादिहेतुकाश्चाऽविद्यादय इति मिथो हेतुहेतुमद्भावाद् अर्थात् संघातसिद्धिः इति शङ्काम् उपसंहरति—तदेवमिति। सिद्धान्तभागं व्याचष्टे—तन्नेति। अविद्यादीनाम् उत्तरोत्तरहेतुत्वम् अङ्गी-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् पंचस्कन्धसमुदाय उत्पन्न होता है। जन्मे हुए स्कन्धोंका परिपाक—जरा है और नाश—मरण है। मरते हुए पुरुषको पुत्र आदिके स्नेहसे जो अन्तर्दाह होता है, वह शोक है। हा, पुत्र! इत्यादि जो विलाप है, वह परिदेवना है। अनिष्टका जो अनुभव है वह दुःख है। और मनके विषयके अनुभवसे उत्पन्न हुआ जो दुःख, वह 'दुर्मनस्ता' अर्थात् मानसी व्यथा है। इति शब्दमें मान, अपमान आदि क्लेशोंका संग्रह होता है। ये अविद्या आदि केवल सुगतोंके ही सम्मत नहीं हैं, किन्तु सर्ववादियोंके भी सम्मत हैं, ऐसा कहते हैं—"सर्वेषाम्" इत्यादिसे। जन्म आदि अविद्याहेतुक हैं और अविद्या आदि जन्मादिहेतुक हैं, ऐसा परस्पर कार्यकारणभाव होनेसे अर्थात् संघात सिद्ध होता है, इस प्रकार शंकाका उपसंहार करते हैं—"तदेवम्" इत्यादिसे। सिद्धान्तभागका व्याख्यान करते हैं—"तन्न" इत्यादिसे।

भाष्य

तरप्रत्ययत्वेऽप्यविद्यादीनां पूर्वपूर्वमुत्तरोत्तरस्योत्पत्तिमात्रनिमित्तं भवद् भवेन्न तु संघातोत्पत्तेः किंचिन्निमित्तं संभवति। नन्वविद्यादिभिरर्थादाक्षिप्यते संघात इत्युक्तम्। अत्रोच्यते—यदि तावदयमभिप्रायः—अविद्यादयः संघातमन्तरेणाऽऽत्मानमलभमाना अपेक्षन्ते संघातम् इति, ततस्तस्य संघातस्य निमित्तं वक्तव्यम्, तच्च नित्येष्वप्यणुष्वभ्युपगम्यमानेष्वाश्रयाश्रयिभूतेषु च भोक्तृषु सत्सु न सम्भवतीत्युक्तं वैशेषिकपरीक्षायाम्, किमङ्ग पुनः क्षणिकेष्वप्यणुषु

भाष्यका अनुवाद

परस्पर कारणभूत हैं, तो भी पूर्व पूर्व उत्तरोत्तरकी केवल उत्पत्तिका निमित्त होता हो, तो हो, परन्तु संघातकी उत्पत्तिका कोई निमित्त नहीं हो सकता। अविद्या आदिसे संघात अर्थात् गम्यमान होता है, ऐसा कहा है। इसपर कहते हैं—अविद्या आदि संघातके विना अपने स्वरूपकी प्राप्ति न करनेसे संघातकी अपेक्षा रखते हैं; यदि ऐसा अभिप्राय हो, तो उस संघातका निमित्त कहना चाहिए। अणुओंके नित्य मानने और आश्रयाश्रयिभूतभोक्ताका स्वीकार करनेपर भी संघात नहीं हो सकता, ऐसा वैशेषिकपरीक्षामें कहा गया है, तो क्षणिक अणु

रत्नप्रभा

कृत्य संघातहेत्वभावात् संघातो न स्यात् इत्युक्ते पूर्वोक्तं स्मारयति—नन्विति। किम् अविद्यादयः संघातस्य गमकाः उत उत्पादका इति विकल्प्य आद्ये संघातस्य उत्पादकं किञ्चिद् वाच्यम्, तन्नास्ति इत्याह—अत्रोच्यते यदीति। आश्रयाश्रयिभूतेषु इति भोक्तृविशेषणम्, अदृष्टाश्रयेषु इत्यर्थः। यदा स्थिरेषु अणुषु संघातयोग्येषु कर्तृषु चाऽदृष्टसहायेषु सत्सु ज्ञानाभावमात्रेण संहतिकर्तृत्वायोगात् संघातापत्तेः निमित्तं नास्तीति उक्तम्, तदा क्षणिकपक्षे तन्नास्तीति किमु वक्तव्यमित्याह—किमिति। आश्रयाश्रयः संघातकर्ता तच्छून्येषु इत्यर्थः। आश्रयाश्रयि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अविद्या आदि उत्तरोत्तरके हेतु हैं, ऐसा स्वीकार करके संघातका हेतु न होनेसे संघात न होगा, ऐसा कहनेपर पूर्वोक्तका स्मरण कराते हैं—"ननु" इत्यादिसे। क्या अविद्या आदि संघातके गमक हैं या उत्पादक हैं? यदि गमक हैं, तो संघातका उत्पादक कोई दूसरा कहना चाहिए, वह नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते यदि" इत्यादिसे। "आश्रयाश्रयिभूतेषु" यह भोक्ताका विशेषण है उसका अर्थ है—'अदृष्टाश्रय'। जब स्थिर संघातयोग्य अणु अदृष्टकी सहायतासे संघातकर्ता हैं, ऐसा माना जाय, तो भी वैशेषिक पक्षमें आत्मामें ज्ञानके अभावमात्रसे संघातकर्तृत्व युक्त न होनेसे संघात प्राप्तिका कोई निमित्त नहीं है, ऐसा कहा है, तो क्षणिक पक्षमें वह नहीं है, इसमें कहना ही क्या है, ऐसा कहते हैं—"किम्" इत्यादिसे। ['आश्रयाश्रयिभूतेषु' यहांपर 'आश्रयाश्रयि-

भाष्य

भोक्तृरहितेष्वाश्रयाश्रयिशून्येषु वाभ्युगम्यमानेषु सम्भवेत्। अथायमभिप्रायः—अविद्यादय एव सङ्घातस्य निमित्तम् इति, कथं तमेवाश्रित्यात्मानं लभमानास्तस्यैव निमित्तं स्युः। अथ मन्यसे सङ्घाता एवानादौ संसारे सन्तत्याऽनुवर्तन्ते तदाश्रयाश्च अविद्यादाय इति, तदापि सङ्घातात् सङ्घातान्तरमुत्पद्यमानं नियमेन वा सदृशमेवोत्पद्येत, अनियमेन वा सदृशं विसदृशं वोत्पद्येत, नियमाभ्युपगमे मनुष्यपुद्गलस्य देवतिर्यग्योनिनारकप्राप्त्यभावः प्राप्नुयात्, अनियमाभ्युपगमेऽपि मनुष्यपुद्गलः कदाचित् क्षणेन

भाष्यका अनुवाद

जो भोक्तृरहित और आश्रयाश्रयिशून्य माने गये हैं, उनमें तो संघात कैसे हो सकता है ? अविद्या आदि ही संघातके निमित्त हैं, ऐसा यदि अभिप्राय हो, तो उसका ही आश्रय करके अस्तित्व प्राप्त करनेवाले वे उसके ही निमित्त किस प्रकार होंगे। संघात ही अनादि संसारमें प्रवाहरूपसे वर्तमान हैं और उनके आश्रयसे अविद्या आदि हैं; ऐसा यदि तुम मानते हो, तो भी संघातसे अन्य संघात उत्पन्न होनेवाला नियमसे समान ही उत्पन्न होगा। अथवा अनियमसे समान या असदृश उत्पन्न होगा। नियम स्वीकार करनेसे मनुष्यके शरीरको देवत्व, तिर्यग्योनित्व या नारकीयत्वकी प्राप्तिका अभाव प्राप्त होगा। अनियम स्वीकार करनेसे

रत्नप्रभा

शून्येषु इति पाठे उपकार्योपकारकत्वशून्येषु इत्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते—अथायमिति। संघातस्याऽविद्यादीनां चोत्पत्तौ अन्योन्याश्रयः स्यादिति दूषयति—कथमिति। स्वाभाविकः खल्वयं संघातानां हेतुहेतुमद्भावेन प्रवाहो न संहन्तारमपेक्षते, पूर्वसंघाताश्रया अविद्यादय उत्तरसंघातप्रवर्तका इति नाऽन्योन्याश्रयदोषोऽपि इत्याशङ्कते—अथ मन्यसे इति। स्वभावस्य नियमानियमयोः अपसिद्धा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

शून्येषु' ऐसा भी पाठ है] आश्रयाश्रय—संघातकर्ता, उससे रहित। आश्रयाश्रयिशून्य०—उपकार्य-उपकारकभावरहित, ऐसा अभिप्राय है। दूसरे पक्षकी आशंका करते हैं—"अथायम्" इत्यादिसे। संघात और अविद्या आदिकी उत्पत्तिमें अन्योऽन्याश्रय दोष होगा, इस प्रकार उक्त पक्षको दूषित करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। संघातोंके हेतुहेतुमद्भावसे (कार्यकारणभावसे) प्रवाह स्वाभाविक है वह संघातकर्ताकी अपेक्षा नहीं करता, पूर्व संघातके आश्रयसे होनेवाले अविद्या आदि उत्तर संघातके प्रवर्तक हैं, इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष भी नहीं है, ऐसी आशंका करते हैं—"अथ मन्यसे" इत्यादिसे। स्वभावके नियम और

भाष्य

हस्ती भूत्वा देवो वा पुनर्मनुष्यो वा भवेदिति प्राप्नुयात्। उभयमप्यभ्युपगमविरुद्धम् । अपि च यद्भोगार्थः संघातः स्यात्, स नास्ति स्थिरो भोक्तेति तवाभ्युपगमः, ततश्च भोगो भोगार्थ एव स नान्येन प्रार्थनीयः, तथा मोक्षो मोक्षार्थ एवेति मुमुक्षुणा नान्येन भवितव्यम् । अन्येन चेत् प्रार्थ्येत उभयं भोगमोक्षकालावस्थायिना तेन भवितव्यम्, अवस्थायित्वे क्षणिकत्वाभ्युपगमविरोधः । तस्मादितरेतरोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वमविद्यादीनां यदि भवेद् भवतु नाम न तु संघातः सिद्ध्येत् भोक्त्रभावादित्यभिप्रायः ॥१९॥

भाष्यका अनुवाद

भी मनुष्यशरीर कभी क्षणभरमें हाथी होकर देव या पीछे मनुष्य होगा, ऐसा प्राप्त होगा । और ये दोनों ही सिद्धान्तके विरुद्ध हैं । और जिसके भोगके लिए संघात हो, वह स्थिर भोक्ता नहीं है, ऐसा तुम्हारा स्वीकार होनेसे भोग भोगके लिए ही होगा, अन्यसे प्रार्थनीय नहीं होगा । उसी प्रकार मोक्ष मोक्षके लिए ही होगा, इसलिए अन्य मुमुक्षु होना युक्त नहीं है । यदि भोग और मोक्ष दोनों अन्यसे प्रार्थित हों, तो वह भोग और मोक्षके समयमें स्थायी होना चाहिए । परन्तु स्थायी माननेपर क्षणिकत्वके स्वीकारका विरोध आता है । इसलिए अविद्या आदि केवल अन्योऽन्यकी उत्पत्तिके ही निमित्त हों, तो होने दो, परन्तु संघात सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि भोक्ताका अभाव है, ऐसा अभिप्राय है ॥ १९ ॥

रत्नप्रभा

न्तापातः स्यादिति परिहारार्थः । पूर्यते गलति चेति पुद्गलः—देहः । किञ्च, भोक्तुः क्षणिकत्वपक्षे भोगापवर्गव्यवहारोऽपि दुर्घट इत्याह—अपि चेति । यो यदिच्छति स तत्काले नास्ति चेद् इच्छा व्यर्था, अस्ति चेत् क्षणिकत्वभङ्ग इत्यर्थः । प्रकृतं संघातनिरासम् उपसंहरति—तस्मादिति ॥ १९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनियम इन दोनों पक्षोंमें सिद्धान्तकी हानि होगी, यह उसका परिहार है । बढ़ता है और क्षीण होता है, इसलिए देह पुद्गल है । और भोक्ता क्षणिक है, इस पक्षमें भोग और मोक्षका व्यवहार भी दुर्घट है ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । जो जिसकी इच्छा करता है, वह उस भोगकी अथवा मोक्षकी वेलामें यदि नहीं है, तो इच्छा व्यर्थ होती है, यदि वह उस वेलामें है, तो क्षणिकत्वका भंग होता है–'सब क्षणिक हैं' इस सिद्धान्तका बाध होता है, ऐसा भाव है । "तस्मात्" इत्यादिसे प्रकृत संघातके निराकरणका उपसंहार करते हैं ॥१९॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥

पदच्छेद—उत्तरोत्पादे, च, पूर्वनिरोधात् ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, उत्तरोत्पादे—उत्तरस्य कार्यक्षणस्य उत्पादे, पूर्वनिरोधात्—पूर्वकारणक्षणस्य नाशाङ्गीकारात् [सुगतस्य हेत्वधीनोऽपि कार्य्योत्पादो न संभवति] ।

भाषार्थ—और उत्तरकार्यक्षणके उत्पत्तिके समयमें पूर्वकारणक्षणके नाशका अंगीकार होनेसे सुगतके मतमें हेत्वधीन भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

भाष्य

उक्तमेतत्—अविद्यादीनामुत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वान्न संघातसिद्धिरस्तीति, तदपि तूत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वं न संभवतीतीदमिदानीमुपपाद्यते । क्षणभङ्गवादिनोऽयमभ्युपगमः उत्तरस्मिन् क्षण उत्पद्यमाने पूर्वः क्षणो निरुध्यत इति । न चैवमभ्युपगच्छता पूर्वोत्तरयोः क्षणयोर्हेतुफलभावः शक्यते संपा-

भाष्यका अनुवाद

अविद्या आदिके [परस्पर] उत्पत्तिमात्रके निमित्त होनेसे संघातकी सिद्धि नहीं होती, ऐसा कहा है । परन्तु वे उत्पत्तिमात्रके निमित्त हों, ऐसा भी नहीं हो सकता, यह अब उपपत्तिसे प्रतिपादन करते हैं । क्षणभंगवादीका यह स्वीकार है कि उत्तर क्षणकी उत्पत्तिके समयमें पूर्व क्षणका नाश होता है । ऐसा स्वीकार

रत्नप्रभा

द्विविधो हि कार्यसमुत्पादः सुगतसम्मतः—हेत्वधीनः, कारणसमुदायाधीनश्चेति । तत्र अविद्यातः संस्कारः, ततो विज्ञानम् इत्येवंरूपः प्रथमः, पृथिव्यादिसमुदायात् काय इत्येवं द्वितीयः, तत्र आद्यम् अङ्गीकृत्य द्वितीयः संघातकर्त्रभावेन दूषितः, सम्प्रति आद्यं दूषयति सूत्रकारः—उत्तरेति । क्षणिकोऽर्थः—क्षण

रत्नप्रभाका अनुवाद

बौद्ध दो प्रकारकी कार्योत्पत्ति मानते हैं—एक हेतुके अधीन और दूसरी कारणसमुदायके अधीन । उन दो प्रकारोंमें 'अविद्यासे संस्कारकी उत्पत्ति और संस्कारसे विज्ञानकी उत्पत्ति' यह पहला प्रकार है । 'पृथिवी आदि समुदायसे शरीर उत्पन्न होता है' यह दूसरा प्रकार है । उनमेंसे प्रथम प्रकारकी उत्पत्तिका अङ्गीकार करके संघातकर्त्ताका अभाव होनेसे दूसरे प्रकारकी उत्पत्ति दूषित की जा चुकी है । अब सूत्रकार प्रथम प्रकारकी उत्पत्तिको भी दूषित करते हैं—"उत्तर" इत्यादिसे । बौद्ध लोग क्षणिक अर्थको 'क्षण' कहते हैं । 'निरुद्ध्यमानत्व'—

भाष्य

दयितुम्, निरुध्यमानस्य निरुद्धस्य वा पूर्वक्षणस्याऽभावग्रस्तत्वादुत्तरक्षण-हेतुत्वानुपपत्तेः। अथ भावभूतः परिनिष्पन्नावस्थः पूर्वक्षण उत्तरक्षणस्य हेतुरित्यभिप्रायः, तथापि नोपपद्यते, भावभूतस्य पुनर्व्यापारकल्पनायां क्षणान्तरसंबन्धप्रसङ्गात्। अथ भाव एवाऽस्य व्यापार इत्यभिप्रायस्तथापि नैवोपपद्यते, हेतुस्वभावानुपरक्तस्य फलस्योत्पत्त्यसंभवात्। स्वभावोपरागा-भ्युपगमे च हेतुस्वभावस्य फलकालावस्थायित्वे सति क्षणभङ्गाभ्युपगमत्याग-

भाष्यका अनुवाद

करनेवाला पूर्व और उत्तर क्षणका कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं कर सकेगा, क्योंकि नष्ट होता हुआ या नष्ट हुआ पूर्व क्षणिक कार्य अभावग्रस्त होनेसे उत्तर क्षणिक कार्यका कारण नहीं हो सकता। यदि भावभूत, सिद्ध अवस्थावाला क्षणिक कार्य उत्तर क्षणिक कार्यका हेतु है, ऐसा अभिप्राय हो, तो वैसा मानने-पर भी कार्यकारणभाव उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि भावभूतके फिर व्यापारकी कल्पना करनेपर उसका अन्य क्षणके साथ सम्बन्धका प्रसङ्ग आता है। यदि भाव ही इसका व्यापार है, ऐसा अभिप्राय है, तो वैसे भी उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि हेतुस्वभावसे अनुपरक्त हुए विना फलकी उत्पत्तिका सम्भव नहीं है। स्वभावसे ही उपरक्त होता है, ऐसा स्वीकार करें, तो हेतुस्वभाव फलके

रत्नप्रभा

इत्युच्यते, निरुध्यमानत्वम्—विनाशकसांनिध्यम्, निरुद्धत्वम्—अतीतत्वम्। ननु कार्य-काले विनाशव्याप्तत्वेऽपि पूर्वक्षणे सत्त्वात् क्षणिकार्थस्य हेतुत्वम् अक्षतमिति शङ्कते—अथ भावेति। सद्रूप इत्यर्थः। किं हेतोः उत्पत्त्यतिरिक्तः कार्योत्पादनाख्यो व्यापारः अनतिरिक्तो वा? नाद्य इत्युक्त्वा द्वितीयं शङ्कते—अथेति। भावः—उत्पत्तिः, उक्तं हि—'भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते' इति। येषां क्षणिक-भावानां या भूतिः सैव क्रिया कारकञ्च इत्यर्थः। नष्टस्याऽपि निमित्तत्वं स्याद् न

रत्नप्रभाका अनुवाद

विनाशककी सन्निधि। 'निरुद्धत्व'—अतीतत्व। यदि कोई कहे कि कार्यकालमें विनाशसे व्याप्त होनेपर भी पूर्व क्षणमें विद्यमान होनेसे क्षणिक अर्थ हेतु हो सकेगा, उसके हेतुत्वकी कुछ हानि नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। भावभूत—सद्रूप। क्या कार्योत्पादननामक हेतुका व्यापार हेतुकी उत्पत्तिसे भिन्न है या अभिन्न है? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहकर द्वितीय पक्षकी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। 'भाव'—उत्पत्ति। कहा है—'भूतिर्येषाम्०' जिन क्षणिक पदार्थोंकी जो उत्पत्ति है वही क्रिया और कारक है। नष्ट पदार्थ भी निमित्त हो

भाष्य

प्रसङ्गः। विनैव वा स्वभावोपरागेण हेतुफलभावमभ्युपगच्छतः सर्वत्र तत्प्राप्तेरतिप्रसङ्गः। अपि चोत्पादनिरोधौ नाम वस्तुनः स्वरूपमेव वा स्यातामवस्थान्तरं वा वस्त्वन्तरमेव वा, सर्वथापि नोपपद्यते। यदि तावद् वस्तुनः स्वरूपमेवोत्पादनिरोधौ स्याताम्, ततो वस्तुशब्द उत्पादनिरोधशब्दौ च पर्यायाः प्राप्नुयुः। अथास्ति कश्चिद्विशेष इति मन्येत, उत्पाद-

भाष्यका अनुवाद

कालमें स्थायी होनेसे क्षणभंगके स्वीकारके त्यागका प्रसङ्ग आवेगा। अथवा हेतुस्वभावसे उपरक्त हुए बिना ही फल उत्पन्न होता है, ऐसा कार्यकारणभाव स्वीकार करनेसे तुम्हारे मतमें सर्वत्र उसके प्राप्त होनेसे अतिप्रसङ्ग होगा। और उत्पाद और निरोध वस्तुका ही स्वरूप हो, या अन्य अवस्था हो, या अन्य वस्तु हो सर्वथा भी उपपन्न नहीं होता। यदि उत्पाद और निरोध शब्दोंसे मध्यवर्ती वस्तुकी आदि और अन्त नामकी अवस्थाएँ वाच्य होती हैं, ऐसा कोई एक विशेष

रत्नप्रभा

उपादानत्वम्, तथा च मृदादेः घटादिकालासत्त्वे घटाद्यनुत्पत्तिः। सत्त्वे च क्षणिकत्वहानिरिति परिहरति—तथापीत्यादिना। प्रथमपक्षोक्तदोषं द्रढयति—विनैवेति। वस्तुनो जन्मध्वंसानिरूपणाच्च न क्षणिकत्वमित्याह—अपि चेति। तयोः

रत्नप्रभाका अनुवाद

सकता है, किन्तु उपादान नहीं हो सकता। इस प्रकार मिट्टी आदिके घट आदिके कालमें अस्तित्व न होनेसे घट आदिकी उत्पत्ति नहीं होगी। यदि अस्तित्व मानें, तो क्षणिकत्वकी हानि होगी इस प्रकार परिहार करते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। प्रथम पक्षमें कहे गये दोषको दृढ़ करते हैं—"विनैव" इत्यादिसे। पदार्थके जन्म और नाशके निरूपण न होनेसे वह क्षणिक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। जन्म और नाशको वस्तुस्वरूप माननेपर

(१) नष्ट भी निमित्त हो सकता है, परन्तु उपादान नहीं हो सकता। जैसे कि मृत्तिका आदि घटादिके कालमें अविद्यमान हों, तो घटादि उत्पन्न न हों और विद्यमान हों, तो कारणके क्षणिकत्वकी हानि हो। मृत्तिका, सुवर्ण आदि जिनके कारण हैं ऐसे घट, रुचक आदि पदार्थ मृत्तिकास्वरूप और सुवर्णस्वरूप हैं, ऐसा अनुभव होता है। यदि कार्यके समय कारण अविद्यमान हो, तो कार्यके स्वरूपका अनुभव किस प्रकार होगा? कार्य कारणसदृश है, कारणात्मक नहीं है, ऐसा कहना भी युक्त न होगा, क्योंकि किसी रूपका अनुगम हुए बिना सादृश्य भी अनुपपन्न है। अनुगम होनेसे ही कारण कार्य होता है, अर्थात् कारणात्मक कार्य होता है, इसलिये अक्षणिकत्व सिद्ध होता है, सर्वथा कार्य और कारण विलक्षण हों, तो हेतुफलभाव तन्तु, घटादिमें भी प्राप्त होनेसे अतिप्रसंग होगा।

भाष्य

निरोधशब्दाभ्यां मध्यवर्तिनो वस्तुन आद्यन्ताख्ये अवस्थे अभिलप्येते इति, एवमप्याद्यन्तमध्यक्षणत्रयसम्बन्धित्वाद् वस्तुनः क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिः। अथाऽत्यन्तव्यतिरिक्तावेवोत्पादनिरोधौ वस्तुनः स्यातामश्वमहिषवत्, ततो वस्तु उत्पादनिरोधाभ्यामसंसृष्टमिति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्गः। यदि च दर्शनादर्शने वस्तुन उत्पादनिरोधौ स्याताम्, एवमपि द्रष्टृधर्मौ तौ न वस्तुधर्माविति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्ग एव। तस्मादप्यसङ्गतं सौगतं मतम् ॥ २० ॥

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा माना जाय, तो ऐसी अवस्थामें भी वस्तुका आदि, अन्त और मध्य इन तीन क्षणोंके साथ सम्बन्ध होनेसे क्षणिकत्व स्वीकारकी हानि होती है। यदि अश्व और महिषके समान वस्तुके उत्पाद और निरोध अत्यन्त व्यतिरिक्त हों, तो वस्तुके उत्पाद और निरोधसे संसृष्ट न होनेसे उसके शाश्वत होनेका प्रसंग आवेगा। यदि वस्तुके दर्शन उत्पाद और अदर्शन—निरोध हो, तो ऐसी अवस्थामें भी वह द्रष्टाके धर्म होंगे, वस्तुके नहीं, इससे वस्तुके शाश्वत होनेका प्रसंग अवेगा ही। इससे भी सौगत मत असंगत है ॥ २० ॥

रत्नप्रभा

स्वरूपत्वे वस्तुनि अन्तर्भावात् वस्तुनोऽनाद्यनन्तत्वम् इत्यपि द्रष्टव्यम्। द्वितीयं शङ्कते—अथाऽस्तीति। विशेषमेवाऽऽह—उत्पादेति। दूषयति—एवमपीति। ताभ्यां संसर्गे वस्तुनः क्षणिकत्वभङ्गः स्यात्। संसर्ग एव नास्तीति तृतीयकल्पम्—उत्थाप्य दूषयति—अथात्यन्तेति ॥ २० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वस्तुमें अन्तर्भावसे वस्तु अनादि और अनन्त हो जायगी ऐसा समझना चाहिए। द्वितीय पक्षकी शंका करते हैं—"अथास्ति" इत्यादिसे। विशेषको ही कहते हैं—"उत्पाद" इत्यादिसे। उसको दूषित करते हैं—"एवमपि" इत्यादिसे। उनके साथ वस्तुका सम्बन्ध होनेसे वस्तुकी क्षणिकता नष्ट हो जायगी। संसर्ग ही नहीं है, इस तृतीय कल्पका उत्थापन करके उसे दूषित करते हैं—"अथात्यन्त" इत्यादिसे ॥२०॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २१ ॥

पदच्छेद—असति, प्रतिज्ञोपरोधः, यौगपद्यम्, अन्यथा ।

पदार्थोक्ति—असति–अविद्यमाने हेतौ [कार्योत्पत्त्यङ्गीकारे] प्रतिज्ञोपरोधः—पूर्वज्ञानचक्षुरालोकविषयेषु चतुर्षु हेतुषु सत्सु कार्यं नीलादिविज्ञानं जायते इत्यस्याः प्रतिज्ञाया उपरोधः स्यात्, अन्यथा—कार्यं सहेतुकम् इत्यङ्गीकृत्य कार्यपर्यन्तं हेतोः स्थित्यङ्गीकारे [हेतुफलयोः] यौगपद्यम्—एकस्मिन् काले स्थितिः स्यात् [एवञ्च क्षणिकत्वप्रतिज्ञाहानिः स्यात्] ।

भाषार्थ—कारणके विद्यमान न होनेपर कार्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा स्वीकार करनेपर ज्ञान, चक्षु, प्रकाश और विषय इन चार हेतुओंके विद्यमान रहनेपर कार्य—नीलादिज्ञान होता है इस प्रतिज्ञाका बाध होगा । कार्य सहेतुक है ऐसा स्वीकार करके कार्यपर्यन्त हेतुकी स्थिति है ऐसा स्वीकार करनेपर हेतु और कार्यकी एक कालमें स्थिति हो जायगी । इस प्रकार क्षणिकत्वप्रतिज्ञाकी हानि होगी ।

भाष्य

क्षणभङ्गवादे पूर्वक्षणो निरोधग्रस्तत्वान्नोत्तरस्य क्षणस्य हेतुर्भवतीत्युक्तम् । अथासत्येव हेतौ फलोत्पत्तिं ब्रूयात्, ततः प्रतिज्ञोपरोधः स्यात् । चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यन्त इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत, निर्हे-

भाष्यका अनुवाद

क्षणभङ्गवादमें पूर्वक्षण निरोधग्रस्त होनेसे उत्तर क्षणका हेतु नहीं होता, ऐसा कहा जा चुका है । यदि हेतुके रहनेपर भी फलकी उत्पत्ति कहो, तो प्रतिज्ञाका बाध होगा । चार प्रकारके हेतुओंको प्राप्त करके चित्त और

रत्नप्रभा

सूत्रं व्याख्यातुं वृत्तं स्मारयति—क्षणभङ्गेति । किं कार्योत्पत्तिः निर्हेतुका सहेतुका वा ? आद्ये प्रतिज्ञाहानिरित्याह—अथाऽसत्येवेत्यादिना । विषयकरणसहकारिसंस्काराः चतुर्विधा हेतवः तान् प्रतीत्य—प्राप्य चित्तम्—रूपादिविज्ञानं चैत्ताः—चित्तात्मकाः सुखादयश्च जायन्त इति प्रतिज्ञार्थः । यथा नीलवि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रका व्याख्यान करनेके लिए पूर्वोक्त विषयका स्मरण कराते हैं—"क्षणभङ्ग" इत्यादिसे । कार्यकी उत्पत्ति निर्हेतुक है या सहेतुक ? यदि हेतुरहित हो, तो प्रतिज्ञाकी हानि होती है, ऐसा कहते हैं—"अथासत्येव" इत्यादिसे । विषय, करण, सहकारी और संस्कार ये चार प्रकारके हेतु हैं, उनको प्राप्त करके चित्त अर्थात् रूपादिविज्ञान और चैत्त अर्थात् चित्तात्मक सुखादि उत्पन्न होते हैं, ऐसा प्रतिज्ञाका अर्थ है । जैसे कि नीलविज्ञानका नीलवस्तु आलम्बन-

भाष्य

तुकायां चोत्पत्तावप्रतिबन्धात् सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत। अथोत्तरक्षणोत्पत्तिर्यावत्तावदवतिष्ठते पूर्वक्षण इति ब्रूयात्, ततो यौगपद्यं हेतुफलयोः स्यात्, तथापि प्रतिज्ञोपरोध एव स्यात्, क्षणिकाः सर्वे संस्कारा इतीयं प्रतिज्ञोपरुध्येत ॥ २१ ॥

भाष्यका अनुवाद

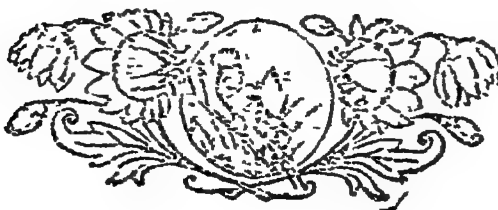
चैत्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इस प्रतिज्ञाकी हानि होगी। और निर्हेतुक उत्पत्ति माननेपर, तो प्रतिबन्धके न होनेसे सब वस्तु सर्वत्र उत्पन्न होने लगेगी। उत्तर क्षणकी उत्पत्ति तक पूर्व क्षण अवस्थित रहेगा यदि ऐसा कहो तो हेतु और फल समकालीन हो जायँगे, तो भी प्रतिज्ञाका बाध होगा ही। सर्व संस्कार क्षणिक हैं, यह प्रतिज्ञा बाधित होगी ॥ २१ ॥

रत्नप्रभा

ज्ञानस्य नीलं वस्तु आलम्बनप्रत्ययो विषयः, चक्षुः—करणम् अधिपतिप्रत्ययः, सहकारिप्रत्ययः—आलोकः, समनन्तरपूर्वप्रत्ययः—संस्कारः, इति भेदः। प्रतिज्ञाहानिपुरुषदोषमुक्त्वा वस्तुदोषमपि आह—**निर्हेतुकायाञ्चेति** । सहेतुकत्वपक्षे अन्वयिकारणस्य मृदादेः कार्यसहभावापत्त्या क्षणिकत्वप्रतिज्ञाहानिरिति सूत्रशेषं व्याचष्टे—**अथोत्तरक्षणेत्यादिना**। सम्यक् क्रियन्ते इति संस्काराः, आद्यन्तवन्तो भावा इत्यर्थः ॥ २१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रत्यय विषय है, चक्षु इन्द्रिय अधिपतिप्रत्यय है, आलोक सहकारीप्रत्यय है और संस्कार समनन्तरपूर्वप्रत्यय है, ऐसा भेद है। प्रतिज्ञा हानिरूप पुरुष दोषको कहकर वस्तु दोषको भी कहते हैं—"निर्हेतुकायाञ्च" इत्यादिसे। उत्पत्ति सहेतुक है, इस पक्षमें अन्वयी मृदादि कारणके कार्यसहभावी होनेसे क्षणिकत्व प्रतिज्ञाकी हानि होगी, इस प्रकार सूत्रशेषकी व्याख्या करते हैं—"अथोत्तरक्षण" इत्यादिसे। भली भाँति जो किये जाते हैं, वे 'संस्कार' कहलाते हैं अर्थात् आद्यन्तभाव, यह अर्थ है ॥२१॥



प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २२ ॥

पदच्छेद—प्रतिसङ्ख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिः, अविच्छेदात् ।

पदार्थोक्ति—प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिः—प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधयोः बुद्धिपूर्वकाबुद्धिपूर्वकनाशयोः [सन्तानसन्तानिषु] अप्राप्तिः असंभवः, [कुतः] अविच्छेदात्—सन्तानसन्तानिनोरविच्छेदात् । [तस्माद् निरोधद्वयस्य उपपत्तिर्न भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—सन्तान और सन्तानियोंमें बुद्धिपूर्वकनाशका और अबुद्धिपूर्वकनाशका संभव नहीं है, क्योंकि सन्तान और सन्तानियोंका विच्छेद नहीं होता । इससे निरोधद्वय—नाशद्वयकी उपपत्ति नहीं हो सकती ।

भाष्य

अपि च वैनाशिकाः कल्पयन्ति बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत् संस्कृतं क्षणिकं चेति । तदपि च त्रयं प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधावाकाशं चेत्याचक्षते । त्रयमपि चैतदवस्त्वभावमात्रं निरुपाख्यमिति मन्यन्ते । बुद्धिपूर्वः किल

भाष्यका अनुवाद

और वैनाशिक ऐसी कल्पना करते हैं कि जो बुद्धिबोध्य, उत्पाद्य और क्षणिक है वह तीनसे भिन्न है और उन तीनोंको वे प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश कहते हैं । और ये तीन अवस्तुएँ अभावमात्र निरू-

---

रत्नप्रभा

एवम् आद्यसूत्राभ्यां समुदायो निरस्तः, उत्तरसूत्राभ्यां कार्यकारणभावक्षणिकत्वे निरस्ते । सम्प्रति तदभिमतं द्विविधं विनाशं दूषयति—प्रतिसंख्येति । संस्कृतम्—उत्पाद्यम्, बुद्धिबोध्यम्—प्रमेयमात्रम्, त्रयात् तुच्छरूपाद् अन्यदित्यर्थः । किं तत् त्रयं तदाह—तदपीति । निरुपाख्यम्—निःस्वरूपम्, प्रतीपा—प्रतिकूला

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस अधिकरणके प्रथम दो सूत्रोंसे समुदायका खण्डन किया गया है । पीछेके दो सूत्रोंसे कार्यकारणभाव और क्षणिकत्वका निरसन किया गया है । अब बौद्धके अभिमत दो प्रकारके विनाशको दूषित करते हैं—"प्रतिसंख्या" इत्यादिसे । संस्कृत—उत्पाद्य, बुद्धिबोध्य अर्थात् प्रमेयमात्र, तुच्छरूप तीन वस्तुओंसे भिन्न है । वे तीन वस्तुएँ कौन हैं ? उसे कहते हैं—"तदपि" इत्यादिसे । निरुपाख्य—स्वरूपशून्य, प्रतिसंख्यानिरोध-

भाष्य

विनाशो भावानां प्रतिसङ्ख्यानिरोधो नाम भाष्यते, तद्विपरीतोऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधः, आवरणाभावमात्रमाकाशमिति । तेषामाकाशं परस्तात् प्रत्याख्यास्यति, निरोधद्वयमिदानीं प्रत्याचष्टे । प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधयोरप्राप्तिः असंभव इत्यर्थः । कस्मात् ? अविच्छेदात् । एतौ हि प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधौ सन्तानगोचरौ वा स्यातां भावगोचरौ

भाष्यका अनुवाद

पाख्य हैं, ऐसा मानते हैं। भावोंका बुद्धिपूर्वक विनाश प्रतिसंख्यानिरोध है और उससे विपरीत अप्रतिसंख्यानिरोध है और आवरणका अभावमात्र आकाश है, ऐसा उनका कथन है। उनमें से आकाशका आगे प्रत्याख्यान करेंगे। इस समय दोनों निरोधोंका प्रत्याख्यान करते हैं। प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोधकी प्राप्तिका सम्भव नहीं है ऐसा अर्थ है। किससे ? अविच्छेदसे। ये प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध सन्तानोंमें होंगे या भावोंमें होंगे। सन्तानमें तो हो नहीं सकते, क्योंकि सर्व सन्तानोंमें सन्ता-

रत्नप्रभा

संख्या सन्तं भावम् असन्तं—करोमीत्येवंरूपा बुद्धिः प्रतिसंख्या, तया निरोधः कस्यचिद् भावस्य भवति, अबुद्धिपूर्वकस्तु स्तम्भादीनां स्वरसभङ्गुराणाम् इत्याह—तद्विपरीत इति । परक्रियाम् उक्त्वा सूत्रं व्याचष्टे—तेषामिति । भावाः—सन्तानिनः, सन्तानो नाम भावानां हेतुफलभावेन प्रवाहः । तस्मिन् सन्ताने चरमक्षणः क्षणान्तरं करोति वा न वा ? आद्ये चरमत्वव्याघातः, सन्तानाविच्छेदात्, द्वितीये चरमस्य असत्त्वप्रसङ्गः, अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमिति तत्सिद्धान्तात्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

संख्या अर्थात् बुद्धि, प्रतिसंख्या अर्थात् प्रतिकूल बुद्धि, भावके प्रतिकूल बुद्धि। विद्यमान पदार्थको अविद्यमान करता हूँ, इस प्रकारकी बुद्धि प्रतिसंख्या है, उससे किया हुआ विनाश किसी भावका होता है, वह प्रतिसंख्यानिरोध है, उससे उलटा अबुद्धिपूर्वक अपने ही आप नष्ट होनेवाले स्तम्भ आदिका नाश अप्रतिसंख्यानिरोध है, ऐसा कहते हैं—"तद्विपरीतः" इत्यादिसे। परप्रक्रिया कहकर सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तेषाम्" इत्यादिसे। 'भाव' अर्थात् सन्तानी। 'सन्तान'—कार्यकारणभावसे युक्त पदार्थोंका प्रवाह। उस सन्तानरूप पदार्थप्रवाहमें अन्तका क्षणिक पदार्थ अन्य क्षणिक पदार्थको उत्पन्न करता है या नहीं ? आद्य पक्षमें अन्तपनेकी हानि होती है, यदि अन्त्य सन्तान—अन्तका क्षण अन्य क्षणको उत्पन्न करता हो, तो वह क्षण अन्तका न कहलायेगा, क्योंकि सन्तानप्रवाहका विच्छेद नहीं होता, जिससे कि अन्तका कहलावे। द्वितीय पक्षमें अन्त्य क्षणमें असत्त्वका प्रसङ्ग आवेगा, क्योंकि जो अर्थक्रियाकारी है, वह सत्-विद्यमान माना है, ऐसा

भाष्य

वा ? न तावत् सन्तानगोचरौ संभवतः, सर्वेष्वपि सन्तानेषु सन्तानिनामविच्छिन्नेन हेतुफलभावेन सन्तानविच्छेदस्याऽसंभवात् । नाऽपि भावगोचरौ संभवतः, नहि भावानां निरन्वयो निरुपाख्यो विनाशः सम्भवति, सर्वास्वप्यवस्थासु प्रत्यभिज्ञानबलेनाऽन्वय्यविच्छेददर्शनात् । अस्पष्टप्रत्यभिज्ञानास्वप्यवस्थासु क्वचिद्दृष्टेनाऽन्वय्यविच्छेदेनाऽन्यत्राऽपि तदनुमानात् । तस्मात् परपरिकल्पितस्य निरोधद्वयस्याऽनुपपत्तिः ॥ २२ ॥

भाष्यका अनुवाद

नियोंके कार्यकारणके अविच्छेद होनेसे सन्तानके विच्छेद होनेका सम्भव नहीं है । इसी प्रकार ये निरोध भावोंमें भी नहीं हो सकते, क्योंकि भावोंका निरन्वय निःस्वरूप विनाश नहीं हो सकता, क्योंकि सर्व अवस्थाओंमें भी प्रत्यभिज्ञानबलसे अन्वयीका अविच्छेद देखनेमें आता है । जिनमें प्रत्यभिज्ञान अस्पष्ट है, ऐसी अवस्थाओंमें भी कचित् अन्वयीका अविच्छेद देखनेमें आता है, उससे अन्यत्र भी उसका अनुमान होता है । इससे सिद्ध हुआ कि कल्पित दोनों निरोध अनुपपन्न हैं ॥ २२ ॥

रत्नप्रभा

चरमस्याऽसत्त्वे पूर्वेषामप्यसत्त्वप्रसङ्गः अर्थक्रियाशून्यत्वात्, तस्मात् सन्तानस्य विच्छेदासम्भवान्निरोधाप्राप्तिरित्याह—न तावदिति । न द्वितीयः—इत्याह—नापीति । घटकपालचूर्णाद्यवस्थासु सेयं मृदिति प्रत्यभिज्ञानाद् अन्वयिभावस्य मृदादेः नाऽऽत्यन्तिकविनाश इत्यर्थः । बीजस्याऽङ्कुरादिषु प्रत्यभिज्ञानाद् अन्वयिनो विच्छेद इत्यत आह—अस्पष्टेति । अङ्कुरादयः अनुस्यूतान्वयिभावस्थाः, कार्यत्वात्, पटवदित्यन्वय्यविच्छेदसिद्धिः इत्यर्थः । यस्माद् भावानां स्थायित्वं तस्मात् प्रतिक्षणनिरोधासम्भव इत्युपसंहारः ॥ २२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

बौद्धका सिद्धान्त है । उसके असत्त्व प्राप्त होनेसे पूर्व क्षणमें भी असत्त्वका प्रसङ्ग आवेगा, क्योंकि वे अर्थक्रियाशून्य होंगे, इसलिए सन्तानके विच्छेदका सम्भव न होनेसे निरोधका असम्भव है, ऐसा कहते हैं—"न तावत्" इत्यादिसे । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नापि" इत्यादिसे । घट, कपाल, चूर्ण आदि अवयवोंमें तो यही वह मृत्तिका है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान होनेसे अन्वयिभाव—मृत्तिकादिका आत्यन्तिक विनाश नहीं होता, ऐसा अर्थ है । बीजके अङ्कुर आदिमें प्रत्यभिज्ञान न दिखाई देनेसे अन्वयीका विच्छेद होता है, इसपर कहते हैं—"अस्पष्ट" इत्यादिसे । अङ्कुर आदि अनुस्यूत जो अन्वयी पदार्थ है उसमें स्थित हैं, कार्य होनेसे, वस्त्रके समान, इस प्रकार अन्वयीके अविच्छेदकी सिद्धि होती है, ऐसा अर्थ है । चूँकि पदार्थ स्थायी हैं, अतएव उनका प्रतिक्षण नाश नहीं हो सकता, इस प्रकार उपसंहार है ॥ २२ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥

पदच्छेद—उभयथा, च, दोषात् ।

पदार्थोक्ति—उभयथा च—अविद्यायाः सम्यग् ज्ञानान्नाशः स्वतो वा ? प्रथमे निर्हेतुकनाशाभ्युपगमहानिप्रसंगः, द्वितीये सम्यग्ज्ञानोपदेशानर्थक्यम् इति प्रकारद्वयेऽपि, दोषात्–दोषसद्भावात् [असंगतं सौगतमतम्] ।

भाषार्थ—अविद्याका सम्यग् ज्ञानसे नाश होता है या अपने आप नाश होता है ? प्रथम पक्षके स्वीकारमें निर्हेतुकनाशके स्वीकारकी हानि होगी, दूसरे पक्षके स्वीकारमें ज्ञानोपदेश निष्फल होगा, इसलिए दोनों कल्पोंमें दोष होनेसे सौगत मत असंगत है ।

भाष्य

योऽयमविद्यादिनिरोधः प्रतिसङ्ख्यानिरोधान्तःपाती परपरिकल्पितः, स सम्यग्ज्ञानाद् वा सपरिकरात् स्यात् स्वयमेव वा । पूर्वस्मिन् विकल्पे निर्हेतुकविनाशाभ्युपगमहानिप्रसङ्गः । उत्तरस्मिंस्तु मार्गोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः । एवमुभयथाऽपि दोषप्रसङ्गादसमञ्जसमिदं दर्शनम् ॥ २३ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रतिसंख्यानिरोधके अन्तर्भूत जो यह अविद्या आदिका निरोध परपरिकल्पित है, वह परिकरयुक्त सम्यग्ज्ञानसे है या स्वतः ही है ? प्रथम कल्पमें निर्हेतुक विनाशके स्वीकारकी हानि होगी, दूसरे कल्पमें मार्गोपदेश अनर्थक हो जायगा । इस प्रकार दोनों पक्षमें दोषके प्रसंगसे यह दर्शन अयुक्त है ॥ २३ ॥

रत्नप्रभा

अविद्यादीनां प्रतिसंख्यानिरोधं तदभिमतं दूषयति—उभयथेति । यमनियमादयः परिकराः । सर्वं दुःखं क्षणिकमिति भावनोपदेशः—मार्गोपदेशः ॥२३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

बौद्धके अभिमत प्रतिसंख्यानिरोधमें अन्तर्भूत हुए अविद्या आदि निरोधको दूषित करते हैं—''उभयथा'' इत्यादिसे । 'परिकर'—सम्यग् ज्ञानकी सामग्री—यम, नियम आदि और श्रवण, मनन आदि । 'मार्गोपदेश'—सर्व क्षणिक है, ऐसी भावनाका उपदेश । [चार प्रकारकी भावनासे बौद्ध परम पुरुषार्थका वर्णन करते हैं । चतुर्विध भावना इस प्रकार है—'सर्व क्षणिक है, क्षणिक है, सर्व दुःखकारक है, दुःखकारक है, सर्व स्वलक्षण है, स्वलक्षण है, सर्व शून्य है, शून्य है'] ॥२३॥

आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥

पदच्छेद—आकाशे, च, अविशेषात् ।

पदार्थोक्ति—आकाशे च—'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इति श्रुत्या शब्दगुणत्वेन च आकाशेऽपि, अविशेषात्—पृथिव्यादिवत् वस्तुत्वप्रतिपत्तेस्तुल्यत्वात् [न आकाशस्य निरुपाख्यत्वम्] ।

भाषार्थ—'आत्मनः०' (आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस श्रुतिसे और शब्दगुणक होनेसे आकाशमें भी पृथिवी आदिके समान वस्तुत्वकी प्रतिपत्ति—आकाश वस्तुरूप है ऐसी प्रतीति—तुल्य है, इसलिए आकाश निरुपाख्य नहीं है।

भाष्य

यच्च तेषामेवाऽभिप्रेतं निरोधद्वयमाकाशं च निरुपाख्यमिति, तत्र निरोधद्वयस्य निरुपाख्यत्वं पुरस्तान्निराकृतम्, आकाशस्येदानीं निराक्रियते । आकाशे चायुक्तो निरुपाख्यत्वाभ्युपगमः, प्रतिसंख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधयोरिव वस्तुत्वप्रतिपत्तेरविशेषात् । आगमप्रामाण्यात् तावत् 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यादिश्रुतिभ्य आकाशस्य च

भाष्यका अनुवाद

पूर्वोक्त दोनों निरोध और आकाश निरुपाख्य हैं, ऐसा बौद्धका सिद्धान्त है उनमें दोनों निरोध निरुपाख्य हैं, इसका पीछे निराकरण किया जा चुका है। आकाश निरुपाख्य है, इसका अब निराकरण करते हैं। आकाशमें (वह निरुपाख्य है), ऐसा स्वीकार अयुक्त है, क्योंकि प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोधमें जिस प्रकार वस्तुत्वकी प्रतिपत्ति है, उसी प्रकार उसमें वस्तुत्वकी प्रतिपत्ति है, इन तीनोंमें कोई विशेष नहीं है। प्रथम शास्त्रके प्रमाणसे आकाशमें वस्तुत्व सिद्ध होता है—"आत्मनः आकाशः सम्भूतः" (आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ)

रत्नप्रभा

आगमप्रामाण्यादिति । तत्र आकाशस्य कार्यत्वोक्त्या घटादिवद्वस्तुत्वं प्रसिध्यति इत्यर्थः। ननु आगमप्रामाण्ये विप्रतिपन्नान् प्रति आकाशस्य वस्तुत्वं कथं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"आगमप्रामाण्यात्" इत्यादि । उसमें आकाश कार्य है, ऐसा कहा है, उससे घट आदिके समान उसका वस्तुत्व प्रसिद्ध होता है, यह अर्थ है। परन्तु आगमप्रामाण्यको न माननेवाले

भाष्य

वस्तुत्वप्रसिद्धिः । विप्रतिपन्नान् प्रति तु शब्दगुणानुमेयत्वं वक्तव्यम्, गन्धादीनां गुणानां पृथिव्यादिवस्त्वाश्रयत्वदर्शनात् । अपि चाऽऽवरणाभावमात्रमाकाशमिच्छतामेकस्मिन् सुपर्णे पतत्यावरणस्य विद्यमानत्वात् सुपर्णान्तरस्योत्पित्सतोऽनवकाशत्वप्रसङ्गः । यत्राऽऽवरणाभावस्तत्र पतिष्यतीति चेत्, येनावरणाभावो विशेष्यते तत्तर्हि वस्तुभूतमेवाऽऽकाशं स्यात्, नाऽऽवर-

भाष्यका अनुवाद

इत्यादि श्रुतियोंसे आकाश वस्तु है, ऐसी प्रसिद्धि है, परन्तु जो आगम प्रमाणको नहीं मानते, उनके प्रति आकाश शब्दगुणसे अनुमेय है, ऐसा कहना युक्त है, क्योंकि गन्ध आदि गुणोंके आश्रयरूपसे पृथिवी आदि देखनेमें आते हैं। और जो आकाश आवरणका अभावमात्र है, ऐसा मानते हैं, उनके मतमें एक पक्षीके उड़नेपर आवरण विद्यमान होनेसे उड़नेकी इच्छा करनेवाले अन्य पक्षीको अवकाश नहीं है, ऐसा मानना पड़ेगा। जहांपर आवरणका अभाव है, वहांपर उड़ेगा, ऐसा कहो, तो जिससे आवरणका अभाव विशिष्ट होता है,

रत्नप्रभा

सिध्यतीत्यत आह—विप्रतिपन्नानिति । शब्दो वस्तुनिष्ठः, गुणत्वाद्, गन्धादिवद्, इत्यनुमानात् आकाशस्य वस्तुत्वं सिध्यति । पृथिव्याद्यष्टद्रव्याणां श्रोत्रग्राह्यगुणाश्रयत्वायोगादित्यर्थः । आकाशस्य भावत्वं प्रसाध्य अभावत्वं दूषयति—अपि चेति । यथैकघटसत्त्वेऽपि घटसामान्याभावो नास्ति, तथैकपक्षिसत्त्वेऽपि मूर्तद्रव्यसामान्याभावात्मकाकाशो नास्त्येवेति पक्ष्यन्तरसञ्चारो न स्यात् इत्यर्थः । देशविशेषावच्छेदेन आवरणाभावोऽस्तीत्याशङ्क्य अभावावच्छेदकदेशविशेष एव आकाशः, नाऽभाव इत्याह—यत्रेत्यादिना । पतिष्यति पक्षी, सञ्चरि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

बौद्धके प्रति आकाशका वस्तुत्व कैसे सिद्ध होगा, इसपर कहते हैं—"विप्रतिपन्नान्" इत्यादिसे । 'शब्द वस्तुनिष्ठ है, गुण होनेसे, गन्ध आदिके समान, इस अनुमानसे आकाशका वस्तुत्व सिद्ध होता है, क्योंकि पृथिवी आदि आठ द्रव्य श्रोत्रमात्रसे ग्राह्य शब्दगुणके आश्रय हों, यह युक्त नहीं है, ऐसा अर्थ है । आकाश भाव है, ऐसा सिद्ध करके वह अभाव है, इसको दूषित करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । जैसे एक घट विद्यमान हो, तो घट सामान्यका अभाव नहीं होता, वैसे ही एक पक्षी विद्यमान हो, तो भी मूर्त द्रव्य सामान्यका अभावरूप आकाश है—यह नहीं हो सकता । इसलिए अन्य पक्षीका संचार नहीं होगा, ऐसा तात्पर्य है । अमुक देशके अवच्छेद से आवरणका अभाव है, ऐसी आशंका करके उसका निराकरण करते हैं कि अभावका अवच्छेद देशविशेष ही आकाश है, अभाव आकाश नहीं है—"यत्र" इत्यादिसे । पतिष्यति—पक्षी

भाष्य

णाभावमात्रम्। अपि चाऽऽवरणाभावमात्रमाकाशं मन्यमानस्य सौगतस्य स्वाभ्युपगमविरोधः प्रसज्येत। सौगते हि समये 'पृथिवी भगवन् किंसन्निश्रया' इत्यस्मिन् प्रतिवचनप्रवाहे पृथिव्यादीनामन्ते 'वायुः किंसंनिश्रयः' इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं भवति 'वायुराकाशसंनिश्रयः' इति, तदाकाशस्याऽवस्तुत्वे न समञ्जसं स्यात्। तस्मादप्ययुक्तमाकाशस्याऽवस्तुत्वम्। अपि च निरोधद्वयमाकाशं च त्रयमप्येतन्निरुपाख्यमवस्तु नित्यं चेति विप्रतिषिद्धम्। न ह्यवस्तुनो नित्यत्वमनित्यत्वं वा संभवति, वस्त्वाश्रयत्वाद्धर्मधर्मिव्यवहारस्य। धर्मधर्मिभावे हि घटादिवद्वस्तुत्वमेव स्याद् न निरुपाख्यत्वम् ॥ २४ ॥

भाष्यका अनुवाद

वही तब वस्तुभूत आकाश है, केवल आवरणका अभावमात्र आकाश नहीं है। और आवरणके अभावमात्रको आकाश माननेवाले सौगतको अपने स्वीकारसे विरोध होगा, क्योंकि सौगतदर्शनमें 'पृथिवी भगवन् किंसन्निश्रया' (हे भगवन् पृथिवी किसके आधारपर है?) इस प्रश्न और प्रतिवचनके प्रवाहमें पृथिवी आदिके अन्तमें 'वायुः किंसंनिश्रयः, (वायु किसके आधारपर है) इस प्रश्नका प्रतिवचन है—'वायुराकाशसंनिश्रयः' (वायु आकाशके आधारपर है), आकाशको अवस्तु माननेपर वह प्रतिवचन नहीं बन सकता। इससे भी आकाशका अवस्तुत्व अयुक्त है और दोनों निरोध और आकाश ये तीनों निरुपाख्य हैं, अवस्तु हैं और नित्य हैं, यह विरुद्ध है। क्योंकि जो अवस्तु है उसमें नित्यत्व या अनित्यत्व नहीं घट सकता, क्योंकि धर्म और धर्मीका व्यवहार वस्तुके आश्रयसे है और धर्मधर्मिभाव होनेसे घटादिके समान वस्तुत्व ही होगा, निरुपाख्यत्व नहीं होगा ॥ २४ ॥

रत्नप्रभा

प्यतीत्यर्थः। आकाशस्य अवस्तुत्वं स्वग्रन्थविरुद्धं चेत्याह—अपि चेति। किं सम्यङ् निश्रयः—आश्रयोऽस्या इति किंसन्निश्रया, अवस्तुनः शशविषाणस्य आश्रयत्वादर्शनादिति भावः। व्याघातान्तरमाह—अपि चेति। ध्वंसाप्रतियोगिताख्यो धर्मो नित्यत्वं नाऽसति सम्भवति, धर्मिणोऽसत्त्वव्याघातादित्यर्थः ॥२४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उहेगा ऐसा अर्थ है। आकाशका अवस्तुत्व बौद्धके अपने ग्रन्थसे भी विरुद्ध है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। "किंसंनिश्रया"—किम् (क्या) है सम्यक् निश्रय (आश्रय) जिसका वह 'किंसंनिश्रय' है। शशविषाण जो वस्तु ही नहीं है, वह आश्रयरूपसे नहीं दीखता परन्तु आकाश वायुका आश्रय होनेसे वस्तु है, ऐसा अर्थ है। अन्य विरोध कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। नाशका अप्रतियोगित्व धर्म नित्यत्व है, वह असत्में नहीं रह सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे धर्मके असत्त्वका व्याघात होगा, ऐसा अर्थ है ॥ २४॥

अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

पदच्छेद—अनुस्मृतेः, च ।

पदार्थोक्ति—अनुस्मृतेश्च—अनुभवम् अनु उत्पद्यमाना स्मृतिः अनुस्मृतिः, तद्बलादपि [आत्मनोऽनुभवितुर्न क्षणिकत्वम्] ।

भाषार्थ—उपलब्धिके अनन्तर उत्पन्न होता हुआ स्मरण ही अनुस्मृति है उसके बलसे भी प्रतीत होता है कि अनुभव करनेवाला आत्मा क्षणिक नहीं है ।

भाष्य

अपि च वैनाशिकः सर्वस्य वस्तुनः क्षणिकतामभ्युपयन्नुपलब्धुरपि क्षणिकतामभ्युपेयात् । न च सा सम्भवति, अनुस्मृतेः । अनुभवमुपलब्धिमनूत्पद्यमानं स्मरणमेवाऽनुस्मृतिः सा चोपलब्ध्येककर्तृका सती संभवति, पुरुषान्तरोपलब्धिविषये पुरुषान्तरस्य स्मृत्यदर्शनात् । कथं ह्यहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति च पूर्वोत्तरदर्शिन्येकस्मिन्नसति प्रत्ययः स्यात् । अपि च

भाष्यका अनुवाद

और वैनाशिक सब वस्तुओंको क्षणिक मानते हैं, इसलिए उनको उपलब्धा की भी क्षणिकता माननी पड़ेगी । परन्तु उसका सम्भव नहीं है, अनुस्मृतिसे । अनुभव—अर्थात् उपलब्धिके पीछे उत्पन्न होनेवाला स्मरण ही अनुस्मृति है । उसका और उपलब्धिका एक कर्त्ता हो, तभी वह अनुस्मृति हो सकती है, क्योंकि एकपुरुषकी उपलब्धिके विषयमें अन्य पुरुषकी स्मृति नहीं देखी जाती है । 'मैंने यह देखा' 'मैं यह देखता हूँ' ऐसी प्रतीति पूर्वोत्तर द्रष्टा एक

रत्नप्रभा

आत्मनः क्षणिकत्वं दूषयति—अनुस्मृतेरिति । अनुभवजन्या स्मृतिः अनुस्मृतिः, तस्याम् अनुभवसमानाश्रयत्वात् तदुभयाश्रयात्मनः स्थायित्वमित्यर्थः । क्षणिकत्वे ज्ञानद्वयानुसन्धानं च न स्यात् इत्याह—कथं ह्यहमिति । पूर्वदर्शनकर्तुरद्राक्षमिति स्मरणकर्त्रा ऐक्यप्रत्यभिज्ञानाच्चात्मनः स्थायित्वमित्याह—अपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्माके क्षणिकत्वको दूषित करते हैं—"अनुस्मृतेः" इत्यादिसे । अनुभवजन्य स्मृतिः अनुस्मृति है, उसका और अनुभवका आश्रय समान होनेसे उन दोनोंका आश्रय आत्मा स्थायी है, ऐसा अर्थ है । यदि आत्मा क्षणिक हो, तो दो ज्ञानोंका अनुसन्धान न होगा, ऐसा कहते हैं—"कथं ह्यहम्" इत्यादिसे । पूर्व दर्शन करनेवालेकी "मैंने देखा" ऐसा स्मरण करने वालेके साथ एकता है, ऐसा प्रत्यभिज्ञान होनेसे आत्मा स्थायी है, ऐसा कहते हैं—"अपि च"

भाष्य

दर्शनस्मरणयोः कर्तर्येकस्मिन् प्रत्यक्षः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः सर्वस्य लोकस्य प्रसिद्धोऽहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति। यदि हि तयोर्भिन्नः कर्ता स्यात्, ततोऽहं स्मराम्यद्राक्षीदन्य इति प्रतीयात्, न त्वेवं प्रत्येति कश्चित्। यत्रैवं प्रत्ययस्तत्र दर्शनस्मरणयोर्भिन्नमेव कर्तारं सर्वलोकोऽवगच्छति, स्मराम्यहमसावदोऽद्राक्षीदिति। इह त्वहमदोऽद्राक्षमिति दर्शनस्मरणयोर्वैनाशिको-

भाष्यका अनुवाद

न हो तो किस प्रकार हो सकती है? और दर्शन और स्मरणका एक कर्त्ता होनेपर 'मैंने यह देखा था' 'मैं यह देखता हूँ' ऐसी प्रत्यभिज्ञा—प्रतीति प्रत्यक्ष सर्वलोकमें प्रसिद्ध है। यदि उन दोनों के भिन्नकर्त्ता हों तो 'मैं स्मरण करता हूँ' 'अन्यने देखा था' ऐसी प्रतीति होगी। परन्तु किसी को भी ऐसी प्रतीति नहीं होती। जहाँ ऐसी प्रतीति होती है, वहाँ दर्शन और स्मरणके भिन्न भिन्न कर्त्ताओंको लोग जानते हैं। 'मैं स्मरण करता हूँ' 'उसने यह देखा' यहां तो 'मैंने यह देखा' इस प्रकारसे दर्शन और स्मरणका एक ही कर्तारूपसे वैनाशिक

रत्नप्रभा

चेति। योऽहमदः पूर्वमद्राक्षं स एवाऽहम् अद्य तत् स्मरामि इति प्रत्यभिज्ञानाकारो द्रष्टव्यः। इदं पश्यामीति ज्ञानान्तरसम्बन्धकथनं योऽहमद्राक्षं सोऽहं पश्यामीति प्रत्यभिज्ञानान्तरद्योतनार्थम्। विपक्षे बाधकमाह—**यदि हीति**। द्रष्टृस्मर्त्रोः भेदे अहं स्मरामि अन्योऽद्राक्षीदिति प्रतीतिः स्यादित्यत्र दृष्टान्तमाह—**यत्रैवमिति**। प्रत्ययमाह—**स्मरामीति**। स्मरामि अहम् अन्योऽद्राक्षीद् इति प्रत्ययो यत्र तत्र भिन्नमेव कर्तारं लोकोऽवगच्छति इत्यविवादम् इत्यर्थः। प्रकृतप्रत्यभिज्ञायां तादृशभेदप्रत्ययस्य बाधकस्य अदर्शनादात्मस्थायित्वं दुर्वारम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। 'जिस मैंने वह पूर्वमें देखा, वही मैं उसका आज स्मरण करता हूँ' ऐसा प्रत्यभिज्ञानका स्वरूप समझना चाहिए। 'मैं यह देखता हूँ' यह अन्य ज्ञानके साथ सम्बन्ध का कथन है और 'जिस मैंने देखा, वह मैं देखता हूँ' ऐसे अन्य प्रत्यभिज्ञानको बतानेके लिए है। पूर्वोत्तर प्रतीतिके कर्त्ता भिन्न हों, इसमें बाधक कहते हैं—"यदि हि" इत्यादिसे। द्रष्टा और स्मर्त्ता दो भिन्न हों, तो 'मैं स्मरण करता हूँ', 'अन्यने देखा' ऐसी प्रतीति होगी, उसपर दृष्टान्त कहते हैं—"यत्रैवम्" इत्यादिसे। प्रतीति कहते हैं—"स्मरामि" इत्यादिसे। 'मैं स्मरण करता हूँ, 'अन्यने देखा' ऐसी जहाँ प्रतीति होती है, वहां लोक भिन्न ही कर्त्ता समझते हैं, यह निर्विवाद है, ऐसा अर्थ है। प्रकृतप्रत्यभिज्ञानके वैसे भेदप्रतीतिरूप बाधकके

भाष्य

ऽप्यात्मानमेवैकं कर्तारमवगच्छति, न नाहमित्यात्मनो दर्शनं निर्वृत्तं निह्नुते यथाग्निरनुष्णोऽप्रकाश इति वा। तत्रैवं सत्येकस्य दर्शनस्मरणलक्षणक्षणद्वयसंबन्धे क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिरपरिहार्या वैनाशिकस्य स्यात्, तथाऽनन्तरामनन्तरामात्मन एव प्रतिपत्तिं प्रत्यभिजानन्नेककर्तृकामोत्तमादुच्छ्वासादतीताश्च प्रतिपत्तीरा जन्मन आत्मैककर्तृकाः प्रतिसंदधानः कथं

भाष्यका अनुवाद

भी आत्माको मानते हैं, परन्तु 'मैंने नहीं देखा' ऐसा जो पूर्वदर्शन हुआ है, उसका निषेध नहीं करते, जैसे कि अग्नि अनुष्ण है या प्रकाशरहित है, ऐसे अग्निके उष्णत्व और प्रकाशका निषेध नहीं करते, ऐसी अवस्थामें एकका ही दर्शन और स्मरणलक्षण दो क्षणोंके साथ सम्बन्ध होनेपर वैनाशिक क्षणिकत्वका जो स्वीकार करते हैं, उनको उसकी हानि अपरिहार्य होगी, उसी प्रकार अन्तके उच्छ्वासपर्यन्त एक एक [प्रतिपत्ति] के पीछे होनेवाली आत्माकी ही प्रतिपत्तियोंको

रत्नप्रभा

इत्याह—इह त्वहमद इति। यथाऽग्नेरौष्ण्यादिकं न बाधते कश्चित् तथा नाऽहमद्राक्षमिति पूर्वदर्शनं न निन्हुत इत्यनेन बाधाभावात् प्रत्यभिज्ञा प्रमेत्युक्तं भवति, तथा द्रष्टृस्मर्त्रोः ऐक्ये सति स्थायित्वं फलितमित्याह—तत्रैवं सतीति। क्षणद्वयसम्बन्धेऽप्यात्मनस्तृतीयक्षणे भङ्गोऽस्त्विति वदन्तं प्रत्याह—तथेति। वर्तमानदशामारभ्य उत्तमोच्छ्वासाद् अनन्तरामनन्तरां स्वस्यैव प्रतिपत्तिमात्मककर्तृकां प्रत्यभिजानन्ना जन्मनश्च वर्तमानदशापर्यन्तम् अतीताः प्रतिपत्तीः स्वक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

न देखनेसे आत्माका स्थायित्व दुर्वार है, ऐसा कहते हैं—"इह त्वहमदः" इत्यादिसे। जैसे अग्निकी उष्णता आदिका कोई अपलाप नहीं करता, वैसे ही 'मैंने नहीं देखा, ऐसे पूर्व दर्शनका कोई निषेध नहीं कर सकता, इससे इस प्रकार बाधन होनेसे प्रत्यभिज्ञान यथार्थ ज्ञान—प्रमा है, ऐसा तात्पर्य है, इस प्रकार द्रष्टा और स्मर्त्ता एक होनेसे उनका स्थायित्व फलित होता है, ऐसा कहते हैं—"तत्रैवं सति" इत्यादिसे। दो क्षणोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी आत्माका तृतीय क्षणमें भंग होता है, ऐसा कहनेवालेसे कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। वर्त्तमान दशासे लेकर अन्तके उच्छ्वास पर्यन्त अर्थात् मरण-पर्यन्त एकके पीछे एक अपनी ही प्रतिपत्तिको आत्मा ही जिसका कर्त्ता है, ऐसा जानता हुआ, इसी प्रकार जन्मसे लेकर वर्त्तमान दशापर्यन्त हुई प्रतिपत्तियाँ आत्मकर्तृक हैं, ऐसा प्रतिसन्धान करते हुए वैनाशिक 'हम क्षणभंगवादी हैं' ऐसा कहते हुए क्यों नहीं लज्जित होते ?

भाष्य

क्षणभङ्गवादी वैनाशिको नाऽपत्रपेत । स यदि ब्रूयात्—सादृश्यादेतत्संपत्स्यते इति । तं प्रति ब्रूयात्, तेनेदं सदृशमिति द्वयायत्तत्वात् सादृश्यस्य क्षणभङ्गवादिनः सदृशयोर्द्वयोर्वस्तुनोर्ग्रहीतुरेकस्याऽभावात् सादृश्यनिमित्तं प्रतिसन्धानमिति मिथ्याप्रलाप एव स्यात्, स्याच्चेत्पूर्वोत्तरयोः क्षणयोः सादृश्यस्य

भाष्यका अनुवाद

[आत्मा ही जिनका एक कर्त्ता है, ऐसी उन प्रतिपत्तियोंको] देखते हुए तथा जन्मसे लेकर आजतक हुई प्रतिपत्तियोंका, आत्मा ही जिनका एक कर्त्ता है, उनका, प्रतिसन्धान करते हुए वैनाशिक क्षणभंगवादी होनेसे क्यों नहीं लज्जित होते। यदि वे ऐसा कहें कि सादृश्यसे ऐसा प्रतिसंधान होता है, तो उनसे कहना चाहिये कि 'तेन इदं सदृशम्' (यह उसके जैसा है) ऐसा सादृश्य दोके अधीन होनेसे दो सदृश वस्तुओंका ग्रहीता क्षणभंगवादीके मतमें एक न होनेसे सादृश्यके कारणसे यह प्रतिसंधान है, ऐसा मिथ्या प्रलाप ही होगा। यदि पूर्व और उत्तर क्षणके सादृश्यका एक ग्रहण

रत्नप्रभा

र्तृकाः प्रतिसन्दधानः सन्निति योजना। दीपज्वालास्विवाऽऽत्मनि प्रत्यभिज्ञानं सादृश्यदोषादिति शङ्कते—स इति। सादृश्यज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिज्ञानाधीनत्वात् स्थिरस्य ज्ञातुरसत्त्वान्न सादृश्यज्ञानं सम्भवति, सत्त्वे वाऽपसिद्धान्तः स्यादिति परिहरति—तमित्यादिना। स्यादेतत् न सादृश्यप्रत्ययः पूर्वोत्तरवस्तुद्वयज्ञानजन्यवस्तुद्वयसादृश्यावगाही, किं तर्हि? कश्चिदेष विकल्पः स्वाकारमेव बाह्यत्वेन विषयीकुर्वाणः क्षणान्तरास्पर्शी, अतो न स्थिरद्रष्ट्रपेक्षेति शङ्कते—तेनेदमिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

जैसे दीप ज्वाला एक नहीं है, तो भी प्रत्यभिज्ञान होता है, उसका सादृश्य हेतु है, वैसे आत्मामें सादृश्यदोषसे प्रत्यभिज्ञान होता है, यह सादृश्यकृत भ्रान्ति है, ऐसी शंका करते हैं—"स" इत्यादिसे। धर्मी (जो दो पदार्थोंके सदृश है, वह) और जो प्रतियोगी है, उनके अधीन सादृश्य अधीन होनेसे स्थिर ज्ञाता न होनेके कारण सादृश्यज्ञान नहीं हो सकता और हो, तो अपसिद्धान्त होगा, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"तम्" इत्यादिसे। और शंका करते हैं यह सादृश्यज्ञान नहीं है कि जो पूर्वोत्तर दो वस्तुओंके ज्ञानसे उत्पन्न होता है और उन दोनोंका सादृश्य जिसका विषय है। तब यह क्या है? यह तो कोई विकल्पप्रतीति है और यह विकल्प अपने आकारको ही बाह्य विषयरूपसे मानता है और अन्य क्षणको स्पर्श नहीं करता, इसलिए स्थिर द्रष्टाकी अपेक्षा नहीं है, इस प्रकार शङ्का करते हैं—"तेनेदम्" इत्यादिसे। यहां ऐसा कहना चाहिए कि

भाष्य

ग्रहीतैकः, तथा सत्येकस्य क्षणद्वयावस्थानात् क्षणिकत्वप्रतिज्ञा पीड्येत। तेनेदं सदृशमिति प्रत्ययान्तरमेवेदं न पूर्वोत्तरक्षणद्वयग्रहणनिमित्तमिति चेत्, न; तेनेदमिति भिन्नपदार्थोपादानात्। प्रत्ययान्तरमेव चेत् सादृश्यविषयं स्यात् तेनेदं सदृशमिति वाक्यप्रयोगोऽनर्थकः स्यात्। सादृश्यमित्येव प्रयोगः प्राप्नुयात्। यदा हि लोकप्रसिद्धः पदार्थः परीक्षकैर्न परिगृह्यते, तदा स्वपक्ष-

भाष्यका अनुवाद

करनेवाला है, तो एक होनेसे एकके दो क्षणपर्यन्त अवस्थानसे क्षणिकत्व प्रतिज्ञाका बाध होगा। 'तेन इदं सदृशम्' (वह उसके जैसा है) ऐसी अन्य प्रतीति ही है, पूर्व और उत्तर ये दो क्षण ग्रहणनिमित्त नहीं हैं, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'तेन इदम्' (उसके साथ यह) ऐसे भिन्न पदार्थोंका ग्रहण होता है। यदि अन्य प्रतीति ही सादृश्यविषयक हो, तो 'तेनेदं सदृशम्' (यह उसके सदृश है) ऐसा वाक्यप्रयोग अनर्थक होगा। सादृश्यम् (सादृश्य) ऐसा ही प्रयोग प्राप्त होगा। जब लोकप्रसिद्ध पदार्थका परिग्रहण

रत्नप्रभा

अत्र वक्तव्यम्—सादृश्यप्रत्यये 'तेन' 'इदम्' 'सदृशम्' इति वस्तुत्रयं भासते न वेति? नेति वदतः स्वानुभवविरोधः, किञ्चाऽर्थभेदाभावात् पदत्रयप्रयोगो न स्यात्, तस्मात् पदत्रयेण मिथः संसृष्टभिन्नार्थभानादभानमसिद्धमिति परिहरति--न तेनेति। अथ भासते वस्तुत्रयम्, तच्च प्रत्ययाभिन्नमेव, न बाह्यमिति चेत्, न; त्रयाणामेकप्रत्ययाभेदे मिथोऽप्यभेदापत्तेः। इष्टापत्तिरिति ब्रुवाणं विज्ञानवादिनं प्रत्याह—यदा हीति। वस्तुत्रयं ज्ञेयं सादृश्यप्रत्ययाद् भिन्नं सर्वलोकप्रसिद्धम्। तच्चेत् नाङ्गीक्रियते स्थायिद्रष्टृप्रसङ्गभयेन, तर्हि तत्तदाकाराणां क्षणिकविज्ञानानां

रत्नप्रभाका अनुवाद

सादृश्यप्रत्ययमें 'तेन' 'इदम्' 'सदृशम्' यह उसके समान है, ऐसे तीन वस्तुओंकी प्रतीति होती है या नहीं? नहीं होती, ऐसा यदि कहो, तो स्वानुभवमें विरोध होगा। और वस्तुओंका भेद न होनेसे तीन पदोंका प्रयोग न होगा, इसलिए तीन पदोंसे परस्पर संसृष्ट हुए भिन्न पदार्थोंका भान होनेसे अभान—भान नहीं होता, ऐसा कहना असिद्ध है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न तेन" इत्यादिसे। अगर 'तेनेदं सदृशम्' यह उसके सदृश है—इसमें तीन वस्तुएँ भासती हैं, परन्तु वे प्रतीतिसे अभिन्न ही हैं, बाह्य वस्तु नहीं हैं, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है। तीन वस्तुएँ एक ही भान हैं ऐसा कहो, तो परस्पर भिन्न नहीं, ऐसा प्रसंग आवेगा। यह इष्टापत्ति है—इष्ट प्रसंग है, ऐसा कहनेवाले विज्ञानवादीके प्रति कहते हैं—"यदा हि" इत्यादिसे। 'तेनेदं सदृशम्'—यह उसके सदृश है—इसमें वस्तुत्रय ज्ञेय है और वे सादृश्यप्रतीतिसे भिन्न हैं, ऐसा सर्व-

भाष्य

सिद्धिः परपक्षदोषो वोभयमप्युच्यमानं परीक्षकाणामात्मनश्च यथार्थत्वेन न बुद्धिसन्तानमारोहति। एवमेवैषोऽर्थ इति निश्चितं यत्तदेव वक्तव्यम्,

भाष्यका अनुवाद

न करें, तब स्वपक्षकी सिद्धि या परपक्षका दोष दोनों कहे जायँ, तो भी वे यथार्थरूपसे परीक्षकोंके या अपने बुद्धिसंतानमें नहीं आवेंगे। यह पदार्थ ऐसा ही है, ऐसा जो निश्चित है, वही कहना चाहिए। उससे अन्य कहा

रत्नप्रभा

मिथो वार्तानभिज्ञत्वादेकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धानेकपक्षस्फुरणात्मकविप्रतिपत्त्यसम्भवात् स्वपक्षसाधनादिव्यवहारो लुप्येत। अतो यथानुभवं ज्ञानज्ञेयभेदोऽङ्गीकार्यः। तथा च तेनेदं सदृशमिति बाह्यार्थयोर्ज्ञानपूर्वकं सादृश्यं जानत आत्मनः स्थायित्वं दुर्वारमित्यर्थः। ननु सन्त्येव बाह्यार्थाः क्षणिकस्वलक्षणा निर्विकल्पकग्राह्याः, सविकल्पाध्यवसेयास्तु स्थायित्वसादृश्यादयो बाह्याः कल्पिता अवभासन्ते, अतो विप्रतिपत्त्यादिव्यवहार इति बाह्यार्थवादमाशङ्क्य निरस्यति— एवमेवेति। यत् प्रमाणसिद्धं तदेव वक्तव्यम्, नहि क्षणिकत्वे किञ्चित् प्रमाणमस्ति। न चेदानीं घट इति प्रत्यक्षमवर्तमानकालासत्त्वं घटस्य गोचरयद् वर्तमानक्षणमात्रसत्त्वरूपे क्षणिकत्वे मानमिति वाच्यम्। तस्य वर्तमानत्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

लोकप्रसिद्ध है। यदि तुम स्थायी द्रष्टाका प्रसंग आनेके भयसे उन्हें न स्वीकार करो, तो तत् तत् आकारवाले क्षणिक विज्ञानोंका परस्पर सम्बन्ध न होनेसे एक धर्मीमें विरुद्ध अनेक पक्षोंकी स्फुरणरूप विप्रतिपत्तिका असम्भव होनेसे स्वपक्षकी साधना या परपक्षका आक्षेप इत्यादि व्यवहार लुप्त हो जायँगे। इसलिए अनुभवके अनुसार ज्ञान और ज्ञेयका भेद स्वीकार करना चाहिए। इसलिए 'तेनेदं सदृशम्' ऐसे बाह्य पदार्थका ज्ञानपूर्वक सादृश्य जाननेवाले आत्माका स्थायित्व दुर्वार है, ऐसा अर्थ है। बाह्य अर्थ हैं, वे क्षणिक अर्थ निर्विकल्पक ज्ञानमें भासते हैं, परन्तु सविकल्पक ज्ञानके विषय स्थायित्व, सादृश्य आदि बाह्य पदार्थ तो कल्पित ही भासते हैं, इससे विप्रतिपत्ति आदि व्यवहार सिद्ध होगा, ऐसी बाह्यार्थवादकी आशङ्का करके उसका निरसन करते हैं— "एवम्" इत्यादिसे। जो प्रमाणसिद्ध है वही कहना चाहिए। बाह्य अर्थ क्षणिक है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है। इदानीं घटः—इस समय घट है, यह प्रत्यक्ष घटका अवर्तमान कालमें असत्त्व दिखलाता है, इससे वर्तमान कालमात्रमें सत्त्वरूप क्षणिकत्व प्रमाणभूत

भाष्य

ततोऽन्यदुच्यमानं बहुप्रलापित्वमात्मनः केवलं प्रख्यापयेत्। न चायं सादृश्यात् संव्यवहारो युक्तः, तद्भावावगमात् तत्सदृशभावानवगमाच्च। भवेदपि

भाष्यका अनुवाद

जाय, तो वह केवल आप बहुप्रलापी हैं, ऐसा सिद्ध करेगा। और सादृश्यसे यह व्यवहार है, यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'वही यह' ऐसा तद्भावका ज्ञान होता है, 'उसके सदृश यह' इस प्रकार तत्सदृशभावका ज्ञान नहीं होता है। बाह्य

भाष्यका अनुवाद

मात्रगोचरत्वेन कालान्तरासत्त्वासिद्धेः। न च यत् सत्, तत् क्षणिकमिति व्याप्तिरस्ति, विद्युदादेरपि द्वित्रिक्षणस्थायित्वेन दृष्टान्ताभावात्। न च स्थायिनमनुमातारमन्तरेणानुमानं सम्भवति, तस्मादनुमानसिद्धार्थवक्ता तथागतोऽश्रद्धेयवचन इत्यर्थः। किञ्च, सादृश्यं प्रत्यभिज्ञायां दोषतया निमित्तम्, विषयतया वा? आद्येऽपि स्वरूपसत्, ज्ञातं वा? नाद्यः, मन्दान्धकारे शुक्तिमात्रग्रहे शैत्याज्ञानेऽपि रूप्याभेदभ्रमापत्तेः। न द्वितीयः, स्थायिज्ञातारं विना तज्ज्ञानासम्भवस्योक्तत्वात्। नापि विषयतया निमित्तमित्याह—न चेति। सोऽहमित्युल्लेखात्तेनाहं सदृश इति अनुल्लेखादित्यर्थः। सोहमिति प्रत्यभिज्ञाया भ्रमत्वं निरस्य संशयत्वं निरस्यति—भवेदिति। जडार्थे प्रत्यभिज्ञातेऽपि बाधसम्भावनया संशयः

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष वर्तमान कालमात्र दिखलाता है, इससे अन्य कालमें असत्त्व सिद्ध नहीं होता। जो सत्—विद्यमान है, वह क्षणिक है, ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है, क्योंकि उसमें दृष्टान्त नहीं है, कारण कि विद्युत् आदि भी दो तीन क्षण स्थायी हैं। और स्थायी अनुमाताके विना अनुमान नहीं हो सकता, इसलिए अनुमानसिद्ध अर्थको कहनेवाले बौद्धका वचन श्रद्धेय नहीं है, ऐसा अर्थ है। और प्रत्यभिज्ञामें सादृश्य दोषरूपसे निमित्त है या विषयरूपसे? प्रथम पक्षमें स्वरूपसत् सादृश्य निमित्त है अथवा ज्ञात सादृश्य? प्रथम पक्षका स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि मन्द अन्धकारमें शुक्तिमात्रका ग्रहण होनेपर शुक्लताका ज्ञान न होनेपर भी चांदीके अभेदभ्रमकी आपत्ति होगी। दूसरा पक्षभी नहीं है, क्योंकि स्थायी ज्ञाताके विना उसके ज्ञानका असम्भव कहा ही है। विषयरूपसे भी वह निमित्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। इसमें 'सोऽहम्' (वही मैं हूं) ऐसा उल्लेख है, 'तेनाहं सदृशः' (मैं उसके सदृश हूँ) ऐसा उल्लेख नहीं है, ऐसा अर्थ है। 'सोऽहम्' इस प्रत्यभिज्ञाके भ्रमत्वका निराकरण करके संशयत्वका निराकरण करते हैं—"भवेत्" इत्यादिसे। जड़ पदार्थोंके प्रत्यभिज्ञात होनेपर भी बाधकी

भाष्य

कदाचिद्बाह्यवस्तुनि विप्रलम्भसंभवात् तदेवेदं स्यात्तत्सदृशं वेति सन्देहः, उपलब्धरि तु सन्देहोऽपि न कदाचिद् भवति—स एवाहं स्यां तत्सदृशो वा इति। य एवाहं पूर्वेद्युरद्राक्षं स एवाहमद्य स्मरामीति निश्चिततद्भावोपलम्भात्। तस्मादप्यनुपपन्नो वैनाशिकसमयः ॥ २५ ॥

भाष्यका अनुवाद

वस्तुमें विप्रलम्भके संभवसे वही यह है, या उसके तरह है, ऐसा कदाचित् संशय होगा भी, परन्तु उपलब्धा आत्मामें तो वही मैं हूँ या उसके सदृश हूँ, ऐसा संदेह कभी भी नहीं होता, क्योंकि जिस मैंने अतीत कालमें देखा, वही मैं अब स्मरण करता हूं, ऐसे निश्चित वही होनेपनेका ज्ञान होता है। इससे भी वैनाशिक दर्शन अनुपपन्न हैं ॥२५॥

रत्नप्रभा

कदाचित् स्यात् नात्मनीत्यर्थः। असन्दिग्धाविपर्यस्तप्रत्यभिज्ञाविरोधादात्मक्षणिकत्वमतमत्यन्तासङ्गतमित्युपसंहरति—तस्मादिति ॥ २५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

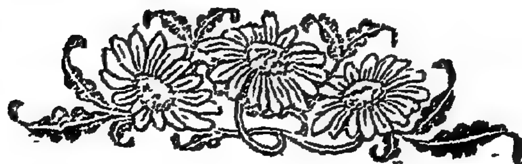
सम्भावनासे कभी संशय हो सकता है, आत्मामें नहीं हो सकता ऐसा अर्थ है। असदिग्ध और अविपर्यस्त प्रत्यभिज्ञाका विरोध होनेसे आत्मा क्षणिक है बौद्धोंका यह मत अत्यन्त असंगत है, इसका उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥ २५ ॥

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

पदच्छेद—न, असतः, अदृष्टत्वात्।

पदार्थोक्ति—असतः—अभावात्, न—कार्योत्पत्तिर्न युक्ता, [कुतः] अदृष्टत्वात्—निरुपाख्यान्नरविषाणादेः कार्योत्पत्तेरदृष्टत्वात्।

भाषार्थ—अभावसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि असत् नरशृङ्ग आदिसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती।



भाष्य

इतश्चानुपपन्नो वैनाशिकसमयः, यतः स्थिरमनुयायि कारणमनभ्युपगच्छतामभावाद्भावोत्पत्तिरित्येतदापद्येत । दर्शयन्ति चाऽभावाद्भावोत्पत्तिम्—'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' इति । विनष्टाद्धि किल बीजादङ्कुर उत्पद्यते, तथा विनष्टात् क्षीराद् दधि, मृत्पिण्डाच्च घटः । कूटस्थाच्चेत् कारणात् कार्यमुत्पद्येताविशेषात् सर्वं सर्वत उत्पद्येत । तस्मादभावग्रस्तेभ्यो बीजादिभ्यो-

भाष्यका अनुवाद

इससे भी वैनाशिक दर्शन अनुपपन्न है, क्योंकि स्थिर, अनुयायी कारणका स्वीकार न करनेवालोंके मतमें अभावसे भावकी उत्पत्ति होगी, ऐसा प्रसङ्ग आवेगा। और ये लोग अभावसे भावकी उत्पत्ति दिखलाते भी हैं—'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' (कारणके नाश हुए विना नहीं, किन्तु कारणके नाश होनेपर ही प्रादुर्भाव होनेसे) विनष्ट बीजसे अङ्कुर उत्पन्न होता है, तथा विनष्ट दूधसे दही उत्पन्न होता है और विनष्ट मृत्तिकाके पिण्डसे घट उत्पन्न होता है। कूटस्थ कारणसे यदि कार्य उत्पन्न हो, तो विशेष न होनेके कारण सब सबसे

रत्नप्रभा

'अभावः शशविषाणवदत्यन्तासन्नित्यङ्गीकृत्य मृदादिनाशादसतो घटादिकं जायते' इति सुगता वदन्ति, तद् दूषयति—नासत इति । न केवलं बलादापाद्यते, किन्तु स्वयं दर्शयन्ति च । द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयतः । मृदादिकं उपमृद्य घटादेः प्रादुर्भावादितीममर्थमाह—विनष्टादिति । कारणविनाशात् कार्यजन्मेत्यत्र युक्तिमाह—कूटस्थादिति । विनाशशून्यात्–नित्यादित्यर्थः । नित्यस्य निरतिशयस्य कार्यशक्तत्वे तत्कार्याणि सर्वाण्येकस्मिन्नेव क्षणे स्युः, तथा चोत्तरक्षणे

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभाव शशविषाणके समान अत्यन्त असत्—अविद्यमान है, ऐसा अङ्गीकार करके मृत्तिकादिनाश जो असत् है, उससे घट आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, ऐसा सौगत कहते हैं, उसको दूषित करते हैं—"नासतः" इत्यादिसे । केवल बलसे प्रसंग आता है, ऐसा नहीं है, परन्तु बौद्ध स्वयं भी दिखलाते हैं । 'नानुपमृद्य' इसमें दो नकार प्रकृत अर्थको दृढ़ करते हैं । मृदादि कारणोंके नाश होनेपर ही घटादि कार्योंकी उत्पत्ति होती है, ऐसा अर्थ कहते हैं—"विनष्टात्"—इत्यादिसे । कारणके विनाशसे कार्यका जन्म होता है, इसमें युक्ति कहते हैं—"कूटस्थात्" इत्यादिसे । 'कूटस्थ'—विनाशशून्य, नित्य । यदि नित्य निरतिशय कार्योत्पादनमें समर्थ हो, तो उसके सभी कार्य एक ही क्षणमें—क्रमके विना उत्पन्न हो जायँगे, इससे उत्तर क्षणोंमें

भाष्य

ङ्कुरादीनामुत्पद्यमानत्वादभावाद्भावोत्पत्तिरिति मन्यन्ते। तत्रेदमुच्यते–'नासतोऽदृष्टत्वात्' इति। नाभावाद्भाव उत्पद्यते, यद्यभावाद्भाव उत्पद्येताऽभावत्वाविशेषात् कारणविशेषाभ्युपगमोऽनर्थकः स्यात्। नहि बीजादीनामुपमृदितानां योऽभावस्तस्याऽभावस्य शशविषाणादीनां च निःस्वभावत्वाविशेषादभावत्वे कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येन बीजादेवाङ्कुरो जायते, क्षीरादेव

भाष्यका अनुवाद

उत्पन्न होगा। इसलिए अभावसे ग्रस्त हुए बीजादिकोंसे अङ्कुर आदिके उत्पन्न होनेसे अभावसे भावकी उत्पत्ति होती है, ऐसा वे मानते हैं। इसपर यह कहते हैं—'नासतोऽदृष्टत्वात्'। अभावसे भाव उत्पन्न नहीं होता, यदि अभावसे भाव उत्पन्न हो, तो अभावत्वके समान होनेसे कारण विशेषका स्वीकार अनर्थक हो जायगा। विनष्ट हुए बीजादिकोंका जो अभाव है, उस अभावमें और शशशृङ्ग आदिमें निःस्वभावत्वकी समानता होनेसे कुछ विशेष नहीं है जिससे कि बीजसे ही अङ्कुर उत्पन्न होता है और क्षीरसे ही दही उत्पन्न होता है, इस

रत्नप्रभा

कार्य्याभावादसत्त्वापत्तिः। न च सहकारिकृतातिशयक्रमात् कार्यक्रम इति युक्तम्। अतिशयस्यातिशयान्तरापेक्षायाम् अनवस्थानात्। अनपेक्षायां कार्यस्याप्यतिशयानपेक्षत्वेन सहकारिवैयर्थ्यात्। तस्मान्न स्थायिभावात् कार्य्यजन्मेत्यर्थः। क्षणिकभावस्य हेतुत्वम् "उत्तरोत्पादे च" (ब्र० सू० २।२।२०) इत्यत्र निरस्तम्। अभावस्य हेतुत्वनिरासार्थं सूत्रं व्याचष्टे—तत्रेदमिति। यदि बीजाभावस्याभावान्तराद्विशेषः स्यात्, तदा विशेषवदभावद्वारा बीजादेवाङ्कुर इति लौकायतिकानामभ्युपगमोऽर्थवान् स्यात्, न सोऽस्तीत्याह—येनेति। सूत्रं योजयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्यके अभावसे कारणके अर्थक्रियाकारी न होनेसे उनके असत् होनेका प्रसंग आवेगा। कारण समर्थ हैं, तो भी सहकारीकी सन्निधिकी अपेक्षासे ही कार्यजनक है, ऐसा कहना युक्त नहीं है। अनपेक्षा माननेमें कार्यको भी अतिशयकी अनपेक्षा होनेसे सहकारी व्यर्थ हो जायगा, इसलिए स्थायी भावसे कार्यका जन्म नहीं होता है, ऐसा अर्थ है। क्षणिक भाव कार्यका हेतु नहीं हो सकता, ऐसा 'उत्तरोत्पादे च' इस सूत्रमें प्रतिपादन किया जा चुका है, अभाव हेतु नहीं हो सकता, ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए यह सूत्र है, उसका व्याख्यान करते हैं—"तत्रेदम्" इत्यादिसे। यदि बीजके अभावमें अन्य अभावसे कुछ विशेष हो, तो विशेषयुक्त अभावके द्वारा बीजसे अङ्कुर होता है, यह लौकायतिकोंका स्वीकार सार्थक हो, परन्तु वह

भाष्य

दधीत्येवंजातीयकः कारणविशेषाभ्युपगमोऽर्थवान् स्यात् । निर्विशेषस्य स्वभावस्य कारणत्वाभ्युपगमे शशविषाणादिभ्योऽप्यङ्कुरादयो जायेरन्, न चैवं दृश्यते । यदि पुनरभावस्यापि विशेषोऽभ्युपगम्येतोत्पलादीनामिव नीलत्वादिस्ततो विशेषवत्त्वादेवाभावस्य भावत्वमुत्पलादिवत् प्रसज्येत । नाऽप्यभावः कस्यचिदुत्पत्तिहेतुः स्यात्, अभावत्वादेव शशविषाणादिवत् । अभावाच्च भावोत्पत्तावभावान्वितमेव सर्वं कार्यं स्यात्, न चैवं दृश्यते । सर्वस्य च वस्तुनः स्वेन स्वेन रूपेण भावात्मनैवोपलभ्यमानत्वात् । न च

भाष्यका अनुवाद

प्रकार के कारणविशेष का स्वीकार प्रयोजनवाला हो । जिससे विशेष चला गया है, ऐसे अभावको कारणरूप माननेसे शशविषाण आदिसे भी अंकुरादि उत्पन्न होंगे, परंतु ऐसा देखनेमें नहीं आता । यदि जैसे नीलत्व आदि कमलके विशेष हैं, वैसे अभावका भी विशेष स्वीकार किया जाय, तो विशेष होनेसे कमल आदिके समान अभावको भी भाव होनेका प्रसंग आवेगा । और अभाव किसीकी उत्पत्तिका हेतु भी नहीं हो सकता, अभाव होनेसे ही शशविषाण आदिके समान । इसी प्रकार यदि अभावसे भावकी उत्पत्ति होती, तो सर्व कार्य अभावसे अन्वित ही होते, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता । क्योंकि सब वस्तुएँ अपने अपने भाव-

रत्नप्रभा

निर्विशेषस्येति । शशविषाणादेः कार्यकारित्वस्यादृष्टत्वान्नाभावस्याऽसतो हेतुत्वमित्यर्थः । अस्त्वभावस्यापि विशेष इत्यत आह—यदीति । अभावस्य हेतुत्वेऽतिप्रसङ्ग इति तर्कमुक्त्वाऽनुमानमाह—नाऽपीति । अभावः न हेतुः, असत्त्वात्, सम्मतवदित्यर्थः । अभावः न प्रकृतिः, कार्याननन्वितत्वाद्, यथा शरावाद्यनन्वितस्तन्तुर्न शरावादिप्रकृतिरिति तर्कमाह—अभावाच्चेति । अतोऽन्वित-

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, ऐसा कहते हैं—"येन" इत्यादिसे । सूत्रकी योजना करते हैं—"निर्विशेषस्य" इत्यादिसे । शशविषाण आदि कार्यकारी नहीं दीखते, इससे अभाव जो असत् है, वह हेतु नहीं हो सकता, ऐसा अर्थ है । अभावमें भी विशेष रहे इस शंकापर कहते हैं—"यदि" इत्यादिसे । अभावको हेतु माननेमें अतिप्रसंग होगा, ऐसा कहकर अनुमान कहते हैं—"नापि" इत्यादिसे । 'अभाव हेतु नहीं है, असत्त्वसे, सम्मतके (शशविषाण आदिके) समान' ऐसा अनुमानका प्रयोग है । अभाव प्रकृति नहीं है, कार्यमें अन्वित न होनेसे, जैसे शराव आदिमें अन्वित न होनेसे तन्तु शराव आदिका हेतु नहीं है ऐसे तर्कको कहते हैं—"अभावाच्च" इत्यादिसे । इसलिए अन्वित होनेसे मिट्टी आदि भाव पदार्थ

भाष्य

मृदन्विताः शरावादयो भावास्तन्त्वादिविकाराः केनचिदभ्युपगम्यन्ते । मृद्विकारानेव तु मृदन्वितान्भावाँल्लोकः प्रत्येति । यत्तूक्तम्—स्वरूपोपमर्दमन्तरेण कस्यचित् कूटस्थस्य वस्तुनः कारणत्वानुपपत्तेरभावाद्भावोत्पत्तिर्भवितुमर्हति—इति । तद् दुरुक्तम्, स्थिरस्वभावानामेव सुवर्णादीनां प्रत्यभिज्ञायमानानां रुचकादिकारणभावदर्शनात्, येष्वपि बीजादिषु स्वरूपोपमर्दो लक्ष्यते, तेष्वपि नाऽसावुपमृद्यमाना पूर्वावस्थोत्तरावस्थायाः कारण-

भाष्यका अनुवाद

स्वरूपसे ही उपलब्ध होती हैं। मृत्तिकासे अन्वित शराव आदि पदार्थ, तन्तु आदिके विकार हैं, ऐसा कोई नहीं मानता। लोक मृत्तिकाके विकारोंको ही मृत्तिकासे अन्वित हुए भावरूपसे ग्रहण करते हैं, स्वरूपके नाशके बिना कोई कूटस्थ वस्तु कारण हो, यह युक्त न होनेसे अभावसे भावकी उत्पत्ति होती है, यह युक्त है, ऐसा जो कहा है, वह अयुक्त कहा है, क्योंकि स्थिर स्वभाववाले प्रत्यभिज्ञायमान सुवर्णादि रुचक आदिके कारण दिखाई देते हैं। जिन बीज आदिमें स्वरूपका नाश दिखाई देता है, वहां भी नष्ट होती हुई पूर्व अवस्था ही उत्तर अवस्थाकी कारण मानी जाती है।

रत्नप्रभा

त्वान्मृदादिर्भाव एव प्रकृतिरित्याह—मृदिति । स्थायिनः कारणत्वायोगमुक्तमनूद्य दूषयति—यत्तूक्तमित्यादिना । अनुभवबलात् स्थिरस्वभावानामेव सहकारिसन्निधिक्रमेण कार्यक्रमहेतुत्वमङ्गीकार्यम् । न च शक्तस्य सहकार्यपेक्षा न युक्तेति वाच्यम्, यतोऽशक्तस्यापि नापेक्षेति असहकारि विश्वं स्यात् । ततः स्वर्णादौ स्वतोऽतिशयशून्येऽग्नितापादिसहकारिकृतातिशयक्रमाद्रुचकादिकार्यक्रमः । न चातिशयस्यातिशयान्तरानपेक्षत्वे, कार्यस्याप्यनपेक्षेति वाच्यम्, पटस्य मृदन-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही प्रकृति है ऐसा कहते हैं—"मृत्" इत्यादिसे। स्थायी पदार्थ कारण नहीं हो सकता है इस पूर्वोक्तका अनुवाद करके दूषित करते हैं—"यत्तूक्तम्" इत्यादिसे। अनुभवबलसे स्थिर भाव पदार्थ ही सहकारीकी संनिधिके क्रमसे कार्यक्रमके हेतु हैं ऐसा अंगीकार करना चाहिए। समर्थको सहकारीकी अपेक्षा नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि असमर्थको भी सहकारीकी अपेक्षा नहीं है ऐसी स्थितिमें सब कार्य सहकारीके बिना ही उत्पन्न हों। उससे स्वतः अतिशय-रहित सुवर्ण आदिके अग्निताप आदि सहकारी द्वारा निष्पादित अतिशयक्रमसे रुचक आदि कार्यक्रमकी उत्पत्ति होती है। एक अतिशयको दूसरे अतिशयकी अपेक्षा न होनेपर कार्यको भी अतिशयकी अपेक्षा नहीं होगी, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि पटको मृत्तिकाकी अपेक्षा न होनेपर कार्यत्वसे

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ।।) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मंगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।



Regd. No. A. 2426

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

Cover printed at the Indian Press, Ltd.,
Benares

अच्युत



२ } संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी {

फाल्गुन पूर्णिमा

अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रति का—॥)

[नोट—दूकानदारों तथा स्थायी ग्राहकोंके लिए २५% कमीशन काटकर ४॥) वार्षिक]

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट काशी।

मुद्रक—द० ल० निघोजकर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।



अच्युत

विषय-सूची-

विषय		पृष्ठ पंक्ति
२६ वाँ सूत्रका अवशिष्ट भाष्य	... ...	१२४७ – २
२७ वाँ सूत्र–उदासीनानामपि०	... ...	१२४८ – १
अभावसे भावोत्पत्तिका खण्डन	... ...	१२४८ – १०
[अभावाधिकरण पृ० १२४९—१२७८]		
पञ्चम अधिकरणका सार	... ...	१२४९ – ६
२८ वाँ सूत्र–नाभाव उपलब्धेः	... ...	१२४९ – १४
'क्षणिक विज्ञान ही तत्त्व है' ऐसा बौद्धवादसे पूर्वपक्ष,	...	१२५० – ५
विज्ञानमात्रवादकी पुष्टिके लिए बाह्यवस्तुका युक्तिपूर्वक खण्डन		१२५१ – २
क्षणिक विज्ञान तत्त्व नहीं है [सिद्धान्त]	...	१२५५ – ६
२९ वाँ सूत्र–वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्	... ...	१२६७ – १३
'बाह्य अर्थके विना ज्ञान होता है' इस विज्ञानवादीकी उक्तिका विस्तारसे खण्डन	... ...	१२६८ – २
३० वाँ सूत्र–न भावोऽनुपलब्धेः	... ...	१२७१ – १४
विज्ञानवादीके मतमें वासनाओंका सद्भाव नहीं हो सकता, इसका उपपादन	... ...	१२७२ – २
३१ वाँ सूत्र–क्षणिकत्वाच्च	... ...	१२७४ – १६
आलय विज्ञानमें क्षणिकत्वका खण्डन	... ...	१२७४ – २३
३२ वाँ सूत्र—सर्वथानुपपत्तेश्च	... ...	१२७८ – १
बौद्धवादमें परस्पर विरोधप्रदर्शन	... ...	१२७८ – ११
[एकस्मिन्नसम्भवाधिकरण पृ० १२७९–१३००]		
षष्ठ अधिकरणका सार	... ...	१२७९ – ६
३३ वाँ सूत्र—नैकस्मिन्नसम्भवात्	... ...	१२८० – १
जैन मतके निरासके लिए संक्षेपतः उनके जीवादि पदार्थोंका और सप्तभङ्गीनयका कथन [पूर्वपक्ष]	...	१२८० – ८
जैन स्वीकृत अभ्युपगमका खण्डन [सिद्धान्त]	...	१२८५ – ३
३४ वाँ सूत्र—एवञ्चात्माऽकार्त्स्न्यम्	... ..	१२९१ – १
जीवको परिच्छिन्न माननेमें दोषका उद्भावन,	...	१२९१ – ११

विषय		पृष्ठ पंक्ति
३५ वाँ सूत्र—न च पर्यायादपि०	... ...	१२९४ – १
जीवके देहपरिमाणत्वका खण्डन	... ...	१२९४ – १४
३६ वाँ सूत्र—अन्त्यावस्थितेः०	... ...	१२९८ – २३
आद्य, मध्यम और अन्त्य परिमाणोंकी समताका कथन	...	१२९९ – ३

[पत्यधिकरण पृ० १३०१–१३१९]

सप्तम अधिकरणका सार ...	... ...	१३०१ – ६
३७ वाँ सूत्र—पत्युरसामञ्जस्यात्	... ...	१३०१ – १०
केवल अधिष्ठातृ ईश्वर कारणवादका निषेध ...	...	१३०२ – २
३८ वाँ सूत्र—सम्बन्धानुपपत्तेश्च	... ...	१३०९ – १
प्रधानादिके साथ ईश्वरका सम्बन्ध नहीं हो सकता है इसका प्रतिपादन	... ...	१३०९ – ८
३९ वाँ सूत्र—अधिष्ठानानुपपत्तेश्च	... ...	१३१२ – १
तार्किकपरिकल्पित ईश्वरकी अनुपपत्तिका प्रदर्शन	...	१३१२ – ८
४० वाँ सूत्र—करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः	... ...	१३१३ – १
ईश्वरको अधिष्ठाता माननेपर उसके भोगादिका प्रसङ्ग	...	१३१३ – १२
४१ वाँ सूत्र—अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा	... ...	१३१६ – १३
अन्य हेतुसे पुनः तार्किककल्पित ईश्वरमें अनुपपत्ति	...	१३१७ – २

[उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण पृ० १३२०–१३३०]

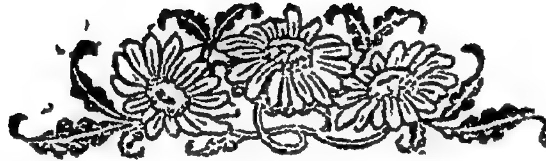
अष्टम अधिकरणका सार ...	... ...	१३२० – ६
४२ वाँ सूत्र—उत्पत्त्यसम्भवात्	... ...	१३२० – १३
खण्डनीय अंशको बतलाते हुए भागवतमतका संक्षेपसे प्रदर्शन		१३२१ – २
असम्मत अंशका खण्डन	... ...	१३२३ – ९
४३ वाँ सूत्र—न च कर्तुः करणम्	... ...	१३२४ – २२
कर्तासे करणकी अनुत्पत्तिका कथन	... ...	१३२५ – २
४४ वाँ सूत्र—विज्ञानादिभावे वा०	... ...	१३२६ – १
प्रकारान्तरसे उत्पत्त्यसम्भवका प्रतिपादन	... ...	१३२६ – ११
४५ वाँ सूत्र—विप्रतिषेधाच्च	... ...	१३२९ – १०
पाञ्चरात्र शास्त्रमें परस्पर विरोधका प्रदर्शन ...	...	१३२९ – ९

द्वितीयाध्यायका तृतीयपाद २३३१

[वियदधिकरण पृ. १३३१–]

प्रथम अधिकरणका सार ...	... ...	१३३० – ६

१ सूत्र—न वियदश्रुतेः ... ... १३३२ - १
आकाशोत्पत्तिके विषयमें पूर्वपक्ष ... ... १३३२ - ८
२ रा सूत्र—अस्ति तु ... ... १३३५ - १
तैत्तरीयश्रुतिमें आकाशकी उत्पत्तिके श्रुत होनेपर भी छान्दोग्य
श्रुतिके साथ उसकी एकवाक्यता नहीं है ... १३३५ - ९
३ रा सूत्र–गौण्यसम्भवात् ... ... १३३७ - २४
आकाशोत्पत्तिश्रुति गौणी है ... ... १३३८ - २
४ था सूत्र—शब्दाच्च ... ... १३४१ - १
श्रुतिसे आकाश अजन्मा है ऐसा प्रतीत होता है ... १४४१ - ९
५ वा सूत्र—स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ... ... १३४२ - १७



ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्गावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्तरुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष २ } फाल्गुन पूर्णिमा १९९१ { अङ्क २

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २७ ॥

पदच्छेद—उदासीनानाम्, अपि, च, एवम्, सिद्धिः ।

पदार्थोक्ति—एवम्—अभावाद् भावोत्पत्त्यङ्गीकारे, उदासीनानामपि—तत्तत्कार्यसाधनेषु अप्रवर्तमानानामपि जनानाम्, सिद्धिः—स्वस्वाभिमतकार्यसिद्धिः स्यात् [अतो वैभाषिकसौत्रान्तिकयोः मतं भ्रान्तिमूलमेवेति सिद्धम्] ।

भाषार्थ—अभावसे भावकी उत्पत्ति माननेमें तत् तत् कार्योंको सिद्ध करनेमे प्रवृत्त न हुए लोगोंके भी अपने अपने अभीष्ट कार्य सिद्ध होंगे । इससे सिद्ध हुआ कि वैभाषिक और सौत्रान्तिकका मत भ्रान्तिमूलक ही है ।

भाष्य

यदि चाऽभावाद् भावोत्पत्तिरभ्युपगम्येत, एवं सत्युदासीनानामनीहमानानामपि जनानामभिमतसिद्धिः स्यात्, अभावस्य सुलभत्वात् । कृषीवलस्य क्षेत्रकर्मण्यप्रयतमानस्याऽपि सस्यनिष्पत्तिः स्यात्, कुलालस्य च मृत्संस्क्रियायामप्रयतमानस्याऽप्यमत्रोत्पत्तिः, तन्तुवायस्याऽपि तन्तून-तन्वानस्याऽपि तन्वानस्येव वस्त्रलाभः । स्वर्गापवर्गयोश्च न कश्चित् कथंचित् समीहेत । न चैतद् युज्यतेऽभ्युपगम्यते वा केनचित् । तस्मादप्यनुपपन्नोऽयमभावाद् भावोत्पत्त्यभ्युपगमः ॥ २७ ॥

भाष्यका अनुवाद

और यदि अभावसे भावकी उत्पत्ति मानी जाय, तो ऐसी स्थितिमें उदासीन—चेष्टाशून्य जनोंके भी अभिमत कार्यकी सिद्धि हो जायगी, क्योंकि अभाव सब जगह सुलभ है । किसानके खेतके कार्यमे प्रयत्न न करनेपर भी उसको अनाजकी प्राप्ति हो जायगी और कुम्हारके मृत्तिकाके संस्कारमें प्रयत्न न करनेपर भी वर्तन उत्पन्न हो जायँगे। और जुलाहेको तन्तुओंकी तानीभरनी न करनेपर भी बुननेवालेकी तरह वस्त्रका लाभ होगा । और स्वर्ग और अपवर्गके लिए कोई भी किसी प्रकारका प्रयत्न न करेगा । यह युक्त नहीं है और कोई ऐसा मानता भी नहीं है । इसलिए अभावसे भावकी उत्पत्तिका स्वीकार अनुपपन्न है ॥ २७ ॥

रत्नप्रभा

अभावादुत्पत्तौ शशविषाणदप्युत्पत्तिः स्यादित्युक्तम् । अतिप्रसंगान्तरमाह—उदासीनानामिति । अनीहमानानां प्रयत्नशून्यानाम् । अमत्रम्—घटादिपात्रम् । तन्वानस्य—व्यापारयतः । तस्माद् भ्रान्तिमूलेन क्षणिकबाह्यार्थवादेन कूटस्थनित्यब्रह्मसमन्वयस्य न विरोध इति सिद्धम् ॥ २७ ॥ (४) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभावसे भावकी उत्पत्ति माननेमें शशविषाणसे भी कार्य्यकी उत्पत्ति होगी, ऐसा कहा जा चुका है । अब अन्य अतिप्रसङ्ग कहते हैं—"उदासीनानाम्" इत्यादिसे । अनीहमानानाम्—चेष्टाशून्य अर्थात् प्रयत्नरहित । अमत्र—घट आदि पात्र । तन्वानस्य—तानीभरनी व्यापार करते हुए । इससे सिद्ध हुआ कि भ्रान्तिमूलक क्षणिक बाह्यपदार्थवादसे कूटस्थ, नित्य ब्रह्मसमन्वयका विरोध नहीं है ॥ २७ ॥

[५ अभावाधिकरण सू० २८—३२]

विज्ञानस्कन्धमात्रत्वं युज्यते वा न युज्यते ।
युज्यते स्वप्नदृष्टान्ताद् बुद्ध्यैव व्यवहारतः ॥१॥
अबाधात् स्वप्नवैषम्यं बाह्यार्थस्तूपलभ्यते ।
बहिर्वदिति तेऽप्युक्तिर्नाऽतो धीरर्थरूपभाक् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—विज्ञानस्कन्धमात्रता युक्त है अथवा नहीं ? अर्थात् केवल विज्ञान ही है बाह्य पदार्थ नहीं हैं बौद्धोंका यह कथन युक्त है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—स्वप्नके दृष्टान्तसे केवल बुद्धिसे ही व्यवहार हो सकता है, इसलिए विज्ञानस्कन्धमात्रता युक्त है ।

सिद्धान्त—स्वप्न दृष्टान्त विषम है, क्योंकि जाग्रत् व्यवहारका बाध नहीं होता, और बाह्यवस्तु उपलब्ध होती है 'बहिर्वत्' यह तुम्हारी उक्ति भी है, अतः बुद्धि पदार्थ-रूप नहीं है ।

नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥

पदच्छेद—न, अभावः, उपलब्धेः ।

पदार्थोक्ति—न अभावः—विज्ञानव्यतिरिक्तानामभावो न संभवति, [कुतः] उपलब्धे —विज्ञानातिरिक्तानामर्थानां 'घटः' 'पटः' इत्याद्यनुभवसिद्धत्वात् ।

भाषार्थ—विज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थोंका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि विज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थ 'यह घट है' 'यह पट है' इत्यादि अनुभवसे सिद्ध हैं ।

---

* निष्कर्ष यह है कि कोई बौद्ध बाह्य अर्थका अपलाप करते हुए केवल विज्ञान ही तत्त्व है ऐसा कहते हैं । उसमें व्यवहारकी अनुपपत्ति भी नहीं है, क्योंकि जैसे स्वप्नमें बाह्य अर्थकी अपेक्षा न करके केवल बुद्धिसे व्यवहार दिखाई देता है, उसी प्रकार जाग्रद् व्यवहारकी भी उपपत्ति होगी । इससे विज्ञानस्कन्धमात्रता युक्त है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—स्वप्न दृष्टान्त विषम है, क्योंकि प्रबोध दशामें स्वप्न व्यवहारका बाध होता है। जाग्रद्व्यवहारका कहींपर भी बाध नहीं देखा जाता है । बाह्य अर्थके सद्भावमें प्रमाणका अभाव है यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उपलब्धि ही प्रमाण है । घट आदि पदार्थ बाह्यरूपसे उपलब्ध होते हैं । यदि कहो कि बुद्धि ही बाह्य घट आदिके समान भासित होती है । कहा है—जो आन्तर ज्ञेय तत्त्व है, वह बाह्यके समान अवभासित होता है । ऐसी स्थितिमें तुम्हारी उक्ति ही बाह्य अर्थके सद्भावमें प्रमाण है ऐसा हम कहते हैं । बाह्य अर्थके अभावमें कहींपर भी उसकी स्थिति न होनेसे 'बहिर्वत्' यह उपमानकी उक्ति सगत नहीं होगी । इससे सिद्ध हुआ कि बाह्य पदार्थोंके सद्भावसे विज्ञानमात्रत्व युक्त नहीं है ।

भाष्य

एवं बाह्यार्थवादमाश्रित्य समुदायाप्राप्त्यादिषु दूषणेषूद्भावितेषु विज्ञानवादी बौद्ध इदानीं प्रत्यवतिष्ठते—केषांचित् किल विनेयानां बाह्ये वस्तुन्यभिनिवेशमालक्ष्य तदनुरोधेन बाह्यार्थवादप्रक्रियेयं विरचिता। नाऽसौ सुगताभिप्रायः। तस्य तु विज्ञानैकस्कन्धवाद एवाऽ-

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार बाह्यार्थवादका आश्रय करके समुदायकी अप्राप्ति आदि दूषणोंके प्रकट किये जानेपर अब विज्ञानवादी बौद्ध विवादके लिये उपस्थित होता है—कितने ही शिष्योंका बाह्य अर्थोंमें अभिनिवेश देखकर उनके अनुरोधसे यह बाह्यार्थवादीकी प्रक्रिया रची गई है। वास्तवमें यह सुगतका

रत्नप्रभा

नाभाव उपलब्धेः। अखण्डनिर्विशेषं ब्रह्म विज्ञानं बाह्यार्थोपादानं वदतां वेदान्तानां भिन्नं साकारं क्षणिकं विज्ञानं न ततोऽन्योऽर्थोऽस्तीति योगाचारमतेन विरुध्यते न वा इति तन्मतस्य मानभ्रान्तिमूलत्वाभ्यां संशये पूर्वोक्तबाह्यार्थवादनिरासम् उपजीव्य पूर्वपक्षमाह—एवमित्यादिना। पूर्वोत्तरपक्षयोः विरोधाविरोधौ फलम्। ननु एकस्य सुगतागमस्य कथं बाह्यार्थसत्त्वासत्त्वयोः तात्पर्यं विरोधाद् इत्याशङ्क्याऽधिकारभेदाद् अविरोध इति वदन् विज्ञानवादिनः सुगताभिप्रायज्ञत्वेन मन्दाधिकारिभ्यो बाह्यार्थवादिभ्यः श्रैष्ठ्यमाह—केषांचिदिति। उक्तं च धर्मकीर्तिना "देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः" इति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"नाभाव उपलब्धेः" इत्यादि। अखण्ड निर्विशेष विज्ञानरूप ब्रह्म बाह्यपदार्थका—जगत्का उपादान है, ऐसा वेदान्त प्रतिपादन करते हैं, उन वेदान्तोंसे विज्ञान भिन्न, साकार और क्षणिक है और उससे अन्य अर्थ नहीं है, इस योगाचार मतका विरोध है या नहीं? योगाचारका मत प्रमाणमूलक है, या भ्रान्तिमूलक है? ऐसा संशय होनेपर पूर्वोक्त बाह्यार्थवादके निराकरणके आधारपर पूर्वपक्ष कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। [पूर्वपक्षमें विज्ञानवादके प्रामाणिक होनेसे उसके साथ विरोध होनेसे वेदान्तसमन्वयकी असिद्धि फल है और सिद्धान्तमें विज्ञानवाद भ्रान्त होनेसे उसके साथ विरोधके आभासमात्र होनेसे वेदान्तसमन्वयकी सिद्धि फल है] इस प्रकार पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षमें क्रमसे वेदान्तसमन्वयके साथ विरोध और अविरोध फल है। परन्तु सुगतका शास्त्र एक है, उसका बाह्य अर्थकी सत्ता और असत्तामें तात्पर्य कैसे है? क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आवेगा, ऐसी आशङ्का करके अधिकारीके भेदसे अविरोध कहते हुए विज्ञानवादी सुगतके अभिप्रायको जानते हैं, इसलिए वे मन्द अधिकारी बाह्यार्थवादीसे श्रेष्ठ हैं, ऐसा कहते हैं—"केषांचित्" इत्यादिसे। और

भाष्य

भिप्रेतः। तस्मिंश्च विज्ञानवादे बुद्ध्यारूढेन रूपेणाऽन्तःस्थ एव प्रमाणप्रमेयफलव्यवहारः सर्व उपपद्यते, सत्यपि बाह्येऽर्थे बुद्ध्यारोहमन्तरेण प्रमाणादिव्यवहारानवतारात्। कथं पुनरवगम्यतेऽन्तःस्थ एवाऽयं सर्वव्यवहारो न विज्ञानव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थोऽस्तीति, तदसंभवा-

भाष्यका अनुवाद

अभिप्राय नहीं है। उनको तो केवल विज्ञानस्कन्धवाद ही इष्ट है। उस विज्ञानवादके बुद्धिमें आरूढ़ होनेसे प्रमाण, प्रमेय, फल रूप अन्तःस्थ सब व्यवहार उपपन्न होते हैं, क्योंकि बाह्य अर्थके होनेपर भी बुद्धिमें आरूढ़ हुए विना प्रमाण आदि व्यवहार नहीं हो सकते। परन्तु यह कैसे समझा जाता है कि सब व्यवहार अन्तःस्थ ही हैं और विज्ञानसे भिन्न बाह्य अर्थ

रत्नप्रभा

सुगतानाम् उपदेशाः शिष्यमत्यनुसारिण इत्यर्थः। ननु असति बाह्यार्थे मानमेयव्यवहारः कथम्? तत्राह—तस्मिन्निति। विज्ञानमेव कल्पितनीलाद्याकारत्वेन प्रमेयम्, अवभासात्मना मानफलम्, शक्त्यात्मना मानम्, शक्त्याश्रयत्वाकारेण प्रमाता इति भेदकल्पनया व्यवहार इत्यर्थः। मुख्य एव भेदः किं न स्यात्? अत आह—सत्यपीति। नहि बुद्ध्यनारूढस्य नीलादेः प्रमेयत्वव्यवहारोऽस्ति, अतो बुद्ध्यारूढाकार एव प्रमेयम्, न बाह्यम् इत्यर्थः। बाह्यार्थासत्त्वे प्रश्नपूर्वकं युक्तीः उपन्यस्यति—कथमित्यादिना। ज्ञेयं ज्ञानातिरेकेणाऽसत् तदतिरेकेणाऽसम्भवाद् नरशृङ्गवदित्याह—तदसम्भवादिति। असम्भवं

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्मकीर्तिने कहा है कि—"देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः" अर्थात् सुगतके उपदेश शिष्योंकी मतिके अनुसार होते हैं। यदि कोई कहे कि बाह्य अर्थोंके अभावमें प्रमाण और प्रमेयका व्यवहार कैसे होगा? इसपर कहते हैं—"तस्मिन्" इत्यादिसे। विज्ञान ही कल्पित नील आदि आकाररूपसे प्रमेय है, अवभासस्वरूपसे प्रमाणफल—प्रमिति है, शक्तिस्वरूपसे प्रमाण है और शक्तिके आश्रयरूपसे प्रमाता है, इस प्रकार भेदकी कल्पनासे व्यवहार होगा, ऐसा अर्थ है। मुख्य ही भेद क्यों नहीं है, इसपर कहते हैं—"सत्यपि" इत्यादिसे। इसमें सन्देह नहीं कि बुद्धिमें आरूढ न हुए नील आदिका प्रमेयरूपसे व्यवहार नहीं होता, इसलिए बुद्धिमें आरूढ हुआ आकार ही प्रमेय है बाह्य अर्थ प्रमेय नहीं है, ऐसा अर्थ है। बाह्य अर्थके असत्त्वमें प्रश्नपूर्वक युक्तिका उपन्यास करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। ज्ञेय ज्ञानातिरिक्त नहीं है, उससे अतिरिक्तरूपसे उसका सम्भव न होनेसे, नरशृङ्गके समान, ऐसा कहते हैं—"तदसम्भ-

भाष्य

दित्याह—स हि बाह्योऽर्थोऽभ्युपगम्यमानः परमाणवो वा स्युः, तत्समूहा वा स्तम्भादयः स्युः। तत्र न तावत् परमाणवः स्तम्भादिप्रत्ययपरिच्छेद्या भवितुमर्हन्ति, परमाण्वाभासज्ञानानुपपत्तेः। नाऽपि तत्समूहाः स्तम्भादयः, तेषां परमाणुभ्योऽन्यत्वानन्यत्वाभ्यां निरूपयितुमशक्यत्वात्। एवं जात्यादीनपि प्रत्याचक्षीत। अपि चाऽनुभवमात्रेण साधा-

भाष्यका अनुवाद

नहीं है? उसका सम्भव न होनेसे ऐसा कहते हैं। क्योंकि बाह्य पदार्थ माना जाय तो वह परमाणुरूप होगा अथवा परमाणुसमूह स्तम्भ आदिरूप होगा। उनमें परमाणु स्तम्भादिके ज्ञानसे परिच्छेद्य—ज्ञानके विषय नहीं हो सकते, क्योंकि अतीन्द्रिय होनेसे परमाणु जिसके आभास—आकार हों ऐसा ज्ञान अनुपपन्न है। उसी प्रकार बाह्य अर्थ स्तम्भादि उनके (परमाणुओंके) समूह भी नहीं हैं, क्योंकि उनका परमाणुओंसे अन्यरूपसे या अनन्यरूपसे निरूपण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जाति आदिका भी प्रत्याख्यान करना चाहिये। और अनुभवमात्रसे सब

रत्नप्रभा

विवृणोति—स हीति। परमाणवः चेत् एकस्थूलस्तम्भ इति ज्ञानं न स्यात समूहः तु असन् इत्यर्थः। अवयव्यभावेऽपि जात्यादयो बाह्यार्थाः स्युः, तत्राह—एवमिति। जातिगुणकर्मणां धर्मिणः सकाशाद् अभेदेऽत्यन्तभेदे वा धर्मिवद् धर्म्यन्तरवच्च न धर्मधर्मिभावः, भेदाभेदौ च विरुद्धाविति न सन्ति जात्याद्यर्था इत्यर्थः। किञ्च, ज्ञानस्य ज्ञेयसारूप्यरूपविशेषसम्बन्धाभावे सर्वविषयत्वापत्तेः विशेषोऽङ्गीकार्यः। तथा च ज्ञानगतविशेषस्यैव ज्ञानेन विषयीकरणाद् न बाह्यार्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वात्" इत्यादिसे। असम्भवका विवरण करते हैं—"स हि" इत्यादिसे। यदि बाह्य अर्थ परमाणुरूप हो, तो एक स्थूल स्तम्भ है ऐसा ज्ञान नहीं होगा, और समूह हो, तो अत्यन्त असत् अविद्यमान ही है, ऐसा अर्थ है। बाह्य अर्थ परमाणु या अवयवी भले न हो, परन्तु जात्यादि तो होगा, उसपर कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। बाह्य अर्थ जाति, गुण या कर्म नहीं है, क्योंकि बाह्य अर्थ जाति, गुण और कर्म धर्मोंसे अभिन्न है, या अत्यन्त भिन्न है? यदि अभिन्न मानो, तो जाति, गुण और कर्म धर्मीसे (बाह्य अर्थसे) अभिन्न होनेसे धर्मी होंगे और अत्यन्त भिन्न होनेसे अन्य धर्मी होंगे, धर्म नहीं, क्योंकि धर्म किसी धर्मीसे अत्यन्त भिन्न नहीं है। इस प्रकार बाह्य अर्थ और जाति गुण और कर्ममें धर्मधर्मिभाव न होगा। उसी प्रकार बाह्य अर्थ जाति, गुण और कर्मसे भिन्न हैं और अभिन्न हैं, ऐसा भेदाभेद मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि विरोध आवेगा, इसलिए जाति आदि पदार्थ नहीं हैं ऐसा अर्थ है। और ज्ञानका ज्ञेयके साथ सारूप्यरूप विशेष सम्बन्ध न माननेसे सर्वविषयत्व प्राप्त होगा, इसलिए विशेषका अङ्गीकार करना

भाष्य

रणात्मनो ज्ञानस्य जायमानस्य योऽयं प्रतिविषयं पक्षपातः स्तम्भज्ञानं कुड्यज्ञानं घटज्ञानं पटज्ञानमिति, नाऽसौ ज्ञानगतविशेषमन्तरेणोपपद्यत इत्यवश्यं विषयसारूप्यं ज्ञानस्याऽङ्गीकर्तव्यम्। अङ्गीकृते च तस्मिन् विषयाकारस्य ज्ञानेनैवाऽवरुद्धत्वादपार्थिका बाह्यार्थसद्भावकल्पना। अपि च सहोपलम्भनियमादभेदो विषयविज्ञानयोरापतति, नह्यनयोरेकस्याऽनुपलम्भेऽन्यस्योपलम्भोऽस्ति, न चैतत् स्वभावविवेके युक्तं प्रति-

भाष्यका अनुवाद

विषयोंमें साधारणस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, तो स्तम्भज्ञान, कुड्यज्ञान, घटज्ञान, पटज्ञान, ऐसा जो प्रतिविषय पक्षपात होता है, वह ज्ञानगत विशेषके विना नहीं हो सकता, इसलिए ज्ञानमें विषयका सादृश्य है, ऐसा अवश्य अङ्गीकार करना चाहिए। और ज्ञानमें विषयके सारूप्यका अङ्गीकार करनेपर विषयके आकारके ज्ञानसे ही अवरुद्ध होनेसे बाह्य अर्थका सद्भाव है ऐसी कल्पना निरर्थक है। और विषय और विज्ञानकी एकही साथ उपलब्धि होती है, इस नियमसे उनका अभेद प्राप्त होता है, क्योंकि उन दोनोंमेंसे—ज्ञान और ज्ञेयमेंसे एककी उपलब्धि न होनेपर अन्यकी उपलब्धि

रत्नप्रभा

सिद्धिः, मानाभावात् गौरवात् च इत्याह—अपि चेति। पक्षपातः—विषयविशेषवैशिष्ट्यव्यवहारः। किञ्च, ज्ञेयं ज्ञानाभिन्नम्, ज्ञानोपलम्भक्षणनियतोपलम्भग्राह्यत्वात्, ज्ञानवद् इत्याह—अपि चेति। ज्ञानार्थयोः वास्तवभेदेऽपि सहोपलम्भनं स्यात्, ग्राह्यग्राहकभावादित्यत आह—न चैतदिति। क्षणिकज्ञानस्याऽर्थेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए। किसी भी नियामकके विना विषयविषयिभाव ही उपपन्न न होगा। नियामक न हो, तो सब ज्ञानका सब विषय हो, इसलिए यह ज्ञानका विषय है, ऐसे नियमके लिए अर्थकी ज्ञानाकारता स्वीकार करनी ही चाहिए। इस प्रकार ज्ञानगत विशेष को ही ज्ञान विषय करता है, इससे बाह्य अर्थ असिद्ध है, क्योंकि बाह्य अर्थके अस्तित्वमें कोई प्रमाण नहीं है और उसके स्वीकार करनेमें गौरव होता है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। पक्षपात—ज्ञान विषयविशेषसे विशिष्ट है, ऐसा व्यवहार। और ज्ञेय ज्ञानसे अभिन्न है, ज्ञानोपलम्भक्षणमें नियत उपलम्भसे ग्राह्य होनेसे, ज्ञानके समान, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। परन्तु ज्ञान और ज्ञेयका वास्तविक भेद स्वीकार करनेपर भी सहोपलब्धि होगी, क्योंकि दोनोंमें ग्राह्यग्राहकभाव सम्बन्ध है, इसपर कहते हैं—"न चैतत्" इत्यादिसे।

भाष्य

बन्धकारणाभावात्, तस्मादप्यर्थाभावः। स्वप्नादिवच्चेदं द्रष्टव्यम्। यथा हि स्वप्नमायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिप्रत्यया विनैव बाह्येनाऽर्थेन ग्राह्यग्राहकाकारा भवन्ति, एवं जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया भवितुमर्हन्तीत्यवगम्यते, प्रत्ययत्वाविशेषात्। कथं पुनरसति बाह्यार्थे प्रत्ययवैचित्र्यमुपपद्यते, वासनावैचित्र्यादित्याह। अनादौ हि संसारे बीजाङ्कुरवद् विज्ञानानां वासनानां चाऽन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन वैचित्र्यं न विप्रतिपिध्यते। अपि चाऽन्वयतिरेकाभ्यां वासनानिमित्तमेव

भाष्यका अनुवाद

नहीं होती है। और दोनोंके स्वभाव—स्वरूपके भिन्न होनेपर यह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिबन्धका कारण नहीं है। इससे भी अर्थका अभाव है। और स्वप्नादिके समान यह समझना चाहिए। जैसे स्वप्न, माया, मृगजल, गन्धर्वनगर आदिके ज्ञान बाह्य अर्थके विना ही ग्राह्य और ग्राहकके आकारमें परिणत होते हैं, उसी प्रकार जाग्रदवस्थामें होनेवाले स्तम्भ आदि ज्ञान भी हो सकते हैं, ऐसा समझा जाता है, क्योंकि दोनों समानरूपसे प्रत्यय हैं। परन्तु बाह्य अर्थके अभावमें प्रत्ययोंकी विचित्रता किस प्रकार उपपन्न होती है? वासनाओंकी विचित्रतासे होती है, ऐसा कहते हैं, क्योंकि अनादि संसारमें बीज और अङ्कुरके समान विज्ञानों और वासनाओंके परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावसे उनकी

रत्नप्रभा

सम्बन्धहेत्वभावान्न ग्राह्यग्राहकभाव इत्यर्थः। किञ्च, जाग्रद्विज्ञानं न बाह्यालम्बनम्, विज्ञानत्वात्, स्वप्नादिज्ञानवदित्याह—स्वप्नेति। विज्ञानानां वैचित्र्यानुपपत्तिबाधितमनुमानमिति शङ्कते—कथमिति। अन्यथोपपत्त्या परिहरति—वासनेति। अनादिसन्तानान्तर्गतपूर्वज्ञानमेव—वासना तद्वशाद् अनेकक्षण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्षणिक ज्ञानका अर्थके साथ सम्बन्ध होनेमें हेतु न होनेसे ग्राह्यग्राहकभाव नहीं है, ऐसा अर्थ है। और जाग्रद्विज्ञान बाह्य अर्थके आलम्बनसे नहीं होता, विज्ञान होनेसे, स्वप्न आदि विज्ञानके समान, ऐसा कहते हैं—"स्वप्न" इत्यादिसे। यह अनुमान प्रत्ययवैचित्र्यकी अनुपपत्तिरूप अर्थापत्तिसे बाधित है, ऐसी सौत्रान्तिक शंका करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। ज्ञानवैचित्र्य बाह्यार्थ वैचित्र्यके विना—बाह्यार्थ स्वीकार किये विना भी उपपन्न होगा, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"वासना" इत्यादिसे। अनादि सन्तानके अन्तर्गत जो पूर्वज्ञान है, वही वासना है, वासनाके बलसे अनेक क्षणोंका व्यवधान होनेपर भी नीलाद्याकार-

भाष्य

ज्ञानवैचित्र्यमित्यवगम्यते, स्वप्नादिष्वन्तरेणाऽप्यर्थं वासनानिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्योभाभ्यामप्यावाभ्यामभ्युपगम्यमानत्वात् अन्तरेण तु वासनामर्थनिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्य मयाऽनभ्युपगम्यमानत्वात्, तस्मादप्यभावो बाह्यार्थस्येति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—'नाभाव उपलब्धेः' इति । न खल्वभावो बाह्यस्याऽर्थस्याऽध्यवसातुं शक्यते । कस्मात् ? उपलब्धेः । उपलभ्यते हि

भाष्यका अनुवाद

विचित्रताका निषेध नहीं किया जा सकता है और अन्वय और व्यतिरेकसे ज्ञानवैचित्र्य वासनानिमित्तक ही समझा जाता है, क्योंकि स्वप्नादिमें अर्थके अभावमें भी ज्ञानवैचित्र्य वासनानिमित्तक ही है, ऐसा हम दोनों स्वीकार करते हैं और वासनाके विना अर्थनिमित्त ज्ञानवैचित्र्य है, ऐसा तो मैं स्वीकार नहीं करता, इससे भी बाह्य अर्थका अभाव है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'नाऽभावः उपलब्धेः' । बाह्य अर्थके अभावका निश्चय करना अशक्य है, किससे ? इससे कि उसकी उपलब्धि

रत्नप्रभा

व्यवधानेऽपि नीलाद्याकारज्ञानवैचित्र्यं भवति, यथा बीजवासनया कार्पासरक्तत्वम्, तद्वदित्यर्थः । उभयवादिसम्मतत्वाच्च वासना एव ज्ञानवैचित्र्यहेतवो न बाह्यार्था इत्याह—अपि चेति ।

क्षणिकविज्ञानमात्रवादस्य मानमूलत्वात् तेन नित्यविज्ञानवादो विरुध्यते इति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—नाभाव इत्यादिना । किं बाह्यार्थस्याऽनुपलब्धेरभावः उत ज्ञानाद् भेदेनाऽनुपलब्धेः । नाद्य इत्युक्तम्—उपलब्धेरिति । द्वितीयं

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाला ज्ञानवैचित्र्य होता है । कैसे ? जैसे कि बीजकी वासनासे कपास रक्त होता है, ऐसा अर्थ है । और वासना उभयवादियोंकी—बाह्यार्थवादी और विज्ञानवादीकी सम्मत है, इससे वही ज्ञानवैचित्र्यका हेतु है, बाह्य अर्थ ज्ञानवैचित्र्यके हेतु नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे ।

इस प्रकार क्षणिकविज्ञानवादके मानमूलक होनेसे उसके साथ नित्यविज्ञानवाद—वेदान्तवादका विरोध है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"नाभाव उपलब्धेः" इत्यादिसे । बाह्य अर्थका अभाव किस प्रकारका है, बाह्य अर्थके अनुपलब्ध होनेसे बाह्य अर्थका अभाव है, या बाह्य अर्थके ज्ञानसे अतिरिक्त अनुपलब्ध होनेसे बाह्य अर्थका

भाष्य

प्रतिप्रत्ययं बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुड्यं घटः पट इति, न चोपलभ्यमानस्यैवाऽभावो भवितुमर्हति। यथा हि कश्चिद् भुञ्जानो भुजिसाध्यायां तृप्तौ स्वयमनुभूयमानायामेवं ब्रूयान्नाऽहं भुञ्जे न वा तृप्यामीति, तद्वदिन्द्रियसंनिकर्षेण स्वयमुपलभमान एव बाह्यमर्थं नाहमुपलभे न च सोऽस्तीति ब्रुवन् कथमुपादेयवचनः स्यात्। ननु नाऽहमेवं ब्रवीमि न कंचिदर्थमुपलभ इति, किं तूपलब्धिव्यतिरिक्तं नोपलभ इति ब्रवीमि। बाढमेवं ब्रवीपि निरङ्कुशत्वात्ते तुण्डस्य, न तु युक्त्युपेतं ब्रवीपि, यत उपलब्धिव्यतिरेकोऽपि बलादर्थस्याऽभ्युपगन्तव्य उपलब्धेरेव। नहि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भः कुड्यं चेत्युपलभते, उपलब्धिविषयत्वेनैव तु स्तम्भकुड्यादीन् सर्वे लौकिका

भाष्यका अनुवाद

होती है, प्रत्येक ज्ञानमें स्तम्भ, कुड्य, घट, पट, ऐसे बाह्य अर्थ उपलब्ध होते हैं और जो उपलभ्यमान है, उसका ही अभाव हो, यह युक्त नहीं है। जैसे कोई पुरुष भोजन करता हुआ भोजनसाध्य तृप्तिका स्वयं अनुभव करता हुआ यह कहे कि मैं भोजन नहीं करता, और मैं तृप्त नहीं होता, वैसे ही इन्द्रियसन्निकर्षसे स्वयं बाह्य पदार्थका अनुभव करता हुआ मैं बाह्य अर्थोंका अनुभव नहीं करता और वह अर्थ नहीं है, ऐसा कहता हुआ पुरुषका वचन उपादेय कैसे हो सकता है। परन्तु कोई अर्थ उपलब्ध नहीं होता, ऐसा मैं नहीं कहता, किन्तु उपलब्धिसे अतिरिक्त अर्थ उपलब्ध नहीं होता, ऐसा कहता हूँ। निस्सन्देह तुम ऐसा कहते हो, क्योंकि तुम्हारा मुँह निरंकुश है। परन्तु जो तुम कहते हो वह युक्त नहीं है, क्योंकि अर्थकी उपलब्धिसे भेद भी बलात् स्वीकार करना पड़ेगा, उपलब्धिसे ही। क्योंकि कोई भी उपलब्धिको ही स्तम्भ या कुड्यरूपसे उपलब्ध नहीं करता। परन्तु स्तम्भ कुड्य आदिको उपलब्धिके विषयरूपसे ही सब

रत्नप्रभा

शङ्कते—ननु नाऽहमिति। ज्ञानज्ञेययोः विषयिविषयभावेन भेदस्य साक्षिप्रत्यक्षसिद्धत्वात् प्रत्यक्षविरुद्धमभेदाभिधानमित्याह—बाढमित्यादिना। त्वद्-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभाव है? इनमें प्रथम पक्ष नहीं कह सकते, ऐसा कहते हैं—"उपलब्धेः" इत्यादिसे। तब ज्ञानसे भिन्नरूपसे बाह्य अर्थ अनुपलब्ध है, ऐसे द्वितीय पक्षकी शंका करते हैं—"ननु नाऽहम्" इत्यादिसे। ज्ञान और ज्ञेयके विषयी और विषय होनेसे उनका भेद साक्षीको—आत्माको प्रत्यक्षसिद्ध है, इसलिए ज्ञान और ज्ञेय अभिन्न हैं, यह कहना

भाष्य

उपलभन्ते। अतश्चैवमेव सर्वे लौकिका उपलभन्ते यत्प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वदवभासत इति। तेऽपि सर्वलोकप्रसिद्धां बहिरवभासमानां संविदं प्रतिलभमानाः प्रत्याख्यातु-कामाश्च बाह्यमर्थं बहिर्वदिति वत्कारं कुर्वन्ति। इतरथा हि कस्माद् बहिर्वदिति ब्रूयुः। नहि विष्णुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासत इति कश्चिदाचक्षीत। तस्माद् यथानुभवं तत्त्वमभ्युपगच्छद्भिर्बहिरेवाऽवभासत इति युक्तमभ्युप-गन्तुं न तु बहिर्वदवभासत इति। ननु बाह्यस्याऽर्थस्याऽसंभवाद् बहिर्व-

भाष्यका अनुवाद

लोग जानते हैं। और इससे भी सब लोग इसी प्रकारसे उपलब्धि करते हैं बाह्य अर्थोंका प्रत्याख्यान करते हुए भी उनका ऐसा व्याख्यान करते हैं कि जो अन्तःज्ञेयरूप है, उनका बहिर्वत् अवभास होता है। वे भी सर्व-लोकप्रसिद्ध बाहर अवभास होती हुई उपलब्धिको मानते हैं। और बाह्य अर्थका प्रत्याख्यान करते हुए 'बहिर्वत्' इस प्रकार 'वत्' का प्रयोग करते हैं। नहीं तो बहिर्वत् ऐसा वे क्यों कहते? विष्णुमित्र वन्ध्यापुत्रसा भासता है, ऐसा कोई नहीं कहता। इसलिए अनुभवके अनुसार तत्त्व स्वीकार करनेवालोंको बाह्य अर्थका ही अवभास होता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए, और बहिर्वत् भासता है, ऐसा स्वीकार युक्त नहीं है। परन्तु बाह्य अर्थके असम्भवसे बहिर्वत्

रत्नप्रभा

चनादपि जना बाह्यार्थं ज्ञानाद् भेदेनैव उपलभन्त इत्याह—अतश्चेति। बाह्यार्थस्य अत्यन्तासत्त्वे प्रत्यक्षोपलम्भायोगात् दृष्टान्तत्वासम्भवाच्च बहिर्वच्छब्दो न स्यादि-त्याह—इतरथेति। अबाधितभेदानुभवाद् एवकारो युक्तो न वत्कार इत्याह—तस्मादिति। ज्ञेयार्थो ज्ञानातिरेकेणाऽसन् असम्भवाद् इत्युक्तबाधाद् वत्करणमिति शङ्कते—नन्विति। कोऽसौ असम्भवः असत्त्वं वा, असत्त्वनिश्चयो वा, अयुक्तत्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रत्यक्षज्ञानसे विरुद्ध है, ऐसा कहते हैं—"बाढम्" इत्यादिसे। तुम्हारे वचनसे भी लोक बाह्य अर्थका भेदसे ही स्वीकार करते हैं, ऐसा कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। बाह्य अर्थ यदि अत्यन्त असत्—अविद्यमान हो, तो उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि न होगी और दृष्टान्तरूपके असम्भव होनेसे 'बहिर्वत्' शब्दका प्रयोग नहीं होगा, ऐसा कहते हैं—"इतरथा" इत्यादिसे। इस प्रकार अबाधित भेदके अनुभवसे एवकार ही युक्त है, वत्कार युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। ज्ञेयार्थ ज्ञानसे अतिरिक्त नहीं है, असंभवसे, ऐसा बाध कहा है,

भाष्य

दवभासत इत्यध्यवसितम् । नाऽयं साधुरध्यवसायो यतः प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्तिपूर्वकौ संभवासंभवाववधार्येते न पुनः संभवासंभवपूर्विके प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्ती । यद्धि प्रत्यक्षादीनामन्यतमेनाऽपि प्रमाणेनोपलभ्यते तत् संभवति, यत्तु न केनचिदपि प्रमाणेनोपलभ्यते तन्न संभवति । इह तु यथास्वं

भाष्यका अनुवाद

भासता है, ऐसा निश्चय किया गया है, यह निश्चय साधु नहीं है, क्योंकि प्रमाणकी प्रवृत्तिसे सम्भवका और प्रमाणकी अप्रवृत्तिसे असम्भवका निश्चय किया जाता है, सम्भव और असम्भवसे प्रमाणकी प्रवृत्ति और अप्रवृत्तिका निश्चय नहीं किया जाता है । प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमेंसे एक प्रमाणसे जो उपलब्ध होता है, उसका सम्भव होता है । और जो किसी भी प्रमाणसे उपलब्ध नहीं होता है, उसका सम्भव नहीं होता है । यहां तो स्वभावके अनुसार सब

रत्नप्रभा

वा, उत्कटकोटिकसंशयात्मकसम्भवस्य अभावो वा ? नाद्यः, साध्याभेदात् । न द्वितीयः, स्थूलौ घटस्तम्भाविति समूहालम्बने स्थूलत्वद्वित्वघटत्वस्तम्भत्वरूपविरुद्धधर्मवतोः अर्थयोरस्थूलाद् एकस्माद् द्वयावगाहिविज्ञानाद् भेदसत्त्वनिश्चयेनाऽसम्भवासिद्धिरित्याह—नाऽयं साधुरिति । सम्भवः—सत्तानिश्चयः प्रमाणाधीनः, असम्भवः असत्त्वनिश्चय. प्रमाणाभावाधीनः न वैपरीत्यमिति व्यवस्थामेव स्फुटयति—यद्धीति । उक्तव्यवस्थायाः फलं बाह्यार्थस्य प्रत्यक्षादिभिः सम्भवं वदन्नेव तृतीयं दूषयति—इहेति । प्रमाणनिश्चितबाह्यार्थस्य स्तम्भादेः परमाणुभ्यो भेदा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए वरकरण है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । यह असम्भव क्या है ? असत्त्व है, या असत्त्वनिश्चय है, अथवा अयुक्तत्व है या उत्कटकोटिकसंशयात्मक सम्भवका अभाव है ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं—असम्भवका अर्थ असत्त्व नहीं है, क्योंकि बाह्य अर्थका असत्त्व ही साध्य है । और वही साधक होता है । द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है [असत्त्वनिश्चय, ऐसा भी असम्भवका अर्थ नहीं है] क्योंकि 'स्थूल घट और स्तम्भ' ऐसे समूहावलम्बन ज्ञानमें स्थूलत्व, द्वित्व, घटत्व, स्तम्भत्व, ऐसे विरुद्ध धर्मवाले दो अर्थ अस्थूल, एकद्वयावगाही विज्ञानसे भिन्न हैं, ऐसा निश्चय होनेसे—भेदके सत्त्वका निश्चय होनेसे—असत्त्वनिश्चयरूप असम्भव असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"नायं साधुः" इत्यादिसे । 'सम्भव'—सत्तानिश्चय प्रमाणके अधीन है और 'असम्भव'—असत्त्वनिश्चय प्रमाणके अभावके अधीन है, इससे विपरीत नहीं, ऐसी व्यवस्थाको स्फुट करते हैं—"यद्धि" इत्यादिसे । उक्त व्यवस्थाके फल प्रत्यक्षादिसे बाह्य अर्थके सम्भवको कहते हुए तृतीय पक्षको—असम्भव अयुक्तत्व है, इस

भाष्य

सर्वैरेव प्रमाणैर्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादिविकल्पैर्न संभवतीत्युच्येतोपलब्धेरेव। न च ज्ञानस्य विषयसारूप्याद् विषयनाशो भवति, असति विषये विषयसारूप्यानुपपत्तेः, बहिरुपलब्धेश्च

भाष्यका अनुवाद

प्रमाणोंसे बाह्य अर्थ उपलब्ध होता है, तो व्यतिरेक और अव्यतिरेक आदि विकल्पोंसे, उसका सम्भव नहीं है, ऐसा विकल्प कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि उपलब्ध होता ही है। और ज्ञानमें विषयका सारूप्य होनेसे विषयका नाश नहीं हो जाता, क्योंकि विषयके अभावमें विषयके सारूप्यका सम्भव नहीं

रत्नप्रभा

भेदविकल्पैः अयुक्तत्वमात्रेण असत्त्वनिश्चयो न युक्तस्त्वत्पक्षेऽप्ययुक्तत्वस्य तुल्यत्वात्। नहि अस्थूलस्य एकस्य विज्ञानस्य स्थूलानेकसमूहालम्बनस्य विषयाभेदो युक्तः, स्थूलत्वानेकत्वप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः, समूहालम्बनोच्छेदे विज्ञानानां मिथो वार्तानभिज्ञतया विषयद्वित्वादिव्यवहारलोपापत्तेः। तस्मादयुक्तत्वेऽपि यथानुभवं व्यवहारयोग्योऽर्थः स्वीकार्यः। न चतुर्थः, निश्चिते तादृशसम्भवस्य अनुपयोगात् तस्य क्वचित् प्रमाणप्रवृत्तेः पूर्वाङ्गत्वादिति भावः। यच्चोक्तं ज्ञानगतार्थसारूप्यस्य एव ज्ञानालम्बनत्वोपपत्तेर्बहिरर्थाभाव इति, तत्राह—**न चेति**। यत्तु गौरवमुक्तम्। तन्न दूषणम्, प्रामाणिकत्वादित्याह—**बहिरिति**। यत एव

रत्नप्रभाका अनुवाद

पक्षको दूषित करते हैं—"इद्" इत्यादिसे। प्रमाणसे निश्चित बाह्य अर्थ स्तम्भादि परमाणुसे या परमाणुसमूहसे भिन्न वा अभिन्न है। इस प्रकार भेद और अभेदके विकल्पसे बाह्यार्थका अयुक्तत्व सिद्ध करके उसका असत्त्व निश्चित करना युक्त नहीं है, क्योंकि तुम्हारे पक्षमें (ज्ञान ज्ञेयसे अभिन्न है, इस पक्षमें) भी अयुक्तत्व तुल्य है, क्योंकि स्थूल अनेक अर्थोंके समूहके आलम्बनसे जो अस्थूल, एक विज्ञान होता है, वह विषयसे अभिन्न होता है, यह युक्त नहीं, क्योंकि युक्त हो, तो विज्ञानके भी स्थूल और अनेक होनेका प्रसंग आवेगा। और यह प्रसङ्ग इष्ट नहीं है, क्योंकि ज्ञान समूहावलम्बन है, उसके उच्छिन्न होनेपर विज्ञानके परस्पर असम्बद्ध होनेसे विषय, द्वित्व आदि व्यवहारके लोप होनेका प्रसङ्ग आवेगा। इसलिए अयुक्तत्वपक्षमें भी अनुभवके अनुसार व्यवहारयोग्य अर्थका स्वीकार करना ही पड़ेगा। चतुर्थपक्ष—उत्कटकोटिकसंशयात्मक संभवका अभाव भी युक्त नहीं है, क्योंकि बाह्य अर्थका निश्चय होनेसे वैसे सम्भवका उपयोग नहीं है। प्रतिपदार्थ ज्ञानकी व्यवस्थाके लिए ज्ञानमें विषयसारूप्य है, ऐसा ज्ञानगत अर्थ सारूप्य ही ज्ञानका आलम्बन युक्त होनेसे बाह्य अर्थका अभाव है, ऐसा जो कहा है, उसपर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे।

भाष्य

विषयस्य। अत एव सहोपलम्भनियमोऽपि प्रत्ययविषययोरुपायोपेयभावहेतुकः नाऽभेदहेतुक इत्यभ्युपगन्तव्यम्। अपि च घटज्ञानं पटज्ञानमिति विशेषणयोरेव घटपटयोर्भेदो न विशेष्यस्य ज्ञानस्य, यथा शुक्लो गौः कृष्णो गौरिति शौक्ल्यकार्ष्ण्ययोरेव भेदो न गोत्वस्य, द्वाभ्यां च भेद एकस्य सिद्धो भव-

भाष्यका अनुवाद

है, और विषय बाहर उपलब्ध होता है। इसीलिए ज्ञान और विषय एक साथ उपलब्ध होते हैं, यह नियम भी उपायोपेयभावहेतुक है, अभेदहेतुक नहीं है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। और घटज्ञान, पटज्ञान इनमें घट और पट विशेषणोंका ही भेद है, विशेष्यज्ञानका भेद नहीं है। जैसे शुक्ल गाय, कृष्ण गाय, इसमें शुक्लत्व और कृष्णत्वका ही भेद है, गोत्वका भेद नहीं है। एकका

रत्नप्रभा

ज्ञानार्थयोः भेदः सर्वलोकसाक्ष्यनुभवसिद्धः अत एव सहोपलम्भनियमोऽपि नाऽभेदसाधक इत्याह—अत एवेति। यथा चाक्षुषद्रव्यरूपस्य आलोकोपलम्भनियतोपलब्धिकत्वेऽपि न आलोकाभेदः, तथाऽर्थस्य न ज्ञानाभेदः, भेदेऽपि ग्राह्यग्राहकभावेन नियमोपपत्तेः। न च ज्ञानस्य क्षणिकत्वात् स्वभिन्नग्राह्यसम्बन्धायोगः स्थायित्वाद् इति भावः। विज्ञानम् अनेकार्थेभ्यो भिन्नम्, एकत्वाद्, गोत्ववदिति सत्प्रतिपक्षमाह—अपि चेति। न च हेत्वसिद्धिः ज्ञानं ज्ञानमित्येकाकारप्रतीतेः ज्ञानैक्यनिश्चयात्। न च सा जातिविषया, व्यक्तिभेदानिश्चयाद् इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

और जो कल्पनागौरव कहा है, वह भी दूषण नहीं है, क्योंकि प्रामाणिक है, ऐसा कहते हैं—"बहिः" इत्यादिसे। और ज्ञान और अर्थका भेद सर्वलोकमें साक्षी—अनुभवसे सिद्ध होनेसे साथ-साथ उपलब्धि होनेका नियम भी ज्ञान और ज्ञेयके अभेदका साधक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अत एव" इत्यादिसे। जैसे नेत्रके विषयरूपकी उपलब्धि आलोकके साथ होती है, इसलिए आलोकसे रूप अभिन्न नहीं है, इसी प्रकार अर्थ ज्ञानसे अभिन्न नहीं है। भेद माननेपर भी ग्राह्यग्राहकभाव सम्बन्धसे सहोपलब्धिका नियम हो सकता है। ज्ञानके क्षणिक होनेसे स्वाभिन्नग्राह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह ठीक नहीं, क्योंकि वे स्थायी हैं ऐसा तात्पर्य है। विज्ञान अनेक अर्थोंसे भिन्न है, एक होनेसे, गोत्वके समान, इस प्रकार पूर्वपक्षीसे सत्प्रतिपक्षको कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। और हेतु असिद्ध है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ज्ञान, ज्ञान, ऐसी एकाकार प्रतीतिसे ज्ञानका ऐक्य निश्चित होता है और यह प्रतीति जातिविषयक है, ऐसा भी नहीं समझना चाहिए, क्योंकि व्यक्तिभेदका निश्चय नहीं होता है,

भाष्य

त्येकस्माच्च द्वयोः, तस्मादर्थज्ञानयोर्भेदः। तथा घटदर्शनं घटस्मरणमित्यत्राऽपि प्रतिपत्तव्यम्, अत्राऽपि हि विशेष्ययोरेव दर्शनस्मरणयोर्भेदो न विशेषणस्य घटस्य। यथा क्षीरगन्धः क्षीररस इति विशेष्ययोरेव गन्धरसयोर्भेदो न विशेषणस्य क्षीरस्य तद्वत्। अपि च द्वयोर्विज्ञानयोः पूर्वोत्तरकालयोः स्वसंवेदनेनैवोपक्षीणयोरितरेतरग्राह्यग्राहकत्वानुपपत्तिः,

भाष्यका अनुवाद

दोसे भेद सिद्ध होता है और एकसे दोका भेद सिद्ध होता है, इसलिए अर्थ और ज्ञानका भेद है। वैसे ही घटदर्शन और घटस्मरण इसमें भी समझना। यहां भी दर्शन और स्मरण जो विशेष्य हैं, उनका ही भेद है, विशेषण घटका भेद नहीं है। जैसे कि क्षीरगन्ध, क्षीररस, इनमें विशेष्य गन्ध और रसका ही भेद है, विशेषण क्षीरका भेद नहीं है। और पूर्वकालीन और उत्तरकालीन ये दो विज्ञान स्वसंवेदनसे ही उपक्षीण हो जाते हैं, अतः इनमें परस्पर ग्राह्यग्राहक-

---

रत्नप्रभा

न विशेष्यस्येति। घटादेश्चैतन्याद् भेदम् उक्त्वा वृत्तिज्ञानाद् भेदमाह—तथेति। घटः द्वाभ्यां भिन्नः, एकत्वात्, क्षीरवदित्यर्थः। ज्ञानभिन्नार्थानङ्गीकारे स्वशास्त्रव्यवहारलोपं बाधकमाह—अपि चेति। क्रमिकयोः स्वप्रकाशयोः क्षणिकज्ञानयोः मिथो ग्राह्यग्राहकत्वम् अयुक्तम् अनभ्युपगतं च। तथा च तयोः भेदप्रतिज्ञा न युक्ता धर्मिप्रतियोगिनोर्मिथः परेण चाग्रहेण भेदग्रहायोगात्। तथा च तयोर्भेदग्राहकः स्थाय्यात्मा तद्भिन्न एव एष्टव्यः। एवं पक्षसाध्यहेतुदृष्टान्तभेदाभावे इदं क्षणिकम् असदिति प्रतिज्ञा न युक्ता। सर्वतो व्यावृत्तं व्यक्तिमात्रत्वं स्वलक्षणम् अनेकानुगतं सामान्यम् अतद्व्यावृत्तिरूपमिति प्रतिज्ञा न युक्ता। सर्वानेका-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"न विशेष्यस्य" इत्यादिसे। घटादि चैतन्यसे भिन्न हैं, ऐसा कहकर वृत्तिज्ञानसे भी वे भिन्न हैं, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। घट दोसे भिन्न हैं, एक होनेसे, क्षीरके समान, ऐसा अर्थ है। और अर्थ ज्ञानसे भिन्न हैं, ऐसा अङ्गीकार न करो, तो अपने (बुद्धके) शास्त्रके व्यवहारका लोपरूप बाधक होता है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। क्रमिक और स्वप्रकाश क्षणिक ज्ञान परस्पर ग्राह्यग्राहक हों, यह युक्त नहीं है और स्वीकृत भी नहीं है। इसी प्रकार विज्ञानभेद प्रतिज्ञा भी युक्त नहीं है, धर्मी और प्रतियोगीमें परस्पर एकका दूसरेसे ग्रहण न होनेसे भेदग्रह नहीं हो सकता है, इसलिए उनका भेदग्राहक स्थायी आत्मा उनसे भिन्न मानना चाहिए। इस प्रकार पक्ष, साध्य, हेतु और दृष्टान्तमें भेद

भाष्य

ततश्च विज्ञानभेदप्रतिज्ञा क्षणिकत्वादिधर्मप्रतिज्ञा स्वलक्षणसामान्यलक्षण-वास्यवासकत्वाविद्योपप्लवसदसद्धर्मबन्धमोक्षादिप्रतिज्ञाश्च स्वशास्त्रगतास्ता हीयेरन्। किंचाऽन्यत्, विज्ञानं विज्ञानमित्यभ्युपगच्छता बाह्योऽर्थः

भाष्यका अनुवाद

भाव हों, यह युक्त नहीं है, अतः विज्ञानभेदकी प्रतिज्ञा, क्षणिकत्व आदि धर्मोंकी प्रतिज्ञा, स्वलक्षणप्रतिज्ञा, सामान्यलक्षणप्रतिज्ञा, वास्यवासकत्वप्रतिज्ञा, अविद्याके संसर्गसे सदसद्धर्मप्रतिज्ञा और बन्धमोक्ष आदि प्रतिज्ञा जो स्वशास्त्रमें हैं, उन सबकी हानि होगी। और दूसरी बात, विज्ञान, विज्ञान इस प्रकार

रत्नप्रभा

र्थानां ज्ञानमात्रत्वेन मिथः परेण वा दुर्ज्ञानत्वात्। उत्तरनीलज्ञानं वास्यं पूर्वनील-ज्ञानं वासकमिति प्रतिज्ञा न युक्ता, तयोर्भिन्नस्य ज्ञातुरभावात्। किञ्च, अविद्योपप्लवः अविद्यासंसर्गः तेन नीलमिति सद्धर्मः, नरविषाणमिति असद्धर्मः, अमूर्तमिति सदसद्धर्मः, सतो विज्ञानस्याऽसतो नरविषाणस्य वाऽमूर्तत्वादिति प्रतिज्ञा दुर्लभा, अनेकार्थज्ञानसाध्यत्वात्। अज्ञानेनाऽस्य बन्धो ज्ञानेनाऽस्य मोक्ष इति च प्रतिज्ञा बह्वर्थज्ञानसाध्या। आदिपदेन सामान्यत इष्टं ग्राह्यम् अनिष्टं त्याज्यम् इति शिष्यहितोपदेशोऽनेकज्ञानसाध्यो गृहीतः। तस्मात् प्रतिज्ञादिव्यवहाराय ग्राहक-भेदोऽङ्गीकार्य इत्यर्थः। ज्ञानार्थयोः भेदे युक्त्यन्तरमस्तीत्याह—किञ्चाऽन्य-दिति। ज्ञानवदर्थस्याऽप्यनुभवाविशेषात् स्वीकारो न युक्त इत्यर्थः। स्वविषयत्वाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

न होनेसे 'इदं क्षणिकमसत्' (यह क्षणिक है, असत् है) ऐसी प्रतिज्ञा ठीक नहीं है। सबसे व्यावृत्त व्यक्तिमात्र स्वलक्षण है, इस प्रकार सामान्य जो अनेकानुगत है और अतद्व्यावृत्तिरूप है, वह भी अनेक ज्ञानलभ्य है, ऐसी प्रतिज्ञा युक्त नहीं है। सब और अनेक अर्थ ज्ञानमात्र होनेसे परस्पर या परसे दुर्ज्ञेय हैं। उत्तर नीलज्ञान वास्य है और पूर्व नीलज्ञान वासक है, यह भी प्रतिज्ञा युक्त नहीं है, क्योंकि उनसे भिन्न ज्ञाताका अभाव है, वास्यवासकभाव भी अनेकज्ञानसाध्य है। अविद्यासंसर्गके बलसे जो सदसद्धर्मत्व—नीलरूप सद्धर्म, नरविषाण असद्धर्म, अमूर्त सदसद्धर्म है। सत् विज्ञान और असत् नरविषाण दोनोंके अमूर्त होनेसे यह प्रतिज्ञा दुर्लभ है, क्योंकि यह अनेक अर्थके ज्ञानसे साध्य है। और अज्ञानसे इसका बन्ध होता है और ज्ञानसे इसका मोक्ष है, यह भी प्रतिज्ञा बह्वर्थज्ञानसाध्य है। 'बन्धमोक्षादि-प्रतिज्ञा' इसमें स्थित आदिसे सामान्यतः इष्ट ग्राह्य है और अनिष्ट त्याज्य है, इस प्रकार शिष्यके हितका उपदेश अनेकज्ञानसाध्य है, इसका ग्रहण है। इसलिए प्रतिज्ञा आदि व्यव-हारके लिए ग्राह्यग्राहकभेदका अङ्गीकार करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। और ज्ञान और अर्थके

भाष्य

स्तम्भः कुड्यमित्येवंजातीयकः कस्मान्नाऽभ्युपगम्यते इति वक्तव्यम्। विज्ञानमनुभूयते इति चेत्, बाह्योऽप्यर्थोऽनुभूयत एवेति युक्तमभ्युपगन्तुम्। अथ विज्ञानं प्रकाशात्मकत्वात् प्रदीपवत् स्वयमेवानुऽभूयते न तथा बाह्योऽप्यर्थ इति चेत्, अत्यन्तविरुद्धां स्वात्मनि क्रियामभ्युपगच्छस्यग्निरात्मानं दहतीतिवत्। अविरुद्धं तु लोकप्रसिद्धं स्वात्मव्यतिरिक्तेन विज्ञानेन बाह्योऽर्थोऽनुभूयत इति नेच्छस्यहो पाण्डित्यं महद् दर्शितम्। न चाऽर्था-

भाष्यका अनुवाद

स्वीकार करते हुए तुम स्तम्भ, कुड्य आदि बाह्य अर्थका स्वीकार क्यों नहीं करते ? यह तुम्हें कहना चाहिए। विज्ञानका अनुभव होता है, ऐसा यदि कहो, तो बाह्य अर्थका भी अनुभव होता ही है, ऐसा स्वीकार करना उचित है। विज्ञान प्रकाशात्मक होनेसे प्रदीपके समान स्वतः ही बुद्धिमें जैसे आरूढ होता है, उस प्रकार बाह्य अर्थ अनुभवमें आरूढ नहीं होते, ऐसा यदि कहो, तो अग्नि आत्माको जलाती है, इसके समान, अपनी आत्मामें अत्यन्त विरुद्ध क्रिया का स्वीकार करते हो, परन्तु अपनेसे (वस्तुसे) व्यतिरिक्त ज्ञानसे बाह्य अर्थ अनुभवमें आता है, ऐसी अविरुद्ध और लोकप्रसिद्ध बातको तुम नहीं मानते, अहो ! तुमने

रत्नप्रभा

विज्ञानं स्वीक्रियते नाऽर्थः परग्राह्यत्वादिति शङ्कते—अथ विज्ञानमिति। विरुद्धं स्वीकृत्य अविरुद्धं त्यजता बौद्धतनयेन मौढ्यं दर्शितमित्याह—अत्यन्तेति। ज्ञानं स्ववेद्यम् इति अङ्गीकृत्य मौर्ख्यमापादितम्, वस्तुतः स्ववेद्यत्वम् अयुक्तमित्याह—न चेति। कर्त्तरि क्रियां प्रति गुणभूते प्रधानत्वाख्यकर्मत्वायोगात् स्वकर्तृकवेदनकर्मत्वम् असदित्यर्थः। न च स्वविषयत्वमात्रं स्ववेद्यत्वमिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

भेद सिद्ध करनेमें अन्य युक्ति भी है ऐसा कहते हैं—"किञ्चाऽन्यत्" इत्यादिसे। ज्ञानके समान अर्थका भी अनुभव है, दोनोंमें कुछ विशेष न होनेसे अर्थका भी स्वीकार ठीक है, ऐसा अर्थ है। परन्तु विज्ञान स्वको विषय करता है—इससे उसका स्वीकार किया है, अर्थका स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि वह परग्राह्य है, ऐसी शंका करते हैं—"अथ विज्ञानम्" इत्यादिसे। विरुद्धका स्वीकार करके और अविरुद्धका त्याग करके बौद्धोंके बच्चोंने मूढता दिखलाई है, ऐसा कहते हैं—"अत्यन्त" इत्यादिसे। ज्ञान स्ववेद्य है, ऐसा अङ्गीकार करके मूर्खता दिखलाई है, क्योंकि वस्तुतः स्ववेद्यत्व अयुक्त है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। कर्त्ता जो क्रियाके प्रति गुणभूत है, वही कर्म प्रधान हो, यह युक्त नहीं है, इसलिए स्वकर्तृक

भाष्य

व्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयमेवाऽनुभूयते, स्वात्मनि क्रियाविरोधादेव । ननु विज्ञानस्य स्वरूपव्यतिरिक्तग्राह्यत्वे तदप्यन्येन ग्राह्यं तदप्यन्येनेत्यनवस्था प्राप्नोति। अपि च प्रदीपवदवभासात्मकत्वाद् ज्ञानस्य ज्ञानान्तरं कल्पयतः समत्वादवभास्यावभासकभावानुपपत्तेः कल्पनानर्थक्यमिति । तदुभयमप्यसत् । विज्ञानग्रहणमात्र एव विज्ञानसाक्षिणो ग्रहणाकाङ्क्षानुत्पादादन-

भाष्यका अनुवाद

महान् पाण्डित्य दिखलाया। अर्थसे अतिरिक्त भी विज्ञान अपने आप ही अनुभवमें आता है, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि अपनेमें क्रियाका विरोध है ही। परन्तु विज्ञान अपनेसे अतिरिक्तसे ग्राह्य हो, तो वह भी अन्यसे ग्राह्य होगा और वह भी अन्यसे, इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होती है। और ज्ञानके प्रदीपके समान अवभासात्मक होनेसे ज्ञानके अन्य ज्ञानकी कल्पना करनेवालेके मतमें दोनों ज्ञानोंके समान होनेसे उनमें अवभास्यभाव और अवभासकभाव उपपन्न न होगा अतः कल्पना अनर्थक होगी—ये दोनों शंकाएँ ठीक नहीं हैं, क्योंकि विज्ञानके ग्रहणमात्रमें ही विज्ञानसाक्षीके ग्रहणकी आकांक्षाके उत्पन्न

रत्नप्रभा

वाच्यम् । अभेदे विषयविषयित्वस्याऽपि असम्भवादिति भावः । ज्ञानस्य स्ववेद्यत्वाभावे दोषद्वयं स्यादिति शङ्कते—नन्विति । अनवस्था च साम्यञ्चेति दोषद्वयं परिहरति—तदुभयमपीति । अनित्यज्ञानस्य जन्मादिमत्त्वेन घटवद् जडस्य स्वेन स्वीयजन्मादिग्रहायोगाद् अस्ति ग्राहकाकाङ्क्षा । साक्षिणस्तु सत्तायां स्फूर्तौ च निरपेक्षत्वाद् न अनवस्था, नापि साम्यम्, चिज्जडत्ववैषम्यादित्यर्थः । साक्षी

रत्नप्रभाका अनुवाद

वेदनकर्मत्व असत् है, ऐसा अर्थ है। और स्ववेद्यत्व अर्थात् स्वविषयत्व—ज्ञान ही विषय और विषयी है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ज्ञान और ज्ञेयका अभेद माननेसे विषयविषयित्वका भी असम्भव हो जायगा, ऐसा तात्पर्य है। परन्तु ज्ञानके स्ववेद्यत्व न स्वीकार करनेसे दो दोष होंगे, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। अनवस्था और साम्य दो दोषोंका परिहार करते हैं—"तदुभयमपि" इत्यादिसे। अनित्य ज्ञानके जन्म आदि होते हैं, इससे वह घटके समान जड होनेसे आप ही अपने जन्मादिका ग्रहण करे, यह युक्त नहीं है, इसलिए ग्राहककी आकांक्षा है। परन्तु साक्षीको सत्ता और स्फूर्तिमें अन्यकी अपेक्षा न होनेसे अनवस्था नहीं है। इसी प्रकार प्रदीप और ज्ञानमें समता नहीं है, क्योंकि प्रदीप जड है और ज्ञान चिद्रूप है, यह वैषम्य है, ऐसा अर्थ है। साक्षी कहां है, उसके लिए कहते

भाष्य

वस्थाशङ्कानुपपत्तेः, साक्षिप्रत्यययोश्च स्वभाववैषम्यादुपलब्ध्रुपलभ्यभावोपपत्तेः। स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात्। किंचाऽन्यत्, प्रदीपवद्विज्ञानमवभासकान्तरनिरपेक्षं स्वयमेव प्रथत इति ब्रुवताऽप्रमाणगम्यं विज्ञानमनवगन्तृकमित्युक्तं स्यात्, शिलाघनमध्यस्थप्रदीपसहस्रप्रथनवत्। बाढमेवम्, अनुभवरूपत्वात्तु विज्ञानस्येष्टो नः पक्षस्त्वयाऽनुज्ञायत इति चेत्,

भाष्यका अनुवाद

न होनेसे अनवस्थाकी शंका नहीं होती है, साक्षी और ज्ञान ये स्वभावसे विषम हैं, अतः उन दोनोंमें उपलब्धा और उपलभ्यका भाव उपपन्न होता है। और स्वयंसिद्ध साक्षीका प्रत्याख्यान करना युक्त नहीं है। और दूसरी बात, प्रदीपके समान विज्ञानको अन्य अवभासककी अपेक्षा नहीं है, वह स्वयं ही प्रकाशित होता है, ऐसा कहनेसे विज्ञान अप्रमाणगम्य है और इसका ज्ञाता नहीं है, ऐसा उक्त होगा, शिलाघनके मध्यमें स्थित सहस्र प्रदीपके प्रकाशके समान। यह ठीक है, परन्तु विज्ञानके अनुभवरूप होनेसे हमारा अभिमत पक्ष

रत्नप्रभा

केत्यत आह—स्वयंसिद्धस्येति। निरपेक्षस्य साक्षिणोऽसत्त्वे क्षणिकविज्ञानभेदासिद्धेः सोऽङ्गीकार्य इत्यर्थः। अनित्यज्ञानस्वरूपसाधकत्वाच्च साक्षी स्वीकार्य इत्याह—किञ्चेति। विज्ञानं ज्ञानान्तरानपेक्षमिति ब्रुवता तस्याऽप्रामाणिकत्वम् उक्तं स्यात्, स्वयं प्रथते इति ब्रुवता ज्ञातृशून्यत्वं चोक्तं स्यात्, तथा च ज्ञातृज्ञानाविषयत्वाच्छिलास्थप्रदीपवदसदेव विज्ञानं स्यात्, अतस्तत्साक्षी एष्टव्य इत्यर्थः। विज्ञानस्य स्वान्यज्ञातृशून्यत्वम् इष्टमेव त्वयाऽऽपाद्यते, न चाऽसत्त्वापत्तिः ज्ञात्रभावादिति वाच्यम्, स्वस्यैव ज्ञातृत्वादिति शाक्यः शङ्कते—बाढमिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"स्वयंसिद्धस्य" इत्यादिसे। निरपेक्ष साक्षी न हो, तो क्षणिकविज्ञानभेद असिद्ध होगा, इसलिए उसका अंगीकार करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। और दूसरी बात यह भी है कि अनित्य ज्ञानके स्वरूपका साधक होनेसे भी साक्षीका स्वीकार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"किञ्च" इत्यादिसे। विज्ञान अन्यज्ञानकी अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा यदि कहो, तो विज्ञान अप्रामाणिक है ऐसा कहा जायगा, और ज्ञान अपने आप प्रकाशित होता है, ऐसा कहनेसे ज्ञान साक्षी रहित है—ज्ञातृशून्य है, ऐसा कहा जायगा। ज्ञाता और ज्ञान दोनोंका विषय न होनेसे विज्ञानके शिलस्थ प्रदीपके समान असत् होनेसे साक्षी आवश्यक है, ऐसा अर्थ है। परन्तु विज्ञानका अपनेसे दूसरा ज्ञाता नहीं—यह कहते हुए तुम हमारे इष्टका ही प्रतिपादन

भाष्य

न, अन्यस्याऽवगन्तुश्चक्षुःसाधनस्य प्रदीपादिप्रथनदर्शनात्, अतो विज्ञानस्याऽप्यवभास्यत्वाविशेषात् सत्येवाऽन्यस्मिन्नवगन्तरि प्रथनं प्रदीपवदित्यवगम्यते। साक्षिणोऽवगन्तुः स्वयंसिद्धतामुपक्षिपता स्वयं प्रथते विज्ञानमित्येष एव मम पक्षस्त्वया वाचोयुक्त्यन्तरेणाऽऽश्रित इति चेत्, न;

भाष्यका अनुवाद

तुमने मान लिया ऐसा यदि कहो, तो वह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि नेत्र जिसका साधन है, ऐसे अन्य ज्ञाताको प्रदीप आदिका ज्ञान होता है, ऐसा देखनेमें आता है। इसलिये विज्ञान भी प्रदीपके समान अवभास्य है, इसमें कोई विशेष नहीं है—अतः किसी अन्य ज्ञाताके रहनेपर ही उसका प्रकाश प्रदीपके समान होता है, ऐसा समझा जाता है। साक्षी ज्ञाता स्वयंसिद्ध है, ऐसा निर्देश करते हुए तुमने 'विज्ञान स्वतः प्रकाशित होता है' मेरे पक्षका ही वाचो युक्तिविशेषसे आश्रयण किया है। ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि विज्ञानमें

रत्नप्रभा

अभेदे ज्ञातृज्ञेयत्वायोगात् ज्ञात्रन्तरम् आवश्यकमिति परिहरति—नेति। विमतं विज्ञानं स्वातिरिक्तवेद्यम्, वेद्यत्वाद् देहवदित्यर्थः। अतिरिक्तः साक्षी किमन्यवेद्यः स्ववेद्यो वा? आद्ये अनवस्था, द्वितीये विज्ञानवाद एव भङ्ग्यन्तरेणोक्तः स्यादिति शङ्कते—साक्षिण इति। त्वया विज्ञानं जन्मविनाशयुक्तमुच्यते। अतः कार्यस्य जडत्वनियमात् स्वातिरिक्तवेद्यत्वम् अस्माभिः साधितं कूटस्थचिदात्मनो ग्राहकान-

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हो, उसी प्रकार ज्ञाताके अभावसे विज्ञान असत् है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आप ही ज्ञाता है, ऐसी शाक्य शंका करता है—"बाढम्" इत्यादिसे। ज्ञान आपका आपही ज्ञाता हो, ऐसा अभेद हो, तो ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व युक्त न होगा इसलिए अन्य ज्ञाता आवश्यक हैं, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। विमत विज्ञान स्वान्यवेद्य है, वेद्य होनेसे, देहके समान, ऐसा अर्थ है। ज्ञानसे अतिरिक्त जो साक्षी है, वह अन्यवेद्य है या स्ववेद्य है? यदि अन्यवेद्य हो, तो वह भी अन्यवेद्य होगा, इस प्रकार अनवस्था होगी। यदि उसे स्ववेद्य मानें तो विज्ञानवाद ही अन्य प्रकारसे स्वीकृत हुआ, ऐसी शंका करते हैं—"साक्षिण." इत्यादिसे। विज्ञान जन्मनाशयुक्त है, ऐसा तुम कहते हो, इसलिए कार्य जड है, ऐसा नियम होनेसे वह स्वान्यवेद्य है, ऐसा हमने सिद्ध किया। कूटस्थ चिदात्माको ग्राहककी अपेक्षा न होनेसे अनवस्था नहीं है, ऐसा भी कहा है, इसलिए हम दोनोंके

भाष्य

विज्ञानस्योत्पत्तिप्रध्वंसानेकत्वादिविशेषवत्त्वाभ्युपगमात् । अतः प्रदीपवद् विज्ञानस्याऽपि व्यतिरिक्तावगम्यत्वमस्माभिः प्रसाधितम् ॥ २८ ॥

भाष्यका अनुवाद

उत्पत्ति, नाश, अनेकत्व इत्यादि विशेष हैं ऐसा मेरा स्वीकार है। इसलिए प्रदीपके समान विज्ञान भी स्वभिन्नसे ज्ञेय है, ऐसा हमने सिद्ध किया है[1] ॥२८॥

रत्नप्रभा

पेक्षत्वाद् नाऽनवस्थेति चोक्तम्, अतो महद् वैलक्षण्यमावयोरिति परिहरति—न विज्ञानस्येति ॥२८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पक्षमें महान् विलक्षणता है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न विज्ञानस्य" इत्यादिसे ॥२८॥

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥

पदच्छेद—वैधर्म्यात्, च, न, स्वप्नादिवत् ।

पदार्थोक्ति—च-अपि, वैधर्म्यात्—स्वप्नादिप्रत्ययस्य जाग्रत्प्रत्ययस्य च बाधिताबाधित विषयत्वरूपवैधर्म्यात् न स्वप्नादिवत्—न स्वप्नादिदृष्टान्तेन निरालम्बनत्वं जाग्रत्प्रत्ययस्य भवितुमर्हति ।

भाषार्थ—जाग्रत्ज्ञान और स्वप्नादिज्ञानके अबाधित और बाधितविषयत्वरूप वैधर्म्यसे स्वप्न आदिके दृष्टान्तसे जाग्रत्ज्ञान निराधार नहीं हो सकता ।

(१) ग्रन्थका यह अभिप्राय है—यद्यपि वेदान्ती क्षणिक विज्ञानवादको स्वीकार करना नहीं चाहते, तथापि उनसे माना गया साक्षी अन्तमें विज्ञानवादमें ही पर्यवसन्न होता है, क्योंकि अनवस्था दोषके भयसे स्वप्रकाश सर्वावभासक विज्ञानरूप (साक्षी) मानना होगा। इससे वेदान्तियोंका मत प्रायः बौद्धवादसे मिलता है ऐसा प्रतीत होता है। तथापि बौद्धके विज्ञानवाद और वेदान्तवादमें महान् अन्तर है, क्योंकि वेदान्तियोंके मतमें स्थायी नित्य स्वयप्रकाश स्वतःसिद्ध एक विज्ञान माना गया है, और बौद्धमतमें अनित्य क्षणिक अनेक विज्ञान हैं। अतः बौद्धमतसे विज्ञानको स्वयप्रकाश नहीं कह सकते। संसारमें अनुभव होता है कि जो फल (कार्य) है, उसके जड़ होनेके कारण वह स्ववेद्य नहीं हो सकता। यह स्मरण रखना चाहिये कि—साक्षीरूप ज्ञान नित्य सिद्ध होनेपर भी ईश्वरके विभागसे विभक्त होनेके कारण जीवत्वावच्छेदेन आवरण माना गया है, और उसका (आवरणका) अन्तःकरणवृत्तिसे विनाशके विना घटादिका ज्ञान नहीं हो सकता है, अतः आत्मदर्शनके पूर्व सर्वज्ञतापत्ति नहीं है।

भाष्य

यदुक्तम्-बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनाऽर्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषात् इति, तत् प्रतिवक्तव्यम्। अत्रोच्यते—न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। किं पुनर्वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति, नह्यस्ति

भाष्यका अनुवाद

स्वप्न आदि अवस्थाके ज्ञानके समान जाग्रदवस्थामें हुए स्तम्भ आदि ज्ञान भी बाह्य अर्थके विना ही हों, यह युक्त है, क्योंकि दोनोंमें प्रत्ययत्व समान है, ऐसा बाह्य अर्थके निषेध करनेवालेने जो कहा है, उसका प्रत्याख्यान करना चाहिए। उसपर कहते हैं—स्वप्न आदिके ज्ञानके समान जाग्रदवस्थाके ज्ञान हों, यह युक्त नहीं है। किससे? वैधर्म्य होनेसे। क्योंकि स्वप्न और जाग्रदवस्थाके प्रत्ययोंमें वैधर्म्य है। परन्तु वह वैधर्म्य क्या है? बाध और अबाध, ऐसा हम कहते हैं, क्योंकि स्वप्नमें उपलब्ध हुई वस्तु जाग्रत् हुएको

रत्नप्रभा

एवं वेद्यविज्ञानवदर्थस्याऽप्युपलब्धेर्न बाह्यार्थाभाव इत्युक्तम्, संप्रति जाग्रद्विज्ञानं, स्वप्नादिविज्ञानवत् न बाह्यालम्बनम् इति अनुमानं दूषयति—वैधर्म्याच्चेति। किमत्र निर्विषयत्वं साध्यम् उत पारमार्थिकविषयशून्यत्वम्, अथवा व्यावहारिकविषयशून्यत्वम्। नाद्यः, स्वप्नादिविभ्रमाणामपि मिथ्यार्थालम्बनत्वेन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात्। न द्वितीयः, सिद्धसाधनादिति सूत्रस्थचकारार्थः। तृतीये तु व्यवहारदशायां बाधितार्थग्राहित्वम् उपाधिरित्याह—बाध्यते हीत्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार वेद्य विज्ञानके समान अर्थके भी उपलब्ध होनेसे बाह्य अर्थका अभाव नहीं है, ऐसा कहा गया। अब जाग्रद्विज्ञान स्वप्नादिविज्ञानके समान बाह्य अर्थके आलम्बनसे नहीं है, इस अनुमानको दूषित करते हैं—"वैधर्म्याच्च" इत्यादिसे। क्या यहांपर निर्विषयत्व साध्य है या पारमार्थिकविषयशून्यत्व साध्य है अथवा व्यावहारिकविषयशून्यत्व? इनमें प्रथम पक्षका ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्वप्न आदिकी भ्रान्तियोंके भी अवलम्बन मिथ्या पदार्थ ही हैं, इससे 'स्वप्नवत्' यह दृष्टान्त साध्यविकल है। दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि हमारे पक्षमें जो सिद्ध है उसीका साधन है, यह सूत्रस्थचकारका अर्थ है। तृतीय पक्षमें व्यवहारमें बाधितार्थग्राहकत्व उपाधि है, ऐसा कहते हैं—"बाध्यते हि" इत्यादिसे।

भाष्य

मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव, तेनषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति। एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः। न चैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते। अपि च स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम्, उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्, स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं स्वयमनुभूयतेऽर्थविप्रयोगसंप्रयोगात्मकमिष्टं पुत्रं स्मरामि नोपलभे उपलब्धुमिच्छामीति। तत्रैवं सति न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोप-

भाष्यका अनुवाद

बाधित होती है कि महाजन समागमकी मुझे जो उपलब्धि हुई थी, वह मिथ्या है, मुझे महाजनसमागम हुआ नहीं, परन्तु मेरे मनके निद्रासे ग्लानियुक्त होनेसे मुझे यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई। उसी प्रकार मायादिमें यथायोग्य बाध होता है। परन्तु जाग्रदवस्थामें उपलब्ध हुई स्तम्भ आदि वस्तु किसी भी अवस्थामें इस प्रकार बाधित नहीं होती। और जो स्वप्नमें दर्शन है, वह स्मृति है, और जो जाग्रदवस्थामें दर्शन है वह उपलब्धि है। स्मृति और उपलब्धिमें प्रत्यक्षभेद स्वतः अनुभवमें आता है, वह यह है कि प्रथममें अर्थका विप्रयोग है और दूसरेमें सम्प्रयोग है, इष्ट पुत्रका स्मरण करता हूँ, उसको उपलब्ध नहीं करता, उपलब्ध

रत्नप्रभा

दीना। निद्राग्लानमिति करणदोषोक्तिः। साधनव्यापकत्वनिरासाय आह—न चैवमिति। किञ्च, प्रमाणजाऽनुभव उपलब्धिः पक्षः, अप्रमाणजं स्वप्नज्ञानं दृष्टान्तः, इति वैधर्म्यान्तरम्। परमतेन स्वप्नस्य स्मृतित्वमङ्गीकृत्याऽऽह—अपि चेति। स्मृतिप्रत्यक्षोपलब्ध्योः वैधर्म्यान्तरमाह—अर्थविप्रयोगेति। असम्बन्धश्च अवर्तमानश्च स्मृतेरर्थो विषय इति निरालम्बनत्वम् अपि अस्याः कदाचिद् भवेत्, न संप्रयुक्तवर्तमानार्थमात्रग्राहिण्या उपलब्धेरिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

'निद्राग्लानम्' इत्यादि इन्द्रियदोषका कथन है। साधनव्यापकताके निराकरणके लिए कहते हैं—"न चैवम्" इत्यादिसे। और प्रमाणजन्य अनुभव—उपलब्धि पक्ष है और अप्रमाणजन्य स्वप्नज्ञान दृष्टान्त है, ऐसा दूसरा वैधर्म्य है। दूसरेके मतसे स्वप्नको स्मृति मानकर कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। स्मरण और प्रत्यक्ष-उपलब्धिमें अन्य वैधर्म्य कहते हैं—"अर्थविप्रयोग" इत्यादिसे। असम्बद्ध और अवर्तमान अर्थ स्मृतिका विषय है, इसलिए कदाचित् स्मृति निरालम्बन हो सकती है। सम्प्रयुक्त और वर्तमान अर्थका ग्रहण करनेवाली उपलब्धि कभी भी निरालम्बन नहीं हो सकती।

भाष्य

लब्धिरुपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवदित्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता। न च स्वानुभवापलापः प्राज्ञमानिभिर्युक्तः कर्तुम्। अपि चाऽनुभवविरोधप्रसङ्गाज्जागरितप्रत्ययानां स्वतो निरालम्बनतां वक्तुमशक्नुवता स्वप्नप्रत्ययसाधर्म्याद् वक्तुमिष्यते। न च यो यस्य स्वतो धर्मो न संभवति सोऽन्यस्य

भाष्यका अनुवाद

करना चाहता हूँ, इस प्रकार। ऐसी स्थितिमें दोनों उपलब्धियोंके अन्तरका स्वयं अनुभव करता हुआ ऐसा नहीं कह सकता कि जाग्रदवस्थाकी उपलब्धि मिथ्या है, उपलब्धि होनेसे, स्वप्नकी उपलब्धिके समान। जो अपनेको प्राज्ञ मानते हैं, उन पुरुषोंको अपने अनुभवका निषेध करना युक्त नहीं है। और अनुभवके साथ विरोध होनेके भयसे जाग्रदवस्थाके प्रत्यय स्वयं निराधार हैं, ऐसा कहनेमें असमर्थ स्वप्न प्रत्ययोंके समान ये प्रत्यय हैं, इस प्रकार साधर्म्यसे जाग्रदवस्थाके प्रत्यय निराधार हैं, ऐसा कहना चाहता है। परन्तु जो जिसका स्वतः धर्म नहीं हो सकता, वह अन्यके साधर्म्यसे उसका धर्म नहीं हो सकता,

---

रत्नप्रभा

भावः। पूर्वोक्तप्रमाणजत्ववैधर्म्योक्तिफलमाह—तत्रैवं सतीति। वैधर्म्ये सतीत्यर्थः। अप्रमाणजत्वोपाधेर्निरालम्बनत्वानुमानं न युक्तमिति भावः। वैधर्म्यासिद्धिं निरस्यति—न चेति। बाधम् अपि आह—अपि चेति। वस्तुतो घटाद्यनुभवस्य निरालम्बनत्वं धर्मो यदि स्यात् तदा किं दृष्टान्ताग्रहेण, प्रत्यक्षतोऽपि वक्तुं शक्यत्वात्, नहि वह्नेरौष्ण्यं दृष्टान्तेन वक्तव्यम्, यदि न वस्तुतो धर्मोऽस्ति, तदापि किं दृष्टान्तेन, बाधितस्य दृष्टान्तसहस्रेणाऽपि दुःसाध्यत्वात्, अतः स्वतो

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वोक्त प्रमाणजन्यत्व और अप्रमाणजन्यत्व स्वरूप वैधर्म्यकथनका फल कहते हैं—"तत्रैवं सति" इत्यादिसे। वैधर्म्यके रहनेपर, ऐसा अर्थ है। अप्रमाणजन्यत्व उपाधिसे निरालम्बनत्वका अनुमान युक्त नहीं है, ऐसा भाव है। वैधर्म्यकी असिद्धिका निरसन करते हैं—"न च" इत्यादिसे। बाध भी कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। यदि वस्तुतः घटादिके अनुभवका निरालम्बनत्व हो, तो दृष्टान्तके आग्रहका क्या प्रयोजन है? क्योंकि प्रत्यक्षसे भी कहा जा सकेगा। वह्निकी उष्णताका प्रतिपादन करनेके लिए किसी दृष्टान्तकी अपेक्षा नहीं है। यदि वस्तुतः धर्म नहीं है, तो दृष्टान्तका क्या प्रयोजन है? जो बाधित है, वह हजारों दृष्टान्तोंसे भी दुःसाध्य है। इसलिए स्वतः निरालम्बनत्व कहनेमें सावलम्बनत्वका अनुभव बाधक है। अतः

भाष्य

साधर्म्यात् तस्य संभविष्यति । नह्यग्निरुष्णोऽनुभूयमान उदकसाधर्म्या-च्छीतो भविष्यति । दर्शितं तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः ॥ २९ ॥

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि अग्नि उष्ण है ऐसा अनुभव होता है, वह उदकसाधर्म्यसे शीत नहीं हो सकेगी । स्वप्न और जाग्रदवस्थाका वैधर्म्य तो दिखला चुके हैं[1] ॥ २९ ॥

रत्नप्रभा

निरालम्बनत्वोक्तौ सालम्बनत्वानुभवबाधभिया त्वयाऽनुमातुमारब्धम्, तथापि बाधो न मुञ्चतीत्यर्थः । उक्तोपाधिरपि न विस्मर्तव्य इत्याह—दर्शितं त्विति ॥२९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाधके भयसे तुमने अनुमान करना आरम्भ किया है, परन्तु अनुमानमें भी बाध तुम्हें नहीं छोड़ेगा ऐसा अर्थ है । उक्त उपाधिका भी विस्मरण नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"दर्शित तु" इत्यादिसे ॥ २९ ॥

न भावोऽनुपलब्धेः ॥३०॥

पदच्छेद—न, भावः, अनुपलब्धेः ।

पदार्थोक्ति—[वासनानाम्] न भावः—न सद्भावः, [कुतः] अनुपलब्धेः—त्वत्पक्षे बाह्यार्थानाम् अनुपलम्भात् [बाह्यार्थानुभवस्य वासनां प्रति कारणत्वात् कारणाभावे कार्याभावः] ।

भाषार्थ—वासनाओंका सद्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि तुम्हारे मतमें बाह्य पदार्थोंकी उपलब्धि नहीं होती । बाह्य पदार्थका ज्ञान वासनाके प्रति कारण है, इससे कारणके अभावमें कार्यका अभाव होगा ।

(१) आशय यह है कि बाध और अबाध ये वैधर्म्य हैं । स्वप्नज्ञान बाधित है और जाग्रद्ज्ञान अबाधित है तुम बौद्धोंको भी जाग्रद्ज्ञान अवश्य ही अबाधित ही मानना होगा, क्योंकि उसके द्वारा स्वप्नज्ञान मिथ्या है ऐसा ज्ञात होता है । जाग्रत्ज्ञान भी यदि बाध्य हो तो वह स्वप्नज्ञानका बाधक नहीं होगा, क्योंकि बाध्य ही बाधक हो यह युक्त नहीं है । दूसरी बात यह है कि स्वप्नज्ञान मिथ्या न हो तो स्वप्नज्ञानके समान जाग्रत्ज्ञान मिथ्या है इसमें 'स्वप्नज्ञानके समान' यह दृष्टान्त साध्यविकल होगा । इसलिए बाध और अबाधरूप वैधर्म्य होनेसे स्वप्नप्रत्ययके दृष्टान्तसे जाग्रत्प्रत्यय निराधार है ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता है ।

भाष्य

यदप्युक्तम्—विनाऽप्यर्थेन ज्ञानवैचित्र्यं वासनावैचित्र्यादेवाऽव-कल्प्यत इति, तत् प्रतिवक्तव्यम्। अत्रोच्यते—न भावो वासनानामुपपद्यते, त्वत्पक्षेऽनुपलब्धेर्बाह्यानामर्थानाम्। अर्थोपलब्धिनिमित्ता हि प्रत्यर्थं नानारूपा वासना भवन्ति, अनुपलभ्यमानेषु किंनिमित्ता विचित्रा वासना भवेयुः, अनादित्वेऽप्यन्धपरम्परान्यायेनाऽप्रतिष्ठैवाऽनवस्था व्यवहारलो-पिनी स्यान्नाभिप्रायसिद्धिः। यावप्यन्वयव्यतिरेकावर्थापलापिनोपन्यस्तौ

भाष्यका अनुवाद

अर्थके विना भी वासनावैचित्र्यसे ही ज्ञानवैचित्र्य हो सकता है, ऐसा जो कहा गया है, उसका प्रत्याख्यान करना चाहिए। इस विषयमें कहा जाता है—वासनाओंकी सत्ता उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि तुम्हारे पक्षमें बाह्य अर्थोंकी अनुपलब्धि है। अर्थकी उपलब्धिसे प्रत्येक अर्थमें भिन्न भिन्न रूपवाली वासनाएँ होती हैं। यदि अर्थ अनुपलभ्यमान हों, तो विचित्र वासनाएँ किस कारणसे होंगी ? वासना अनादि हैं, ऐसा माननेपर भी अन्धपरम्परान्यायसे व्यवहारका लोप करनेवाली निर्मूल अनवस्था ही होगी, अभिप्राय सिद्ध न होगा। बाह्य अर्थका निषेध करनेवालेने वासनानिमित्तक यह ज्ञानसमूह है,

---

रत्नप्रभा

सूत्रव्यावर्त्यं स्मारयित्वा दूषयति—यदप्युक्तमित्यादिना। भावः—उत्पत्तिः सत्ता वा। ननु बाह्यार्थानुपलब्धौ अपि पूर्वपूर्ववासनाबलाद् उत्तरोत्तरविज्ञान-वैचित्र्यम् अस्तु, बीजाङ्कुरवद्, अनादित्वात् इत्यत आह—अनादित्वेऽपीति। बीजाद् अङ्कुरो दृष्ट इति, अदृष्टेऽपि तज्जातीययोः कार्यकारणभावकल्पना युक्ता, इह त्वर्थानुभवनिरपेक्षवासनोत्पत्तेः आदावेव कल्प्यत्वादनादिकल्पना निर्मूलेति नाऽभि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रसे निराकरणीय शङ्काका स्मरण कराकर उसको दूषित करते हैं—"यदप्युक्तम्" इत्यादिसे। भाव—उत्पत्ति या सत्ता। यदि कोई कहे बाह्य अर्थके अनुलब्ध होनेपर भी पूर्व पूर्व वासनाके बलसे उत्तरोत्तर विज्ञानवैचित्र्य होगा, बीजाङ्कुरके समान अनादि होनेसे ही, इसपर कहते हैं—"अनादित्वेऽपि" इत्यादिसे। बीजसे अङ्कुर देखा जाता है, इससे जो अङ्कुर और बीज दृष्ट नहीं हैं उनमें भी उसके समान ही कार्यकारणभावकी कल्पना उचित है। यहां तो अर्थानुभवकी अपेक्षाके विना वासनाकी उत्पत्ति नहीं दिखाई देती, उससे आरम्भमें ही कल्पना होनेसे अनादिकल्पना निर्मूल है, इस प्रकार इष्ट ज्ञानवैचित्र्य सिद्ध नहीं होगा,

भाष्य

वासनानिमित्तमेवेदं ज्ञानजातं नाऽर्थनिमित्तमिति, तावप्येवं सति प्रत्युक्तौ द्रष्टव्यौ, विनाऽर्थोपलब्ध्या वासनानुपपत्तेः। अपि च विनापि वासनाभिरर्थोपलब्ध्युपगमाद् विना त्वर्थोपलब्ध्या वासनोत्पत्त्यनभ्युपगमादर्थसद्भावमेवाऽन्वयव्यतिरेकावपि प्रतिष्ठापयतः। अपि च वासना नाम संस्कार-

भाष्यका अनुवाद

अर्थनिमित्तक नहीं, इसकी सिद्धिके लिये जो अन्वय-व्यतिरेकका उपन्यास किया है, ऐसा होनेपर उसका भी निराकरण हुआ समझना चाहिए, क्योंकि अर्थकी उपलब्धिके विना वासना उपपन्न नहीं होती। और वासनाके विना भी अर्थकी उपलब्धि प्राप्त होती है, और अर्थोपलब्धिके बिना वासनाकी उत्पत्तिका स्वीकार न होनेसे अन्वयव्यतिरेक भी अर्थके अस्तित्वका ही प्रतिष्ठापन करते हैं। और वासना संस्कार विशेष है और संस्कार आश्रयके बिना नहीं

रत्नप्रभा

प्रेतधीवैचित्र्यसिद्धिरित्यर्थः। ननु निरपेक्षवासनानां सत्त्वे धीवैचित्र्यम् असत्त्वे तु नेति स्वप्ने दृष्टमिति समूलाऽनवस्थेत्यत आह—ताविति। वासनानां बाह्यार्थानुभवकार्यत्वे सति नैरपेक्ष्यासिद्धिः न त्वयाऽपि दृष्टेत्यर्थः। कार्यत्वग्राहकं व्यतिरेकमाह—विनेति। अर्थानुभवकार्याणां वासनानां तदनपेक्षत्वायोगान्न त्वदुक्तान्वयादिदृष्टिरित्युक्तम् अभिनवार्थोपलब्धिवैचित्र्यस्य वासनानां विनाऽपि भावेन व्यतिरेकव्यभिचाराच्च न क्वाऽपि वासनामात्रकृतं धीवैचित्र्यम्, किन्त्वर्थानुभवे सति वासना असति नेति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनामूलानुभवावच्छेदकार्थकृतमेवेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है। परन्तु जब निरपेक्ष वासनाएँ होती हैं, तभी ज्ञानवैचित्र्य होता है, अन्यथा नहीं, ऐसा स्वप्नमें देखनेमें आता है, इसलिए अनवस्था समूल है, इस शङ्काका निराकरण करते हैं—"तौ" इत्यादिसे। वासनाओंके बाह्य अर्थके अनुभवसे जन्य होनेसे उनके निरपेक्षत्वकी असिद्धि है तुमने भी निरपेक्षता नहीं देखी, ऐसा अर्थ है। वासना बाह्य अर्थके अनुभवका कार्य है, इसका ग्रहण करानेवाला व्यतिरेक कहते हैं—विना" इत्यादिसे। अर्थानुभवजन्य वासनाएँ अर्थसे निरपेक्ष हों, यह युक्त न होनेसे तुम्हारे द्वारा कथित अन्वयादि नहीं है, ऐसा कहा है। अभिनव अर्थोपलब्धिवैचित्र्य वासनाओंके विना भी होता है, अतएव व्यतिरेकका व्यभिचार होनेसे किसी भी स्थलमें वासनाके वैचित्र्यसे—ज्ञानवैचित्र्य नहीं होता है, परन्तु अर्थका अनुभव होनेपर वासना होती है और न होनेपर नहीं होती, इस प्रकार अन्वयव्यतिरेकसे वासनाके मूल अनुभवके अवच्छेदक अर्थसे यह ज्ञानवैचित्र्य होनेसे

भाष्य

विशेषाः, संस्काराश्च नाऽऽश्रयमन्तरेणाऽवकल्पन्ते, एवं लोके दृष्टत्वात्, न च तव वासनाश्रयः कश्चिदस्ति प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

भाष्यका अनुवाद

हो सकते, क्योंकि ऐसा लोकमें देखा जाता है और तुम्हारे मतमें वासनाका कोई आश्रय नहीं है, क्योंकि वह प्रमाणसे अनुपलब्ध है ॥ ३० ॥

रत्नप्रभा

बाह्यार्थसद्भावसिद्धिरित्याह—अपि चेति। यः संस्कारः, स साश्रयो लोके दृष्टो यथा वेगादिः इष्वाश्रयः, अतो विज्ञानसंस्काराणां न भावः। आश्रयानुपलब्धेरित्यर्थान्तरमाह—अपि चेति ॥ ३० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाह्य अर्थका अस्तित्व सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। जो संस्कार है वह लोकमें आश्रययुक्त दिखाई देता है, जैसे वेग आदि संस्कार बाण आदिके आश्रित है, इसलिए विज्ञान-संस्कारोंका अस्तित्व नहीं है, क्योंकि उनका आश्रय उपलब्ध नहीं होता, इस प्रकार सूत्रका अन्य अर्थ कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे ॥ ३० ॥

क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

पदच्छेद—क्षणिकत्वात्, च।

पदार्थोक्ति—क्षणिकत्वात् च—आलयविज्ञानस्य क्षणिकत्वाङ्गीकारात् च [न वासनाश्रयत्वम्]।

भाषार्थ—आलयविज्ञानको क्षणिक माननेसे वह भी वासनाका आश्रय नहीं हो सकता।

भाष्य

यदप्यालयविज्ञानं नाम वासनाश्रयत्वेन परिकल्पितम्, तदपि क्षणिक-

भाष्यका अनुवाद

जो आलयविज्ञानकी भी वासनाओंके आश्रयरूपसे परिकल्पना की गई है,

रत्नप्रभा

अस्तु आलयविज्ञानम् आश्रय इत्यत आह—क्षणिकत्वाच्चेति। सूत्रं व्याचष्टे—

रत्नप्रभाका अनुवाद

तब आलयविज्ञान वासनाओंका आश्रय हो, इसपर कहते हैं—"क्षणिकत्वाच्च" इत्यादिसे।

भाष्य

त्वाभ्युपगमादनवस्थितस्वरूपं सत् प्रवृत्तिविज्ञानवन्न वासनानामधिकरणं भवितुमर्हति। नहि कालत्रयसंबन्धिन्येकस्मिन्नन्वयिन्यसति कूटस्थे वा सर्वार्थदर्शिनि देशकालनिमित्तापेक्षवासनाधानस्मृतिप्रतिसन्धानादिव्यवहारः संभवति। स्थिरस्वरूपत्वे त्वालयविज्ञानस्य सिद्धान्तहानिः। अपि च

भाष्यका अनुवाद

वह भी क्षणिकत्वके स्वीकारसे अस्थिरस्वरूप होनेसे प्रवृत्तिविज्ञानके समान वासनाओंका आधार नहीं हो सकता है। तीनों कालके साथ सम्बन्ध रखने वाला एक अन्वयी सवार्थदर्शी कूटस्थ—स्थिर न हो, तो देशकालनिमित्तकी अपेक्षासे जो वासनाओंका आधान होता है वह और इनके अधीन स्मृतिप्रतिसन्धान आदि व्यवहार नहीं होंगे। आलयविज्ञानको स्थिरस्वभाव माननेमें तो

रत्नप्रभा

यद्पीति। सहोत्पन्नयोः सव्येतरविषाणवद् आश्रयाश्रयिभावायोगात् पौर्वापर्ये चाऽऽधेयक्षणेऽसत आधारत्वायोगात्, सत्त्वे क्षणिकत्वव्याघातान्नाऽऽधारत्वम् आलयविज्ञानस्य क्षणिकत्वात् नीलादिविज्ञानवदित्यर्थः। अस्तु तर्हि आलयविज्ञानसन्तानाश्रया वासना इत्यत आह—नहीति। सविकारः कूटस्थो वा स्थाय्यात्मा यदि नास्ति, तदा सन्तानस्याऽवस्तुत्वाद् देशाद्यपेक्षया यद्वासनानामाधानं निक्षेपो ये च स्मृतिप्रत्यभिज्ञे, यश्च तन्मूलो व्यवहारः, तत् सर्वं न सम्भवतीत्यर्थः। यदि व्यवहारार्थम् आत्मस्थायित्वम्, तदा अपसिद्धान्त इत्याह—स्थिरेति। सूत्रमतिदेशार्थत्वेनाऽपि व्याचष्टे—अपि चेति। मतद्वयनिरासम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। आलयविज्ञान और वासना साथ उत्पन्न हों, तो बाएँ और दाहिने सींगके समान उनका आश्रयाश्रयिभाव युक्त नहीं होगा और आलयविज्ञान और वासनामें पौर्वापर्य माननेसे जो आधेयक्षणमें न हो, वह आधार न हो सकेगा और हो तो क्षणिकत्वकी हानि होगी। इसलिए आलयविज्ञान आधार नहीं हो सकता, ऐसा अर्थ है। तब आलयविज्ञानका सन्तान वासनाका आधार हो, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। सविकार या कूटस्थ स्थायी आत्मा यदि न हो, तो सन्तानके अवस्तु होनेसे देशादिकी अपेक्षासे जो वासनाका आधान या निक्षेप होता है, जो स्मृति और प्रत्यभिज्ञा होती है और जो तन्मूलक प्रत्यक्ष आदि व्यवहार होता है, वह सब नहीं हो सकेगा। यदि व्यवहारके लिए आलयविज्ञान स्थायी है—आत्मा स्थायी है, ऐसा स्वीकार करोगे, तो सिद्धान्तकी हानि होगी, ऐसा कहते हैं—"स्थिर" इत्यादिसे। सूत्रका अतिदेश करके व्याख्यान

भाष्य

विज्ञानवादेऽपि क्षणिकत्वाभ्युपगमस्य समानत्वाद् यानि बाह्यार्थवादे क्षणिकत्वनिबन्धनानि दूषणान्युद्भावितानि 'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्' इत्येवमादीनि तानीहाऽप्यनुसन्धातव्यानि। एवमेतौ द्वावपि वैनाशिकपक्षौ निराकृतौ बाह्यार्थवादिपक्षो विज्ञानवादिपक्षश्च। शून्यवादिपक्षस्तु

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्तकी हानि होगी। और विज्ञानवादमें भी क्षणिकत्वका स्वीकार समान होनेसे बाह्यार्थवादमें क्षणिकत्वके आधारपर रहनेवाले 'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्' इत्यादि जो दूषण प्रकाशित किये गये हैं, उनका यहां भी अनुसन्धान करना युक्त है। इस प्रकार बाह्यार्थवादपक्ष और विज्ञानवादपक्ष इन दोनों वैनाशिकों (बौद्धों) के पक्षोंका निराकरण किया गया। शून्यवादिपक्ष तो सब प्रमाणोंसे

रत्नप्रभा

उपसंहरति—एवमिति। ज्ञानज्ञेयात्मकस्य सर्वस्य सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारासहत्वात् शून्यताऽवशिष्यत इति माध्यमिकपक्षस्याऽपि मानमूलत्वमाशङ्क्य सूत्रकारः किमिति न निराचकार इत्यत आह—शून्येति। आदरः—पृथक्सूत्रारम्भः न क्रियते, एतानि एव तन्मतनिरासार्थत्वेनाऽपि योज्यन्ते इत्यर्थः। तथा हि ज्ञानार्थयोः न अभावः, प्रमाणत उपलब्धेः। ननु जाग्रत्स्वप्नौ ज्ञानार्थशून्यौ, अवस्थात्वात्, सुषुप्तिवदित्यत आह—'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' (ब्र० सू० २।२।२९) इति। स्वप्नः आदिः यस्याः सुषुप्तेः तद्वत् नेतरावस्थयोः शून्यत्वम् उपलब्ध्यनुपलब्धिवैधर्म्यलक्षणबाधितज्ञानार्थोपलब्धिबाधात्, सुषुप्तौ अपि आत्मज्ञानसत्त्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। दो मतोंके निरसनका उपसंहार करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। ज्ञानज्ञेयात्मक जो सब है, वह सत् है या असत् है, ऐसा विचार नहीं हो सकता, इससे शून्यता ही अवशिष्ट रहती है, ऐसा माध्यामिक पक्ष है वह प्रमाणमूलक है ऐसी शङ्का करके सूत्रकारने उसका निराकरण क्यों नहीं किया, इसपर कहते हैं—"शून्य" इत्यादिसे। आदर—पृथक् सूत्रारम्भ नहीं किया जाता है। शून्यवादका निराकरण करनेके लिए भी इन्हीं सूत्रोंकी योजना करते हैं, ऐसा अर्थ है। जैसे कि "ज्ञानार्थयोर्नाभावः, 'प्रमाणत उपलब्धेः" अर्थात् ज्ञान और अर्थका अभाव-शून्यत्व युक्त नहीं है, क्योंकि वे प्रमाणसे उपलब्ध होते हैं। परन्तु जाग्रत् और स्वप्न ये ज्ञान और अर्थसे शून्य हैं, अवस्था होनेसे, सुषुप्तिके समान इस अनुमान प्रयोगसे शून्यत्व सिद्ध हो, यह शंका दूर करनेके लिए कहते हैं—'वैधर्म्याच न स्वप्नादिवत्" । स्वप्न जिस अवस्थाका आदि है ऐसी जो सुषुप्ति अवस्था है, उसके समान अन्य

भाष्य

सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नाऽऽदरः क्रियते । नह्ययं सर्वप्रमाणसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत् तत्त्वम् अनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुमपवादाभावे उत्सर्गप्रसिद्धेः ॥ ३१ ॥

भाष्यका अनुवाद

विरुद्ध है, अतः इसका निराकरण करनेके लिए आदर नहीं किया जाता, क्योंकि इस सर्वप्रमाणसिद्ध लोकव्यवहारका अन्यतत्त्वको माने बिना अपह्नव नहीं किया जा सकता, कारण कि अपवादके अभावमें उत्सर्ग प्रसिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभा

साध्यवैकल्याच्च नाऽनुमानमित्यर्थः । किञ्च, निरधिष्ठाननिषेधायोगाद् अधिष्ठानमेव तत्त्वं वाच्यम्, तस्य त्वन्मते न भावः । मानतोऽनुपलब्धेः इत्याह—'न भावोऽनुपलब्धेः' (ब्र० सू० २।२।३०) इति । (उपलब्ध्यनुपलब्धिलक्षणं यद् वैधर्म्यं तल्लक्ष्यतेऽनयेति सा चाऽसौ बाधितज्ञानार्थोपलब्धिः तद्रूपबाधादित्यर्थः) तदर्थमाह—नह्ययमिति । यद् भाति तत् नाऽसदित्युत्सर्गतः प्रपञ्चस्य न शून्यत्वम् बाधाभावादित्यर्थः । न च सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारासहत्वादसत्त्वम्, मिथ्यात्वसम्भवादिति भावः । 'क्षणिकत्वाच्च' (ब्र० सू० २।२।३१) इति सूत्रं क्षणिकत्वोपदेशाच्चेति पठनीयम् । शून्यत्वविरुद्धक्षणिकत्वोपदेशात् असङ्गतप्रलापी सुगत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अवस्थाएं जाग्रत् और स्वप्न शून्य नहीं हैं, क्योंकि सुषुप्तिमें अनुपलब्धि है और जाग्रत् और स्वप्नमें उपलब्धि है, ऐसा वैलक्षण्य है । और सुषुप्तिमें भी आत्मज्ञानके होनेसे दृष्टान्त साध्यविकल है, अतः अनुमान युक्त नहीं, ऐसा अर्थ है । और निराधिष्ठान निषेधके युक्त न होनेसे अधिष्ठान ही तत्त्व है, यह कहना चाहिए । उसका तुम्हारे शून्यवादीके मतमें अभाव है, क्योंकि प्रमाणसे अनुपलब्ध है, ऐसा कहते हैं—'नाभाव उपलब्धेः' । इस सूत्रका अर्थ कहते हैं—"नह्ययम्" इत्यादिसे । जो दीखता है, वह असत् नहीं ऐसे उत्सर्गसे प्रपञ्च शून्य नहीं है, क्योंकि बाधका अभाव है । और ज्ञानज्ञेयात्मक जो सब है, वह सत् है या असत् है, ऐसा विचार नहीं हो सकता, उससे शून्यत्व है ऐसा कहना युक्त नहीं क्योंकि मिथ्यात्वका सम्भव है । 'क्षणिकत्वाच्च' इस सूत्रको 'क्षणिकत्वोपदेशाच्च' इस प्रकार पढ़ना चाहिए । शून्यत्वविरुद्ध क्षणिकत्वका उपदेश होनेसे सुगत असंगतप्रलापी है, ऐसा अर्थ है ॥ ३१ ॥

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—सर्वथा, अनुपपत्तेः, च ।

पदार्थोक्ति—सर्वथा-ग्रन्थतः अर्थतश्च [सुगतमतस्य] अनुपपत्तेः—असंगतत्वात्, च—अपि [अनादरणीयं श्रेयोऽर्थिभिः भ्रान्तिमूलं तन्मतम्] ।

भाषार्थ—सुगतमतके ग्रन्थसे और अर्थसे असंगत होनेसे भी कल्याणाकाङ्क्षी पुरुषोंको उक्त भ्रान्तिमूलक मतपर आस्था नहीं करनी चाहिए ।

भाष्य

किं बहुना सर्वप्रकारेण यथा यथाऽयं वैनाशिकसमय उपपत्तिमत्त्वाय परीक्ष्यते, तथा तथा सिकताकूपवद् विदीर्यत एव, न कांचिदप्यत्रोपपत्तिं पश्यामः, अतश्चाऽनुपपन्नो वैनाशिकतन्त्रव्यवहारः । अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयम् इतरेतरविरुद्धम् उपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतम् आत्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वम्, प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति । सर्वथाऽपि नाऽऽदरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैः इत्यभिप्रायः ॥ ३२ ॥

भाष्यका अनुवाद

बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन है सब प्रकारसे ज्यों ज्यों यह वैनाशिक समय उपपन्न है या नहीं ? ऐसा विचार करते हैं त्यों त्यों रेतीमें बनाए गये कुएँके समान विदीर्ण ही होता है, उसमें हम कुछ भी उपपत्ति नहीं देखते; इससे भी वैनाशिक शास्त्र अनुपपन्न है । और बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद परस्पर विरुद्ध इन तीन वादोंका उपदेश करते हुए सुगतने अपनी असम्बद्ध प्रलापिता प्रकटकी है । और विरुद्ध अर्थके ज्ञानसे ये प्रजाएँ विमूढ़ हों, ऐसा प्रजाओंके प्रति अति विद्वेष प्रकट किया है, इसलिए कल्याण चाहनेवालेको इस सुगतसिद्धान्तका सर्वथा अनादर करना चाहिए, ऐसा अभिप्राय है ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभा

सुगतमतासाङ्गत्यम् उपसंहरति—सर्वथेति । सर्वज्ञस्य कथं विरुद्धप्रलापः तत्राह—प्रद्वेषो वेति । वेदबाह्या अत्र प्रजा ग्राह्याः, अतो भ्रान्त्येकमूलसुगतसिद्धान्तेन वेदान्तसिद्धान्तस्याऽविरोध इति सिद्धम् ॥ ३२ ॥ (५) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सुगतमतकी असंगतिका उपसंहार करते हैं—"सर्वथा" इत्यादिसे । सर्वज्ञ सुगत विरुद्धप्रलापी कैसे है ? इसपर कहते हैं—"प्रद्वेषो वा" इत्यादिसे । यहाँ 'प्रजा' का अर्थ वेदबाह्य प्रजा समझना चाहिए ? भ्रान्ति ही जिसका मूल है उस सुगत सिद्धान्तसे वेदान्तसिद्धान्तका विरोध नहीं है ॥ ३२ ॥

[६ एकस्मिन्नसंभवाधिकरण सू० ३३—३६]

सिद्धिः सप्तपदार्थानां सप्तभङ्गीनयान्न वा ।
साधकन्यायसद्भावात्तेषां सिद्धौ किमद्भुतम् ॥ १ ॥
एकस्मिन् सदसत्त्वादिविरुद्धप्रतिपादनात् ।
अपन्यायः सप्तभङ्गी न च जीवस्य सांशता ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—सप्तभङ्गीरूप न्यायसे सप्त पदार्थोंकी सिद्धि होती है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—सप्तभङ्गीरूप साधकन्यायके अस्तित्वसे सप्त पदार्थोंकी सिद्धिमें आश्चर्य ही क्या है ?

सिद्धान्त—एक जीवमें सत्त्व और असत्त्व आदि विरुद्ध धर्मोंके प्रतिपादनसे सप्तभङ्गीरूप न्याय न्यायाभास है और जीवकी सावयवता नहीं हो सकती है।

---

* तात्पर्य यह है कि आर्हतोंका मत है कि जीव और अजीव (जीवभिन्न) ये दो पदार्थ हैं। उनमें जीव चेतन, शरीरपरिमाणवाला और सावयव है तथा अजीव छः प्रकारका है। उनमें एक पर्वत आदि है एवं आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध, मोक्ष नामके पांच और हैं। जीव जिससे विषयोंमें प्रवृत्त होता है, वह आस्रव है, विवेकको आवृत्त करनेवाला अविवेक आदि संवर है, काम, क्रोध आदि जिससे सर्वात्मना जीर्ण हो जाते हैं—बालोंको नोचना, तप्तशिलामें चढ़ना आदि तपस्या निर्जर है, आठ कर्मोंसे प्राप्त हुई जन्ममरणपरम्परा बन्ध है और पापविशेषरूप चार घातिकर्म, और पुण्यविशेषरूप चार अघातिकर्म हैं। शास्त्रमें प्रतिपादित उपायसे उन आठ कर्मोंसे निर्मुक्त हुए जीवका सतत ऊर्ध्वगमन मोक्ष है। ये सात पदार्थ सप्तभङ्गीरूप न्यायसे व्यवस्थापित होते हैं। वह सप्तभङ्गी न्याय—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च, [किसी प्रकारसे है, किसी प्रकारसे नहीं है, किसी प्रकारसे है भी और नहीं भी है, किसी प्रकारसे अवक्तव्य है, किसी प्रकारसे है भी और अवक्तव्य भी है, किसी प्रकारसे नहीं है और अवक्तव्य है, एवं किसी प्रकारसे भी है नहीं भी है और अवक्तव्य है] इस तरह सात भग—प्रकार हैं। अभिप्राय यह है कि—'स्यात्' शब्द निपात है और उसका अर्थ 'कथञ्चित्' होता है। प्रतिवादी चार प्रकारके हैं—सद्वादी, असद्वादी, सदसद्वादी, अनिर्वचनीयवादी एवं अनिर्वचनीय मतसे सम्बन्ध रखनेवाले सदादि मतावलम्बी त्रिविध हैं, उन सात प्रकारके वादियोंके प्रति इन सप्तविध न्यायोंका उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ—यदि आर्हतके प्रति सद्वादी प्रश्न करे कि तुम्हारे मतमें मोक्ष है ? तो वह कहेगा, स्यादस्ति—कथञ्चित् है। बस इसी प्रकार अन्य-वादियोंके प्रति भी 'स्यान्नास्ति' इत्यादि न्याय प्रयुक्त हो सकते हैं। इसीसे वादी लोग दुःखी होकर उत्तर नहीं पा सकते हैं। अतः सप्तभङ्गीरूप साधक न्यायसे जीवादि सात पदार्थोंकी सिद्धि होनेमें कौन सा आश्चर्य है ? इसपर सिद्धान्ती उत्तर देता है कि—सप्तभङ्गीरूप न्याय वस्तुतः न्याय नहीं है, किन्तु अपन्याय है, कारण कि एक जीवको सद्वादीके प्रति सदरूप कहना, असद्वादीके प्रति असदरूप

नैकस्मिन्नसंभवात् ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—न, एकस्मिन्, असम्भवात् ।

पदार्थोक्ति—एकस्मिन्—अखण्डे परमार्थरूपे वस्तुनि, असम्भवात्—विरुद्धधर्माणामसम्भवात्, न—वस्तुनोऽनेकरूपत्वं नास्ति ।

भाषार्थ—एक परमार्थरूप वस्तुमें विरुद्ध धर्मोंका संभव न होनेसे वस्तुमें अनेकरूपता नहीं है ।

भाष्य

निरस्तः सुगतसमयः, विवसनसमय इदानीं निरस्यते । सप्त चैषां पदार्थाः संमता जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षा नाम । संक्षेपतस्तु

भाष्यका अनुवाद

सुगतके सिद्धान्तका निरसन किया जा चुका है, अब जैनसिद्धान्तका निराकरण करते हैं । इनके मतमें सात पदार्थ हैं, जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर,

रत्नप्रभा

नैकस्मिन्नसम्भवात् । मुक्तकच्छमते निरस्ते मुक्ताम्बराणां मतं बुद्धिस्थं भवति तत् निरस्यत इति प्रसङ्गसङ्गतिमाह—निरस्त इति । एकरूपं ब्रह्मेति वैदिकसिद्धान्तस्य अनेकान्तवादेन विरोधोऽस्ति न वेति तद्वादस्य मानभ्रान्तिमूलत्वाभ्यां सन्देहे मानमूलत्वात् विरोध इति पूर्वपक्षफलमभिसन्धाय तन्मतमुपन्यस्यति—सप्त चेति । जीवाजीवौ—भोक्तृभोग्यौ । विषयाभिमुख्येन इन्द्रियाणां प्रवृत्तिः—आस्रवः । तां संवृणोतीति संवरः—यमनियमादिः । निर्जरयति

रत्नप्रभाका अनुवाद

"नैकस्मिन्नसम्भवात्" । मुक्तकच्छ—सुगतोंके मतका खण्डन होनेपर दिगम्बर—जैनोंका मत बुद्धिमें आरूढ होता है, अब उसका निरसन करते हैं, इस प्रकार प्रसंगसङ्गति कहते हैं—"निरस्तः" इत्यादिसे । एकरूप ब्रह्म है, इस वैदिकसिद्धान्तका अनेकान्तवादसे विरोध है या नहीं, वह अनेकान्तवाद प्रमाणमूलक है या भ्रान्तिमूलक है ? ऐसा सन्देह होनेपर उसके मानमूल होनेसे वैदिकसिद्धान्तका विरोध है ऐसे पूर्वपक्षके फलका अनुसंधानकर उस मतका उपन्यास करते हैं—"सप्त च" इत्यादिसे । 'जीव' भोक्ता है और 'अजीव' भोग्य है । विषयके अभिमुख इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति—अर्थात् इन्द्रियोंका विषयोंमें संचार 'आस्रव' है । इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्तिका जो संवरण करता है, वह 'संवर' है, अर्थात् यमनियमादि—

कहना विरुद्ध है । जीवको सावयव कहना नितान्त भूल है, क्योंकि उसे सावयव माननेमें अनित्यताकी प्राप्ति होगी । कथञ्चित् स्वीकार किया जाय, तो मोक्षरूप पुरुषार्थ किसको होगा ? अतः जीवादि पदार्थोंकी सिद्धि सप्तभङ्गीन्यायसे सर्वथा नहीं हो सकती है ।

भाष्य

द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाख्यौ। यथायोगं तयोरेवेतरान्तर्भावादिति मन्यन्ते। तयोरिममपरं प्रपञ्चमाचक्षते, पञ्चास्तिकाया नाम—जीवास्तिकायः, पुद्गलास्तिकायः, धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, आकाशास्ति-

भाष्य

बन्ध और मोक्ष। संक्षेपमें तो जीव और अजीव नामके दो ही पदार्थ हैं, क्योंकि दूसरों का इन दोमें ही यथायोग्य अन्तर्भाव होता है, ऐसा वे मानते हैं। जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और आकाशास्तिकाय ये पांच अस्तिकाय उन दोका दूसरा प्रपञ्च है ऐसा वे कहते हैं, उन सबके

रत्नप्रभा

नाशयति कल्मषमिति निर्जरः—तप्तशिलारोहणादिः। बन्धः—कर्म। मोक्षः—कर्मपाशनाशे सति अलोकाकाशप्रविष्टस्य सततोर्ध्वगमनम्। ननु आस्रवादीनां भोग्यान्तर्भावात् कथं सप्तत्वमित्यत आह—संक्षेपतस्त्विति। संक्षेपविस्तराभ्याम् उक्तार्थेषु मध्यमरीत्या विस्तरान्तरमाह—तयोरिति। अस्तिकायशब्दः सांकेतिकः पदार्थवाची। १ जीवश्चाऽसौ अस्तिकायश्चेति एवं विग्रहः। २ पूर्यन्ते गलन्तीति पुद्गलाः—परमाणुसंघाः कायाः। ३ सम्यक् प्रवृत्त्यनुमेयः—धर्मः। ४ ऊर्ध्वगमनशीलस्य जीवस्य देहे स्थितिहेतुः—अधर्मः। ५ आवरणाभावः—आकाश इत्यर्थः। पञ्चपदार्थानाम् अवान्तरभेदमाह—सर्वेषामिति। अयमर्थः—जीवास्तिकायः त्रिविधः। १ कश्चिद् जीवो नित्यसिद्धः अर्हन्मुख्यः, २ केचित्

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियोंका निग्रह। जो पापको अत्यन्त जीर्ण करता है नाश करता है—वह 'निर्जर' है, जैसे तप्तशिलारोहण, केशलुञ्चन आदि देहकष्ट। 'बन्ध'—कर्म। 'मोक्ष'—कर्मपाशका नाश होनेपर अलोक आकाशमें प्रविष्ट हुएका सतत ऊर्ध्वगमन। यदि कोई कहे कि आस्रव आदि भोग्यके अन्तर्भूत हैं, तो पदार्थ सात किस प्रकार हैं? इसपर कहते हैं—"संक्षेपतस्तु" इत्यादिसे। संक्षेप और विस्तारसे कहे हुए पदार्थोंमें मध्यम रीतिसे अन्य विस्तार कहते हैं—"तयोः" इत्यादिसे। अस्ति—है और कायते—शब्दसे कहलाता है, वह 'अस्तिकाय'। यह जैनोंका पारिभाषिक शब्द पदार्थवाचक है जीव ऐसा जो पदार्थ वह "जीवास्तिकाय"। पूर्ण हो और गल जाय वह 'पुद्गल' अर्थात् परमाणुसमुदाय काय। सम्यक् प्रवृत्तिसे जो अनुमेय है, वह धर्म है। ऊर्ध्वगमनशील जीवकी देहमें स्थितिका हेतु—अधर्म है। आवरणका अभाव—आकाश है। इन पांच पदार्थोंका अवान्तर भेद कहते हैं—"सर्वेषाम्" इत्यादिसे। यह तात्पर्य है—जीवास्तिकाय तीन प्रकारका है, नित्यसिद्ध, मुक्त और बद्ध। उनके मतके प्रवर्तक जो अर्हन्मुख्य (प्रभृति) हैं वे नित्यसिद्ध हैं, कितने ही

भाष्य

कायश्चेति। सर्वेषामप्येषामवान्तरप्रभेदान् बहुविधान् स्वसमयपरिकल्पितान्

भाष्यका अनुवाद

बहुत प्रकारके अवान्तर भेद जो प्रमाण और युक्तिसे शून्य अपने शास्त्रमें परि-

रत्नप्रभा

साम्प्रतिकमुक्ताः, ३ केचिद् बद्धा इति। पुद्गलास्तिकायः षोढा—४ पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि, ५ स्थावरम्, ६ जङ्गमं चेति। ७–८ प्रवृत्तिस्थितिलिङ्गौ धर्माऽधर्मौ उक्तौ। आकाशाऽस्तिकायः द्विविधः—१ लोकाकाशः सांसारिकः, २ अलोकाकाशो मुक्ताश्रयः इति। बन्धाऽऽख्यं कर्म अष्टविधम्—४ चत्वारि घातिकर्माणि, ४ चत्वारि अघातीनि। तत्र ज्ञानावरणीयम्, दर्शनावरणीयम्, मोहनीयम्, अन्तरायं चेति घातिकर्माणि। १ तत्त्वज्ञानाद् न मुक्तिरिति ज्ञानम् आद्यं कर्म। २ आर्हत-तन्त्रश्रवणाद् न मुक्तिरिति ज्ञानं द्वितीयम्। ३ बहुषु तीर्थंकरप्रदर्शितेषु मोक्ष-मार्गेषु विशेषानवधारणं—मोहनीयम्। ४ मोक्षमार्गप्रवृत्तिविघ्नकारणम्—अन्तरायम्। इमानि चत्वारि श्रेयोहन्तृत्वाद् घातिकर्माणि। अथाऽघातीनि चत्वारि कर्माणि—वेदनीयम्, नामिकम्, गोत्रिकम्, आयुष्कमिति। १ मम वेदितव्यं तत्त्वम् अस्तीति अभिमानो वेदनीयम्। २ एतन्नामाऽहमस्मीत्य-भिमानः—नामिकम्। ३ अहमत्र भवतो देशिकस्याऽर्हतः शिष्यवंशे प्रविष्टोऽ-स्मीत्यभिमानः—गोत्रिकम्। ४ शरीरस्थित्यर्थं कर्म—आयुष्कम्। अथ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीव इस समयमें मुक्त होते हैं और कितने ही बद्ध हैं। पुद्गलास्तिकाय छः प्रकारका है—पृथिवी आदि चार भूत, स्थावर और जङ्गम। प्रवृत्ति और स्थितिसे अनुमेय धर्म और अधर्म हैं, ऐसा कहा है। आकाशास्तिकाय दो प्रकारका है—लोकाकाश और अलोकाकाश। उनमें लोकाकाश सांसारिक है, और अलोकाकाश मुक्तोंका आश्रय—स्थान है [जो बद्ध जीवोंका आधारभूत है वह लोकाकाश है और जो मुक्तोंका आधार है, वह अलोकाकाश है] बन्धसंज्ञक कर्म आठ प्रकारका है, उनमें चार साधु कर्म हैं, उनकी पारिभाषिक संज्ञा अघातिकर्म है और चार असाधुकर्म हैं, उनकी पारिभाषिक संज्ञा घातिकर्म है, उनमें घातिकर्म ये हैं—ज्ञाना-वरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। तत्त्वज्ञानसे मोक्ष नहीं होता, ऐसी भावना ज्ञानावरणीय है। आर्हतशास्त्रके श्रवणसे मुक्ति नहीं होती है [आर्हतशास्त्रका अभ्यास मुमुक्षुओंके उपयोगी नहीं है] ऐसी भावना—दर्शनावरणीय है, तीर्थंकर प्रदर्शित बहुतसे मार्गोंमेंसे मोक्षसाधन क्या है, इस विशेषका अनिश्चय—मोहनीय है और मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिमें विघ्नकारक अन्तराय है। ये चार कल्याणनाशक होनेसे घातिकर्म हैं। वेदनीय, नामिक, गोत्रिक और आयुष्क ये चार अघातिकर्म हैं। तत्त्वज्ञान मेरे जानने योग्य है, ऐसा अभिमान वेदनीय है, इस नामका मैं हूँ, ऐसा अभिमान नामिक है। मैं पूज्य देशिक अर्हत्के शिष्य-वंशमें प्रविष्ट हूँ, ऐसा अभिमान गोत्रिक है और शरीरकी स्थितिके लिए जो कर्म है वह

भाष्य

वर्णयन्ति। सर्वत्र चेमं सप्तभङ्गीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति। स्यादस्ति,

भाष्यका अनुवाद

कल्पित हैं, उनका वर्णन करते हैं। और सर्वत्र यह सप्तभङ्गीनय नामके न्यायको

रत्नप्रभा

वा शुक्रशोणितमिश्रितम्—आयुष्कम्। तस्य तत्त्वज्ञानानुकूलदेहपरिणामशक्तिः—गोत्रिकम्। शक्तस्य तस्य द्रवीभावात्मककललावस्थाया बुद्बुदावस्थायाश्च आरम्भकः क्रियाविशेषः—नामिकम्। सक्रियस्य जाठराग्निवायुभ्याम् ईषद् घनीभावः—वेदनीयम्। तत्त्ववेदनानुकूलत्वात् तानि एतानि तत्त्वावेदकशुक्लपुद्गलार्थत्वाद् अघातीनि। तदेतत् कर्माष्टकं जन्मार्थत्वाद् बन्धः आस्रवादिद्वारेति। इयं प्रक्रिया मानशून्येति द्योतयति—स्वसमयपरिकल्पितानिति। स्वीयतन्त्रसंकेतमात्रकल्पितानित्यर्थः। पदार्थानामुक्तानामनेकान्तत्वं वदन्तीत्याह—सर्वत्रेति। अस्तित्वनास्तित्वादिविरुद्धधर्मद्वयम् आदाय वस्तुमात्रे न्यायं योजयन्ति। सप्तानाम् अस्तित्वादीनां भङ्गानां समाहारः—सप्तभङ्गी, तस्या नयः—न्यायः। घटादेः हि सर्वात्मना सदेकरूपत्वे प्राप्यात्मनापि अस्त्येव स इति तत्प्राप्तये यत्नो न स्यात्, अतो घटत्वादिरूपेण कथञ्चिदस्ति, प्राप्यत्वा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आयुष्क है। अथवा शुक्र और शोणितसे मिश्रित जो कर्म वह आयुष्क है। उसकी तत्त्वज्ञानके अनुकूल देहपरिणामशक्ति गोत्रिक कर्म है [अर्थात् कललबुद्बुदादि अवस्थाओंमें परिणाम पानेकी शक्ति गोत्रिक कर्म है] ऐसी शक्तिवालेकी उन अवस्थाओंकी प्राप्ति अर्थात् ऐसी शक्तिवालेकी द्रवीभावात्मक कललावस्था और बुद्बुदावस्थाका आरम्भक कर्म विशेष नामिक कर्म है। कलल और बुद्बुद आदि अवस्थाओंमें परिणाम पाये हुएकी जाठराग्निसम्पर्कसे पुण्यशरीरपरिणामके योग्य काठिन्यावस्था वेदनीय है। अर्थात् क्रियायुक्त बीजका जाठराग्नि और वायुसे थोड़ा घनीभाव वेदनीय है। तत्त्ववेदन—तत्त्वज्ञानके अनुकूल होनेसे ये चारों कर्म तत्त्वके आवेदक पुण्यवत् शरीरके सम्बन्धी होनेसे साधुकर्म—अघातिकर्म कहलाते हैं। ये आठ प्रकारके कर्म जन्मार्थ होनेसे आस्रवादि द्वारा बन्धनरूप हैं। यह प्रक्रिया प्रमाणशून्य है, ऐसा सूचित करते हैं—"स्वसमयपरिकल्पितान्" इत्यादिसे। अपने शास्त्रमें संकेतसे ही कल्पित हैं, ऐसा अर्थ है। वे इन सात पदार्थोंमें एकरूप नियमका अभाव कहते हैं—"सर्वत्र" इत्यादिसे। अस्तित्व, नास्तित्व आदि दो विरुद्ध धर्मोंको लेकर वस्तुमात्रमें न्यायकी योजना करते हैं। सात अस्तित्व आदि भंगोंका—प्रकारोंका समाहार, सप्तभंगी है, उसका नय अर्थात् न्याय। यदि घटादि सर्वात्मना सदा एकरूप हों, तो प्राप्यस्वरूपसे भी वे हैं ही,

भाष्य

स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति ।

भाष्यका अनुवाद

प्रवृत्त करते हैं—'स्यादस्ति' (किसी प्रकारसे है), 'स्यान्नास्ति' (किसी प्रकारसे नहीं है), 'स्यादस्ति च नास्ति च' (किसी प्रकारसे है और नहीं है), 'स्यात् अवक्तव्यः' (किसी प्रकारसे अवक्तव्य है), 'स्यादस्ति चावक्तव्यश्च' (किसी प्रकारसे है और अवक्तव्य है), 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च' (किसी

रत्नप्रभा

दिरूपेण कथञ्चिन्नास्तीत्येवमनेकरूपत्वं वस्तुमात्रस्य आस्थेयमिति भावः । के ते सप्त भङ्गाः तानाह—स्यादस्तीति । स्यादिति अव्ययं तिङन्तप्रतिरूपकं कथञ्चिदर्थकम्, स्यादस्ति कथञ्चिदस्तीत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । १ तत्र वस्तुनोऽस्तित्ववाञ्छायां स्यादस्तीति आद्यो भङ्गः प्रवर्त्तते । २ नास्तित्ववाञ्छायां स्यान्नास्तीति द्वितीयो भङ्गः । ३ क्रमेण उभयवाञ्छायां स्यादस्ति नास्ति चेति तृतीयो भङ्गः । ४ युगपदुभयवाञ्छायामस्ति नास्तीति शब्दद्वयस्य सकृद्वक्तुमशक्यत्वात् स्यादवक्तव्यत्वं चतुर्थो भङ्गः । ५ आद्यचतुर्थभङ्गयोर्वाञ्छायां स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्चेति पञ्चमो भङ्गः । ६ द्वितीयचतुर्थेच्छायां स्यान्नास्ति चाऽवक्तव्यश्चेति षष्ठो भङ्गः । ७ तृतीयचतुर्थेच्छायां स्यादस्ति नास्ति चाऽवक्तव्यश्चेति सप्तमो भङ्ग इति विभागः । एवमेकत्वमनेकत्वं चेति द्वयमादाय स्यादेकः, स्यादनेकः, स्यादेकोऽ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए उनकी प्राप्तिके लिए यत्न न होनेसे घटत्वादिरूपसे कथंचित् हैं और प्राप्यत्व आदि रूपसे कथंचित् नहीं हैं, ऐसा वस्तुमात्रका अनेकरूपत्व स्वीकार करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। वे सात भंग क्या हैं, इसपर कहते हैं—"स्यादस्ति" इत्यादिसे। 'स्यात्' तिङन्तसदृश अव्यय है और उसका अर्थ है—कथंचित्—किसी प्रकारसे। 'स्यादस्ति'—कथंचित् है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए। उनमें वस्तु है, ऐसी इच्छा होनेपर प्रथम स्यादस्ति यह प्रकार प्रवृत्त होता है, नहीं है, ऐसी इच्छा होनेपर 'स्यान्नास्ति' ऐसा दूसरा भंग प्रवृत्त होता है, क्रमसे दोनों इच्छाएँ होनेपर "स्यादस्ति च नास्ति च" ऐसा तृतीय भंग प्रवृत्त होता है, युगपत् दोनों इच्छाएँ होनेपर अस्ति (है) और नास्ति (नहीं है) ऐसे दो शब्दोंके एक कालमें नहीं कहे जा सकनेके कारण 'स्यात् अवक्तव्य.' ऐसा चौथा भंग प्रवृत्त होता है। आद्य भंग और चतुर्थ भंगकी इच्छा होनेपर 'स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च' यह पाचवां भंग प्रवृत्त होता है। द्वितीय और चतुर्थ भंगकी इच्छा होनेपर 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च' यह छठा भंग प्रवृत्त होता है। और तृतीय और चतुर्थ भंगकी इच्छा होनेपर 'स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च' यह सातवां भङ्ग प्रवृत्त होता है, ऐसा विभाग है। इस प्रकार एकत्व और अनेकत्व ये दोनों

भाष्य

एवमेव एकत्वनित्यत्वादिष्वपीमं सप्तभङ्गीनयं योजयन्ति। अत्राऽऽचक्ष्महे। नायमभ्युपगमो युक्त इति। कुतः? एकस्मिन्नसंभ-

भाष्यका अनुवाद

प्रकारसे नहीं है और अवक्तव्य है), 'स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च' (किसी प्रकारसे है और नहीं है और अवक्तव्य है)। इसी प्रकार एकत्व नित्यत्व आदिमें भी इस सप्तभंगीनयकी योजना करते हैं।

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं कि यह स्वीकार युक्त नहीं है। किससे? इससे कि एकमें

रत्नप्रभा

नेकश्च, स्यात् अवक्तव्यः, स्यादेकोऽवक्तव्यः स्यात् अनेकोऽवक्तव्यः, स्याद् एकोऽनेकश्च अवक्तव्यश्चेति, तथा स्यात् नित्यः, स्याद् अनित्य इत्यादि ऊह्यम्। एवमनेकरूपत्वेन वस्तुनि प्राप्तित्यागादिव्यवहारः सम्भवति, एकरूपत्वे सर्वं सर्वत्र सर्वदा अस्त्येवेति व्यवहारविलोपापत्तिः स्यात्। तस्मादनेकान्तं सर्वम् इति एकरूपब्रह्मवादबाधः।

इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—अत्रेति। यद् अस्ति तत् सर्वत्र सर्वदा अस्त्येव, यथा ब्रह्मात्मा। न चैवं तत्प्राप्तये यत्नो न स्यादिति वाच्यम्, अप्राप्तिभ्रान्त्या यत्नसम्भवात्। यद् नास्ति तत् नास्त्येव, यथा शशविषाणादि, प्रपञ्चस्तु उभयविलक्षण एवेति एकान्तवाद एव युक्तो नाऽनेकान्तवादः। तथाहि—किं येन आकारेण वस्तुनः

रत्नप्रभाका अनुवाद

लेकर 'स्यादेकः' (कथंचित् एक है) 'स्यादनेकः' (कथंचित् अनेक है), 'स्यादेकोऽनेकश्च' (कथंचित् एक और अनेक है), 'स्यादवक्तव्यः' (कथंचित् अवक्तव्य है), 'स्यादेकोऽवक्तव्यश्च' (कथंचित् एक और अवक्तव्य है), 'स्यादनेकोऽवक्तव्यश्च' (कथंचित् अनेक और अवक्तव्य है), 'स्यादेकोऽनेकश्चावक्तव्यश्च' (कथंचित् एक, अनेक और अवक्तव्य है) इसी प्रकार 'स्याद् नित्यः' इत्यादि समझना चाहिए। इस प्रकार वस्तुमें अनेकरूपत्वके होनेसे वस्तुमें प्राप्ति और त्याग आदि व्यवहार होते हैं, एकरूपत्वमें तो सर्व सर्वदा सर्वत्र है ही, इसलिए सबके अनेकान्त होनेसे एकरूप ब्रह्मवादका बाध है।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त कहते हैं—"अत्र" इत्यादिसे। जो है, वह सर्वत्र सर्वदा है ही जैसे ब्रह्मात्मा। ऐसी परिस्थितिमें उसकी प्राप्तिके लिए यत्न नहीं होगा, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि वह अप्राप्त है, ऐसी भ्रान्तिसे यत्नका सम्भव है। उसी प्रकार जो नहीं है, वह नहीं ही है, जैसे शशविषाण आदि। प्रपञ्च तो उभयविलक्षण ही है, इसलिए एकान्तवाद ही युक्त है, अनेकान्तवाद युक्त नहीं है। जिस प्रकारसे

भाष्य

वात् । नह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति शीतोष्णवत् । य एते सप्तपदार्था निर्धारिता एतावन्त एवंरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्युः । इतरथा हि तथा वा स्युरतथा वेत्यनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात् । नन्वनेकात्मकं वस्त्विति

भाष्यका अनुवाद

सम्भव न होनेसे । एक धर्मीमें एक ही समयमें सत्त्व, असत्त्व आदि विरुद्ध धर्मोंका समावेश नहीं हो सकता, शीत और उष्णके समान । जो ये सात पदार्थ इतने और ऐसे रूपके, इस प्रकार निर्धारित हैं, वे वैसे ही प्रकारके हों, या न हों, क्योंकि नहीं तो वैसे प्रकारके हों, या वैसे प्रकारके न हों, ऐसा अनिर्धारित ज्ञान संशयज्ञानके समान अप्रमाण ही होगा । परन्तु वस्तु अनेकात्मक है, ऐसा निर्धारित

रत्नप्रभा

सत्त्वं तेनैव आकारेणाऽसत्त्वम् उत आकारान्तरेण । द्वितीये वस्तुन आकारान्तरमेवाऽसदिति वस्तुनः सदेकरूपत्वमेव, नहि दूरस्थग्रामस्य प्राप्तेः असत्त्वे ग्रामोऽपि असन् भवति प्राप्यासत्त्वे प्राप्तियत्नानुपपत्तेः, अतो यथाव्यवहारं प्रपञ्चस्य एकरूपत्वमास्थेयम् नाऽऽद्य इत्याह—नायमिति । ननु विमतं अनेकात्मकम्, वस्तुत्वात्, नारसिंहवदिति चेत्, न; घट इदानीमस्त्येवेति अनुभववाधात् । किञ्च, जीवादिपदार्थानां सप्तत्वं जीवत्वादिरूपं चाऽस्त्येव नास्त्येवेति च नियतं उत अनियतम् । आद्ये व्यभिचार इत्याह—य इति । द्वितीये पदार्थनिश्चयो न स्यादित्याह—इतरथेति । अनेकान्तं सर्वम् इत्येव निश्चय इति शङ्कते—नन्विति । तस्य निश्चयरूपत्वं नियतम् अनियतं

रत्नप्रभाका अनुवाद

वस्तुका सत्त्व है, उसी प्रकारसे असत्त्व है या अन्य प्रकारसे ? दूसरे पक्षमें वस्तुका अन्य आकार ही असत् है, इसलिए वस्तुका सदा एकरूपत्व ही है । दूरस्थ ग्रामकी प्राप्तिका असत्त्व हो, तो ग्राम असत् नहीं होता यदि प्राप्य ग्राम असत् हो तो उसकी प्राप्तिके लिए यत्न भी अनुपपन्न होगा । इसलिए व्यवहारके अनुसार प्रपञ्च एकरूप है, ऐसा अङ्गीकार करना पड़ेगा । आद्य पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नायम्" इत्यादिसे । यदि कोई कहे—विमत अनेकात्मक है, वस्तु होनेसे, नरसिंहजीके शरीरके समान, सो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि घट इस समय है ही, इस अनुभवका बाध होता है । और जीवादि पदार्थोंका सप्तत्व और जीवत्वादिरूप है ही और नहीं ही है, यह निश्चित है या अनिश्चित ? प्रथम पक्षमें व्यभिचार है, ऐसा कहते हैं—"य." इत्यादिसे । द्वितीय पक्षमें पदार्थ निश्चय नहीं होगा, ऐसा कहते हैं—"इतरथा" इत्यादिसे । परन्तु सब अनेकान्त ही, ऐसा है निश्चय है, ऐसी

भाष्य

निर्धारितरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यमानं संशयज्ञानवन्नाऽप्रमाणं भवितुमर्हति। नेति ब्रूमः। निरङ्कुशं ह्यनेकान्तत्वं सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य निर्धारणस्याऽपि वस्तुत्वाविशेषात् स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादिविकल्पोपनिपातादनिर्धारणात्मकतैव स्यात्। एवं निर्धारयितुर्निर्धारणफलस्य च स्यात् पक्षेऽस्तिता, स्याच्च पक्षे नास्तितेति। एवं सति कथं प्रमाणभूतः संस्तीर्थकरः प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितिष्वनिर्धारितासूपदेष्टुं शक्नुयात्। कथं वा तदभिप्रायानुसारिणस्तदुपदिष्टेऽर्थेऽनिर्धारितरूपे प्रवर्तेरन्। ऐकान्तिकफलत्वनिर्धा-

भाष्यका अनुवाद

रूप ही ज्ञान उपलब्ध होता है, वह संशयज्ञानके समान अप्रमाण हो, यह युक्त नहीं है। हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि सब वस्तुओंमें निरंकुश अनेकान्तत्वकी प्रतिज्ञा करनेवालेके मतमें निर्धारणके भी वस्तुत्वके समान होनेसे 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति' (किसी प्रकारसे है, किसी प्रकारसे नहीं है) इत्यादि विकल्पकी प्रवृत्ति होनेसे वह भी अनिर्धारणात्मक ही होगा। इस प्रकार निर्धारण करनेवालेका और निर्धारणफलका भी पक्षमें अस्तित्व होगा और पक्षमें नास्तित्व होगा। ऐसी अवस्थामें प्रमाणभूत होकर भी तीर्थङ्कर प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमितिके निर्धारित न होनेपर किस प्रकार उपदेश करनेमें शक्तिमान् होंगे। उनके अभिप्रायके अनुसारी शिष्य उनसे उपदिष्ट अनिर्धारितरूप अर्थमें किस

रत्नप्रभा

वा? आद्ये वस्तुत्वस्य तस्मिन् एव एकरूपे निश्चये व्यभिचारः, द्वितीये तस्य संशयत्वं स्यादित्याह—नेति ब्रूम इति। प्रमायाम् उक्तं न्यायं प्रमात्रादौ अतिदिशति—एवमिति। निर्धारणं फलं यस्य प्रमाणादेस्तस्येत्यर्थः। इत्येवं सर्वत्राऽनिर्धारणे सति उपदेशो निष्कम्पप्रवृत्तिश्च न स्यादित्याह—एवं सतीति। अनेकान्तवादे

रत्नप्रभाका अनुवाद

शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। उसका निश्चयरूपत्व नियत है या अनियत है? आद्य पक्षमें अनेकात्मक वस्तु है, इस निर्धारित ज्ञानमें वस्तुत्वका एकरूप निश्चय होनेसे अनेकान्तका व्यभिचार हो जायगा, द्वितीय पक्षमें वह संशयरूप हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"नेति ब्रूमः" इत्यादिसे। प्रमामें जो न्याय कहा गया है, उसका प्रमाता आदिमें अतिदेश करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। 'निर्धारणफल'—निर्धारण जिसका फल है, ऐसे प्रमाण आदि। ऐसा सर्वत्र अनिर्धारण होनेपर उपदेश और मुमुक्षुओंकी निश्चित प्रवृत्ति भी नहीं होगी, ऐसा

भाष्य

रणे हि सति तत्साधनानुष्ठानाय सर्वो लोकोऽनाकुलः प्रवर्तते नाऽन्यथा। अतश्चाऽनिर्धारितार्थं शास्त्रं प्रणयन् मत्तोन्मत्तवदनुपादेयवचनः स्यात्। तथा पञ्चानामस्तिकायानां पञ्चत्वसंख्याऽस्ति वा नास्ति वेति विकल्प्यमाना स्यात् तावदेकस्मिन् पक्षे, पक्षान्तरे तु न स्यादित्यतो न्यूनसंख्यात्वम्, अधिकसंख्यात्वं वा प्राप्नुयात्। न चैषां पदार्थानामवक्तव्यत्वं संभवति, अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्, उच्यन्ते चाऽवक्तव्याश्चेति विप्रतिपिद्धम्। उच्य-

भाष्यका अनुवाद

प्रकार प्रवृत्त होंगे, क्योंकि निश्चित फलका निर्धारण होनेपर ही उसके साधनके अनुष्ठानके लिए सब लोक अनाकुल होकर प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए जिसका अर्थ निर्धारित नहीं है, ऐसे शास्त्रकी रचना करनेवालेका वचन मत्त और उन्मत्तके समान ग्राह्य न होगा। वैसे ही पांच अस्तिकायोंकी पंचत्व संख्या है या नहीं, ऐसा विकल्प होनेपर एक पक्षमें होगी और अन्य पक्षमें न होगी, इससे न्यूनसंख्यात्व या अधिकसंख्यात्व प्राप्त होगा। और ये पदार्थ अवक्तव्य हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अवक्तव्य हों, तो नहीं कहे जायंगे, परन्तु कहे जाते हैं और अवक्तव्य हैं, यह विरुद्ध है। और कहे जाते

रत्नप्रभा

अस्तिकायपञ्चत्वमपि न स्यादित्याह—तथा पञ्चानामिति। यदुक्तम् अवक्तव्यत्वम्, तत् किं केनाऽपि शब्देन अवाच्यत्वम्? उत सकृत् अनेकशब्दावाच्यत्वम्। नाऽऽद्यः, व्याघातादित्याह—न चैषामिति। उच्यन्ते च। अवक्तव्यादिपदैः इति शेषः। न द्वितीयः, सकृदेकवक्तृमुखजानेकशब्दानाम् अप्रसिद्धेः निषेधायोगात्, शेषस्यापि मुखभेदात्। न चाऽर्थस्य युगपद् विरुद्धधर्मवाञ्छायां वक्तुः मूकत्वमात्रम् अवक्तव्यपदेन विवक्षितमिति वाच्यम्। तादृशवाञ्छाया एवाऽनुत्पत्तेरिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"एवं सति" इत्यादिसे। अनेकान्तवादमें अस्तिकायोंकी पञ्चत्वसंख्या भी नहीं होगी, ऐसा कहते हैं—"तथा पञ्चानाम्" इत्यादिसे। और जो अवक्तव्यत्व कहा है, उसका अर्थ किसी भी शब्दसे अवाच्यत्व है या एक बार अनेक शब्दोंसे अवाच्यत्व है? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि व्याघात है, ऐसा कहते हैं—"न चैषाम्" इत्यादिसे। कहे जाते हैं—'अवक्तव्य आदि शब्दोंसे' इतना शेष समझना चाहिए। द्वितीय पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि एक कालमें एक वक्ताके मुखसे अनेक शब्दोंकी उत्पत्तिकी अप्राप्ति होनेसे निषेध युक्त नहीं है, और शेषके भी भिन्न भिन्न मुख हैं। और अर्थमें एक ही समय विरुद्ध धर्मकी इच्छा होनेपर वक्ताका मूक होना ही अवक्तव्य पदका अर्थ है, ऐसा भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसी

भाष्य

मानाश्च तथैवाऽवधार्यन्ते नाऽवधार्यन्ते इति च तथा तदवधारणफलं सम्यग्दर्शनमस्ति वा नास्ति वा, एवं तद्विपरीतमसम्यग्दर्शनमप्यस्ति वा नास्ति वेति प्रलपन् मत्तोन्मत्तपक्षस्यैव स्यान्न प्रत्ययितव्यस्य पक्षस्य। स्वर्गापवर्गयोश्च पक्षे भावः पक्षे चाऽभावस्तथा पक्षे नित्यता पक्षे चानित्यतेत्यनवधारणायां प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। अनादिसिद्धजीवप्रभृतीनां च स्वशास्त्रावधृतस्वभावानामयथावधृतस्वभावत्वप्रसङ्गः। एवं जीवादिषु

भाष्यका अनुवाद

हुए ये पदार्थ उसी प्रकारसे अवधारित होते हैं और अवधारित नहीं होते। उसी प्रकार उनका अवधारणफल सम्यग्दर्शन है या नहीं, उसी प्रकार उससे उलटा असम्यग्दर्शन भी है, या नहीं, ऐसा प्रलाप करता हुआ (अर्हन्) मत्तोन्मत्त पक्षका होगा, आप्तपक्षका नहीं होगा। और किसी पक्षमें स्वर्ग और मोक्षका अभाव और किसी पक्षमें सत्ता प्राप्त होगी उसी प्रकार किसी पक्षमें नित्यता और किसी पक्षमें अनित्यता प्राप्त होगी, इस प्रकार अनिश्चय होनेसे उसमें प्रवृत्ति अनुपपन्न होगी। उसी प्रकार अनादिसिद्ध, जीवादि जिनका स्वभाव अपने शास्त्रमें निश्चित किया है, वे उस प्रकारसे निश्चित स्वभाववाले नहीं हैं, ऐसा मानना

रत्नप्रभा

किञ्च, विरुद्धानेकप्रलापित्वाद् अर्हन् न आप्त इत्याह—उच्यमानाश्चेत्यादिना। इति च प्रलपन् इत्यन्वयः। अर्हन् इति शेषः। अनाप्तपक्षस्यैवाऽन्तर्गतः स्यात् नाऽऽप्तपक्षस्येत्यर्थः। इतश्च असंगतोऽनेकान्तवाद इत्याह—स्वर्गेति। किञ्च, अनादिसिद्धोऽर्हन्मुनिः। अन्ये तु हेत्वनुष्ठानाद् मुच्यन्ते, अननुष्ठानाद् बध्यन्ते इति आर्हततन्त्रावधृतस्वभावानां त्रिविधजीवानां त्रैविध्यनियमोऽपि न स्यादित्याह—अनादीति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती। और विरुद्ध अनेक प्रलाप करनेसे अर्हन् आप्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"उच्यमानाश्च" इत्यादिसे। इस प्रकार प्रलाप करता हुआ, ऐसा अन्वय है। "अर्हन्" इतना शेष समझना चाहिए। इस प्रकारसे विरुद्ध प्रलाप करता हुआ अर्हन् अनाप्त पक्षके ही अन्तर्गत होगा, आप्त पक्षके अन्तर्गत नहीं होगा, ऐसा अर्थ है। और अनेकान्तवाद इससे भी असङ्गत है, ऐसा कहते हैं—"स्वर्ग" इत्यादिसे। अर्हन् मुनि अनादि सिद्ध नित्यमुक्त जीव है, अन्य जीव तो हेतुके अनुष्ठानसे मुक्त होते हैं और हेतुका अनुष्ठान न करनेसे बद्ध होते हैं—इस प्रकार शास्त्रमें जिनका स्वभाव निश्चित किया गया है, ऐसे त्रिविध जीवोंका

भाष्य

पदार्थेष्वेकस्मिन् धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोर्विरुद्धयोर्धर्मयोरसंभवात् सत्त्वे चैकस्मिन् धर्मेऽसत्त्वस्य धर्मान्तरस्याऽसम्भवादसत्त्वे चैवं सत्त्वस्याऽसंभवाद-संगतमिदमार्हतं मतम्। एतेनैकानेकनित्यानित्यव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ता-द्यनेकान्ताऽभ्युपगमा निराकृता मन्तव्याः। यत्तु पुद्गलसंज्ञकेभ्योऽणुभ्यः संघाताः संभवन्तीति कल्पयन्ति, तत् पूर्वेणैवाऽणुवादनिराकरणेन निराकृतं भवतीत्यतो न पृथक् तन्निराकरणाय प्रयत्यते ॥ ३३ ॥

भाष्यका अनुवाद

पड़ेगा। इस प्रकार जीवादि पदार्थोंमें एक धर्ममें सत्त्व और असत्त्व इन विरुद्ध धर्मोंका सम्भव न होनेसे, सत्त्वरूप एक धर्ममें अन्य धर्म—असत्त्वका सम्भव न होनेसे और इसी प्रकार असत्त्वमें सत्त्वका सम्भव न होनेसे भी यह आर्हत मत असङ्गत है। इससे एक, अनेक, नित्य, अनित्य, व्यतिरिक्त, अव्य-तिरिक्त आदि अनियमके स्वीकारोंका निराकरण हुआ समझना चाहिए। पुद्गलसंज्ञक अणुओंसे संघात उत्पन्न होता है, ऐसी जो कल्पना करते हैं, उसका तो पूर्वोक्त अणुवादनिराकरणसे[1] ही निराकरण हो जाता है, इसलिए उसके निरा-करणके लिए पृथक् प्रयत्न नहीं किया जाता ॥ ३३ ॥

रत्नप्रभा

प्रपञ्चितं सूत्रार्थं निगमयति—एवमिति। एतेनेति। सत्त्वासत्त्व-योरेकत्र निरासेन इत्यर्थः। परमाणुसंघाताः पृथिव्यादय इति दिगम्बरसिद्धान्तः किमिह सूत्रकृता उपेक्षितः, तत्राह—यत्त्विति। ॥ ३३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

त्रैविध्यनियम भी नहीं होगा, ऐसा कहते हैं—"अनादि" इत्यादिसे। प्रपञ्च—विस्तारसे कहे हुए सूत्रार्थका निगमन करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। "एतेन" अर्थात् एकमें सत्त्व और असत्त्वके निराकरणसे। परमाणुके संघात पृथिवी आदि हैं। दिगम्बरके सिद्धान्तकी सूत्रकारने क्यों उपेक्षाकी है, इसपर कहते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे ॥ ३३ ॥

(१) विभक्त पुद्गलसंज्ञक अणुसे प्रथम संघातोत्पत्तिके लिये अवश्य उसका कारण मानना होगा, क्योंकि विभक्त तन्तुके सङ्घातमें कारण दृष्ट है। यदि कर्मको कारण माना जाय, तो वह भी कार्य होनेसे कारणकी अपेक्षा करेगा, अगत्या प्रयत्न या अभिघातको कारण स्वीकार करोगे तो असम्भव है, क्योंकि प्रयत्न आत्मगुण होनेसे पुद्गलमें कैसे रहेगा? शब्दजनक संयोगरूप अभिघात भी पुद्गलमें बाधित है, कारण कि परमाणु—पुद्गलके संयोगसे शब्दोत्पत्ति नहीं होती है, इत्यादि दोषोंका स्मरण करना चाहिए।

एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम् ॥ ३४ ॥

पदच्छेद—एवम्, च, आत्माऽकार्त्स्न्यम् ।

पदार्थोक्ति—यथा एकत्र विरुद्धधर्मासंभवो दोषः स्याद्वादे प्रसक्तः, एवम्—तथा, आत्माकार्त्स्न्यम्—जीवस्य परिच्छिन्नत्वम् [द्वितीयो दोषः प्रसज्येत तथा च परिच्छिन्नात्वादात्मनो घटादिवदनित्यत्वं स्यात्] ।

भाषार्थ—जैसे जैनमतमे एक वस्तुमे विरुद्ध धर्मोंका असंभवरूप दोष प्रसक्त हुआ है, वैसे ही जीवका परिच्छिन्नत्वरूप दूसरा दोष प्रसक्त होगा और परिच्छिन्न होनेसे आत्मा घट आदिके समान अनित्य होगा ।

भाष्य

यथैकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्मासंभवो दोषः स्याद्वादे प्रसक्त एवमात्मनोऽपि जीवस्याऽकार्त्स्न्यमपरो दोषः प्रसज्येत । कथम् ? शरीरपरिमाणो हि जीव इत्यार्हता मन्यन्ते । शरीरपरिमाणतायां च सत्यामकृत्स्नोऽसर्वगतः परिच्छिन्न आत्मेत्यतो घटादिवदनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत । शरीराणां चाऽनवस्थितपरिमाणत्वान्मनुष्यजीवो मनुष्यशरीरपरिमाणो भूत्वा पुनः केनचित् कर्मविपाकेन हस्तिजन्म प्राप्नुवन्न कृत्स्नं

भाष्यका अनुवाद

जैसे एक धर्मीमें विरुद्ध धर्मोंका असम्भव है, यह दोष स्याद्वादमें प्राप्त होता है, वैसे आत्माका—जीवका भी परिच्छिन्नत्वरूप दूसरा दोष प्रसक्त होगा। किस प्रकार ? इससे कि जीव शरीरके बराबर है, ऐसा आर्हत लोग मानते हैं। और उसके बराबर होनेपर अकृत्स्न असर्वगत—परिच्छिन्न आत्मा है, अतएव घटादिके समान आत्मा भी अनित्य है, ऐसा प्रसक्त होगा। और शरीरोंका परिमाण निश्चित न होनेसे मनुष्यजीव मनुष्यशरीरके बराबर होकर, पीछे

रत्नप्रभा

जीवस्य देहपरिमाणतां दूषयति—**एवं चेति** । अकार्त्स्न्यम्—मध्यमपरिमाणत्वम् । तेन अनित्यत्वं स्यादित्यर्थः । अर्थान्तरमाह—**शरीराणां चेति** । विपाकः—कर्मणाम् अभिव्यक्तिः । जीवस्य कृत्स्नगजशरीराव्यापित्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीव देहके बराबर है, इस मतको दूषित करते हैं—"एवं च" इत्यादिसे । अकार्त्स्न्य—मध्यमपरिमाणसे युक्त होना, इससे अनित्यता होगी, ऐसा अर्थ है । सूत्रका अन्य अर्थ कहते हैं—"शरीराणां च" इत्यादिसे । 'विपाक'—कर्मोंकी अभिव्यक्ति । जीवका समस्त गज-

भाष्य

हस्तिशरीरं व्याप्नुयात्, पुत्तिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्नः पुत्तिकाशरीरे संमीयेत। समान एष एकस्मिन् अपि जन्मनि कौमारयौवनस्थाविरेषु दोषः। स्यादेतत्, अनन्तावयवो जीवस्तस्य त एवाऽवयवा अल्पे शरीरे संकुचेयुर्महति च विकसेयुरिति। तेषां पुनरनन्तानां समानदेशत्वं

भाष्यका अनुवाद

किसी कर्मविपाकसे हाथीका जन्म प्राप्त करेगा, तो हाथीके समस्त शरीरमें व्याप्त न होगा और चींटीका जन्म प्राप्त करेगा, तो चींटीके शरीरमें समस्त न समायेगा। एक जन्ममें भी बाल्य, तारुण्य और वृद्धत्वमें यह दोष समान है। परन्तु जीव अनन्त अवयववाला है, उसके वे ही अवयव अल्प शरीरमें संकुचित हो जायँगे और बडे शरीरमें विकास पावेंगे, ऐसा यदि कहो, तो जीवके उन

रत्नप्रभा

अकार्त्स्न्यम्, शरीरैकदेशो निर्जीवः स्यादित्यर्थः। पुत्तिकादेहे कृत्स्नो जीवो न प्रविशेत्, देहाद् बहिरपि जीवः स्यादित्यर्थः। किञ्च, बालदेहमात्र आत्मा ततः स्थूले युवदेहे क्वचित् स्यादिति कृत्स्नदेहः सजीवो न स्यादित्याह—समान इति। यथा दीपावयवानां घटे संकोचः, गेहे विकासः, तथा जीवावयवानामिति देहमानत्वनियमं शङ्कते—स्यादिति। दीपांशवत् जीवांशा भिन्नदेशा एकदेशा वेति विकल्प्य आद्ये अल्पदेहाद् बहिरपि जीवः स्याद् इति दूषयति—तेषामित्यादिना। दीपस्य तु न घटाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

शरीरको व्याप्त न करना अकार्त्स्न्य है, अर्थात् शरीरका एकदेश निर्जीव है। इसलिए जीव शरीरपरिमाण नहीं है। उसी प्रकार हस्तिशरीरका त्याग करके जब चींटीके शरीरमें प्रवेश करता है, तब समस्त जीव चींटीके देहमें प्रवेश नहीं कर सकता—समा नहीं सकता, इसलिए आत्माका अकार्त्स्न्य होता है, देहके बाहर भी जीव रहेगा, ऐसा अर्थ है। और यदि आत्मा बालकके देहके बराबर हो, तो वह स्थूल तरुण देहमें किसी एक स्थानमें रहेगा, ऐसी स्थितिमें समस्त देह सजीव न होगा, ऐसा कहते हैं—"समान" इत्यादिसे। जैसे दीप जब घड़ेमें होता है, तब उसके अवयव सङ्कुचित रहते हैं और जब घरमें होता है तब विकसित होते हैं। जैसे दीपकके अवयवोंका घटमें संकोच और गृहमें विकास होता है, वैसे जीवके अवयवोंका भी चींटीकी देहमें संकोच और हाथीकी देहमें विकास होता है देहके अनुसार उसके परिमाणका नियम है, ऐसी शंका करते हैं—"स्याद्" इत्यादिसे। दीपकके अंशोंके समान जीवके अंश भिन्न

भाष्य

प्रतिहन्यते वा न वेति वक्तव्यम्। प्रतिघाते तावत् नाऽनन्तावयवाः परिच्छिन्ने देशे संमीयेरन्। अप्रतिघातेऽप्येकावयवदेशत्वोपपत्तेः सर्वेषामवयवानां प्रथिमानुपपत्तेर्जीवस्याऽणुमात्रत्वप्रङ्गः स्यात्। अपि च शरीरमात्रपरिच्छिन्नानां जीवावयवानामानन्त्यं नोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम् ॥३४॥

अथ पर्यायेण बृहच्छरीरप्रतिपत्तौ केचिज्जीवावयवा उपगच्छन्ति तनुशरीरप्रतिपत्तौ च केचिदपगच्छन्तीत्युच्येत। तत्राऽप्युच्यते—

भाष्यका अनुवाद

अनन्त अवयवोंके एकदेशत्वका प्रतिघात होता है या नहीं होता, यह कहना चाहिए। यदि प्रतिघात होता हो, तो अनन्त अवयव परिच्छिन्न देशमें नहीं समावेंगे। यदि प्रतिघात न होता हो, तो भी सब अवयवोंका प्रदेश एक अवयवके प्रदेशके बराबर होनेसे प्रथिमा आदि अनुपपन्न होंगे। और जीवके अणुमात्र होनेका प्रसङ्ग आवेगा। और शरीरमात्र परिच्छिन्न जीवके अवयवोंकी अनन्तताकी उत्प्रेक्षा भी नहीं की जा सकती है ॥ ३४ ॥

क्रमसे बड़ा शरीर प्राप्त करना हो, तो कितने ही जीवके अवयव पास आते हैं और छोटा शरीर प्राप्त करना हो, तो कितने ही अवयव दूर चले जाते हैं, ऐसा यदि कहो, तो उसपर भी कहते हैं—

रत्नप्रभा

बहिः सत्त्वम्, अधिकावयवानां विनाशात्। द्वितीयं दूषयति—अप्रतिघात इति। अवयवानां नित्यत्वं चाऽसिद्धम्, अल्पत्वात्, दीपांशवत्, इत्याह—अपि चेति ॥३४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

देशोंमें रहते हैं या एक देशमें ? ऐसा विकल्प करके आद्य पक्षमें अल्प देहसे बाहर भी जीव होगा, इसको दूषित करते हैं—"तेषाम्" इत्यादिसे। दीप तो घटके बाहर नहीं रहता, क्योंकि अधिक अवयवोंका विनाश होता है। द्वितीय पक्षको दूषित करते हैं—"अप्रतिघाते" इत्यादिसे। अवयवोंका नित्यत्व सिद्ध नहीं, अल्प होनेसे, दीपके अंशोंके समान, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे ॥३४॥

(१) यह उपलक्षण है—जैसे जैनमतमें दीपप्रभाके दृष्टान्तसे स्थूलसूक्ष्मशरीरव्यापिता जीवको है, विचार करनेसे प्रतीत होता है कि यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि विस्तृत गृहोदर व्यापी प्रभासे अल्प प्रकाश, एवं स्वल्प गृहोदर व्यापीसे अधिक प्रकाश, देखनेमें आता है, वैसे अल्प शरीरके साथ चेतनका सम्बन्ध अधिक चैतन्यवाला होगा तथा महत्के साथ स्वल्प चैतन्य वाला होगा, परन्तु व्यवहारसे यह विरुद्ध है, क्योंकि बालकको कम ज्ञान बड़ेको अधिक ज्ञान देखा जाता है।

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥

पदच्छेद—न, च, पर्यायात्, अपि, अविरोधः, विकारादिभ्यः ।

पदार्थोक्ति—पर्यायादपि—पर्यायेणापि अवयवानाम् गमनागमनाभ्याम्, अविरोधः—तत्तत्स्थूलसूक्ष्मशरीरपरिणामत्वस्य आत्मनि अविरोधः [इति] न च [वक्तव्यम्] [कुतः] विकारादिभ्यः—विकारादिदोषप्रसंगात् [आत्मनः सावयत्वेन तत्तच्छरीरप्राप्त्या वृद्धिह्रासाङ्गीकारे विकारित्वप्रसक्त्याऽनित्यत्वे वन्धमोक्षाभ्युपगमो बाध्येत] ।

भाषार्थ—क्रमशः अवयवोंके हटने और प्राप्त होनेसे तत् तत् स्थूल और सूक्ष्म शरीरपरिणामताका आत्मामें कोई विरोध नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आत्माके सावयव होनेसे तत् तत् शरीरप्राप्तिसे वृद्धि और ह्रासका अङ्गीकार करनेपर विकारी होनेसे आत्माके अनित्य होनेपर बंध और मोक्षका स्वीकार बाधित होगा ।

भाष्य

न च पर्यायेणाप्यवयवोपगमाऽपगमाभ्यामेतद्देहपरिमाणत्वं जीवस्याऽविरोधेनोपपादयितुं शक्यते । कुतः ? विकारादिदोषप्रसङ्गात् । अवयवोप-

भाष्यका अनुवाद

क्रमशः अवयवोंकी वृद्धि और ह्राससे जीव देहके बराबर होता है, इस प्रकार अविरोधका उपपादन नहीं किया जा सकता । किससे ? इससे कि

रत्नप्रभा

एवं जीवावयवा नित्या इति मते देहमानत्वं निरस्तम्, सम्प्रति जीवस्य केचिदेव कूटस्था अवयवा अन्ये तु आगमापायिनः, इति शङ्कते—अथेति । बृहत्तनुकायासौ जीवस्याऽवयवागमापायाभ्यां देहमानत्वम् इत्यर्थः । सूत्रेण परिहरति—न चेति । आगमापायौ पर्यायः । किम् आगमापायिनाम् अवयवानाम् आत्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार जीवके अवयव नित्य हैं, इस मतमें जीव देहके बराबर है, इसका निराकरण किया जा चुका है, अब जीवके कुछ ही अवयव कूटस्थ है और शेष अवयव आगम और अपाय धर्मवाले हैं, इस प्रकार शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे । बड़े शरीरकी प्राप्ति होने पर जीवके अवयवों की वृद्धि होती है और छोटे शरीर की प्राप्ति होनेपर अवयवोंका क्षय होता है, इस प्रकार जीव देहके बराबर है, ऐसा अर्थ है । सूत्रसे शंकाका परिहार करते हैं—

भाष्य

गमाऽपगमाभ्यां ह्यनिशमापूर्यमाणस्याऽपक्षीयमाणस्य च जीवस्य विक्रियावत्त्वं तावदपरिहार्यम्, विक्रियावत्त्वे च चर्मादिवदनित्यत्वं प्रसज्येत, ततश्च बन्धमोक्षाभ्युपगमो बाध्येत, कर्माष्टकपरिवेष्टितस्य जीवस्याऽलाबुवत् संसारसागरे निमग्नस्य बन्धनोच्छेदादूर्ध्वगामित्वं भवतीति। किञ्चाऽन्यत्, आगच्छतामपगच्छतां चाऽवयवानामागमाऽपायधर्मवत्त्वादेवाऽनात्मत्वं

भाष्यका अनुवाद

विकार आदि दोष प्राप्त होते हैं, क्योंकि अवयवोंकी वृद्धि और ह्राससे सर्वदा पूर्ण और क्षीण होता हुआ जीव विकारवाला है, यह अपरिहार्य होगा और विकारवाला होनेसे चर्म आदिके समान उसे अनित्य मानना पड़ेगा। इसलिए कर्मोंसे घिरा हुआ जीव संसारसागरमें निमग्न हुआ है, बन्धनके उच्छिन्न होनेके पश्चात् वह तुम्बीके समान ऊर्ध्वगामी होता है, इस प्रकार बन्ध और मोक्षका जो स्वीकार किया गया है, उसका बाध होगा। और दूसरी बात यह है कि आने और जानेवाले अवयव आगम और अपगमरूप धर्मसे युक्त होनेके कारण ही शरीर आदिके समान अनात्मा हो जायँगे, इसलिए अवस्थित हुआ कोई

रत्नप्रभा

त्वम् अस्ति न वा ? आद्य आह—विकारादिदोषेति। कोऽसौ बन्धमोक्षाभ्युपगम इत्यत आह—कर्माष्टकेति। व्याख्यातमेतद् (ब्र० सू० २।२।३३)। आद्यकल्पे दोषान्तरं वदन् कल्पान्तरमादाय दूषयति—किञ्चेति। अवशिष्टकूटस्थावयवस्य दुर्ज्ञानत्वाद् आत्मज्ञानाभावात् न मुक्तिरित्यर्थः। यथा दीपावयवानाम् आकारः तेजः, तथाऽऽत्मावयवानामाकारकारणाभावाद् न आगमापायौ युक्तावित्याह—किं चेति। सर्वजीवसाधारणः प्रतिजीवम् असाधारणो वा इत्यर्थः। किञ्च, आत्मन

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न च" इत्यादिसे। आगम और अपगम ये ही पर्याय हैं। आगम और अपगमवाले अवयव आत्मा हैं या नहीं ? आद्य पक्षमें दोष कहते हैं—"विकारादिदोष" इत्यादिसे। वह बन्ध और मोक्षका अभ्युपगम क्या है ? इसपर कहते हैं—"कर्माष्टक" इत्यादिसे। इसका व्याख्यान हो चुका। आद्य कल्पमें अन्य दोषको कहते हुए दूसरे पक्षको लेकर दोष बतलाते हैं—"किंच" इत्यादिसे। आते और जाते अवयवोंसे अवशिष्ट कूटस्थ अवयवोंके दुर्ज्ञेय होनेसे आत्मज्ञानका अभाव होगा और मुक्ति नहीं होगी, ऐसा अर्थ है। जैसे दीपके अवयवोंका आकार तेज है वैसे आत्माके अवयवोंके आकारका कारण न होनेसे आगम और अपाय युक्त नहीं, ऐसा कहते हैं—"किंच" इत्यादिसे। आत्मा सर्वसाधारण है अथवा प्रत्येक जीवमें

भाष्य

शरीरादिवत्। ततश्चाऽवस्थितः कश्चिदवयव आत्मेति स्यात्, न च स निरूपयितुं शक्यतेऽयमसाविति। किञ्चाऽन्यत् आगच्छन्तश्चैते जीवावयवाः कुतः प्रादुर्भवन्त्यपगच्छन्तश्च क्व वा लीयन्त इति वक्तव्यम्। नहि भूतेभ्यः प्रादुर्भवेयुर्भूतेषु च निलीयेरन्, अभौतिकत्वात् जीवस्य। नापि कश्चिदन्यः साधारणोऽसाधारणो वा जीवानामवयवाऽऽधारो निरूप्यते प्रमाणाभावात्। किञ्चान्यत्, अनवधृतस्वरूपश्चैवं सत्यात्मा स्यात्, आगच्छतामपगच्छतां चाऽवयवानामनियतपरिमाणत्वात्, अत एवमादिदोष-

भाष्यका अनुवाद

एक अवयव आत्मा होगा। और वह यही है, इस प्रकार उसका निरूपण नहीं किया जा सकेगा। और दूसरी बात यह है कि आनेवाले अवयव कहांसे प्रादुर्भूत होते हैं और जानेवाले ये अवयव कहां लीन होते हैं, यह कहना चाहिए। ये भूतोंसे प्रादुर्भूत होंगे और भूतोंमें लीन होंगे, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जीव अभौतिक है। इसी प्रकार साधारण या असाधारण जीवोंके अवयवोंके किसी दूसरे आधारका निरूपण नहीं किया जाता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। और दूसरी बात यह भी है कि ऐसी अवस्थामें आत्मा अनिश्चितस्वरूप ठहरेगा अर्थात् आत्माके स्वरूपका निश्चय नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि आने

रत्नप्रभा

आगमापायिशीलावयवत्वे सति कियन्त आयान्ति अवयवाः कियन्तोऽपयान्तीत्यज्ञानादात्मनिश्चयाभावात् अनिर्मोक्षः स्यादित्याह—किञ्चेति। अपि च अवयवारब्धावयवित्वे जीवस्याऽनित्यत्वम्, अवयवसमूहत्वे च असत्त्वम्, आत्मत्वस्य यावदवयववृत्तित्वे यत्किञ्चिदवयवापायेऽपि सद्यः शरीरस्याऽचेतनत्वम्, गोत्ववत् प्रत्येकं

रत्नप्रभाका अनुवाद

असाधारण है, ऐसा अर्थ है। और आत्माके अवयव आगम और आपगम धर्मवाले हों, तो कितने आये और कितने गये, उनका अज्ञान होनेसे—आत्मनिश्चय न होनेसे अनिर्मोक्ष हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"किं च" इत्यादिसे। और जीव अवयवोंसे आरब्ध अवयवी हो, तो अनित्य होगा, अवयवोंका समूह हो, तो असत् होगा और आत्मत्व यावदवयववृत्ति हो—सम्पूर्ण अवयवोंमें रहता हो, तो चाहे जिस किसी अवयवका अपाय होनेपर तुरन्त शरीर अचेतन हो जायगा, गोत्वके समान प्रत्येक अवयवमें आत्मत्व समाप्त होता हो, तो एक शरीरमें भिन्न-भिन्न आत्मा हों, तो बहुत चेतन एक अभिप्रायवाले हों, ऐसे नियम न होनेसे कदाचित् विरुद्ध

भाष्य

प्रसङ्गान्न पर्यायेणाऽप्यवयवोपगमाऽपगमावात्मन आश्रयितुं शक्येते ।

अथवा पूर्वेण सूत्रेण शरीरपरिमाणस्याऽऽत्मन उपचितापचितशरीरान्तरप्रतिपत्तावकात्स्न्र्यप्रसञ्जनद्वारेणाऽनित्यतायां चोदितायां पुनः पर्यायेण परिमाणानवस्थानेऽपि स्रोतःसन्ताननित्यतान्यायेनाऽऽत्मनो नित्यता स्यात्, यथा रक्तपटानां विज्ञानानवस्थानेऽपि तत्सन्ताननित्यता तद्वद्विसिचाम-

भाष्यका अनुवाद

और जानेवाले अवयव अनिश्चितपरिमाणवाले हैं। इसलिए ऐसे दोषोंके प्रसंगसे आत्माके अवयवोंका क्रमशः उपगम और अपगम स्वीकार नहीं किया जा सकेगा।

अथवा पूर्व सूत्रसे आत्मा शरीरके बराबर हो, तो उपचित और अपचित अन्य शरीरके प्राप्त होनेपर उसके अव्याप्त होनेका प्रसंग आवेगा। इस प्रकार प्रसंग द्वारा अनित्यताकी शंका होनेपर फिर शरीरव्यक्तिभेदसे परिमाण अनवस्थित होता है, तो भी जैसे स्रोतके प्रवाहका सन्तान नित्य है, वैसे आत्मा नित्य होगा। अथवा जैसे रक्तपटोंके—बौद्ध आदिके विज्ञानकी अनवस्थिति

रत्नप्रभा

समाप्तौ एकस्मिन् शरीरे आत्मनानात्वं स्यात्, अतो न देहपरिमाणत्वसावयवत्वे आत्मन इति उपसंहरति—अत इति ।

सूत्रस्याऽर्थान्तरमाह—अथवेति । स्थूलसूक्ष्मशरीरप्राप्तौ अकात्स्न्र्योक्तिद्वारेण ऽऽत्मानित्यतायाम् उक्तायां सुगतवत् सन्तानरूपेणाऽऽत्मनित्यताम् आशङ्क्य अनेन उत्तरमुच्यते इत्यन्वयः। पर्यायेणेति अस्य व्याख्या—स्रोत इति। देहभेदेन परिमाणस्य आत्मनश्चाऽनावस्थानेऽपि—नाशेऽपि, स्रोतः—प्रवाहः, तदात्मकस्याऽऽत्मव्यक्तिसन्तानस्य नित्यतया आत्मनित्यता स्यादित्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । सिग्—वस्त्रं

रत्नप्रभाका अनुवाद

दिशाओंमें क्रिया करनेसे शरीरका उन्मथन कर डालें, इसलिए आत्मा देहपरिमाण नहीं और सावयव नहीं है, ऐसा उपसंहार करते हैं—"अतः" इत्यादिसे। सूत्रका अन्य अर्थ कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। स्थूल और सूक्ष्म शरीरकी प्राप्तिमें आत्मा अकृत्स्न होगा, इस वचन द्वारा आत्मा अनित्य है, यह कहा गया है, ऐसी स्थितिमें सुगतके समान सन्तानरूपसे आत्मनित्यताकी आशङ्का करके उसका इस सूत्रसे उत्तर कहा जाता है, ऐसा वाक्यान्वय है। 'पर्यायेण, इस सूत्रस्थ शब्दका व्याख्यान करते है—"स्रोत" इत्यादिसे। देहके भेदसे आत्माके परिमाणका अवस्थान न होनेपर अर्थात् नाश होनेपर स्रोत—प्रवाह। स्रोतरूप आत्मव्यक्तिसन्तानके नित्य होनेसे आत्मा नित्य होगा, इसपर दृष्टान्त

भाष्य

पीत्याशङ्क्याऽनेन सूत्रेणोत्तरमुच्यते। सन्तानस्य तावत् अवस्तुत्वे नैरात्म्यवादप्रसङ्गः, वस्तुत्वेऽप्यात्मनो विकारादिदोषसङ्गादस्य पक्षस्याऽनुपपत्तिरिति ॥ ३५ ॥

भाष्यका अनुवाद

होनेपर भी उसका सन्तान नित्य है, वैसे ही दिगम्बरका सन्तान नित्य है, ऐसी शंकाकर इस सूत्रसे उत्तर कहते हैं। सन्तानके अवस्तु होनेपर नैरात्म्यवाद प्रसक्त होगा। वस्तु होनेपर भी आत्माके विकार आदि दोषोंका प्रसंग होनेसे यह पक्ष अनुपपन्न है ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभा

विगतं येभ्यः ते विसिचः—दिगम्बराः, तेषामित्यर्थः। 'पर्यायात्'—सन्तानात् अपि आत्मनित्यत्वस्य अविरोधः इति न च। कुतः? 'विकारादिभ्यः'। सन्तानस्य अवस्तुनः आत्मत्वे शून्यवादः, सन्तानस्य वस्तुत्वे, सन्तान्यतिरेके च कूटस्थात्मवादः, अनतिरेके जन्मादिविकारो विनाशो मुक्त्यभाव इत्युक्तदोषप्रसंगात् सन्तानात्मपक्षोऽनुपपन्न इति सूत्रार्थः ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे। सिक्—वस्त्र, जो वस्त्ररहित हैं वे विसिच् कहलाते हैं अर्थात् दिगम्बर—जैन, उनका, ऐसा अर्थ है। पर्यायसे अर्थात् सन्तानसे आत्माके नित्यत्वका विरोध नहीं है, ऐसा कहोगे, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि विकार आदि दोष हैं। सन्तान अवस्तु हो, तो उसको आत्मा माननेसे शून्यवाद होता है। सन्तान वस्तु—वास्तविक हो और सन्तानीसे अतिरिक्त हो, तो कूटस्थ आत्मवाद होता है। और सन्तानीसे अनतिरिक्त हो, तो जन्मादिविकार, विनाश, मुक्तिका अभाव आदि दोष होनेसे सन्तानात्मपक्ष अनुपपन्न है, ऐसा सूत्रार्थ है ॥३५॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—अन्त्यावस्थितेः, च, उभयनित्यत्वात्, अविशेषः।

पदार्थोक्ति—च—अपि, अन्त्याऽवस्थितेः—अन्त्यस्य मोक्षावस्थाभाविनो जीवपरिमाणस्य नित्यत्वेनाऽवस्थितेः, उभयनित्यत्वाद्—तत्पूर्वयोरप्याद्यमध्यमपरिमाणयोः नित्यत्वप्रसंगात्, अविशेषः—त्रयाणामपि आद्यमध्यान्त्यपरिमाणानां साम्यं [स्यात् अतः सौगतमतवदार्हतमतमप्यप्रामाणिकमिति सिद्धम्]।

भाषार्थ—मोक्षावस्थाके जीव परिमाणके नित्य होनेसे उससे पूर्वके आद्य और मध्यम परिमाणके नित्य होनेसे आद्य, मध्य और अन्त्य परिमाणोंमें समता होगी इससे सिद्ध हुआ कि बौद्धोंके मतके समान जैनोंका मत भी प्रामाणिक नहीं है।

भाष्य

अपि चान्त्यस्य मोक्षावस्थाभाविनो जीवपरिमाणस्य नित्यत्वमिष्यते जैनैः, तद्वत् पूर्वयोरप्याद्यमध्यमयोर्जीवपरिमाणयोर्नित्यत्वप्रसङ्गादविशेषप्रसङ्गः स्यात्, एकशरीरपरिमाणतैव स्यान्नोपचितापचितशरीरान्तरप्राप्तिः। अथ

भाष्यका अनुवाद

और अन्त्य अर्थात् मोक्षकी अवस्थामें प्राप्त होनेवाला जीवपरिमाण नित्य है ऐसा जैन मानते हैं। उसी प्रकार उसके पूर्वके आदि और मध्यम परिमाणोंके भी नित्य होनेसे तीनों परिमाण बराबर हो जायंगे। एक शरीरके बराबर आत्मा होगी, उपचित और अपचित—स्थूल, सूक्ष्म अन्त्य शरीरको प्राप्त

रत्नप्रभा

यं स्थूलं वा सूक्ष्मं वा देहं गृह्णाति तद्देहपरिमाण एव जीव इति नियमं दूषयति—अन्त्येति। अन्त्यशरीरपरिमाणस्याऽवस्थितेः नित्यत्वदर्शनात् उभयोराद्यमध्यमपरिमाणयोः अनित्यत्वप्रसंगाद् अविशेषः त्रयाणां नित्यपरिमाणानां साम्यं स्याद् विरुद्धपरिमाणानाम् एकत्राऽयोगादिति सूत्रयोजना। आद्यमध्यमपरिमाणे नित्ये, आत्मपरिमाणत्वात्, अन्त्यपरिमाणवत्। न चाऽप्रयोजकता, परिमाणनाशे सति आत्मनोऽपि नाशाद् अन्त्यपरिमाणनित्यत्वायोगादिति भावः। परिमाणत्रयसाम्यापादनफलमाह—एकेति। अन्त्यशरीरसमान्येव पूर्वशरीराणि स्युः, विषमशरीरप्राप्तावात्मनस्तत्परिमाणत्वं परिमाणत्रयसाम्याऽनुमानविरोधात् इत्यर्थः। पूर्वकालत्रये परिमाणत्रयम् अङ्गीकृत्य अन्त्यदृष्टान्तेन नित्यत्वमनुमाय साम्यमापादितम्, सम्प्रति अन्त्यस्य मुक्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीव जिस स्थूल या सूक्ष्म देहका ग्रहण करता है उस देहके परिमाणसे ही युक्त होता है, इस नियमको दूषित करते हैं—"अन्त्य" इत्यादिसे। अन्त्य शरीरपरिमाणको अवस्थिति होनेसे नित्य मानते हैं, इसलिये आदि और मध्यम दोनों परिमाणोंकी स्थिति नित्य हो जायगी, इससे समानता होगी, अर्थात् नित्यपरिमाण तीनों शरीरोंमें समानता होगी, क्योंकि विरुद्ध परिमाण एक स्थानमें नहीं रह सकता ऐसी सूत्रकी योजना है। आद्य और मध्यम परिमाण नित्य हैं, आत्मपरिमाण होनेसे, अन्त्यपरिमाणके समान, ऐसा अनुमान प्रयोग है। हेतु अप्रयोजक है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि—परिमाणका नाश होनेपर आत्माका भी नाश होनेसे अन्त्य परिमाण नित्य नहीं होगा ऐसा भाव है। तीनों परिमाणोंकी समानताके उपपादनका फल कहते हैं—"एक" इत्यादिसे। अन्त्य शरीरके समान ही पूर्व शरीर होंगे, क्योंकि विषम शरीर प्राप्त करें तो आत्मा उनके परिमाणसे होगा, और परिमाणत्रय समान है इस अनुमानका विरोध होगा, ऐसा अर्थ है। पूर्व योजनामें तीन कालमें तीन परिमाणोंका स्वीकार करके अन्त्य

भाष्य

वाऽन्त्यस्य जीवपरिमाणस्याऽवस्थितत्वात् पूर्वयोरप्यवस्थयोरवस्थितपरिमाण एव जीवः स्यात्, ततश्चाऽविशेषेण सर्वदैवाऽणुर्महान् वा जीवोऽभ्युपगन्तव्यो न शरीरपरिमाणः, अतश्च सौगतवदार्हतमपि मतमसंगतमित्युपेक्षितव्यम् ॥ ३६ ॥

भाष्यका अनुवाद

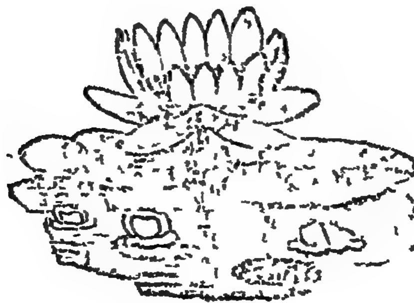
नहीं कर सकेगी। अथवा अन्त्य जीवपरिमाणके अवस्थित होनेसे दो पूर्व अवस्थाओंमें भी जीव अवस्थित परिमाणवाला ही होगा, इसलिये समान रीतिसे सर्वदा जीवको अणु या महान् मानना होगा शरीरपरिमाण नहीं, इसलिए सौगतमतके समान आर्हत मत भी असङ्गत होनेसे उपेक्षणीय है ॥३६॥

रत्नप्रभा

परिमाणस्य अणुत्वस्थूलत्वयोः अन्यतरत्वेनाऽवस्थितेस्तदेव अन्त्यम् आद्यमध्यमकालयोरपि नित्यत्वात् स्यात्, प्राग् असतो नित्यत्वायोगात्, तथा चाऽविशेषः कालत्रयेऽपि जीवपरिमाणभेद इत्याह—अथवेति। तस्माद् भ्रान्त्येकशरणक्षपणकसिद्धान्तेनाऽविरोधः समन्वयस्येति सिद्धम् ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

दृष्टान्तसे परिमाण नित्य है ऐसा अनुमान करके तीनों शरीर समान हैं ऐसा प्रतिपादन किया गया है, अब मुक्त परिमाणके अणु या स्थूल दोमेंसे एकरूपसे अवस्थित होनेसे ही वही अन्त्य परिमाण आद्य और मध्यकालमें भी होगा, क्योंकि अन्त्य परिमाण नित्य है और पूर्वमें न हो, तो नित्यत्व युक्त न हो, इसलिये तीनों कालमें भी जीव परिमाणका अभेद है ऐसा कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। इसलिए भ्रान्ति ही जिसका शरण है ऐसे क्षपणक सिद्धान्तसे वेदान्त समन्वय विरुद्ध नहीं है ॥३६॥



[७ पत्यधिकरण सू० ३७—४१]

तटस्थेश्वरवादो यः स युक्तोऽथ न युज्यते ।
युक्तः कुलालदृष्टान्तान्नियन्तृत्वस्य सम्भवात् ॥
न युक्तो विषमत्वादिदोषाद्वैदिक ईश्वरे ।
अभ्युपेते तटस्थत्वं त्याज्यं श्रुतिविरोधतः ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—तटस्थ ईश्वर कारणवाद युक्त है अथवा नहीं ?
पूर्वपक्ष—कुम्भकारके दृष्टान्तसे ईश्वरमें नियन्तृत्वके संभवसे युक्त है ।
सिद्धान्त—ईश्वरमें विषमता आदिके दोषसे तटस्थेश्वरकारणवाद युक्त नहीं है ।

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—पत्युः, असामञ्जस्यात् ।

पदार्थोक्ति—पत्युः—ईश्वरस्य [जगदुपादानप्रधानादिप्रेरकत्वेन जगन्निमित्तत्वमात्रं न संभवति, कुतः] असामञ्जस्यात्—ईश्वरस्य जगत्सर्जने प्रवृत्तौ रागादिदोषप्रसंगाद् असामञ्जस्यात् ।

भाषार्थ—ईश्वर प्रधान आदि जगत्के उपादान कारणोंका प्रेरक होनेसे जगत्का निमित्त कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वरके विषम जगत्की सृष्टिमें प्रवृत्त होनेपर राग, द्वेष आदिकी प्राप्ति होनेसे असामञ्जस्य होगा ।

---

* सारांश यह है कि—पूर्व प्रकरणमें शास्त्रप्रमाणसे विस्तारपूर्वक ईश्वर निमित्त और उपादान दोनों कारण है—ऐसा प्रतिपादन हो चुका है, इस मतको सहन नहीं करनेवाले तार्किक लोग ईश्वरको केवल निमित्त कारण मानते हैं । युक्ति भी कहते हैं—जैसे कि अनुपादान कुलाल दण्ड चक्र इत्यादिका नियमन करता हुआ घटादिके प्रति कर्ता है, वैसे तटस्थ ईश्वर अनुपादान होता हुआ कर्ता होगा ।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—ईश्वरमें केवल निमित्त कारणत्व होनेपर वैषम्य और नैर्घृण्य रूप दोषका परिहार करना सर्वथा नहीं बनेगा, तो तुम उस दोषका परिहार कैसे करोगे ? प्राणिकर्मकी अपेक्षा होनेसे ईश्वरमें उक्त दोषकी सम्भावना नहीं है और शास्त्रप्रमाण भी हमको मिलता है । यदि आखिरमें तुम आगमको स्वीकृत करोगे, तो ईश्वरमें तटस्थत्वका त्याग करना पड़ेगा । "बहु स्यां प्रजायेय" इत्यादि ईश्वरको उपादान कारण कहनेवाले श्रुतिवाक्योंके साथ विरोध स्पष्ट है, अतः तटस्थ ईश्वर कारणवाद युक्त नहीं है ।

भाष्य

इदानीं केवलाऽधिष्ठात्रीश्वरकारणवादः प्रतिषिध्यते। तत्कथमवगम्यते? 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' 'अभिध्योपदेशाच्च' (ब्र० १।४।२३,२४) इत्यत्र प्रकृतिभावेनाऽधिष्ठातृभावेन चोभयस्वभावस्येश्वरस्य स्वयमेवाऽऽचार्येण प्रतिष्ठापितत्वात्। यदि पुनरविशेषेणेश्वरकारणवादमात्रमिह प्रतिषिध्येत पूर्वोत्तरविरोधाद्व्याहताभिव्याहारः सूत्रकार इत्येतदापद्येत। तस्मादप्रकृतिरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इत्येष पक्षो वेदान्तवि-

भाष्यका अनुवाद

अब 'केवल अधिष्ठाता ईश्वर जगत्का कारण है' इस वादका प्रतिषेध किया जाता है। यह किस प्रकार समझा जाता है "प्रकृतिश्च" और "अभिध्योपदेशाच्च" इनमें ईश्वर उभय स्वभाव है—प्रकृति और निमित्त, ऐसा आचार्यने स्वयं ही प्रतिष्ठापित किया है। इसलिये यदि यहां भी अविशेषसे ईश्वर जगत्का कारण है इस वादका ही प्रतिषेध किया जाय तो पूर्व और उत्तरके विरोधसे सूत्रकार परस्पर विरुद्ध वचन कहते हैं, ऐसा प्रसक्त होगा।

रत्नप्रभा

पत्युः असामञ्जस्यात्। लुञ्चितकेशमतनिरसनानन्तरं जटाधारिशैवमतं बुद्धिस्थं निराक्रियते इति प्रसंगसंगतिम् आह—इदानीमिति। सामान्यत ईश्वरनिरास एवाऽत्र किं न स्यादिति शङ्कते—तदिति। स्वोक्तिविरोधान्मैवमित्याह—प्रकृतिश्चेत्यादिना। प्रतिष्ठापितत्वात् केवलनिमित्तेश्वरप्रतिषेधोऽवगम्यत इत्यन्वयः। व्याहतः—विरुद्धोऽभिव्याहार उक्तिर्यस्य सः तथा। अद्वितीयब्रह्मप्रकृतिकं जगदिति वदतो वेदान्तसमन्वयस्य कर्तैवेश्वरो न प्रकृतिरिति शैवादिमतेन विरोधोऽस्ति न वेति सन्देहे तन्मतस्य मानमूलत्वाद् विरोधे सति वेदान्तोक्ताद्वयब्रह्मासिद्धिरिति फलमभिप्रेत्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"पत्युरसामञ्जस्यात्"। लुञ्चितकेशोंके—दिगम्बरोंके मतका निरसन करनेपर बुद्धिस्थ जटाधारी शैवके मतका निराकरण किया जाता है, इस प्रकार प्रसङ्ग सङ्गति कहते हैं—"इदानीम्" इत्यादिसे। सामान्य रीतिसे ईश्वरका निराकरण यहां क्यों न हो? ऐसी शङ्का करते हैं—"तद्" इत्यादिसे। अपनी उक्तिसे विरोध होनेसे ऐसा नहीं है, यह उत्तर कहते हैं—"प्रकृतिश्च" इत्यादिसे। प्रतिष्ठापित किया है, इसलिये केवल निमित्तेश्वरका प्रतिषेध समझा जाता है, ऐसा अन्वय है। जिसकी विरुद्ध उक्ति हो वह 'व्याहताऽभिव्याहार' कहा जाता है। अद्वितीय ब्रह्म जगत्का प्रकृति है, ऐसा वेदान्त समन्वय कहता है, इसका (वेदान्त समन्वयका) 'ईश्वर कर्ता ही है प्रकृति नहीं' इस महेश्वरादिमतसे विरोध है या नहीं? ऐसा सन्देह होनेपर उसका मत मानमूलक होनेसे विरोध होनेपर वेदान्तमें कहा हुआ

भाष्य

हितब्रह्मैकत्वप्रतिपक्षत्वाद् यत्नेनाऽत्र प्रतिषिध्यते। सा चेयं वेदबाह्येश्वरकल्पनाऽनेकप्रकारा। केचित्तावत् सांख्ययोगव्यपाश्रयाः कल्पयन्ति-प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इतरेतरविलक्षणाः प्रधानपुरुषेश्वरा इति। माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताः पञ्च पदार्थाः पशुपतिनेश्वरेण पशुपाशविमोक्षणायोपदिष्टाः, पशुपतिरीश्वरो

भाष्यका अनुवाद

इसलिए ईश्वर प्रकृति नहीं है केवल अधिष्ठाता—निमित्त कारण है, इस पक्षका यहाँपर यत्नसे प्रतिषेध किया जाता है, क्योंकि वह वेदान्तमें कहे हुए ब्रह्मैकत्वका प्रतिपक्ष है। यह वेदबाह्य ईश्वर कल्पना अनेक प्रकारकी है—कुछ लोग सांख्ययोगका आश्रय करके प्रधान और पुरुषका अधिष्ठाता—ईश्वर केवल निमित्त कारण है, और प्रधान, पुरुष एवं ईश्वर ये परस्पर विलक्षण हैं ऐसा कहते हैं। माहेश्वर ऐसा मानते हैं कि कार्य, कारण, योग, विधि और दुःख ये पांच पदार्थ पशुपति ईश्वरसे पशुपाश—जीवबन्धके विनाशके लिए

रत्नप्रभा

सत्त्वासत्त्वयोः एकत्र असम्भवत् कर्तृत्वोपादानत्वयोरपि एकत्र असम्भवात् कर्तैव ईश्वर इति पूर्वपक्षं कुर्वन् अवान्तरमतभेदमाह—सा चेति। सेश्वराः सांख्याः,सांख्यशब्दार्थः। चत्वारो माहेश्वराः—शैवाः, पाशुपताः, कारुणिकसिद्धान्तिनः, कापालिकाश्चेति। सर्वेऽपि अमी महेश्वरप्रोक्तागमानुगामित्वात् माहेश्वरा उच्यन्ते। कार्यं महदादिकम्, कारणम्—प्रधानम् ईश्वरश्च २, योगः—समाधिः ३, विधिः—त्रिषवणस्नानादिः ४, दुःखान्तः—मोक्षः ५ इति पञ्च पदार्थाः, पशवः—जीवाः, तेषां पाशः—बन्धः तन्नाशाय इत्यर्थः। पाशुपतागमप्रामाण्यात् पशुपतिर्निमित्तमेव इति मतम् उक्त्वाऽनु-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अद्वितीय ब्रह्म असिद्ध होता है इस फलके उद्देशसे जैसे सत्य और असत्य एक स्थानमें नहीं रह सकते हैं, वैसे कर्तृत्व और उपादानत्वका भी एकत्र सम्भव न होनेसे ईश्वर कर्ता ही है ऐसा पूर्वपक्ष करते हुए अवान्तर मतभेद कहते हैं—"सा च" इत्यादिसे। सांख्यका अर्थ सेश्वर सांख्य समझना। माहेश्वरके चार भेद हैं—शैव, पाशुपत, कारुणिकसिद्धान्ती और कापालिक, ये सब महेश्वरसे कथित शास्त्रके अनुयायी होनेसे माहेश्वर कहलाते हैं। कार्य—महदादि, कारण—प्रधान और ईश्वर, योग—समाधि, विधि—त्रिषवण स्नानादि, दुःखान्त—मोक्ष, ये उनके मतमें पांच पदार्थ हैं। पशु—जीव उसका पाश—बन्ध उसके विनाशके लिए, ऐसा अर्थ है। पाशुपत आगमके प्रामाण्यसे पशुपति निमित्त कारण ही है यह मत कहकर आनुमानिक ईश्वरमत

भाष्य

निमित्तकारणमिति वर्णयन्ति। तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित् कथंचित् स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति।

अत उत्तरमुच्यते—'पत्युरसामञ्जस्यात्' इति। पत्युरीश्वरस्य प्रधानपुरुषयोरधिष्ठातृत्वेन जगत्कारणत्वं नोपपद्यते, कस्मात्? असामञ्जस्यात्। किं पुनरसामञ्जस्यम्? हीनमध्योत्तमभावेन हि प्राणिभेदान् विदधत ईश्वर-

भाष्यका अनुवाद

उपदिष्ट हैं, और पशुपति-ईश्वर निमित्त कारण है ऐसा वर्णन करते हैं। और वैशेषिक आदि भी कितने लोग किसी प्रकार अपनी प्रक्रियाके अनुसार ईश्वर निमित्त कारण है, ऐसा वर्णन करते हैं।

अतः उत्तर कहते हैं—'पत्युरसामञ्जस्यात्' पति-ईश्वर प्रधान और पुरुषके अधिष्ठानरूपसे जगत्कारण नहीं हो सकता, किससे? असामञ्जस्यसे-अयुक्ततासे। असामञ्जस्यका कैसा स्वरूप है? हीन, मध्यम और उत्तम भावसे प्राणिभेदको उत्पन्न

रत्नप्रभा

मानिकेश्वरमतमाह—तथेति। विमतं सकर्तृकम्, कार्यत्वाद्, घटवत् इति वैशेषिकाः कर्तारमीश्वरं साधयन्ति। कर्मफलं सपरिकराभिज्ञदातृकम्, कालान्तरभाविफलत्वात्, सेवाफलवदिति गौतमा दिगम्बराश्च। ज्ञानैश्वर्योत्कर्षः क्वचिद् विश्रान्तः, सातिशयत्वात्, परिमाणवदिति सांख्यसौगतपातञ्जला इति मत्वा उक्तम्—केचित् कथञ्चिदिति।

सिद्धान्तयति—अत इति। आगमादिना निर्दोषेश्वरसिद्धेः कथं दोषवत्त्वमित्याह—किमिति। न तावत् स्वस्वागमाद् ईश्वरनिर्णयः आगमानां निर्मूलत्वेन अप्रामाण्यात्। न च सर्वज्ञज्ञानं मूलम्, तत्र मानाभावात्। न चाऽऽगम एव मानम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं-"तथा" इत्यादिसे। विमत सकर्तृक है, कार्य होनेसे, घटके समान, इस प्रकार वैशेषिक ईश्वर कर्ता है ऐसा सिद्ध करते हैं। कर्मफल परिकर सहित अभिज्ञसे दिया जाता है, कालान्तरभावी फल होनेसे, सेवाफलके समान, ऐसा गौतम और दिगम्बर सिद्ध करते हैं। एवं ज्ञान तथा ऐश्वर्यका उत्कर्ष, कहींपर विश्रान्त है, सातिशय होनेसे, परिमाणके समान, ऐसा सांख्य, गौतम, और पातञ्जल ईश्वरको निमित्त कारण सिद्ध करते हैं, ऐसा विचार कर कहते हैं—"केचित् कथंचिद्" इत्यादिसे। सिद्धान्त कहते हैं—"अतः" इत्यादिसे। आगमादिसे निर्दोष ईश्वर सिद्धि होनेसे वह सदोष कैसे है? ऐसा कहते हैं-"किम्" इत्यादिसे। अपने अपने आगमोंसे ईश्वरका निर्णय नहीं होगा, क्योंकि आगम निर्मूल होनेसे अप्रमाण हैं। सर्वज्ञका ज्ञान उसका

भाष्य

आगममानत्वनिश्चये मूलनिश्चयस्तन्निश्चये आगमप्रामाण्यनिश्चय इति अन्योन्याश्रयात्। न च पुरुषवचसां स्वतो मानत्वं युक्तम्, मिथो विरोधेन तत्त्वाव्यवस्थानाच्च। नापि अनुमानाद् ईश्वरः सर्वज्ञः कर्त्तैव इति निर्णयः सम्भवति, अनुमानस्य दृष्टानुसारित्वेन दृष्टविपरीतार्थासाधकत्वात्। तथा च लोके यादृशाः कर्त्तारो दृष्टास्तादृशा एव जगत्कर्त्तारो रागद्वेषादिमन्तः सिध्येयुः। यदि लोके विचित्रप्रासादादिकर्तुरेकत्वाद्यदर्शने अपि जगत्कर्त्तरि लाघवादेकत्वं नित्यज्ञानं निर्दोषत्वं च कल्प्येत, तर्हि द्रव्योपादानत्वमपि कल्प्यताम्। कर्तुरेवोपादानत्वेन लाघवात्। अन्यथा स्वतन्त्रप्रधानपरमाण्वाद्युपादानकल्पनागौरवात्, अदृष्टत्वाच्चेत् कर्त्तुः द्रव्योपादानत्वासिद्धिः एकत्वादिकमपि न सिध्येत्। अस्माकं तु अपौरुषेयतया स्वतःसिद्धप्रमाणभावया श्रुत्या स्वप्रमेयबोधने दृष्टान्तानपेक्षा भवत्येव लौकिककर्तृविपरीताद्वितीयकर्त्रुपादानात्मकसर्वज्ञनिर्दोषेश्वरनिर्णयः। निर्णीते च तस्मिन् धर्मिग्राहकमानबाधात् न रागादिदोषाऽऽपादानस्याऽवकाश इति आनुमानिकेश्वरवादिभ्यो वैषम्यम्, तदभिप्रेत्याऽश्रौतस्य ईश्वरस्याऽसामञ्जस्यमाह—हीनेति। यदि कर्त्तुरुपादानत्वम् अदृष्टत्वाद् न कल्प्यते, तर्हि

रत्नप्रभाका अनुवाद

मूल है, यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि उसमें प्रमाणका अभाव है। आगम ही प्रमाण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आगम प्रमाण है, यह निश्चय होनेपर मूलका निश्चय होगा, और मूलका निश्चय होनेपर आगमप्रामाण्यका निश्चय होगा, ऐसा अन्योऽन्याश्रय दोष आवेगा, और पुरुषवचन स्वतः प्रमाण है यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध होनेसे तत्त्वका व्यवस्थापन नहीं कर सकते। अनुमानसे सर्वज्ञ ईश्वर कर्ता है, ऐसा निर्णय भी नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुमान दृष्टानुसारी होनेसे दृष्टसे विपरीत अर्थको सिद्ध नहीं करेगा। इसलिए लोकमें जैसा कर्ता देखनेमें आता है वैसा ही रागद्वेषादियुक्त जगत्कर्ता सिद्ध होगा। यद्यपि लोकमें विचित्र प्रासादादिका कर्ता एक है ऐसा देखनेमें नहीं आता, तो भी जगत्कर्तामें लाघवसे एकत्व, नित्यज्ञान और निर्दोषत्वकी कल्पना की जा सकती है, ऐसा कहोगे तो ईश्वरमें द्रव्योंके उपादानकारणत्वकी भी कल्पना करो, क्योंकि कर्ता ही उपादान हो इसमें लाघव है, इसके विपरीतमें तो स्वतन्त्र प्रधान परमाणु इत्यादिमें उपादानत्व की कल्पना करनेसे गौरव होगा। यदि अदृष्ट होनेसे कर्ता उपादान है ऐसा सिद्ध न हो, तो कर्ताके एकत्व आदि भी सिद्ध न होंगे। हम वेदान्तियोंको तो श्रुति अपौरुषेय है और उसके प्रामाण्यके स्वतः सिद्ध होनेसे वह श्रुति अपने प्रमेयका बोध करती है उसमें दृष्टान्तकी अपेक्षा न होनेसे लौकिक कर्तासे विपरीत अद्वितीय कर्ता जगत्का उपादान सर्वज्ञ निर्दोष ईश्वर है ऐसा निर्णय होता है। एवं उसका निर्णय होनेसे धर्मिग्राहक प्रमाणके बाधसे रागद्वेषादि दोष लगानेका अवकाश नहीं है, इस प्रकार आनुमानिक ईश्वरवादियोंसे वेदान्तियोंका वैषम्य है। इस उद्देशसे अश्रौत ईश्वरका असामञ्जस्य कहते हैं—"हीन"

भाष्य

स्य रागद्वेषादिदोषप्रसक्तेरस्मदादिवदनीश्वरत्वं प्रसज्येत। प्राणिकर्मापेक्षितत्वाददोष इति चेत्; न, कर्मेश्वरयोः प्रवर्त्यप्रवर्तयितृत्वे इतरेत-

भाष्यका अनुवाद

करनेवाले ईश्वरमें राग, द्वेष आदि दोष प्रसक्त होनेसे हम लोगोंके समान (उसमें) अनीश्वरत्व प्रसक्त होगा। प्राणियोंके कर्मकी अपेक्षा होनेसे उक्त दोष नहीं है ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि कर्म और ईश्वर प्रवर्त्य और प्रवर्त्तयिता

रत्नप्रभा

निर्दोषत्वस्याऽपि अदृष्टत्वात् यो विषमकारी स दोषवान् इति व्याप्तिदृष्टेश्च जगत्कर्ता दोषवान् स्यात्। न चाऽत्र धर्मिग्राहकानुमानबाधः, कार्यत्वलिङ्गस्य कर्तृमात्रसाधकत्वेन निर्दोषत्वादौ उदासीनत्वात्। न चोत्कर्षसमा जातिः, व्यापकधर्मापादनात्। दोषाभावे तद्व्याप्यविषमकर्तृत्वायोगाच्च, दृष्टान्तस्थाव्यापकधर्माणां पक्षे आपादनं ह्युत्कर्षसमा जातिः, यथा शब्दो यदि कृतकत्वेन हेतुना घटवदनित्यः स्यात्, तर्हि तेनैव हेतुना सावयवोऽपि स्यादिति। न ह्यनित्यत्वस्य व्यापकं सावयवत्वम्, गन्धादौ व्यभिचारादिति भावः। ननु प्राणिकर्मप्रेरित ईश्वरो विषमफलान् प्राणिनः करोति, न स्वेच्छया, इति शङ्कते—प्राणीति। जडस्य कर्मणः प्रेरकत्वायोगान्नैवमित्याह—नेति। न चेश्वरप्रेरितं कर्मेश्वरस्य प्रेरकमिति वाच्यमित्याह—कर्मेति। अतीतकर्मणा प्रेरित ईश्वरो वर्तमानं कर्म तत्फ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। यदि अदृष्ट होनेसे कर्ता उपादान न माना जाय तो निर्दोषत्व भी अदृष्ट है और 'जो विषमकारी है वह दोषवान् है' ऐसी व्याप्ति देखी जाती है, अतः जगत्कर्ता दोषवाला है, विषमकारी होनेसे ऐसा प्राप्त होगा। इसमें धर्मिग्राहक अनुमानका बाध नहीं है, क्योंकि कार्यत्वरूप हेतु कर्तृमात्रका साधक है, अतः निर्दोषत्वमें उदासीन है। वैसे उत्कर्षसमा जाति भी नहीं है, क्योंकि व्यापक धर्मका आपादन होता है। दोषके अभावमें दोषका व्याप्य विषमकर्तृत्व भी नहीं हो सकता। दृष्टान्तमें रहनेवाले अव्यापक धर्मोंका पक्षमें आपादन करना उत्कर्षसमा जाति है, जैसे कि शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे, घटके समान, इसमें कोई कहता है—कृतकत्व हेतुसे घटके समान शब्द अनित्य हो तो उसी हेतुसे शब्द सावयव भी हो, परन्तु अनित्यत्वका व्यापक सावयत्व नहीं है गन्धके अनित्य होनेपर भी सावयत्वका व्यभिचार होनेसे, ऐसा भाव है अपनी इच्छासे ईश्वर प्राणियोंको विषम नहीं बनाता, परन्तु उनके कर्मोंकी अपेक्षासे बनाता है अतः रागादि दोष नहीं है, ऐसी शङ्का करते हैं—"प्राणि" इत्यादिसे। जड कर्मके प्रेरक न होनेसे यह नहीं कह सकते, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। ईश्वरसे प्रेरित जो कर्म वह ईश्वरका प्रेरक हो इसपर कहते हैं—"कर्म" इत्यादिसे। प्राक्तन कर्मसे प्रेरित ईश्वर वर्तमान कर्मके

भाष्य

राश्रयदोषप्रसङ्गात्। नाऽनादित्वाद् इति चेद्, न; वर्तमानकालवदतीतेष्वपि कालेष्वितरेतराश्रयदोषाविशेषादन्धपरम्परान्यायापत्तेः। अपि च 'प्रवर्तना-

भाष्यका अनुवाद

हो तो अन्योऽन्याश्रय दोषप्रसक्त होगा। अनादि होनेसे दोषका निरसन करना भी युक्त नहीं है, कारण कि वर्तमान कालके समान भूतकालमें भी अन्योऽन्याश्रय दोष समान होनेसे अन्धपरम्परा प्रसक्त होगी। और 'प्रवर्तना-

रत्नप्रभा

लाय प्रेरयतीत्यनादित्वात् प्रेर्यप्रेरकभावस्य न अनुपपत्तिरिति शङ्कते—**नाऽनादित्वादिति**। अतीतकर्मणोऽपि जडत्वान्नेश्वरप्रेरकता, न च तदपीश्वरेण प्रेरित सदीश्वरं प्रेरयति, उक्तान्योन्याश्रयात्, ततोऽप्यतीतकर्मप्रेरितेश्वरप्रेरितं तदेव ईश्वरं वर्तमाने कर्मणि फलदानाय प्रेरयतीति चेत्, न; मानहीनाया मूलक्षयावहाया अनवस्थायाः प्रसङ्गात्, अतः कर्मनिरपेक्ष एवेश्वरो विषमस्रष्टा इत्यसामञ्जस्यं दुर्वारमित्यर्थः। यत्तु फलदाने ईश्वरस्य कर्म निमित्तमात्रम्, न प्रेरकमिति नोक्तदोष इति। तन्न। विषमकर्मकारयितुरीश्वरस्य दोषवत्त्वानपायात्, पूर्वकर्मापेक्षया कर्मकारयितृत्वे चोक्ताप्रामाणिकानवस्थानात्। अस्माकं तु "एष ह्येव साध्वसाधु कर्म कारयति" इति 'निरवद्यम्' इति च श्रुतिमूलं पूर्वकर्मापेक्षाकल्पनमिति वैषम्यम्। किञ्च, परमतानुसारेणाऽपीश्वरस्य रागादिमत्त्वं प्राप्नोतीत्याह—अपि चेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसके फलके लिए प्रेरणा करता है, अतः अनादि होनेसे प्रेर्यप्रेरकभावसे अन्योऽन्याश्रय नहीं है ऐसी शङ्का करते हैं—"नाऽनादित्वाद्" इत्यादिसे। अतीत कर्म भी जड होनेसे ईश्वरका प्रेरक नहीं है, वह भी ईश्वरसे प्रेरित होकर ईश्वरकी प्रेरणा करेगा यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त अन्योऽन्याश्रय दोष आवेगा। उससे भी जो अतीत कर्म है उससे प्रेरित जो ईश्वर है उससे प्रेरित हुआ वह ईश्वरको वर्तमान कर्ममें फलदानके लिए प्रेरित करेगा, यह कहोगे तो सो भी युक्त नहीं, क्योंकि प्रमाण हीन मूलक्षय कारक अनवस्थाका प्रसङ्ग आवेगा। इससे कर्म निरपेक्ष ही ईश्वर विषम सृष्टि करता है यह असामञ्जस्य दुर्वार है, ऐसा अर्थ है। और ईश्वरके फलदानमें कर्म निमित्तमात्र है प्रेरक नहीं है, अतः उक्त दोष नहीं, यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि विषम कर्म करानेवाले ईश्वरमेंसे दोषवत्वका वारण नहीं होगा। और पूर्व कर्मकी अपेक्षासे कर्म कराता है ऐसा माननेमें भी उपरोक्त अप्रामाणिक अनवस्था होती है। हम वेदान्तियोंको तो 'एष ह्येव साध्वसाधु कर्म कारयति' (यही साधु और असाधु कर्म कराता है) 'निरवद्यम्' (निरवद्य) ऐसे श्रुतिमूल पूर्व कर्म की अपेक्षाकी कल्पना है, यह वैषम्य है। और अन्यमतके अनुसार भी ईश्वरमें रागादिमत्त्व प्राप्त होता है ऐसा कहते हैं—'अपि च'

भाष्य

लक्षणा दोषाः' (न्या० सू० १।१।१८) इति न्यायवित्समयः। नहि कश्चिददोषप्रयुक्तः स्वार्थे परार्थे वा प्रवर्तमानो दृश्यते। स्वार्थे प्रयुक्त एव च सर्वो जनः परार्थेऽपि प्रवर्तते इत्येवमप्यसामञ्जस्यम्, स्वार्थवत्त्वाद् ईश्वरस्याऽनीश्वरत्वप्रसङ्गात् पुरुषविशेषत्वाऽभ्युपगमाच्चेश्वरस्य, पुरुषस्य चौदासीन्याऽभ्युपगमाद् असामञ्जस्यम् ॥३७॥

भाष्यका अनुवाद

लक्षणा दोषाः'—प्रवर्तकत्व जिनका लक्षण है ऐसे दोष हैं—यह न्यायतत्त्ववेत्ताओंका सिद्धान्त है। दोषके विना कोई स्वार्थ या परार्थमें प्रवृत्त हुआ नहीं देखा जाता। स्वार्थमें प्रयुक्त हुए ही सर्वजन परार्थमें प्रवृत्त होते हैं—यह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि स्वार्थयुक्त होनेसे ईश्वरमें अनीश्वरत्वकी प्रसक्ति होगी। ईश्वर पुरुषविशेष है, इससे—उदासीन होनेसे उसकी प्रवृत्ति मानना भी असमञ्जस ही है ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभा

प्रवर्तकत्वलिङ्गाः दोषाः इति तार्किकाणां स्थितिः, तथा चेश्वरः स्वार्थे रागादिमान्, प्रवर्तकत्वात्, सम्मतवत्। न च कारुणिके व्यभिचारः, परदुःखप्रयुक्तस्वदुःखनिवृत्त्यर्थित्वात् तस्येत्यर्थः। उदासीनः प्रवर्तक इति च व्याहतमिति योगान् प्रत्याह—पुरुषेति ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। प्रवर्तकत्व हेतुसे दोष समझे जाते हैं ऐसी तार्किकों की स्थिति है। अतः ईश्वर स्वार्थमें रागादिमान् है, प्रवर्तक होनेसे, सम्मतके तुल्य, इस अनुमानसे ईश्वरमें रागादि दोष की प्रसक्ति होगी। कारुण्यमूलक प्रवृत्तिमें इस व्याप्तिका व्यभिचार नहीं है, क्योंकि उस स्थलमें भी कारुण्यमूलक स्वदुःख की निवृत्ति ही उसका प्रयोजन है, ऐसा अर्थ है। उदासीन है और प्रवर्तक है, यह कहना व्याघातदोषदुष्ट है ऐसा पातञ्जल योगके प्रति कहते हैं—"पुरुष" इत्यादिसे ॥ ३७ ॥

---

(१) इस सूत्रका अर्थ ऐसा है—'प्रवर्तना' शब्दका अर्थ प्रवृत्तिहेतुत्व है, लक्षण—स्वरूप, दोष—राग, द्वेष, और मोह, प्रवृत्तिलक्षणाः—प्रवृत्तिहेतुस्वरूप है—पुण्य और पापमें कारण हैं, जिसमें (आत्मामें) मिथ्या ज्ञान होता है, उसमें रागादि दोष होते हैं, मिथ्या ज्ञान—अविद्या, यद्यपि प्रवृत्तिहेतुत्व लक्षण अदृष्टादिमें रहनेसे अतिव्याप्त है, क्योंकि कार्यमात्रके प्रति अदृष्टादिको कारण नैयायिकादि मानते हैं, तथापि 'लौकिकमानसप्रत्यक्षाविषयत्वे सति' इतना विशेषण देनेसे दोष नहीं है एवं यागादिविषयक प्रवृत्तिजनकप्रमामें दोष वारणके लिए प्रमान्यत्व भी जोड़ना चाहिए, तथाच—प्रमान्यत्वे सति लौकिकमानसप्रत्यक्षाविषयत्वे सति प्रवृत्तिहेतुत्वम्, दोषका लक्षण प्राप्त हुआ।

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

पदच्छेद—सम्बन्धानुपपत्तेः, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, सम्बन्धानुपपत्तेः—प्रेर्यप्रधानादिभिः प्रेरकस्येश्वरस्य सम्बन्धानुपपत्तेः [ईश्वरः प्रेरको न भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—और प्रेर्य प्रधान आदिके साथ प्रेरक ईश्वरके सम्बन्धकी अनुपपत्ति होनेसे ईश्वर प्रेरक नहीं हो सकता ।

भाष्य

पुनरप्यसामञ्जस्यमेव, नहि प्रधानपुरुषव्यतिरिक्त ईश्वरोऽन्तरेण संबन्धं प्रधानपुरुषयोरीशिता । न तावत् संयोगलक्षणः संबन्धः संभवति, प्रधानपुरुषेश्वराणां सर्वगतत्वान्निरवयवत्वाच्च । नाऽपि समवायलक्षणः संबन्धः,आश्रयाश्रयिभावाऽनिरूपणात् । नाप्यन्यः कश्चित् कार्यगम्यः संबन्धः

भाष्यका अनुवाद

और भी असामञ्जस्य है, क्योंकि प्रधान और पुरुषसे व्यतिरिक्त ईश्वर सम्बन्धके बिना प्रधान और पुरुषका अधिष्ठाता नहीं हो सकेगा। संयोगरूप सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रधान, पुरुष और ईश्वर सर्वगत एवं निरवयव हैं । उसी प्रकार समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, कारण कि आश्रयाश्रयिभावका निरूपण नहीं है । उसी प्रकार अन्य कोई कार्यगम्य

रत्नप्रभा

प्रधानवादे दोषान्तरमाह सूत्रकारः—सम्बन्धेति । ईश्वरेणाऽसम्बद्धस्य प्रधानादेः प्रेर्यत्वायोगात् सम्बन्धो वाच्यः, स च संयोगः समवायो वा नाऽस्तीत्यर्थः । कार्यबलात् प्रेरणयोग्यत्वाख्यः सम्बन्धः कल्प्यताम् इत्यत आह—**नाप्यन्य इति** । ईश्वरप्रेरितप्रधानकार्यं जगत् इति सिद्धं चेत्, सम्बन्धकल्पना स्यात, तच्चाऽद्याप्यसिद्धमित्यर्थः। मायाब्रह्मणोस्तु अनिर्वाच्यतादात्म्यसम्बन्धः, "देवा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रधानवादमें अन्य दोष सूत्रकार कहते हैं—'सम्बन्धानुपपत्तश्च' । ईश्वरसे असम्बद्ध प्रधान आदि ईश्वरसे प्रेरित हों यह युक्त नहीं, इसलिये सम्बन्ध कहना चाहिए। और वह सम्बन्ध संयोग या समवाय नहीं है । कार्यबलसे प्रेरणायोग्यत्व नामका सम्बन्ध माना जाय, उसके लिए कहते हैं—"नाप्यन्यः" इत्यादिसे । ईश्वर प्रेरित प्रधानका कार्य जगत् है, ऐसा यदि सिद्ध हुआ हो तो सम्बन्धकी कल्पना की जाय परन्तु वह अभी तक असिद्ध ही है, ऐसा अर्थ है । वेदान्तीको तो माया और ब्रह्ममें अनिर्वाच्य तादात्म्य सम्बन्ध है, 'देवात्मशक्तिम्'

भाष्य

शक्यते कल्पयितुं कार्यकारणभावस्यैवाऽद्याऽप्यसिद्धत्वात् । ब्रह्मवादिनः कथमिति चेत् , न; तस्य तादात्म्यलक्षणसंबन्धोपपत्तेः । अपि चाऽऽगमबलेन ब्रह्मवादी कारणादिस्वरूपं निरूपयतीति नाऽवश्यं तस्य यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमिति नियमोऽस्ति, परस्य तु दृष्टान्तबलेन कारणादिस्वरूपं निरूपयतो यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमित्ययमस्त्यतिशयः । परस्याऽपि सर्वज्ञप्रणीतागमसद्भावात् समानमागमबलमिति चेत्, न; इतरे-

भाष्यका अनुवाद

सम्बन्ध स्वीकृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि कार्यकारणभाव ही अद्यापि असिद्ध है। ब्रह्मवादीके मतमें किस प्रकार होता है ? यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उनके मतमें तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध उपपन्न है। और ब्रह्मवादी तो आगमके बलसे कारणादिके स्वरूपका निरूपण करते हैं, इसलिए दृष्टानुसारी ही सब उनको स्वीकार करना चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। प्रतिपक्षी तो दृष्टान्तबलसे कारणादि-स्वरूपका निरूपण करते हैं, इसलिये उनको दृष्टके अनुसार ही सबका स्वीकार करना चाहिये ऐसा आशय है। प्रतिपक्षीको भी सर्वज्ञ प्रणीत आगमके सद्भावसे आगम बल समान है, ऐसा कहोगे तो वह

रत्नप्रभा

त्मशक्तिम्" (श्वे० १।३) इति श्रुतेः । किंच वेदस्याऽपूर्वार्थत्वात् न लोकदृष्टमृत्कुलालसम्बन्धो वैदिकेन अनुसर्तव्यः । आनुमानिकेन त्वनुसर्तव्य इति विशेषमाह—अपि चेति । सर्वज्ञस्याऽऽगमप्रामाण्यस्य च ज्ञप्तावन्योन्याश्रयः, अनुमानात् सर्वज्ञसिद्धेर्निरस्तत्वात् । न ह्यमनस्कस्य ज्ञानं संभवति, ज्ञानं मनोजन्यमिति व्याप्तिविरोधात् नित्यज्ञानकल्पनाऽनवकाशादिति भावः । प्रधानवत्

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसी श्रुति है। और वेदके तो अपूर्व अर्थ होनेसे लोकदृष्ट मृत्तिकाकुलालसम्बन्ध वैदिकसे अनुसरण करने योग्य नहीं है। अनुमानसे प्रधानकी सिद्धि करनेवालेको तो लोकदृष्टका अवश्य अनुसरण करना चाहिए ऐसा विशेष कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। सर्वज्ञ और आगमप्रामाण्यके ज्ञानमें अन्योऽन्याश्रय है, अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि निरस्त की है, क्योंकि जिसमें मन नहीं होत उसको ज्ञान नहीं होता, क्योंकि ज्ञान मनोजन्य है, इस व्याप्तिका विरोध आता है, और नित्य ज्ञानकी कल्पनाके लिये अवकाश नहीं है, ऐसा तात्पर्य्य है। प्रधानके समान परमाणुओंका भी निरवयव ईश्वरके साथ संयोगादि न होनेसे वे परमाणु भी ईश्वरसे प्रेरित किये जायँ यह

भाष्य

तराश्रयत्वप्रसङ्गात्—आगमप्रत्ययात् सर्वज्ञत्वसिद्धिः सर्वज्ञप्रत्ययाच्चाऽऽगमसिद्धिरिति। तस्मादनुपपन्ना सांख्ययोगवादिनामीश्वरकल्पना। एवमन्यास्वपि वेदबाह्यास्वीश्वरकल्पनासु यथासंभवमसामञ्जस्यं योजयितव्यम् ॥३८॥

भाष्यका अनुवाद

युक्त नहीं है, क्योंकि आगमके प्रत्ययसे—विश्वाससे सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है, और सर्वज्ञत्वके प्रत्ययसे आगम सिद्ध होता है, ऐसा अन्योऽन्याश्रयदोष आता है, इसलिये साङ्ख्ययोगवादियोंकी ईश्वर-कल्पना अयुक्त है। इसी प्रकार अन्य भी वेदबाह्य ईश्वर कल्पनाओंमें यथासम्भव असामञ्जस्यकी योजना करनी चाहिये[१] ॥३८॥

रत्नप्रभा

परमाणूनाम् अपि निरवयवेश्वरेण संयोगाद्यसत्त्वात् प्रेर्यत्वायोगः, प्रेरकत्वे च ईश्वरस्य दोषवत्त्वम् इत्याह—एवमन्यास्वपीति ॥ ३८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

युक्त नहीं। और ईश्वरको प्रेरक माननेमें ईश्वरमें राग, द्वेष आदि दोषका प्रसङ्ग होगा ऐसा कहते हैं—"एवमन्यास्वपि" इत्यादिसे ॥ ३८ ॥

(१) इसी सूत्रके भाष्यमें भगवान् शङ्कराचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं कि "तस्य तादात्म्यलक्षणसम्बन्धोपपत्तेः" इसका अर्थ है—अनिर्वचनीय तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध वेदान्तीके मतमें उपपन्न है, यहाँ 'अनिर्वचनीय' शब्दके अर्थनिर्वचनमें अनन्त विचार होते हैं, अतः उसका शास्त्रानुकूल निर्वचन करते हैं,—अनिर्वचनीयका क्या लक्षण है? जिसकी निरुक्ति न हो सके, वह अनिर्वचनीय है, अथवा निरुक्ति (निर्वचन) का जो निमित्त न हो, वह अनिर्वचनीय है, अर्थात् निरुक्तिका अभाव या निरुक्तिनिमित्तका अभाव अनिर्वचनीयका लक्षण है, दोनों पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि अनिर्वचनीयवादी "इदं रजतम्" ऐसी निरुक्ति करते हैं, और निरुक्तिका निमित्त ज्ञान तथा अर्थ होता है, उसमें निरुक्ति कारण रजतज्ञान भी अनिर्वचनीय मतमें मान्य है, यदि निरुक्ति-निमित्त अर्थ मानकर उसका विरह अनिर्वचनीय कहोगे तो वह अर्थ सत् रूप है या असत् रूप है? प्रथम पक्षमें असत्ख्यातिवाद, दूसरे पक्षमें सत्ख्यातिवादका प्रसङ्ग आवेगा, अतः लक्षण नहीं बन सकता है, और ऐसे अप्रसिद्ध अनिर्वचनीय पदार्थको माननेमें प्रमाण भी नहीं है, ऐसा प्रश्न होनेपर आप उसका लक्षण करें कि सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मोंसे जो (वस्तु) विचारने योग्य न होकर एवं सदसत्त्वसे विचारार्ह न हो वह अनिर्वचनीय है, सत्त्वका अर्थ त्रिकालाबाध्य और असत्त्वका अर्थ अप्रसिद्ध शशशृङ्गादि है। सभी भ्रम उक्त लक्षणसे युक्त होते ही हैं, इसी अर्थका सग्राहक श्लोक है—"प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं नयत्। गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः॥" समुदित और प्रत्येक सद्सद्में अतिव्याप्तिवारण करने के लिए विशेष्य और विशेषण लक्षणमें प्रविष्ट हैं। यह भी बालप्रवाद हट गया, क्योंकि निरुक्ति-निमित्त-अर्थ और प्रतीतिके व्यवहारिक होनेपर भी सदादि प्रकारसे निश्चयरूपसे नहीं कह सकते

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

पदच्छेद—अधिष्ठानानुपपत्तेः, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, अधिष्ठानानुपपत्तेः—ईश्वरस्य रूपादिहीनप्रधानस्य प्रेरकत्वानुपपत्तेः [ईश्वरनिमित्तकारणवादोऽनुपपन्नः] ।

भाषार्थ—और ईश्वरके रूपादिहीन प्रधानके प्रेरक न होनेसे ईश्वर निमित्त-कारण है, यह वाद सङ्गत नहीं है ।

भाष्य

इतश्चाऽनुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य । स हि परिकल्प्यमानः कुम्भकार इव मृदादीनि प्रधानादीन्यधिष्ठाय प्रवर्तयेत् । न चैवमुपपद्यते । नह्यप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च प्रधानमीश्वरस्याऽधिष्ठेयं सम्भवति, मृदादिवैलक्षण्यात् ॥ ३९ ॥

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी तार्किकपरिकल्पित ईश्वरकी अनुपपत्ति है, क्योंकि परिकल्पित वह (ईश्वर) जैसे कुम्भकार मृत्तिका आदिका अधिष्ठान करके प्रवृत्त करता है, वैसे प्रधान आदिका अधिष्ठान करके प्रवृत्त करेगा। परन्तु यह उपपन्न नहीं होता, क्योंकि अप्रत्यक्ष और रूपादिहीन प्रधान ईश्वरका अधिष्ठेय हो, यह नहीं हो सकता, क्योंकि वह मृत्तिका आदिसे विलक्षण है ॥३९॥

रत्नप्रभा

ईश्वरस्य प्रधानादिप्रेरणाऽनुपपत्तेश्च, असामञ्जस्यमित्याह सूत्रकारः—अधिष्ठानेति । प्रधानादिकं चेतनस्याऽनधिष्ठेयम्, अप्रत्यक्षत्वात्, ईश्वरवत्, व्यतिरेकेण मृदादिवच्चेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ईश्वरमें प्रधानादिकी प्रेरणा युक्त नहीं है, इसलिये भी प्रधानवादमें असामञ्जस्य है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"अधिष्ठान" इत्यादिसे । प्रधानादि ईश्वरका अनधिष्ठेय है, अप्रत्यक्ष होनेसे, ईश्वरके समान, व्यतिरेकसे मृत्तिका आदिके समान, ऐसा अर्थ है ॥ ३९ ॥

है, इसीप्रकार 'ज्ञानबाध्यत्वम्' आदिलक्षण कह सकते हैं, बाध माने—ज्ञानाधिकरणमें अभावका बोधन । ख्यात होकर बाध्यत्वकी अनुपपत्ति, अनिवर्चनीयार्थमें प्रमाण है, एवं विमत [शुक्तिरजतादि] अनिवर्चनीय है, बाध्य होनेसे, जो अनिवर्चनीय नहीं है, वह बाध्य नहीं है, जैसे आत्मा, यह अनुमान भी प्रमाण है, इत्यादि, अधिक विचार अन्य ग्रन्थोंमें विस्तारसे वर्णित हैं ।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

पदच्छेद—करणवत्, चेत्, न, भोगादिभ्यः।

पदार्थोक्ति—करणवत्—करणानि अप्रत्यक्षाणि अपि यथा जीवेन प्रेर्यन्ते तथा प्रधानमप्रत्यक्षमपि ईश्वरेण प्रेर्यते इति चेत्, न; [कुतः] भोगादिभ्यः—जीवस्य भोगार्थमिन्द्रियप्रेरकत्ववद् ईश्वरस्य प्रेरकत्वे भोगादिदोषप्रसङ्गात्।

भाषार्थ—अप्रत्यक्ष होनेपर भी जैसे इन्द्रियां जीवसे प्रेरित होती हैं, वैसे ही अप्रत्यक्ष प्रधान ईश्वर द्वारा प्रेरित होगा, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा माननेसे जैसे जीव भोगके लिए इन्द्रियोंका प्रेरक होता है, वैसे ही ईश्वरको प्रेरक माननेसे, उसमें भी भोगादि दोषोंकी प्राप्ति होगी।

भाष्य

स्यादेतत्, यथा करणग्रामं चक्षुरादिकमप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च पुरुषोऽधितिष्ठत्येवं प्रधानमपीश्वरोऽधिष्ठास्यतीति। तथापि नोपपद्यते। भोगा-

भाष्यका अनुवाद

जैसे नेत्रादिक इन्द्रियसमुदाय अप्रत्यक्ष और रूपादिहीन हैं, उसका पुरुष अधिष्ठाता है, वैसे ही प्रधानका भी ईश्वर अधिष्ठाता होगा, ऐसा हो तो भी

रत्नप्रभा

चक्षुरादौ व्यभिचारमाशङ्क्य निषेधति—करणवदिति। रूपमुद्भूतं नास्तीत्यप्रत्यक्षत्वं स्फुटयति—रूपेति। 'स्वभोगहेतुत्वे सति, इति विशेषणात् न व्यभिचार इत्याह—तथापीति। भोगः—सुखदुःखानुभवः। आदिपदाद् विषयानुभवग्रहः। न च यद् येनाऽधिष्ठेयम्, तत् तदीयभोगहेतुत्वे सति प्रत्यक्षम् इति व्यतिरेकव्याप्तौ करणेषु व्यभिचारतादवस्थ्यमिति वाच्यम्, भोगहेतुत्वविशिष्टा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

चक्षुरादिको लेकर पूर्वोक्त अनुमानमें व्यभिचारकी आशङ्का करके उसका निषेध करते हैं—"करणवच्चेन्न" इत्यादिसे। नेत्रादिमें उद्भूत रूप नहीं है, इससे वह अप्रत्यक्ष है, ऐसा स्फुट करते हैं—"रूप" इत्यादिसे। 'अपने भोगका हेतु होनेसे' इतना हेतुमें विशेषण देनेसे व्यभिचार नहीं होगा ऐसा कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। भोग—सुख और दुःखका अनुभव। 'भोगादि' में आदि पदसे विषयानुभवका ग्रहण करना चाहिए। परन्तु 'जो जिसका अधिष्ठेय है, वह उसके भोगका हेतु होनेसे प्रत्यक्ष है' इस व्यतिरेक व्याप्तिमें इन्द्रियोंमें वैसा ही

भाष्य

दिदर्शनाद्धि करणग्रामस्याऽधिष्ठितत्वं गम्यते। न चाऽत्र भोगादयो दृश्यन्ते। करणग्रामसाम्ये चाऽभ्युपगम्यमाने संसारिणामिवेश्वरस्याऽपि भोगादयः प्रसज्येरन्। अन्यथा वा सूत्रद्वयं व्याख्यायते। 'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च'। इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। साधिष्ठानो हि लोके सश-

भाष्यका अनुवाद

नहीं घटेगा, क्योंकि इन्द्रियसमुदायमे भोगादि देखनेमें आनेसे वे अधिष्ठित हैं, ऐसा समझा जाता है। परन्तु यहां भोगादि देखनेमें नहीं आते। इन्द्रिय-समुदायके साथ (प्रधानादिका) साम्य स्वीकार किया जाय, तो संसारीके समान ईश्वरको भी भोगादि प्राप्त हो जायँगे। अथवा इन दो सूत्रोंका व्याख्यान अन्य रीतिसे किया जाता है, 'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च' इससे तार्किक-परिकल्पित ईश्वरकी अनुपपत्ति है, क्योंकि लोकमें अधिष्ठानसहित सशरीर,

रत्नप्रभा

प्रत्यक्षत्वस्य हेतुत्वात्, करणेषु च विशेषणाभावेन विशिष्टस्य हेतोरभावात्। न च विशेष्यवैयर्थ्यम्,—परार्थपाचकाधिष्ठेयकाष्ठादौ व्यभिचारात्। न च प्रधानादेः ईश्वरप्रत्यक्षत्वाद् विशेष्यासिद्धिः,अतीन्द्रियत्वरूपाद् प्रत्यक्षत्वस्य सत्त्वाद् इत्यभिप्रायः। जीवे करणकृताः भोगादयो दृश्यन्ते ईश्वरे तु प्रधानकृतास्ते न दृश्यन्त इत्यक्षरार्थः। विपक्षे दोषं वदन् अप्रयोजकत्वं हेतोर्निरस्यति—करणेति। प्रधानादेः प्रेर्यत्वाऽङ्गीकारे प्रेरकभोगहेतुत्वं स्यात्, अतीन्द्रियस्य प्रेर्यस्य भोग-हेतुत्वनियमादित्यर्थः। सूत्रद्वयस्याऽर्थान्तरमाह—अन्यथा वेति। 'यः प्रवर्तकश्चेतनः स शरीरी' इति लोके व्याप्तिर्दृष्टा। ईश्वरस्य च शरीरानुपपत्तेर्न प्रवर्तक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्यभिचार होगा ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि स्वभोगहेतुत्वविशिष्ट अप्रत्यक्षत्व हेतु है, और इन्द्रियोंमें विशेषणके अभावसे विशिष्ट हेतु नहीं है। हेतुमें विशेष्य भी व्यर्थ नहीं है, क्योंकि परार्थ पाचक अधिष्ठेय काष्ठादिमें व्यभिचार है। प्रधानादिमें ईश्वरप्रत्यक्षत्व होनेसे विशेष्यासिद्धि है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अतीन्द्रियत्वरूप अप्रत्यक्षत्व है, ऐसा अभिप्राय है। जीवमें इन्द्रियोंसे किये गये भोगादि देखनेमें आते हैं, ईश्वरमें तो प्रधानसे किये गये भोगादि देखनेमें नहीं आते ऐसा भाष्यका अक्षरार्थ है। विपक्षमें दोष कहकर अप्रयोजकत्वका निरास करते हैं—"करण" इत्यादिसे। प्रधानमें प्रेर्यत्व माननेपर प्रेरकमें भोगहेतुत्वकी प्रसक्ति होगी, क्योंकि अतीन्द्रिय जो प्रेर्य है, वह भोगहेतु है ऐसा नियम है, ऐसा अर्थ है। दो सूत्रोंका अन्य अर्थ कहते हैं—"अन्यथा वा" इत्यादिसे। जो प्रवर्तक चेतन है वह शरीरी है, ऐसी व्याप्ति लोकमें

भाष्य

रीरो राजा राष्ट्रस्येश्वरो दृश्यते न निरधिष्ठानः, अतश्च तद्दृष्टान्तवशेनाऽदृष्टमीश्वरं कल्पयितुमिच्छत ईश्वरस्यापि किंचिच्छरीरं करणायतनं वर्णयितव्यं स्यात्, न च तद्वर्णयितुं शक्यते। सृष्ट्युत्तरकालभावित्वाच्छरीरस्य प्राक् सृष्टेस्तदनुपपत्तेः। निरधिष्ठानत्वे चेश्वरस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्तिः, एवं लोके दृष्टत्वात्। 'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः'। अथ लोकदर्शनाऽनुसारेणेश्वरस्याऽपि किंचित्करणानामायतनं शरीरं कामेन कल्प्येत, एवमपि

भाष्यका अनुवाद

राजा देखनेमें आता है, अधिष्ठानरहित देखनेमें नहीं आता। इससे इस दृष्टान्तके बलसे अदृष्ट ईश्वरकी कल्पना करनेकी इच्छावालेको ईश्वरका कोई शरीर इन्द्रियोंका स्थान वर्णन करना पड़ेगा, परन्तु वह वर्णन करना शक्य नहीं है, क्योंकि शरीरके सृष्टिके उत्तर कालमें होनेसे सृष्टिके पूर्वमें वह अनुपपन्न है। और अधिष्ठानरहित ईश्वरमें प्रवर्तकत्व नहीं हो सकता, क्योंकि लोकमें ऐसा देखनेमें आता है। 'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः' यदि लोकदर्शनके अनुसार ईश्वरका भी इन्द्रियोंका आश्रय कोई शरीर इच्छासे मानो, तो

रत्नप्रभा

त्वमिति सूत्रार्थमाह—इतश्चेति। विमतं सेश्वरं कार्यत्वात्, राष्ट्रवत्, इति कल्पयतो राजवत् सशरीर एवेश्वरः स्यादित्युक्तम्, तत्रेष्टापत्तिं निरस्यति—न च तद्वर्णयितुमिति। न च नित्यं शरीरं सर्गात् प्रागपि सम्भवतीति वाच्यम्, शरीरस्य भौतिकत्वनियमादित्यर्थः। अस्तु, अशरीर एवेश्वर इत्यत आह—निरधिष्ठानत्वे चेति। जीवस्यैव शरीरं भौतिकम्, ईश्वरस्य तु स्वेच्छानिर्मितं प्रागपि स्यादित्याशङ्कां निरस्यति—करणवदिति। करणान्यत्र सन्तीति

रत्नप्रभाका अनुवाद

देखी जाती है, अतः ईश्वरका शरीर नहीं होनेके कारण उसमें प्रवर्तकत्व नहीं है, ऐसा सूत्रार्थ कहते हैं—"इतश्च" इत्यादिसे। विमत सेश्वर है, कार्य होनेसे, राष्ट्रके समान ऐसा माननेवालोंका ईश्वर सशरीर होगा ऐसा कहा है, उसमें इष्टापत्तिका निरसन करते हैं—"न च तद्वर्णयितुम्" इत्यादिसे। शरीर नित्य है और वह सृष्टिके पूर्वमें भी है ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि शरीर भौतिक होता है ऐसा नियम है ऐसा अर्थ है। तो ईश्वर अशरीर ही हो, इसपर कहते हैं—"निरधिष्ठानत्वे च" इत्यादिसे। जीवका शरीर भौतिक है, ईश्वरका तो स्वेच्छानिर्मित है, अतः सृष्टिके पूर्वमें भी होगा, इस आशङ्काका निरसन करते हैं—"करण" इत्यादिसे। करण जिसमें हैं वह करणवत्—

भाष्य

त्वादन्तवत् स्यात् । संख्यापरिमाणं तावत् प्रधानपुरुषेश्वरत्रयरूपेण परिच्छिन्नम् , स्वरूपपरिमाणमपि तद्गतमीश्वरेण परिच्छिद्येतेति । पुरुषगता च महासङ्ख्या । ततश्चेयत्तापरिच्छिन्नानां मध्ये ये संसारिणः संसारान्मुच्यन्ते तेषां संसारोऽन्तवान् संसारित्वं च तेषामन्तवत्, एवमितरेष्वपि क्रमेण मुच्यमानेषु संसारस्य संसारिणां चान्तवत्त्वं स्यात् । प्रधानं च सविकारं पुरुषार्थमीश्वरस्याऽधिष्ठेयं संसारित्वेनाऽभिमतं तच्छून्यतायामीश्वरः किमधि-

भाष्यका अनुवाद

इसी प्रकार प्रधान पुरुष और ईश्वर तीनों इयत्तासे परिच्छिन्न होनेसे अन्तवान् होंगे । सङ्ख्यापरिमाण तो प्रधान, पुरुष और ईश्वर ये तीन हैं इस रूपसे परिच्छिन्न है । उनमें स्थित स्वरूपपरिमाण भी ईश्वरसे परिच्छिन्न ही होगा । और पुरुषगत महासंख्या है । इसलिये इयत्तापरिच्छिन्नोंके मध्यमें जो संसारसे मुक्त होते हैं, उनका संसार अन्तवान् हो जायगा और संसारित्व भी अन्तवान् हो जायगा । इस प्रकार दूसरे जीवोंके भी क्रमसे मुक्त होनेसे

रत्नप्रभा

संख्यापरिमाणमिति । संख्यास्वरूपमित्यर्थः । द्वितीयहेतुं साधयति—स्वरूपेति । प्रधानादयः निश्चितपरिमाणाः, वस्तुतोऽभिन्नत्वाद्, घटवद् इत्यर्थः । ननु प्रधानपुरुषेश्वराः त्रय' इति ज्ञातेऽपि जीवानामानन्त्यात् कथं संख्यानिश्चयः, तत्राह—पुरुषेति । जीवसंख्याऽपीश्वरेण निश्चीयते, अनिश्चये सर्वज्ञत्वायोगादित्यर्थः । हेतुसिद्धेः फलमाह—ततश्चेति । माषराशिवत् केषाञ्चिज्जीवानां सङ्गः, तद्बन्धश्च नश्येदित्येवं सर्वमुक्तेरिदानीं शून्यं जगत् स्यादित्यर्थः । नित्यस्यानवशेषादिति भावः । ननु ईश्वरः शिष्यतामिति चेत्, न; तस्यापि भिन्नत्वेन अन्तवत्त्वात् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

करनेके लिए निश्चित पद है। उनमें प्रथम हेतु असिद्ध नहीं है ऐसा कहते हैं—"संख्यापरिमाणम्" इत्यादिसे । संख्यापरिमाण—संख्यारूप । द्वितीय हेतुको सिद्ध करते हैं—"स्वरूप" इत्यादिसे । प्रधानादि निश्चितपरिमाणवाले हैं, वस्तुतः अभिन्न होनेसे, घटके समान, ऐसा अर्थ है। परन्तु प्रधान पुरुष और ईश्वर ये तीन हैं ऐसा जाननेपर भी जीवके अनन्त होनेसे संख्याका निश्चय किस प्रकार है ? इसपर कहते हैं—"पुरुष" इत्यादिसे । ईश्वरको जीवकी संख्याका भी निश्चय है, क्योंकि निश्चय न हो, तो वह सर्वज्ञ न होगा ऐसा अर्थ है। हेतुसिद्धिका फल कहते हैं—"ततश्च" इत्यादिसे । माषराशिके समान कितने जीवोंका सङ्ग और उनका बन्ध नष्ट होगा, ऐसे सबके मुक्त होनेपर जगत् शून्य हो जायगा ऐसा अर्थ है, क्योंकि नित्यका अवशेष नहीं है । ईश्वर

भाष्य

तिष्ठेत्, किंविषये वा सर्वज्ञतेश्वरते स्याताम्। प्रधानपुरुषेश्वराणां चैवमन्तवत्त्वे सत्यादिमत्त्वप्रसङ्गः, आद्यन्तवत्त्वे च शून्यवादप्रसङ्गः। अथ मा भूदेष दोष इत्युत्तरो विकल्पोऽभ्युपगम्येत-न प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्तेश्वरेण परिच्छिद्यते—इति, तत ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वाऽभ्युपगमहानिरपरो दोषः प्रसज्येत। तस्मादप्यसङ्गतस्तार्किकपरिगृहीत ईश्वरकारणवादः॥ ४१॥

भाष्यका अनुवाद

संसार और संसारी अन्तवान् हो जायँगे। और सविकार प्रधान पुरुषके अर्थके लिए ईश्वरका अधिष्ठेय संसारीरूपसे अभिमत है। उससे शून्य होनेपर ईश्वर किसका अधिष्ठान करेगा, या किस विषयमें सर्वज्ञता और ईश्वरता होगी। प्रधान, पुरुष और ईश्वरके इस प्रकार अन्तवान् होनेसे आदिमान् होनेका प्रसङ्ग आवेगा, और आदिमान् और अन्तवान् होनेसे शून्यवाद प्रसक्त होगा, ये दोष न हों इसलिए यदि प्रधान पुरुष और ईश्वरकी इयत्ता ईश्वरसे परिच्छिन्न नहीं होती, इस उत्तर विकल्पका स्वीकार किया जाय, तो ईश्वर सर्वज्ञ है, इस स्वीकारका त्यागरूप दूसरा दोष प्रसक्त होगा। इससे भी तार्किकोंसे स्वीकार किया गया ईश्वरवाद असङ्गत है॥ ४१॥

रत्नप्रभा

किञ्च, ईशितव्याभावाद् ईश्वराभावः स्याद् इत्याह—प्रधानमिति। दोषान्तरमाह—प्रधानेति। इयत्तानिश्चयाभावात् न शून्यता इति द्वितीयं शङ्कते—अथेति। इयत्ता नास्ति, न निश्चीयते चेत्यर्थः। प्रधानादयः संख्यापरिमाणवन्तः, द्रव्यत्वात्, माषादिवत्, इत्यनुमानादस्तीयत्ता, तदज्ञाने स्याद् असर्वज्ञता, इयत्तायां चान्तवत्त्वमपि अक्षतमिति परिहरति—तत इति। तस्मात् केवलकर्त्रीश्वरवादस्य निर्मूलत्वाद् न कर्त्रुपादानाद्वयेश्वरसमन्वयविरोध इति सिद्धम्॥ ४१॥ (७)॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अवशिष्ट रहे, यह भी युक्त नहीं, क्योंकि वह भी भिन्न होनेसे अन्तवान् है। और ईशितव्यका अभाव होनेसे ईश्वरका अभाव होगा ऐसा कहते हैं—"प्रधानम्" इत्यादिसे। अन्य दोष कहते हैं—"प्रधान" इत्यादिसे। इयत्ताका निश्चय न होनेसे शून्यता नहीं होगी इस द्वितीय पक्षकी शङ्का करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। इयत्ता नहीं है और उसका निश्चय भी नहीं होता है यह अर्थ है। प्रधानादि संख्यापरिमाणवाले हैं, द्रव्य होनेसे, माषादिके समान इस अनुमानसे इयत्ता है और उसके अज्ञानसे ईश्वरमें असर्वज्ञता हो जायगी और इयत्तामें अन्तवत्त्व अक्षत है, ऐसा परिहार करते हैं—"तत." इत्यादिसे। इसलिये ईश्वर केवल कर्ता है, इस वादके निर्मूल होनेसे अद्वय ईश्वर कर्ता और उपादान दोनों है यह वेदान्तसमन्वय विरुद्ध— बाधित नहीं है ऐसा सिद्ध हुआ॥४१॥

[८ उत्पत्त्यसंभवाधिकरण सू० ४२–४५]

जीवोत्पत्त्यादिकं पाञ्चरात्रोक्तं युज्यते न वा ।
युक्तं नारायणव्यूहतत्समाराधानादिवत् ॥१॥
युज्यतामविरुद्धोंऽशो जीवोत्पत्तिर्न युज्यते ।
उत्पन्नस्य विनाशित्वे कृतनाशादिदोषतः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—पञ्चरात्रमें प्रतिपादित जीवकी उत्पत्ति आदि युक्त है या नहीं?

पूर्वपक्ष—जैसे वासुदेव और उनकी आराधना युक्त है वैसे ही जीवकी उत्पत्ति भी युक्त ही है,उसके स्वीकार करनेमें कोई बाधक नहीं है।

सिद्धान्त—श्रुतिके साथ विरोध न होनेके कारण वासुदेव और उनकी उपासनाका स्वीकार होनेपर भी जीवोत्पत्तिको नहीं मान सकते, क्योंकि जीवकी उत्पत्ति और नाश माननेमें श्रुतिसे विरोध होगा और कृतनाश और अकृताभ्यागम दोषकी प्राप्ति भी होगी।

उत्पत्त्यसंभवात् ॥ ४२ ॥

पदार्थोक्ति—उत्पत्त्यसंभवात्—वासुदेवात् जीवस्योत्पत्तेरसम्भवात् । [उत्पत्त्यङ्गीकारे घटवदनित्यत्वापत्त्या भगवत्प्राप्तिरूपो मोक्षस्तदभ्युपगतः कस्य स्यात् । अतो भ्रान्तिमूलो भागवतसिद्धान्तः] ।

भाषार्थ—वासुदेवसे जीवकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि उत्पत्ति मानी जाय, तो जीवके घटकी भाँति अनित्य होनेसे भगवत्प्रातिरूप मोक्ष, जो वैष्णवों द्वारा स्वीकृत है, किसको प्राप्त होगा । इसलिए भागवतसिद्धान्त भ्रान्तिमूलक है ।

---

* भावार्थ—भागवत सम्प्रदायी पाञ्चरात्रमानते हैं कि—भगवान् वासुदेव एक हैं, और जगत्का उपादान एवं निमित्त कारण है। संसाररूपी बन्धका विनाश उसकी उपासना आदिसे होता है। उस वासुदेवसे संकर्षण नामका जीव उत्पन्न होता है, जीवसे प्रद्युम्न नामका मन और मनसे अनिरुद्ध—अहङ्कार उत्पन्न होते हैं। ये वासुदेवादि—चार प्रकारके व्यूह, सर्वरूप हैं।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं कि वासुदेव और उसकी आराधना श्रुतिसम्मत होनेसे हम भी उसे स्वीकार करते हैं, परन्तु 'जीव उत्पन्न होता है' यह तुम्हारा वचन हम नहीं मानते। क्योंकि ऐसा माननेसे किये हुए धर्मादिका विनाश, नहीं किये हुएकी प्राप्ति होगी। यथा—पूर्व सृष्टिमें जो जीव है, उसको उत्पन्न मानोगे तो, 'जो उत्पन्न होता है, वह विनाशी होता है' इस न्यायसे उसका प्रलयकालमें नाश मानना होगा, जीवके नष्ट होनेपर उसमें रहनेवाले धर्मादिका नाश फलप्रदानके बिना ही प्रसक्त होगा, इस प्रकार कृतहानि होगी एवं उत्पन्न नवीन जीवमें पूर्व अननुष्ठित धर्म और अधर्मके न रहनेपर सुख-दुःखकी प्राप्ति होगी इसको अकृताभ्यागम कहते हैं। इससे जीवकी उत्पत्ति आदि युक्त नहीं है।

भाष्य

येषामप्रकृतिरधिष्ठाता केवलनिमित्तकारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यातः, येषां पुनः प्रकृतिश्चाऽधिष्ठाता चोभयात्मकं कारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यायते । ननु श्रुतिसमाश्रयणेनाप्येवंरूप एवेश्वरः प्राङ्निर्धारितः प्रकृतिश्चाऽधिष्ठाता चेति, श्रुत्यनुसारिणी च स्मृतिः प्रमाणमिति स्थितिः । तत्कस्य हेतोरेष पक्षः प्रत्याचिख्यासित इति । उच्यते—यद्यप्येवंजातीयकोंऽशः समानत्वान्न विसंवादगोचरो भवति, अस्ति त्वंशान्तरं विसंवादस्थानमित्यतस्तत्प्रत्याख्यानायाऽऽरम्भः । तत्र भागवता मन्यन्ते—

भाष्यका अनुवाद

जिनको ईश्वर अप्रकृति, अधिष्ठाता एवं केवल निमित्त कारणरूपसे अभिमत है, उनके पक्षका खण्डन किया जा चुका है । अब जिनको प्रकृति और अधिष्ठाता दोनों प्रकारके कारणरूपसे ईश्वर अभिमत है, उनके पक्षका निराकरण करते हैं । श्रुतिके आश्रयसे भी इसी प्रकारका ईश्वर-प्रकृति और अधिष्ठाता है ऐसा-पूर्वमें निर्धारण किया गया है, और श्रुतिका अनुसरण करनेवाली स्मृति भी प्रमाण है ऐसी स्थिति है, तो किस हेतुसे इस पक्षका निराकरण करनेकी इच्छा है ? कहते हैं—यद्यपि इस प्रकारका अंश समान होनेसे विसंवादका विषय नहीं है, तथापि अन्य अंश विसंवादके स्थान हैं इससे उनके निराकरणके लिए यह आरम्भ है ।

रत्नप्रभा

पञ्चपदार्थवादिमाहेश्वरमतनिरासानन्तरं चतुर्व्यूहवादं बुद्धिस्थं निरस्यति—उत्पत्त्यसम्भवादिति । अधिकरणतात्पर्यमाह—येषामिति । अधिकरणाऽऽरम्भमाक्षिपति—नन्विति । वेदाविरुद्धांशमङ्गीकृत्य वेदविरुद्धं जीवोत्पत्त्याद्यंशं निराकर्तुमधिकरणारम्भ इत्याह—उच्यत इति । अत्र भागवतपाञ्चरात्रागमो विषयः स किं जीवोत्पत्त्याद्यंशे मानं न वा, इति सन्देहे बाधानुपलम्भाद् मानमिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

पञ्चपदार्थवादी माहेश्वर मतका निराकरण करनेपर बुद्धिस्थ चतुर्व्यूहवादका निराकरण करते हैं—"उत्पत्त्यसम्भवात्" इस सूत्रसे । अधिकरणका तात्पर्य कहते हैं—"येषाम्" इत्यादिसे । अधिकरणके आरम्भका आक्षेप करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । वेदसे अविरुद्धांशका अङ्गीकार करके वेदविरुद्ध जीवकी उत्पत्तिरूप अंशका निराकरण करनेके लिये अधिकरणका आरम्भ है ऐसा कहते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे । यहां भागवत पाञ्चरात्र आगम विषय है, वह जीवकी उत्पत्तिके अंशमें प्रमाण है या नहीं, ऐसा सन्देह होनेपर बाधके उपलब्ध न होनेसे प्रमाण

भाष्य

भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वम्, स चतुर्धाऽऽत्मानं प्रविभज्य प्रतिष्ठितो वासुदेवव्यूहरूपेण संकर्षणव्यूहरूपेण प्रद्युम्नव्यूहरूपेण अनिरुद्धव्यूहरूपेण च। वासुदेवो नाम परमात्मोच्यते। संकर्षणो नाम जीवः। प्रद्युम्नो नाम मनः। अनिरुद्धो नामाहंकारः। तेषां वासुदेवः परा प्रकृतिरितरे संकर्षणादयः कार्यम्। तमित्थंभूतं परमेश्वरं भगवन्तमभिगमनोपादानेज्या-स्वाध्याययोगैर्वर्षशतमिष्ट्वा क्षीणक्लेशो भगवन्तमेव प्रतिपद्यत इति।

भाष्यका अनुवाद

भागवत मानते हैं कि—अकेले भगवान् वासुदेव ही निरञ्जन ज्ञानरूप परमार्थ-तत्त्व हैं। वे अपने चार विभाग करके वासुदेवव्यूहरूपसे, संकर्षणव्यूहरूपसे, प्रद्युम्नव्यूहरूपसे, और अनिरुद्धव्यूहरूपसे प्रतिष्ठित हैं। वासुदेव परमात्मा है, संकर्षण जीव है, प्रद्युम्न मन है और अनिरुद्ध अहंकार है। उनमें वासुदेव परा प्रकृति है एवं अन्य संकर्षणादि कार्य हैं। इस प्रकारके भगवान् परमेश्वरकी अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय, और योग द्वारा सौ वर्ष पूजाकर क्षीणक्लेश जीव भगवान्को ही प्राप्त होते हैं।

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षयति—तत्रेति। पूर्वपक्षे तदागमविरोधाज्जीवाभिन्नब्रह्मसमन्वयासिद्धिः, सिद्धान्ते तदंशे तस्यास्याऽमानत्वात् अविरोधात् तत्सिद्धिरिति फलभेदः। सावयवत्वं निरस्यति—निरञ्जनेति। कथं तर्हि अद्वितीये वासुदेवे मूर्तिभेदः? तत्राह—स इति। व्यूहः—मूर्तिः। सविशेषं शास्त्रार्थमुक्त्वा सहेतुं पुरुषार्थमाह—तमित्थम्भूतमिति। यथोक्तव्यूहवन्तं सर्वप्रकृतिं निरञ्जनं विज्ञानरूपं परमात्मानमिति यावत्। वाक्कायचेतसामवधानपूर्वकं देवतागृहगमनम्—अभिगमनम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें उनके आगमके साथ विरोध होनेसे जीवसे अभिन्न ब्रह्मके समन्वयकी असिद्धि फल है, सिद्धान्तमें उस अंशमें उस आगमके अप्रमाण होनेसे अविरोध है, इससे जीवाभिन्न ब्रह्म समन्वयकी सिद्धि फल है। भगवान् वासुदेवके सावयवत्वका निरास करते हैं—"निरञ्जन" इत्यादिसे। जब वासुदेव अद्वितीय है तो मूर्तिभेद किस प्रकार होगा? उसपर कहते हैं—"सः" इत्यादिसे। व्यूह—मूर्ति, संस्थान। सविशेष शास्त्रार्थ कहकर हेतुसहित पुरुषार्थ कहते हैं—"तमित्थंभूतम्" इत्यादिसे। यथोक्त व्यूहवाला सर्वप्रकृति, निरञ्जन, विज्ञानरूप, परमात्मा ऐसा समझना। वाक्, काय और चित्तके अवधान पूर्वक जो देवतागृह गमन है, वह 'अभिगमन'

भाष्य

तत्र यत्तावदुच्यते—योऽसौ नारायणः परोऽव्यक्तात् प्रसिद्धः परमात्मा सर्वात्मा स आत्मनाऽऽत्मानमनेकधा व्यूह्याऽवस्थित इति, तन्न निराक्रियते, 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७।२६।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः परमात्मनोऽनेकधा भावस्याऽधिगतत्वात्। यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाऽभिप्रेयते, तदपि न प्रतिषिध्यते, श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात्। यत् पुनरिदमुच्यते—वासुदेवात् संकर्षण उत्पद्यते संकर्षणाच्च प्रद्युम्नः प्रद्युम्नाच्चाऽनिरुद्धः इति। अत्र ब्रूमः—न वासुदेवसंज्ञकात् परमात्मनः संकर्षणसंज्ञकस्य जीवस्योत्पत्तिः संभवति, अनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात्। उत्पत्तिमत्त्वे हि

भाष्यका अनुवाद

उसमें जो यह कहते हैं कि नारायण अव्यक्तसे पर प्रसिद्ध परमात्मा सर्वात्मा है, वह आत्मा द्वारा आत्माको अनेक प्रकारसे व्यूह करके अवस्थित है, उसका निराकरण नहीं करते है क्योंकि—'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (वह एकधा होता है, त्रिधा होता है) इत्यादि श्रुतियोंसे परमात्माका अनेक प्रकारका भाव प्राप्त है। और उस भगवान्का सदा अनन्यचित्तसे अभिगमनादिरूप आराधन अभिप्रेत है, उसका भी प्रतिषेध नहीं करते हैं, क्योंकि श्रुति और स्मृतिमें ईश्वरप्रणिधान प्रसिद्ध है। परन्तु वासुदेवसे संकर्षण उत्पन्न हुए हैं, संकर्षणसे प्रद्युम्न, प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध ऐसा जो कहा जाता है, उसपर कहते हैं—वासुदेवसंज्ञक परमात्मासे संकर्षणसंज्ञक जीवकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि

रत्नप्रभा

पूजाद्रव्याणामर्जनम्—उपादानम्। इज्या—पूजा। स्वाध्यायः—अष्टाक्षरादिजपः। योगः—ध्यानम्। तत्राऽविरुद्धांशम् उपादत्ते—तत्रेति। "समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वा" इति "तं यथा यथोपासते" इत्याद्या च श्रुतिः। "मत्कर्मकृन्मत्परमः (भ० गी० ११।५५) इत्याद्या स्मृतिः। विरुद्धांशमनूद्य दूषयति—यत्पुनरिति। कृतहान्यादिदोषः

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। पूजाद्रव्यकी प्राप्ति 'उपादान' है, इज्या—पूजा, स्वाध्याय—अष्टाक्षरादि मन्त्रका जप, योग—ध्यान। उसमें अविरुद्ध अंशका स्वीकार करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। श्रुति और स्मृतिमें ईश्वरप्रणिधान प्रसिद्ध है। 'समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वा' (समाहित श्रद्धाधन होकर) 'तं यथा यथोपासते' (जैसे जैसे उसकी उपासना करता है) इत्यादि श्रुति है, "मत्कर्मकृन्मत्परमः' (मेरे लिये कर्म करनेवाला और मुझको परम माननेवाला) इत्यादि स्मृति है। विरुद्धांशका

भाष्य

जीवस्याऽनित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्, ततश्च नैवाऽस्य भगवत्प्राप्ति-र्मोक्षः स्यात्, कारणप्राप्तौ कार्यस्य प्रविलयप्रसङ्गात्। प्रतिषेधिष्यति चाऽऽचार्यो जीवस्योत्पत्तिम्–'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (ब्र० सू० २।३।१७) इति। तस्मादसङ्गतैषा कल्पना ॥ ४२ ॥

भाष्यका अनुवाद

अनित्यत्वादि दोषोंकी प्रसक्ति होती है। (निश्चय) जीव उत्पत्तिमान् हो तो अनित्यत्वादि दोष प्रसक्त होनेसे जीवको भगवत्प्राप्तिरूप मोक्ष न होगा, क्योंकि कारणकी प्राप्तिमें कार्यका प्रविलय प्रसक्त होगा। और बादरायणाचार्य जीवकी उत्पत्तिका—'नाऽऽत्मा श्रुतेः०' (आत्मा उत्पन्न नहीं होता क्योंकि उत्पत्तिके प्रकरणमें उसकी उत्पत्ति श्रुत नहीं है, बल्कि इसके विपरीत श्रुतिसे उसकी नित्यता प्रतीत होती है) इस सूत्रमें प्रतिषेध करेंगे, इसलिये यह कल्पना असङ्गत है॥ ४२ ॥

रत्नप्रभा

आदिशब्दार्थः। न्यायोपेतया "अज आत्मा" [बृ० ४।४।२०,२२,२४,२५] इत्यादिश्रुत्या पाञ्चरात्रागमस्योत्पत्त्यंशे मानत्वाभावनिश्चयात् जीवाऽभिन्नब्रह्मसम-न्वयस्थैर्यम् इति भावः ॥ ४२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनुवाद करके दूषित करते हैं—"यत्पुनः" इत्यादिसे। आदि शब्दका अर्थ कृतहान्यादि दोष है। न्यायसे युक्त "अज आत्मा" इत्यादि श्रुति करके पाञ्चरात्र आगमको उत्पत्त्यंशमें प्रामाण्याभावका निश्चय होनेसे जीवाभिन्न ब्रह्मसमन्वय स्थिर होता है, ऐसा तात्पर्य्य है ॥४२॥

न च कर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

पदच्छेद—न, च, कर्तुः, करणम्।

पदार्थोक्ति—[कर्तुः देवदत्तादेः सकाशात् करणस्य कुठारादेरुत्पत्त्यदर्श-नात्] कर्तुः—जीवात्, करणम्—मनः [जन्यते इत्येतत्] न च [संगतम्]।

भाषार्थ—देवदत्त आदि कर्तासे कुठार आदि करणोंकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती, इससे जीवसे मनकी उत्पत्ति होती है, यह कथन संगत नहीं है।

भाष्य

इतश्चाऽसंगतैषा कल्पना—यस्मान्नहि लोके कर्तुर्देवदत्तादेः करणं परश्वाद्युत्पद्यमानं दृश्यते। वर्णयन्ति च भागवताः—कर्तुर्जीवात् संकर्षणसंज्ञकात् करणं मनः प्रद्युम्नसंज्ञकमुत्पद्यते, कर्तृजाच्च तस्मादनिरुद्धसंज्ञकोऽहङ्कार उत्पद्यते इति। न चैतद् दृष्टान्तमन्तरेणाऽध्यवसातुं शक्नुमः। न चैवंभूतां श्रुतिमुपलभामहे॥ ४३॥

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी यह कल्पना असङ्गत है, क्योंकि लोकमें कर्ता देवदत्तादिसे करण—परशु आदि उत्पन्न होते हुए नहीं देखे जाते हैं। भागवत वर्णन करते हैं कि—कर्ता संकर्षणसंज्ञक जीवसे प्रद्युम्नसंज्ञक करण—मन उत्पन्न होता है, कर्तासे उत्पन्न हुए उससे (मनसे) अनिरुद्धसंज्ञक अहंकार उत्पन्न होता है, परन्तु दृष्टान्तके विना इसका निश्चय करनेमें हम समर्थ नहीं हैं। और इस प्रकारकी श्रुति भी उपलब्ध नहीं है॥ ४३॥

रत्नप्रभा

जीवस्योत्पत्तिं निरस्य जीवात् मनस उत्पत्तिं निरस्यति—न च कर्तुरिति। यस्मात् कर्तुः करणोत्पत्तिर्न दृश्यते, तस्मादसङ्गता कल्पना इत्यन्वयः। सिद्धानां करणानां प्रयोक्ता कर्ता इति प्रसिद्ध्यर्थो हिशब्दः। वर्णनं निर्मूलमित्याह—न चेति। ननु लोके कश्चित् शिल्पिवरः कुठारं निर्माय तेन वृक्षं छिनत्तीति दृष्टमिति चेत्, सत्यम्; शिल्पिनो हस्तादिकरणान्तरसत्त्वात् कुठारकर्तृत्वं युक्तम्, जीवस्य तु करणान्तरासत्त्वान्न मनसः कर्तृत्वम् विनैव करणं कर्तृत्वे वा मनोवैयर्थ्यमिति भावः॥ ४३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवकी उत्पत्तिका निरास करके जीवसे मनकी उत्पत्तिका निराकरण करते हैं—"न च कर्तुः" इत्यादिसे। कर्तासे करणकी उत्पत्ति देखनेमें नहीं आती है, अतः कल्पना असङ्गत है, ऐसा अन्वय है। सिद्ध करणोंका प्रयोक्ता कर्ता है, ऐसा प्रसिद्धिसूचक हिशब्द है। वर्णन निर्मूल है ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। लोकमें कोई उत्तम शिल्पी कुल्हाड़ा बनाकर उससे वृक्ष काटता है ऐसा देखा जाता है, ऐसी कोई शङ्का करे तो, यह बात सत्य है, शिल्पीके हस्तादि अन्य करण भी होनेसे वह कुल्हाड़ेका कर्ता हो सकता है; परन्तु जीवके अन्य करण न होनेसे वह मनका कर्ता नहीं हो सकता, और कर्ता हो तो मन व्यर्थ होता है, क्योंकि करणके बिना स्वतः कर्ता होनेसे समस्त कार्य सिद्ध होंगे ऐसा भाव है॥४३॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

पदच्छेद—विज्ञानादिभावे, वा, तदप्रतिषेधः ।

पदार्थोक्ति—विज्ञानादिभावे वा—संकर्षणादीनां त्रयाणां वासुदेववत् विज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजःस्वरूपत्वेऽपि, तदप्रतिषेधः—उत्पत्त्यसंभवरूपदोषाप्रतिषेधः ।

भाषार्थ—संकर्षण आदि तीनोंके वासुदेवके समान विज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजः स्वरूप होनेपर भी उत्पत्त्यसभवरूप दोषका प्रतिषेध नहीं होता।

भाष्य

अथापि स्यात्—न चैते संकर्षणादयो जीवादिभावेनाऽभिप्रेयन्ते, किं तर्हि ? ईश्वरा एवैते सर्वे ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिरैश्वरैर्धर्मैरन्विता अभ्युपगम्यन्ते—वासुदेवा एवैते सर्वे निर्दोषा निरधिष्ठाना निरवद्याश्चेति, तस्मान्नाऽयं यथावर्णित उत्पत्त्यसंभवो दोषः प्राप्नोतीति । अत्रोच्यते—एव-

भाष्यका अनुवाद

ये संकर्षणादि जीवादिभावसे माने नहीं जाते हैं, किन्तु ये सब ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजरूप ईश्वर सम्बन्धी धर्मोंसे युक्त ईश्वर ही माने जाते हैं। ये सर्व वासुदेव ही निर्दोष निरधिष्ठान और निरवद्य हैं। अतः पूर्वोक्त उत्पत्त्यसंभवरूप दोष प्राप्त नहीं है। इसपर कहते हैं—ऐसे भी

रत्नप्रभा

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः । संकर्षणादीनामुत्पत्त्यसम्भवेऽपि व्यूहचतुष्टयं स्यादिति सूत्रव्यावर्त्यम् आशङ्कते—**अथापि स्यादिति** । ज्ञानैश्वर्ययोः शक्तिरान्तरं सामर्थ्यम्, बलं शरीरसामर्थ्यम्, वीर्यं शौर्यम्, तेजः प्रागल्भ्यम् । एतैरन्विताः यस्मात् सङ्कर्षणादयः, तस्मादीश्वरा एव इत्यर्थः । सर्वेषाम् ईश्वरत्वे पाञ्चरात्रोक्तिमाह—**वासुदेवा एवेति** । निर्दोषाः रागादिशून्याः, निरधिष्ठानाः

रत्नप्रभाका अनुवाद

"विज्ञानादिभा०" इत्यादिसे। संकर्षणादिकी उत्पत्तिका असम्भव होनेपर भी चार व्यूह हों इस प्रकारसे सूत्र व्यावर्त्यकी आशङ्का करते हैं—"अथापि स्याद्" इत्यादिसे। ज्ञान और ऐश्वर्यका आन्तर सामर्थ्य—"शक्ति" है, शरीर सामर्थ्य—'बल', वीर्य—'शौर्य' और तेजः—प्रागल्भ्य, इन सब ईश्वरधर्मोंसे अन्वित होनेसे संकर्षणादि भी ईश्वर ही हैं ऐसा अर्थ है। सर्व ईश्वर हैं इसमें पाञ्चरात्रकी उक्तिको प्रमाणरूपसे कहते हैं—"वासुदेवा एव" इत्यादिसे। निर्दोष—रागद्वेषशून्य, निरधिष्ठान—

भाष्य

मपि तदप्रतिषेधः उत्पत्त्यसंभवस्याऽप्रतिषेधः प्राप्नोत्येव, अयमुत्पत्त्यसंभवो दोषः प्रकारान्तरेणेत्यभिप्रायः। कथम्? यदि तावदयमभिप्रायः--परस्पर-भिन्ना एवैते वासुदेवादयश्चत्वार ईश्वरास्तुल्यधर्माणो नैषामेकात्मकत्वम-स्तीति, ततोऽनेकेश्वरकल्पनानर्थक्यम्, एकेनैवेश्वरेणेश्वरकार्यसिद्धेः, सिद्धा-न्तहानिश्च, भगवानेवैको वासुदेवः परमार्थतत्त्वमित्यभ्युपगमात्। अथाऽयमभिप्रायः—एकस्यैव भगवत एते चत्वारो व्यूहास्तुल्यधर्माणः इति, तथापि तदवस्थ एवोत्पत्त्यसंभवः,—नहि वासुदेवात् संकर्षणस्योत्पत्तिः

भाष्यका अनुवाद

उसका अप्रतिषेध है—उत्पत्तिके असम्भवका प्रतिषेध नहीं होता है अर्थात् प्रकारान्तरसे उत्पत्त्यसम्भवरूप दोष प्राप्त ही है, ऐसा अभिप्राय है। किस प्रकार? यदि ऐसा अभिप्राय हो कि परस्पर भिन्न ही ये वासुदेवादि चार ईश्वर समान धर्मवाले हैं, ये एकात्मक नहीं हैं, तो अनेक ईश्वरोंकी कल्पना अनर्थक है, क्योंकि एक ही ईश्वरसे ईश्वरका कार्य सिद्ध होगा, और सिद्धान्तकी भी हानि होगी, क्योंकि भगवान् ही अकेले वासुदेव परमार्थतत्त्व हैं ऐसा स्वीकार है। यदि ऐसा अभिप्राय हो कि एक ही भगवान्के ये चार स्वरूप तुल्य धर्म-वाले हैं, तो भी उत्पत्तिका असम्भव वैसा ही है, क्योंकि अतिशयके अभावसे

रत्नप्रभा

प्रकृत्यजन्याः, निरवद्याः नाशादिरहिता इत्यर्थः। ईश्वरत्वाद् जन्मासम्भवो गुण एवेत्याह—**तस्मादिति**। सूत्रेण सिद्धान्तयति—**अत्रेति**। एवमपि चतुर्णा-मीश्वरत्वेन विज्ञानशक्त्यादिभावेऽपीत्यर्थः। प्रकारान्तरं पृच्छति—**कथमिति**। किं चत्वारः स्वतन्त्रा भिन्ना एव, उत एकस्य विकारत्वेनाऽभिन्नाः? आद्यम् अनूद्य दूषयति—**यदीत्यादिना**। द्वितीये विकाराः प्रकृतितुल्या वा न्यूना वा? आद्यम् उत्थाप्य निषेधति—**अथेत्यादिना**। न्यूनत्वपक्षेऽपसिद्धान्तमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकृतिसे अजन्य, निरवद्य—नाशादिरहित। ईश्वर होनेसे जन्मका असम्भव गुण ही है, ऐसा कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। सूत्रसे सिद्धान्त करते हैं—"अत्र" इत्यादिसे। "एवमपि" अर्थात् चार ईश्वर होकर विज्ञानशक्ति आदिसे युक्त हों तो भी। प्रकारान्तर पूछते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। ये चारों स्वतन्त्र भिन्न ही हैं, या एकके विकार होनेसे अभिन्न हैं? आद्य पक्षका अनुवाद करके दूषित करते हैं—"यदि" इत्यादिसे। द्वितीय पक्षमें विकार प्रकृतितुल्य हैं या प्रकृतिसे न्यून हैं? आद्य पक्ष उठाकर उसका निषेध करते हैं—"अथ" इत्यादिसे।

भाष्य

संभवति, संकर्षणाच्च प्रद्युम्नस्य, प्रद्युम्नाच्चाऽनिरुद्धस्य, अतिशयाभावात्। भवितव्यं हि कार्यकारणयोरतिशयेन यथा मृद्घटयोः, नह्यसत्यतिशये कार्यं कारणमित्यवकल्पते। न च पञ्चरात्रसिद्धान्तिभिर्वासुदेवादिष्वेकस्मिन् सर्वेषु वा ज्ञानैश्वर्यादितारतम्यकृतः कश्चिद् भेदोऽभ्युपगम्यते, वासुदेवा एव हि सर्वे व्यूहा निर्विशेषा इष्यन्ते। न चैते भगवद्व्यूहाश्चतुःसंख्यायामेवाऽवतिष्ठेरन्, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य समस्तस्यैव जगतो भगवद्व्यूहत्वावगमात् ॥ ४४ ॥

भाष्यका अनुवाद

वासुदेवसे संकर्षणकी और संकर्षणसे प्रद्युम्नकी और प्रद्युम्नसे अनिरुद्धकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। कार्य और कारणमें अतिशय अवश्य ही होना चाहिए जैसे मृत्तिका और घटमें है, अतिशय न रहनेपर यह कार्य है और यह कारण है यह व्यवहार नहीं बनेगा। और पञ्चरात्रसिद्धान्ती वासुदेवादिमेंसे एकमें या सबमें ज्ञान, ऐश्वर्य्य आदिके तारतम्यसे हुआ कुछ अतिशय स्वीकार नहीं करते हैं। वासुदेव ही सब व्यूह निर्विशेष हैं ऐसा मानते हैं। परन्तु भगवान्के ये व्यूह चार संख्यामें ही अवस्थित नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त समस्त जगत् ही भगवान्का व्यूह है ऐसा समझा जाता है ॥ ४४ ॥

रत्नप्रभा

न च पञ्चेति। यदि न्यूना अपि भगवतो व्यूहाः, तदा चतुष्ट्वव्याघात इत्याह—न चैत इति ॥ ४४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

न्यूनत्व पक्षमें अपसिद्धान्त कहते हैं—"न च पञ्च" इत्यादिसे। न्यून हैं, तथापि भगवानके व्यूह हैं, ऐसा कहेंगे, तो चार ही हैं उसका व्याघात होगा ऐसा कहते हैं—"न चैते" इत्यादिसे ॥ ४४ ॥



विप्रतिषेधाच्च ॥४५॥

पदच्छेद—विप्रतिषेधात्, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, विप्रतिषेधात्—क्वचित् वासुदेवस्य विज्ञानादयो गुणाः क्वचित् गुणा एव वासुदेवा इति गुणगुणिनोर्भेदाभेदवर्णनेन परस्परं विप्रतिषेधात् [अप्रामाणिकमिदं भागवतमतम्] ।

भाषार्थ—और कहींपर वासुदेवके विज्ञान, ऐश्वर्य आदि गुण हैं और कहींपर गुण ही वासुदेव हैं इस प्रकार गुण और गुणीके भेद और अभेदके वर्णनसे परस्पर विरोध होनेके कारण भागवतमत प्रामाणिक नहीं है ।

भाष्य

विप्रतिषेधश्चाऽस्मिञ्छास्त्रे बहुविध उपलभ्यते—गुणगुणित्वकल्पनादिलक्षणः; ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजांसि गुणाः 'आत्मान एवैते भगवन्तो वासुदेवाः' इत्यादिदर्शनात् । वेदविप्रतिषेधश्च भवति—चतुर्षु वेदेषु परं

भाष्यका अनुवाद

और इस शास्त्रमें गुण-गुणित्व कल्पना आदि बहुत प्रकारका विरोध उपलब्ध होता है, क्योंकि ज्ञान, ऐश्वर्य्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज भगवान्के गुण हैं, वे गुण आत्मा ही हैं भगवान् वासुदेव ही हैं ऐसा देखा जाता है । उसी प्रकार वेदविरोध भी है, क्योंकि चार वेदोंमें पर कल्याण प्राप्त न करके

रत्नप्रभा

इतश्च जीवोत्पत्तिवाद उपेक्ष्य इत्याह सूत्रकारः—विप्रतिषेधाच्चेति । स्वस्यैव गुणत्वं गुणित्वं च विरुद्धम् । आदिपदात् प्रद्युम्नानिरुद्धौ भिन्नौ, आत्मन इत्युक्त्वा आत्मान एवैते इति विरुद्धोक्तिग्रहः । पूर्वापरविरोधादसाङ्गत्यमिति सूत्रार्थम् उक्त्वाऽर्थान्तरमाह—वेदेति । एकस्यापि तन्त्राक्षरस्य अध्येता चतुर्वेदिभ्योऽधिक

रत्नप्रभाका अनुवाद

इससे भी जीवोत्पत्तिवाद उपेक्ष्य है ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"विप्रतिषेधाच्च" । स्वयं ही गुण और गुणी हो यह विरुद्ध है । आदि पदसे प्रद्युम्न और अनिरुद्ध आत्मासे भिन्न हैं, ऐसा कहकर वे आत्मा ही हैं इस विरुद्ध उक्तिका ग्रहण है । पूर्वापरविरोधसे असंगति है, ऐसा सूत्रार्थ कहकर अन्य अर्थ कहते हैं—"वेद" इत्यादिसे । एक भी तन्त्राक्षरका

भाष्य

श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवानित्यादिवेदनिन्दादर्शनात् तस्मादसङ्गतैषा कल्पनेति सिद्धम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ
शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य
द्वितीयः पादः समाप्तः ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

शाण्डिल्यने इस शास्त्रको प्राप्त किया, इत्यादि वेदनिन्दाका दर्शन है, इसलिये यह कल्पना असङ्गत है ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ४५ ॥

*यतिवर श्रीभोलेबाबा कृत द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादके भाष्यका
अनुवाद समाप्त।*

रत्नप्रभा

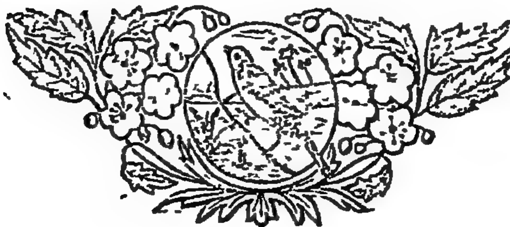
इति निन्दा आदिपदार्थः तस्मान्मिथो विरुद्धाभिः पौरुषेयकल्पनाभिर्नापौरुषेय-वेदान्तसमन्वयविरोध इति सिद्धम् ॥ ४५ ॥ (८)

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-
श्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसदर्शन-
भाष्यव्याख्यायां रत्नप्रभायां द्वितीयाध्यायस्य
द्वितीयः पादः समाप्तः ॥ २ ॥ ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अध्येता चतुर्वेदीसे अधिक है, ऐसा आदिपदार्थ है। इसलिए परस्पर विरुद्ध पौरुषेय कल्पनाओंसे अपौरुषेय वेदान्तसमन्वयका विरोध नहीं है ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ४५ ॥

* यतिवर श्रीभोलेबाबाकृत द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादके भाष्यका अनुवाद समाप्त *



ॐ नमः परमात्मने ।

द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः ।

[अत्र पादे पञ्चमहाभूतजीवादिश्रुतीनां विरोधपरिहारः]

[१ वियदधिकरण सू० १–७]

व्योम नित्यं जायते वा हेतुत्रयविवर्जनात् ।
जनिश्रुतेश्च गौणत्वान्नित्यं व्योम न जायते ॥१॥
एकज्ञानात् सर्वबुद्धेर्विभक्तत्वाज्जनिश्रुतेः ।
विवर्ते कारणैकत्वाद् ब्रह्मणो व्योम जायते ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—आकाश नित्य है या उत्पन्न होता है ?

पूर्वपक्ष—उत्पत्तिश्रुतिके गौण होनेसे और कारणत्रयका अभाव होनेसे आकाश नित्य है—वह उत्पन्न नहीं होता है ।

सिद्धान्त—आकाश उत्पन्न होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्तिमें एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान, विभक्तत्व, उत्पत्तिसूचक श्रुति और विवर्तवादमें कारणत्रयकी अनपेक्षा, ये सब हेतु हैं ।

---

* सारांश यह है कि यद्यपि 'तस्माद्वा एतस्माद्' इत्यादि श्रुतिसे आकाशकी उत्पत्ति सुननेमें आती है, परन्तु वह युक्त नहीं है, क्योंकि, कार्यके प्रति समवायी कारण, असमावायी कारण और निमित्त कारणकी अपेक्षा रहती है, परन्तु अन्वेषण करनेपर भी आकाशोत्पत्तिके लिए वे (कारणत्रय) नहीं मिलते, अतः अगत्या उक्त श्रुतिको गौणी (अप्रधान) मानना चाहिए। "आकाशः सम्भूतः" इसमें 'सम्भूत' शब्दका प्रयोग सत्ताश्रयत्वरूप गुणसम्बन्धसे युक्त है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यह पूर्वपक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि वेदान्तमें यह बात प्रसिद्ध है कि—एक वस्तुके विज्ञानसे सम्पूर्ण वस्तुओंका ज्ञान होता है, इसकी—एक विज्ञानसे सर्व विज्ञानकी उपपत्ति, आकाशको ब्रह्मका कार्य माना जाय तो, हो सकती है, जैसे एक कारण (मृत्तिकारूप) का ज्ञान होनेसे यावत् मृत्तिकाके विकार घटादि जाने जाते हैं। अन्यथा उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार अनुमान भी हो सकता है आकाश उत्पन्न होता है, विभक्त होनेसे, घटके समान। आकाशमें वायुप्रभृतिका वैलक्षण्य प्रसिद्ध है, अतः हेतु असिद्ध नहीं है, ब्रह्म सर्वात्मक है, अतः उसका विभाग नहीं है, अतः व्यभिचारकी शङ्का पूर्व अनुमानमें नहीं कर सकते हैं, उत्पत्तिको कहनेवाली श्रुति भी उक्त अनुमानमें प्रमाण है ।

आरम्भवादमें तीनों कारणोंकी अपेक्षा रहनेपर भी विवर्तवादमें उसकी अपेक्षा न रहने के कारण, कारणत्रयकी अप्रासिद्धिनिबन्धन दोष सिद्धान्तीको नहीं दे सकते हैं ।

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥

पदच्छेद—न, वियत्, अश्रुतेः ।

पदार्थोक्ति—वियद्—आकाशः, न—नोत्पद्यते [कुतः] अश्रुतेः—आकाशोत्पत्तिप्रतिपादकश्रुतिवाक्याभावात् ।

भाषार्थ—आकाश उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि आकाशकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति नहीं है ।

भाष्य

वेदान्तेषु तत्र तत्र भिन्नप्रस्थाना उत्पत्तिश्रुतय उपलभ्यन्ते । केचिदाकाशस्योत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न । तथा केचिद्वायोरुत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न । एवं जीवस्य प्राणानां च । एवमेव क्रमादिद्वारकोऽपि विप्रतिषेधः श्रुत्यन्तरेषूपलक्ष्यते । विप्रतिषेधाच्च परपक्षाणामनपेक्षितत्वं

भाष्यका अनुवाद

वेदान्तोंमें स्थल-स्थलपर भिन्न प्रस्थानवाली उत्पत्ति-श्रुतियां उपलब्ध होती हैं । कुछ आकाशकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करती हैं और कुछ नहीं करतीं । कितनी वायुकी उत्पत्ति कहती हैं और कितनी नहीं कहतीं । इसी प्रकारसे जीवकी और प्राणोंकी भी उत्पत्ति कही गई है । इसी प्रकार क्रम आदि द्वारा भी अन्य श्रुतियोंमें विरोध

रत्नप्रभा

वियदादिविधातारं सीतास्याब्जमधुव्रतम् ।
नित्यचिद्विश्वकर्त्रात्माऽभिन्नं सर्वेश्वरं भजे ॥ १ ॥

जीवस्य अनुत्पत्तिप्रसङ्गेन आकाशस्यापि उत्पत्त्यसम्भवमाशङ्क्य परिहरन् आदौ एकदेशिमतम् आह—न वियदश्रुतेरिति । वियत्प्राणपादयोः अर्थं संक्षिपन् पूर्वपादेन संगतिम् आह—वेदान्तेष्विति । भिन्नोपक्रमत्वमेव आह—केचिदित्यादिना । भूतभोक्तृश्रुतीनां मिथो विरोधशङ्कानिरासः वियत्पादार्थः

रत्नप्रभाका अनुवाद

आकाश आदिके रचयिता श्रीसीताजीके मुखकमलके मधुकर नित्य, चिद्, विश्वके निर्माता परमात्मा अभिन्न सबके अधिपति [श्रीरामचन्द्रजी] का मैं भजन करता हूँ ॥ १ ॥

जीवकी अनुत्पत्तिके प्रसङ्गसे आकाशकी भी उत्पत्तिके असम्भवकी आशङ्का करके उसका परिहार करते हुए एकदेशीका मत कहते हैं—"न वियदश्रुतेः" । आकाशपाद और प्राणपादका अर्थ संक्षेपमें कहते हुए पूर्वपादके साथ सङ्गति कहते हैं—"वेदान्तेषु" इत्यादिसे । श्रुतियोंका विरोध कहते हैं—"केचित्" इत्यादिसे । भूत-भोक्तृ-श्रुतियोंके परस्पर विरोधकी शंकाका

भाष्य

स्थापितम्, तद्वत् स्वपक्षस्याऽपि विप्रतिषेधादेवाऽनपेक्षितत्वमाशङ्क्येत इत्यतः सर्ववेदान्तगतसृष्टिश्रुत्यर्थनिर्मलत्वाय परः प्रपञ्चः आरभ्यते, तदर्थनिर्मलत्वे च फलं यथोक्ताऽऽशङ्कानिवृत्तिरेव। तत्र प्रथमं तावदाकाशमाश्रित्य चिन्त्यते किमस्याऽऽकाशस्योत्पत्तिरस्त्युत नास्तीति।

भाष्यका अनुवाद

देखनेमें आता है। और विरोधसे परपक्ष अनपेक्षित है, ऐसा स्थापन किया है। उसी प्रकार स्वपक्ष भी विरोधसे ही अनपेक्षित है, ऐसी आशंका हो सकती है, इसलिए सर्व वेदान्तगतसृष्टिश्रुतिके अर्थकी निर्मलताके लिए अब आगेका प्रपञ्च—ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। उसके अर्थ निर्मल होनेका फल यथोक्त शंकाकी निवृत्ति ही है। उसमें प्रथमतः आकाशको उद्देशकर विचार किया

रत्नप्रभा

लिङ्गशरीरश्रुतीनां तद् निरासः प्राणपादार्थः। यथा मिथः विरोधात् पूर्वापरविरोधाच्च परपक्षाः उपेक्ष्याः तथा श्रुतिपक्षोऽपि उपेक्ष्यः इति शङ्कोत्थाने पादद्वयस्य आरम्भात् पूर्वपादेन दृष्टान्तसंगतिः इति समुदायार्थः। आकाशवाय्वोः उत्पत्तिम् आमनन्ति तैत्तिरीयकाः, नामनन्ति छन्दोगाः। जीवस्य प्राणानाञ्च उत्पत्तिं 'सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति' इति वाजिनः। "एतस्माज्जायते प्राण.' इत्याथर्वणिकाश्च—आमनन्ति नाऽन्ये। एवम् आकाशपूर्विका क्वचित् सृष्टिः, क्वचित् तेजःपूर्विका इति क्रमविरोधः। आदिपदात् 'स इमाँल्लोकानसृजत' [ऐ० १।२] इत्यक्रमः, क्वचित् सप्त प्राणाः क्वचिद् अष्टावित्यादिसंख्याद्वारकश्च विरोधो ग्राह्यः, प्रपञ्चः—पादद्वयम्, तथा च पादद्वयस्य श्रुतीनां मिथोविरोधनिरासार्थत्वात् श्रुति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

निराकरण यह आकाशपादका अर्थ है और लिंगशरीर श्रुतियोंके परस्पर विरोधकी शंकाका निराकरण यह प्राणपादका अर्थ है। जैसे परस्पर विरोध और पूर्वापर विरोधके कारणसे परपक्ष उपेक्षा करने योग्य है, वैसे श्रुतिपक्ष भी उपेक्षा योग्य है, ऐसी शङ्का उत्पन्न होनेपर दोनों पादोंका आरम्भ होनेसे पूर्वपादके साथ दृष्टान्तसङ्गति है, ऐसा समुदायका अर्थ है। तैतिरीय आकाश और वायुकी उत्पत्ति कहते हैं, छन्दोग नहीं कहते। 'सर्व एत०' (ये सब आत्मासे उत्पन्न होते हैं) इस प्रकार माध्यंदिन जीवकी उत्पत्ति कहते हैं। 'एतस्माज्जायते प्राणः' ऐसा आथर्वणिक श्रवण कराते हैं। कहीं आकाशपूर्विका सृष्टि है और 'कहीं तेजः-पूर्विका है, ऐसा क्रमका विरोध है। 'क्रमादिद्वारा' इसमें आदिपदसे "स इमाँल्लोका०" (उसने इन लोकोंको उत्पन्न किया) ऐसे क्रमका विरोध है। इसी प्रकार कहीं सात प्राण

भाष्य

तत्र तावत् प्रतिपद्यते—'न वियदश्रुतेः' इति । न खल्वाऽऽकाशमुत्पद्यते । कस्मात्? अश्रुतेः–न ह्यस्योत्पत्तिप्रकरणे श्रवणमस्ति । छान्दोग्ये हि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति सच्छब्दवाच्यं ब्रह्म प्रकृत्य 'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति च पञ्चानां महाभूतानां मध्यमं तेज आदिं कृत्वा त्रयाणां तेजोबन्नानामुत्पत्तिः श्राव्यते । श्रुतिश्च नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ, न चाऽत्र श्रुतिरस्त्याकाशस्योत्पत्तिप्रतिपादिनी, तस्मान्नास्त्युत्पत्तिरिति ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

जाता है कि इस आकाशकी उत्पत्ति है या नहीं ? उसमें प्रथम 'न वियदश्रुतेः' ऐसा प्रतिपादन होता है । निश्चय, आकाश उत्पन्न नहीं होता है । किससे ? अश्रुतिसे । उत्पत्ति प्रकरणमें इसकी उत्पत्तिप्रतिपादक श्रुति नहीं है, क्योंकि छान्दोग्यमें 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (हे सोम्य, यह पूर्वमें सत् ही था, एक ही अद्वितीय) इस प्रकार सच्छब्दसे वाच्य ब्रह्मका उपक्रम करके 'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने विचारा, उसने तेज उत्पन्न किया) इस प्रकार पांच महाभूतोंके मध्यमें मध्यम तेजको आरम्भ करके तेज, जल और अन्न इन तीनोंकी उत्पत्ति श्रुत है । और अतीन्द्रिय अर्थके विज्ञानकी उत्पत्तिमें श्रुति हमारे मतमें प्रमाण है, परन्तु आकाशकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करने वाली श्रुति है ही नहीं, इसलिए आकाशकी उत्पत्ति नहीं है ॥१॥

रत्नप्रभा

शास्त्राध्यायसंगतयः सिद्धाः । अत्राऽऽकाशस्य उत्पत्त्यनुत्पत्तिश्रुत्योर्मिथः विरोधः अस्ति न वेति वाक्यभेदैकवाक्यत्वाभ्यां सन्देहे यदि उत्पत्तिः तदा वाक्यभेदेन विरोधाद् अप्रामाण्यमनयोः श्रुत्योः इति पूर्वपक्षयिष्यन् आदौ अनुत्पत्तिपक्षम् एकदेशी गृह्णातीत्याह—तत्र तावदिति । उत्पत्तिश्रुतिर्मुख्या नाऽस्तीति गूढाभिसन्धिः ॥१॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और कहीं आठ, ऐसे संख्याप्रयुक्त विरोधका ग्रहण है । प्रपञ्च—दो पाद हैं । पादद्वय भी श्रुतियोंका परस्पर विरोधके निरासके लिए है। इससे श्रुति, शास्त्र और अध्यायकी सङ्गति सिद्ध हुई यहाँ आकाशकी उत्पत्तिश्रुति और अनुत्पत्ति श्रुतियोंका परस्पर विरोध है या नहीं, ऐसा वाक्यभेद और एकवाक्यतासे सन्देह होनेपर, यदि उत्पत्ति हो, तो वाक्यभेदसे विरोधके कारण ये दो श्रुतियाँ अप्रमाण हैं, ऐसा पूर्वपक्ष करनेवाला प्रथम अनुत्पत्तिपक्षका ग्रहण एकदेशी करता है—"तत्र तावत्" इत्यादिसे । उत्पत्तिश्रुति मुख्य नहीं है यह गूढ़ अभिप्राय है ॥ १ ॥

अस्ति तु ॥ २ ॥

पदच्छेद—अस्ति, तु ।

पदार्थोक्ति—तु—पक्षान्तरपरिग्रहार्थम्, अस्ति—छान्दोग्ये आकाशोत्पत्तिश्रुत्यभावेऽपि सा श्रुतिस्तैत्तरीयके विद्यते [अतो विरोधस्तदवस्थः] ।

भाषार्थ—छान्दोग्यमें आकाशकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिके न होनेपर भी तैत्तरीयक उपनिषद्में वह श्रुति है, इसलिए विरोध ज्यों का त्यों है ।

भाष्य

तुशब्दः पक्षान्तपरिग्रहे । मा नामाऽऽकाशस्य छान्दोग्ये भूदुत्पत्तिः, श्रुत्यन्तरे त्वस्ति । तैत्तिरीयका हि समामनन्ति—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति प्रकृत्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इति । ततश्च श्रुत्योर्विप्रतिषेधः—क्वचित्तेजःप्रमुखा सृष्टिः, क्वचिदाकाशप्रमुखेति । नन्वेकवाक्यताऽनयोः श्रुत्योर्युक्ता; सत्यम्, सा युक्ता, न तु सा अवगन्तुं

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द अन्य पक्ष-ग्रहण करनेके अर्थमें है । आकाशकी उत्पत्ति छान्दोग्यमें न हो, परन्तु अन्य श्रुतिमें है । तैत्तिरीयक 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है) ऐसा उपक्रम करके 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' (उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) ऐसा श्रुतिमें प्रतिपादन करते हैं । इसलिए कहीं तेजःप्रमुख सृष्टि है और कहीं आकाशप्रमुख सृष्टि है ऐसा दो श्रुतियोंमें विरोध है । यद्यपि इन दोनों श्रुतियोंकी एकवाक्यता युक्त है,

---

रत्नप्रभा

सम्प्रति पूर्वपक्षयति सूत्रकारः—अस्ति त्विति । एकवाक्यत्वेन प्रामाण्यसम्भवे किमिति श्रुत्योः अप्रामाण्यम् इति शङ्कते—नन्वेकवाक्यतेति । एकवाक्यत्वासम्भवाद् अप्रामाण्यं युक्तमित्याह—सत्यमित्यादिना । एकस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस समय उत्पत्तिश्रुति मुख्य नहीं है, ऐसा गुप्ताभिप्रायी सूत्रकार पूर्वपक्ष करते हैं—"अस्ति तु" इत्यादिसे । एकवाक्यतासे प्रामाण्य हो सकता है, तो अप्रामाण्य कैसा ? ऐसी शङ्का करता है—"नन्वेकवाक्यता" इत्यादिसे । एक वाक्यताका सम्भव न होनेसे अप्रामाण्य युक्त है, ऐसा कहते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे । एकका एकही समय दो कार्योंके साथ असम्बन्ध

भाष्य

शक्यते। कुतः? 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयेन संबन्धानुपपत्तेः 'तत्तेजोऽसृजत' 'तदाकाशमसृजत' इति। ननु सकृच्छ्रुतस्याऽपि कर्तुः कर्तव्यद्वयेन संबन्धो दृश्यते—यथा सूपं पक्त्वा ओदनं पचतीति, एवं तदाकाशं सृष्ट्वा तत्तेजोऽसृजतेति योजयिष्यामि। नैवं युज्यते, प्रथमजत्वं हि छान्दोग्ये तेजसोऽवगम्यते तैत्तिरीयके चाऽऽकाशस्य, न चोभयोः प्रथमजत्वं संभवति। एतेन इतरश्रुत्यक्षरविरोधोऽपि

भाष्यका अनुवाद

सत्य युक्त है, किन्तु वह समझी नहीं जा सकती, किससे? तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया) इस प्रकार एकवार श्रुतिसे प्रतिपादित कर्ताका—'तत्तेजोऽसृजत' 'तदाकाशमसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया, उसने आकाश उत्पन्न किया) इस प्रकार दो कर्तव्योंके साथ सम्बन्ध नहीं होगा। एकवार श्रुत कर्ताका भी दो कर्तव्योंके साथ संबन्ध देखा जाता है, जैसे 'सूपं पक्त्वा ओदनं पचति' (दाल पका कर चावल पकाता है) इत्यादिमें, इसी प्रकार उसने आकाश उत्पन्न करके तेज उत्पन्न किया ऐसी योजना करूँगा। ऐसा युक्त नहीं है, क्योंकि छान्दोग्यमें तेजकी प्रथम उत्पत्ति समझी जाती है और तैत्तिरीयकमें आकाशकी, और दोनोंकी

रत्नप्रभा

युगपत् कार्यद्वयासम्बन्धेऽपि क्रमेण सम्बन्धसम्भवाद् एकवाक्यता इति मुख्यसिद्धान्ती शङ्कते—ननु सकृदिति। अप्रामाण्यवादी दूषयति—नैवमिति। क्रमः न युज्यते, द्वयोः श्रुतप्राथम्यभङ्गापत्तेः इत्यर्थः। एकस्माद् द्विदलबीजाद् दलद्वयवद् अस्तूभयं प्रथमजम् इत्यत आह—न चेति। 'वायोः अग्निः' इति क्रमश्रुतिभङ्गाद् इति शेषः। छान्दोग्यश्रुतेस्तित्तिरिश्रुतिविरुद्धार्थत्वम् उक्त्वा तित्तिरिश्रुतेस्तद्विरुद्धार्थत्वम् आह—एतेनेति। एतत्पदार्थम् आह—तस्मादिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, तो भी क्रमसे सम्बन्धके सम्भव होनेसे एकवाक्यता है, ऐसी शङ्का मुख्यसिद्धान्ती करते हैं—"ननु सकृत्" इत्यादिसे। अप्रामाण्यवादी दोष देता है—"नैवम्" इत्यादिसे। क्रम युक्त नहीं है, क्योंकि आकाश और तेज दोनों प्रथम उत्पन्न हुए हैं, ऐसी जो दोनोंकी प्रथमता श्रुतिमें वर्णित है उसका भङ्ग होता है, ऐसा अर्थ है। जैसे एक द्विदल बीजमेंसे दो दल उत्पन्न होते हैं, वैसे आकाश और तेज दोनों प्रथम उत्पन्न हैं, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादि। 'वायोरग्निः'– (वायुसे अग्नि) ऐसी क्रमश्रुतिका भंग होता है इतना शेष है। छान्दोग्यश्रुतिका तैत्तिरीयश्रुतिके साथ विरुद्ध अर्थ कहकर तैत्तिरीयश्रुतिका उसके साथ विरुद्ध अर्थ कहते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। 'एतद्' शब्दका अर्थ स्फुट करते हैं—

भाष्य

व्याख्यातः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यत्रापि 'तस्मादाकाशः संभूतः, 'तस्मात्तेजः संभूतम्' इति सकृच्छ्रुतस्याऽपादानस्य संभवनस्य च वियत्तेजोभ्यां युगपत्संबन्धाऽनुपपत्तेः। 'वायोरग्निः' (तै० २।१) इति च पृथगाम्नानात् ॥ २ ॥

अस्मिन् विप्रतिषेधे कश्चिदाह—

भाष्यका अनुवाद

प्रथम उत्पत्तिका असम्भव है, अतः दूसरी श्रुतिके साथ विरोध भी व्याख्यात हुआ। 'तस्माद्वा एतस्माद्वात्मन आकाशः सम्भूतः' (उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इसमें भी 'उससे आकाश उत्पन्न हुआ,' 'उससे तेज उत्पन्न हुआ' इस प्रकार एकबार श्रुत अपादान और सम्भवका आकाश और तेजके साथ एक ही समय सम्बन्ध युक्त नहीं है। और 'वायो०' 'वायुसे अग्नि उत्पन्न होती है' ऐसी दूसरी श्रुति भी है ॥२॥

इस प्रकार विरोध होनेपर कोई कहता है—

रत्नप्रभा

छान्दोग्येऽपि श्रुतं तेजसः प्राथम्यम्, अत्र दुर्योज्यम् इत्यर्थः। किञ्च, सत्पदार्थः आत्मा छान्दोग्ये तेजस उपादानं श्रूयते, अत्र तु वायुः इति नैकवाक्यतेत्याह—वायोरिति ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तस्मात्" इत्यादि। छान्दोग्यमें भी तेजकी उत्पत्ति प्रतिपादित है, वह यहां दुर्योज्य है, ऐसा अर्थ है। सत्पदार्थ आत्मा तेजके उपादानरूपसे छान्दोग्यमें निर्दिष्ट है और तैत्तिरीयमें तो सच्छब्दवाच्य जो आत्मा है, उससे अन्य जो वायु है वह तेजके उपादानरूपसे प्रतिपादित है, इसलिए एक वाक्यता नहीं है ऐसा कहते हैं—"वायोः" इत्यादिसे ॥ २ ॥

गौण्यसंभवात् ॥ ३ ॥

पदच्छेद—गौणी, असम्भवात्।

पदार्थोक्ति—गौणी—आकाशोत्पत्तिश्रुतिः गौणी, [न तु मुख्या कुतः] असंभवात्—आकाशोत्पत्तौ समवायिकारणादिसामग्र्यभावाद् विभुत्वेन नित्यत्वानुमानाच्चाऽऽकाशोत्पत्तेरसंभवात्।

भावार्थ—आकाशकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति गौणी है, मुख्या नहीं है, क्योंकि आकाशकी उत्पत्तिमें समवायिकारण आदि सामग्रीका अभाव है, व्यापक होनेसे आकाशकी नित्यताका अनुमान होता है, अतः आकाशकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

भाष्य

नास्ति वियत उत्पत्तिः, अश्रुतेरेव। या त्वितरा वियदुत्पत्तिवादिनी श्रुतिरुदाहृता, सा गौणी भवितुमर्हति; कस्मात्? असंभवात्। नह्याकाशस्योत्पत्तिः संभावयितुं शक्या, श्रीमत्कणभुगभिप्रायानुसारिषु जीवत्सु। ते हि कारणसामग्र्यसंभवादाकाशस्योत्पत्तिं वारयन्ति। समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेभ्यो हि किल सर्वमुत्पद्यमानं समुत्पद्यते। द्रव्यस्य चैकजातीयकमनेकं च द्रव्यं समवायिकारणं भवति। न चाऽऽकाशस्यैक-

भाष्यका अनुवाद

आकाशकी उत्पत्ति नहीं है, अश्रुतिसे ही। जो आकाशकी उत्पत्तिको कहनेवाली अन्य श्रुति कही गई है, वह गौणी है, क्योंकि असम्भव है। आकाशकी उत्पत्तिकी श्रीमान् कणादके अभिप्रायका अनुसरण करनेवालोंके रहते हुए सम्भावना नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वे कारण-सामग्रीके असम्भवसे आकाशोत्पत्तिका निषेध करते हैं। सम्पूर्ण उत्पद्यमान कार्य समवायी, असमवायी, और निमित्तकारणोंसे उत्पन्न होता है, और एक जातिके अनेकद्रव्य द्रव्यके प्रति समवायिकारण होते हैं,

---

रत्नप्रभा

एवं श्रुत्योर्विरोधाद् अप्रामाण्यमिति पूर्वपक्षे प्राप्ते स एव वियदनुत्पत्तिवादी स्वमतेन प्रामाण्यं ब्रूते इत्याह—अस्मिन्निति। गौण्यसम्भवादिति। एवमाध्यायसमाप्तेः अधिकरणेषु प्रथमं विरोधात् श्रुत्यप्रामाण्यम् इति पूर्वपक्षफलम्, तत एकदेशिसिद्धान्तः, पश्चान्मुख्यसिद्धान्ते श्रुतीनाम् अविरोधेन एकवाक्यतया ब्रह्मणि समन्वयसिद्धिः इति फलम् क्रमश्चेति अवगन्तव्यम्। तत्र श्रुत्योः विरोधे सति अध्ययनविध्युपात्तयोः अप्रामाण्यायोगाद् वियदुत्पत्त्यसम्भवरूपतर्कानुगृहीतच्छान्दोग्यश्रुतिः मुख्यार्था, इतरा गौणीति अविरोध इत्येक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार दो श्रुतियोंके विरोधसे अप्रामाण्य है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर वही आकाशको नित्य कहनेवाला अपने मतसे प्रामाण्य कहता है, ऐसा कहते हैं—"अस्मिन्" इत्यादिसे। इस प्रकार अध्यायके समाप्तिपर्यन्त अधिकरणोंमें प्रथम विरोधसे श्रुतिका अप्रामाण्य, यह पूर्वपक्षका फल है, पीछे एकदेशीका सिद्धान्त है। और पीछे मुख्य सिद्धान्तके साथ श्रुतियोंका अविरोध होनेपर एक वाक्यता होनेसे ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध होता है, ऐसा फल और क्रम है। उसमें दो श्रुतियोंका विरोध होनेपर अध्ययन विधिसे गृहीत श्रुतियाँ अप्रमाण हों यह अयुक्त होनेसे आकाशकी उत्पत्ति असंभव है, इस तर्कसे अनुगृहीत छान्दोग्य श्रुतिको मुख्यार्थ मानना और दूसरीको गौणी मानना ऐसे अविरोध होगा, इस

भाष्य

जातीयकमनेकं च द्रव्यमारम्भकमस्ति, यस्मिन् समवायिकारणे सति, असमवायिकारणे च तत्संयोगे, आकाश उत्पद्येत। तदभावात्तु तदनुग्रहप्रवृत्तं निमित्तकारणं दूरापेतमेवाऽऽकाशस्य भवति। उत्पत्तिमतां च तेजःप्रभृतीनां पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभाव्यते—प्रागुत्पत्तेः प्रकाशादिकार्यं न बभूव, पश्चाच्च भवतीति। आकाशस्य पुनर्न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभावयितुं शक्यते। किं हि प्रागुत्पत्तेरनवकाशमसुषिरमच्छिद्रं

भाष्यका अनुवाद

परन्तु आकाशके आरम्भक एक जातिके अनेकद्रव्य नहीं हैं, जिससे समवायी कारणके होनेपर और उनके संयोग—असमवायिकारणके होनेपर आकाश उत्पन्न हो। उन कारणोंके अभावसे उनके अनुग्रहके लिए प्रवृत्त निमित्त कारणकी तो कथा ही क्या है। 'तेजकी उत्पत्तिके पूर्व प्रकाशादिकार्य नहीं थे, उत्पत्तिके पश्चात् हुए, ऐसा विशेष—उत्पत्तिमान् तेज प्रभृतिमें पूर्वोत्तर कालमें देखा जाता है, वैसे आकाशोत्पत्तिके पूर्वोत्तर कालमें विशेषकी संभावना नहीं की जा सकती। किन्तु उत्पत्तिके पूर्वमें आकाश अनवकाश, असुषिर, अच्छिद्र

रत्नप्रभा

देशिमतं विवृणोति—नास्तीत्यादिना। आकाशः नोत्पद्यते, सामग्रीशून्यत्वात्, आत्मवत्। न चाऽविद्याब्रह्मणोः सत्त्वाद् हेत्वसिद्धिः, विजातीयत्वेनाऽनयोरारम्भकत्वायोगादसंयुक्तत्वाच्च, संयोग एव हि द्रव्यस्याऽसमवायिकारणम्, अतः समवाय्यसमवायिनोरभावान्न हेत्वसिद्धिरित्यर्थः। प्रागभावशून्यत्वाच्चाऽऽत्मवदाकाशो नोत्पद्यते इत्याह—उत्पत्तिमतां चेति। प्रकाशः—चाक्षुषानुभवः, आदिपदात् तमोध्वंसपाकयोर्ग्रहणम्। मूर्तद्रव्याश्रयत्वं ह्याकाशस्य कार्यम्, तच्च प्रलयेऽप्यस्ति पर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकारसे एकदेशीके मतका विवरण करते हैं—"नास्ति" इत्यादिसे। आकाश उत्पन्न नहीं होता, सामग्रीशून्य होनेसे, आत्माके समान, ऐसा अनुमान प्रयोग है। अविद्या और ब्रह्म हेतु हैं इससे इस प्रयोगमें हेतु असिद्ध है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि विजातीय और असंयुक्त हैं। इससे ये दोनों आरम्भक नहीं हो सकते हैं, और संयोग ही द्रव्यका असमवायी कारण होता है, अतः समवायी और असमवायीके अन्यभावसे हेतु असिद्ध नहीं है, ऐसा अर्थ है। प्रागभाव न होनेसे आत्माके समान आकाश नहीं उत्पन्न होता, ऐसा कहते हैं—"उत्पत्तिमतां च" इत्यादिसे। प्रकाश—चाक्षुषज्ञान, आदि पदसे तमोध्वंस और पाकका ग्रहण है मूर्त द्रव्यका आश्रयत्व आकाशका कार्य है, वह प्रलयमें भी है, क्योंकि परमाणुका आश्रय होनेसे, अतः प्रागभाव

भाष्य

बभूवेति शक्यतेऽध्यवसातुम् ? । पृथिव्यादिवैधर्म्याच्च विभुत्वादि-लक्षणादाकाशस्य अजत्वसिद्धिः । तस्माद्यथा लोके—आकाशं कुरु, आकाशो जात इत्येवंजातीयको गौणः प्रयोगो भवति, यथा च घटाकाशः, करकाकाशः, गृहाकाश इत्येकस्याप्याकाशस्यैवंजातीयको भेदव्यपदेशो गौणो भवति, वेदेऽपि 'आरण्यानाकाशेष्वालभेरन्' इति, एवमुत्पत्तिश्रुतिरपि गौणी द्रष्टव्या ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

था इत्यादि अध्यवसित होता है । और पृथिवी आदिके साथ विभुत्व आदि लक्षण वैधर्म्य होनेसे, आकाश जन्मरहित है, ऐसा सिद्ध होता है । इसलिए जैसे लोकमें—आकाश करो, आकाश हुआ इस प्रकारका गौण प्रयोग होता है, और जैसे घटाकाश, करकाकाश, गृहाकाश इस प्रकार एक आकाशका भेद-व्यपदेश गौण होता है और वेदमें भी अरण्यवासी पशुओंका आकाशमें आलभन करे' ऐसा (गौण व्यवहार) होता है, इसी प्रकार उत्पत्तिश्रुति भी गौणी है ॥ ३ ॥

रत्नप्रभा

भाण्वाश्रयत्वात् अतो न प्रागभाव इत्यर्थः । प्रागभावासत्त्वं स्फुटयति—किं हीति । स्थूलाश्रयः—अवकाशः, सूक्ष्माश्रयः—छिद्रम्, अण्वाश्रयः सुषिरमिति भेदः । किञ्चाऽऽत्मवदाकाशो न जायते, विभुत्वाद् अस्पर्शद्रव्यत्वाच्चेत्याह—पृथिव्यादीति । तस्मादुक्ततर्कबलाद् गौणी द्रष्टव्येत्यन्वयः । भेदोक्तेर्गौणत्वे वैदिकोदाहरणमाह—वेदेऽप्यारण्यानिति । आकाशेष्विति भेदव्यपदेशो गौण इति सम्बन्धः ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, ऐसा अर्थ है । प्रागभाव नहीं है यह स्फुट करते हैं—"किं हि" इत्यादिसे । स्थूलका आश्रय—अवकाश, सूक्ष्म (द्रव्य) का आश्रय—छिद्र, अणुका आश्रय—सुषिर, ऐसा भेद है । और आत्माके समान आकाश उत्पन्न नहीं होता, विभु होनेसे और निरवयव होनेसे, ऐसा कहते हैं—"पृथिव्यादि" इत्यादिसे । इसलिए उक्त तर्कके बलसे आकाशकी उत्पत्ति गौण है ऐसा अन्वय है । भेदोक्ति गौण माननेमें वैदिक उदाहरण कहते हैं—"वेदेऽप्यारण्यान्" इत्यादिसे । 'आकाशेषु' इस प्रकार आकाशका भेदकथन गौण है ऐसा सम्बन्ध है ॥ ३ ॥

शब्दाच्च ॥ ४ ॥

पदच्छेद—शब्दात्, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, शब्दात्—'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्' इत्यादि-श्रुतौ आकाशेऽमृतशब्ददर्शनात् [नाऽऽकाशस्योत्पत्तिरित्यर्थः]

भाषार्थ—और 'वायुश्चा०' (वायु और आकाश ये अविनाशी हैं) इत्यादि श्रुतिमें आकाशमें अमृत शब्दका प्रयोग देखा जाता है, इससे प्रतीत होता है कि आकाशकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

भाष्य

शब्दः खल्वाकाशस्य अजत्वं ख्यापयति । यत आह—'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्' (बृ० २।३।३) इति; न ह्यमृतस्योत्पत्तिरुपपद्यते । 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति चाऽऽकाशेन ब्रह्म सर्वगतत्वनित्यत्वाभ्यां धर्माभ्यामुपमिमानः आकाशस्याऽपि तौ धर्मौ सूचयति । न च तादृशस्योत्पत्तिरुपपद्यते । 'स यथानन्तोऽयमाकाश एवमनन्त आत्मा

भाष्यका अनुवाद

आकाश उत्पत्तिरहित है, ऐसा श्रुति कहती है। श्रुतिमें कहा है कि—"वायुश्चा०" (वायु और अन्तरिक्ष ये अमृत हैं) अमृतकी उत्पत्ति उपपन्न नहीं होती। "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" (आकाशके समान सर्वगत और नित्य है।) इसमें भी आकाशसे सर्वगतत्व और नित्यत्व धर्मसे, ब्रह्मको उपमा देती हुई श्रुति आकाशके भी वे धर्म हैं, ऐसा सूचित करती है। और नित्य एवं विभुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। "स यथाऽनन्तोऽयमाकाश०" (जैसे यह आकाश अनन्त है, वैसे आत्मा अनन्त जानना चाहिए) यह उदाहरण है, और "आकाशशरीरं"

रत्नप्रभा

न केवलं तर्कादाकाशस्यानुत्पत्तिः, किन्तु श्रुतितोऽपीत्याह सूत्रकारः—शब्दाच्चेति । नित्यभावस्याऽनादित्वादिति भावः । आत्मेति च शब्द इहोदाहरण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

केवल तर्कसे आकाशकी अनुपपत्ति है, ऐसा नहीं है, श्रुतिसे भी-अनुपत्ति है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"शब्दाच्च" इत्यादिसे। क्योंकि नित्य अनादि होते हैं, ऐसा भाव है। 'आत्मा' यह शब्द यहाँ उदाहरण है ऐसा अन्वय है। 'आकाशशरीर'—आकाश है

भाष्य

वेदितव्यः' इति चोदाहरणम्, 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १।६।२), 'आकाश आत्मा' (तै० १।७।१) इति च। न ह्याकाशस्योत्पत्तिमत्त्वे ब्रह्मणस्तेन विशेषणं संभवति नीलेनेवोत्पलस्य। तस्मान्नित्यमेवाकाशेन साधारणं ब्रह्मेति गम्यते ॥ ४ ॥

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्म आकाश शरीर है, और 'आकाश आत्मा' (आकाश आत्मा है) इत्यादि। जैसे नील उत्पलका विशेषण होता है, वैसे आकाश उत्पत्तिवाला हो, तो वह ब्रह्मका विशेषण नहीं हो सकेगा। इसलिए नित्य ही आकाशके तुल्य ब्रह्म है, ऐसा समझा जाता है ॥ ४ ॥

रत्नप्रभा

मित्यन्वयः। आकाशः शरीरमस्येति बहुव्रीहिणाऽत्यन्तसाम्यभानाद् ब्रह्मवदाकाशस्याऽनादित्वमित्यर्थः ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

शरीर जिसका, ऐसे बहुव्रीहिसे ब्रह्म और आकाशमें अत्यन्त साम्यका भान होता है, इसलिए ब्रह्मके समान आकाश अनादि है, ऐसा अर्थ है ॥ ४ ॥



स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥५॥

पदच्छेद—स्यात्, च, एकस्य, ब्रह्मशब्दवत्।

पदार्थोक्ति—ब्रह्मशब्दवत्—यथा एकस्मिन्नेव प्रकरणे विषयभेदात् 'अन्नं ब्रह्म' इत्यत्र ब्रह्मशब्दो गौणः 'आनन्दो ब्रह्म' इत्यत्र मुख्यः [तथा प्रकृतेऽपि विषयभेदाद्] एकस्य-सम्भूतशब्दस्य गौणत्वं मुख्यत्वं च स्यात्।

भाषार्थ—जैसे एक ही प्रकरणमें विषयभेदसे 'अन्नं ब्रह्म' (अन्न ब्रह्म है) यहांपर ब्रह्मशब्द गौण है और 'आनन्दो ब्रह्म' (आनन्द ब्रह्म है) वहांपर मुख्य है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी विषयके भेदसे एकही सम्भूत शब्द गौण और मुख्य हो सकता है।

अच्युतग्रन्थमालासे प्रकाशित पुस्तकोंका सूचीपत्र

(क) विभाग

१–**भगवन्नामकौमुदी**—[भगवन्नामकी महिमाका प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ] मीमांसाके धुरन्धर विद्वान् श्रीलक्ष्मीधरकी कृति, अनन्तदेवरचित 'प्रकाश' टीकासहित । सम्पादक–आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री ।

पृ० सं० १५०, मू.—आ. १०

२–**भक्तिरसायन**—[भक्तिस्वरूपका परिचायक अत्युत्तम ग्रन्थ] यतिवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीरचित प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकाररचित शेष दो उल्लासोंमें आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री रचित टीकासे विभूषित । सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री । पृ० सं० १७०, मू.–आ. १२

३–**शुल्बसूत्र**—[कात्यायनश्रौतसूत्रका परिशिष्ट अंश] वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़की बनाई हुई सरलवृत्तिसहित । सं०–वेदाचार्य विद्याधर गौड़ ।

पृ० सं० ६०, मू.—आ. ४

४–**कात्यायनश्रौतसूत्र**—[इसमें दर्शपूर्णमाससे लेकर अश्वमेध, पितृमेधपर्यन्त कितने ही यज्ञोंकी विधियां साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं] महर्षि कात्यायनप्रणीत, वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़ द्वारा रचित सुसरल वृत्तिसे अलंकृत । सं०–वेदाचार्य विद्याधर गौड़ । पृ० सं० लगभग १०००, मू. –रु. ६

५–**प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि**—(प्रथम भाग) [शाङ्करभाष्यानुसार वेदान्तका सुसरल पद्यमय ग्रन्थ] श्रीसदानन्द व्यासविरचित, ग्रन्थकाररचित सरल संस्कृत टीकासहित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री ।

पृ० सं० ३४०, मू.–रु. २

६–**भक्तिरसामृतसिन्धु**—[भक्तिरससे परिपूर्ण यह ग्रन्थ सचमुच पीयूषसिन्धु है] श्रीरूप गोस्वामीप्रणीत, श्रीजीव गोस्वामीप्रणीत दुर्गमसङ्गमनी टीकासहित । सं०–आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री । पृ० सं० ६२५, मू०–रु०३

७–**प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि**—(द्वितीय भाग) पृ० सं० ४५० मू०–रु. २ आ. ४

८–**तिथ्यर्क**—[तिथियोंके निर्णय आदिपर अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ] श्रीदिवाकर विरचित । सं०साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री ।

पृ० सं० ३४०, मू०–रु० १ आ० ८

९–**परमार्थसार**—[वेदान्तका अति प्राचीन ग्रन्थ] श्रीपतञ्जलि भगवान्‌की कृति, प्राचीन टीका तथा टिप्पणीसे विभूषित । सं०—न्यायव्याकरणाचार्य श्रीसूर्यनारायणशुक्ल । पृ० सं० १००, मू.–आ. ६

१०–**प्रेमपत्तन**—[श्रीकृष्णभक्तिसे सराबोर चैतन्य-सम्प्रदायका अपूर्व ग्रन्थ] भक्तवर रसिकोत्तंसकी कृति तथा अद्भुतप्रणीत टीकासे अलंकृत । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ. सं. २३०, मू.–रु.१

(ख) विभाग

१–**खण्डनखण्डखाद्य**—कवितार्किकशिरोमणि श्रीहर्षरचित, पंडितवर श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल विरचित भाषानुवादसे विभूषित ।

पृ० सं० ४३५ (बड़ा आकार) मू.–रु. २ आ. १२

२–**काशी-केदार-माहात्म्य**—[ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत] साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्द त्रिपाठीद्वारा विरचित भाषानुवादसहित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं० २६+६०४, मू.–रु. २ आ. ८

३–**सिद्धान्तबिन्दु**—(वेदान्तका प्रमेयबहुल अपूर्व ग्रन्थ) आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीविरचित, भाषानुवाद तथा टिप्पणीसे विभूषित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं २८०, मू. रु. १ आ. ६

४–**प्रकरणपञ्चक**—भगवान् शङ्कराचार्यके आत्मबोध, प्रौढानुभूति, तत्त्वोपदेश आदि ५ प्रकरण-ग्रन्थोंका भाषानुवादसहित संग्रह । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं० १३१, मू.–आ. ८

यन्त्रस्थ ग्रन्थ—

१ **षट्सन्दर्भ, विविध टीकाओंसे विभूषित ।**

मिलनेका पता—

(१) अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी ।

(२) गीताप्रेस, गोरखपुर ।



नोट—अच्युतग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहकोंको उक्त सभी पुस्तकें पौन मूल्यपर दी जाती हैं । 'अच्युत' मासिक पत्रके स्थायी ग्राहक (ख) विभागके स्थायी ग्राहक समझे जायँगे ।

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ।।) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।



Regd. No. A. 2426

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

Cover printed at the Indian Press, Ltd.,
Benares.

अच्युत



वर्ष २ } संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी {

चैत्र पूर्णिमा

१९९२

अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रति का—॥)

[नोट—दूकानदारों तथा स्थायी ग्राहकोंके लिए २५% कमीशन काटकर ४॥) वार्षिक]

सम्पादक—

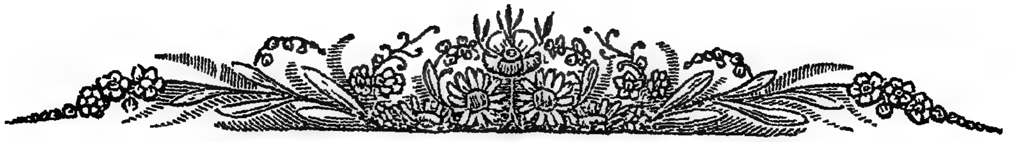
पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट काशी।

मुद्रक—माधव रामचन्द्र काले, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।



अच्युत

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ पंक्ति
सम्भूत शब्दमें गौण और मुख्यत्वकी आशङ्का	१३४३ – २
पूर्वपक्षीके मतसे सर्वविज्ञानकी उपपत्ति	१३४४ – ३
६ ठा सूत्र—प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेका०	१३४७ – १
सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाके उपपादनके लिए सम्पूर्ण वस्तुओंकी ब्रह्मसे उत्पत्तिकथन द्वारा गगनकी उत्पत्तिका प्रतिपादन ...	१३४८ – ६
'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इस वाक्यको शमविधानार्थ मान कर सृष्टि-वाक्यका खण्डन [पूर्वपक्ष]	१३५३ – ६
उक्त शङ्काका सयुक्तिक खण्डन	१३५४ – ३
क्षीरोदकन्यायसे पूर्वपक्षी द्वारा स्वीकृत सर्वविज्ञानके निरसन द्वारा सिद्धान्तमें प्रकृति-विकृतिन्यायसे उस सर्वविज्ञान-प्रतिज्ञाका उपपादन	१३५६ – ४
७ वाँ सूत्र—यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत्	१३५८ – १
विभक्तत्व हेतुका उपपादन करते हुए आकाशमें विकारत्व—कार्यत्वका प्रतिपादन	१३५९ – २
आकाशमें विभक्तत्व हेतुसे कार्यत्वकी आशङ्का [पूर्वपक्ष] ...	१३५९ – ४
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन	१३५९ – ५
'समानजातीय कारणद्रव्य कार्यद्रव्यका आरम्भक है' इस नियमका खण्डन	१३६४ – २
आकाशकी उत्पत्तिमें पूर्वोत्तरकालप्रयुक्त विशेषका कथन ...	१३६७ – २
'शब्दाच्च' सूत्रमें किए गये पूर्वपक्षका खण्डन	१३६८ – ६
[मातरिश्वाधिकरण पृ० १३७१–१३७५]	
द्वितीय अधिकरणका सार	१३७१ – ६
८ वाँ सूत्र—एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः	१३७२ – १
वायु उत्पन्न नहीं होता है [पूर्वपक्ष]	१३७२ – ९
'वायु उत्पन्न होता है' [सिद्धान्त]	१३७४ – ३
[असम्भवाधिकरण पृ० १३७५–१३७९]	
तृतीय अधिकरणका सार	१३७५ – १८

विषय			पृ० प०
९ वॉ सूत्र—असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः	...	...	१३७६ – १
ब्रह्मकी उत्पत्तिकी आशङ्का	...	...	१३७७ – २
उक्त आशङ्काका निराकरण	...	...	१३७७ – ५

[तेजोऽधिकरण पृ० १३८०–१३८६]

चतुर्थ अधिकरणका सार	...	...	१३८० – ६
१० वॉ सूत्र—तेजोऽतस्तथा ह्याह	...	...	१३८० – १२
तेजमें साक्षात् ब्रह्मजन्यत्वकी शङ्का	...	...	१३८१ – ३
उक्त शङ्काका निराकरण	...	...	१३८२ – ७

[अबधिकरण पृ० १३८७–१३८९]

पञ्चम अधिकरणका सार	...	...	१३८७ – ६
११ वॉ सूत्र—आपः	...	...	१३८७ – १३

[पृथिव्यधिकाराधिकरण पृ० १३८९–१३९४]

षष्ठ अधिकरणका सार	...	...	१३८९ – १८
१२ वॉ सूत्र—पृथिव्यधिकार०	...	...	१३९० – १
अन्नशब्दके विषयमें संशयका प्रदर्शन	...	...	१३९० – १५
अन्नशब्दसे पृथिवी ही लेना [सिद्धान्त]	...	...	१३९१ – ६
क्रमशः पृथ्वीके बोधक अधिकारादिका निरूपण		...	१३९१ – ७

[तदभिध्यानाधिकरण पृ० १३९५–१४००]

सप्तम अधिकरणका सार	...	...	१३९५ – ६
१३ वॉ सूत्र—तदभिध्यानादेव०	...	...	१३९५ – १४
आकाश आदि महाभूत स्वयं ही अपने विकारोंको उत्पन्न करते हैं [पूर्वपक्ष]	...	...	१३९६ – ४
कथित पूर्वपक्षका खण्डनपूर्वक [सिद्धान्त]	...	...	१३९८ – २

[विपर्ययाधिकरण पृ० १४००–१४०४]

अष्टमाधिकरणका सार	...	...	१४०० – १८
१४ वॉ सूत्र—विपर्ययेण तु०	...	...	१४०१ – १
अनियमसे या उत्पत्तिके क्रमसे प्रलयका कथन [पूर्वपक्ष]		...	१४०१ – ११
प्रलयक्रम उत्पत्तिक्रमसे विपरीत है, इसका सयुक्तिक मण्डन [सिद्धान्त]	...	...	१४०२ – ५

[अन्तराविज्ञानाधिकरण पृ० १४०५-१४११]

नवम अधिकरणका सार	...	...	१४०५ – ६

विषय	पृ० पं०
१५ वॉ सूत्र—अन्तरा विज्ञानमनसी०	१४०६ – १
बुद्धि आदि करणों की सर्वत्र प्रसिद्धि होनेसे उनकी उत्पत्ति द्वारा पूर्वमें प्रतिपादित उत्पत्ति आदि क्रमके विरोधका कथन [पूर्वपक्ष]	१४०८ – ४
उक्त विरोधका परिहारपूर्वक खण्डन [सिद्धान्त]	१४०८ – ५

[*चराचरव्यपाश्रयाधिकरण* पृ० १४१२–१४१६]

दशम अधिकरणका सार	१४१२ – ६
१६ वॉ सूत्र—चराचरव्यपाश्रयस्तु०	१४१३ – १
'जीव उत्पन्न हुआ और मर गया' इस व्यवहारसे होनेवाली जीवके जन्म-मरणकी भ्रान्तिका निरसन ...	१४१४ – ३

[*आत्माधिकरण* पृ० १४१७–१४२६]

एकादश अधिकरणका सार	१४१७ – ६
१७ वॉ सूत्र—नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः	१४१८ – १
'जीव उत्पन्न होता है' इस पूर्वपक्षका सविस्तर उपपादन करते हुए विकारत्व हेतुसे उसकी उत्पत्तिका कथन [पूर्वपक्ष]	१४२० – ४
जीवकी उत्पत्ति माननेवाले वादियोंका उत्तमरीतिसे परिहार [सिद्धान्त]	१४२१ – ६
यत्रतत्र श्रुतियोंमें उक्त जीवकी उपत्तिको गौण माननेमें अनेक दृष्टान्तोंका प्रदर्शन	१४२२ – ३

[*ज्ञाधिकरण* पृ० १४२७–१४३२]

द्वादश अधिकरणका सार	१४२७ – ६
१८ वॉ सूत्र—ज्ञोऽत एव	१४२८ – १
आत्माका आगन्तुक चैतन्य माननेवालोंका पूर्वपक्ष ...	१४२८ – ७
उक्त पूर्वपक्षका विस्तृत खण्डन	१४१९ – ५

(*उत्क्रान्तिगत्यधिकरण* पृ० १४३३–)

त्रयोदश अधिकरणका सार	१४३३ – ६
१९ वॉ सूत्र—उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्	१४३४ – १
जीवके इतर परिमाणोंका निषेध करते हुए अणु परिमाणका प्रतिपादन [पूर्वपक्ष]	१४३५ – ४
२० वा सूत्र—स्वात्मना चोत्तरयोः	१४३६ – २०
उक्त पूर्वपक्षका ही पुनः अन्य रीतिसे उपपादन	१४३७ – २

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष २ } चैत्र पूर्णिमा १९९२ { अङ्क ३

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

विज्ञान-नौका

तपोयज्ञदानादिभिः शुद्धबुद्धिर्विरक्तो नृपादौ पदे तुच्छबुद्ध्या ।
परित्यज्य सर्वं यदाप्नोति तत्त्वं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥१॥
दयालुं गुरुम् ब्रह्मनिष्ठं प्रशान्तं समाराध्य भक्त्या विचार्य स्वरूपम् ।
यदाप्नोति तत्त्वं निदिध्यास्य विद्वान् परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥२॥
यदानन्दरूपं प्रकाशस्वरूपं निरस्तप्रपञ्चं परिच्छेदशून्यम् ।
अहं ब्रह्मवृत्त्यैकगम्यं तुरीयं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥३॥
यदज्ञानतो भाति विश्वं समस्तं विनष्टं च सद्यो यदात्मप्रबोधे ।
मनोवागतीतं विशुद्धं विमुक्तं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥४॥
निषेधे कृते नेति नेतीति वाक्यैः समाधिस्थितानां यदाभाति पूर्णम् ।
अवस्थात्रयातीतमद्वैतमेकं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥५॥
यदानन्दलेशैः समानन्दि विश्वं यदाभाति सत्त्वे सदाभाति सर्वम् ।
यदालोचिते हेयमन्यत् समस्तं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥६॥
अनन्तं विभुं सर्वयोनिं निरीहं शिवं संगहीनं यदोंकारगम्यम् ।
निराकारमत्युज्ज्वलं मृत्युहीनं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥७॥
यदानन्दसिन्धौ निमग्नः पुमान् स्यादविद्याविलासः समस्तप्रपञ्चः ।
तदा न स्फुरत्यद्भुतं यन्निमित्तं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥८॥
स्वरूपानुसन्धानरूपां स्तुतिं यः पठेदादराद् भक्तिभावो मनुष्यः ।
शृणोतीह वा नित्यमुद्युक्तचित्तो भवेद् विष्णुरत्रैव वेदप्रमाणात् ॥९॥

—श्रीशंकराचार्याः ।

भाष्य

इदं पदोत्तरं सूत्रम्। स्यादेतत्—कथं पुनरेकस्य संभूतशब्दस्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यस्मिन्नधिकारे परेषु तेजः-प्रभृतिष्वनुवर्तमानस्य मुख्यत्वं संभवत्याकाशे च गौणत्वमिति। अत उत्तर-मुच्यते—स्याच्चैकस्यापि संभूतशब्दस्य विषयविशेषवशाद् गौणो मुख्यश्च प्रयोगो ब्रह्मशब्दवत्। यथैकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म' (तै० ३।२) इत्यस्मिन्नधिकारेऽन्नादिषु गौणः प्रयोगः आनन्दे च मुख्यः। यथा च तपसि ब्रह्मविज्ञानसाधने ब्रह्मशब्दो भक्त्या प्रयुज्यते, अञ्जसा तु विज्ञेये ब्रह्मणि तद्वत्। कथं पुनरनुत्पत्तौ नभसः 'एकमेवा-

भाष्यका अनुवाद

यह सूत्र पदविषयक शंकाका उत्तरभूत है। 'तस्माद्वा०' (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस अधिकारमें अनुवर्तमान एक ही 'संभूत' शब्द अनन्तरोक्त तेज आदि पदार्थोंमें मुख्य अर्थमें और आकाशमें गौण अर्थमें किस प्रकार प्रयुक्त हो सकता है? ऐसी शंका है। इसका उत्तर कहते हैं—'सम्भूत' शब्द यद्यपि एक है, तो भी विषयभेदके कारण ब्रह्मशब्दके समान उसका गौण और मुख्य प्रयोग होगा। जैसे एक ही ब्रह्मशब्दका 'तपसा ब्रह्म०' (तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर, तप ब्रह्म है) इस अधिकारमें अन्न आदिमें गौण प्रयोग है और आनन्दमें मुख्य प्रयोग है। और जैसे ब्रह्मविज्ञानके साधन तपमें ब्रह्मशब्द अभेदोपचारसे प्रयुक्त है, किन्तु साक्षात् तो विज्ञेय ब्रह्ममें प्रयुक्त है;

रत्नप्रभा

पदोत्तरमिति। शङ्कोत्तरमिति यावत्। तान्येव शङ्कापदानि पठति—स्यादेतदिति। अधिकारे—प्रकरणे। यथा एकस्मिन् ब्रह्मप्रकरणे "अन्नं ब्रह्म" (तै० ३।२।१) "आनन्दो ब्रह्म" (तै० ३।६।१) इति वाक्ययोः ब्रह्मशब्दस्य अन्ने गौणत्वमानन्दे मुख्यता, तथा एकवाक्यस्थस्य एकस्याऽपि सम्भूतशब्दस्य गुण-मुख्यार्थभेदो योग्यताबलाद् इत्याह—स्याच्चेति। उदाहरणान्तरमाह—यथा चेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पदविषयक शंकाका उत्तर यह सूत्र है, ऐसा तात्पर्य कहते हैं—"पदोत्तरम्" इत्यादिसे। उन शंकापदोंको ही पढ़ते है—"स्यादेतत्" इत्यादिसे। जैसे कि ब्रह्मप्रकरणमें 'अन्नं ब्रह्म' (अन्न ब्रह्म है) 'आनन्दो ब्रह्म' (आनन्द ब्रह्म है) इन वाक्योंमें ब्रह्मशब्द अन्नमें गौण है और आनन्दमें मुख्य है, वैसे ही एक वाक्यमें स्थित एक ही संभूत शब्दका अर्थ योग्यताके बलसे गौण और मुख्य इस प्रकार भिन्न है, ऐसा कहते हैं—"स्याच्च" इत्यादिसे। अन्य उदाहरण

भाष्य

द्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इतीयं प्रतिज्ञा समर्थ्यते। ननु नभसा द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म प्राप्नोति। कथं च ब्रह्मणि विदिते सर्वं विदितं स्यादिति। तदुच्यते–एकमेवेति तावत् स्वकार्यापेक्षयोपपद्यते। यथा लोके कश्चित् कुम्भकारकुले पूर्वेद्युर्मृद्दण्डचक्रादीनि चोपलभ्याऽपरेद्युश्च नानाविधान्यमत्राणि प्रसारितान्युपलभ्य ब्रूयाद्—मृदेवैकाकिनी पूर्वेद्युरासीदिति। स च तयाऽवधारणया मृत्कार्यजातमेव पूर्वेद्युर्नासीदित्यभिप्रेयान्न दण्डचक्रादि, तद्वत् अद्वितीयश्रुतिरधिष्ठात्रन्तरं वारयति। यथा मृदोऽमत्रप्रकृतेः कुम्भकारोऽधिष्ठाता

भाष्यका अनुवाद

वैसे ही यहां भी समझना चाहिए। परन्तु 'आकाश उत्पन्न नहीं होता' इस पक्षमें 'एकमेवा०' (एक ही अद्वितीय) इस प्रतिज्ञाका किस प्रकार समर्थन होगा? क्योंकि आकाशरूप द्वितीयसे ब्रह्म सद्वितीय है, ऐसा प्राप्त होता है। और ब्रह्मके विदित होनेपर सब किस प्रकार विदित होगा? उसको कहते हैं—'एकमेव' (एक ही) ऐसा स्वकार्यकी अपेक्षासे उपपन्न होता है। जैसे लोकमें कुम्भकारके घरमें पहले दिन मृत्तिका, दण्ड, चक्र आदिको देखकर और दूसरे दिन नाना प्रकारके घटादि पात्रोंको फैले हुए देखकर कोई यह कहे कि पहले दिन केवल मृत्तिका ही थी। और वह उस निश्चयसे मृत्तिकाका कार्यसमूह ही पहले दिन नहीं था, ऐसा अपना अभिप्राय व्यक्त करेगा, परन्तु दण्ड, चक्र आदि न थे, ऐसा अभिप्राय व्यक्त नहीं करेगा, वैसे ही अद्वितीय श्रुति अन्य अधिष्ठाताका निषेध

रत्नप्रभा

अभेदोपचारः—भक्तिः। मुख्यसिद्धान्ती आक्षिपति—कथं पुनरिति। स एव आक्षेपद्वयं स्पष्टयति—नन्विति। अद्वितीयत्वश्रुतिबाधः, सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाबाधश्च इत्यर्थः। प्रथमाक्षेपं दृष्टान्तेन परिहरति—एकमेवेति। कार्यरूपद्वितीयशून्यत्वं प्रागवस्थायामवधारणश्रुत्यर्थ इत्यर्थः। कुले—गृहे। अमत्राणि—घटादीनि पात्राणि। एकमेव—इति अवधारणव्यावर्त्यं कार्यमिति व्याख्याय अद्वितीयपदव्यावर्त्यमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

देते हैं—"यथा च" इत्यादिसे। अभेदका उपचार भक्ति है। मुख्य सिद्धान्ती आक्षेप करता है—"कथं पुनः" इत्यादिसे। वही सिद्धान्ती दोनों आक्षेपोंको स्पष्ट करता है—"ननु" इत्यादिसे। अद्वितीयत्व श्रुतिका और सर्वविज्ञान प्रतिज्ञाका बाध होता है, ऐसा अर्थ है। प्रथम आक्षेपका दृष्टान्तसे परिहार करते हैं—"एकमेव" इत्यादिसे। पूर्वावस्थामें कार्यरूप द्वितीय वस्तुसे शून्य होना यही अवधारण श्रुतिका अर्थ है। कुल—घर, अमत्र—घट आदि पात्र। 'एकमेव' इसमें एकपदवाच्य अवधारणसे व्यावृत्तियोग्य कार्य है, ऐसी व्याख्या करके अद्वितीयपदसे व्यावर्त्य कहते

भाष्य

दृश्यते, नैवं ब्रह्मणा जगत्प्रकृतेरन्योऽधिष्ठाताऽस्तीति । न च नभसाऽपि द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म प्रसज्यते । लक्षणान्यत्वनिमित्तं हि नानात्वम्, न च प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मनभसोर्लक्षणान्यत्वमस्ति, क्षीरोदकयोरिव संसृष्टयोर्व्यापित्वामूर्त्तत्वादिधर्मसामान्यात् । सर्गकाले तु ब्रह्म जगदुत्पादयितुं यतते, स्तिमितमितरत्तिष्ठति, तेनान्यत्वमवसीयते । तथा च 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १।६।२) इत्यादिश्रुतिभ्योऽपि ब्रह्माकाशयोरभेदोपचारसिद्धिः । अत एव च ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानसिद्धिः । अपि च सर्वं कार्यमुत्पद्यमानमाकाशेनाऽव्यतिरिक्तदेशकालमेवोत्पद्यते, ब्रह्मणा चाऽव्यतिरिक्तदेश-

भाष्यका अनुवाद

करती है । जैसे घटादि पात्रोंकी प्रकृति मृत्तिकाका कुम्भकार अधिष्ठाता दिखाई देता है, वैसे जगत्‌की प्रकृति ब्रह्मका अन्य अधिष्ठाता नहीं है । आकाशरूप द्वितीयसे ब्रह्म सद्वितीय है, ऐसा भी प्रसक्त नहीं होता है, क्योंकि भिन्न लक्षणसे नानात्व होता है, परन्तु उत्पत्तिके पूर्व ब्रह्म और आकाश भिन्न लक्षणवाले नहीं हैं किन्तु क्षीर और उदकके समान संसृष्टोंका व्यापित्व, अमूर्त्तत्व आदि धर्म समान है । परन्तु सृष्टिकालमें तो ब्रह्म जगत्‌को उत्पन्न करनेका यत्न करता है और दूसरा अर्थात् आकाश निश्चल रहता है, इससे भेद निश्चितरूपसे प्रतीत होता है । इसी प्रकार "आकाशशरीरं ब्रह्म" (ब्रह्म आकाशशरीर है) इत्यादि श्रुतियोंसे भी ब्रह्म और आकाशका अभेदोपचार सिद्ध होता है । इसीसे ब्रह्मविज्ञानसे सर्वविज्ञान सिद्ध होता है । और जन्मोन्मुख सब कार्य आकाशसे अव्यतिरिक्त देशकालमें ही उत्पन्न होते

रत्नप्रभा

अद्वितीयश्रुतिरिति । आकाशस्य द्वितीयत्वमङ्गीकृत्य अद्वितीयादिपदसंकोचः कृतः, तदपि नास्तीत्याह—**न च नभसाऽपीति** । धर्मसाम्ये ब्रह्मनभसोः कथं भेदः ? तत्राह—**सर्गकाले त्विति** । धर्मसाम्याददि्वतीयत्वोपचार इत्यर्थे श्रुतिमाह—**तथा चाऽऽकाशेति** । द्वितीयम् आक्षेपं परिहरति—**अत एवेति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"अद्वितीयश्रुतिः" इत्यादिसे । आकाशका द्वितीयत्व स्वीकार करके अद्वितीय आदि पदोंका संकोच किया है, वह भी नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च नभसाऽपि" इत्यादिसे । ब्रह्म और आकाशमें धर्मकी समानता है, तो दोनोंका भेद किस प्रकार है ? इसपर कहते हैं—"सर्गकाले तु" इत्यादिसे । धर्मकी समानताके कारण अद्वितीयत्वका उपचार है, उस अर्थमें श्रुति कहते

भाष्य

कालमेवाकाशं भवतीति, अतो ब्रह्मणा तत्कार्येण च विज्ञातेन सह विज्ञातमेवाऽऽकाशं भवति। यथा क्षीरपूर्णे घटे कतिचिदब्बिन्दवः प्रक्षिप्ताः सन्तः क्षीरग्रहणेनैव गृहीता भवन्ति, नहि क्षीरग्रहणादब्बिन्दुग्रहणं परिशिष्यते। एवं ब्रह्मणा तत्कार्यैश्चाऽव्यतिरिक्तदेशकालत्वाद् गृहीतमेव ब्रह्मग्रहणेन नभो भवति। तस्माद् भाक्तं नभसः सम्भवश्रवणमिति ॥ ५ ॥

एवं प्राप्त इदमाह—

भाष्यका अनुवाद

हैं और ब्रह्मसे अव्यतिरिक्त देशकालमें ही आकाश होता है। इससे ब्रह्म और उसके कार्यके विदित होनेपर आकाश विदित ही होता है। जैसे दूधसे भरे हुए घड़ेमें कितने ही जलविन्दु डाले हों, तो वे दूधके ग्रहण करनेसे गृहीत होते ही हैं, क्योंकि दूध लेनेसे जलविन्दुका ग्रहण बाकी नहीं रहता। इसी प्रकार ब्रह्म और उसके कार्योंके साथ आकाशका अभिन्न देशकाल होनेसे ब्रह्मके ग्रहणसे उसका ग्रहण होता ही है। इसलिए आकाशकी संभवश्रुति गौण है ॥ ५ ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहते हैं—

रत्नप्रभा

अभेदोपचारादेवेत्यर्थः। नभसो ब्रह्मतत्कार्याभ्याम् अभिन्नदेशकालत्वाच्च तज्ज्ञाने तज्ज्ञानमित्याह—अपि चेति ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"तया चाऽऽकाशः" इत्यादिसे। दूसरे आक्षेपका परिहार करते हैं—"अत एव" इत्यादिसे। इसीसे—अभेदोपचारसे ही। ब्रह्म और ब्रह्मकार्यमे आकाशके देशकाल अव्यतिरिक्त हैं, अतएव ब्रह्म और उसके कार्यका विज्ञान होनेसे आकाशका विज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे ॥ ५ ॥

---

(१) आकाशके समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण नहीं हैं, एवं आकाशको नित्य कहनेवाली "वायुश्चान्तरिक्षञ्चामृतम्" इत्यादि श्रुतियां हैं, तथा पूर्वोक्त युक्तिसे एक-विज्ञानसे सर्व-विज्ञानकी उपपत्ति है, इसलिए आकाशकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति गौण है—उत्पत्ति-प्रतिपादकतया अभिप्रेत नहीं है, अतः वह श्रुति प्रमाण नहीं हो सकती। क्योंकि प्रमाण वही वाक्य हो सकता है, जो अज्ञात (अपूर्व) और अबाधित अर्थका बोधक हो, परन्तु गगनकी उत्पत्ति-श्रुति, अन्य श्रुत्यादिसे बाधित अर्थका बोधन करती है। यहांपर प्रसङ्गसे तीनों कारणोंका लक्षण कहते हैं—समवायिकारण अर्थात् जिसमें समवाय सम्बन्धसे कार्य्य उत्पन्न हो, जैसे घटके प्रति कपाल। समवायिकारण द्रव्य ही होता है। असमवायिकारण वह है—जो समवाय-सम्बन्धसे कार्यके अधिकरणमें या अपने समवायिकारणके अधिकरणमें सम्बद्ध होकर कारण हो,

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥

पदच्छेद—प्रतिज्ञाहानिः, अव्यतिरेकात्, शब्देभ्यः ।

पदार्थोक्ति—अव्यतिरेकात्—औपनिषदाद् ब्रह्मणः सर्वस्य वस्तुजातस्य अभेदात्, प्रतिज्ञाहानिः—एकविज्ञानात् सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया अहानिर्भवति [यदि आकाशस्योत्पत्तिर्न स्यात्, तर्हि सा प्रतिज्ञा हीयेत । अतस्तत्सिद्धये आकाशस्योत्पत्तिरङ्गीकर्तव्या] शब्देभ्यः—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादिशब्देभ्यः कार्यकारणाभेदपरेभ्यः [प्रतिज्ञासिद्धिरवगम्यते] ।

भाषार्थ—उपनिषदोंमें प्रतिपादित ब्रह्मसे सम्पूर्ण वस्तुओंका अभेद होनेसे एकके विज्ञानसे सबके विज्ञानकी प्रतिज्ञाका बाध नहीं होता । यदि आकाशकी उत्पत्ति न मानी जाय, तो उक्त प्रतिज्ञा बाधित होगी । अतः उक्त प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिए आकाशकी उत्पत्तिका स्वीकार करना चाहिए । और कार्य और कारणके अभेदका प्रतिपादन करनेवाली 'सदेव सोम्येदम०' (हे सोम्य ! सृष्टिके पूर्वमें यह केवल सद्रूप ही था), 'ऐतदात्म्यमिदम्०' (यह सब एतद्रूप ही है) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतिज्ञाकी सिद्धि अवगत होती है ।

भाष्य

'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।१) इति, 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' (बृ० ४।५।६)

भाष्यका अनुवाद

'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं०' (जिससे अश्रुत श्रुत होता है, अमत मत होता है और अविज्ञात ज्ञात होता है) 'आत्मनि खल्वरे०' (आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान होनेपर यह सब विदित होता है), 'कस्मिन्नु

रत्नप्रभा

एवमाकाशस्य अनुत्पत्तौ सर्वश्रुतीनामविरोध इति एकदेशिसिद्धान्तः प्राप्तः, तं मुख्यसिद्धान्ती दूषयति—प्रतिज्ञेति । अहानिः—अबाधः । सामयजुराथर्वण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकारसे आकाशकी अनुत्पत्तिमें सब श्रुतियोंका अविरोध है, ऐसा एकदेशीका सिद्धान्त प्राप्त हुआ, उसको मुख्य सिद्धान्ती दूषित करता है—"प्रतिज्ञा" इत्यादिसे ।

उदाहरणार्थ—घटके प्रति कपालोंका संयोग अथवा घटके रूपके प्रति कपालका रूप है । असमवायिकारण गुण या कर्म ही हुआ करता है । इन दोनों कारणोंसे भिन्न कारण निमित्तकारण है, जैसे घटके प्रति दण्ड आदि ऐसा नैयायिक मानते हैं ।

भाष्य

इति, 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।३) इति, 'न काचन मद्बहिर्धा विद्यास्ति' इति चैवंरूपा प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञा विज्ञायते। तस्याः प्रतिज्ञाया एवमहानिरनुपरोधः स्यात्, यद्यव्यतिरेकः कृत्स्नस्य वस्तुजातस्य विज्ञेयाद् ब्रह्मणः स्यात्। व्यतिरेके हि सत्येकविज्ञानेन सर्वं विज्ञायत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। स चाऽव्यतिरेक एवमुपपद्यते—यदि कृत्स्नं वस्तुजातमेकस्माद् ब्रह्मण उत्पद्येत। शब्देभ्यश्च प्रकृतिविकाराव्यति-

भाष्यका अनुवाद

भगवो०' (हे भगवन्! किसका विज्ञान होनेपर यह सब विज्ञात होता है) और 'न काचन०' (मुझसे बाहर—भिन्न और कोई भी विद्या—वस्तु नहीं है) ऐसी प्रतिज्ञा प्रत्येक वेदान्तमें देखी जाती है। अगर सम्पूर्ण वस्तुसमूह विज्ञेय ब्रह्मसे अभिन्न हो, तो उस प्रतिज्ञाकी इस प्रकार अहानि—अबाध होगा, यदि व्यतिरिक्त हो, तो 'एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान होता है' इस प्रतिज्ञाकी हानि होगी। वह अव्यतिरेक इस प्रकार उपपन्न होता है—यदि सम्पूर्ण वस्तुसमूह ब्रह्मसे उत्पन्न हो। और शब्दोंसे 'प्रकृति और विकार

रत्नप्रभा

शाखाभेदज्ञापनार्था इति शब्दाः। न काचनेति। आत्मभिन्नं ज्ञेयं नास्ति इत्यर्थः। ननु सर्वस्य ब्रह्माव्यतिरेकात् प्रतिज्ञाया अहानिरिति अस्तु, तथापि जीवादिवत् अनुत्पन्नस्याऽपि नभसो ब्रह्मणि कल्पितत्वेनाऽव्यतिरेकात् प्रतिज्ञासिद्धिः किं न स्यात्, किमुत्पत्त्या? इत्यत आह—शब्देभ्यश्चेति। अव्यतिरेक एव न्यायः, तेन इत्यर्थः। अयं भावः—जीवस्य तावद् आत्मत्वात् ब्रह्माव्यतिरेकः, अज्ञानतत्सम्बन्धयोः कल्पितत्वेनाऽव्यतिरेकः, स्वतन्त्राज्ञानायोगात्। अज्ञानान्यजडद्रव्यस्य तु कार्यत्वेनैव अव्यतिरेकसिद्धिः; तस्याऽकार्यत्वे प्रधानवत् स्वातन्त्र्याद् अव्यतिरेकायोगात्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अहानि—बाधका अभाव। साम, यजु, और आथर्वण शाखाओंका भेद जनानेके लिए (प्रत्येक श्रुतिवाक्यके अन्तमें) इति शब्द है। "न काचन" इत्यादि। आत्मासे भिन्न ज्ञेय नहीं है, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि सबके ब्रह्मसे अभिन्न होनेसे प्रतिज्ञाकी अहानि रहे, परन्तु जीवके समान अनुत्पन्न भी आकाशको ब्रह्ममें कल्पित मान कर अव्यतिरेक होनेसे प्रतिज्ञाकी सिद्धि क्यों न होगी, उत्पत्तिका क्या प्रयोजन है? इसपर कहते है—"शब्देभ्यश्च" इत्यादिसे। अव्यतिरेक ही न्याय है उससे, ऐसा अर्थ है। भाव यह है कि—जीव तो आत्मा होनेसे ब्रह्मसे अभिन्न है, अज्ञान और उसका सम्बन्ध कल्पितरूपसे अभिन्न हैं, क्योंकि स्वतन्त्र अज्ञान अयुक्त है। और अज्ञानसे अन्य जड द्रव्यका तो कार्यत्वरूप हेतुसे ही ब्रह्मसे अव्यतिरेक सिद्ध

भाष्य

रेकन्यायेनैव प्रतिज्ञासिद्धिरवगम्यते । तथा हि—'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इति प्रतिज्ञाय मृदादिदृष्टान्तैः कार्यकारणाभेदप्रतिपादनपरैः प्रतिज्ञैषा समर्थ्यते, तत्साधनायैव चोत्तरे शब्दाः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१), 'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' (छा०६।२।३) इति, एवं कार्यजातं ब्रह्मणः प्रदर्श्याऽव्यतिरेकं प्रदर्शयन्ति—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६।८।७) इत्यारभ्याऽऽप्रपाठकपरिसमाप्तेः, तद्यद्याकाशं न ब्रह्मकार्यं स्यान्न ब्रह्मणि विज्ञाते आकाशं विज्ञायेत, ततश्च प्रतिज्ञाहानिः स्यात् । न च प्रतिज्ञाहान्या वेदस्याऽप्रामाण्यं युक्तं कर्तुम् । तथा हि—प्रतिवेदान्तं ते ते शब्दास्तेन तेन दृष्टान्तेन तामेव प्रतिज्ञां ज्ञापयन्ति—

भाष्यका अनुवाद

अव्यतिरिक्त ही हैं' इस न्यायसे ही प्रतिज्ञाकी सिद्धि समझी जाती है, क्योंकि 'येनाश्रुतम्०' (जिससे अश्रुत श्रुत होता है) ऐसी प्रतिज्ञा करके कार्य और कारणके अभेदका प्रतिपादन करनेवाले मृत्तिका आदि दृष्टान्तोंसे इस प्रतिज्ञाका समर्थन किया जाता है और उसे सिद्ध करनेके लिए ही उत्तर शब्द—'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य ! पूर्वमें यह सत्मात्र था एक ही अद्वितीय), 'तदैक्षत' (उसने विचार किया), 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया) इस प्रकार ब्रह्मसे कार्यसमूहकी उत्पत्ति दिखलाकर 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (यह सब आत्मरूप है) ऐसा आरम्भ करके प्रपाठककी समाप्ति तक अव्यतिरेक दिखलाते हैं। इसलिए यदि आकाश ब्रह्मका कार्य न हो, तो ब्रह्मके ज्ञात होनेपर आकाशका विज्ञान नहीं होगा और उससे प्रतिज्ञाकी हानि होगी। प्रतिज्ञाकी हानिसे वेदका अप्रामाण्य करना युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वेदान्त-

रत्नप्रभा

तथाऽऽहुर्न्यायविदः—"नित्यद्रव्याणि स्वतन्त्राणि भिन्नान्यनाश्रितानि" इति । तस्मात् प्रतिज्ञासिद्ध्यै आकाशस्य कार्यत्वेनैव अव्यतिरेको वाच्य इति । दृष्टान्तसृष्टिसार्वात्म्यशब्दानाह—तथा हीति । तेन तेन दृष्टान्तेनेति । यजुषि दुन्दुभ्यादिदृष्टा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होता है, उसको अकार्य माननेपर प्रधानके समान स्वतन्त्र होनेसे अव्यतिरेक सिद्ध नहीं होगा । और न्यायवेत्ता कहते हैं कि—नित्य द्रव्य स्वतन्त्र और अनाश्रित होते हैं। अतः प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिए आकाशका कार्यत्वसे ही अव्यतिरेक कहना चाहिए । दृष्टान्त, सृष्टि और सर्वात्मताकी श्रुतियोंको कहते हैं—"तथा हि" इत्यादिसे। "तेन तेन दृष्टान्तेन" इत्यादि। यजुमें

भाष्य

'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २।२।११) इत्येवमादयः। तस्माज्ज्वलनादिवदेव गगनमप्युत्पद्यते। यदुक्तम्-अश्रुतेर्न वियदुत्पद्यत-इति, तदयुक्तम्, वियदुत्पत्तिविषयश्रुत्यन्तरस्य दर्शितत्वात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इति। सत्यं दर्शितम्, विरुद्धं तु 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यनेन श्रुत्यन्तरेण, न, एकवाक्यत्वात् सर्वश्रुतीनाम्। भवत्वेकवाक्यत्वमविरुद्धानाम्, इह तु विरोध उक्तः, सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयसम्बन्धासंभवाद् द्वयोश्च प्रथमजत्वासंभवाद् विकल्पासंभवाच्चेति। नैष दोषः, तेजःसर्गस्य तैत्तिरी-

भाष्यका अनुवाद

में 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (यह सब दृश्य आत्मरूप है) 'ब्रह्मैवेदममृतम्०' (यह अमृत ब्रह्म ही सन्मुख है) ऐसे वे वे शब्द उस उस दृष्टान्तसे उसी प्रतिज्ञाका बोधन करते हैं। इसलिए अग्नि आदिके समान ही आकाश भी उत्पन्न होता है। आकाश उत्पन्न नहीं होता, अश्रुतिसे, ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है। क्योंकि आकाशकी उत्पत्तिमें 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन०' (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ)—इत्यादि अन्य श्रुति दिखाई गई है। ठीक है, दिखलाई गई है, परन्तु 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेजको उत्पन्न किया) इस अन्य श्रुतिसे वह विरुद्ध है; ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सब श्रुतियोंकी एकवाक्यता है। भले ही अविरुद्ध वाक्योंकी एकवाक्यता हो, यहां तो विरोध कहा गया है, कारण कि एकबार सुने गये सृष्टिकर्ताका दो स्रष्टव्योंके साथ सम्बन्ध सम्भावित नहीं है, और दोनोंमें प्रथमजत्वका एवं विकल्पका असम्भव है।

रत्नप्रभा

न्तेन, आथर्वणे ऊर्णनाभ्यादिदृष्टान्तेन इत्यर्थः। यजुषि प्रतिज्ञासाधकाः 'इदं सर्वम्' इति शब्दाः, आथर्वणे 'ब्रह्मैवेदम्' इति शब्दाः, इति भावः। एवमाकाशोत्पत्तिकथनाद् एकदेशिमते दूषिते श्रुत्यप्रामाण्यवादी स्वोक्तं स्मारयति—सत्यं दर्शितमिति। मुख्यसिद्धान्ती आह—न, एकेति। "तत्तेजोऽसृजत" इति सकृच्छ्रुतस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

दुन्दुभि आदि दृष्टान्तोंसे, आर्थवणमें ऊर्णनाभि आदि दृष्टान्तोंसे, ऐसा अर्थ है। यजुमें प्रतिज्ञाके साधक 'इदं सर्वम्' ऐसे शब्द हैं, आथर्वणमें 'ब्रह्मैवेदम्' इत्यादि शब्द हैं ऐसा भाव है। इस प्रकार आकाशोत्पत्तिके कथनसे एकदेशीके मतके दूषित होनेपर श्रुतिको अप्रमाण कहनेवाला (पूर्वपक्षी) अपनी उक्तिका स्मरण कराता है—"सत्यं दर्शितम्" इत्यादिसे। मुख्यसिद्धान्ती कहते हैं—"न, एक" इत्यादिसे। 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने

भाष्य

यके तृतीयत्वश्रवणात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः' (तै० २।१) इति । अशक्या हीयं श्रुतिरन्यथा परिणेतुम्, शक्या तु परिणेतुं छान्दोग्यश्रुतिः 'तदाकाशं वायुं च सृष्ट्वा तत्तेजोऽसृजत' इति । नहीयं श्रुतिस्तेजोजनिप्रधाना सती श्रुत्यन्तरप्रसिद्धा-

भाष्यका अनुवाद

यह दोष नहीं है, क्योंकि तैत्तिरीयकमें—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन०' (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु और वायुसे अग्नि) इस प्रकार तेजकी सृष्टि तीसरी सुनी गई है । यह श्रुति अन्यथा परिणत नहीं की जा सकती है। छान्दोग्य श्रुतिका तो 'तदाकाशम्०' (उसने आकाश और वायु को उत्पन्न करके तेज उत्पन्न किया) इस प्रकार परिणाम किया जा सकता है । यह श्रुति तेजकी उत्पत्ति-

रत्नप्रभा

स्रष्टुः आकाशतेजोभ्यां युगपत् सम्बन्धे तित्तिरिक्रमबाधात्, क्रमेण आकाशं सृष्ट्वा तेजोऽसृजत इति सम्बन्धे तेजःप्राथम्यभङ्गप्रसङ्गाद् वस्तुनि विकल्पासम्भवेन तयोः शाखाभेदेन प्राथम्यव्यवस्थाया अयोगात् न एकवाक्यता इति प्राप्ते मुख्य एव दूषयति—नैष दोष इति । अप्रामाण्यकल्पनाद् वरम् अपौरुषेयश्रुतीनाम् एकवाक्यत्वेन प्रामाण्यकल्पनम्, तच्च एकवाक्यत्वं बलवच्छ्रुत्या दुर्बलश्रुतेः कल्प्यम् । बलवती च तित्तिरिश्रुतिः प्रकृतिपञ्चम्या पौर्वापर्याख्यक्रमस्य श्रुतत्वात्, छान्दोग्यश्रुतिस्तु दुर्बला तेजःप्राथम्यश्रुत्यभावात्, तेजःसर्गमात्रं तु श्रुतं तृतीयत्वेन परिणेयम् इति एकवाक्यता इत्यर्थः । यदुक्तम्—एकदेशिना छान्दोग्यश्रुत्या आकाशोत्पत्तिः वार्यते इति, तन्निरस्तम् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

तेज उत्पन्न किया) ऐसे एकबार श्रुत स्रष्टाका आकाश और तेजके साथ एक समय सम्बन्ध करनेसे तित्तिरिके क्रमका बाध होता है, और क्रमसे 'आकाश उत्पन्न करके तेज उत्पन्न किया' ऐसा सम्बन्ध होनेपर तेजकी प्रथमताका भङ्ग होता है और वस्तुमें विकल्पका सम्भव न होनेसे उन दोनों [आकाश और तेज] की शाखाके भेदसे प्राथम्य-व्यवस्था अयुक्त है, अतः एकवाक्यता नहीं हो सकती, ऐसा प्राप्त होनेपर मुख्य सिद्धान्ती ही दूषण देता है—"नैष दोषः" इत्यादिसे । अपौरुषेय श्रुतियोंमें अप्रामाण्यकल्पनाकी अपेक्षा एकवाक्यता द्वारा प्रामाण्यकी कल्पना करनी ही श्रेष्ठ है, और बलवती श्रुतिके साथ दुर्बल श्रुतिकी एकवाक्यता करनी ठीक है, प्रकृतमें तित्तिरिश्रुति प्रबल है, क्योंकि प्रकृतिवाचक पञ्चमीसे पौर्वापर्य्य—क्रम श्रुतिप्रतिपादित है, छान्दोग्य श्रुति तो दुर्बल है, क्योंकि इसमें तेजकी प्रथमताका श्रवण नहीं है, केवल तेजकी सृष्टि सुनी गई है, अतः उसका—तेजकी सृष्टिका तृतीयत्वसे परिणाम करना चाहिए, इसलिए एकवाक्यता है, ऐसा अर्थ है । एकदेशीने जो यह कहा था कि छान्दोग्य

भाष्य

माकाशस्योत्पत्तिं वारयितुं शक्नोति, एकस्य वाक्यस्य व्यापारद्वयासंभवात्। स्रष्टा त्वेकोऽपि क्रमेणाऽनेकं स्रष्टव्यं सृजेत्, इत्येकवाक्यत्वकल्पनायां संभवन्त्यां न विरुद्धार्थत्वेन श्रुतिर्हातव्या। न चाऽस्माभिः सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः

भाष्यका अनुवाद

विषयक होकर अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध आकाशकी उत्पत्तिका निवारण करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि एक वाक्यमें दो व्यापारोंका सम्भव नहीं है। स्रष्टाके एक होनेपर भी वह क्रमसे अनेक स्रष्टव्यको उत्पन्न करे, इस प्रकार एकवाक्यता की कल्पनाका सम्भव होनेपर विरुद्ध अर्थसे श्रुतिकी हानि नहीं करनी चाहिए।

रत्नप्रभा

किञ्च, सा श्रुतिः किं तेजोजन्मपरा, उत तेजोजन्म वियदनुत्पत्तिश्च इति उभयपरा। आद्ये न तद्वारणमित्याह—नहीति। अविरोधादित्यर्थः। न द्वितीयः, श्रुत्यन्तरविरोधेन उभयपरत्वकल्पनायोगाद् वाक्यभेदापत्तेश्च इत्याह—एकस्येति। ननु एकस्य स्रष्टुः अनेकार्थसम्बन्धवद् वाक्यस्यापि अनेकार्थता किं न स्यादित्यत आह—स्रष्टा त्विति। एकस्य कर्तुः अनेकार्थसम्बन्धो दृष्टः। न तु एकस्य वाक्यस्य नानार्थत्वं दृष्टम्, नानार्थकप्रयोगे तु 'पय आनय' इत्यादौ आवृत्त्या वाक्यभेद एव, आनयनस्य जलक्षीराभ्यां पृथक् सम्बन्धादित्यर्थः। फलितमाह—इत्येकेति। एकस्य शब्दस्याऽऽवृत्तिं विनाऽनेकार्थत्वं नास्ति चेत् 'असृजत' इति शब्दस्य छान्दोग्ये उपसंहृताकाशादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतिसे आकाशोत्पत्तिका वारण होता है, वह निरस्त हुआ। और यह छान्दोग्यश्रुति क्या केवल तेजके जन्मका ही प्रतिपादन करती है या तेजका जन्म और आकाशकी अनुत्पत्ति इन दोनोंका प्रतिपादन करती है ? प्रथम पक्षमें आकाशकी उत्पत्तिका वारण नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। अविरोधसे ऐसा अर्थ है। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अन्य श्रुतिके साथ विरोध होनेसे एक वाक्य उभयार्थक नहीं हो सकता, यदि मान लिया जाय, तो वाक्यभेद होगा, ऐसा कहते हैं—"एकस्य" इत्यादिसे। जैसे एक स्रष्टाका अनेक अर्थोंके साथ सम्बन्ध होता है, वैसे एक वाक्य भी अनेक अर्थका प्रतिपादन क्यों न करे ? इस शङ्काका निराकरण करनेके लिए कहते हैं—"स्रष्टा तु" इत्यादिसे। एक कर्ताका अनेक अर्थोंके साथ सम्बन्ध दृष्ट है, परन्तु एक वाक्य नाना अर्थका प्रतिपादन करे यह देखनेमें नहीं आता, नानार्थकके प्रयोगमें तो 'पय आनय' (जल लाओ, दूध लाओ) इत्यादिमें आवृत्तिसे वाक्यभेद ही है, क्योंकि आनयनका जल और दूधके साथ पृथक् सम्बन्ध है ऐसा अर्थ है। फलित कहते हैं—"इत्येक" इत्यादिसे। एक शब्द आवृत्तिके विना अनेक अर्थवाला नहीं होता है, ऐसा यदि नियम है, तो 'असृजत' इस शब्दका छान्दोग्यमें

भाष्य

स्रष्टव्यद्वयसम्बधोऽभिप्रेयते, श्रुत्यन्तरवशेन स्रष्टव्यान्तरोपसंग्रहात् । यथा च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' (छा० ३।१४।१) इत्यत्र साक्षादेव सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न प्रदेशान्तरविहितं तेजःप्रमुखमुत्पत्ति-क्रमं वारयति, एवं तेजसोऽपि ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न श्रुत्यन्तरविहितं नभःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं वारयितुमर्हति । ननु शमविधानार्थमेतद् वाक्यम्—'तज्जलानिति शान्त उपासीत' इति श्रुतेः, नैतत् सृष्टिवाक्यम्, तस्मादेतन्न

भाष्यका अनुवाद

और एकबार श्रुत स्रष्टाका दो स्रष्टव्यके साथ सम्बन्ध हमको भी इष्ट नहीं है, क्योंकि अन्य श्रुतिसे अन्य स्रष्टाका संग्रह होता है। जैसे 'सर्वं खल्विदं०' (निश्चय यह सब ब्रह्म है, उससे उत्पन्न होता है, उसमें लीन होता है और उसमें चेष्टा करता है) इसमें निखिल वस्तुसमूहकी ब्रह्मसे उत्पत्ति साक्षात् ही श्रूयमाण है, वह अन्य प्रदेशमें कहे गये तेज आदिकी उत्पत्तिके क्रमका निवारण नहीं करती। इसी प्रकार तेजकी भी ब्रह्मसे जो उत्पत्ति श्रूयमाण है, वह अन्य श्रुतिमें कहे गये आकाशप्रमुख उत्पत्ति-क्रमका निवारण करनेमें समर्थ नहीं है। परन्तु यह वाकय शमके विधानके लिए है, क्योंकि 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' (उससे उत्पन्न होते हैं, उसमें लीन होते हैं और उसमें

रत्नप्रभा

सम्बन्धार्थम् आवृत्तिदोषः स्यादित्यत आह—न चेति । छान्दोग्यस्थतेजोजन्म आकाशादिजन्मपूर्वकम्, तेजोजन्यत्वात्, तित्तिरिस्थतेजोजन्मवद्, इति आकाशादि-जन्मोपसंहारे 'तदाकाशमसृजत' इति वाक्यान्तरस्यैव कल्पनात् न आवृत्तिदोष इत्यर्थः । श्रुत्यन्तरस्थः क्रमः श्रुत्यन्तरे ग्राह्य इत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथा चेति । सृष्टौ तात्पर्यातात्पर्याभ्यां दृष्टान्तश्रुतिवैषम्यं शङ्कते—नन्वित्यादिना । तेजःप्राथम्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपसंहृत आकाशके साथ सम्बन्ध करनेके लिए आवृत्ति दोष होगा, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। छान्दोग्यमें कथित तेजका जन्म आकाशादि जन्मपूर्वक है, तेजकी उत्पत्ति होनेसे, तित्तिरिमें कही गई तेजकी उत्पत्तिके समान, इस प्रकार आकाशकी उत्पत्तिके उपसंहारमें 'तदाकाशमसृजत' ऐसे अन्य वाक्यकी कल्पनासे आवृत्ति दोष नहीं है ऐसा अर्थ है। अन्य श्रुतिके क्रमका अन्य श्रुतिमें ग्रहण करना चाहिए इसमें दृष्टान्त कहते हैं—"यथा च" इत्यादिसे। सृष्टिमें तात्पर्य और अतात्पर्यसे दृष्टान्तश्रुतिमें वैषम्यकी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे।

भाष्य

प्रदेशान्तरप्रसिद्धं क्रममनुरोद्धुमर्हतीति; 'तत्तेजोऽसृजत' इत्येतत् सृष्टिवाक्यम्, तस्मादत्र यथाश्रुति क्रमो ग्रहीतव्य इति। नेत्युच्यते—नहि तेजःप्राथम्यानुरोधेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो वियत्पदार्थः परित्यक्तव्यो भवति, पदार्थधर्मत्वात् क्रमस्य। अपि च 'तत्तेजोऽसृजत' इति नाऽत्र क्रमस्य वाचकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति। अर्थात्तु क्रमो गम्यते, स च 'वायोरग्निः,

भाष्यका अनुवाद

चेष्टा करते हैं, अतः शान्त होकर उसकी उपासना करनी चाहिए) ऐसी श्रुति है, इसलिए यह सृष्टिवाक्य नहीं है, इससे अन्य प्रदेशमें प्रसिद्ध क्रमका विरोध नहीं कर सकता है। 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया) यह सृष्टिवाक्य है, इसलिए इसमें श्रुतिके अनुसार क्रमका ग्रहण करना चाहिए। नहीं ऐसा कहते हैं, क्योंकि तेजकी प्रथमताके अनुरोधसे अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध आकाश पदार्थका परित्याग करना युक्त नहीं है, कारण कि क्रम पदार्थका धर्म है। और 'तत्तेजोऽसृजत' इस श्रुतिमें क्रमका वाचक कोई शब्द नहीं है, परन्तु अर्थसे

रत्नप्रभा

स्वीकारे आकाशसर्गो धर्मी तद्धर्मः प्राथम्यं चेति द्वयं श्रुतं बाधनीयमिति गौरवम्, आकाशप्राथम्ये तु आर्थिकतेजःसर्गप्राथम्यमात्रबाध इति लाघवमिति मत्वाऽऽह—नेत्युच्यते इति। किञ्च, प्रधानधर्मित्यागाद् वरं गुणभूतस्य तेजःप्राथम्यस्य धर्मस्य त्याग इत्याह—नहीति। किञ्च, किं सृष्टिपरश्रुतिसिद्धत्वात् तेजःप्राथम्यं गृह्यते, उत प्रथमस्थाने तेजसः सर्गश्रुत्याऽर्थात् प्राथम्यभानात्। न आद्यः इत्याह—अपि चेति। द्वितीयम् अनूद्य दूषयति—अर्थात्त्विति। यदुक्तम्—वस्तुनि विकल्पासम्भवाद् उभयोः प्राथम्यं शाखाभेदेन व्यवस्थितं न भवति, नाऽपि उभयोः

रत्नप्रभाका अनुवाद

तेजकी प्रथमताका स्वीकार करनेसे आकाशकी उत्पत्तिरूप धर्मी और उसका धर्म प्रथमता ये जो दोनों श्रुत हैं, उनका बाध होगा, ऐसा गौरव है, परन्तु आकाशकी प्रथमता स्वीकार करनेसे तेजकी उत्पत्तिकी प्रथमता जो केवल आर्थिक है, उसका बाध होता है, ऐसा लाघव है, ऐसा मानकर कहते हैं—"नेत्युच्यते" इत्यादिसे। और प्रधान धर्मीके त्यागसे गुणभूत तेजकी प्रथमतारूप धर्मका त्याग अधिक श्रेष्ठ है, ऐसा कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। और सृष्टिबोधक श्रुतिसे सिद्ध होनेके कारण तेजकी प्रथमताका ग्रहण करते हैं? अथवा प्रथम स्थानमें तेजकी उत्पत्तिश्रुतिसे प्रथमताका भान होनेसे अर्थात् तेजकी प्रथमताका स्वीकार करते हो? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। द्वितीय पक्षका अनुवाद करके दोष देते हैं—

भाष्य

इत्यनेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेन क्रमेण निवार्यते। विकल्पसमुच्चयौ तु वियत्तेजसोः प्रथमजत्वविषयावसंभवानभ्युपगमाभ्यां निवारितौ। तस्माद् नास्ति श्रुत्योर्विप्रतिषेधः। अपि च छान्दोग्ये 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्येतां प्रतिज्ञां वाक्योपक्रमे श्रुतां समर्थयितुमसमाम्नातमपि वियदुत्पत्तावुपसंख्यातव्यम्, किमङ्ग पुनस्तैत्तिरीयके समाम्नातं नभो न संगृह्यते। यच्चोक्तम्—आकाशस्य सर्वेणाऽनन्यदेशकालत्वाद् ब्रह्मणा तत्कार्यैश्च सह ...

भाष्यका अनुवाद

क्रम समझा जाता है और उसका 'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि) इस अन्य श्रुतिके प्रसिद्ध क्रमसे निवारण होता है। आकाश और तेज प्रथम उत्पन्न हैं इसमें विकल्प और समुच्चय तो असम्भव और अस्वीकारसे निषिद्ध हैं, इसलिए दोनों श्रुतियोंमें विरोध नहीं है। और छान्दोग्यमें 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (जिससे अश्रुत श्रुत होता है) इस वाक्योपक्रममें श्रुत प्रतिज्ञाके समर्थनके लिए अश्रुत आकाशका उत्पत्तिप्रकरणमें उपसंख्यान करना चाहिए, तो तैत्तिरीयकमें श्रुत आकाशका संग्रह क्यों न हो? और जो ऐसा कहा है कि आकाशका देशकाल

रत्नप्रभा

द्विदलाङ्कुरवत् समुच्चित्योत्पत्त्या प्राथम्यम्, "वायोरग्निः" (तै० २। १) इति क्रमबाधापातात् इति, तदिष्टमेव इत्याह—विकल्पेति। न केवलं श्रुतिद्वयोः अविरोधः सौहार्दञ्चाऽस्तीत्याह—अपि चेति। वियदुपसंग्राह्यम् इत्यन्वयः। वियदनुत्पत्तिवादिना उक्तमनूद्य प्रतिज्ञाया अद्वितीयश्रुतेश्च मुख्यार्थतात्पर्यावगमाद् न गौणार्थता इति दूषयति—यच्चोक्तमित्यादिना। प्रकृतिविकारन्यायः—तदन-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अर्थात्तु" इत्यादिसे। सिद्ध वस्तुमें विकल्पका असम्भव होनेसे दोनों [तेज और आकाश] का प्राथम्य शाखाभेदसे व्यवस्थित नहीं होता है, इसी प्रकार द्विदल अंकुरके समान दोनोंकी समुच्चयसे उत्पत्तिका कारण उनमें प्रथमत्व युक्त नहीं है, क्योंकि "वायोरग्निः" (वायुसे अग्नि) इस क्रमके बाध होनेका प्रसङ्ग आता है, ऐसा जो कहा गया है, वह इष्ट ही है, ऐसा कहते हैं—"विकल्प" इत्यादिसे। श्रुतियोंका परस्पर अविरोध ही केवल नहीं है, प्रत्युत आनुकूल्य भी है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। आकाशका ग्रहण करना चाहिए ऐसा अन्वय है। आकाशकी अनुत्पत्तिको कहनेवाले वादीसे कथितका अनुवाद करके प्रतिज्ञा और अद्वितीय श्रुतिका मुख्यार्थमें तात्पर्य समझा जाता है, इसलिए गौणार्थ नहीं है, इस प्रकार दूषित करते हैं—

भाष्य

विदितमेव तद् भवति, अतो न प्रतिज्ञा हीयते। न च 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिकोपो भवति, क्षीरोदकवद् ब्रह्मनभसोरव्यतिरेकोपपत्तेः इति। अत्रोच्यते—न क्षीरोदकन्यायेनेदमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं नेतव्यम्। मृदादिदृष्टान्तप्रणयनाद् हि प्रकृतिविकारन्यायेनैवेदं सर्वविज्ञानं नेतव्यमिति गम्यते। क्षीरोदकन्यायेन च सर्वविज्ञानं कल्प्यमानं न सम्यग्विज्ञानं स्यात्। नहि क्षीरज्ञानगृहीतस्योदकस्य सम्यग्विज्ञानगृहीतत्वमस्ति। न च वेदस्य पुरुषाणामिव मायालीकवञ्चनादिभिरर्थावधारणमुपपद्यते। सावधारणा चेयम् 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः क्षीरोदकन्यायेन नीयमाना पीड्येत। न च स्वकार्यापेक्षयेदं वस्त्वेकदेशविषयं सर्वविज्ञा-

भाष्यका अनुवाद

सबके साथ अनन्य होनेसे ब्रह्म और उसके कार्योंके साथ वह विदित ही होता है, इससे प्रतिज्ञाकी हानि नहीं होती है। और 'एकमेवाद्वितीयम्' (एक ही अद्वितीय) इस श्रुतिका बाध नहीं होगा, क्योंकि क्षीर और उदकके समान ब्रह्म और आकाशका अभेद उपपन्न होता है, ऐसा जो कहा है उसपर कहते हैं कि क्षीरोदकन्यायसे 'एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान' नहीं लेना चाहिए, क्योंकि मृत्तिका आदि दृष्टान्तोंका निर्देश है, अतः प्रकृतिविकार-न्यायसे ही यह सर्वविज्ञान लेना चाहिए, ऐसा समझा जाता है। क्षीरोदक-न्यायसे सर्वविज्ञान माना जाय, तो वह यथार्थविज्ञान नहीं होगा, क्योंकि क्षीरज्ञानसे गृहीत उदकका सम्यक् विज्ञानसे ग्रहण नहीं है। और पुरुषोंके समान वेदका अर्थनिश्चय मायासे मिथ्या भाषण और उससे वञ्चना आदिसे उपपन्न नहीं होता। 'एकमेवाद्वितीयम्' यह सावधारण श्रुति क्षीरोदक-न्यायसे गौण हो, तो

रत्नप्रभा

न्यत्वन्यायः, उदकं क्षीरस्थमपि क्षीरज्ञानान्न गृह्यते, भेदादिति भावः। माऽस्तु सम्यग्ज्ञानं श्रुतेर्भ्रान्तिमूलत्वसम्भवात् इत्याशङ्क्य अपौरुषेयत्वाद् मैवमित्याह—न च वेदस्येति। माया—भ्रान्तिः तया अलीकम्—मिथ्याभाषणं तेन वञ्चनम्—अयथार्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"यथोक्तम्" इत्यादिसे। प्रकृतिविकारन्याय तदनन्यत्वन्याय है। क्षीरस्थ उदक क्षीरज्ञानसे गृहीत नहीं होता है, भेद होनेसे, ऐसा भाव है। श्रुतिसे सम्यक् ज्ञान न हो 'वह भ्रान्तिमूल है, ऐसा सम्भव है, ऐसी आशङ्का करके श्रुति अपौरुषेय होनेसे भ्रान्तिमूलक नहीं है, यह कहते हैं—"न च वेदस्य" इत्यादिसे। भ्रान्तिरूप मायासे, मिथ्या भाषणसे वञ्चन अर्थात् अयथार्थ

भाष्य

नमेकमेवाऽद्वितीयतावधारणं चेति न्याय्यम्, मृदादिष्वपि हि तत्संभवात्-न तदपूर्ववदुपन्यसितव्यं भवति—'श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६।१।१) इत्यादिना। तस्मादशेषवस्तुविषयमेवेदं सर्वविज्ञानं सर्वस्य ब्रह्मकार्यतापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

यत् पुनरेतदुक्तम्—असंभवाद् गौणी गगनस्योत्पत्तिश्रुतिरिति, अत्र ब्रूमः—

भाष्यका अनुवाद

वह अप्रमाण होगी। और सर्वविज्ञान और एक ही अद्वितीय है, ऐसा निश्चय स्वकार्यकी अपेक्षासे वस्त्वेकदेशविषयक है ऐसा कहना न्याय्य नहीं है, क्योंकि मृत्तिका आदिमें भी उसका सम्भव है—और 'श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी०' (हे श्वेतकेतो ! तुम महामना अपनेको साङ्गवेदाध्यायी माननेवाले और स्तब्ध हो जिस आदेशसे अश्रुत श्रुत होता है, वह आदेश तुमने आचार्यसे पूछा है ?) इत्यादिसे उसका अपूर्ववत् उपन्यास योग्य नहीं है। इसलिए यह सर्वविज्ञान अशेषवस्तुविषयक ही है, अतः सब ब्रह्मके कार्य हैं, इस अपेक्षासे इसका उपन्यास है, ऐसा समझना चाहिए ॥ ६ ॥

और ऐसा जो कहा गया है कि असम्भवके कारण आकाशकी उत्पत्ति-श्रुति गौणी है, इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

बोधनम्। आदिपदात् विप्रलिप्साप्रमादकरणापाटवानि गृह्यन्ते। प्रतिज्ञामुख्यत्वम् अभिधाय अद्वितीयश्रुतिमुख्यतामाह—**सावधारणेति**। सर्वद्वैतनिषेधपरा इत्यर्थः। उभयगौणत्वेऽद्भुतवद् उपन्यासो मृदादिदृष्टान्तैः तत्साधनं च न स्यादिति दोषान्तरमाह—**न चेत्यादिना**। कार्यमेव वस्त्वेकदेशः ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ज्ञापन। आदिपदसे विप्रलिप्सा, प्रमाद और करणोंके-इन्द्रियोंके अपाटवका ग्रहण करना चाहिए। प्रतिज्ञामें मुख्यत्वका प्रतिपादन करके अद्वितीय श्रुतिको मुख्य कहते हैं—"सावधारणा" इत्यादिसे। सम्पूर्ण द्वैतका निषेध करनेवाली है, ऐसा अर्थ है। दोनोंको गौण माननेमें अपूर्ववत् उपन्यास और मृदादिके दृष्टान्तसे उसका साधन नहीं होगा, ऐसा दोषान्तर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। कार्य ही वस्तुका एक देश है ॥ ६ ॥

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

पदच्छेद—यावद्विकारम्, तु, विभागः, लोकवत् ।

पदार्थोक्ति—यावद् विकारम्—विकारजातमभिव्याप्य, विभागः—विभक्तत्वम्, [दृश्यते] लोकवत्—घटादिवत्, [पृथिव्यादिभ्यो विभक्तत्वादाकाशस्य ब्रह्म-कार्यत्वं निर्विवादम्] ।

भाषार्थ—जितने विकार हैं, वे सब घट, शराव आदिके समान विभक्त दिखाई देते हैं, अतः पृथिवी आदिसे विभक्त होनेसे आकाशके ब्रह्मजन्य होनेमें कोई विवाद नहीं है ।

भाष्य

तुशब्दोऽसम्भवाशङ्काव्यावृत्त्यर्थः । न खल्वाकाशोत्पत्तावसम्भवाशङ्का कर्तव्या, यतो यावत्किञ्चिद्विकारजातं दृश्यते—घटघटिकोदञ्चनादि वा, कटककेयूरकुण्डलादि वा, सूचीनाराचनिस्त्रिंशादि वा, तावानेव विभागो लोके लक्ष्यते, न त्वविकृतं किञ्चित् कुतश्चिद् विभक्तमुपलभ्यते । विभाग-

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द असम्भवकी आशङ्का दूर करनेके लिए है । आकाशकी उत्पत्तिमें असम्भवकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जितना घट, घटिका, उदञ्चन, आदि या कटक, केयूर, कुण्डल आदि, अथवा सूई, बाण, खड्ग आदि विकार-समूह देखा जाता है, वही लोकमें विभक्त देखनेमें आता है, और

रत्नप्रभा

यावद्विकारमिति । आकाशो न उत्पद्यते, सामग्रीशून्यत्वात्, इत्यत्र आकाशः विकारः, विभक्तत्वाद्, घटादिवत्, इति सत्प्रतिपक्षमाह—यत् पुनरित्यादिना । यो विभक्तः, स विकार इति अन्वयम् उक्त्वा यस्तु अविकारः, स न विभक्तः, यथा आत्मा इति व्यतिरेकव्याप्तिमाह—न त्वविकृतमिति । दिगा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"यावद्विकारम्" इत्यादि । आकाश उत्पन्न नहीं होता है, सामग्रीशून्य होनेसे, इस अनुमानमें आकाश उत्पन्न होता है, विभक्त होनेसे, घटादिके समान, ऐसा सत्प्रतिपक्ष हो सकता है, उसको [सत्प्रतिपक्षको] कहते हैं—"यत् पुनः" इत्यादिसे । 'जो विभक्त है, वह विकार है, ऐसा अन्वय कहकर जो अविकार है, वह विभक्त नहीं है, जैसे आत्मा ऐसी व्यतिरेकव्याप्तिको कहते हैं—"न तु अविकृतम्" इत्यादिसे । दिशा आदिमें व्यभिचारकी

भाष्य

आऽऽकाशस्य पृथिव्यादिभ्योऽवगम्यते। तस्मात् सोऽपि विकारो भवितुमर्हति। एतेन दिक्कालमनःपरमाण्वादीनां कार्यत्वं व्याख्यातम्। नन्वात्माऽप्याकाशादिभ्यो विभक्त इति तस्याऽपि कार्यत्वं घटादिवत् प्राप्नोति। न, 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २।१) इति श्रुतेः। यदि ह्यात्मापि

भाष्यका अनुवाद

अविकृत किसीसे विभक्त उपलब्ध नहीं होता है। और आकाशका पृथिव्यादिसे विभाग देखा जाता है, अतः वह भी विकार—कार्य्य हो सकता है। इसीसे (विभक्तत्वसे) दिशा, काल, मन, परमाणु आदि कार्य हैं ऐसा व्याख्यान हुआ समझना चाहिए। आत्मा भी आकाश आदिसे विभक्त है, इससे घटादिके समान उसको भी कार्यत्व प्राप्त होता है। नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि "आत्मन आकाशः सम्भूतः" (आत्मासे आकाश

रत्नप्रभा

दिषु व्यभिचारम् आशङ्क्य पक्षसमत्वाद् मैवमित्याह—एतेनेति। विभक्तत्वेन इत्यर्थः। आत्मनि व्यभिचारं शङ्कते—नन्विति। धर्मिसमानसत्ताकविभागस्य हेतुत्वात् परमार्थात्मनि विभागस्य कल्पितत्वेन भिन्नसत्ताकत्वाद् न व्यभिचार इत्याह—नेति। अत्र चाऽज्ञानान्यद्रव्यत्वं विशेषणम्, अतो नाऽज्ञानतत्सम्बन्धादौ व्यभिचारः। ननु आत्मा कार्यम्, विभक्तत्वाद्, वस्तुत्वाद् वा घटवत्, इति आभासतुल्यम् इदमनुमानम्, इत्याशङ्क्य आत्मनः परमकारणत्वेन श्रुतस्य कार्यत्वे शून्यताप्रसङ्ग इति बाधकसत्त्वात् तस्याऽऽभासत्वम्, नाऽत्र किञ्चित् बाधकमस्ति, प्रत्युत आकाशस्य अकार्यत्वे नित्यानेकद्रव्यकल्पनाश्रौतप्रतिज्ञाहान्यादयो बाधकाः

रत्नप्रभाका अनुवाद

आशङ्का करके पक्षसम होनेसे ऐसा नहीं है, यह कहते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। विभक्तत्वसे ऐसा अर्थ है। आत्मामें व्यभिचारकी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। धर्मीके साथ समानसत्तावाले विभागके हेतु होनेसे परमार्थ आत्मामें विभागके कल्पित होनेके कारण भिन्नसत्ताक होनेसे व्यभिचार नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। इस हेतुमें 'अज्ञानाऽन्यद्रव्यत्वम्' (अज्ञानसे अन्य द्रव्य) ऐसा विशेषण देना चाहिए, इसलिए अज्ञानमें और उसके सम्बन्धमें व्यभिचार नहीं है। आत्मा कार्य है, विभक्त होनेसे या वस्तु होनेसे, घटके समान, इस प्रकार आभासके तुल्य यह अनुमान है, ऐसी आशङ्का करके परमकारणत्वेन श्रुतिमें प्रसिद्ध आत्माको कार्य माना जाय, तो शून्यता प्रसक्त होगी, इस प्रकार बाधक होनेसे उक्त अनुमान आभास है, और आकाशके अनुमानमें कोई बाधक नहीं है; प्रत्युत आकाशको अकार्य

भाष्य

विकारः स्यात् तस्मात् परमन्यन्न श्रुतमित्याकाशादि सर्वं कार्यं निरात्मकमात्मनः कार्यत्वे स्यात्। तथा च शून्यवादः प्रसज्येत। आत्मत्वाच्चाऽऽत्मनो निराकरणशङ्कानुपपत्तिः। नह्यात्माऽऽगन्तुकः कस्यचित्, स्वयंसिद्धत्वात्। नह्यात्माऽऽत्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति।

भाष्यका अनुवाद

उत्पन्न हुआ) ऐसी श्रुति है। यदि आत्मा विकार हो, तो उससे पर कुछ भी श्रुतिमें प्रतिपादित नहीं है, इसलिए आत्माके कार्य होने-पर आकाशादि सब कार्य निरात्मक हो जायँगे। और उससे शून्यवादका प्रसङ्ग आवेगा। सबकी आत्मा होनेसे आत्माके निराकरणकी शङ्का अनुपपन्न है। आत्मा किसी भी कारणका आगन्तुक—कार्य नहीं है, क्योंकि वह स्वयंसिद्ध

रत्नप्रभा

सन्ति इति नाऽऽभासतुल्यता इत्याह—आत्मन इति। इष्टप्रसङ्ग इति वदन्तं प्रत्याह—आत्मत्वादिति। आत्माभावः केनचित् ज्ञायते न वा? आद्ये यो ज्ञाता स परिशिष्यते इति न शून्यता, द्वितीयेऽपि न शून्यता, मानाभावाद् इत्यर्थः। किञ्च, यद् हि कार्यं सत्तास्फूर्त्योः अन्यापेक्षं तत् निराकार्यम्, आत्मा तु अकार्यम् निरपेक्षत्वात् न बाधयोग्य इत्याह—नह्यात्मेत्यादिना। कस्यचित् कारणस्य आगन्तुकः—कार्यम् नहि, सत्तास्फूर्त्योः सिद्ध्योः अनन्यायत्तत्वाद् इति अक्षरार्थः। तत्र स्फूर्तेः अनन्यायत्तत्वं विवृणोति—नहीति। तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—

'प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा।
यस्य प्रसादात् सिध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते' ॥ १ ॥ इति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

माननेमें नित्य अनेक द्रव्यकी कल्पना और श्रौतप्रतिज्ञाकी हानि इत्यादि अनेक बाधक हैं, अतः आभासकी तुल्यता नहीं है, ऐसा कहते हैं—"आत्मनः" इत्यादिसे। यह प्रसङ्ग इष्ट है, ऐसा कहनेवालेके प्रति कहते हैं—"आत्मत्वाद्" इत्यादिसे। आत्माका अभाव किसीसे जाना जाता है, या नहीं? प्रथम पक्षमें जो ज्ञाता है, वह अवशिष्ट रहता है, इससे शून्यवाद नहीं है, द्वितीय पक्षमें भी शून्यता नहीं है, प्रमाणके अभावसे, ऐसा अर्थ है। जो कार्य है उसको सत्ता और स्फूर्तिके लिए अन्यकी अपेक्षा है, और वह निराकरणयोग्य है, आत्मा तो अकार्य है और निरपेक्ष है, अतः बाधयोग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नह्यात्मा" इत्यादिसे। किसी कारणका आगन्तुक—कार्य (आत्मा) नहीं है, क्योंकि आत्मा अपनी सत्ता और स्फूर्तिकी सिद्धिमें अनन्यायत्त है, ऐसा अक्षरार्थ है। उसमें स्फूर्तिकी अन्यानपेक्षताको स्पष्ट करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। सुरेश्वराचार्यने कहा है—प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति जिसके प्रसादसे सिद्ध होते हैं, उसकी

भाष्य

तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्यप्रसिद्धप्रमेयसिद्धये उपादीयन्ते। नह्याकाशादयः पदार्थाः प्रमाणनिरपेक्षाः स्वयंसिद्धाः केनचिदभ्युपगम्यन्ते। आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं सम्भवति। आगन्तुकं

भाष्यका अनुवाद

है। अपनेमें प्रमाणकी अपेक्षा करके आत्मा सिद्ध नहीं होती है। उसके प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अप्रसिद्ध प्रमेयकी सिद्धिके लिए गृहीत होते हैं। क्योंकि 'आकाश आदि पदार्थ प्रमाणसे निरपेक्ष स्वयंसिद्ध हैं' ऐसा कोई स्वीकार नहीं करता है। आत्मा तो प्रमाण आदि व्यवहारका आश्रय होनेसे प्रमाण आदि व्यवहारसे पहले ही सिद्ध है। और स्वयंसिद्ध आत्माका निराकरण नहीं हो सकता है।

रत्नप्रभा

तथा श्रुतिराह—"पुरुषः स्वयंज्योतिः" (बृ० ३।९) "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (क० ५।१५) इति च। ननु आत्मनः स्वत.सिद्धौ प्रमाणवैयर्थ्यम् तत्राऽऽह—तस्येति। ननु प्रमेयस्याऽपि स्वप्रकाशत्वं किं न स्यात्, इत्यत आह—नहीति। अतो न प्रमाणवैयर्थ्यमिति भावः। आत्माऽपि मानाधीनसिद्धिकः किं न स्यात् इत्यत आह—आत्मा त्विति। अयमर्थः—निश्चितसत्ताकं हि ज्ञानं प्रमेयसत्तानिश्चायकम्, गेहे घटो दृष्टो न वेति ज्ञानसंशये न दृष्ट इति व्यतिरेकनिश्चये चाऽर्थस्वरूपानिश्चयात्। ज्ञानसत्तानिश्चयश्च न स्वतः, कार्यस्य स्वप्रकाशत्वायोगात्। नाऽपि ज्ञानान्तरात, अनवस्थानात। अतः साक्षिणैव ज्ञान-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धिमें किसकी अपेक्षा है। श्रुति भी कहती है—'पुरुषः स्वयंज्योतिः' (पुरुष स्वयंप्रकाश है) 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित होता है) यदि आत्मा स्वतःसिद्ध है, तो प्रमाण व्यर्थ हैं, उसपर कहते हैं—"तस्य" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि प्रमेय स्वयंप्रकाश क्यों नहीं है? इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। इसलिए प्रमाण व्यर्थ नहीं है, ऐसा भाव है। आत्मा भी प्रमाणसे सिद्ध क्यों न हो? इसपर कहते हैं—"आत्मा तु" इत्यादिसे। यह भाव है—निश्चित है सत्ता जिसकी ऐसा ज्ञान प्रमेयसत्ताका निश्चय कराता है, घरमें घट देखा या नहीं' इस प्रकारका संशय ज्ञान होनेपर और 'नहीं देखा' ऐसा अभाव-निश्चय होनेपर अर्थका स्वरूप निश्चित नहीं होता है। और ज्ञानकी सत्ताका निश्चय स्वयं नहीं होता, क्योंकि कार्य होनेसे वह स्वप्रकाश नहीं हो सकता। ज्ञानान्तरसे भी नहीं हो सकता, क्योंकि अनवस्था होगी। इसलिए ज्ञानकी सत्ताका

भाष्य

हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्ता, तदेव तस्य स्वरूपम्। नह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते, तथाऽहमेवेदानीं जानामि वर्तमानं वस्तु, अहमेवाऽतीतमतीततरं चाऽज्ञासिषम्, अहमेवाऽनागतमनागततरं च ज्ञास्यामीत्यतीतानागतवर्तमानभावेनाऽन्यथाभवत्यपि

भाष्यका अनुवाद

आगन्तुक वस्तुका निराकरण हो सकता है, स्वरूपका निराकरण नहीं हो सकता। जो निराकरण कर्ता है, वही उसका स्वरूप है। अग्निकी उष्णताका निराकरण अग्निसे नहीं हो सकता। उसी प्रकार मैं ही इस समय वर्त्तमान वस्तुको जानता हूँ, मैंने ही भूत और उससे पूर्वकी वस्तुएँ जानी थीं, मैं ही भविष्यकी और उससे दूर भविष्यकी वस्तुओंको जानूँगा, इस प्रकार अतीत, अनागत और वर्तमानरूपसे

रत्नप्रभा

सत्तानिश्चयो वाच्यः, तत्र साक्षिणश्चेत ज्ञानाधीनसत्तानिश्चयः अन्योन्याश्रयः स्यात्, अतः सर्वसाधकत्वाद् आत्मा स्वतःसिद्ध इति। स्वप्रकाशस्याऽपि बाधः किं न स्यात् इत्यत आह—न चेति। जडं हि परायत्तप्रकाशत्वाद् आगन्तुकं बाधयोग्यम्, न स्वप्रकाशात्मस्वरूपम्, तस्य सर्वबाधसाक्षिस्वरूपस्य निराकर्त्रन्तराभावात्। स्वस्य च स्वनिराकर्तृत्वायोगात्। नहि सुनिपुणेनाऽपि स्वाभावो द्रष्टुं शक्यते इत्यर्थः। एवं स्वतः स्फूर्तित्वाद् आत्मा न बाध्य इति उक्त्वा स्वतःसत्ताकत्वाच्च न बाध्य इत्याह—तथाऽहमेवेति। ज्ञानज्ञेययोः सत्ताव्यभिचारेऽपि ज्ञातुः सदेकरूपत्वान्न सत्ताव्यभिचार इत्यर्थः। माऽस्तु जीवतो ज्ञातुरन्यथास्वभावः, मृतस्य तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

निश्चय साक्षीसे मानना होगा, साक्षिकी सत्ताका निश्चय यदि ज्ञानके अधीन हो तो अन्योऽन्याश्रय होगा, इसलिए आत्मा सर्वसाधक होनेसे स्वतःसिद्ध है। स्वप्रकाशका भी बाध क्यों नहीं होगा?, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। पराधीन प्रकाश होनेसे जड़ आगन्तुक और बाधयोग्य है, स्वप्रकाश आत्मस्वरूप बाधयोग्य नहीं है, क्योंकि सबके बाधके साक्षिस्वरूप उस आत्माका अन्य कोई निराकर्ता नहीं है। और अपना निराकरण आप ही नहीं कर सकता, क्योंकि सुनिपुण पुरुष भी अपना अभाव स्वयं नहीं देख सकता, ऐसा अर्थ है। इस प्रकार स्वप्रकाश होनेसे आत्मा बाध्य नहीं है, ऐसा कहकर स्वतःसत्ताक—अपनी सत्तावाला होनेसे भी बाध्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तथाऽहमेव" इत्यादिसे। ज्ञान और ज्ञेयकी सत्ताका व्यभिचार होनेपर भी ज्ञाताके सदा एकरूप होनेसे उसमें सत्ताका व्यभिचार नहीं है, ऐसा अर्थ है। जीते हुए ज्ञाताका अन्यथास्वभाव भले ही न हो, परन्तु मृत ज्ञाताका होगा, इसपर कहते

भाष्य

ज्ञातव्ये न ज्ञातुरन्यथाभावोऽस्ति, सर्वदा वर्तमानस्वभावत्वात्। तथा भस्मीभवत्यपि देहे नाऽऽत्मन उच्छेदो वर्तमानस्वभावादन्यथास्वभावत्वं वा न सम्भावयितुं शक्यम्। एवमप्रत्याख्येयस्वभावत्वादेवाऽकार्यत्वमात्मनः कार्यत्वं चाऽऽकाशस्य।

यत्तूक्तम्—समानजातीयमनेकं कारणद्रव्यं व्योम्नो नास्ति इति,

भाष्यका अनुवाद

ज्ञातव्य वस्तुके अन्यथाभाव होनेपर भी ज्ञाताका अन्यथाभाव नहीं होता है, क्योंकि वह सर्वदा वर्तमानस्वभाव है। इसी प्रकार देहके भस्मीभूत होनेपर भी आत्माके उच्छेदकी और वर्तमानस्वभावसे अन्यथास्वभावत्वकी भी संभावना नहीं कर सकते। इस प्रकार अप्रत्याख्येयस्वभाव होनेसे आत्मा अकार्य है और आकाश कार्य है।

समानजातीय अनेक कारणद्रव्य आकाशके नहीं हैं, ऐसा जो कहा

रत्नप्रभा

स्यात् इत्यत आह—तथेति। उच्छेद—विनाशः, अन्यथास्वभावत्वम्—मिथ्यात्वं वा संभावयितुमपि न शक्यम्, 'अहमस्मि' इति अनुभवसिद्धसत्स्वभावस्य बाधकाभावाद् इत्यर्थः। एवम् आत्मनः शून्यत्वनिरासेन शून्यताप्रसङ्गस्य अनिष्टत्वमुक्तम्, ततश्च आत्मनः कार्यत्वानुमानम् आभास इत्याह—एवमिति। अकार्यात्मनः सिद्धौ तस्य अविद्यासहितस्य उपादानस्य अदृष्टादिनिमित्तस्य च सत्त्वाद् आकाशानुत्पत्तिहेतोः सामग्रीशून्यत्वस्य स्वरूपासिद्धेः, उक्तसत्प्रतिपक्षबाधाद् च आकाशस्य कार्यत्वं निरवद्यमित्याह—कार्यत्वं चेति। आत्माविद्ययोः विजातीयत्वाद् न आकाशारम्भकत्वम् इत्युक्तमनूद्य निरस्यति—यत्त्वित्यादिना। किं कारणमात्रस्य साजात्यनियमः, उत समवायिनः?

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"तथा" इत्यादिसे। उच्छेद—विनाश और अन्यथास्वभावत्व—मिथ्यात्वकी सम्भावना भी नहीं हो सकती, क्योंकि 'मैं हूँ' ऐसे अनुभवसिद्ध सत्स्वभावका बाधक कोई नहीं है, ऐसा अर्थ है। इस प्रकार आत्माके शून्यत्वके निराससे शून्यताप्रसङ्ग अनिष्ट कहा गया है, उसके बाद 'आत्मा कार्य है, यह अनुमान आभासरूप है ऐसा कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। आत्माके अकार्यत्व की सिद्धि होनेपर अविद्या सहित आत्माके उपादान होनेसे और अदृष्ट आदिके निमित्त कारण होनेसे, आकाशकी अनुत्पत्तिका हेतु जो सामग्रीशून्यत्व कहा गया है, वह स्वरूपासिद्ध है और पूर्वोक्त सत्प्रतिपक्षसे बाधित है, इससे 'आकाश कार्य है' यह कथन निर्दोष है; ऐसा कहते हैं—"कार्यत्वञ्च" इत्यादिसे। आत्मा और अविद्या विजातीय होनेसे आकाशके आरम्भक नहीं होते, ऐसा जो कहा गया है, उसका अनुवादपूर्वक निरसन करते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे। क्या कारणमात्र सजातीय

भाष्य

तत् प्रत्युच्यते—न तावत् समानजातीयमेवाऽऽरभते, न भिन्नजातीयमिति नियमोऽस्ति। नहि तन्तूनां तत्संयोगानां च समानजातीयत्वमस्ति, द्रव्यगुणत्वाभ्युपगमात्। न च निमित्तकारणानामपि तुरीवेमादीनां समानजातीयत्वनियमोऽस्ति। स्यादेतत्—समवायिकारणविषय एव समानजातीयत्वाभ्युपगमो न कारणान्तरविषय इति। तदप्यनैकान्तिकम्। सूत्रगोबालैर्ह्यनेकजातीयैरेका रज्जुः सृज्यमाना दृश्यते। तथा सूत्रैरूर्णादिभिश्च विचित्रान् कम्बलान् वितन्वते। सत्त्वद्रव्यत्वाद्यपेक्षया वा

भाष्यका अनुवाद

गया है, उसका निराकरण किया जाता है—समानजातीय ही आरम्भक है और भिन्नजातीय आरम्भक नहीं है ऐसा कोई नियम नहीं है; क्योंकि तन्तु और उनके संयोग समानजातीय नहीं हैं, कारण कि उनका गुण और द्रव्यरूपसे स्वीकार किया गया है। एवं तुरी और वेमा आदि निमित्त कारण भी समानजातीय हों, ऐसा नियम नहीं है। यह शङ्का यहां हो सकती है—समवायिकारण के विषयमें ही समानजातीयत्वका स्वीकार है, अन्य कारणोंमें नहीं है। वह भी व्यभिचरित है, क्योंकि अनेकजातीय सूत्र और गोबालोंसे एक रस्सी बनाई जाती हुई देखी जाती है, वैसे ही सूत्र और ऊनसे विचित्र कम्बल लोग बनाते हैं। सत्त्व

रत्नप्रभा

तत्र आद्यं निरस्य द्वितीयं शङ्कते-स्यादेतदिति। किं समवायितावच्छेदकधर्मेण साजात्यम् उत सत्त्वादिना? नाऽऽद्य इत्याह—तदपीति। न च रज्ज्वादि न द्रव्यान्तरम् इति वाच्यम्, पटादेरपि तथात्वापाताद्, द्वितीयः अस्मदिष्टः, आत्माऽविद्ययोः वस्तुत्वेन साजात्याद् इत्याह—सत्त्वेति। उपादानस्य साजात्यनियमं निरस्य संयुक्तानेकत्वनियमम् अद्वितीयस्याऽसङ्गस्याऽपि आत्मन उपादानत्वसिद्धये निर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होते हैं, ऐसा नियम है? या केवल समवायिकारण सजातीय होता है, ऐसा नियम है? उनमें प्रथम पक्षका निरसन करके द्वितीय पक्षका निरास करते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे। क्या समवायिकारणतावच्छेदक धर्मरूपसे सजातीयत्व है, या सत्त्वरूपसे साजात्य है? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तदपि" इत्यादिसे। [सूत्र और गोकेशका समुदायमात्र ही रज्जु है] अन्य द्रव्य नहीं है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि पटादि भी अन्य द्रव्य नहीं होंगे, ऐसा प्रसङ्ग आवेगा। द्वितीय पक्ष हमको इष्ट है, क्योंकि आत्मा और अविद्या वस्तुत्वरूप धर्मसे सजातीय हैं, ऐसा कहते हैं—"सत्त्व" इत्यादिसे। उपादानके साजात्य नियमका निरसन करके, अद्वितीय असङ्ग

भाष्य

समानजातीयत्वे कल्प्यमाने नियमानर्थक्यम्, सर्वस्य सर्वेण समानजातीयकत्वात्। नाऽप्यनेकमेवाऽऽरभते, नैकमिति नियमोऽस्ति, अणुमनसोराद्यकर्मारम्भाभ्युपगमात् । एकैको हि परमाणुर्मनश्चाऽऽद्यं कर्माऽऽरभते, न द्रव्यान्तरैः संहत्येत्यभ्युपगम्यते । द्रव्यारम्भे एवाऽनेकारम्भकत्वनियम इति चेत्, न, परिणामाभ्युपगमात् । भवेदेष नियमो यदि संयोगसचिवं

भाष्यका अनुवाद

और द्रव्यत्वकी अपेक्षासे समानजातीयत्वकी कल्पना की जाय, तो नियम व्यर्थ होता है, क्योंकि सब सबके साथ समानजातीय हैं। 'अनेक ही आरम्भक हैं एक नहीं' ऐसा भी नियम नहीं है, क्योंकि अणु और मन आद्य कर्मको उत्पन्न करते हैं, कारण कि एक एक परमाणु और मन आद्य कर्मका आरम्भ करते हैं अन्य द्रव्यके साथ मिलकर नहीं, ऐसा स्वीकार किया है। द्रव्यके आरम्भमें ही यह अनेकारम्भकत्व का नियम है ऐसा यदि कहो तो सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि परिणामका स्वीकार है। यह नियम हो सकता, यदि संयोग सहित

रत्नप्रभा

स्यति—नापीत्यादिना। किम् आरम्भकमात्रस्यायं नियमः उत द्रव्यारम्भकस्य ? नाद्य इत्याह—अण्विति। द्व्यणुकस्य ज्ञानस्य च असमवायिकारणसंयोगजनकम् आद्यं कर्म, यद्यपि अदृष्टवदात्मसंयुक्ते अणुमनसी आद्यकर्मारम्भके, तथापि कर्मसमवायिन एकत्वात् अनेकत्वनियमभङ्ग इत्याह—एकैको हीति । द्रव्यान्तरैः—समवायिभिरित्यर्थः । द्वितीयम् उत्थाप्य आरम्भवादानङ्गीकारेण दूषयति—द्रव्येत्यादिना । न त्वभ्युपगम्यते, तस्मान्नैष नियम इति शेषः । यत्तु क्षीरपरमाणुषु रसान्तरोत्पत्तौ तैरेव दध्यारम्भ इति, तन्न, क्षीरनाशे मानाभावात् । रसवद्दध्नोऽपि एकद्रव्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्मा भी उपादान है, यह सिद्ध करने के लिए 'संयुक्त अनेक द्रव्य आरम्भक होते हैं' इस नियमका निरास करते हैं—"नापि" इत्यादिसे । क्या यह नियम आरम्भकमात्रका है या केवल द्रव्यके आरम्भकका है ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अणु" इत्यादिसे । द्व्यणुक और ज्ञानका असमवायिकारण जो संयोग है, उसका जनक आद्य कर्म है । यद्यपि अदृष्टवत् आत्माके साथ संयुक्त हुए अणु और मन आद्य कर्मके आरम्भक हैं, तो भी कर्मका समवायिकारण एक होनेसे अनेकत्व नियमका भङ्ग है, ऐसा कहते हैं—"एकैको हि" इत्यादिसे । अन्य द्रव्योंके साथ अर्थात् अन्य समवायिकारणोंके साथ । द्वितीय पक्षका उत्थान करके आरम्भवादके अनङ्गीकारसे उसे दूषित करते हैं—"द्रव्य" इत्यादिसे । स्वीकार नहीं किया जाता, अतः यह नियम नहीं है, इतना शेष है । क्षीरके परमाणुओंमें रसान्तरोत्पत्ति होनेपर वे ही परमाणु

भाष्य

तत् प्रत्युच्यते—न तावत् समानजातीयमेवाऽऽरभते, न भिन्नजातीयमिति नियमोऽस्ति। नहि तन्तूनां तत्संयोगानां च समानजातीयत्वमस्ति, द्रव्यगुणत्वाभ्युपगमात्। न च निमित्तकारणानामपि तुरीवेमादीनां समानजातीयत्वनियमोऽस्ति। स्यादेतत्—समवायिकारणविषय एव समानजातीयत्वाभ्युपगमो न कारणान्तरविषय इति। तदप्यनैकान्तिकम्। सूत्रगोवालैर्ह्यनेकजातीयैरेका रज्जुः सृज्यमाना दृश्यते। तथा सूत्रैरूर्णादिभिश्च विचित्रान् कम्बलान् वितन्वते। सत्त्वद्रव्यत्वाद्यपेक्षया वा

भाष्यका अनुवाद

गया है, उसका निराकरण किया जाता है—समानजातीय ही आरम्भक है और भिन्नजातीय आरम्भक नहीं है ऐसा कोई नियम नहीं है; क्योंकि तन्तु और उनके संयोग समानजातीय नहीं हैं, कारण कि उनका गुण और द्रव्यरूपसे स्वीकार किया गया है। एवं तुरी और वेमा आदि निमित्त कारण भी समानजातीय हों, ऐसा नियम नहीं है। यह शङ्का यहां हो सकती है—समवायिकारण के विषयमें ही समानजातीयत्वका स्वीकार है, अन्य कारणोंमें नहीं है। वह भी व्यभिचरित है, क्योंकि अनेकजातीय सूत्र और गोवालोंसे एक रस्सी बनाई जाती हुई देखी जाती है, वैसे ही सूत्र और ऊनसे विचित्र कम्बल लोग बनाते हैं। सत्त्व

रत्नप्रभा

तत्र आद्यं निरस्य द्वितीयं शङ्कते–स्यादेतदिति। किं समवायितावच्छेदकधर्मेण साजात्यम् उत सत्त्वादिना? नाऽऽद्य इत्याह—तदपीति। न च रज्ज्वादि न द्रव्यान्तरम् इति वाच्यम्, पटादेरपि तथात्वापाताद्, द्वितीयः अस्मदिष्टः, आत्माऽविद्ययोः वस्तुत्वेन साजात्याद् इत्याह—सत्त्वेति। उपादानस्य साजात्यनियमं निरस्य संयुक्तानेकत्वनियमम् अद्वितीयस्याऽसङ्गस्याऽपि आत्मन उपादानत्वसिद्धये निर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होते हैं, ऐसा नियम है? या केवल समवायिकारण सजातीय होता है, ऐसा नियम है? उनमें प्रथम पक्षका निरसन करके द्वितीय पक्षका निरास करते हैं–"स्यादेतत्" इत्यादिसे। क्या समवायिकारणतावच्छेदक धर्मरूपसे सजातीयत्व है, या सत्त्वरूपसे साजात्य है? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तदपि" इत्यादिसे। [सूत्र और गोकेशका समुदायमात्र ही रज्जु है] अन्य द्रव्य नहीं है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि पटादि भी अन्य द्रव्य नहीं होंगे, ऐसा प्रसङ्ग आवेगा। द्वितीय पक्ष हमको इष्ट है, क्योंकि आत्मा और अविद्या वस्तुत्वरूप धर्मसे सजातीय हैं, ऐसा कहते हैं—"सत्त्व" इत्यादिसे। उपादानके साजात्य नियमका निरसन करके, अद्वितीय असङ्ग

भाष्य

समानजातीयत्वे कल्प्यमाने नियमानर्थक्यम्, सर्वस्य सर्वेण समानजातीयकत्वात्। नाऽप्यनेकमेवाऽऽरभते, नैकमिति नियमोऽस्ति, अणुमनसोराद्यकर्मारम्भाभ्युपगमात्। एकैको हि परमाणुर्मनश्चाऽऽद्यं कर्माऽऽरभते, न द्रव्यान्तरैः संहत्येत्यभ्युपगम्यते। द्रव्यारम्भे एवाऽनेकारम्भकत्वनियम इति चेत्, न, परिणामाभ्युपगमात्। भवेदेष नियमो यदि संयोगसचिवं

भाष्यका अनुवाद

और द्रव्यत्वकी अपेक्षासे समानजातीयत्वकी कल्पना की जाय, तो नियम व्यर्थ होता है, क्योंकि सब सबके साथ समानजातीय हैं। 'अनेक ही आरम्भक हैं एक नहीं' ऐसा भी नियम नहीं है, क्योंकि अणु और मन आद्य कर्मको उत्पन्न करते हैं, कारण कि एक एक परमाणु और मन आद्य कर्मका आरम्भ करते हैं अन्य द्रव्यके साथ मिलकर नहीं, ऐसा स्वीकार किया है। द्रव्यके आरम्भमें ही यह अनेकारम्भकत्व का नियम है ऐसा यदि कहो तो सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि परिणामका स्वीकार है। यह नियम हो सकता, यदि संयोग सहित

रत्नप्रभा

स्यति—नापीत्यादिना। किम् आरम्भकमात्रस्यायं नियमः उत द्रव्यारम्भकस्य? नाद्य इत्याह—अण्विति। द्व्यणुकस्य ज्ञानस्य च असमवायिकारणसंयोगजनकम् आद्यं कर्म, यद्यपि अदृष्टवदात्मसंयुक्ते अणुमनसी आद्यकर्मारम्भके, तथापि कर्मसमवायिन एकत्वात् अनेकत्वनियमभङ्ग इत्याह—एकैको हीति। द्रव्यान्तरैः—समवायिभिरित्यर्थः। द्वितीयम् उत्थाप्य आरम्भवादानङ्गीकारेण दूषयति—द्रव्येत्यादिना। न त्वभ्युपगम्यते, तस्मान्नैष नियम इति शेषः। यत्तु क्षीरपरमाणुषु रसान्तरोत्पत्तौ तैरेव दध्यारम्भ इति, तन्न, क्षीरनाशे मानाभावात्। रसवद्दध्नोऽपि एकद्रव्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्मा भी उपादान है, यह सिद्ध करने के लिए 'संयुक्त अनेक द्रव्य आरम्भक होते हैं' इस नियमका निरास करते हैं—"नापि" इत्यादिसे। क्या यह नियम आरम्भकमात्रका है या केवल द्रव्यके आरम्भकका है? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अणु" इत्यादिसे। द्व्यणुक और ज्ञानका असमवायिकारण जो संयोग है, उसका जनक आद्य कर्म है। यद्यपि अदृष्टवत् आत्माके साथ संयुक्त हुए अणु और मन आद्य कर्मके आरम्भक हैं, तो भी कर्मका समवायिकारण एक होनेसे अनेकत्व नियमका भङ्ग है, ऐसा कहते हैं—"एकैको हि" इत्यादिसे। अन्य द्रव्योंके साथ अर्थात् अन्य समवायिकारणोंके साथ। द्वितीय पक्षका उत्थान करके आरम्भवादके अनङ्गीकारसे उसे दूषित करते हैं—"द्रव्य" इत्यादिसे। स्वीकार नहीं किया जाता, अतः यह नियम नहीं है, इतना शेष है। क्षीरके परमाणुओंमें रसान्तरोत्पत्ति होनेपर वे ही परमाणु

भाष्य

द्रव्यं द्रव्यान्तरस्याऽऽरम्भकमभ्युपगम्येत । तदेव तु द्रव्यं विशेषवदवस्थाऽन्तरमापद्यमानं कार्यं नामाऽभ्युपगम्यते । तच्च क्वचिदनेकं परिणमते मृद्बीजादि अङ्कुरादिभावेन, क्वचिदेकं परिणमते क्षीरादि दध्यादिभावेन । नेश्वरशासनमस्त्यनेकमेव कारणं कार्यं जनयतीति, अतः श्रुतिप्रामाण्यादेकस्माद् ब्रह्मण आकाशादिमहाभूतोत्पत्तिक्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते । तथा चोक्तम्—'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (ब्र० सू० २।१।२४) इति ।

यच्चोक्तम्—आकाशस्योत्पत्तौ न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभावयितुं

भाष्यका अनुवाद

द्रव्य ही द्रव्यान्तरका आरम्भक है ऐसा स्वीकार किया जाय । परन्तु वही द्रव्य सविशेष अन्य अन्य अवस्थाको प्राप्तकर कार्य नामसे स्वीकृत होता है । कहीं अनेक मृत्तिका, बीज आदि अंकुर स्वरूपसे परिणत होते हैं । और कहीं क्षीरादि एक दधि आदि भावसे परिणत होता है । अनेक ही कारण कार्यको उत्पन्न करते हैं, ऐसा कोई ईश्वरका आदेश नहीं है । इसलिए श्रुतिप्रामाण्यसे एक ब्रह्मसे आकाश आदि महाभूतोंकी उत्पत्तिके क्रमसे जगत् उत्पन्न हुआ ऐसा निश्चित होता है । ऐसा कहा है कि—'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (उपसंहार देखनेसे ब्रह्म जगत्‌का कारण नहीं है ऐसा कहो तो नहीं, क्योंकि क्षीरके समान उपपन्न होगा) ।

और जो यह कहा गया है कि—आकाशकी उत्पत्तिमें पूर्वोत्तरकालमें कुछ

रत्नप्रभा

रम्यत्वसम्भवाच्च । द्रव्यगुणसङ्केतस्य पौरुषेयस्य श्रुत्यर्थनिर्णयाहेतुत्वादिति भावः । लोके कर्तुः सहायदर्शनाद् असहायाद् ब्रह्मणः कथं सर्ग इति, तत्राह—तथा चोक्तमिति । प्रागभावशून्यत्वहेतुरपि असिद्ध इत्याह—यच्चोक्तमित्यादिना ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

दधिके आरम्भक हैं, ऐसा जो कहा गया है वह युक्त नहीं है, क्योंकि क्षीरके नाशमें प्रमाण नहीं है और रसके समान दधिके भी एक द्रव्यसे उत्पन्न होनेका सम्भव है। और द्रव्य और गुणकी परिभाषा पुरुष-कणादसे कल्पित है, अतः वे श्रुतिके अर्थका निर्णय करनेमें हेतु नहीं हो सकते हैं, ऐसा भाव है। लोकमें कर्ताका सहायक देखा जाता है, और ब्रह्म तो असहाय है वह कैसे जगत्‌की उत्पत्ति कर सकता है? इसपर कहते हैं—"तथा चोक्तम्" इत्यादिसे। प्रागभावशून्यत्व हेतु भी असिद्ध है, ऐसा

भाष्य

शक्यते इति, तदयुक्तम् । येनैव हि विशेषेण पृथिव्यादिभ्यो व्यतिरिच्यमानं नभः स्वरूपवदिदानीमध्यवसीयते, स एव विशेषः प्रागुत्पत्तेर्नासीदिति गम्यते । यथा च ब्रह्म न स्थूलादिभिः पृथिव्यादिस्वभावैः स्वभाववत्, 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः, एवमाकाशस्वभावेनाऽपि न स्वभाववत् 'अनाकाशम्' इति श्रुतेरवगम्यते। तस्मात् प्रागुत्पत्तेरनाकाशमिति स्थितम् । यदप्युक्तम्—पृथिव्यादिवैधर्म्यादाकाशस्याऽ-

भाष्यका अनुवाद

विशेष सम्भावित नहीं है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि जिस विशेषसे ही पृथिवी आदिसे व्यतिरिक्त हुआ आकाश स्वरूपवत् आजकल निश्चित होता है, वही विशेष उत्पत्तिके पूर्वमें नहीं था, ऐसा समझा जाता है। और जैसे स्थूलादि पृथ्वी आदिके स्वभावोंसे ब्रह्म स्वभाववाला नहीं है, क्योंकि 'अस्थूलमनणु' (वह स्थूल नहीं है, अणु नहीं है) इत्यादि श्रुतियां हैं, इसी प्रकार आकाशके स्वभावसे भी स्वभाववाला ब्रह्म नहीं है, ऐसा 'अनाकाशम्' (आकाशरहित) इस श्रुतिसे ज्ञात होता है । इसलिए आकाशकी उत्पत्तिके पूर्व ब्रह्म अनाकाश था ऐसा निश्चित हुआ। और जो यह कहा

रत्नप्रभा

शब्दाश्रयत्वं विशेषः । शब्दादिमानाकाशः प्रलये नास्ति, 'नासीद्रजो नो व्योम' इति श्रुतेः । ननु आकाशाभावे काठिन्यं स्यादिति चेत् । सुशिक्षितोऽयं नैयायिकतनयः। नहि आकाशाभावस्तद्धर्मो वा काठिन्यम्, किन्तु मूर्तद्रव्यविशेषः, तत्संयोगविशेषो वा काठिन्यम्, तच्च प्रलये नास्तीति भावः । 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १।६।२) इति श्रुतेरग्न्यौष्ण्यवद् ब्रह्मस्वभावस्याऽऽकाशस्य सति ब्रह्मणि कथमभावः, तत्राह—यथा चेति। विभुत्वाद् आकाशसमं ब्रह्मेति श्रुत्यर्थः । विभुत्वास्पर्शद्रव्यत्वनिरवयवद्रव्यत्वलिङ्गानां विभक्तत्वादिलिङ्गसहितागमबाधमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"यच्चोक्तम्" इत्यादिसे। शब्दाश्रयत्व विशेष है। शब्दादिमान् आकाश प्रलयमें नहीं है, 'नासीद्रजः०'(प्रलयकालमें न रज था न आकाश था) ऐसी श्रुति है। प्रलयमें आकाशका अभाव होनेपर काठिन्य हो जायगा, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसी शङ्का करनेवाला नैयायिक बालक सुशिक्षित है । आकाशका अभाव या उसका धर्म काठिन्य नहीं है, परन्तु मूर्तद्रव्यविशेष या उसका संयोगविशेष काठिन्य है, और वह प्रलयमें नहीं है, ऐसा भाव है। 'आकाशशरीरम्' (ब्रह्म आकाशशरीर है) ऐसी श्रुति है, इसलिए जैसे अग्निका स्वभाव औष्ण्य है, वैसे ब्रह्मका आकाशस्वभाव होनेसे ब्रह्मके रहनेपर आकाशका अभाव कैसे हो सकता है ? इसपर कहते हैं—"यथा च" इत्यादिसे । विभु होनेसे आकाशके समान ब्रह्म है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है । विभुत्व, अस्पर्शद्रव्यत्व, निरवयव

भाष्य

जत्वम् इति, तदप्यसत्। श्रुतिविरोधे सत्युत्पत्त्यसंभवानुमानस्याऽऽभासत्वोपपत्तेः, उत्पत्त्यनुमानस्य च दर्शितत्वात्, अनित्यमाकाशम्, अनित्यगुणाश्रयत्वाद्, घटादिवदित्यादिप्रयोगसंभवाच्च। आत्मन्यनैकान्तिकमिति चेत्, न; तस्यौपनिषदं प्रत्यनित्यगुणाश्रयत्वासिद्धेः। विभुत्वादीनां चाऽऽकाशस्योत्पत्तिवादिनं प्रत्यसिद्धत्वात्। यच्चोक्तमेतत्—शब्दाच्चेति, तत्राऽ-

भाष्यका अनुवाद

गया है कि पृथ्वी आदिसे आकाशमें वैषम्य है, अतः वह उत्पत्तिशून्य है, यह कथन भी असङ्गत है, क्योंकि श्रुतिके साथ विरोध होनेपर उत्पत्तिके असम्भवका प्रतिपादन करनेवाला अनुमान आभास है, ऐसा उपपन्न होता है। और उत्पत्तिका प्रतिपादक अनुमान दिखलाया गया है, और आकाश अनित्य है, अनित्यगुणका आश्रय होनेसे, घटके समान, इत्यादि प्रयोगका सम्भव है। अनित्यगुणाश्रयत्व यह हेतु आत्मामें व्यभिचरित है? ऐसा कहो, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि औपनिषदवादीके मतमें आत्माका अनित्यगुणाश्रयत्व असिद्ध है।

रत्नप्रभा

यदपीत्यादिना। धर्मिविकाराभावे गुणनाशो न स्यादिति तर्कार्थम् अनित्यपदम्, गुणाश्रयत्वमेव हेतुः, तच्च स्वसमानसत्ताकगुणवत्त्वम्, अतो निर्गुणात्मनि न व्यभिचारः। भूतत्वम् आदिशब्दार्थः। स्वरूपासिद्धिमपि आह—विभुत्वादीनां चेति। सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगः परिमाणविशेषो वा विभुत्वं निर्गुणात्मनि दृष्टान्ते नास्ति। संयोगस्य सावयवत्वनियतस्याऽजत्वसाध्यविरुद्धता च, स्वरूपोपचयरूपं तु विभुत्वमात्माकाशयोर्न समम्, 'ज्यायानाकाशात्' इति श्रुतेः। क्वचिदाकाशसाम्यं तु ब्रह्मणो यत्किञ्चिद्धर्मसम्बन्धेन व्यपदिश्यते असक्तत्वेन वा।

रत्नप्रभाका अनुवाद

द्रव्यत्व आदि हेतुओं का विभक्तत्वादि हेतु सहित श्रुतिसे बाध कहते हैं—"यदपि" इत्यादिसे। 'धर्मीके विकारके अभाव होनेपर गुणका नाश नहीं होगा' इस तर्कके लिए अनित्य पद है। गुणाश्रयत्व हेतु है और वह अपनी समानसत्तावाला जो गुण उसका आश्रयत्वरूप है, अतः गुणरहित आत्मामें व्यभिचार नहीं है। आदिशब्दसे भूतत्व लेना चाहिए। स्वरूपासिद्धिको भी कहते हैं—"विभुत्वादीनाञ्च" इत्यादिसे। सम्पूर्ण मूर्त द्रव्योंके साथ संयोगरूप और परिमाणविशेषरूप विभुत्व निर्गुण आत्मामें नहीं है। और अवयवयुक्तत्वसे नियत जो संयोग है, वह अजत्वरूप साध्यसे विरुद्ध है। एवं स्वरूपका उपचयरूप विभुत्व आत्मा और आकाशमें समान नहीं है, क्योंकि 'आकाशसे बड़ा' ऐसी श्रुति है। कुछ साधारण धर्मके सम्बन्धसे ब्रह्ममें आकाशकी समानता कहींपर कही जाती है, या असक्त—सङ्गरहित होनेसे

भाष्य

मृतत्वश्रुतिस्तावद् 'वियत्यमृता दिवौकसः' इतिवत् द्रष्टव्या, उत्पत्तिप्रलययोरुपपादितत्वात्। 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इत्यपि प्रसिद्धमहत्त्वेनाऽऽकाशेनोपमानं क्रियते निरतिशयमहत्त्वाय नाऽऽकाशसमत्वाय, यथेषुरिव सविता धावतीति क्षिप्रगतित्वायोच्यते नेषुतुल्यगतित्वाय तद्वत्। एतेनाऽनन्तत्वोपमानश्रुतिर्व्याख्याता। 'ज्यायानाकाशात्' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च

भाष्यका अनुवाद

और विभुत्व आदि गुण आकाशोत्पत्तिवादीके प्रति असिद्ध हैं। 'शब्दाच्च' (शब्दसे भी) ऐसा जो कहा है, उसमें अमृतत्व श्रुति तो स्वर्गमें देवता अमृत हैं, इसके समान जाननी चाहिए, क्योंकि आकाशकी उत्पत्ति और प्रलयका उपपादन किया गया है। 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' (आकाशके समान सर्वगत और नित्य है) यह भी प्रसिद्ध महत्त्व से निरतिशय महत्त्वको दिखलानेके लिए आकाशोपमान किया है, आकाशके साथ समत्वको बतलानेके लिए नहीं, जैसे 'बाणके समान सूर्य दौड़ता है' यह क्षिप्रगतिके लिए कहा जाता है, बाणतुल्य गतिके लिए नहीं कहा जाता, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए। इससे अनन्तत्व जिसमें उपमान है उस श्रुतिका व्याख्यान हुआ। 'ज्यायानाकाशात्' (आकाशसे बड़ा)

रत्नप्रभा

पञ्चीकरणाद् अस्पर्शत्वमसिद्धम्, कार्यद्रव्यत्वात् निरवयवत्वमपि असिद्धम्, द्रव्यत्वजातिश्चात्मनि असिद्धेत्यर्थः। 'नित्यः' इत्यंशेन साम्यं न विवक्षितम्। ननु 'स यथाऽनन्तोऽयमाकाशः एवमनन्त आत्मा' इति श्रुतिर्नित्यत्वेनैव साम्यं ब्रूते, नेत्याह—एतेनेति। आकाशस्य कार्यत्वेनाऽनित्यत्वादित्यर्थः। श्रुतिस्त्वापेक्षिकानन्त्यद्वारा मुख्यानन्त्यं बोधयतीति भावः। न्यूनत्वाच्चाऽऽकाशस्य न मुख्योपमानत्वमित्याह—ज्यायानिति। मुख्योपमानासत्त्वे श्रुतिः 'न तस्य' इति। तस्मादाकाशस्यो-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कही जाती हैं। पञ्चीकरणसे अस्पर्शत्व भी आकाशमें असिद्ध है, और कार्यद्रव्य होनेसे निरवयत्व असिद्ध है, द्रव्यत्व जाति भी आत्मामें असिद्ध है, ऐसा अर्थ है। 'नित्य' इस अंशसे साम्य विवक्षित नहीं है। परन्तु 'स यथा०' (जैसे यह आकाश अनन्त है वैसे यह आत्मा अनन्त—नित्य है) यह श्रुति नित्यत्वसे ही समानताको कहती है? नहीं, ऐसा कहते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। आकाश कार्य होनेसे अनित्य है, ऐसा अर्थ है। श्रुति तो आपेक्षिक अनन्ततासे मुख्य अनन्तताका बोध कराती है, ऐसा भाव है। न्यून होनेसे आकाश मुख्य उपमान नहीं है, ऐसा कहते हैं—"ज्यायान्" इत्यादिसे। मुख्य उपमान नहीं है, इस विषयमें प्रमाणभूत

भाष्य

ब्रह्मण आकाशस्योनपरिमाणत्वसिद्धिः । 'न तस्य प्रतिमास्ति' (श्वे० ४।१९) इति च ब्रह्मणोऽनुपमानत्वं दर्शयति, 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२) इति च ब्रह्मणोऽन्येषामाकाशादीनामार्तत्वं दर्शयति । तपसि ब्रह्मशब्दवदाकाशस्य जन्मश्रुतेर्गौणत्वमित्येतदाकाशसंभवश्रुत्यनुमानाभ्यां परिहृतम् । तस्माद् ब्रह्मकार्यं वियदिति सिद्धम् ॥७॥

भाष्यका अनुवाद

इत्यादि श्रुतियोंसे आकाशका परिमाण ब्रह्मसे छोटा है, यह सिद्ध होता है। 'न तस्य प्रतिमाऽस्ति' (उसकी प्रतिमा नहीं है) यह श्रुति ब्रह्मके अनुपमत्वको कहती है। 'अतोऽन्यदार्तम्' (इससे अन्य आर्त—अनित्य है) यह श्रुति ब्रह्मसे अन्य आकाशादि अनित्य हैं, ऐसा दिखलाती है। 'तपमें ब्रह्मशब्द जैसे गौण है, उसी तरह आकाशकी उत्पत्तिश्रुति गौण है, इसका आकाशकी उत्पत्तिसूचक श्रुतिसे और अनुमानसे खण्डन किया गया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आकाश ब्रह्मका कार्य है ॥ ७ ॥

रत्नप्रभा

पमानत्वमात्रेण नित्यत्वं नास्ति इति भावः। अनित्यत्वेनाऽसत्त्वे श्रुतिमाह—अतोऽन्यदिति । यत्तु एकस्यैव सम्भूतशब्दस्य गौणत्वं मुख्यत्वं चेति, तत् न; आकाशेऽपि तस्य मुख्यत्वसम्भवादित्याह—तपसीति । बलवत्तित्तिरिश्रुत्या छान्दोग्यश्रुतेर्नयनादेकवाक्यतया स्रष्टरि ब्रह्मात्मनि समन्वय इत्युपसंहरति—तस्मादिति ॥ ७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुति है, 'न तस्य०' (उसकी प्रतिमा नहीं है), अतः आकाश केवल उपमान होनेसे नित्य नहीं है, ऐसा भाव है। अनित्य होनेसे असत् है, इसमें श्रुति कहते हैं—"अतोऽन्यत्" इत्यादि। एक ही सम्भूत शब्द 'गौण और मुख्य है' ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि आकाशमें भी उसका मुख्यत्व सम्भव है, ऐसा कहते हैं—"तपसि" इत्यादिसे। बलवती तित्तिरिश्रुतिसे छान्दोग्य श्रुतिके गौण होनेके कारण एकवाक्यता होनेसे कर्तृरूप ब्रह्मात्मामें समन्वय है, ऐसा उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥ ७ ॥



[२ मातरिश्वाधिकरण सू० ८]

वायुर्नित्यो जायते वा छान्दोग्येऽजन्मकीर्तनात् ।
सैषाऽनस्तमिता देवतेत्युक्तेर्न च जायते ॥ १ ॥
श्रुत्यन्तरोपसंहाराद् गौण्यनस्तमयश्रुतिः ।
वियद्वज्जायते वायुः स्वरूपं ब्रह्म कारणम् ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—वायु नित्य है अथवा उत्पन्न होता है ?

पूर्वपक्ष—छान्दोग्य उपनिषद्में वायुकी उत्पत्ति न कहनेसे और बृहदारण्यकमें 'सैषाऽनस्तमिता देवता' (वायु अविनाशी देवता है) इस कथनसे प्रतीत होता है कि वायु उत्पन्न नहीं होता है ।

सिद्धान्त—तैत्तिरीय श्रुतिके वाक्यका छान्दोग्यमें उपसंहार करनेसे अनस्तमय श्रुति मुख्य नहीं है—आकाशके समान वायु उत्पन्न होता है, आकाशरूपापन्न ब्रह्म उसका कारण है।

---

* तात्पर्य्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—तैत्तिरीयकमें ही 'आकाशाद् वायुः' (आकाशसे वायु उत्पन्न होता है) ऐसी श्रुति है। वायुकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाली यह श्रुति गौण है, क्योंकि छान्दोग्यमें सृष्टिके प्रकरणमें तेज, जल और अन्नकी ही उत्पत्तिका प्रतिपादन है। यदि कोई कहे कि 'कहींपर अश्रवण अन्यत्र श्रुतका वारण नहीं कर सकता' इस न्यायसे तैत्तिरीयश्रुति कैसे गौण है ? इसपर 'अन्य श्रुतिके साथ विरोध होनेसे, ऐसा हम कहते हैं। बृहदारण्यकमें 'सैषा०' (जो यह वायु है, वह अविनाशी देवता है) इस प्रकार वायुके विनाशका निषेध किया गया है। यदि वायु उत्पत्तिमान् माना जाय, तो उक्त प्रतिषेध नहीं घट सकेगा, इससे प्रतीत होता है कि वायु उत्पन्न नहीं होता।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं—छान्दोग्यमें वायुके जन्मका श्रवण न होनेपर भी गुणोपसंहार-न्यायसे तैत्तिरीयक वाक्यका छान्दोग्यमें उपसंहार करनेपर छान्दोग्यमें वायुकी उत्पत्ति सुनी ही गई है। वायुको अविनाशी कहनेवाली श्रुति तो मुख्य नहीं है, क्योंकि उपासनाके प्रकरणमें पठित होनेके कारण वह स्तुत्यर्थक है; आकाशकी उत्पत्तिमें जितने कारण हैं, उन सबका यहांपर अनुसन्धान करना चाहिए। वायु आकाशजन्य है, इससे उसका ब्रह्ममें अन्तर्भाव न होनेसे ब्रह्मज्ञानसे वायुज्ञान सिद्ध नहीं होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पूर्व-पूर्व कार्यविशिष्ट ब्रह्म उत्तरोत्तर कार्यका हेतु है ऐसा हम आगे कहेंगे, इससे आकाश-रूपापन्न ब्रह्म ही वायुका कारण है। इससे सिद्ध हुआ कि वायु पैदा होता है।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥

पदच्छेद—एतेन, मातरिश्वा, व्याख्यातः ।

पदार्थोक्ति—एतेन—आकाशस्योत्पत्तिमत्त्वव्याख्यानेन, मातरिश्वा—वायुरपि, व्याख्यातः—आकाशावच्छिन्नब्रह्मजन्यत्वेन व्याख्यातः ।

भाषार्थ—आकाश उत्पत्तिमान् है इस कथनसे वायु भी आकाशावच्छिन्न—आकाशभावको प्राप्त ब्रह्मसे उत्पन्न होता है यह व्याख्यान हुआ ।

भाष्य

अतिदेशोऽयम् । एतेन वियद्व्याख्यानेन मातरिश्वाऽपि वियदाश्रयो वायुर्व्याख्यातः । तत्राऽप्येते यथायोगं पक्षा रचयितव्याः । न वायुरुत्पद्यते, छन्दोगानामुत्पत्तिप्रकरणेऽनाम्नानादित्येकः पक्षः । अस्ति तु तैत्तिरीयाणामुत्पत्तिप्रकरणे आम्नानम् 'आकाशाद्वायुः' (तै० २।१) इति पक्षान्तरम् ।

भाष्यका अनुवाद

यह अतिदेश है । पूर्वाधिकरणमें उक्त आकाशके व्याख्यानसे मातरिश्वा भी—आकाशाश्रय वायु भी व्याख्यात हुआ । उसमें भी यथायोग्य इन पक्षोंकी रचना करनी चाहिए—वायु उत्पन्न नहीं होता है, छान्दोग्यके उत्पत्तिप्रकरणमें नहीं कहनेसे, यह एक पक्ष है । तैत्तिरीयोंके उत्पत्तिप्रकरणमें तो कथन है—

रत्नप्रभा

एतेन मातरिश्वेति । अतिदेशत्वात् न पृथक् संगत्याद्यपेक्षा, 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति श्रुतेः 'आकाशाद्वायुः' (तै० २।१।२) इति श्रुत्या विरोधोऽस्ति न वा इति एकवाक्यत्वभावाभावाभ्यां संशये गौणपक्षपूर्वपक्षसिद्धान्तपक्षान् अतिदिशति—**तत्राऽपीत्यादिना** । पूर्वत्र ह्याकाशानन्तर्यं तेजसः स्थापितम्, तत्र वायुतेजसोः तुल्यवदानन्तर्ये 'वायोरग्निः' (तै० २।१।२)

रत्नप्रभाका अनुवाद

"एतेन मातरिश्वा" इत्यादि । अतिदेश होनेसे पृथक् संगति आदिकी अपेक्षा नहीं है । 'तत्तेजोऽसृजत' इस श्रुतिका 'आकाशाद्वायुः' इस श्रुतिसे विरोध है या नहीं ? इस प्रकार अस्तित्व और अभावसे संशय होनेपर गौणपक्ष, पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्षका अतिदेश करते हैं—"तत्रापि" इत्यादिसे । तेज आकाशके पीछे उत्पन्न हुआ है, ऐसा तैत्तिरीयकमें निर्णीत है, उसमें वायु और तेज दोनोंका आनन्तर्य समान हो, तो 'वायोरग्निः' इस क्रमश्रुतिका बाध होता

भाष्य

ततश्च श्रुत्योर्विप्रतिषेधे सति गौणी वायोरुत्पत्तिश्रुतिः, असंभवाद् इत्यपरोऽभिप्रायः। असंभवश्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १।५।२२)

भाष्यका अनुवाद

(आकाशसे वायु) यह अन्य पक्ष है। इस प्रकार श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेपर वायुकी उत्पत्तिश्रुति गौण है, असम्भवसे, ऐसा अन्य अभिप्राय है। असम्भव दिखलाया भी है—'सैषा०' (जो यह वायु है, वह अविनाशी

रत्नप्रभा

इति क्रमश्रुतिबाधात् पौर्वापर्ये तेजःप्राथम्यभङ्गात् न एकवाक्यता इति पूर्वपक्षे गौणवाद्यभिप्रायमाह—ततश्चेति। अस्तमयप्रतिषेधो मुख्योत्पत्त्यसम्भवे लिङ्गम् 'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्' (बृ० २।३।३) इति तस्यैव लिङ्गस्याऽभ्यासः। 'वायुरेव व्यष्टिः' (बृ० ३।३।२) 'समष्टिश्च' (बृ० ३।३।२) इति सर्वात्मत्वलिङ्गान्तरमादिपदार्थः। तथा संवर्गविद्यायाम् 'वायुर्ह्येवैतान् सर्वानग्न्यादीन् संहरति' इति शब्दमात्रेणैश्वर्यश्रवणं लिङ्गान्तरं ग्राह्यम्। एतैर्लिङ्गैर्वायुरनाद्यनन्त इति प्रतीतेरुत्पत्तिर्गौणीति अविरोधः श्रुत्योरिति प्राप्ते प्रतिपिपादयिषितप्रतिज्ञाश्रुतेः बलीयस्त्वात्, तत्साधकानां तत्र तत्र वायूत्पत्तिवाक्यानां भूयस्त्वादुक्तविभक्तत्वादिलिङ्गानुग्रहाच्च मुख्यैव वायोरुत्पत्तिः, तथा चाऽऽकाशं वायुं च सृष्ट्वा तेजोऽसृज-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है और दोनोंका पौर्वापर्य माननेमें तेज प्रथम उत्पन्न हुआ, ऐसा जो छान्दोग्यमें कहा गया है, उसका भंग होता है, अतः दोनोंकी एकवाक्यता नहीं होती, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर गौणवादीका अभिप्राय कहते हैं—"ततश्च" इत्यादिसे। विनाशका प्रतिषेध मुख्य उत्पत्तिके असम्भवमें हेतु है। 'वायुश्चान्तरिक्षं०' (वायु और आकाश ये अविनाशी हैं) इसी लिंगका अभ्यास है। 'वायुरेव व्यष्टिः' (वायु ही व्यष्टि और समष्टि है) इस प्रकार वायु सर्वात्मा है, ऐसा अन्य लिंग 'अमृतत्वादि' भाष्यगत 'आदि' पदका अर्थ है। इसी प्रकार संवर्गविद्यामें 'वायुर्ह्येवैतान्०' (वायु ही इन सब अग्नि आदिका संहार करता है) इस प्रकार शब्दमात्रसे ऐश्वर्यश्रवणका भी अन्य लिंगरूपसे स्वीकार करना चाहिए। इन लिंगोंसे वायु अनादि और अनन्त है, ऐसा प्रतीत होनेसे उत्पत्ति गौणी है, इस प्रकार दोनों श्रुतियोंमें अविरोध है। ऐसा प्राप्त होनेपर प्रतिपादन करनेके लिए अभीष्ट प्रतिज्ञाश्रुतिके अधिक बलवान् होनेसे उसके साधक वायुकी उत्पत्ति कहनेवाले वाक्योंका यत्र तत्र आधिक्य होनेसे और कहे हुए विभक्तत्व आदि लिंगोंका अनुग्रह करनेसे वायुकी उत्पत्ति मुख्य ही है, इसलिए 'आकाशं वायुम्०' (आकाश और वायुको उत्पन्न करके तेजको उत्पन्न किया) इस प्रकार दोनों श्रुतियोंकी

भाष्य

इत्यस्तमयप्रतिषेधात्, अमृतत्वादिश्रवणाच्च। प्रतिज्ञानुपरोधाद् यावद्विकारं च विभागाभ्युपगमादुत्पद्यते वायुरिति सिद्धान्तः, अस्तमयप्रतिषेधोऽपरविद्याविषय आपेक्षिकः, अग्न्यादीनामिव वायोः अस्तमयाभावात्। कृतप्रतिविधानं चाऽमृतत्वादिश्रवणम्। ननु वायोराकाशस्य च तुल्ययोरुत्पत्तिप्रकरणे श्रवणाश्रवणयोरेकमेवाऽधिकरणमुभयविषयमस्तु, किमतिदेशेनाऽसति विशेष इति। उच्यते—सत्यमेवमेतत्। तथापि मन्दधियां शब्दमात्रकृताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयमतिदेशः क्रियते। संवर्गविद्यादिषु ह्युपा-

भाष्यका अनुवाद

देवता है) इस श्रुतिसे अस्तमयका निषेध और अमृतत्वादिका श्रवण है। प्रतिज्ञाका उपरोध न होनेके लिए और 'जितना विकार है उतना विभाग है' ऐसा स्वीकार होनेसे वायु उत्पन्न होता है, ऐसा सिद्धान्त है। अस्तमयका प्रतिषेध अपरविद्याविषयक है, और आपेक्षिक है, क्योंकि अग्नि आदिके समान वायु अस्त नहीं होता है। अमृतत्व आदि श्रुतिका समाधान किया है। अगर उत्पत्ति प्रकरणमें वायु और आकाश दोनोंका श्रवण और अश्रवण तुल्य है, तो दोनोंका एक ही अधिकरण हो, विशेष न रहनेपर अतिदेशका क्या प्रयोजन है? कहते हैं—यह सत्य है, तथापि स्वल्पमतिवाले पुरुषोंकी शब्दमात्रसे प्राप्त आशङ्काकी निवृत्तिके लिए अतिदेश किया है, क्योंकि संवर्ग आदि विद्यामें

रत्नप्रभा

तेति त्योः एकवाक्यतया ब्रह्मणि समन्वयः। लिङ्गानि तूपास्यवायुस्तावकत्वादापेक्षिकतया व्याख्येयानीति मुख्यसिद्धान्तमाह—प्रतिज्ञेत्यादिना। कृतं प्रतिविधानम्—आपेक्षिकत्वेन समाधानं यस्य तत् तथा। अधिकरणारम्भमाक्षिप्योक्तामधिकाशङ्कामाह—नन्वित्यादिना। 'वायुर्ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्ते' इत्यादिशब्दमात्रं शङ्कामूलं नार्थ इति द्योतनार्थं मात्रपदम्। तामेव शङ्कामाह—संवर्गेति। व्यष्टि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

एकवाक्यतासे ब्रह्ममें समन्वय है। लिंग तो उपास्य वायुका स्तावक होनेसे आपेक्षिकरूपसे व्याख्येय है, ऐसा मुख्य सिद्धान्त कहते हैं—"प्रतिज्ञा" इत्यादिसे। किया गया है प्रतिविधान—आपेक्षिकरूपसे समाधान जिसका वह कृतप्रतिविधान है। अधिकरणके आरंभका आक्षेप करके कही गई अधिक शंकाको कहते हैं—"ननु" इत्यादिसे। 'वायुर्ह्येवैतान्०' (वायु ही इन सबका संवरण करता है) इत्यादि शब्दमात्र शंकाका मूल है, अर्थ शंकाका मूल नहीं है, ऐसा सूचन करनेके लिए शब्दमात्रमें 'मात्र' पद है। उसीको कहते हैं—"संवर्ग" इत्यादिसे। व्यष्टि और

भाष्य

स्तया वायोर्महाभागत्वश्रवणात्, अस्तमयप्रतिषेधादिभ्यश्च भवति नित्यत्वाशङ्का कस्यचिदिति ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

उपास्यरूपसे 'वायु महाप्रभाववाला है' ऐसी श्रुति है और अस्तमयके प्रतिषेध आदिसे वह नित्य है, ऐसी आशङ्का किसीको हो सकती है ॥ ८ ॥

रत्नप्रभा

समष्ट्युपास्तिः 'वायुं दिशां वत्सं वेद' (छा० ३।१५।२) इत्युपास्तिश्च आदिशब्दार्थः ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

समष्टिकी उपासना और 'स यो वायुं दिशाम्०' (वह जो वायुको दिशाओंका बछड़ा जानता है) यह उपासना भी संवर्गविद्या आदिमें 'आदि' पदका अर्थ है ॥८॥



[३ असम्भवाधिकरण सू० ९]

सद् ब्रह्म जायते नो वा कारणत्वेन जायते ।
यत् कारणं जायते तद्वियद्वाय्वादयो यथा ॥१॥
असतोऽकारणत्वेन खादीनां सत उद्भवात् ।
व्याप्तेरजादिवाक्येन बाधात् सन्नैव जायते* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—सद्रूप ब्रह्म उत्पन्न होता है अथवा नहीं होता ?

पूर्वपक्ष—सद्रूप ब्रह्म कारण होनेसे उत्पन्न होता है, क्योंकि जो कारण हैं, जैसे आकाश, वायु आदि, वे उत्पन्न होते हैं ।

सिद्धान्त—सद्रूप ब्रह्म उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि असत् सत्का कारण नहीं है, आकाश आदिकी सत्से उत्पत्ति होती है, और जो कारण है वह उत्पन्न होता है, इस व्याप्तिका 'स वा एष महानजः' (वह महान् नित्य है) इस श्रुतिसे बाध होता है ।

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—छान्दोग्यमें 'सदेव सोम्येदमग्र०' हे सोम्य, सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् सद्रूप—अव्याकृतनामरूप ही था, ऐसी श्रुति है। और सद्रूप ब्रह्म जन्मवान् है, कारण होनेसे, आकाशके समान, इस अनुमानसे ब्रह्म उत्पत्तिमान् होगा। ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि सद्रूप ब्रह्म उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि ब्रह्मके जनक-कारणका

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥

पदच्छेद—असम्भवः, तु, सतः, अनुपपत्तेः ।

पदार्थोक्ति—सतः—सदात्मकस्य ब्रह्मणः, असम्भवः—उत्पत्त्यसम्भवः, [कुतः] अनुपपत्तेः—सत्सामान्यात् सत्सामान्यस्य उत्पत्त्यनुपपत्तेः [विशेपस्यैव घटादेर्मृत्सामान्यजन्यत्वदर्शनात्] ।

भापार्थ—सत्स्वरूप ब्रह्मकी उत्पत्तिका सम्भव नहीं है, क्योंकि सत्-सामान्यसे सत्सामान्यकी उत्पत्तिकी अनुपपत्ति है । विशेप घट आदि ही मृत्तिका-रूप सामान्यसे उत्पन्न होते दिखाई देते हैं ।

भाष्य

वियत्पवनयोरसम्भाव्यमानजन्मनोरप्युत्पत्तिमुपश्रुत्य ब्रह्मणोऽपि भवेत्

भाष्यका अनुवाद

जिनकी उत्पत्तिकी सम्भावना नहीं है, ऐसे आकाश और पवनकी उत्पत्ति

रत्नप्रभा

असम्भवस्त्विति । 'अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्' (क० ३।१५) 'न चास्य कश्चिज्जनिता' (श्वे० ६।९) इत्यादिब्रह्मानादित्वश्रुतीनां 'त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' इति उत्पत्तिश्रुत्या विरोधोऽस्ति न वा इत्येकवाक्यत्वभावाभावाभ्यां सन्देहे अस्ति विरोध इति पूर्वपक्षे यथा वाय्वादेः अमृतत्वादिकम् उत्पत्तिश्रुतिबलाद् आपेक्षिकम्, तथा ब्रह्मानादित्वम् आपेक्षिकम् इति दृष्टान्तसङ्गत्या एकदेशिपक्षं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"असम्भवस्तु" इत्यादि । 'अनाद्यनन्तम्०' (अनादि, अनन्त, महत्से पर और ध्रुव है) 'न चास्य०' (इसका कोई उत्पन्न करनेवाला नहीं है) इत्यादि श्रुतियां जो ब्रह्मको अनादि कहती हैं, उन श्रुतियोंका 'त्व जातो भवसि' (तुम सर्वतोमुख उत्पन्न हुए हो) इस श्रुतिके साथ विरोध है या नहीं, इस प्रकार एकवाक्यताके अस्तित्व और अभावसे सन्देह होनेपर विरोध है, ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर जैसे वायु आदिके अमृतत्व आदि उत्पत्ति श्रुतिके बलसे

निरूपण करना सम्भव नहीं है । असत् तो ब्रह्मका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि 'कथमसतः सज्जायेत' (असत्से सत् कैसे उत्पन्न होगा) इस प्रकार निषेध है और सत् भी सत्का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेमें आत्माश्रय दोषकी प्राप्ति होती है । आकाश आदि भी सत्के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि आकाश आदि सत्से उत्पन्न होते हैं । और जो यह व्याप्ति है कि जो जो कारण है वह उत्पन्न होता है, वह 'स वा एष महानज आत्मा' (यह महान् आत्मा जन्मरहित है) इस श्रुतिसे बाधित है । इससे सिद्ध हुआ कि सद्रूप ब्रह्म उत्पन्न नहीं है ।

भाष्य

कुतश्चिदुत्पत्तिरिति स्यात् कस्यचिन्मतिः । तथा विकारेभ्य एवाऽऽकाशादिभ्य उत्तरेषां विकाराणामुत्पत्तिमुपश्रुत्याऽऽकाशस्याऽपि विकारादेव ब्रह्मण उत्पत्तिरिति कश्चिन्मन्येत, तामाशङ्कामपनेतुमिदं सूत्रम्–'असम्भवस्तु' इति। न खलु ब्रह्मणः सदात्मकस्य कुतश्चिदन्यतः सम्भवः—उत्पत्तिराशङ्कितव्या,

भाष्यका अनुवाद

को जानकर ब्रह्मकी भी उत्पत्ति किसीसे होगी' ऐसी बुद्धि किसी पुरुषकी हो सकती है। उसी प्रकार आकाशादि विकारोंसे उत्तर [वायु आदि] विकारोंकी उत्पत्ति जान कर आकाशकी उत्पत्ति विकार ब्रह्मसे ही होगी, ऐसा कोई मानेगा। उस आशङ्काका निवारण करनेके लिए यह सूत्र है—'असम्भवस्तु' इत्यादि । सदात्मक

रत्नप्रभा

प्रापयति–वियदिति । ब्रह्म कुतश्चिद् जायते, कारणत्वाद्, आकाशवत्, इति अनुमानानुग्रहाद् जन्मश्रुतिः बलियसी इत्याह–तथेति । न च अनादिकारणाभावेन अनवस्था, वीजाङ्कुरवद् अनादित्वोपपत्तेः । तथा च दीपाद् दीपवद् ब्रह्मान्तरात् ब्रह्मान्तरोत्पत्तिः, उत्पत्तिश्रुत्या च अनादित्वश्रुतिः नेया इति अनाद्यनन्तब्रह्मसमन्वयासिद्धिः इति प्राप्ते मुख्यसिद्धान्तम् आह–तामिति । ब्रह्म न च जायते, कारणशून्यत्वात्, नरविषाणवद्, व्यतिरेकेण घटवच्च इति अनुमानानुग्रहाद् विपक्षे चाऽकारणककार्यवादप्रसङ्गाद् ब्रह्मानादित्वश्रुतयो बलीयस्य इति कारणत्वलिङ्गबाधाद् जन्मश्रुतिः कार्याभेदेन व्याख्येया इति अनाद्यनन्तब्रह्मसमन्वयसिद्धिः इति सिद्धान्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आपेक्षिक माने हैं, वैसे ब्रह्मका अनादित्व भी आपेक्षिक है, ऐसी दृष्टान्तकी सङ्गतिसे एकदेशीका पक्ष लाते हैं—"वियद्" इत्यादिसे । ब्रह्म किसी एकसे उत्पन्न होता है, कारण होनेसे, आकाशके समान, इस अनुमानसे अनुगृहीत जन्मश्रुति अधिक बलवती है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। अनादिको—नित्यको—कारण नहीं माननेपर अनवस्था होगी ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बीजाङ्कुरके समान अनादित्वकी उपपत्ति हो सकती है । इसलिए एक दीपसे जैसे अन्य दीप उत्पन्न होता है, वैसे ही एक ब्रह्मसे अन्य ब्रह्म उत्पन्न होता है, अतः उत्पत्तिश्रुतिसे अनादित्वश्रुतिको गौण मानना चाहिए, इस प्रकार अनादि और अनन्त ब्रह्मका समन्वय असिद्ध होगा, ऐसा प्राप्त होनेपर मुख्य सिद्धान्त कहते हैं—"ताम्" इत्यादिसे। ब्रह्म उत्पन्न नहीं होता, कारणशून्य होनेसे, नरविषाणके समान, और व्यतिरेक दृष्टान्तसे घटके समान, इस अनुमानके अनुग्रहसे और विपक्षमें कारणशून्य कार्यवादका प्रसङ्ग आनेसे, ब्रह्मको अनादि कहनेवाली श्रुतियां अधिक बलवती हैं, इसलिए कारणत्व लिङ्गके बाधसे जन्मश्रुतिका कार्यके अभेदसे व्याख्यान करना चाहिए, इस प्रकार अनादि अनन्त ब्रह्मकी समन्वयसिद्धि सिद्धान्तका फल

भाष्य

कस्मात्? अनुपपत्तेः। सन्मात्रं हि ब्रह्म, न तस्य सन्मात्रादेवोत्पत्तिः सम्भवति, असत्यतिशये प्रकृतिविकारभावानुपपत्तेः। नापि सद्विशेषात्, दृष्टविपर्ययात्। सामान्याद्धि विशेषा उत्पद्यमाना दृश्यन्ते, मृदादेर्घटादयः, न तु विशेषेभ्यः सामान्यम्। नाऽप्यसतो निरात्मकत्वात्, 'कथमसतः सज्जायेत' (छा० ८।७।१) इति चाऽऽक्षेपश्रवणात् 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६।९) इति च ब्रह्मणो जनयितारं वारयति। वियत्पवनयोः पुनरुत्पत्तिः प्रदर्शिता, न तु ब्रह्मणः

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्मकी किसी अन्यसे उत्पत्ति होगी, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, किससे? अनुपपत्ति होनेसे। क्योंकि सन्मात्र ब्रह्म है, उसकी सन्मात्रसे ही उत्पत्ति नहीं हो सकती, कारण कि अतिशय न होनेसे प्रकृतिविकारभाव अनुपपन्न है। उसी प्रकार सद्विशेषसे भी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दृष्ट—प्रत्यक्षसे विपर्यय—विरोध होगा। सामान्यसे विशेष उत्पन्न होते देखे जाते हैं, जैसे मृत्तिका आदिसे घट आदि, परन्तु विशेषोंसे सामान्य उत्पन्न होते नहीं देखे जाते हैं। असत्से भी सत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह निरात्मक है, 'कथमसतः०' (असत्से सत् किसप्रकार उत्पन्न होगा) ऐसे आक्षेपका श्रवण है। 'स कारणं करणा०' (वह कारण है इन्द्रियोंके अधिपोंका अर्थात् जीवोंका अधिप है और इसका कोई जनक और अधिप नहीं है) यह श्रुति ब्रह्मके उत्पन्न करनेवालेका निषेध करती है। आकाश और पवनकी उत्पत्ति दिखलाई जा चुकी है, परन्तु ब्रह्मकी उत्पत्ति नहीं ऐसा वैषम्य है।

रत्नप्रभा

फलम्। न च हेत्वसिद्धिः, कारणस्य अनिरूपणात्, तथा हि—किं सन्मात्रस्य ब्रह्मणः सन्मात्रमेव सामान्यं कारणं सद्विशेषो वा असद्वा। न त्रेधाऽपि इत्याह—सन्मात्रं हीत्यादिना। दीपस्तु दीपान्तरे निमित्तम् इति अनुदाहरणम्। वियत्पवनयोः ब्रह्मणश्च विभक्तत्वाविभक्तत्वाभ्यां कारणभावाभावाभ्यां च वैषम्यम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। कारणका निरूपण नहीं होनेसे हेतुकी (कारणशून्यत्वकी) असिद्धि नहीं है। जैसे—सत्स्वरूप ब्रह्मका सत्सामान्य ही कारण है या सद्विशेष कारण है अथवा असत् कारण है, तीनों प्रकारसे भी कारणका निरूपण नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"सन्मात्रं हि" इत्यादिसे। दीपक तो अन्य दीपकमें निमित्त है, अतः दृष्टान्त ही नहीं हो सकता है। आकाश और पवन विभक्त एवं सकारणक हैं, ब्रह्म तो विभक्त और सकारणक नहीं है, अतः वैषम्य है। तर्कसे भी बाध

भाष्य

साऽस्तीति वैषम्यम्। न च विकारेभ्यो विकारान्तरोत्पत्तिदर्शनाद् ब्रह्मणोऽपि विकारत्वं भवितुमर्हतीति, मूलप्रकृत्यनभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। या मूलप्रकृतिरभ्युपगम्यते तदेव च नो ब्रह्मेत्यविरोधः ॥ ९ ॥

भाष्यका अनुवाद

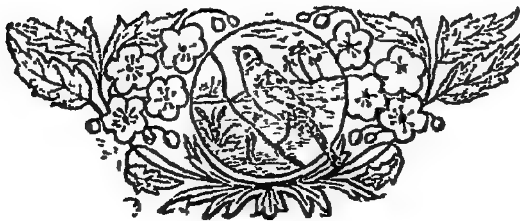
विकारोंसे अन्य विकारोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिए ब्रह्म भी विकाररूप हो ? यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि मूलप्रकृतिका स्वीकार नहीं करनेसे अनवस्था दोषका प्रसङ्ग होगा। और जो मूलप्रकृति है, वही हमारा ब्रह्म है, अतः विरोध नहीं है ॥ ९ ॥

रत्नप्रभा

कारणत्वलिङ्गस्य अप्रामाणिकानवस्था। तर्केणाऽपि बाधमाह—न च विकारेभ्य इत्यादिना। कारणस्य अनभ्युपगमे यदृच्छावादप्रसङ्गः, अनादिकारणानभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गः, तदभ्युपगमे ब्रह्मवादप्रसङ्गः, कारणान्तरस्य प्रधानादेः निरासादिति भावः ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"न च विकारेभ्य." इत्यादिसे। कारणका स्वीकार नहीं करनेसे आकस्मिक कार्यवादका प्रसङ्ग आवेगा और अनादि नित्य ब्रह्मको कारण नहीं माननेसे अनवस्था होगी, अनादिको कारण मानोगे तो ब्रह्मवादका प्रसङ्ग है, उसकी डरसे अन्य प्रधानादिको कारण रूपसे स्वीकार करोगे तो वह युक्त नहीं, क्योंकि उसका निरास हो चुका है ॥९॥



[४ तेजोऽधिकरण सू० १०]

ब्रह्मणो जायते वह्निर्वायोर्वा ब्रह्मसंयुतात् ।
तत्तेजोऽसृजतेत्युक्तेर्ब्रह्मणो जायतेऽनलः ॥१॥
वायोरग्निरिति श्रुत्या पूर्वश्रुत्येकवाक्यतः ।
ब्रह्मणो वायुरूपत्वमापन्नादग्निसंभवः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—अग्नि ब्रह्मसे उत्पन्न होती है अथवा वायुरूपापन्न ब्रह्मसे उत्पन्न होती है?

पूर्वपक्ष—'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेजको उत्पन्न किया) यह श्रुति है, इससे प्रतीत होता है कि अग्नि ब्रह्मसे उत्पन्न होती है।

सिद्धान्त—'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि उत्पन्न होती है) इस श्रुतिके साथ पूर्व श्रुतिकी एकवाक्यता होनेसे वायुरूपताको प्राप्त हुए ब्रह्मसे अग्निकी उत्पत्ति होती है।

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥ १० ॥

पदच्छेद—तेजः, अतः, तथा, हि, आह।

पदार्थोक्ति—तेजः—अग्निः, अतः—अस्माद् वायोर्जायते, हि—यतः, तथा—वायुजन्यत्वम्, आह—'वायोरग्निः' इति श्रुतिः वर्णयति।

भाषार्थ—तेज वायुसे उत्पन्न होता है, क्योंकि तेजका वायुसे उत्पन्न होना 'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि उत्पन्न होती है) यह श्रुति बतलाती है।

---

* पूर्वपक्षी कहता है कि—छान्दोग्य उपनिषद्में 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेजकी सृष्टि की) यह श्रुति तेज ब्रह्मसे उत्पन्न है ऐसा प्रतिपादन करती है और तैत्तिरीयकमें 'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि उत्पन्न है) इस श्रुतिसे तेज वायुजन्य है ऐसा प्रतीत होता है। पूर्वपक्षी कहता है कि तैत्तिरीयक श्रुतिमें 'वायोः' इस पञ्चमीका आनन्तर्यरूप अर्थ भी हो सकता है, इसलिए तेज केवल ब्रह्मजन्य ही है।

सिद्धान्ती कहते हैं कि अनुवर्तमान सम्भूतशब्दसे अन्वित 'वायोः' इस पञ्चमीका उपादानरूप अर्थ ही मुख्य है। दोनों श्रुतियोंकी एकवाक्यता होनेपर वायुरूपापन्न ब्रह्मसे तेज उत्पन्न होता है, ऐसा अवगत होता है।

भाष्य

छान्दोग्ये सन्मूलत्वं तेजसः श्रावितम्, तैत्तिरीयके तु वायुमूलत्वम्, तत्र तेजोयोनिं प्रति श्रुतिविप्रतिपत्तौ सत्यां प्राप्तं तावद् ब्रह्मयोनिकं तेजः इति। कुतः? 'सदेव' इत्युपक्रम्य 'तत्तेजोऽसृजत' इत्युपदेशात्, सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाश्च ब्रह्मप्रभवत्वे सर्वस्य सम्भवात्, 'तज्जलान्' (छा० ८।७।१)

भाष्यका अनुवाद

छान्दोग्यमें तेजका मूल सत् है, ऐसा श्रुति प्रतिपादन करती है, तैत्तिरीयकमें तो तेजका मूल वायु है, ऐसा कहा गया है, उन दोनोंमें तेजके कारणके प्रति श्रुतियोंमें परस्पर सन्देह होनेपर ब्रह्म तेजका कारण है, ऐसा प्राप्त होता है। किससे? इससे कि 'सदेव' (सन्मात्र) ऐसा उपक्रम करके 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया) ऐसा उपदेश है। सम्पूर्ण वस्तुओंके ब्रह्मजन्य होनेपर

रत्नप्रभा

तेजोऽतस्तथा ह्याह। 'तत्तजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति 'वायोरग्निः' (तै० २।१।२) इति च श्रुत्योः विरोधोऽस्ति न वा इति सन्देहे सामान्यात् सामान्योत्पत्त्यसम्भवेऽपि ब्रह्मवाय्वोः सामान्ययोः तेजोरूपविशेषोपादानत्वसम्भवात् तुल्यबलतया अस्ति विरोध इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षः। सर्वत्र आ अध्यायसमाप्तेः एकवाक्यतासम्भवासम्भवौ संशयबीजम्। पूर्वपक्षे श्रुतीनां विरोधाद् अप्रामाण्यं फलम्, सिद्धान्ते प्रामाण्यम् इति उक्तं न विस्मर्तव्यम्। एवं पूर्वपक्षे कार्यमात्रस्य विवर्तत्वात् कल्पितस्य वायोस्तेजःकल्पनाधिष्ठानत्वायोगाद् ब्रह्मैव तेजस उपादानम्, सर्वकार्याणां ब्रह्मैव उपादानम् इत्यर्थे श्रुतीनां भूयस्त्वाच्च, तदनुरोधाद् वायोरिति क्रमार्था पञ्चमी इति अविरोध इति एकदेशिसिद्धान्तं प्रापयति—प्राप्तं तावद् ब्रह्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तेजोऽतस्तथा ह्याह"। 'तत्तेजोऽसृजत' और 'वायोरग्निः' इन दो श्रुतियोंका विरोध है या नहीं, ऐसा सन्देह होनेपर सामान्यकी सामान्यसे उत्पत्तिका सम्भव नहीं है, तो भी ब्रह्म और वायु ये दोनों सामान्य तेजोरूप विशेषके उपादान हो सकते हैं, इसलिए तुल्यबल होनेसे विरोध है, ऐसा प्रत्युदाहरणसे पूर्वपक्ष है। अध्यायसमाप्ति पर्य्यन्त सर्वत्र एकवाक्यताका सम्भव और असम्भव यह संशयके कारण हैं। पूर्वपक्षमें विरोध होनेसे श्रुतियोंका अप्रामाण्य फल है, और सिद्धान्तमें प्रामाण्य फल है, ऐसा कहा गया है, उसे नहीं भूलना चाहिए। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर कार्यमात्रके विवर्त होनेसे कल्पित वायु तेजःकल्पनाका अधिष्ठान नहीं हो सकता, इसलिए ब्रह्म ही तेजका उपादान है, और सब कार्योंका ब्रह्म ही उपादान है इस अर्थ में बहुत श्रुतियाँ हैं, अतः उनके अनुसार 'वायोः' यह क्रमार्थ पञ्चमी है, इस प्रकार अविरोध है, ऐसा एकदेशीका सिद्धान्त कहते हैं—"प्राप्तं तावत् ब्रह्मयोनिकं तेजः" इत्यादिसे।

भाष्य

इति चाऽविशेषश्रुतेः, 'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु०२।१।३) इति चोपक्रम्य श्रुत्यन्तरे सर्वस्याऽविशेषेण ब्रह्मजत्वोपदेशात्। तैत्तिरीयके च 'स तपस्तप्त्वा, इदं सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च' (तै०२।६।१) इत्यविशेषश्रवणात्। तस्मात् 'वायोरग्निः' इति क्रमोपदेशो द्रष्टव्यो वायोरनन्तरमग्निः सम्भूत इति।

एवं प्राप्ते उच्यते—तेजोऽतो मातरिश्वनो जायत इति। कस्मात्? तथा ह्याह—'वायोरग्निः' इति। अव्यवहिते हि तेजसः ब्रह्मजत्वे सत्यसति

भाष्यका अनुवाद

ही सर्वविज्ञान प्रतिज्ञाका सम्भव है, 'तज्जलान्' (यह जगत् उससे उत्पन्न होता है, उसमें लीन होता है, और उसमें चेष्टा करता है) ऐसी साधारणरूपसे श्रुति है, 'एतस्माज्जायते प्राणः' (इससे प्राण उत्पन्न होता है) ऐसा उपक्रम करके अन्य श्रुतिमें सब वस्तुएँ साधारणतया ब्रह्मसे उत्पन्न होती हैं, ऐसा उपदेश है, और तैत्तिरीयकमें 'स तपस्तप्त्वा इदम्' (उसने तपकरके यह सब उत्पन्न किया जो कुछ यह प्रपञ्च है) ऐसी विशेषरहित श्रुति है। इसलिए 'वायोरग्निः' ऐसा क्रमोपदेश समझना चाहिए, वायुके पीछे अग्नि उत्पन्न हुई।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—तेज वायुसे उत्पन्न होता है। किससे? इससे कि 'वायोरग्निः' ऐसा कहा है, क्योंकि तेजकी ब्रह्मसे व्यवधानरहित उत्पत्ति

रत्नप्रभा

योनिकं तेज इत्यादिना। श्रुतीनां विरोधमात्रोपन्यासेन पूर्वपक्षः, अपसिद्धान्तेन अविरोधात् तावत् एकदेशिपक्ष इति ज्ञेयम्। तत् उभयमपि मुख्यसिद्धान्तापेक्षया पूर्वपक्षत्वेन व्यवह्रियते।

सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इति। कदर्थिता—बाधितार्था इति यावत्। वायोस्तेजःप्रकृतित्वं पञ्चमीश्रुत्या निर्धारितम्, न च कल्पितस्य उपादानत्वासम्भवः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतियोंके विरोधमात्रके उपन्याससे पूर्वपक्ष है, अपसिद्धान्तसे अविरोध है, यह एकदेशीका पक्ष है, ऐसा समझना चाहिए। मुख्य सिद्धान्तकी अपेक्षासे वे दोनों पूर्वपक्षरूपसे व्यवहृत होते हैं।

सिद्धान्त करते हैं—"एवं प्राप्ते' इत्यादिसे। कदर्थित—बाधितार्थ। वायु तेजकी प्रकृति है, ऐसा पञ्चमी विभक्तिसे निर्धारित होता है, और कल्पित उपादान हो यह सम्भव नहीं है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कल्पित अधिष्ठानके न होनेपर भी मृत्तिका आदिके समान परिणामी होना सम्भव है, छान्दोग्यमें स्वतः ब्रह्म स्रष्टा ही

भाष्य

वायुजत्वे 'वायोरग्नि' इतीयं श्रुतिः कदर्थिता स्यात्। ननु क्रमार्थैषा भविष्यतीत्युक्तम्। नेति ब्रूमः—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै०२।१।१) इति पुरस्तात् सम्भवत्यपादानस्याऽऽत्मनः पञ्चमीनिर्देशात्, तस्यैव च सम्भवतेरिहाधिकारात्, परस्तादपि च तदधिकारे 'पृथिव्या ओषधयः' (तै०२।१।१) इत्यपादानपञ्चमीदर्शनात् 'वायोरग्निः' इत्यपादान-

भाष्यका अनुवाद

मानी जाय और वायुसे न मानी जाय, तो 'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि) यह श्रुति बाधित हो जायगी। यह श्रुति क्रमवाचिका होगी, ऐसा कहा जा चुका है ? हम कहते हैं नहीं, क्योंकि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस प्रकार पूर्वमें सम्भव क्रियाके अपादान आत्माका पञ्चमीसे निर्देश है, उसी सम्भव क्रियाका यहां अधिकार है, और पीछे भी उसके अधिकारमें 'पृथिव्या ओषधयः' (पृथिवीसे औषधियां) इस श्रुतिमें अपादान पञ्चमीका निर्देश है, इसलिए 'वायोरग्निः' यह अपादान पञ्चमी

रत्नप्रभा

अधिष्ठानत्वासंभवेऽपि मृदादिवत् परिणामित्वसंभवात्, स्वतस्तु ब्रह्मणः छान्दोग्ये स्रष्टृत्वमात्रं श्रुतम्, नोपादानत्वम्। न च 'बहु स्याम्' (तै०२।६।२, छा० ६।२।३) इति कार्याभेदेक्षणलिङ्गाद् उपादानत्वसिद्धिः, लिङ्गात् श्रुतेः बलीयस्त्वेन श्रुत्यविरोधेन लिङ्गस्य नेयत्वात्। नयनं चेत्थं वायोः ब्रह्मानन्यत्वाद् वायुजस्याऽपि तेजसो ब्रह्मप्रकृतिकत्वम् अविरुद्धमिति सिद्धान्तग्रन्थाशयः। इहाधिकारादिति। 'वायोरग्निः सम्भूतः' इति वाक्ये सम्बन्धादित्यर्थः। तदधिकारे—सम्भूत्यधिकारे, निरपेक्षकारकविभक्तेः उपपदसापेक्षविभक्त्यपेक्षया प्रबलत्वाच्च न क्रमार्था पञ्चमी इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसा श्रुति प्रतिपादन करती है, उपादान है, ऐसा प्रतिपादन नहीं करती। और 'बहु स्याम्' इस श्रुतिमें कार्यके साथ ब्रह्मका अभेद और ईक्षण देखनेमें आता है, अतः इसी लिङ्ग प्रमाणसे ब्रह्मको (साक्षात्) तेजका उपादान माना जाय ? नहीं, क्योंकि, लिङ्गकी अपेक्षा श्रुतिके बलवती होनेसे तदनुसारी लिङ्ग लिया जायगा, इसलिए वायुका ब्रह्मके साथ अभेद होनेसे वायुसे उत्पन्न तेज भी ब्रह्मप्रकृतिक है, इसमें विरोध नहीं, ऐसा सिद्धान्तग्रन्थका आशय है। "इहाधिकाराद्" इति। 'वायोरग्निः सम्भूतः' इस वाक्यमें सम्बन्ध होनेसे, ऐसा अर्थ है। उसके अधिकारमें—संभव-क्रियाके अधिकारमें, निरपेक्ष कारकविभक्ति, उपपद सापेक्ष विभक्तिसे अधिक बलवती है, अतः

भाष्य

पञ्चम्यैवैषेति गम्यते। अपि च वायोरूर्ध्वमग्निः सम्भूत इति कल्प्य उपपदार्थयोगः, क्लृप्तस्तु कारकार्थयोगो वायोरग्निः सम्भूत इति। तस्मादेषा श्रुतिर्वायुयोनित्वं तेजसोऽवगमयति। नन्वितराऽपि श्रुतिर्ब्रह्मयोनित्वं तेजसोऽवगमयति 'तत्तेजोऽसृजत' इति। न, तस्याः पारम्पर्यजत्वेऽप्यविरोधात्। यदाऽपि ह्याकाशं वायुं च सृष्ट्वा वायुभावापन्नं ब्रह्म तेजोऽसृजतेति कल्प्यते, तदाऽपि ब्रह्मजत्वं तेजसो न विरुध्यते। यथा 'तस्याः शृतं तस्या

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा समझा जाता है। और 'वायोरूर्ध्वमग्निः' (वायुके अनन्तर अग्नि उत्पन्न हुई) इस प्रकार उपपदके अर्थके योगकी कल्पना करनी पड़ती है और 'वायोरग्निः सम्भूतः' इसमें कारकके अर्थका योग श्रुत है। इसलिए यह श्रुति वायुसे तेजकी उत्पत्तिका बोध कराती है। परन्तु 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया) यह दूसरी श्रुति भी तेज ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, ऐसा बोध कराती है। नहीं ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि परम्परासे वायुरूपापन्न ब्रह्मसे उत्पन्न होनेपर भी इस श्रुतिका विरोध नहीं है। यदि आकाश और वायुको उत्पन्न करके वायुभावको प्राप्त हुए ब्रह्मने तेजको उत्पन्न किया ऐसी कल्पना की जाय, तो भी तेज ब्रह्मसे उत्पन्न होता है इसका विरोध नहीं है। जैसे उसका—गायका गर्म किया हुआ दूध,

रत्नप्रभा

अपि चेति। ऊर्ध्वम् अनन्तरमिति वोपपदं विना पञ्चमीमात्रात् क्रमो न भवतीति कल्प्य उपपदार्थयोगः, प्रकृत्याख्यापादानकारकं तु निरपेक्षपञ्चम्या भाति। विशेषतोऽत्र प्रकरणाद् अपादानार्थत्वं पञ्चम्याः क्लृप्तम्, क्लृप्तेन च कल्प्यं सति विरोधे बाध्यमिति स्थितिः इत्यर्थः। पारम्पर्यजत्वमेवाऽऽह—यदाऽपीति। तस्याः—धेनोः शृतम्—तप्तं क्षीरं साक्षात् कार्यम्, दध्यादिकं तु पारम्पर्यजम् इत्यर्थः। दधिसंसृष्टम् कठिनक्षीरम्—आमिक्षा। ब्रह्मणो वायुभावे

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्रमार्थ पञ्चमी नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। ऊर्ध्वम्—अनन्तर। ऊर्ध्व या अनन्तर इन उपपदोंके बिना केवल पञ्चमीसे क्रम नहीं जाना जा सकता, इसलिए उपपदके अर्थके योगकी कल्पना करनी चाहिए, परन्तु प्रकृतिरूप अपादान कारक तो निरपेक्ष पञ्चमीसे देखा जाता है। विशेष करके यहां प्रकरणसे पञ्चमीका अपादान अर्थ निश्चित है और निश्चितसे विरोध हो तो कल्पनीय सम्बन्ध बाध्य है, यह स्थिति है, ऐसा अर्थ है। परम्परासे उत्पत्ति ही कहते हैं—"यदाऽपि" इत्यादिसे। उसका—गायका गरम किया हुआ दूध साक्षात् कार्य है और दही आदि परम्परासे उत्पन्न हुए हैं, ऐसा अर्थ है, दहीसे संयुक्त गाढ़ा दूध—पनीर

भाष्य

दधि तस्या आमिक्षा' इत्यादि। दर्शयति च ब्रह्मणो विकारात्मनाऽवस्थानम्—'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै०२।७।१) इति। तथा चेश्वरस्मरणं भवति—'बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः' (भ०गी०१०।४) इत्याद्यनुक्रम्य 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (भ०गी०१०।५) इति। यद्यपि बुद्ध्यादयः स्वकारणेभ्यः प्रत्यक्षं भवन्तो दृश्यन्ते, तथापि सर्वस्य भावजातस्य साक्षात् प्रणाल्या वेश्वरवंश्यत्वात्। एतेनाऽक्रमवत्सृष्टिवादिन्यः श्रुतयो व्या-

भाष्यका अनुवाद

उसका दही और उसकी आमिक्षा (पनीर) और 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (उसने आत्माकी स्वयं रचना की) यह श्रुति ब्रह्मकी विकारस्वरूपसे अवस्थिति दिखलाती है, इसी प्रकार ईश्वरकी स्मृति है—'बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः' (बुद्धि, ज्ञान और असंमोह) इत्यादिसे उपक्रम करके 'भवन्ति भावा भूतानाम्' (मुझसे ही प्राणियोंके नाना प्रकारके बुद्धि आदि कार्यविशेष होते हैं) इत्यादि। यद्यपि बुद्धि आदि स्वकारणोंसे उत्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, तो भी सब पदार्थ साक्षात् या परम्परासे[1] ईश्वरसे उत्पन्न होते हैं। इस कथनसे क्रमरहित सृष्टिका प्रतिपादन

रत्नप्रभा

मानमाह—दर्शयति चेति। पारम्पर्यजस्य अपि तज्जत्वव्यपदेशे स्मृतिमाह—तथा चेति। अन्तःकरणादिभ्यो जायमानबुद्ध्यादीनां 'मत्त एव' इति अवधारणं कथमित्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीत्यादिना। प्रणाल्या—परम्परया, ईश्वरवंश्यत्वात्—तज्जत्वात् परमकारणान्तरनिरासार्थम् अवधारणम् युक्तमिति शेषः। एतत्पदार्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आमिक्षा है। ब्रह्म वायुरूपापन्न होता है, इसमें प्रमाण कहते हैं—"दर्शयति" इत्यादिसे। इसलिए परम्परासे उत्पन्न हुएका भी उससे उत्पन्नरूपसे व्यवहार होता है, इसमें स्मृतिको प्रमाणरूपसे कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। अन्तःकरण आदिसे उत्पन्न हुए बुद्धि आदि भावोंकी मुझसे ही उत्पत्ति होती है, ऐसा अवधारण किस प्रकार होता है, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। प्रणालीसे—परम्परासे, सब पदार्थ ईश्वरसे उत्पन्न होते हैं, अतः उससे अन्य परम कारणका निरसन करनेके लिए अवधारण युक्त है, इतना शेष है।

(१) यहांपर यह रहस्य है—यद्यपि ब्रह्म 'इदं सर्वमसृजत' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियोंसे और 'वायुः सन्' इत्यादि प्रतीतिसे वाय्वादि उत्तर कार्योंमें साक्षात्कारण रूपसे भासता है, परम्परासे ही कारण भासता है ऐसा नहीं है तथापि कारणका भी ब्रह्म कारण है इसी अभिप्रायसे 'परम्परा' शब्द प्रयुक्त है।

भाष्य

ख्याताः, तासां सर्वथोपपत्तेः। क्रमवत्सृष्टिवादिनीनां त्वन्यथानुपपत्तेः प्रतिज्ञाऽपि सद्वंश्यत्वमात्रमपेक्षते नाव्यहितजन्यत्वमित्यविरोधः ॥१०॥

भाष्यका अनुवाद

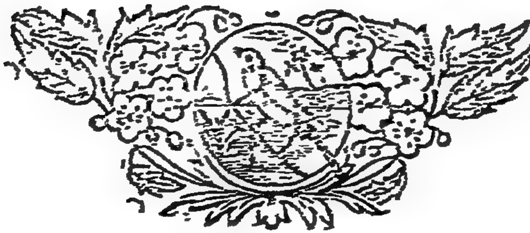
करनेवाली श्रुतियां व्याख्यात हुईं, क्योंकि उनकी सब प्रकारसे उपपत्ति होती है। परन्तु क्रमशः सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां तो अन्यथा अनुपपन्न हैं। प्रतिज्ञा भी सत् से उत्पत्तिमात्रकी अपेक्षा रखती है, अव्यवहित उत्पत्तिकी नहीं, इस प्रकार अविरोध है॥ १०॥

रत्नप्रभा

माह—तासामिति। 'तज्जलान्' (छा० ३।१४।१) इत्याद्युक्तश्रुतीनां साक्षात् प्रणाड्या वा ब्रह्मजत्वमात्रेण उपपत्तेरित्यर्थः। अक्रमश्रुतीनां बलवत्क्रमश्रुत्यनुसारेण एकवाक्यत्वाद् वियद्वायुद्वारा तेजःकारणे ब्रह्मणि समन्वय इति सिद्धम् ॥१०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'एतद्' पदका अर्थ कहते हैं—"तासाम्" इत्यादिसे। 'तज्जलान्' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतियां, 'साक्षात् या परम्परासे सब पदार्थ केवल ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं' इसी अर्थमें उपपन्न हो सकती हैं, ऐसा अर्थ है। बलवती क्रमबोधक श्रुतियोंके अनुसार अक्रम श्रुतियोंकी एकवाक्यता होनेसे आकाश और वायु द्वारा तेजके कारण ब्रह्ममें समन्वय है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥१०॥



[५ अबधिकरण सू० ११]

ब्रह्मणोऽपां जन्म किं वा वह्नेर्नाग्नेर्जलोद्भवः ।
विरुद्धत्वान्नीरजन्म ब्रह्मणः सर्वकारणात् ॥१॥
अग्नेराप इति श्रुत्या ब्रह्मणो वह्न्युपाधिकात् ।
अपां जनिर्विरोधस्तु सूक्ष्मयोर्नाग्निनीरयोः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्मसे जलका जन्म होता है अथवा अग्निसे ?

पूर्वपक्ष—अग्निसे जलकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उन दोनोंमें परस्पर विरोध है; इसलिए सर्वकारण ब्रह्मसे जलकी उत्पत्ति है।

सिद्धान्त—'अग्नेरापः' (अग्निसे जल उत्पन्न है) इस श्रुतिसे अग्निरूपापन्न ब्रह्मसे जलकी उत्पत्ति होती है। और सूक्ष्म अपञ्चीकृत अग्नि और जलका परस्पर विरोध भी नहीं है।

आपः ॥ ११ ॥

पदार्थोक्ति—आपः—जलानि, [अतः—तेजसो जायन्ते, यस्मात् अपां तेजोजन्यत्वम् 'अग्नेरापः' इति श्रुतिराह] ।

भाषार्थ—जल तेजसे उत्पन्न होता है, क्योंकि 'अग्नेरापः' (अग्निसे जल उत्पन्न होता है) यह श्रुति जल तेजसे उत्पन्न होता है ऐसा प्रतिपादन करती है।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—यद्यपि 'तदपोऽसृजत' (उसने जलकी सृष्टि की) एवं 'अग्नेराप.' (अग्निसे जल उत्पन्न होता है) इन दोनों छान्दोग्य और तैत्तिरीय उपनिषत्में जल अग्निसे उत्पन्न हुआ ऐसा श्रुति प्रतिपादन करती है, तथापि वह युक्त नहीं है, क्योंकि नाश्य एवं नाशक होनेसे परस्पर विरोधी अग्नि और जलका कार्य कारणभाव नहीं हो सकता।

सिद्धान्ती कहते हैं—पञ्चीकृत दृश्यमान अग्नि और जलमें परस्पर नाश्यनाशकरूप विरोध होनेपर भी अपञ्चीकृत—केवल श्रुतिसे ज्ञात होनेवाले अग्नि और जलके विरोधकी कल्पना नहीं हो सकती है, और तापके आधिक्यमें स्वेद और वृष्टिकी उत्पत्ति दिखाई देती है। उपर्युक्त दो श्रुतियोंके अनुसार अग्निरूपापन्न ब्रह्मसे जलकी उत्पत्ति होती है।

भाष्य

'अतस्तथा ह्याह' इत्यनुवर्तते । आपोऽतस्तेजसो जायन्ते, कस्मात् ? तथा ह्याह—'तदपोऽसृजत' इति 'अग्नेरापः' इति च । सति वचने नास्ति

भाष्यका अनुवाद

'अतस्तथा ह्याह' इसकी अनुवृत्ति है । जल तेजसे उत्पन्न हुआ है । किससे ? इससे कि 'तदपोऽसृजत' (उसने जल उत्पन्न किया) और 'अग्नेरापः' (अग्निसे जल) इत्यादि श्रुति कहती है । वचन होनेसे संशय नहीं है । तेजकी सृष्टिका

रत्नप्रभा

आपः । अतिदेशोऽयम्, तथाहि—आथर्वणे मुण्डकग्रन्थे—

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥' (२।१।३)

इति मन्त्रे अपां ब्रह्मजत्वं श्रुतम् । 'अग्नेरापः' (तै० २।१।२) इति श्रुत्या तस्य विरोधोऽस्ति न वा इति सन्देहे तुल्यत्वादस्ति विरोध इति पूर्वपक्षे अपामग्निदाह्यत्वेन विरोधादग्निजत्वासम्भवात् क्रमार्था पञ्चमीति अविरोध इति अधिकाशङ्कायामुक्ततेजोन्यायमतिदिश्य व्याचष्टे—अत इति । प्रत्यक्षविरोधे कथम् अपाम् अग्निजत्वनिर्णयः, तत्राह—सति वचने इति । त्रिवृत्कृतयोः अप्तेजसोः विरोधेऽपि 'अग्नेरापः' इति वचनाद् अतीन्द्रिययोस्तयोः नास्ति विरोध इति निर्णीयते इत्यर्थः । न केवलं श्रुत्यविरोधज्ञानाय अयम् अतिदेशः, किन्तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

'आपः' यह अतिदेश है, क्योंकि आथर्वण मुण्डकग्रन्थमें 'एतस्माज्जायते'० (प्राण, मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी ये सब इससे (परब्रह्मसे) उत्पन्न होते हैं । इस मंत्रमें जल ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, ऐसा कहा गया है । 'अग्नेरापः' (अग्निसे जल) इस श्रुतिसे उसका विरोध है या नहीं, ऐसा सन्देह होनेपर श्रुतिके तुल्यबल होनेसे विरोध है, ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर जलके अग्निदाह्य होनेसे परस्पर विरोध है, अतः अग्निसे जलकी उत्पत्तिका सम्भव नहीं होनेसे पञ्चमी ('अग्नेः' पञ्चमी) क्रमार्थक है, इस प्रकार अविरोध है, ऐसी अधिक शङ्का होनेपर पूर्वोक्त तेजोन्यायका अतिदेशकर व्याख्यान करते हैं—"अतः" इत्यादिसे । प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध होनेपर 'जल अग्निसे उत्पन्न हुआ है' यह निर्णय किस प्रकार किया जायगा ? इस शंकापर कहते हैं—"सति वचने" इत्यादिसे । त्रिवृत् किए हुए (स्थूल) जल और तेजका विरोध होनेपर भी 'अग्नेरापः' इस वचनसे अतीन्द्रिय (सूक्ष्म) जल और तेजका विरोध नहीं है, ऐसा निर्णय किया जाता है, ऐसा अर्थ है । केवल श्रुतिका अविरोध जाननेके लिए ही यह अतिदेश नहीं है, किन्तु

भाष्य

संशयः । तेजसस्तु सृष्टिं व्याख्याय पृथिव्या व्याख्यास्यन्नपोऽन्तरयामी-त्याप इति सूत्रयाम्बभूव ॥ ११ ॥

भाष्यका अनुवाद

व्याख्यान करके पृथिवीकी सृष्टिका व्याख्यान करनेवाले सूत्रकारने 'मध्यमें जलकी सृष्टिका प्रतिपादन करें' ऐसा सोचकर 'आपः' इस सूत्रकी रचना की ॥११॥

रत्नप्रभा

पञ्चभूतोत्पत्तिक्रमनिर्णयार्थं चेत्याह—तेजसस्त्विति । तस्मात् तेजोभावापन्ने ब्रह्मणि श्रुतिसमन्वय इति सिद्धम् ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पञ्चभूतकी उत्पत्तिक्रमका निर्णय करनेके लिए भी है, ऐसा कहते हैं—"तेजस्तु" इत्यादिसे। इससे सिद्ध हुआ कि तेजोभावापन्न ब्रह्ममें श्रुतिका समन्वय है ॥११॥

[६ पृथिव्यधिकाराधिकरण सू०—१२]

ता अन्नमसृजन्तेति श्रुतमन्नं यवादिकम् ।
पृथिवी वा यवाद्येव लोकेऽन्नत्वप्रसिद्धितः ॥१॥
भूताधिकारात् कृष्णस्य रूपस्य श्रवणादपि ।
तथाऽद्भ्यः पृथिवीत्युक्तेरन्नं पृथ्व्यन्नहेतुतः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'ता अन्नमसृजन्त' (जलने अन्नकी सृष्टि की) इस श्रुतिमें पठित 'अन्न' शब्द यव आदिका वाचक है या पृथिवीका ?

पूर्वपक्ष—अन्नशब्द यव आदिका ही वाचक है, क्योंकि लोकमे उन्हींकी अन्नत्वेन प्रसिद्धि है।

सिद्धान्त—अन्नशब्द पृथिवीका ही वाचक है, क्योंकि महाभूतोंका प्रकरण है, कृष्णरूपका श्रवण है, 'अद्भ्यः पृथिवी' (जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई) ऐसी श्रुति है एवं पृथिवी अन्नकी हेतु है [कार्य और कारणकी अभेदविवक्षासे अन्न पृथिवी है यह उपपन्न हो सकता है] ।

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—छान्दोग्य उपनिषत्में 'ता अन्नमसृजन्त' इस श्रुति-वाक्यसे जलसे अन्नकी उत्पत्ति सुनी जाती है। यहाँपर अन्नशब्दका अर्थ लोकप्रसिद्धिसे यव, धान आदि है।

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

पदच्छेद—पृथिवी, अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ।

पदार्थोक्ति—पृथिवी—अन्नशब्देनात्र पृथिव्येवोच्यते न ओदनादि, [कुतः] अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः—'तत्तेजोऽसृजत' इति महाभूतोत्पत्त्यधिकारात्, 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति पृथिवीत्वज्ञापककृष्णरूपस्य श्रवणात्, 'अद्भ्यः पृथिवी' इति पृथिव्या एव तज्जन्यत्वप्रतिपादकशब्दान्तरस्य सत्त्वाच्च ।

भाषार्थ—अन्न शब्दसे यहांपर पृथिवी ही कही जाती है, ओदन आदि नहीं लिये जाते, क्योंकि 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेजकी सृष्टि की) इस प्रकार महाभूतोंकी उत्पत्तिका प्रकरण है, 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' (जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है) इस प्रकार पृथिवीत्वके ज्ञापक कृष्णरूपका श्रवण है और 'अद्भ्यः पृथिवी' (जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई) इस प्रकार पृथिवी ही जलसे जन्य है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली दूसरी श्रुति है ।

भाष्य

'ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त' (छा० ६।२।४) इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमनेनाऽन्नशब्देन व्रीहि-

भाष्यका अनुवाद

'ता आप ऐक्षन्त०' (जलने विचार किया कि हम बहुत हों, प्रजारूपसे जन्म प्राप्त करें, अतः उसने अन्न उत्पन्न किया) ऐसी श्रुति है । यहांपर

रत्नप्रभा

पृथिवीति । विषयम् उक्त्वा अन्नशब्दमहाभूतप्रकरणाभ्यां संशयमाह—ता इति । अभ्यवहार्यम्—भक्ष्यम्, अत्र श्रुतौ यदि अन्नम् ओदनादिकम्, तदा

रत्नप्रभाका अनुवाद

"पृथिवी" इत्यादि । अधिकरणका विषय कहकर अन्न शब्द और महाभूतोंके प्रकरणसे सन्देह कहते हैं—"ताः" इत्यादिसे । अभ्यवहार्य—भक्ष्य अर्थात् भक्षणके योग्य ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यहाँपर अन्न शब्दका अर्थ पृथिवी है, क्योंकि महाभूतोंकी सृष्टि प्रस्तुत है । और दूसरी बात यह है कि 'यदग्ने रोहितम्' (अग्निका जो रक्तरूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्लरूप है वह जलका है और जो कृष्णरूप है वह अन्नका है) ऐसी श्रुति है सो कृष्णरूप बहुधा पृथिवीमें पाया जाता है, धान, जौ आदिमें नहीं पाया जाता । तथा 'अद्भ्यः पृथिवी' इस तैत्तिरीयक श्रुतिके साथ एकवाक्यता होनेसे यहांपर अन्न पृथिवी ही है । और अन्न शब्दकी पृथिवीमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि कार्य और कारणमें अभेदकी विवक्षासे वह उपपन्न है । इससे सिद्ध हुआ कि 'अन्न' शब्दसे पृथिवी ही विवक्षित है ।

भाष्य

यवाद्यभ्यवहार्यं वा ओदनाद्युच्यते किं वा पृथिवीति। तत्र प्राप्तं तावद् व्रीहियवाद्योदनादि वा परिग्रहीतव्यमिति तत्र ह्यन्नशब्दः प्रसिद्धो लोके, वाक्यशेषोऽप्येतमर्थमुपोद्बलयति 'तस्माद्यत्र क्वचन वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवतीति'। व्रीहियवाद्येव हि सति वर्षणे बहु भवति न पृथिवीति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पृथिव्येवेयमन्नशब्देनाऽद्भ्यो जायमाना विवक्ष्यत इति। कस्मात्? अधिकाराद्, रूपात्, शब्दान्तराच्च। अधिकारस्तावत्—'तत्तेजोऽसृजत' 'तदपोऽसृजत' इति महाभूतविषयो वर्तते। तत्र क्रमप्राप्तां

भाष्यका अनुवाद

संशय होता है कि क्या इस अन्नशब्दसे व्रीहि, यव आदि कहे जाते हैं अथवा भक्ष्य ओदन आदि या पृथिवी कही जाती है।

पूर्वपक्षी—इसमें व्रीहि, यव आदि या ओदनादिका परिग्रहण करना उचित है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि लोकमें अन्नशब्द उसी अर्थमें प्रसिद्ध है, और 'तस्माद्यत्र क्वचन०' (इससे जहां कहीं वृष्टि होती है, वहां बहुतसा अन्न होता है) यह वाक्यशेष भी इसी अर्थको पुष्ट करता है, क्योंकि वृष्टि होनेपर व्रीहि, यव आदि ही बहुत होते हैं, पृथिवी बहुत नहीं होती।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं कि अन्नशब्दसे जलसे उत्पन्न हुई पृथिवी ही विवक्षित है। किससे? अधिकारसे, रूपसे और अन्य श्रुतियोंसे। अधिकारको दिखलाते हैं 'तत्तेजोऽसृजत'

रत्नप्रभा

'अद्भ्यः पृथिवी' (तै० २।१।२) इति श्रुत्या विरोधः, यदि पृथिवी, तदा न विरोध इति फलं बोध्यम्। अप्पृथिव्योः कार्यकारणभावाद् अधिकरणसङ्गतिः। अन्नश्रुतिवृष्टिभवनत्वलिङ्गाभ्यां पूर्वपक्षः। तदेव—तत्रैव इति श्रुत्यर्थः। तथा च क्वचिद् अन्नम्, क्वचिद् अद्भ्यः पृथिवी ततोऽन्नमिति विरोधात् न एकवाक्यता।

इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इति। अधिकारः—प्रकरणम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि इस श्रुतिमें अन्नशब्दसे ओदनादिका ग्रहण किया जाय, तो 'अद्भ्यः पृथिवी' (जलसे पृथिवी) इस श्रुतिके साथ विरोध होगा। अगर अन्नशब्दका अर्थ पृथ्वी करें, तो उक्त श्रुतिके साथ विरोध नहीं होगा, ऐसा फल जानना चाहिए। जल और पृथ्वीका कार्यकारण-भाव होनेसे अधिकरणके साथ सङ्गति है। अन्नश्रुति और वृष्टिभवनरूप लिङ्गसे पूर्वपक्ष है। 'तदेव'—वहींपर ऐसा श्रुतिका अर्थ है। इसलिए कहींपर अन्न और कहींपर जलसे पृथिवी, और उससे अन्न, ऐसा विरोध होनेसे (श्रुतियोंकी परस्पर) एकवाक्यता नहीं है।

भाष्य

पृथिवीं महाभूतं विलङ्घ्य नाऽकस्माद् व्रीह्यादिपरिग्रहो न्याय्यः। तथा रूपमपि वाक्यशेषे पृथिव्यनुगुणं दृश्यते—'यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति, न ह्योदनादेरभ्यवहार्यस्य कृष्णत्वनियमोऽस्ति, नाऽपि व्रीह्यादीनाम्। ननु पृथिव्या अपि नैव कृष्णत्वनियमोऽस्ति, पयःपाण्डुरस्याऽङ्गाररोहितस्य च क्षेत्रस्य दर्शनात्। नाऽयं दोषः, बाहुल्यापेक्षत्वात्। भूयिष्ठं हि पृथिव्याः कृष्णं रूपं न तथा श्वेतरोहिते। पौराणिका अपि पृथिवीच्छायां शर्वरीमुपदिशन्ति, सा च कृष्णाभासेत्यतः कृष्णं रूपं पृथिव्या इति श्लिष्यते। श्रुत्यन्तरमपि समानाधिकारम्—'अद्भ्यः पृथिवी' इति भवति, 'तद्यदपां शर

भाष्यका अनुवाद

(उसने तेजकी सृष्टि की) 'तदपोऽसृजत' (उसने जलकी सृष्टि की) इस प्रकार महाभूतविषयक अधिकार है। उसमें क्रमप्राप्त पृथिवीरूप महाभूतका त्याग करके अकस्मात् व्रीहि आदिका ग्रहण उचित नहीं है। इसी प्रकार 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' (जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है) इस वाक्यशेषमें रूप भी पृथिवीके अनुकूल दिखता है, क्योंकि ओदनादि भक्ष्यका कृष्णरूप है, ऐसा नियम नहीं है, और व्रीहि, यव आदिका भी कृष्णरूप है, ऐसा नियम नहीं है। पृथिवीका भी कृष्णरूप है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि दूध-सा सफेद और अंगार-सा लाल खेत दिखाई देता है? यह दोष नहीं है, कारण कि बाहुल्यकी अपेक्षासे यह कहा है, पृथिवीका बहुधा कृष्ण ही रूप है श्वेत या रक्त नहीं है। पौराणिक भी पृथिवीकी छायाको रात्रि कहते हैं, और रात्रि कृष्ण है, अतः पृथिवीका रूप कृष्ण है, यह कथन घटता है। और समान अधिकारमें अन्य श्रुतियां भा हैं, 'अद्भ्यः पृथिवी' (जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई)

रत्नप्रभा

रूपम्—लिङ्गम्। पयः—क्षीरम् तद्वत् पाण्डुरम्—श्वेतम्। अङ्गारवद् रोहितम्—रक्तम्। शब्दान्तरशब्दितं स्थानं व्याचष्टे—श्रुत्यन्तरमपीति। अबानन्तर्यं पृथिव्याः स्थानम्, श्रुत्यन्तरसिद्धान्तेनाऽपि अन्नस्य पृथिवीत्वमित्यर्थः। तत्—तत्र

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। अधिकार—प्रकरण। रूप—लिङ्ग। पय—दूध, उसके समान पाण्डुर—श्वेत। अङ्गार-सा लाल। शब्दान्तर शब्दसे परिगृहीत स्थानकी व्याख्या करते हैं—"श्रुत्यन्तरमपि" इत्यादिसे। पृथ्वीका स्थान जलके अनन्तर है, अन्य श्रुतिके निर्णयसे भी अन्न पृथिवी है, ऐसा अर्थ है। सृष्टिकालमें जलका शर—मण्डके समान

भाष्य

आसीत्तत्समहन्यत' सा पृथिव्यभवत्' (बृ० १।२।२) इति च। पृथिव्यास्तु व्रीह्यादेरुत्पत्तिं दर्शयति—'पृथिव्या ओषधय ओषधीभ्योऽन्नम्' इति च। एवमधिकारादिषु पृथिव्याः प्रतिपादकेषु सत्सु कुतो व्रीह्यादिप्रतिपत्तिः। प्रसिद्धिरप्यधिकारादिभिरेव बाध्यते। वाक्यशेषोऽपि पार्थिवत्वा-

भाष्यका अनुवाद

और 'तद्यदपां शरः' (उस सृष्टि कालमें जलका जो फेन था वही कठिन हुआ और वह पृथिवी हुई) इत्यादि 'पृथिव्या ओषधयः०' (पृथिवीसे ओषधियां और औषधियोंसे अन्न) ऐसी श्रुति पृथिवीसे व्रीहि आदिकी उत्पत्ति दिखलाती है। इस प्रकार पृथिवीरूप अर्थके प्रतिपादक अधिकार आदिके रहते हुए अन्न शब्दसे व्रीहि आदिका ज्ञान कैसे होगा। प्रसिद्धिका भी अधिकार आदिसे बाध होता है। वाक्यशेष भी अन्नादिके पार्थिव होनेसे उनके द्वारा

रत्नप्रभा

सृष्टिकाले यदपां शरः यो मण्डवद् घनीभाव आसीत्, स एव समहन्यत कठिनः संघातोऽभूत, सा अपां कठिना परिणतिः पृथिवी अभवदिति श्रुत्यर्थः। व्रीह्याद्यन्नसर्गः कस्मिन् स्थाने इति विवक्षायामाह—**पृथिव्यास्त्विति**। पञ्चमी इयम्। वृष्टिभवत्वलिङ्गसहितान्नश्रुतेः कथं प्रकरणलिङ्गस्थानैः बाध इत्याशङ्क्य आह—**वाक्यशेषोऽपीति**। प्रबलदुर्बलप्रमाणसन्निपाते बहूनां दुर्बलानाम् अत्यन्तबाधाद् वरं प्रबलप्रमाणस्याऽल्पबाधेन कथञ्चित् नयनमिति न्यायेन श्रुतिलिङ्गयोः अन्नमात्रनिष्ठत्वं बाधित्वा अन्नानन्नात्मकपृथिवीनिष्ठत्वं नीयते, ताभ्याम् अन्नमात्रग्रहे प्रकरणादीनां पृथिवीमात्रविषयाणाम् अत्यन्तबाधापत्तेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो घन भाग था वही कठिन संघीभूत हुआ, जो जलका कठिन परिणाम था वही पृथ्वी हुई, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। धान आदिकी सृष्टि किस स्थानमें है? इस विवक्षामें कहते हैं—"पृथिव्यास्तु" इत्यादिसे। यह पञ्चमी है। प्रकरण, लिङ्ग और स्थानसे वृष्टिभवनरूप लिङ्ग सहित अन्न श्रुतिका कैसे बाध होगा? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—"वाक्यशेषोऽपि" इत्यादिसे। 'प्रबल (श्रुति, लिङ्ग) और दुर्बल (प्रकरणादि) प्रमाणोंके एकत्र प्राप्त होनेपर अनेक दुर्बल प्रमाणोंके अत्यन्त—सर्वथा बाधकी अपेक्षा प्रबल प्रमाणका अल्पबाध (अर्थान्तर नयन) करके उसको कथञ्चित् उपलक्षण मानना श्रेष्ठ है', इस न्यायसे श्रुति और लिङ्ग, जिनका तात्पर्य्य केवल अन्नमें ही है, उनका बाध करके अन्नरूप और अनन्नरूप पृथिवीका तात्पर्य्य लेकर उनको गौण मानना युक्त है, क्योंकि श्रुति और लिङ्गसे अन्नमात्रका ग्रहण होनेपर पृथिवीमात्रबोधक प्रकरणादिका अत्यन्त बाध प्रसक्त होगा, ऐसा भाव है।

भाष्य

दन्नाद्यस्य तद्द्वारेण पृथिव्या एवाऽद्भ्यः प्रभवत्वं सूचयतीति द्रष्टव्यम् । तस्मात् पृथिवीयमन्नशब्देति ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

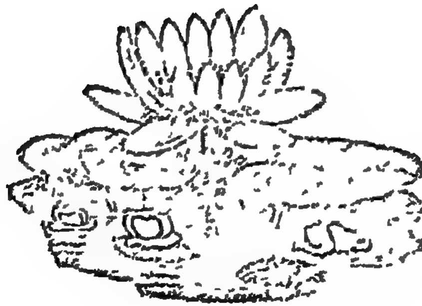
पृथिवीका ही जलसे उत्पन्न होना सूचन करता है, ऐसा जानना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि 'अन्न' शब्द पृथिवीका वाचक है ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

इति भावः । अन्नस्य वृष्टिजत्वोक्तिद्वारा पृथिव्या अब्जन्यत्वं सूच्यते । पृथिवी अब्जा, पृथिवीत्वात्, अन्नवद्, इत्यनुमानात् इत्यक्षरार्थः । एवं तित्तिरिश्रुत्यनुसारेण छन्दोगश्रुतेः नयनाद् अविरुद्धो भूतसृष्टिश्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वय इति सिद्धम् ॥१२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'अन्न वृष्टिसे उत्पन्न होता है' इस वचन द्वारा 'पृथिवी जलजन्य है, ऐसा सूचित होता है। पृथिवी जलसे उत्पन्न है, पृथ्वी होनेसे, अन्नके समान, इस अनुमानसे, ऐसा अक्षरार्थ है। इस प्रकार तित्तिरिश्रुतिके अनुसार छान्दोग्यश्रुतिको गौण माननेसे भूतसृष्टिवाचक श्रुतियोंका ब्रह्ममें समन्वय अविरुद्ध है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥१२॥



[७ तदभिध्यानाधिकरण सू० १३]

व्योमाद्याः कार्यकर्तारो ब्रह्म वा तदुपाधिकम् ।
व्योम्नो वायुर्वायुतोऽग्निरित्युक्तेः खादिकर्तृता ॥१॥
ईश्वरोऽन्तर्यमयतीत्युक्तेर्व्योमाद्युपाधिकम् ।
ब्रह्म वाय्वादिहेतुः स्यात्तेजआदीक्षणादपि* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—आकाश आदि स्वयं ही कार्यके उत्पादक हैं या आकाशोपाधिक—आकाशरूपापन्न ब्रह्म कार्यका उत्पादक है ? ।

पूर्वपक्ष—श्रुतिमें आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि उत्पन्न हुई ऐसा कहा गया है, इससे केवल आकाश आदि ही उत्पादक हैं ।

सिद्धान्त—'ईश्वर अन्तर्यामी है' इस कथनसे और तेज आदिके ईक्षणपूर्वक स्रष्टृत्वके कथनसे भी यह प्रतीत होता है कि आकाशोपाधिक ब्रह्म ही वायु आदिका उत्पादक है ।

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः ॥ १३ ॥

पदच्छेद—तदभिध्यानाद्, एव, तु, तल्लिङ्गात्, सः ।

पदार्थोक्ति—सः—परमेश्वरः, तदभिध्यानादेव—तत्तत्कार्यगोचरेक्षणात्मकाभिध्यानादेव, [ईक्षितभूताधिष्ठाता सन् तत्तत्कार्यं सृजति, कुतः] तल्लिङ्गात्—तस्य परमात्मनः सर्वनियन्तृत्वरूपलिङ्गस्य 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादिना श्रुतत्वात् । [अतो भूतानां परमेश्वराधिष्ठितानामेव स्रष्टृत्वप्रतिपादकत्वेनाऽनयोरेकवाक्यत्वात्] ।

भाषार्थ—परमेश्वर ही तत्-तत् कार्यविषयक ईक्षणात्मक अभिध्यानसे ही ईक्षित भूतोंका अधिष्ठाता होकर तत्-तत् कार्यको उत्पन्न करता है, क्योंकि 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' (जो पृथिवीमें रहता हुआ) इत्यादिसे उस परमात्माका सर्वनियन्तृत्वरूप लिङ्ग सुना गया है । इसलिए परमेश्वरसे अधिष्ठित ही भूत स्रष्टा हैं [केवल भूत नहीं] ऐसा प्रतिपादन करनेसे उक्त श्रुतियोंकी एकवाक्यता है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—'पूर्व अधिकरणोंमें पूर्व पूर्व कार्यके रूपको प्राप्त हुए ब्रह्मसे उत्तरोत्तर कार्यकी उत्पत्ति होती है' ऐसा जो सिद्धवत् मानकर सिद्धान्त किया है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि 'आकाशाद् वायुः' (आकाशसे वायु) 'वायोरग्निः' (वायसे अग्नि हुई)

भाष्य

किमिमानि वियदादीनि भूतानि स्वयमेव स्वविकारान् सृजन्त्याहोस्वित् परमेश्वर एव तेन तेनाऽऽत्मनाऽवतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजतीति सन्देहे सति प्राप्तं तावत् स्वयमेव सृजन्तीति। कुतः ? 'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' इत्यादिस्वातन्त्र्यश्रवणात्। नन्वचेतनानां स्वतन्त्रा-

भाष्यका अनुवाद

क्या ये आकाशादि भूत, आपही अपने विकारोंको उत्पन्न करते हैं या परमात्मा ही तत् तत् स्वरूपसे ईक्षण करता हुआ उन उन विकारोंको उत्पन्न करता है, ऐसा सन्देह होनेपर,

पूर्वपक्षी—ये भूत स्वयं ही अपने विकारोंको उत्पन्न करते हैं ऐसा प्राप्त होता है। किससे ? इससे कि 'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' (आकाशसे वायु उत्पन्न हुआ है और वायुसे अग्नि उत्पन्न हुई) इस प्रकार स्वतन्त्रताकी

रत्नप्रभा

सम्प्रति तानि भूतानि आश्रित्य आश्रयाश्रयिभावसङ्गत्या तेषां स्वातन्त्र्यम् आशङ्क्य निषेधति—तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः। उक्तभूतानि आश्रित्य संशयपूर्वपक्षौ दर्शयति—किमिमानीत्यादिना। संशयबीजानुक्तौ पूर्वोत्तरपक्षयुक्तयो बीजम् इति ज्ञेयम्। नन्वत्र भूतानां किं स्वातन्त्र्येण उपादानत्वम् आशङ्क्यते, कर्तृत्वं वा ? नाद्यः, 'रचनानुपपत्तेः' इत्यादिन्यायविरोधात् इति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब उक्त भूतोंका आश्रय करके आश्रयाश्रयिभाव सङ्गतिसे उनकी (भूतोंकी) स्वतन्त्रताकी आशङ्का करके निषेध करते हैं—"तदभिध्यानादेव" इत्यादिसे। पूर्वोक्त भूतोंके आश्रयसे संशय और पूर्वपक्ष दिखलाते हैं—"किमिमानि" इत्यादिसे। संशयबीजके न कहनेपर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षकी युक्तियां संशयके बीज हैं, ऐसा जानना चाहिए। यहाँपर स्वतन्त्र (चेतननिरपेक्ष) भूत उपादान हैं, ऐसी शङ्का करते हो ? अथवा उनमें (भूतोंमें) कर्तृत्वकी शङ्का करते हो ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि 'रचनानुपपत्तेः' इत्यादि न्यायसे विरोध है,

इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मनिरपेक्ष—केवल आकाश आदिसे उत्तर कार्य—वायु आदिकी उत्पत्ति प्रतिपादित है।

सिद्धान्ती कहते हैं—अन्तर्यामी ब्राह्मणमें 'य आकाशमन्तरो यमयति' (जो आकाशके अन्दर रहकर आकाशका नियन्त्रण करता है, जो वायुके अन्दर रहकर वायुका नियन्त्रण करता है) इत्यादिसे आकाश आदिकी स्वतन्त्रताका खण्डन किया है। 'तथा तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' (उस तेजने ईक्षण किया, जलने ईक्षण किया) इस प्रकार श्रुति तेज आदिके ईक्षणपूर्वक स्रष्टृत्वका प्रतिपादन करती है। वह ईक्षण चेतन ब्रह्मकी अपेक्षा न रखनेवाले अचेतन आकाश आदिमें नहीं घट सकता, इससे सिद्ध हुआ कि आकाशोपाधिक ब्रह्म ही कारण है।

भाष्य

णां प्रवृत्तिः प्रतिषिद्धा । नैष दोषः, 'तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६।२।४) इति च भूतानामपि चेतनत्वश्रवणादिति ।

भाष्यका अनुवाद

प्रतीति होती है । परन्तु स्वतन्त्र—चेतनकी सहायताके बिना अचेतनोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकता, यह दोष नहीं, क्योंकि 'तत्तेज ऐक्षत०' (उस तेजने विचार किया, उस जलने विचार किया) इस प्रकार भूतोंकी भी चेतनताका श्रुतिमें प्रतिपादन है ।

रत्नप्रभा

शङ्कते—नन्विति । न द्वितीयः, अचेतनत्वात् इति भावः । यथा मनुष्यादि-शब्दैः तत्तद्देहाभिमानिनो जीवा उच्यन्ते, तथा 'आकाशाद्वायुः' (तै० २।१।२) इत्यादिश्रुतौ आकाशादिशब्दैः तत्तद्भूताभिमानिदेवता उच्यन्ते, तासां स्वकार्ये वाय्वादौ कर्तृत्वसम्भवात् निरपेक्षनिमित्तत्वं पञ्चम्यर्थः । एवम् 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २।७।४) इति श्रुतौ स्वयमिति विशेषणाद् ब्रह्मणोऽन्यानपेक्षसर्वकर्तृत्वसम्भवात् निरपेक्षनिमित्तत्वं श्रुतम्। तथा च मिथो निरपेक्षेश्वर-भूतकर्तृश्रुत्योः विरोधात् न ब्रह्मणि समन्वय इति सफलं पूर्वपक्षमाह—नैष दोष इति । भूतानाम्—तदभिमानिदेवतानामित्यर्थः । यथा आकाशादिभावापन्नब्रह्मणः सर्वोपादानत्वं तथा तदभिमानिदेवताजीवभावम् आपन्नब्रह्मणः कर्तृत्वमिति परम्परया ईश्वरकर्तृत्वश्रुत्यविरोधः । स्वयमिति विशेषणम् ईश्वरान्तरनिरासार्थम् न जीवभावापेक्षानिरासार्थमित्येकदेशिसिद्धान्त ऊहनीयः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । भूतोंके (स्वयं) अचेतन होनेसे द्वितीय पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा भाव है । जैसे मनुष्य आदि शब्दोंसे उन उन शरीरोंके अभिमानी जीव कहे जाते हैं, वैसे 'आकाशाद्वायुः' (आकाशसे वायु उत्पन्न हुआ) इत्यादि श्रुतियोंमें आकाश आदि शब्दोंसे उन उन भूतोंके अभिमानी देवता कहे जाते हैं, उनको (अभिमानी देवताओंको) अपने वायु आदि कार्यमें कर्तृत्वके सम्भव होनेसे पञ्चमीका निरपेक्ष कारण अर्थ है । इसी प्रकार 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (उसने आत्माकी स्वयं रचना की) इस श्रुतिमें 'स्वयम्' विशेषणसे ब्रह्ममें अन्यनिरपेक्ष सर्वकर्तृत्वके सम्भव होनेसे (उसमें) निरपेक्षकारणत्व श्रुतिसे प्रतिपादित हुआ । इसलिए परस्पर निरपेक्ष ईश्वरकर्तृत्व और भूतकर्तृत्व श्रुतियोंके विरोध होनेसे ब्रह्ममें समन्वय नहीं है, ऐसा सफल पूर्वपक्ष कहते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। भूतोंकी—उनके अभिमानी देवताओंकी, ऐसा अर्थ है । जैसे आकाश आदि रूपापन्न ब्रह्म सबका उपादान है, वैसे उनके अभिमानी देवता और जीवके भावको प्राप्त हुआ ब्रह्म कर्ता है,

भाष्य

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—स एव परमेश्वरस्तेन तेनाऽऽत्मनाऽवतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजतीति। कुतः? तल्लिङ्गात्। तथा हि शास्त्रम्—'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति' (बृ० ३।७।३) इत्येवंजातीयकं साध्यक्षाणामेव भूतानां प्रवृत्तिं दर्शयति। तथा 'सोऽकामयत बहु स्यां

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—वही परमेश्वर उस उस स्वरूपसे अवस्थित होकर अभिध्यान करता हुआ उस उस विकारको उत्पन्न करता है। किससे? उसके लिङ्गसे, क्योंकि 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' (जो पृथिवीमें रहता हुआ पृथिवीका अभ्यन्तर है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है, जो अभ्यन्तरमें रहकर पृथिवीका नियन्त्रण करता है) इस प्रकारकी श्रुति अध्यक्ष सहित ही भूतोंकी प्रवृत्ति दिखलाती है। इसी प्रकार 'सोऽकामयत०' (उसने इच्छा की

रत्नप्रभा

मुख्यसिद्धान्तमाह—एवं प्राप्ते इति। आकाशादिशब्दैः न देवतालक्षणा मुख्यार्थे बाधकाभावात्, पञ्चम्यश्च प्रकृतित्वार्थाः, तत्र रूढतरत्वात, तथा च अचेतनानां भूतानां कर्तृत्वमेव नास्ति, कुतः ईश्वरानपेक्षकर्तृत्वम्? यद्यपि देवतानां कर्तृत्वं सम्भवति, तथापि ईश्वरनियम्यत्वश्रवणात् चेतनानामपि न स्वातन्त्र्यम्, किमु वाच्यम् अचेतनानां भूतानां न स्वातन्त्र्यम्? इति मत्वा उक्तम्—तल्लिङ्गादिति। तत्तदचेतनात्मनाऽवस्थितस्य ब्रह्मणः उपादानत्वेऽपि जीवव्यावृत्तेश्वरत्वाकारेणैव साक्षात् सर्वकर्तृत्वं न जीवत्वद्वारा, तस्य सर्वनियन्तृत्वलिङ्गाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए परम्परासे ईश्वर कर्ता है, अतः श्रुति विरोध नहीं है। 'स्वयम्' विशेषण तो अन्य ईश्वरके निरासके लिए है, न कि जीवमात्रापेक्षाके निरासार्थ है, ऐसा एकदेशिसिद्धान्त समझना चाहिए।

मुख्यसिद्धान्ती कहते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। आकाश आदि शब्द देवता अर्थमें लाक्षणिक नहीं हैं, क्योंकि मुख्य अर्थमें बाधक नहीं है, पञ्चमियां प्रकृति (उपादान) रूप अर्थका बोधन करती हैं, क्योंकि उस अर्थमें रूढ हैं, इस प्रकार अचेतन भूतोंका कर्तृत्व ही नहीं है, तो ईश्वरनिरपेक्षकर्तृत्व उनमें कहाँसे होगा? यद्यपि देवताओंमें कर्तृत्व हो सकता है, तथापि 'वे ईश्वरके नियम्य हैं' ऐसी श्रुति होनेसे चेतनोंका भी स्वातन्त्र्य नहीं है, तो इसमें कहना ही क्या है कि 'अचेतनभूत स्वतन्त्र नहीं हैं, ऐसा मानकर कहते हैं—"तल्लिङ्गात्" इत्यादिसे। तत्-तत् अचेतन रूपसे अवस्थित ब्रह्मके उपादन होनेपर भी जीवसे व्यावृत्त ईश्वरत्व आकारसे ही वह साक्षात् सबका कर्ता है, जीव द्वारा नहीं, क्योंकि

भाष्य

प्रजायेय' इति प्रस्तुत्य 'सच्च त्यच्चाभवत्' 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २।६।१) इति च तस्यैव च सर्वात्मभावं दर्शयति। यत्त्वीक्षणश्रवणमप्तेजसोस्तत्परमेश्वरावेशवशादेव द्रष्टव्यम् 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'

भाष्यका अनुवाद

मैं बहुत होऊँ, प्रजारूपमें उत्पन्न होऊँ) इस तरह उपक्रम करके 'सच्च त्यच्चाभवत्' 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (वह सत्—मूर्त्त और त्यत्—अमूर्त्त हुआ, उसने—सच्छब्दवाच्यने आप ही अपनेको उत्पन्न किया) इस प्रकार उसका ही सर्वात्मभाव दिखलाती है। जल और तेजकी जो ईक्षणश्रुति है, वह परमेश्वरके आवेशके अधीन ही है, ऐसा समझना चाहिए, कारण कि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (इस-

---

रत्नप्रभा

इत्यर्थः। प्रकरणाच्च साक्षात् सर्वकर्तृत्वमित्याह—तथेति। पूर्वोक्तम् अनूद्य निरस्यति—यत्त्विति। परमेश्वरस्याऽन्तर्यामिभावेन आवेशः—सम्बन्धः। तद्वशाद् भूतेषु ईक्षणश्रवणम्, नैतावता तेषां चेतनत्वं स्वातन्त्र्यं वेत्यर्थः। अनेन तदभिध्यानादिति पदं व्याख्यातम्। इत्थं सूत्रयोजना—सः ईश्वरः तत्तदात्मना स्थितोऽपि साक्षादेव सर्वकर्ता तस्य अन्तर्यामित्वलिङ्गात्। जीवत्वद्वारा कर्तृत्वं नाम जीवस्यैव कर्तृत्वम् इति अन्तर्यामिणः कर्तृत्वासिद्धेः अन्तर्यामित्वायोगात्, तदभिध्यानाद् ईश्वरेक्षणादेव भूतेषु श्रुतेक्षणोपपत्तेश्चेति। 'तत्तेज ऐक्षत' (छा० ६।२।३) इति श्रुत ईक्षिता परमात्मैव इत्यत्र श्रुत्यन्तरं प्रकरणं चाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

वह (ईश्वर) सबका नियामक है, ऐसा लिङ्ग है, यह अर्थ है। प्रकरणसे भी ब्रह्म साक्षात् सबका कर्ता है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। पूर्वोक्तका अनुवाद करके निरसन करते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे। परमेश्वरका अन्तर्यामिरूपसे सम्बन्ध ही आवेश है। उस सम्बन्धके अधीन भूतोंमें ईक्षणका श्रवण है, इतने ही से वे चेतन या स्वतन्त्र नहीं हो सकते हैं, ऐसा अर्थ है। इसीसे 'तदभिध्यानात्' इस पदका व्याख्यान हुआ। सूत्रकी योजना इस प्रकार करनी चाहिए—वह ईश्वर तत्-तत् स्वरूपसे अवस्थित है, तो भी साक्षात् ही सबका कर्ता है, क्योंकि अन्तर्यामित्व लिङ्ग है। और जीवत्व द्वारा कर्तृत्व तो जीवका ही कर्तृत्व है, इससे अन्तर्यामीका कर्तृत्व असिद्ध होनेसे अन्तर्यामित्वका अयोग होगा, अतः उसके अभिध्यान—ईश्वरके ईक्षणसे ही भूतोंमें श्रुतिप्रतिपादित ईक्षण उपपन्न है, इसलिए 'तत्तेज ऐक्षत' इस श्रुतिसे प्रतिपादित ईक्षिता परमात्मा ही है, इसमें अन्य श्रुति और प्रकरणको कहते हैं—"नान्य" इत्यादिसे।

भाष्य

(बृ० ३।७।२३) इतीक्षित्रन्तरप्रतिषेधात्, प्रकृतत्वाच्च सत ईक्षितुः 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यत्र ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

से अन्य द्रष्टा नहीं है) इससे अन्य द्रष्टाका प्रतिषेध है, और 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इसमें सत् द्रष्टा प्रकृत है ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

नान्य इति । तस्माद् ईश्वरपदार्थलोपप्रसङ्गेन ईश्वराद् अन्यस्य स्वातन्त्र्याभावाद् न ईश्वरकर्तृत्वश्रुतेः भूतश्रुत्या विरोध इति सिद्धम् ॥ १३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इससे ईश्वर पदार्थका लोप प्रसक्त होनेसे और ईश्वरसे अन्यमें स्वातन्त्र्य न होनेसे ईश्वरकर्तृत्व-श्रुतिका भूतश्रुतिसे विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥१३॥

[८ विपर्ययाधिकरण सू० १४]

सृष्टिक्रमो लये ज्ञेयो विपरीतक्रमोऽथवा ।
क्लृप्तं कल्प्याद्वरं तेन लये सृष्टिक्रमो भवेत् ॥१॥
हेतावसति कार्यस्य न सत्त्वं युज्यते ततः ।
पृथिव्यप्स्विति चोक्तत्वाद् विपरीतक्रमो लये* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—जो सृष्टिक्रम है वही क्रम प्रलयमें समझना चाहिए अथवा उससे विपरीत क्रम समझना चाहिए ।

पूर्वपक्ष—कल्पनीय क्रमकी अपेक्षा कल्पित क्रम श्रेष्ठ है, अतः प्रलयमें सृष्टिक्रम हो सकता है, अर्थात् सृष्टिक्रमके अनुसार प्रलयक्रम भी हो सकता है ।

सिद्धान्त—चूंकि कारणके अभावमें कार्यका अस्तित्व नहीं बन सकता है और पृथिवी जलमें लीन होती है ऐसा श्रुतिमें प्रतिपादित है, अत एव प्रलयमें क्रम विपरीत है, अर्थात् प्रलयक्रम सृष्टिक्रमकी अपेक्षासे विपरीत है ।

* आशय यह कि पूर्वपक्षी कहता है—सृष्टिमें आकाश आदि क्रम प्रसिद्ध है अतएव प्रलयमें भी वही क्रम माना जाय ।

सिद्धान्ती कहते हैं—कारणके पहले लीन हो जानेपर उपादानरहित कार्योंकी कुछ काल तक स्थिति माननी पड़ेगी । और दूसरी बात यह है–

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥१४॥

पदच्छेद—विपर्ययेण, तु, क्रमः, अतः, उपपद्यते, च ।

पदार्थोक्ति—तु—किन्तु, अतः—उत्पत्तिक्रमाद्, विपर्ययेण—विपरीतक्रमेणैव, क्रमः—लयक्रमः [अस्ति, स्वकारणे कार्य्याणां लयदर्शनात्] उपपद्यते च—व्युत्क्रमेणैव लयक्रमः सम्भवति च [अन्यथा सति कार्ये कारणनाशादनिष्टापत्तिः स्यात्] ।

भाषार्थ—किन्तु उत्पत्तिक्रमसे विपरीतक्रमसे ही प्रलयक्रम है, क्योंकि अपने कारणमें कार्योंका लय देखा जाता है और विपरीतक्रमसे ही लयक्रमका सम्भव है अन्यथा कार्यके अस्तित्वमें कारणका नाश होनेसे अनिष्टापत्ति होगी ।

भाष्य

भूतानामुत्पत्तिक्रमश्चिन्तितः । अथेदानीमप्ययक्रमश्चिन्त्यते—किमनियतेन क्रमेणाऽप्यय उतोत्पत्तिक्रमेणाऽथवा तद्विपरीतेनेति । त्रयोऽपि चोत्पत्तिस्थितिप्रलया भूतानां ब्रह्मायत्ताः श्रूयन्ते—'यतो वा इमानि भूतानि

भाष्यका अनुवाद

भूतोंके उत्पत्तिक्रमका निर्णय किया जा चुका है । अब प्रलयके क्रमका विचार किया जाता है । क्या अनियतक्रमसे प्रलय होता है, या उत्पत्तिके क्रमसे, अथवा उसके विपरीत क्रमसे । भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय

रत्नप्रभा

विपर्ययेण त्विति । यद्यपि अत्र श्रुतिविरोधो न परिह्रियते इति असङ्गतिः, तथापि उत्पत्तिक्रमे निरूपिते लयक्रमो बुद्धिस्थो विचार्यते इति प्रासङ्गिक्यावेव

रत्नप्रभाका अनुवाद

"विपर्ययेण तु" इत्यादि । यद्यपि यहाँ श्रुतिके विरोधका परिहार नहीं किया जाता है, अतः सङ्गति नहीं प्रतीत होती है, तथापि उत्पत्तिक्रमके निरूपण होनेपर प्रलयक्रम बुद्धिपर आरूढ़

'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे ! पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥
वायुः प्रलीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते ।'

(हे नारदजी, जगत्की आधारभूता पृथिवी जलमें लीन होती है, जल अग्निमें लीन होता है, वायु आकाशमें लीन होता है और आकाश अव्यक्तमें लीन होता है) इस प्रकार पुराणमें विपरीत क्रमके उक्त होनेसे यह क्रम सिद्ध ही है । इससे सिद्ध हुआ कि सृष्टिक्रमसे विपरीत—पृथिवी आदिके क्रमसे प्रलय होता है ।

भाष्य

जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३।१।१) इति। तत्राऽनियमोऽविशेषादिति प्राप्तम्। अथवोत्पत्तेः क्रमस्य श्रुतत्वात् प्रलयस्याऽपि क्रमाकाङ्क्षिणः स एव क्रमः स्यादिति।

एवं प्राप्तं ततो ब्रूमः—विपर्ययेण तु प्रलयक्रमोऽत उत्पत्तिक्रमाद्

भाष्यका अनुवाद

ये तीनों ही 'यतो वा इमानि०' (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं और जिसके प्रति प्रयाण करते हैं—जिसमें लीन होते हैं) इस श्रुतिमें ब्रह्मके अधीन कहे गये हैं।

पूर्वपक्षी—श्रुतिमें किसी प्रकारका विशेष न होनेसे प्रलयके विषयमें कोई (क्रमका) निर्णय नहीं हो सकता है, अथवा उत्पत्तिक्रम श्रुतिमें कहा गया है, इससे क्रमाकाङ्क्षी प्रलयका वही [सृष्टिका ही] क्रम होगा।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होता है, अतः कहते हैं—प्रलयक्रम इससे अर्थात्

रत्नप्रभा

पादावान्तरसंगती इति मत्वाऽऽह—भूतानामिति। अत्रोत्पत्तिक्रमाद् विपरीतक्रमनिर्णयात् सिद्धान्ते भूतानां प्रातिलोम्येन लयध्यानपूर्वकं प्रत्यग्ब्रह्मणि मनःसमाधानं फलम्, पूर्वपक्षे तु कारणनाशे सति कार्यनाश इति सर्वलयाधारब्रह्मासिद्धेः उक्तसमाध्यसिद्धिरिति भेदः। सति महाभूतानां लये क्रमचिन्ता, स एव नास्तीति केचित्। तान् प्रत्याह—त्रयोऽपीति। अनियम इति अनास्थया उक्तम्, श्रौतस्य प्रलयस्य क्रमाकाङ्क्षायां श्रौत उत्पत्तिक्रम एव ग्राह्यः, श्रौतत्वेन अन्तरङ्गत्वात् इत्येवं पूर्वपक्षः।

सति कारणे कार्यं नश्यतीति लोके दृश्यते। तथा च श्रौतोऽप्युत्पत्तिक्रमो

रत्नप्रभाका अनुवाद

होता है, इससे पाद और अवान्तर—पूर्व अधिकरणकी सङ्गति प्रासङ्गिकी है ऐसा मानकर कहते हैं—"भूतानाम्" इत्यादिसे। यहाँ उत्पत्तिक्रमसे प्रलयक्रम विपरीत है, ऐसा निर्णय होनेसे सिद्धान्तमें भूतोंके प्रतिलोमतः लयध्यानपूर्वक प्रत्यक् ब्रह्ममें मनका समाधान फल है, और पूर्वपक्षमें तो कारणका नाश होनेपर कार्यका नाश होता है, इससे सम्पूर्ण लयके आधारभूत ब्रह्मकी असिद्धि होनेसे उक्त समाधान असिद्ध है, ऐसा भेद है। महाभूतोंका लय होनेपर क्रमका विचार होगा, परन्तु वह (प्रलय) है ही नहीं, ऐसा कोई मानते हैं। उनके प्रति कहते हैं—"त्रयोऽपि" इत्यादिसे। अनियम है, ऐसा आपाततः कहा है। श्रौतप्रलयके क्रमकी आकाङ्क्षामें श्रुतिमें प्रतिपादित उत्पत्तिक्रमका ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि श्रौत होनेके कारण अन्तरङ्ग है, ऐसा पूर्वपक्ष है।

कारणके रहनेपर भी कार्यका नाश होता है, ऐसा लोकमें देखा जाता है।

भाष्य

भवितुमर्हति। तथा हि लोके दृश्यते येन क्रमेण सोपानमारूढस्ततो विपरीतेन क्रमेणाऽवरोहतीति, अपि च दृश्यते मृदो जातं घटशरावाद्यप्ययकाले मृद्भावमप्येत्यद्भ्यश्च जातं हिमकरकाद्यब्भावमप्येतीति। अतश्चोपपद्यत एतत् यत् पृथिव्यद्भ्यो जाता सती स्थितिकालव्यतिक्रान्तावपोऽपीयादापश्च तेजसो जाताः सत्यस्तेजोऽपीयुः। एवं क्रमेण सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं चाऽनन्तरमनन्तरतरं कारणमपीत्य सर्वं कार्यजातं परमकारणं परमसूक्ष्मं च ब्रह्माप्ये-

भाष्यका अनुवाद

उत्पत्तिक्रमसे विपरीत होना चाहिए। क्योंकि जिस क्रमसे सीढ़ियोंपर चढ़ते हैं, उससे विपरीत क्रमसे उतरते हैं, ऐसा लोकमें देखा जाता है और मृत्तिकासे उत्पन्न हुए घट, शराव आदि प्रलयकालमें मृत्तिकारूप हो जाते हैं, और जलसे उत्पन्न हुए हिम, करक आदि जलस्वरूप हो जाते हैं, ऐसा देखनेमें आता है। और इससे भी यही उपपन्न होता है कि जलसे उत्पन्न हुई पृथिवी स्थितिकालका अवसान होनेपर जल हो जाती है और तेजसे उत्पन्न हुआ जल तेजमें लीन होता है। इसी प्रकार क्रमसे अनन्तर अनन्तरतर सूक्ष्म सूक्ष्मतर कारणमें लीन होकर सब कार्य परम कारण परम

रत्नप्रभा

लये न गृह्यते, किन्तु लौकिकक्रम एव गृह्यते, श्रुतेः लोकदृष्टपदार्थबोधाधीनत्वेन श्रौतादपि लौकिकस्याऽन्तरङ्गत्वात्, योग्यत्वाच्च। कारणमेव हि कार्यस्य स्वरूपमिति तदनन्यत्वन्यायेन स्थापितम्। नहि स्वरूपनाशे कार्यस्य क्षणमपि स्थितिः युक्ता, तस्माद् अयोग्य उत्पत्तिक्रमो लयस्य न ग्राह्यः, लौकिकक्रमावरोधेन निराकाङ्क्षत्वात् इति सिद्धान्तयति—ततो ब्रूम इत्यादिना। क्रमेण—परम्परया सर्वकार्यलयाधारत्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए उत्पत्तिक्रमके श्रौत होनेपर भी प्रलयमें वह नहीं लिया जाता है, किन्तु लौकिक क्रमका ही ग्रहण किया जाता है, क्योंकि श्रुति लोकमें दृष्ट पदार्थबोधके अधीन है, अतः श्रौतक्रमसे भी लौकिक क्रम अन्तरङ्ग और योग्य है। 'तदनन्यत्व' न्यायसे यह निश्चित किया जा चुका है कि कार्यका स्वरूप कारण ही है। स्वरूपके नाश होनेपर कार्यकी एक क्षण भी स्थिति नहीं हो सकती है, इससे अयोग्य उत्पत्तिक्रम प्रलयमें ग्राह्य नहीं है, क्योंकि लौकिक क्रमसे विरुद्ध होनेके कारण निराकाङ्क्ष है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"ततो ब्रूमः" इत्यादिसे। क्रमसे—

भाष्य

तीति वेदितव्यम् । नहि स्वकारणव्यतिक्रमेण कारणकारणे कार्याप्ययो न्याय्यः । स्मृतावप्युत्पत्तिक्रमविपर्ययेणैवाऽप्ययक्रमस्तत्र तत्र दर्शितः—

'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे ! पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥' इत्येवमादौ ।

उत्पत्तिक्रमस्तूत्पत्तावेव श्रुतत्वान्नाऽप्यये भवितुमर्हति, न चाऽसावयोग्यत्वादप्ययेनाऽऽकाङ्क्ष्यते, नहि कार्ये ध्रियमाणे कारणस्याऽप्ययो युक्तः कारणाप्यये कार्यस्याऽवस्थानानुपपत्तेः । कार्याप्यये तु कारणस्याऽवस्थानं युक्तं मृदादिष्वेवं दृष्टत्वात् ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

सूक्ष्म ब्रह्ममें लीन होते हैं, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि अपने कारणका व्यतिक्रम करके कारणके कारणमें कार्यका प्रलय होना उचित नहीं है। स्मृतिमें भी उत्पत्तिक्रमसे विपरीत प्रकारसे ही प्रलयक्रम यत्र तत्र 'जगत्प्रतिष्ठा' (हे देवर्षे ! जगत्की आधारभूत पृथिवी जलमें प्रलीन होती है, एवं जल तेजमें लीन होता है, तेज वायुमें लीन होता है,) इत्यादिमें दिखलाया गया है। उत्पत्तिक्रम तो उत्पत्तिमें ही श्रुत है, इससे प्रलयमें वह युक्त नहीं है। और अयोग्य होनेसे भी इसकी (उत्पत्तिक्रमकी) प्रलय आकांक्षा नहीं करता, क्योंकि कारणके विनाशमें कार्यकी अवस्थिति नहीं होनेसे कार्यके रहते कारणका अप्यय युक्तियुक्त नहीं है। कार्यका प्रलय होनेपर तो कारणकी स्थिति हो सकती है, क्योंकि मृत्तिका आदिमें इस प्रकार देखा जाता है ॥१४॥

रत्नप्रभा

ब्रह्मणः किमिति आश्रीयते, साक्षादेव तत् किं न स्यादित्यत आह—नहि स्वकारणव्यतिक्रमेणेति । घटनाशे मृदनुपलब्धिप्रसंगादित्यर्थः । 'वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते' (वि० पु०) इति स्मृतिशेषः आदिपदार्थः । 'योग्यताधीनः सम्बन्धः' इति न्यायाद् अयोग्यक्रमबाध इति सिद्धम् ॥१४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

परम्परासे सब कार्यके लयका आधार ब्रह्म है, ऐसा क्यों स्वीकार करते हो ? साक्षात् ही क्यों न हो ? इसपर कहते हैं—"नहि स्वकारणव्यतिक्रमेण" इत्यादिसे । घटका नाश होनेपर मृत्तिकाकी अनुपलब्धिका प्रसङ्ग होगा, ऐसा अर्थ है। 'वायुश्च०' (वायु आकाशमें लीन होता है और वह अव्यक्तमें प्रलीन होता है)। यह स्मृतिशेष 'इत्यादिमें' आदि शब्दका अर्थ है। 'योग्यताके अधीन सम्बन्ध होता है' इस न्यायसे अयोग्य क्रमका बाध है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १४ ॥

[९ अन्तराविज्ञानाधिकरण सू० १५]

किमुक्तक्रमभङ्गोऽस्ति प्राणाद्यैर्नास्ति वास्ति हि ।
प्राणाक्षमनसां ब्रह्मवियतोर्मध्य ईरणात् ॥१॥
प्राणाद्या भौतिका भूतेष्वन्तर्भूताः पृथक् क्रमम् ।
नेच्छन्त्यतो न भङ्गोऽस्ति प्राणादौ न क्रमः श्रुतः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—प्राण आदि श्रुतिसे पूर्वोक्त सृष्टिक्रमका भङ्ग होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—प्राण, इन्द्रियों और मनका ब्रह्म और आकाशके मध्यमें कथन होनेसे उक्त सृष्टिक्रमका भङ्ग है ।

सिद्धान्त—प्राण आदि भौतिक होनेसे भूतोंमें अन्तर्भूत हैं, अतः वे पृथक् उत्पत्ति-क्रमकी आकांक्षा नहीं करते हैं; इसलिए उक्त सृष्टिक्रमका भंग नहीं है । प्राण आदिका श्रुतिमें क्रम नहीं कहा गया है ।

---

* तात्पर्य यह है कि मुण्डक उपनिषत्में—

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥'

(आत्मासे प्राण, मन, सब इन्द्रियां और आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा भूताधार पृथिवी उत्पन्न होती है ।) पूर्वपक्षी कहता है कि यहाँपर प्राण आदिका आकाश आदिके पूर्वमें श्रवण होनेसे पहले आकाश उत्पन्न होता है इत्यादि पूर्वोक्त सृष्टिक्रमका भंग होगा ।

सिद्धान्ती कहते हैं—'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (हे सौम्य ! मन अन्नमय है) 'आपोमयः प्राणः' (प्राण जलमय है) 'तेजोमयी वाक्' (वाणी तेजोमयी है) इस प्राण आदिके भौतिकत्वके श्रवणसे भूतोंमें अन्तर्भाव होनेसे पृथक् क्रमकी अपेक्षा नहीं है । मुण्डक श्रुतिक्रमका प्रतिपादन नहीं करती, क्योंकि 'आकाशाद्वायुः' (आकाशसे वायु) 'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि) इत्यादिके समान उसमें क्रमकी प्रतीति नहीं होती, वह केवल उत्पत्तिका प्रतिपादन करती है । इससे सिद्ध हुआ कि इस मुण्डकश्रुतिसे पूर्वोक्त क्रमका भंग नहीं है ।

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥१५॥

पदच्छेद—अन्तरा, विज्ञानमनसी, क्रमेण, तल्लिङ्गात्, इति, चेत्, न, अविशेषात् ।

पदार्थोक्ति—विज्ञानमनसी—बुद्धीन्द्रियसंशयात्मकान्तःकरणानि, [भूतानामात्मनश्च] अन्तरा—अन्तराले, तल्लिङ्गात्—तस्याः सृष्टेः गमकात् 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादिवाक्यात् अनुक्रम्यन्ते [तथा चात्मनः सकाशात् इन्द्रियबुद्धिमनांसि तेभ्यश्च भूतानीति क्रमेण विरुद्ध्यते] इति चेत्, न—इति कथनं नोचितम्; [कुतः] अविशेषात्—इन्द्रियबुद्धिमनसां भौतिकत्वेन भूतोत्पत्तिक्रमाद् इन्द्रियक्रमस्य उत्पत्तिसाम्यात् [येन क्रमेण भूतोत्पत्तिस्तेनैव क्रमेण भौतिकत्वोत्पत्तिरित्यतो न विरुद्धयते इत्यर्थः । 'एतस्माज्जायते०' इत्यादि श्रुतिस्तु सर्वेषामात्मनः सकाशात् उत्पत्तिमात्रं ब्रूते न क्रमम् इत्यतः केनापि वाक्येन भूतसृष्टिवाक्यानां न विरोधो भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—आत्मा और भूतोंके मध्यमें 'एतस्मात्०' (आत्मासे प्राण, मन, सब इन्द्रियां आदि उत्पन्न होते हैं) इत्यादि सृष्टिबोधक वाक्यसे बुद्धि, इन्द्रियों और संशयात्मक अन्तःकरणका अनुक्रम होता है । इससे आत्मासे बुद्धि, इन्द्रिय, मन उत्पन्न होते हैं, उनसे भूत उत्पन्न होते हैं, इस क्रमके साथ सृष्टिक्रमका विरोध है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इन्द्रिय, बुद्धि और मनके भौतिक होनेसे भूतोत्पत्तिक्रमसे इन्द्रिय आदिके उत्पत्तिक्रमका साम्य है अर्थात् जिस क्रमसे भूतोंकी उत्पत्ति है उसी क्रमसे भौतिक प्राण, मन, आदिकी उत्पत्ति है, इसलिए कोई विरोध नहीं है । 'एतस्माज्जायते०' इत्यादि श्रुतियां तो आत्मासे सबकी केवल उत्पत्ति कहती हैं, क्रम नहीं कहतीं, इससे किसी भी वाक्यसे भूतसृष्टिवाक्योंका विरोध नहीं हो सकता ।

भाष्य

भूतानामुत्पत्तिप्रलयावनुलोमप्रतिलोमक्रमाभ्यां भवत इत्युक्तम्, आ-

भाष्यका अनुवाद

भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय ये दोनों जिस अनुलोम और प्रतिलोम क्रमसे होते

रत्नप्रभा

अन्तरा—ऽविशेषात् । उक्तभूतोत्पत्तिलयक्रमम् उपजीव्य स किं करणोत्प-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अन्तरा—अविशेषात" । भूतोंका उत्पत्तिक्रम और लयक्रम जो कहा जा चुका है,

भाष्य

रमादिरुत्पत्तिः प्रलयश्चाऽऽत्मान्त इत्यप्युक्तम्, सेन्द्रियस्य तु मनसो बुद्धेश्च सद्भावः प्रसिद्धः श्रुतिस्मृत्योः, 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुः' (क० ३।३) इत्यादिलिङ्गेभ्यः। तयोरपि कस्मिंश्चिदन्तराले क्रमेणोत्पत्तिप्रलयावुपसंग्राह्यौ, सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वाभ्युपगमात्। अपि चाऽऽथर्वणे उत्पत्तिप्रकरणे भूतानामात्मनश्चाऽन्तराले करणान्यनुक्रम्यन्ते—

भाष्यका अनुवाद

हैं, ऐसा कहा गया है। और यह भी कह चुके हैं कि आत्मासे उत्पत्तिका आदि (आरम्भ) होता है एवं प्रलयका अन्त आत्मामें होता है। इन्द्रिय सहित मन और बुद्धिका सद्भाव श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध है, क्योंकि 'बुद्धिं तु सारथिम्०' (बुद्धिको सारथि जानो और मनको लगाम जानो, इन्द्रियोंको अश्व कहते हैं) इत्यादि लिङ्ग हैं। वस्तुओंको ब्रह्मजन्य माननेसे उन दोनोंके भी उत्पत्ति और प्रलयका किसीके मध्यमें संग्रह करना चाहिए। और आथर्वणमें उत्पत्तिके

रत्नप्रभा

त्तिक्रमेण विरुध्यते न वेति करणानाम् अभौतिकत्वभौतिकत्वाभ्यां सन्देहे वृत्तानुवादपूर्वकं पूर्वपक्षमाह—भूतानामित्यादिना। करणानि एव न सन्तीति वदन्तं प्रत्याह—सेन्द्रियस्येति। 'मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः' 'श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये' (भ०गी०३।४२) इति स्मृतिर्द्रष्टव्या। अन्यपराः शब्दाः लिङ्गानि इति उच्यन्ते। करणानां क्रमाकाङ्क्षामाह—तयोरपीति। आकाङ्क्षायां श्रुतिसिद्धः क्रमो ग्राह्य इत्याह—अपि चेति। विज्ञायतेऽनेन इति विज्ञानम्—सेन्द्रिया बुद्धिः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसके आधारपर इन्द्रियोंके उत्पत्तिक्रमसे वह विरुद्ध है या नहीं? और इन्द्रियाँ अभौतिक हैं या भौतिक हैं, ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वोक्तका अनुवाद करके पूर्वपक्ष कहते हैं—"भूतानाम्" इत्यादिसे। इन्द्रियाँ ही नहीं हैं, ऐसा कहनेवालेके प्रति कहते हैं—"सेन्द्रियस्य" इत्यादिसे। 'मनसस्तु०' (इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, जो बुद्धिसे श्रेष्ठ है, वह परमात्मा है) 'श्रोत्रादीनीन्द्रिया०' (योगी लोग श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका संयमाग्निमें हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रियसंयम करते हैं) इत्यादि स्मृति देखनी चाहिए। अन्यवाचक शब्द लिंग हैं, ऐसा कहा जाता है। इन्द्रियोंकी भी क्रमाकांक्षा कहते हैं—"तयोः" इत्यादिसे। क्रमकी आकांक्षा होनेपर श्रुतिसिद्ध क्रम उपादेय है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। जिससे

भाष्य

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥' (मु० २।१।३) इति। तस्मात् पूर्वोक्तोत्पत्तिप्रलयक्रमभङ्गप्रसङ्गो भूतानामिति चेत्, न; अविशेषात्—यदि तावद् भौतिकानि करणानि ततो भूतोत्पत्ति-

भाष्यका अनुवाद

प्रकरणमें भूत और आत्माके बीचमें इन्द्रियोंका अनुक्रम है, क्योंकि 'एतस्माज्जायते प्राणः०' (इससे प्राण उत्पन्न होता है, मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी) ऐसी (श्रुति) है। इससे पूर्वोक्त भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयके क्रमका भङ्ग प्रसक्त है? ऐसा कहो तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि विशेष नहीं है—यदि इन्द्रियां भौतिक हैं, तो भूतोंकी

रत्नप्रभा

आत्मनो भूतानां चाऽन्तरा मध्ये तल्लिङ्गात् सृष्टिवाक्याद् 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः' इत्यादिरूपाद् विज्ञानमनसी अनुक्रम्येते, तथा च करणक्रमेण पूर्वोक्तक्रमभङ्ग इति शङ्कासूत्रांशार्थः। न च करणानां भौतिकत्वाद् भूतानन्तर्यम् इति वाच्यम्। तेषां भौतिकत्वे मानाभावात्। तथा च आत्मनः प्रथमम् आकाशस्य जन्म पश्चाद् वायोरिति उक्तक्रमस्य आत्मनः करणानि ततो भूतानीति क्रमेण विरोध इति तित्तिर्यथर्वणश्रुत्योः विरोधात् न ब्रह्मणि समन्वय इति पूर्वपक्षफलम्।

सिद्धान्तयति—नेति। 'आत्मन आकाशः' (तै० २।१।२) इत्यादितित्ति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विशेष ज्ञान किया जाय वह विज्ञान है, अर्थात् सेन्द्रिय बुद्धि। 'एतस्माज्जायते०' इत्यादिरूप तल्लिंग सृष्टिवाक्योंसे आत्मा और भूतोंके बीचमें विज्ञान और मनका अनुक्रमण है। इन्द्रियोंके क्रमकी अपेक्षा होनेपर आत्मा और भूतोंके बीचमें इन्द्रियां श्रुतिमें कही हुई होनेसे इन्द्रियोंका क्रम नियमित होता है, इसलिए करणोंके क्रमसे पूर्वोक्त भूतोंके क्रमके भंगका प्रसङ्ग है, क्योंकि आत्मासे इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंसे भूत उत्पन्न होते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए 'आत्मनः आकाशः' (आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस प्रकार इन्द्रियोंके क्रमसे पूर्वोक्त क्रमका भंग है, ऐसा शङ्कासूत्रांशका अर्थ है। और इन्द्रियाँ भौतिक होनेसे भूतोंके पीछे उत्पन्न होती हैं, यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि वे भौतिक हैं, इसमें प्रमाण नहीं है। इसलिए आत्मासे प्रथम आकाशका जन्म होता है, पीछे वायुका, इस प्रकार उक्त क्रमका पहले आत्मासे इन्द्रियोंका जन्म होता है और पीछे भूतोंका, इस क्रमके साथ विरोध है। इस प्रकार तित्तिरि और अथर्वण श्रुतियोंमें परस्पर विरोध होनेसे ब्रह्ममें समन्वय नहीं है, ऐसा पूर्वपक्षका फल है।

सिद्धान्त करते हैं—"न" इत्यादिसे। 'आत्मनः आकाशः' इत्यादि तित्तिरि

भाष्य

प्रलयाभ्यासेनैवैषामुत्पत्तिप्रलयौ भवत इति नैतयोः क्रमान्तरं मृग्यम्। भवति च भौतिकत्वे लिङ्गं करणानाम् 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राण-

भाष्यका अनुवाद

उत्पत्ति और प्रलयसे ही इनकी उत्पत्ति और प्रलय ये दोनों होंगे, अतः इनके लिए अन्य क्रमकी गवेषणा नहीं करनी चाहिए। और 'अन्नमयं हि सोम्य०'

रत्नप्रभा

रिश्रुतौ पञ्चम्याः कार्यकारणभावेनाऽर्थतः क्रमो भाति, तस्य आथर्वणपाठेन बाधः। अर्थक्रमविरोधिक्रमविशेषस्य अश्रुतेः पाठक्रमस्य अर्थक्रमधीशेषस्य शेषिबाधकत्वा-योगात्, अतः श्रुतार्थक्रमाविरोधेन पाठस्य नेयत्वाद् भूतानन्तर्यं करणानामि-त्यर्थः। किञ्च, भौतिकत्वात् तेषां तदानन्तर्यमित्याह—यदीति। न च प्राणस्य अब्विकारत्वायोगाद् अन्नमयमित्यादिमयटो न विकारार्थतेति वाच्यम्। करणानां विभक्तत्वेन कार्यतया कारणाकाङ्क्षायाम् 'अन्नमयम्' (छा० ६।५।४, तै० २।८।१) इत्यादिश्रुतेः आकाङ्क्षितोक्त्यर्थम् असति बाधके मयटो विकारार्थताया युक्तत्वात्। प्राचुर्यार्थत्वे तु अनाकाङ्क्षितोक्तिप्रसंगात् श्रुत्यैव तेजोऽबन्नप्राशने वाक्प्राणमनसां वृद्धिः, तदभावे तन्नाशः, इति विकारत्वस्य दर्शितत्वात् न विवादावसरः। यद्वा, स्थूलभूताधीना तेषां वृद्धिः विकारो मयडर्थः श्रूयमाणो भौतिकत्वे लिङ्गम्, प्राणेन्द्रियमनांसि भौतिकानि भूताधीनवृद्धिमत्त्वात् देहवदिति भावः। ननु तेषां

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतिमें पञ्चमीका कार्यकारणभावसे अर्थत. क्रम समझा जाता है। उसका आथर्वण-पाठसे बाध नहीं होता, क्योंकि अर्थक्रमका विरोधी कोई क्रमविशेष श्रुत नहीं है और आर्थवणका पाठक्रम जो अर्थक्रमकी बुद्धिका अङ्गभूत है, वह अङ्गीका बाधक हो, यह युक्त नहीं है। इसलिए जिस प्रकार श्रुतिका अर्थ क्रमविरुद्ध न हो, इस प्रकार आर्थवणका पाठ गौण करना चाहिए, इससे इन्द्रियाँ भूतोंके पीछे उत्पन्न हुई हैं, ऐसा अर्थ है। और इन्द्रियाँ भौतिक होनेसे भूतोंसे अनन्तर उत्पन्न हुई हैं, ऐसा कहते हैं—"यदि" इत्यादिसे। प्राणके जल कार्य्य न होनेसे 'अन्नमयम्' इत्यादिमें मयट्प्रत्यय विकारार्थक नहीं है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए। मन आदि इन्द्रियाँ विभक्त होनेसे कार्य हैं, अत कारणकी आकांक्षा होनेपर 'अन्नमयं मनः' इत्यादि श्रुति अपेक्षित अर्थके लिए बाधक न रहनेपर मयट्का विकारार्थत्व ही युक्त है। प्राचुर्य अर्थ होनेमें तो अनाकांक्षित उक्तिका प्रसंग आवेगा, क्योंकि तेज, जल और अन्नके प्राशन करनेपर वाक्, प्राण और मनकी वृद्धि होती है और उसके अभावमें नाश होता है, इस प्रकार श्रुति ही मयट् विकारार्थक है, ऐसा दिखलाती है। इसलिए विवादका अवसर नहीं है। अथवा स्थूल भूतोंके अधीन उनकी [करणोंकी] श्रूयमाण वृद्धि—मयडर्थ

भाष्य

स्तेजोमयी वाक्' (छा० ६।५।४) इत्येवंजातीयकम् । व्यपदेशोऽपि क्वचिद् भूतानां करणानां च ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन नेतव्यः । अथ त्वभौतिकानि करणानि, तथापि भूतोत्पत्तिक्रमो न करणैर्विशिष्यते—प्रथमं करणान्युत्पद्यन्ते चरमं भूतानि प्रथमं वा भूतान्युत्पद्यन्ते चरमं वा करणानीति । आथर्वणे तु समाम्नायक्रममात्रं करणानां भूतानां च, न तत्रोत्पत्तिक्रम उच्यते । तथान्यत्राऽपि पृथगेव भूतक्रमात् करणक्रम आम्नायते—'प्रजाप-

भाष्यका अनुवाद

(हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाणी तेजोमयी है) इस प्रकारका इन्द्रियोंके भौतिक (भूतविकार) होनेमें लिङ्ग है । कहींपर भूतों और इन्द्रियोंका व्यपदेश (शब्दप्रयोग) तो ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायसे गौण समझना चाहिए । यदि अभौतिक इन्द्रियां हैं, तो भी भूतोंका उत्पत्तिक्रम इन्द्रियोंसे अलग नहीं होता—प्रथम इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं अनन्तर भूत, अथवा प्रथम भूत उत्पन्न होते हैं और पीछे इन्द्रियां । आथर्वणमें तो भूत और करणोंका केवल समाम्नाय क्रम है । न कि वहां उत्पत्तिक्रम कहा जाता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी 'प्रजापतिर्वा०' (वह स्थूल पूर्वमें

रत्नप्रभा

भौतिकत्वे कथम् आथर्वणे पृथक् तज्जन्मकथनम्, भूतजन्मोक्त्यैव तज्जन्मसिद्धेः, इत्यत आह—व्यपदेशोऽपीति । प्रौढिवादेन तेषाम् अभौतिकत्वम् उपेत्याऽपि श्रुत्यविरोधमाह—अथ त्विति । करणानां भूतानां च पूर्वापरत्वे मानाभावात् नोक्तभूतक्रमभङ्गः । न चाऽऽथर्वणवाक्यं मानम्, पाठमात्रत्वात् इत्यर्थः । तर्हि कथं क्रमनिर्णयः, तत्राह—तथेति । इदं—स्थूलम्, अग्रे—उत्पत्तेः प्राक् प्रजापतिः—सूत्रात्मा आसीत् । अत्र सूक्ष्मभूतात्मकप्रजापतिसर्गः प्रथमः, ततो मन आदि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विकार ही उनके भौतिकत्वमें प्रमाण है जैसे प्राण, इन्द्रिय और मन भौतिक हैं, भूतके अधीन वृद्धि होनेसे, देहके समान, ऐसा भाव है । यदि कोई शंका करे कि—ये भौतिक हैं, तो आथर्वणमें इनकी पृथक् उत्पत्ति क्यों कही गई है, क्योंकि भूतोंकी उत्पत्तिसे ही उनकी उत्पत्ति सिद्ध है, इसपर कहते हैं—"व्यपदेशोऽपि" इत्यादिसे । प्रौढिवादसे इन्द्रियाँ अभौतिक हैं, ऐसा स्वीकार करने पर भी श्रुतिका अविरोध कहते हैं—"अथ तु" इत्यादिसे । इन्द्रियों और भूतोंके पूर्वापर क्रममें प्रमाण न होनेसे उक्त भूतक्रमका भंग नहीं है । आथर्वण वाक्य क्रममें प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह पाठमात्र है, ऐसा अर्थ है । तब क्रमका निर्णय किस प्रकार होगा ? इसपर कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । इदम्—स्थूल कार्य । अग्रे—

भाष्य

तिर्वा इदमग्र आसीत्स आत्मानमैक्षत स मनोऽसृजत तन्मन एवासी-त्तदात्मानमैक्षत तद्वाचमसृजत' इत्यादिना। तस्मान्नाऽस्ति भूतोत्पत्ति-क्रमस्य भङ्गः ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

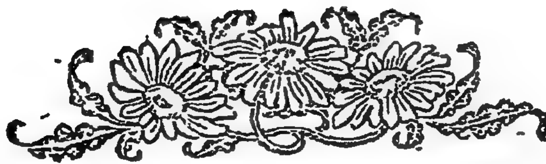
प्रजापतिस्वरूप था उसने आत्माको देखा, उसने मनको उत्पन्न किया, वह मनही था, उसने आत्माको देखा, उसने वाणी उत्पन्न की) इत्यादिसे भूतक्रमसे इन्द्रियक्रम पृथक् ही कहा है, इससे भूतोंके उत्पत्तिक्रमका भङ्ग नहीं है ॥ १५ ॥

रत्नप्रभा

सर्ग इति क्रमो भाति इति भावः। एवं च भूतकरणोत्पत्तिश्रुत्योः अविरोधाद् ब्रह्मणि समन्वयसिद्धिः इति सिद्धान्तफलं निगमयति—तस्मादिति ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पत्तिके पूर्व। अर्थात् यह स्थूलकार्य उत्पत्तिके पूर्व प्रजापति—सूत्रात्मा था। यहाँ सूक्ष्मभूतात्मक प्रजापतिकी सृष्टि पहले हुई, पीछे मन आदिकी सृष्टि हुई, ऐसा क्रम समझा जाता है, यह भाव है। इस प्रकार भूतों और इन्द्रियोंकी उत्पत्तिश्रुतियोंमें विरोध न होनेसे ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध होता है, ऐसा सिद्धान्तफलका निगमन करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥ १५ ॥



[१० चराचरव्यपाश्रयाधिकरण सू० १६]

जीवस्य जन्ममरणे वपुपो वात्मनो हि ते ।
जातो मे पुत्र इत्युक्तेर्जातकर्मादितस्तथा ॥ १ ॥

मुख्ये ते वपुषो भाक्ते जीवस्यैते अपेक्ष्य हि ।
जातकर्म च लोकोक्तिर्जीवापेतेति शास्त्रतः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—जन्म और मरण जीवके होते हैं अथवा आत्माके ?

पूर्वपक्ष—'मेरा पुत्र उत्पन्न हुआ' इस व्यवहारसे तथा शास्त्रमें जातकर्म आदि संस्कारोंके कथनसे प्रतीत होता है कि जीवके ही जन्म और मरण होते हैं ।

सिद्धान्ती—उक्त जन्म और मरण शरीरके मुख्य हैं जीवके गौण हैं। गौण जन्म-मरणकी अपेक्षासे ही लोक व्यवहार और कर्मशास्त्रकी प्रवृत्ति होती है, क्योंकि 'जीवापेतं वाव' (जीवशून्य शरीर मरता है जीव नहीं मरता) ऐसी श्रुति है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—'पुत्रो मे जातः' (मेरा पुत्र उत्पन्न हुआ) इस लौकिकव्यवहारसे और शास्त्रमें जातकर्म आदि संस्कारोंके कथनसे जन्म और मरण जीवके होते हैं ।

सिद्धान्ती कहते हैं—यदि जीवका मुख्य मरण स्वीकार किया जाय, तो कृतकर्मोंका नाश और अकृत कर्मोंका आगमरूप दोषका निवारण नहीं हो सकेगा, इसलिए देहगत जन्म-मरणका जीवमें उपचार होता है। औपचारिक (गौण) जन्ममरणकी अपेक्षासे लोकव्यवहार और कर्मकाण्डकी प्रवृत्ति होती है। उपनिषत् शास्त्र तो 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते (जीव शून्य शरीरकी मृत्यु होती है जीवकी मृत्यु नहीं होती है) इत्यादिसे जीवरहित शरीरका मुख्य मरण है ऐसा कहकर जीवके मरणका निराकरण करता है। इससे सिद्ध हुआ कि शरीरके जन्म और मरण होते हैं ।

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १६ ॥

पदच्छेद—चराचरव्यपाश्रयः, तु, स्यात्, तद्व्यपदेशः, भाक्तः, तद्भावभावित्वात्।

पदार्थोक्ति—तद्व्यपदेशः—तयोः जन्ममरणयोः योऽयं लौकिको व्यपदेशः, [सः] चराचरव्यपाश्रयः—स्थावरजङ्गमदेहविषये मुख्यः [जीवे तु] भाक्तः—गौणः, [कुतः] तद्भावभावित्वात्—जन्ममरणव्यपदेशस्य देहोत्पत्तिनाशान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात [देहप्रादुर्भावापेक्षयैव जातकर्मादिविधानमिति न तेन शास्त्रेण जीवनित्यत्वशास्त्रस्य विरोधः]।

भाषार्थ—जन्म और मरणका जो यह लौकिक प्रवाद है वह स्थावर-जङ्गम देहमें मुख्य है जीवमे तो गौण है, क्योंकि जन्म-मरणका व्यपदेश देहकी उत्पत्ति और नाशके अन्वय और व्यतिरेकका अनुसरण करता है। देहका प्रादुर्भाव होनेसे ही जातकर्म आदिका विधान है, इसलिए इस शास्त्रके साथ जीवकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रका विरोध नहीं है।

भाष्य

स्तो जीवस्याऽप्युत्पत्तिप्रलयौ, जातो देवदत्तो मृतो देवदत्त इत्येवंजा-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—उत्पत्ति और प्रलय जीवके भी होते हैं, क्योंकि देवदत्त उत्पन्न

रत्नप्रभा

चराचर—भावित्वात्। एवं तावत् तत्पदवाच्यकारणनिर्णयाय भूतश्रुतीनां विरोधो निरस्तः, इदानीम् आपादसमाप्तेः त्वंपदार्थशुद्धयै जीवश्रुतीनां विरोधो निरस्यते। इह 'न जायते म्रियते' (क० २।१।७) इत्यादिश्रुतेः जातेष्टिश्राद्धशास्त्रेण विरोधोऽस्ति न वेति सन्देहे विरोधोऽस्तीति प्राप्ते लौकिकजन्मादिव्यपदेशसहायाद् जातेष्ट्यादिशास्त्रेण जीवाऽजत्वादिश्रुतिः बाध्यते इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

"चराचर भावित्वात्"। इस प्रकार पहले 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस वाक्यमें स्थित तत्पदवाच्य कारणका निर्णय करनेके लिए भूतश्रुतियोंके परस्पर विरोधका परिहार किया जा चुका है, अब पादकी समाप्तिपर्यन्त 'त्वम्' पदके अर्थकी शुद्धिके लिए जीव श्रुतियोंके विरोधका निरसन किया जाता है। यहाँ 'न जायते म्रियते' (जीव न जन्म लेता है और न मरता है) इत्यादि श्रुतियोंका जातेष्टिसंस्कार और श्राद्धके विधायक शास्त्रके—साथ विरोध है या नहीं ऐसा सन्देह होनेमें विरोध है ऐसा प्राप्त होनेपर लौकिक जन्म आदि व्यपदेशकी सहायतासे जातेष्टि आदि शास्त्रसे जीवके अजत्व आदिका प्रतिपादन करनेवाली

भाष्य

तीयकात् लौकिकव्यपदेशात् जातकर्मादिसंस्कारविधानाच्चेति स्यात् कस्यचिद् भ्रान्तिस्तामपनुदामः। न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्तः, शास्त्रफलसंबन्धोपपत्तेः। शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तरगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थौ विधिप्रतिषेधावनर्थकौ स्याताम्। श्रूयते च—जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' (छा० ६।११।३) इति। ननु लौकिको जन्ममरण-

भाष्यका अनुवाद

हुआ, देवदत्त मर गया, इस प्रकारके लौकिक व्यवहार होते हैं और जातकर्म आदि संस्कारोंका विधान है; किसीको ऐसी भ्रान्ति हो सकती है।

सिद्धान्ती—उसको दूर करते हैं जीवकी उत्पत्ति और प्रलय नहीं होते हैं, शास्त्रफलके सबन्धकी उपपत्ति होनेसे, क्योंकि शरीरके साथ जीवात्माका विनाश हो, तो अन्य शरीरगत इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टके परिहारके लिए विधि और निषेध अनर्थक हो जायँगे। और 'जीवापेतम्०' (जीवसे रहित (शरीर) मरता है जीव नहीं मरता) ऐसी श्रुति है। परन्तु जीवका लौकिक जन्म

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षयति—स्त इति। तथा च करणोत्पत्तिक्रमेण भूतक्रमस्य बाधाभावेऽपि जीवोत्पत्तिक्रमेण बाधः स्यादिति प्रत्युदाहरणसंगतिः। पूर्वपक्षे जीवब्रह्मैक्यासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिः इति भेदः। चेतनजन्माद्युद्देशेन चेतनस्य तस्य जन्मान्तरीयफलसाधनं जातकर्मादिसंस्कारो विधीयते, तथा च उद्देश्यविधेययोः मिथो विरोधे सति विधेयाविरोधेन उद्देश्यं नेयम् इति न्यायात् जन्मादिकं देहोपाधिकम्, न स्वत इति सिद्धान्तयति—तामित्यादिना। जीवापेतम्—जीवेन त्यक्तम्। इदम्—शरीरम्। जन्मादिव्यपदेशः चराचरदेहविषयो मुख्यः, जीवे तु भाक्तः—

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतिका बाध होता है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"स्तः" इत्यादिसे। यद्यपि इन्द्रियोंके उत्पत्तिक्रमसे भूतोंके उत्पत्तिक्रमका बाध नहीं है, तो भी जीवके उत्पत्तिक्रमसे बाध है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगति है। पूर्वपक्षमें जीव और ब्रह्मका ऐक्य असिद्ध है, सिद्धान्तमें (वह ऐक्य) सिद्ध है, ऐसा भेद है। चेतनके जन्म आदिके उद्देशसे चेतनको अन्य जन्ममें फल मिले इसलिए जातकर्मादि संस्कारोंका विधान किया गया है। अब उद्देश और विधेय इन दोनोंका परस्पर विरोध होनेपर 'विधेयके साथ जिस तरह विरोध न हो ऐसे उद्देशको गौण करना चाहिए' इस न्यायसे जन्मादि देहोपाधिक हैं, स्वतः चेतन जीवके नहीं हैं, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"ताम्" इत्यादिसे। जीवसे वियुक्त शरीर। जन्म आदि व्यपदेश चराचर देहमें

भाष्य

व्यपदेशो जीवस्य दर्शितः। सत्यं दर्शितः। भाक्तस्त्वेष जीवस्य जन्ममरणव्यपदेशः। किमाश्रयः पुनरयं मुख्यो यदपेक्षया भाक्त इति। उच्यते—चराचरव्यपाश्रयः। स्थावरजङ्गमशरीरविषयौ जन्ममरणशब्दौ। स्थावरजङ्गमानि हि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ते चाऽतस्तद्विषयौ जन्ममरणशब्दौ मुख्यौ सन्तौ तत्स्थे जीवात्मन्युपचर्येते, तद्भावभावित्वात्। शरीरप्रादुर्भावतिरोभावयोर्हि सतोर्जन्ममरणशब्दौ भवतो नाऽसतोः। नहि शरीरसंबन्धादन्यत्र जीवो जातो मृतो वा केनचिल्लक्ष्यते। 'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः' (बृ० ४।३।८)

भाष्यका अनुवाद

मरण व्यपदेश दिखलाया है, सत्य, दिखलाया है, किन्तु जीवके जन्म और मरणका व्यपदेश गौण है। इसका मुख्य आश्रय कौन है, जिसकी अपेक्षासे जीवमें जन्म और मरणका व्यपदेश गौण है? चर (जङ्गम) और अचर (स्थावर) शरीरमें यह मुख्य है ऐसा कहते हैं। जन्म और मरण स्थावर और जङ्गम शरीरमें हैं, क्योंकि स्थावर और जङ्गम भूत जन्म लेते हैं, और मरते हैं, अतः जन्म और मरण शब्द उनमें (स्थावर जङ्गम भूतोंमें) मुख्य होते हुए उनमें रहनेवाले जीवात्मामें गौण हैं, क्योंकि तद्भावभावी हैं, (उसके—शरीरके अस्तित्वसे उसका—जीवके जन्म-मरणव्यपदेशका अस्तित्व है) शरीरके आविर्भाव और तिरोभाव होनेपर जन्म और मरण शब्द होते हैं, नहीं होनेपर नहीं होते हैं। इससे शरीरके सम्बन्धके विना अन्यत्र 'जीव उत्पन्न हुआ या मर गया' ऐसा कोई देखता नहीं है। और 'स वा अयं पुरुषः०' (वही यह पुरुष शरीरमें आत्मभाव पानेसे जन्म लेता है और शरीरसे निकल जानेसे—अन्य शरीरमें जानेसे मरता

रत्नप्रभा

गौणः औपाधिकजन्मादिविषयः स्यात्। उपाधिजन्मभावे भावात् असति अभावात् इति सूत्रार्थः। जीवस्य औपाधिकजन्ममृत्योः श्रुतिमपि आह—स वा इति। जायमानपदार्थमाह—शरीरमिति। म्रियमाणत्वं व्याचष्टे—उत्क्रामन्निति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

मुख्य है, जीवमें तो औपाधिक जन्मादि होनेसे गौण होगा, क्योंकि उपाधि (शरीरादि) के जन्मके अस्तित्वमें जीवके जन्मका अस्तित्व और अभावमें अभाव है, ऐसा सूत्रार्थ है। जीवके औपाधिक जन्म और मृत्यु हैं, इसमें श्रुति कहते हैं—"स वा" इत्यादिसे। 'जायमानः' इस पदका अर्थ कहते हैं—"शरीरम्" इत्यादिसे। 'म्रियमाणः' पदका अर्थ कहते हैं—

भाष्य

इति च शरीरसंयोगवियोगनिमित्तावेव जन्ममरणशब्दौ दर्शयति। जातकर्मादिविधानमपि देहप्रादुर्भावापेक्षमेव द्रष्टव्यम्। अभावाद् जीवप्रादुर्भावस्य। जीवस्य परस्मादात्मन उत्पत्तिर्वियदादीनामिवाऽस्ति नाऽस्ति वेत्येतदुत्तरेण सूत्रेण वक्ष्यति। देहाश्रयौ तावज्जीवस्य स्थूलावुत्पत्तिप्रलयौ न स्त इत्येतदनेन सूत्रेणाऽवोचत् ॥ १६ ॥

भाष्यका अनुवाद

है) यह श्रुति जन्ममरणशब्द शरीरके संयोगसे और वियोगसे हैं, ऐसा दिखलाती है। जातकर्म आदिका विधान भी देहके प्रादुर्भावकी अपेक्षासे ही है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि जीवके प्रादुर्भावका अभाव है। आकाश आदिके समान जीवकी उत्पत्ति है या नहीं यह आगेके सूत्रसे कहेंगे। देहगत स्थूल उत्पत्ति और प्रलय जीवमें नहीं हैं ऐसा सूत्रकारने इस सूत्रसे कहा ॥१६॥

रत्नप्रभा

ननु उत्तरत्र जीवस्य जन्मादि निरस्यते, अत्राऽपि तन्निरासे पुनरुक्तिः इत्याशङ्क्याऽऽह—जीवस्येति। तदेवं जातेष्ट्यादिशास्त्रस्य औपाधिकजन्मादिविषयत्वात् न जीवाद्यजन्यत्वश्रुतिविरोध इति सिद्धम् ॥१६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"उत्क्रामन्" इत्यादिसे। उत्तर सूत्रमें जीवके जन्म आदिका निरसन किया गया है, यहाँ भी उसका निरसन करनेसे पुनरुक्ति होगी ऐसी आशङ्का करते हैं—"जीवस्य" इत्यादिसे। इस प्रकार जातेष्टि आदि शास्त्रके औपाधिक जन्मादिविषयक होनेसे जीव अज है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिके साथ विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १६ ॥



[११ आत्माधिकरण सू० १७]

कल्पादौ ब्रह्मणो जीवो वियद्वज्जायते न वा ।
सृष्टेः प्रागद्वयत्वोक्तेर्जायते विस्फुलिङ्गवत् ॥ १ ॥
ब्रह्माद्वयं जातबुद्धौ जीवत्वेन विशेत् स्वयम् ।
औपाधिकं जीवजन्म नित्यत्वं वस्तुतः श्रुतम्* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—कल्पके आरम्भमें ब्रह्मसे जीव आकाशकी भाँति उत्पन्न होता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—सृष्टिके पूर्व अद्वितीयताके कथनसे प्रतीत होता है कि चिनगारियोंकी भाँति जीव ब्रह्मसे उत्पन्न होता है ।

सिद्धान्त—बुद्धिके उत्पन्न होनेपर अद्वितीय ब्रह्म ही जीवरूपसे प्रविष्ट होता है जीवका जन्म औपाधिक है और नित्यता वास्तविक है ऐसा सुना गया है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—'एकमेवाद्वितीयम्' (एक ही अद्वितीय) इस प्रकार सृष्टिके पूर्व अद्वितीयताका जो श्रुतिमें प्रतिपादन किया जाता है वह ब्रह्मसे अतिरिक्त जीवकी उत्पत्ति न माननेपर नहीं घट सकता । श्रुति चिनगारियोंके दृष्टान्तसे जीवकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करती है—'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः, सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः सर्वाणि भूतानि, सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' (जैसे अग्निसे चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस आत्मासे सब प्राण, सब लोक, सब वेद, सब भूत और सब आत्माएँ निकलती हैं) इससे प्रतीत होता है कि कल्पके आरम्भमें आकाशकी भाँति ब्रह्मसे जीव उत्पन्न होता है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—जो अद्वितीय ब्रह्म है, वही बुद्धिके उत्पन्न होनेपर जीवरूपसे प्रविष्ट होता है, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (सृष्टि करके वही जीवरूपसे प्रविष्ट हुआ) ऐसी श्रुति है । अतः जीवकी उत्पत्ति न होनेमें सृष्टिके पूर्वमें अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका विरोध नहीं है । विस्फुलिङ्गश्रुति औपाधिक जन्मके अभिप्रायसे प्रवृत्त हुई है । अन्यथा कृतहानि अकृत-प्राप्ति दोष कहे ही गये हैं । वस्तुतत्त्वके अभिप्रायसे तो श्रुति जीवकी नित्यताका प्रतिपादन करती है—'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (आत्मा नित्योंका नित्य है और चेतनोंका चेतन है) इत्यादि । इससे सिद्ध हुआ कि कल्पादिमें जीव उत्पन्न नहीं होता ।

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १७ ॥

पदच्छेद—न, आत्मा, अश्रुतेः, नित्यत्वात्, च, ताभ्यः।

पदार्थोक्ति—आत्मा—जीवः, न—नोत्पद्यते, [कुतः] अश्रुतेः—उत्पत्तिप्रकरणेषु जीवोत्पत्तेरश्रवणात्, ताभ्यः—'स वा एष महानज आत्मा' अजो 'नित्यः' इत्यादिश्रुतिभ्यः, नित्यत्वाच्च—जीवस्य नित्यत्वावगमाच्च।

भाषार्थ—जीव उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उत्पत्तिप्रकरणमें जीवोत्पत्ति नहीं सुनी गई है और 'स वा एष' (यह आत्मा महान् और जन्मरहित है), 'अजो नित्यः' (जन्मशून्य और अविनाशी है) इत्यादि श्रुतियोंसे जीव नित्य है, ऐसी प्रतीति होती है।

भाष्य

अस्त्यात्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसंबन्धी। स किं व्योमादिवदुत्पद्यते ब्रह्मण आहोस्विद् ब्रह्मवदेव नोत्पद्यत इति श्रुतिविप्रतिपत्तेर्विशयः। कासुचिच्छ्रुतिष्वग्निविस्फुलिङ्गादिनिदर्शनैर्जीवात्मनः परस्माद् ब्रह्मण उत्पत्तिराम्नायते, कासुचित्त्वविकृतस्यैव परस्य ब्रह्मणः

भाष्यका अनुवाद

शरीर और इन्द्रियरूपी पञ्जरका अध्यक्ष और कर्मफलका सम्बन्धी जीव नामक आत्मा है। क्या वह आकाश आदिके समान ब्रह्मसे उत्पन्न होता है या ब्रह्मके समान ही उत्पन्न नहीं होता? ऐसा श्रुतियोंके परस्पर विरोध होनेसे संशय होता है। कुछ श्रुतियोंमें अग्निविस्फुलिङ्गके दृष्टान्तोंसे जीवात्माकी परब्रह्मसे उत्पत्ति कही गई है, और अन्य श्रुतियोंमें अविकृत परब्रह्म ही कार्य-

---

रत्नप्रभा

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः। 'अग्नेर्विस्फुलिङ्गवदेतस्मात् परमात्मनः सर्वे जीवात्मानो व्युच्चरन्ति' इत्यादिजीवोत्पत्तिश्रुतीनां 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः अज आत्मा' (बृ० १।४।७) इत्याद्यनुत्पत्तिश्रुतीनां च मिथो विरोधात् संशये, मा भूतां देहजन्मनाशयोः जीवजन्मनाशौ, देहान्तरभोग्यस्वर्गादिहेतुविध्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च"। जैसे 'अग्निसे चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस परमात्मासे सब जीव निकलते हैं' इत्यादि जीवकी उत्पत्ति दिखानेवाली श्रुतियोंका और "स एष०" (वह यह इस शरीरमें नखके अग्रपर्यन्त प्रविष्ट है), "अज आत्मा" (आत्मा जन्मरहित है) इत्यादि जीवकी अनुत्पत्तिसूचक श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेसे संशय होनेपर, देहके जन्म और

भाष्य

कार्यप्रवेशेन जीवभावो विज्ञायते न चोत्पत्तिराम्नायते इति । तत्र प्राप्तं तावदुत्पद्यते जीव इति । कुतः ? प्रतिज्ञानुपरोधादेव । 'एकस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितम्' इतीयं प्रतिज्ञा सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रभवत्वे सति नोपरुध्येत, तत्त्वान्तरत्वे तु जीवस्य प्रतिज्ञेयमुपरुध्येत । न चाऽविकृतः परमात्मैव जीव इति शक्यते विज्ञातुम्, लक्षणभेदात् । अपहतपाप्मत्वादिधर्मको हि परमात्मा, तद्विपरीतो हि जीवः, विभागा-

भाष्यका अनुवाद

में प्रवेश करके जीवरूपी होता है, ऐसा जाना जाता है, परन्तु उत्पत्ति नहीं कही जाती है ।

पूर्वपक्षी—ऐसा संशय होनेपर यह प्राप्त हुआ कि जीव उत्पन्न होता है, किससे ? प्रतिज्ञाके अनुपरोध (अबाध) से । 'एकस्मिन् विदिते सर्वम्०' (एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान होता है) इस प्रतिज्ञाका सम्पूर्ण वस्तुसमूहके ब्रह्मजन्य होनेपर बाध नहीं होगा, यदि जीवको अन्य तत्त्व माना जाय, तो उक्त प्रतिज्ञाके साथ विरोध स्पष्ट है । और अविकृत परमात्मा ही जीव है, यह नहीं जान सकते हैं, क्योंकि लक्षण भिन्न है—परमात्मा नष्टपाप्मा है और जीव उससे विपरीत है, अर्थात् उसमें पापादिकी सम्भावना

रत्नप्रभा

द्यसम्भवात्, कल्पाद्यन्तयोः नभस इव जीवस्य तौ किं न स्याताम्, तत्सम्भवादिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षमाह—तत्र प्राप्तं तावदिति । फलं पूर्ववत् । उपरोधः—बाधः । ननु अविकृतं ब्रह्मैव अत्र प्रविष्टं जीवः, न तत्त्वान्तरमिति प्रतिज्ञासिद्धिः, तत्राह—न चेति । जीवः परस्माद् भिन्नः, विरुद्धधर्मवत्त्वाद् भिन्नस्य अविकारत्वे प्रतिज्ञाबाध इति तर्कोपेतविभक्तत्वलिङ्गानुगृहीतोत्पत्तिश्रुतेः बलीयस्त्वात् प्रवेश-

रत्नप्रभाका अनुवाद

नाश होनेसे जीवके जन्म और मरण न हो, क्योंकि अन्य देहसे भोगे जानेवाले स्वर्ग आदिके निमित्त विधिका असम्भव होगा, परन्तु कल्पके आदि और अन्तमें जैसे आकाशकी उत्पत्ति और प्रलय होते हैं, वैसे जीवके वे क्यों न हों, क्योंकि उनका सम्भव है, इस प्रकार प्रत्युदाहरणसे पूर्वपक्ष कहते हैं—"तत्र प्राप्तं तावत्" इत्यादिसे । पूर्वके समान फल है, उपरोध—बाध । अविकृत ब्रह्म ही यहाँ प्रविष्ट हुआ जीव है, तत्त्वान्तर नहीं है, इससे प्रतिज्ञासिद्धि है, उसपर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे । जीव परमात्मासे भिन्न है, विरुद्ध धर्मवाला होनेसे, भिन्न जीव यदि अविकार माना जाय, तो प्रतिज्ञाका बाध होगा, इस तर्कसे

भाष्य

च्चाऽस्य विकारत्वसिद्धिः। यावान् ह्याकाशादिः प्रविभक्तः स सर्वो विकारस्तस्य चाकाशादेरुत्पत्तिः समधिगता, जीवात्मापि पुण्यापुण्यकर्मा सुखदुःखयुक्प्रतिशरीरं प्रविभक्त इति तस्याऽपि प्रपञ्चोत्पत्त्यवसर उत्पत्ति-र्भवितुमर्हति। अपि च 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवा-स्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' (बृ० २।१।२०) इति प्राणादेर्भोग्यजातस्य सृष्टिं शिष्ट्वा 'सर्व एव आत्मानो व्युच्चरन्ति' इति भोक्तॄणामात्मनां पृथक्सृष्टिं शास्ति। 'यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' (मु० २।१।१) इति च जीवात्मनामुत्पत्तिप्रलयावुच्येते। सरूपवचनात्, जीवात्मानो हि परमात्मना सरूपा भवन्ति चैतन्ययोगात्। न च

भाष्यका अनुवाद

है। और विभक्त होनेसे भी जीव विकार है, ऐसा सिद्ध होता है। आकाश आदि जितने विभक्त हैं वे सब विकार हैं और उनकी उत्पत्ति ज्ञात है। जीवात्मा भी पुण्य और अपुण्य कर्मवाला और सुख-दुःखसे युक्त प्रतिशरीरमें विभक्त है, अतः प्रपञ्चकी उत्पत्तिके अवसरमें उसकी (जीवकी) भी उत्पत्ति हो सकती है। और भी 'यथाग्नेः०' (जैसे अग्निसे छोटी छोटी चिनगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार उस आत्मासे प्राण निकलते हैं) इस प्रकार प्राणादि भोग्यसमूहकी सृष्टिका उपक्रम करके 'सर्व एते०' (ये सब आत्माएँ निकलती हैं) इस प्रकार श्रुति भोक्ता आत्माओंकी पृथक् सृष्टिका प्रतिपादन करती हैं। 'यथा सुदीप्तात्०' (जैसे सुदीप्त अग्निसे हजारों समानरूपवाली चिनगारियां उत्पन्न होती हैं, वैसे हे सोम्य! अविनाशीसे अनेक भाव प्रकृष्ट जन्म पाते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं) इस श्रुतिमें भी जीवात्माकी उत्पत्ति और प्रलय कहे गये हैं। सरूप शब्दसे जीवात्माएँ परमात्माके समान होती हैं, चैतन्यके

रत्नप्रभा

श्रुतिर्जीवरूपविकारात्मना प्रविष्ट ईश्वर इति व्याख्येया इति समुदायार्थः। 'सरूपाः' इति दृष्टान्तश्रुतेः भावा जीवा इति निश्चीयते। ननु 'आत्मन आकाशः सम्भूतः'

रत्नप्रभाका अनुवाद

युक्त विभक्तत्व लिङ्गसे अनुगृहीत उत्पत्तिश्रुति अत्यन्त बलवती होनेसे प्रवेशश्रुतिका 'जीवरूप विकारसे ईश्वर प्रविष्ट हुआ' ऐसा व्याख्यान करना चाहिए, ऐसा समुदायका अर्थ है। "सरूपाः" इत्यादि दृष्टान्तश्रुतिसे "भावाः" जीव हैं ऐसा निश्चय होता है। परन्तु "आत्मन०"

भाष्य

क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं वारयितुमर्हति। श्रुत्यन्तरगतस्याऽप्यविरुद्धस्याऽधिकस्याऽर्थस्य सर्वत्रोपसंहर्तव्यत्वात्। प्रवेशश्रुतिरप्येवं सति विकारभावापत्त्यैव व्याख्यातव्या, 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादिवत्। तस्मादुत्पद्यते जीव इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नाऽऽत्मा—जीव उत्पद्यत इति। कस्मात्? अश्रुतेः। न ह्यस्योत्पत्तिप्रकरणे श्रवणमस्ति भूयःसु प्रदेशेषु। ननु क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं न वारयतीत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्। उत्पत्तिरेव त्वस्य न संभवतीति वदामः। कस्मात्? नित्यत्वाच्च ताभ्यः। चशब्दादजत्वादिभ्यश्च।

भाष्यका अनुवाद

योगसे। कहींपर अश्रवण अन्यत्र श्रुतका वारण नहीं कर सकता, क्योंकि अन्य श्रुतिमें स्थित अविरुद्ध अधिक अर्थका सर्वत्र उपसंहार किया जाता है। ऐसा होनेपर 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादि श्रुतिके समान प्रवेशश्रुतिका भी विकारभावापत्तिसे ही व्याख्यान करना चाहिए। इससे जीवात्मा उत्पन्न होता है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—आत्मा—जीव उत्पन्न नहीं होता है; किससे? श्रुति नहीं होनेसे, क्योंकि अनेक प्रदेशोंमें उत्पत्ति प्रकणमें इसकी श्रुति नहीं है। परन्तु कहींपर श्रवण अन्यत्र श्रुतिका वारण नहीं कर सकता, ऐसा कहा गया है? ठीक कहा है, लेकिन इसकी (जीवकी) उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है, ऐसा हम कहते हैं। किससे?

रत्नप्रभा

(तै० २।१।२) इत्यादौ जीवस्योत्पत्त्यश्रवणाद् अनुत्पत्तिः, तत्राह—न चेति। एवं विकारत्वे सति विकारप्रपञ्चात्मना स्वात्मानमकुरुतेतिवद् विकारजीवात्मना प्रवेश इत्यर्थः।

'अजत्वादिश्रुतिः कल्पमध्ये जीवस्याऽनुत्पत्त्यादिविषया। 'तत्त्वमसि' इति श्रुतिश्च मृद् घट इति अभेदवाक्यवद् व्याख्येयेति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

(आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादिमें जीवकी उत्पत्तिका श्रवण न होनेसे उसकी उत्पत्ति नहीं है, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। इस प्रकार जीवके विकार होनेसे विकाररूप प्रपञ्चसे 'स्वात्मानमकुरुत' (अपनी आत्माको किया) इसके समान विकारजीवरूपसे प्रवेश है, ऐसा अर्थ है। अजत्वादि श्रुति कल्पके मध्यमें जीवकी अनुत्पत्ति आदिकी प्रतिपादिका है, 'तत्त्वमसि' इस श्रुतिकी 'मृद् घटः' (मृत्तिकारूप घट) इस अभेदवाक्यके समान

भाष्य

नित्यत्वं ह्यस्य श्रुतिभ्योऽवगम्यते, तथाजत्वमविकारित्वमविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवात्मनाऽवस्थानं ब्रह्मात्मना चेति। न चैवंरूपस्योत्पत्तिरुपपद्यते। ताः काः श्रुतयः ? 'न जीवो म्रियते' (छा० ६।११।३) 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५), 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (क० २।१८), 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (क० २।१८), 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६।१), 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२), 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' (बृ० १।४।७), 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०), 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २।५।१९) इत्येवमाद्या नित्यत्ववादिन्यः सत्यो जीवस्योत्पत्तिं प्रतिबध्नन्ति। ननु प्रविभक्तत्वाद् विकारो विकारत्वाच्चोत्पद्यत इत्युक्तम्। अत्रोच्यते—नाऽस्य प्रविभागः स्वतोऽस्ति,

भाष्यका अनुवाद

इससे कि श्रुतियोंसे नित्य है। 'च' शब्दसे अजत्वादि धर्मोंसे, ऐसा समझना चाहिए। जीवका नित्यत्व तथा अजत्व अविकारित्व और अविकृत ब्रह्म ही का जीवात्मरूपसे एवं ब्रह्मात्मरूपसे अवस्थान श्रुतियोंसे जाना जाता है। अतः उक्त रूपवाले जीवकी उत्पत्ति युक्त नहीं है। वे कौनसी श्रुतियां हैं ? (सुनो) 'न जीवो म्रियते' (जीव मरता नहीं है) 'स वा एष०' (वह यह महान् अज आत्मा है, परिणामरहित, अमर, अमृत, और अभय ब्रह्म है) 'न जायते०' (विद्वान् आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है) 'अजो नित्यः०' (यह जन्मरहित नित्य, शाश्वत और पुराण है) 'तत्सृष्ट्वा०' (उसको उत्पन्न करके उसमें प्रवेश किया) 'अनेन जीवेन०' (इस जीवरूप आत्मा द्वारा अनुप्रवेश करके नाम रूपका व्याकार करूं) 'स एष इह०' (वह इसमें नखाग्रपर्यन्त प्रविष्ट है) 'तत्त्वमसि' (वह तू है) 'अहं ब्रह्माऽस्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) 'अयमात्मा' (यह आत्मा ब्रह्म है और सबका अनुभव करनेवाला है) ये और ऐसी अन्य श्रुतियां जीवका नित्यत्व कहकर जीवकी उत्पत्तिका निषेध करती हैं। परन्तु जीवात्मा विभक्त होनेसे विकार है और विकार होनेसे उत्पन्न होता है, ऐसा

रत्नप्रभा

एवमिति। धर्मिवत् सत्यो विभागो हेतुरौपाधिको वा ? नाऽऽद्यः। असिद्धेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्याख्या करना चाहिए। ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। धर्मीके

भाष्य

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा, (श्वे०६।११) इति श्रुतेः। बुद्ध्याद्युपाधिनिमित्तं त्वस्य प्रविभागप्रतिभानमाकाशस्येव घटादिसंबन्धनिमित्तम्। तथा च शास्त्रम्—'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' (बृ०४।४।५) इत्येवमादि ब्रह्मण एवाऽविकृतस्य सतोऽप्येकस्याऽनेकबुद्ध्यादिमयत्वं दर्शयति। तन्मयत्वं चाऽस्य तद्विविक्तस्वरूपानभिव्यक्त्या तदुपरक्तस्वरूपत्वं स्त्रीमयो जाल्म इत्यादिवद् द्रष्टव्यम्। यदपि क्वचिदस्योत्पत्तिप्रलयश्रवणं तदप्यत एवो

भाष्यका अनुवाद

कहा है; इसपर कहते हैं—इसका विभाग स्वतः नहीं है, क्योंकि 'एको देवः०' (एक देव सब भूतोंमें गूढ, सर्वव्यापी, और सब भूतोंका अन्तरात्मा है) ऐसी श्रुति है। जैसे आकाशका विभाग घटादिके सम्बन्धसे भासता है, वैसे बुद्धि आदि उपाधियोंके सम्बन्धसे यह (जीव) प्रविभक्त भासता है; क्योंकि 'स वा अयमात्मा०' (यह ब्रह्म आत्मा विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय और श्रोत्रमय है) इत्यादि शास्त्र अविकृत एक होनेपर भी ब्रह्म ही अनेक बुद्ध्यादिमय है, ऐसा दिखलाता है। [स्त्रीपरतन्त्र होनेपर कामी पुरुषको] जैसे 'स्त्रीमय' 'जाल्म' कहा जाता है, वैसे विविक्त स्वरूपकी अनभिव्यक्तिसे इससे (बुद्धि आदिसे) उपरक्तस्वरूपता है, अतः तन्मयत्वका व्यवहार होता है, ऐसा समझना चाहिए। कहींपर इसकी उत्पत्ति और प्रलयका जो श्रवण है, वह भी

रत्नप्रभा

इत्याह—अत्रोच्यते—नाऽस्येति। द्वितीये जीवस्य न स्वतो विकारत्वसिद्धिः अप्रयोजकत्वाद् इत्याह—बुद्ध्यादीति। औपाधिकभेदे मानमाह—तथा चेति। मयटो विकारार्थत्वमाशङ्क्याह—तन्मयत्वं चेति। जाल्मः—कामजडः, स्त्रीपरतन्त्रः—स्त्रीमयः इतिवद् जीवस्य स्वरूपाज्ञानाद् बुद्ध्यादिपरतन्त्रत्वेन भेदकर्तृत्वादिमत्त्वात् प्राचुर्यार्थे मयट्प्रयोग इत्यर्थः। लिङ्गं निरस्य तदनुग्राह्यश्रुतेर्गतिमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

समान सत्य विभाग हेतु है या औपाधिक विभाग हेतु है? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, असिद्ध होनेसे, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते-नास्य" इत्यादिसे। द्वितीय पक्षमें जीव स्वतः विकार है, ऐसा सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वह अप्रयोजक है, ऐसा कहते हैं—"बुद्ध्यादि" इत्यादिसे। औपाधिक भेदमें प्रमाण कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। 'विज्ञानमयः' इत्यादिमें मयट् विकारार्थक है, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"तन्मयत्वञ्च" इत्यादिसे। जाल्म—कामजड, स्त्रीमय—स्त्रीपरतन्त्र इसके तुल्य जीवके स्वरूपका ज्ञान न होनेसे जीव

भाष्य

पाधिसंबन्धान्नेतव्यम् । उपाध्युत्पत्त्याऽस्योत्पत्तिस्तत्प्रलयेन च प्रलय इति । तथा च दर्शयति—'प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (बृ० ४।५।१३) इति । तथोपाधिप्रलय एवाऽयं नाऽऽत्मविलय इत्येतदप्यत्रैव 'मा भगवान्मोहान्तमापीपदन्न वा अहमिमं विजानामि न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रश्नपूर्वकं प्रतिपादयति—'न वा

भाष्यका अनुवाद

इसी उपाधिके सम्बन्धसे गौण जानना चाहिए, उपाधिकी उत्पत्तिसे इसकी उत्पत्ति और उसके प्रलयसे इसका प्रलय होता है। क्योंकि 'प्रज्ञानघन०' (विज्ञानघन इन भूतोंसे समुत्थान करके उन्हींके पीछे विनाश पाता है मरणके पीछे संज्ञा नहीं है) यह श्रुति दिखलाती है। इसी प्रकार उपाधिका ही प्रलय है और आत्माका प्रलय नहीं है यह भी यहीं 'मा भगवान्०' (आपने मोहमें

रत्नप्रभा

यदपीति । जीवस्य औपाधिकजन्मनाशयोः श्रुतिमाह—तथेति । एतेभ्यः—देहात्मना परिणतेभ्यो भूतेभ्यः साम्येनोत्थाय—जनित्वा तानि एव लीयमानानि अनु—पश्चाद् विनश्यति प्रेत्य—औपाधिकमरणानन्तरं संज्ञा नास्तीत्यर्थः। ननु प्रज्ञानघनः, संज्ञा नास्तीति च विरुद्धम् इत्यत आह—तथेति । उपाधिलयाद् विशेषज्ञानाभावः एव संज्ञाऽभावो न आत्मस्वरूपविज्ञानाभावः इत्युत्तरं प्रतिपादयति श्रुतिरित्यन्वयः । अत्रैव आत्मनि विज्ञानघने प्रेत्य संज्ञा नाऽस्तीत्युक्त्या मा मोहान्त—मोहमध्यं भ्रान्तिम् आपीपदत—आपादितवान् इमम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

बुद्धि आदिके परतन्त्र हैं, इससे भेदकर्तृत्व आदि उसमें देखे जाते हैं, अतः प्राचुर्यार्थमें मयट् प्रत्ययका प्रयोग है, ऐसा अर्थ है। लिङ्गका निरसन करके तदनुग्राह्य श्रुतिकी गति कहते हैं—"यदपि" इत्यादिसे। जीवका औपाधिक जन्म और नाश है, इसमें प्रमाणभूत श्रुति कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। देहात्मरूपसे परिणत हुए इन भूतोंसे साम्यसे समुत्थान करके—जन्म पाकर और उनके लीन होनेपर स्वयं लीन हो जाता है। प्रेत्य—औपाधिक मरणके पीछे संज्ञा नहीं है, ऐसा अर्थ है। परन्तु 'प्रज्ञानघन' और 'संज्ञा नहीं' ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, इसपर कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। उपाधिके लय होनेसे विशेष ज्ञानका अभाव ही (संज्ञा नास्ति)—संज्ञाका अभाव है, आत्मस्वरूप विज्ञानका अभाव संज्ञाका अभाव नहीं है, ऐसे उत्तरका प्रतिपादन श्रुति करती है, ऐसा अन्वय है। इसी

भाष्य

अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति' (बृ०४।५।१४) इति। प्रतिज्ञानुपरोधोऽप्यविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवभावाभ्युपगमात्। लक्षणभेदोऽप्यनयोरुपाधिनिमित्त एव। 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' (बृ०४।३।१५) इति च प्रकृतस्यैव विज्ञान-

भाष्यका अनुवाद

डाला है इसका मुझको विज्ञान नहीं कि मरणके पीछे संज्ञा नहीं) इस प्रकार प्रश्नपूर्वक श्रुति प्रतिपादन करती है—'न वा अरेऽहम्०' (हे मैत्रेयि! मैं भ्रान्तिजनक वाक्य नहीं कहता, यह आत्मा अविनाशी है, अपरिणामी है और विषयोंके साथ उसका संसर्ग नहीं है) इस प्रकार अविकृत ही ब्रह्म जीवभावको प्राप्त होता है, इस अभ्युपगमसे प्रतिज्ञाका विरोध भी नहीं है। जीव और परमात्माका लक्षणभेद भी उपाधिनिमित्त ही है। 'अत ऊर्ध्वम्०' (इसके बाद विमोक्षके लिए ही कहो) यह भी प्रकृत विज्ञानमय आत्माके सब संसार-धर्मोंके निरा-

रत्नप्रभा

अर्थं न जानासि, ब्रूहि त्वदुक्तेः अर्थमिति मैत्रेयीप्रश्नार्थः। मुनिराह—न वा इति। मोहम्–मोहकरं वाक्यम्, उच्छित्तिः–पूर्वावस्थानाशः धर्मोऽस्य इति उच्छित्तिधर्मा परिणामी स नेति अनुच्छित्तिधर्माऽपरिणामी। तस्माद् अविनाशी इत्यर्थः। तर्हि न प्रेत्य सञ्ज्ञेति कथमुक्तम्? तत्राऽऽह—मात्रेति। मात्राभिः—विषयैः, असंसर्गात् तथोक्तमित्यर्थः। बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव विरुद्धधर्मभेदोऽध्यस्त इत्यत्र हेतुमाह—अत ऊर्ध्वमिति। जीवस्य विकारित्वे मुक्त्ययोगात् 'तत्त्वमसि' इति वाक्यमखण्डार्थमिति च वक्तव्यम्, तथा च फलवत्प्रधानवाक्यापेक्षितजीव-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विज्ञानघन आत्मामें 'मरनेके अनन्तर संज्ञा नहीं है' इस कथनसे आपने मुझे मोहमें—भ्रान्तिमें डाल दिया है। इसी अर्थ को मैं नहीं समझती, मुझसे अपने वचनका अर्थ कहो, ऐसा मैत्रेयीके प्रश्नका अर्थ है। मुनि कहते हैं—"न वा" इत्यादिसे। मोह—मोहकारक वाक्य। उच्छित्ति—पूर्व अवस्थाका नाश है धर्म जिसका, वह उच्छित्तिधर्मा—परिणामी है। उससे भिन्न अनुच्छित्तिधर्मा—अपरिणामी है, इसलिए वह अविनाशी है, ऐसा अर्थ है। तब मरनेके अनन्तर संज्ञा—ज्ञान नहीं है, ऐसा कैसे कहा है? इसपर कहते हैं—"मात्रा" इत्यादिसे। मात्रा अर्थात् विषयोंके साथ संसर्ग न होनेसे, ऐसा कहा है, यह अर्थ है। बिम्ब और प्रतिबिम्बके समान विरुद्ध धर्मभेद अध्यस्त है, इसमें हेतु कहते हैं—"अत ऊर्ध्वम्" इत्यादिसे। जीव विकारी माना जाय, तो मुक्तिका योग न होनेसे 'तत्त्वमसि' यह वाक्य अखण्डार्थ है, ऐसा कहना चाहिए। इसलिए फलवाले प्रधान वाक्योंसे अपेक्षित जीवको

भाष्य

प्रयस्याऽऽत्मनः सर्वसंसारधर्मप्रत्याख्यानेन परमात्मभावप्रतिपादनात्। तस्मान्नैवाऽऽत्मोत्पद्यते प्रविलीयते चेति ॥ १७ ॥

भाष्यका अनुवाद

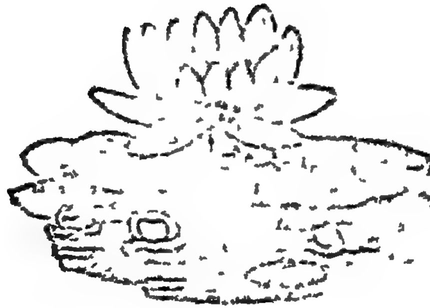
करणसे परमात्मभावका प्रतिपादन करता है। इससे आत्माकी उत्पत्ति और प्रलय ही नहीं होते हैं ॥ १७ ॥

रत्नप्रभा

नित्यत्वश्रुतीनां बलवत्त्वाद् उत्पत्त्यादिकमध्यस्तम् अनुवदन्ति उत्पत्त्यादिश्रुतय इति अविरोध इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नित्य कहनेवाली श्रुतियोंके प्रबल होनेसे उत्पत्ति आदि कहनेवाली श्रुतियां, उत्पत्ति आदि अध्यस्त हैं, ऐसा अनुवाद करती हैं, इसलिए विरोध नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥१७॥



[१२ ज्ञाधिकरण सू० १८]

अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपो जीवोऽचिद्रूप इष्यते।
चिदभावात् सुषुप्त्यादौ जाग्रच्चिन्मनसा कृता ॥ १ ॥
ब्रह्मत्वादेव चिद्रूपश्चित्सुषुप्तौ न लुप्यते।
द्वैतादृष्टिर्द्वैतलोपान्नहि द्रष्टुरिति श्रुतेः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—जीव चैतन्यस्वरूप है या अचेतन है ?

पूर्वपक्ष—जीव अचेतन है, क्योंकि सुषुप्ति आदि अवस्थामे चैतन्यका अभाव है और जाग्रत् अवस्थामे जो चेतनता दिखती है, वह आत्मा और मनके सयोगसे उत्पन्न होती है।

सिद्धान्त—जीव ब्रह्मस्वरूप होनेसे ही चैतन्यरूप है, सुषुप्तिमे चेतनताका नाश नहीं होता है, प्रपञ्चके नाश होनेसे प्रपञ्चकी प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि 'नहि द्रष्टुः' (आत्मा की स्वरूपभूता दृष्टिका विलोप नहीं होता) ऐसी श्रुति है।

---

* तात्पर्य्य यह है कि नैयायिक लोग मानते हैं—सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधिमें चैतन्यका अभाव होनेसे जीव चैतन्यरूप नहीं है। जागरणमें आत्मा और मनके संयोगसे चैतन्य नामका गुण उत्पन्न होता है।

यह कथन असंगत है, क्योंकि चैतन्यस्वरूप ब्रह्मका ही जीवरूपसे प्रवेश श्रुतिमें प्रतिपादित है। चैतन्य का सुषुप्तिमें लोप हो जाता है, यह कथन ठीक नहीं है सुषुप्ति आदिके साक्षीरूपसे उसकी स्थिति रहती है। अन्यथा सुषुप्ति आदिका ज्ञान नहीं होता। सुषुप्तिमें प्रपञ्चकी प्रतीति क्यों नहीं होती ऐसा यदि कहो, तो हम कहते हैं कि द्वैत—प्रपञ्चके लुप्त होनेसे [उसकी प्रतीति नहीं होती है]। इस विषयमें श्रुति भी है—'यद्वैतन्न पश्यति पश्यन् वैतन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्' इसका अर्थ यह है—'सुषुप्तिमें जीव कुछ नहीं देखता' ऐसा जो लोकमें कहते हैं वह युक्त नहीं है, क्योंकि देखता हुआ ही जीव उस समय नहीं देखता इस प्रकार केवल भ्रान्तिसे ही कहा जाता है। तो उसका दर्शन कैसे होता है ? इस विषयमें उत्तर कहा जाता है—आत्माकी स्वरूपभूता दृष्टिका विनाश नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशीस्वभाव है। यदि ऐसा न माना जाय तो लोपवादी भी निःसाक्षिक लोप नहीं कह सकेगा। तो लौकिक जनोंको 'नहीं देखता है' ऐसा भ्रम कैसे होता है ? इस विषयमें हेतु कहते हैं—चैतन्यस्वरूप ब्रह्मसे भिन्न क्रिया, साधन, फलरूपसे विभक्त जगत् नामक जो दूसरी वस्तु है वह नहीं है क्योंकि वह उस समय अपने कारणमें लीन हो जाती है। इसलिए उस समय जागरणके समान द्रष्टा, दृश्य और दर्शन व्यवहारके अभावसे 'न पश्यति' (नहीं देखता है) ऐसी लौकिकोंको भ्रान्ति होती है। इससे सिद्ध हुआ कि जीव चैतन्यस्वरूप है।

ज्ञोऽत एव ॥ १८ ॥

पदच्छेद--ज्ञः, अतः, एव ।

पदार्थोक्ति--[जीवः] ज्ञः--स्वयञ्ज्योतिःस्वरूपः, [कुतः] अत एव अनुत्पत्तिमत्त्वादेव ।

भाषार्थ--जीव स्वयंज्योतिस्वरूप है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

भाष्य

स किं कणभुजानामिवाऽऽगन्तुकचैतन्यः स्वतोऽचेतन आहोस्वित् सांख्यानामिव नित्यचैतन्यस्वरूप एवेति वादिविप्रतिपत्तेः संशयः । किं तावत् प्राप्तम् । आगन्तुकमात्मनश्चैतन्यमात्ममनःसंयोगजमग्निघटसंयोगजरोहितादिगुणवदिति प्राप्तम् । नित्यचैतन्यत्वे हि सुप्तमूर्च्छितग्रहाविष्टानामपि चैत-

भाष्यका अनुवाद

वह (जीवात्मा) क्या कणादमतके समान आगन्तुक चैतन्यवाला होता हुआ स्वतः अचेतन है, या सांख्यमतके समान नित्यचैतन्यस्वरूप ही है ? इस प्रकार वादियोंकी विप्रतिपत्ति होनेसे संशय होता है । तो क्या प्राप्त हुआ ?

पूर्वपक्षी--आत्मा और मनके संयोगसे जीवमें आगन्तुक चैतन्य होता है, अग्नि और घटके संयोगसे उत्पन्न हुए रोहित आदि गुणोंके समान, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि नित्यचैतन्य होनेपर सुप्त, मूर्च्छित और ग्रहाविष्टोंको भी

रत्नप्रभा

ज्ञोऽत एव । 'आत्मैवास्य ज्योतिः' (बृ० ४।३।६) इत्याद्यात्मस्वप्रकाशत्वश्रुतीनां 'पश्यंश्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रम्' (बृ० १।४।७) इति अनित्यज्ञानवत्त्वश्रुतिभिः विरोधोऽत्र निरस्यते । अस्य लोकस्य चक्षुः--द्रष्टा, श्रोत्रम्--श्रोता इत्यर्थः । प्रागुक्तजीवानुत्पत्तिहेतुम् आदाय स्वप्रकाशत्वसाधनाद् हेतुसाध्यभावः संगतिः । अनुत्पत्तौ हि स्वप्रकाशं ब्रह्मैव उपहितं जीवः, इति जीवस्य स्वप्रका-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"ज्ञोऽत एव" । "आत्मैवास्य ज्योतिः" (आत्मा ही इसका प्रकाश है) इत्यादि आत्मा स्वप्रकाश है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंका "पश्यंश्चक्षुः०" (दर्शन करता हुआ चक्षु, श्रवण करता हुआ श्रोत्र) इत्यादि अनित्य ज्ञान दिखलानेवाली श्रुतियोंके साथ विरोधका निराकरण यहाँपर किया जाता है । इस लोकका चक्षु--द्रष्टा है और श्रोत्र--श्रोता है, ऐसा अर्थ है । पूर्वोक्त जीवकी अनुत्पत्तिरूप हेतुको लेकर स्वप्रकाशत्वके साधनसे हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति है, क्योंकि अनुत्पत्तिमें स्वप्रकाश ब्रह्म ही उपाधियुक्त होकर जीव होता है, इसलिए

भाष्य

न्यं स्यात्। ते पृष्टाः सन्तो न किंचिद् वयमचेतयामहीति जल्पन्ति स्वस्थाश्च चेतयमाना दृश्यन्ते। अतः कादाचित्कचैतन्यत्वादागन्तुकचैतन्यः आत्मेति।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—ज्ञो नित्यचैतन्योऽयमात्माऽत एव यस्मादेव नोत्पद्यते परमेव ब्रह्माऽविकृतमुपाधिसंपर्काद् जीवभावेनाऽवतिष्ठते। परस्य

भाष्यका अनुवाद

चैतन्यकी प्राप्ति होगी। परन्तु उनसे पूछनेपर 'हम कुछ नहीं जानते हैं' ऐसा कहते हैं और स्वस्थ होनेपर जानते हुए दिखते हैं। इसलिए कादाचित्क चैतन्य होनेसे आत्मा आगन्तुकचैतन्य है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—यह आत्मा नित्यचैतन्य है इसीसे—क्योंकि वह उत्पन्न नहीं होता है, इससे अविकृत पर ब्रह्म ही उपाधिके सम्बन्धसे

रत्नप्रभा

शता सिध्यति। न चैवं गतार्थता। अनुत्पन्नस्याऽपि जीवस्य स्वप्रकाशत्वे ज्ञानसाधनवैयर्थ्यमिति तर्कसहितानित्यज्ञानश्रुतिबलेन स्वप्रकाशत्वश्रुतेः बाध्यतया ब्रह्मान्यत्वशङ्कायां तदैक्ययोग्यतायै स्वप्रकाशत्वस्याऽत्र साधनात्। तथा च पूर्वपक्षे जीवस्य ब्रह्मैक्यायोग्यता सिद्धान्ते तद्योग्यता इत्यापादसमाप्तेः फलमवगन्तव्यम्। इष्टापत्तिं निराचष्टे—ते पृष्टा इति। साधनाधीनज्ञानत्वात् न स्वप्रकाशो जीवो व्यतिरेकेण ईश्वरवदित्याह—अतः कादाचित्केति।

यथाश्रुते भाष्ये हेतोः साध्याविशेषः इति मन्तव्यम्। अतो जीवस्य स्वप्रकाशत्वश्रुतिः बाध्या इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—एवमिति। चेच्छब्दो निश्चयार्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवकी स्वप्रकाशता सिद्ध होती है। यह अर्थ पूर्वमें कहा जा चुका है, इसलिए गतार्थ है। ऐसी भी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अनुत्पन्न भी जीव स्वप्रकाश हो, तो ज्ञानके साधन व्यर्थ होंगे इस प्रकार तर्कसहित अनित्यज्ञानश्रुतिके बलसे स्वप्रकाशत्वश्रुतिका बाध है, अतः जीव ब्रह्मसे अन्य है, ऐसी शङ्का होनेपर उसके ऐक्यकी योग्यताके लिए स्वप्रकाशत्वका यहाँ साधन है, इस प्रकार पूर्वपक्षमें ब्रह्मैक्यके लिए जीवकी अयोग्यता है और सिद्धान्तमें योग्यता है ऐसा पादसमाप्तिपर्य्यन्त फल समझना चाहिए। इष्टापत्तिका निराकरण करते हैं—"ते पृष्टा" इत्यादिसे। जीव साधनाधीनज्ञान होनेसे स्वप्रकाश नहीं है, व्यतिरेकसे ईश्वरके समान, ऐसा कहते हैं—"अतः कादाचित्क" इत्यादिसे। यथाश्रुत भाष्यमें हेतु और साध्यमें समानता है, ऐसा जानना चाहिए। इससे जीव स्वप्रकाश है ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुति बाधित है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे।

भाष्य

हि ब्रह्मणश्चैतन्यस्वरूपत्वमाम्नातं—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै २।१।१), 'अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३), इत्यादिषु श्रुतिषु। तदेव चेत् परं ब्रह्म जीवः, तस्माज्जीवस्याऽपि नित्यचैतन्यस्वरूपत्वमग्न्यौष्ण्यप्रकाशवदिति गम्यते। विज्ञानमयप्रक्रियायां च श्रुतयो भवन्ति—'असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति' (बृ० ४।३।११) 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (बृ० ४।३।९) इति, 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ० ४।३।३०) इत्येवंरूपाः।

भाष्यका अनुवाद

जीवभावसे रहता है, क्योंकि पर ब्रह्मका चैतन्य स्वरूप 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है) 'सत्यं ज्ञानम्०' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है) 'अनन्तरोऽबाह्यः०' 'अन्तररहित, बाह्यरहित, कृत्स्न विज्ञानैकरस ही है) इत्यादि श्रुतियोंमें कहा है। वही पर ब्रह्म जीव है इससे जीवका भी नित्य चैतन्यरूपत्व अग्निकी उष्णता और प्रकाशके समान समझा जाता है और विज्ञानमयके प्रकरणमें 'असुप्तः०' (असुप्त सुप्तभावोंको देखता है) 'अत्रायं पुरुषः०' (यहाँ यह आत्मा आप ही ज्योतिःस्वरूप होता है) 'नहि विज्ञातुः' (विज्ञाताके विज्ञानका विनाश नहीं) इस प्रकारकी श्रुतियाँ हैं 'अथ यो वेदेदम्' और जो मैं (सुरभि या असुरभि)

रत्नप्रभा

न केवलं स्वप्रकाशब्रह्माभेदाद् जीवस्य स्वप्रकाशता, किन्तु श्रुतितोऽपीत्याह—विज्ञानमयेति। योऽयं विज्ञानमय इति प्रकरण इत्यर्थः। असुप्तः—स्वयं भासमान एव आत्मा सुप्तान्—लुप्तव्यापारान् वागादीन् अभिलक्ष्य चाकशीति, सुप्तार्थान् पश्यति इति यावत्। अत्र स्वप्ने विज्ञातुर्बुद्धिसत्त्वस्य साक्षिणो विज्ञातेः विनाशो नाऽस्तीत्यर्थः। घ्राणादिजन्यगन्धादिज्ञानानुसन्धानसिद्धये आत्मनो ज्ञानरूपत्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

'चेत्' शब्द निश्चयार्थक है। स्वप्रकाश ब्रह्मसे जीव अभिन्न है, इसीसे वह स्वप्रकाश है, ऐसा नहीं है, किन्तु श्रुति भी इसको स्वप्रकाश कहती है, ऐसा कहते हैं—"विज्ञानमय" इत्यादिसे 'योऽयं विज्ञानमयः' (जो यह विज्ञानमय है) इत्यादि प्रकरणमें ऐसा अर्थ है। असुप्तः—स्वयंप्रकाशमान आत्मा ही सुप्तान्–जिनका व्यापार लुप्त हुआ है ऐसे वाणी आदिको चाकशीति–देखता है। सुप्त अर्थोंको देखता है, ऐसा अर्थ है। अत्र–स्वप्नमें, विज्ञातुः—बुद्धिसत्त्वरूप साक्षीके, विज्ञातेः—विज्ञानशक्तिका, विनाश नहीं, ऐसा अर्थ है। घ्राणादिजन्य गन्धादि ज्ञानके अनुसन्धानकी सिद्धिके लिए आत्मा ज्ञानरूप है, ऐसा कहना चाहिए, ऐसा दूसरी श्रुतिसे कहते

भाष्य

'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' (छा०८।१२।४) इति च सर्वैः करणद्वारैः 'इदं वेद, इदं वेद' इति विज्ञानेनाऽनुसंधानात् तद्रूपत्वसिद्धिः। नित्यस्वरूपचैतन्यत्वे घ्राणाद्यानर्थक्यमिति चेत्, न; गन्धादिविषयविशेषपरिच्छेदार्थत्वात्। तथा हि दर्शयति–'गन्धाय घ्राणम्' इत्यादि। यत्तु सुप्तादयो न चेतयन्त इति तस्य श्रुत्यैव परिहारोऽभिहितः सुषुप्तं प्रकृत्य—'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति' नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरि-

भाष्यका अनुवाद

सूँघता हूँ यह जो जानता है, वह आत्मा है) इस प्रकार सब इन्द्रियोंके द्वारा यह जानता है, ऐसे विज्ञानके साथ अनुसन्धान होनेसे तद्रूपत्व सिद्ध होता है। वह नित्यस्वरूपचैतन्य हो, तो घ्राणादि अनर्थक होंगे? यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि गन्धादिविषयविशेषके परिच्छेदके लिए वे आवश्यक हैं। इसलिए 'गन्धाय घ्राणम्' (गन्धके लिए घ्राण है) इत्यादि दिखलाते हैं। 'सुप्त आदि नहीं जानते हैं' ऐसा जो कहा है, उसका, सुषुप्तका उपक्रम करके 'यद्वै तन्न पश्यति०' (सुषुप्तिमें वह देखता हुआ ही नहीं देखता अर्थात् सुषुप्तिमें स्वरूपज्ञान है और विशेषज्ञान नहीं है, क्योंकि द्रष्टाकी दृष्टिका विनाश नहीं होता है, अविनाशी होनेसे, और उस

रत्नप्रभा

वाच्यमिति श्रुत्यन्तरेण आह—अथेति। आत्मनो नित्यचिद्रूपत्वेऽपि स्वतोऽसंगतया गन्धाद्यसम्बन्धात् तत्सम्बन्धघटनात्मकवृत्त्यर्थानि ज्ञानसाधनानीति न तेषां वैयर्थ्यमित्याह—न गन्धेति। परिच्छेदः—वृत्तिः। गन्धाय—तद्गोचरान्तःकरणवृत्तये इत्यर्थः। सुप्ताद्यवस्थासु आत्मसत्त्वेऽपि चैतन्याभावात् न आत्मा चिद्रूप इत्युक्तं दूषयति—यत्त्विति। तत्—तदा सुषुप्तौ, न पश्यतीति यत् तत् पश्यन्नेव—अलुप्तज्ञान एव सन्न पश्यतीत्यत्र हेतुः—नहीति। नाशायोग्यत्वाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"अथ" इत्यादिसे। आत्मा नित्यचैतन्यरूप है, तो भी स्वतः असङ्ग होनेसे गन्ध आदि विषयके साथ उसका सम्बन्ध नहीं है, अतः उस सम्बन्धका उपपादन करनेवाली वृत्तियोंके लिए ज्ञानसाधन हैं, इसलिए वे निरर्थक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न गन्ध" इत्यादिसे। परिच्छेद—वृत्ति। गन्धाय—गन्धविषयक अन्तःकरणकी वृत्तिके लिए, ऐसा अर्थ है। सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें आत्मा है, तो भी चैतन्य नहीं है, इसलिए आत्मा चैतन्यरूप नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, उसको दूषित करते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे। तत्—अर्थात् तब—सुषुप्तिमें। न पश्यति—नहीं देखता है, इसलिए यत् तत् पश्यन्नेव सन्न पश्यति—जिसका ज्ञान लुप्त नहीं हुआ, ऐसा होकर नहीं देखता। इसमें हेतु कहते हैं—'नहि' इत्यादिसे। नाशके अयोग्य होनेसे, ऐसा अर्थ है।

भाष्य

लोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्' (बृ० ४।३।२३) इत्यादिना। एतदुक्तं भवति—विषयाभावादियमचेतयमानता, न चैतन्याभावादिति। यथा वियदाश्रयस्य प्रकाशस्य प्रकाश्याभावादनभिव्यक्तिर्न स्वरूपाभावात् तद्वत्। वैशेषिकादितर्कश्च श्रुतिविरोधे आभासीभवति। तस्मान्नित्यचैतन्यस्वरूप एवाऽऽत्मेति निश्चिनुमः ॥१८॥

भाष्यका अनुवाद

समय उससे अन्य विभक्त द्वितीय नहीं है, जिसको वह देखे) इत्यादि श्रुतिसे ही, परिहार किया है। तात्पर्य यह है कि विषयके अभावसे यह चेतनताका अभाव है, न कि चैतन्यके अभावसे। जैसे आकाशमें रहनेवाले प्रकाशकी प्रकाश्यके अभावसे अनभिव्यक्ति है, स्वरूपके अभावसे नहीं है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए। वैशेषिक आदिके तर्क तो श्रुतिके विरोध होनेपर आभास होते हैं। इससे नित्यचैतन्यस्वरूप ही आत्मा है ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १८ ॥

रत्नप्रभा

इत्यर्थः। किमिति न पश्यतीत्यत आह—न त्विति। वृत्तेः साधनाधीनत्वोक्त्या स्वरूपज्ञानस्य साधनाधीनत्वं हेतुः असिद्धः इत्युक्तम्। साधनवैयर्थ्यतर्कोऽपि निरस्तः। शृण्वन् इत्याद्यनित्यज्ञानश्रुतीनां वृत्तिविषयत्वं व्याख्यातम्। आत्मा न ज्ञानम्, द्रव्यत्वात् इत्यादितर्काश्चाऽऽगमबाधिताः, फलवत्प्रधानवाक्यापेक्षितस्वप्रकाशत्वागमस्य बलवत्त्वात्। किंच, निरवयवात्मनो मनस्संयोगाभावाद् न अनित्यज्ञानगुणता। समवायाभावाच्च न स्वसमवेतज्ञानवेद्यता, कर्मकर्तृत्वविरोधाच्च। किंच, ज्ञानत्वस्य एकवृत्तित्वे लाघवादात्मैव ज्ञानम्। वृत्तेश्च मनःपरिणामत्वश्रुत्या कामः सङ्कल्प इत्याद्यया जडत्वात् नास्माकं ज्ञानद्वैविध्यगौरवम् इत्यनवद्यमात्मनः स्वप्रकाशत्वमिति सिद्धम् ॥१८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्यों नहीं देखता, इसपर कहते हैं—"न तु" इत्यादिसे। वृत्ति साधनके अधीन है, ऐसा कहा गया है, इसलिए स्वरूपज्ञानमें 'साधनाधीनत्व' हेतु असिद्ध है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। साधनकी व्यर्थताके तर्कका भी खण्डन किया गया है। 'शृण्वन् श्रोत्रम्' (सुनता हुआ श्रोत्र) इत्यादि अनित्यज्ञान की श्रुति भी वृत्तिविषयक है, ऐसा व्याख्यान किया है। आत्मा ज्ञान नहीं है, द्रव्य होनेसे, इत्यादि तर्क भी श्रुतिसे बाधित है, क्योंकि फलवाला जो प्रधानवाक्य है, उससे अपेक्षित जो स्वप्रकाशत्व श्रुति है, वह बलवती है। और निरवयव आत्माका मनके साथ संयोग न होनेसे उसमें अनित्यज्ञानरूप गुण नहीं है। और समवाय न होनेसे अपने साथ समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले ज्ञानसे वेद्य हो, ऐसा भी नहीं है। और उसमें कर्मकर्तृत्वका विरोध होता है, इसलिए भी ऐसा नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानत्वके एकवृत्ति होनेसे लाघव है, अतः आत्मा ही ज्ञान है और 'कामः सङ्कल्पः' (काम है, सङ्कल्प है) इत्यादि मनःपरिणामित्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिसे वृत्तिके जड़ होनेसे हमें ज्ञानको दो प्रकारका माननेमें गौरव नहीं होता, इसलिए आत्मा स्वप्रकाश है, यह अनवद्य—दोषरहित है, यह सिद्ध हुआ ॥१८॥

[१३ उत्क्रान्तिगत्यधिकरण सू० १९-३२]

जीवोऽणुः सर्वगो वा स्यादेषोऽणुरिति वाक्यतः ।
उत्क्रान्तिगत्यागमनश्रवणाच्चाणुरेव सः ॥ १ ॥
साभासबुध्यणुत्वेन तदुपाधित्वतोऽणुता ।
जीवस्य सर्वगत्वं तु स्वतो ब्रह्मत्वतः श्रुतम्* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—जीव अणु है या सर्वगत—विभु है ?

पूर्वपक्ष—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (यह अणु आत्मा अतिशुद्ध चित्तसे जाननेके योग्य है) इस श्रुतिवाक्यसे, उत्क्रमण, गति और आगमनके श्रवणसे प्रतीत होता है कि जीव अणु ही है ।

सिद्धान्त—चैतन्य-प्रतिबिम्ब सहित बुद्धि अणु है, उस बुद्धिसे उपहित होनेके कारण जीव अणु कहा जाता है, ब्रह्मस्वरूप होनेसे स्वयं तो वह सर्वगत—विभु है, ऐसा श्रुतिसे प्रतिपादित है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः (यह अणु आत्मा विशुद्ध चित्तसे जानने योग्य है) इत्यादि श्रुतिमें जीव अणु कहा गया है । 'अस्माच्छरीरादुत्क्रामति' (इस शरीरसे निकलता है) इस श्रुतिमें जीवका उत्क्रमण सुना गया है । 'चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (वे सब चन्द्रलोकमें ही जाते हैं) इस श्रुतिसे गति और 'तस्माल्लोकात्पुनरेति' (चन्द्रलोकसे फिर आता है) इससे आगमन सुना जाता है । सर्वगत—विभुके उत्क्रमण, गमन आदि नहीं हो सकते हैं । यद्यपि मध्यमपरिमाणके उत्क्रमण, गमन आदि हो सकते हैं, तो भी जीवको अणु कहनेवाली श्रुतिसे विरोध होता है और अनित्यताका निवारण नहीं हो सकता । इससे प्रतीत होता है कि जीव अणुपरिमाण है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—चैतन्यप्रतिबिम्ब सहित बुद्धि सर्वव्यापक नहीं है । उससे उपहित होनेके कारण जीवके उत्क्रमण, गमन आदि उपपन्न होते हैं । स्वयं तो जीव ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण सर्वव्यापक है । 'स वा एष महानज आत्मा' (वह आत्मा—जीव जन्मरहित और महान्—सर्व व्यापक है) 'सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (जीव सर्वव्यापक सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है) इत्यादि श्रुतियाँ उसकी सर्वव्यापकताका प्रतिपादन करती हैं । इससे सिद्ध हुआ कि जीव सर्वव्यापक है ।

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥

पदार्थोक्ति—[जीवस्य] उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्—'अस्माच्छरीरादुत्क्रामति' 'चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' 'तस्माल्लोकात्पुनरेति' इत्युत्क्रमणगमनागमनानां [श्रवणादणुर्जीवः । अतोऽस्ति 'सर्वव्यापी' इति सर्वगतत्वश्रुतेः 'एषोऽणुरात्मा' इत्यणुत्वश्रुत्या विरोध इति] ।

भाषार्थ—'अस्माच्छरीरादुत्क्रामति' (जीव इस शरीरसे जाता है) 'चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (वे सब चन्द्रलोकमें ही जाते हैं) 'तस्माल्लोकात्पुनरेति' (चन्द्रलोकसे फिर आता है) इस प्रकार उत्क्रमण, गमन और आगमनके श्रवणसे जीव अणुपरिमाण है, इसलिए जीवको सर्वव्यापक कहनेवाली 'सर्वव्यापी' इस श्रुतिका जीवको अणुपरिमाण कहनेवाली 'एषोऽणुरात्मा' इस श्रुतिसे विरोध है ।

भाष्य

इदानीं तु किंपरिमाणो जीव इति चिन्त्यते, किमणुपरिमाण उत मध्यमपरिमाण अहोस्विन्महापरिमाण इति । ननु च नाऽऽत्मोत्पद्यते नित्यचैतन्यश्चायमित्युक्तम् । अतश्च पर एवाऽऽत्मा जीव इत्यापतति । परस्य चाऽऽत्मनोऽनन्तत्वमाम्नातम् तत्र कुतो जीवस्य परिमाणचिन्तावतार

भाष्यका अनुवाद

अब जीवका कौन परिमाण है यह विचार किया जाता है, क्या उसका (जीवका) अणुपरिमाण है या मध्यमपरिमाण है अथवा महत्परिमाण है ? । परन्तु आत्मा उत्पन्न नहीं होता है और नित्यचैतन्य है, ऐसा पूर्वमें कहा जा चुका है; अतः 'जीव परमात्मा ही है' ऐसा प्राप्त होता है, और परमात्मा अनन्त है ऐसा श्रुतिमें प्रतिपादित है, तो जीवपरिमाणकी चिन्ताका अवतरण कहाँसे हुआ ?

रत्नप्रभा

स्वप्रकाशत्वाद् आत्मस्वरूपादीषद्बहिष्ठं परिमाणमेव आश्रिताश्रयत्वेन अन्तर्बहिर्भावेन वा सङ्गत्या विचारयति—उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् । विषयसंशयौ दर्शयति—इदानीमिति । 'नात्माऽश्रुतेः' (ब्र० सू० २।३।१७)

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वप्रकाश आत्मस्वरूपसे कुछ बाहरके परिमाणका ही आश्रिताश्रय और अन्तर्बहिर्भाव सङ्गतिसे विचार करते हैं—"उत्क्रान्ति०" इत्यादिसे । विषय और संशय दिखलाते हैं—"इदानीम्" इत्यादिसे । 'नात्माऽश्रुतेः' इत्यादिसे यह अधिकरण गतार्थ है, ऐसी आशङ्का

भाष्य

इति। उच्यते—सत्यमेतत्; उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रवणानि तु जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति। स्वशब्देन चाऽस्य क्वचिदणुपरिमाणत्वमाम्नायते। तस्य सर्वस्याऽनाकुलत्वोपपादनायाऽयमारम्भः। तत्र प्राप्तं तावत्—उत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात् परिच्छिन्नोऽणुपरिमाणो जीव इति। उत्क्रान्तिस्तावत्—'स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति' (कौ०३।३) इति। गतिरपि 'ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति (कौ०१।२) इति। आगतिरपि 'तस्माल्लोकात् पुन-

भाष्यका अनुवाद

कहते हैं—ठीक है, तथापि उत्क्रान्ति, गति और आगतिकी श्रुति जीवके परिच्छेदका बोध कराती है। कहींपर श्रुति स्वशब्दसे 'जीव अणुपरिमाणवाला है' ऐसा कहती है उन सबको अनाकुल—बाधरहित करनेके लिए यह आरम्भ है।

पूर्वपक्षी—जीवका अणुपरिमाण है, क्योंकि उत्क्रान्ति, गति और आगतिका श्रुतिमें प्रतिपादन है। 'स यदा०' (वह जब इस शरीरसे उत्क्रमण करता है तब सब इन्द्रियोंके साथ उत्क्रमण करता है) यह श्रुति उत्क्रान्ति कहती है। 'ये वै के चा०' (और जो कोई इस लोकसे प्रयाण करते हैं, वे सब चन्द्रलोकमें जाते हैं) यह श्रुति गति कहती है। और

रत्नप्रभा

इत्यादिना गतार्थत्वमस्य आशङ्क्य आत्माणुत्वश्रुतीनां महत्त्वश्रुतीनां च अविरोधकथनार्थम् अस्याऽधिकरणस्याऽऽरम्भ इत्याह—नन्वित्यादिना। न केवलं श्रुतोत्क्रान्त्याद्यनुपपत्त्या आत्मनोऽणुत्वम्, किन्तु 'एषोऽणुरात्मा' इति श्रुत्यापि इत्याह—स्वशब्देनेति। पूर्वपक्षे जीवस्याणुत्वात् ब्रह्मैक्यासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिः इति मत्वा सूत्रं व्याकुर्वन् पूर्वपक्षमाह—तत्र प्राप्तमित्यादिना। 'श्रुतेः' 'अणुः'

रत्नप्रभाका अनुवाद

करके आत्माको अणु कहनेवाली और महत् कहनेवाली श्रुतियोंके अविरोधका प्रतिपादन करनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ है, ऐसा कहते हैं—"ननु" इत्यादिसे। केवल श्रुतिप्रतिपादित उत्क्रान्ति आदिकी अनुपपत्तिसे आत्मा अणु है, ऐसा नहीं है, किन्तु 'एषोऽणुरात्मा' (यह आत्मा अणु है) इस श्रुतिसे भी आत्माकी अणुपरिमाणताकी प्रतीति होती है, ऐसा कहते हैं—"स्वशब्देन" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें जीव अणु है, [अतः उसका ब्रह्मके साथ ऐक्य असिद्ध है] इस प्रकार जीवके साथ ब्रह्मैक्यकी असिद्धि फल है, सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि फल है, ऐसा विचार कर सूत्रका स्पष्टीकरण करते हुए पूर्वपक्ष कहते हैं—"तत्र प्राप्तम्" इत्यादिसे। 'श्रुतेः'

भाष्य

रेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४।४।६) इति । आसामुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात् परिच्छिन्नस्तावज्जीव इति प्राप्नोति । नहि विभोश्चलनमवकल्पत इति । सति च परिच्छेदे शरीरपरिमाणत्वस्याऽऽर्हतपरीक्षायां निरस्तत्वादणुरात्मेति गम्यते ॥१९॥

भाष्यका अनुवाद

'तस्माल्लोकात्' (उस लोकसे फिर इस लोकमें कर्मके लिए आता है) यह श्रुति आगति भी कहती है । इन उत्क्रान्ति, गति और आगति की श्रुतियोंसे जीव-परिच्छिन्न है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि विभुकी गति नहीं हो सकती है। परिच्छेद प्राप्त होनेपर शरीरपरिमाणका आर्हतमतकी परीक्षामें निरसन करनेसे अणु आत्मा है ऐसा प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

रत्नप्रभा

इति उत्तरसूत्रादाकृष्य सूत्रं पूरितम् । उत्क्रान्तिः—श्रूयत इति शेषः । सः—मुमूर्षुः जीवः । एतैः—बुद्ध्यादिभिः, तस्मात्—चन्द्रलोकाद् इमं लोकं प्रति कर्म कर्तुम् आयाति इत्यर्थः ॥१९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

(श्रुतिसे) और 'अणुः' (अणु है) इन दो पदोंका उत्तर सूत्रसे आकर्षण कर इस सूत्रकी पूर्ति करते हैं । उत्क्रान्तिः—श्रूयते, इतना शेष समझना चाहिए । वह—मुमूर्षु जीव । इन—बुद्धि आदिके साथ, उस चन्द्रलोकसे इस लोकमें कर्म करनेके लिए आता है, ऐसा अर्थ है॥१९॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥२०॥

पदच्छेद—स्वात्मना, च, उत्तरयोः ।

पदार्थोक्ति—उत्तरयोः—गत्यागत्योः स्वात्मना—जीवात्मना सम्बन्धात् [ते आत्मनोऽणुत्वे सम्भवतः] ।

भाषार्थ—उत्क्रमणके अनन्तर होनेवाले गमन और आगमनका सम्बन्ध है वे गमन और आगमन आत्माके अणु होनेपर ही हो सकते हैं ।

भाष्य

उत्क्रान्तिः कदाचिदचलतोऽपि ग्रामस्वाम्यनिवृत्तिवद् देहस्वाम्यनिवृत्त्या कर्मक्षयेणाऽवकल्पेत। उत्तरे तु गत्यागती नाऽचलतः संभवतः। स्वात्मना हि तयोः संबन्धो भवति, गमेः कर्तृस्थक्रियात्वात्। अमध्यमपरिमाणस्य च गत्यागती अणुत्वे एव संभवतः। सत्योश्च गत्यागत्योरुत्क्रान्तिरप्यपसृप्तिरेव देहादिति प्रतीयते, न ह्यनपसृप्तस्य

भाष्यका अनुवाद

उत्क्रान्ति तो अचल आत्माकी भी गाँवके स्वामित्वकी निवृत्तिके समान देहके स्वामित्व की निवृत्तिसे कर्मके क्षयहोनेपर हो सकती है, परन्तु आगेकी अर्थात् गति और आगति तो अचल आत्मामें नहीं हो सकती हैं, क्योंकि उन दोनोंका सम्बन्ध अपनी आत्माके साथ होता है, कारण कि 'गम्' धातु कर्तृस्थक्रियाको कहता है। मध्यमपरिमाणरहित जीवको अणु मानने से ही गति और आगति हो सकती हैं। गति और आगति होनेसे देहसे अपसृप्ति अर्थात् देहसे बाहर निकलना ही उत्क्रान्ति है,

रत्नप्रभा

उत्क्रान्तिः आत्मनो देहात् निर्गमो न भवति येनाऽणुत्वं स्यात्, किन्तु स्वामित्वनिवृत्तिरिति केचित्। तदङ्गीकृत्यापि अणुत्वमावश्यकमित्याह—स्वात्मनेति। उत्क्रान्तेः उत्तरयोः गत्यागत्योः स्वात्मना कर्त्रा सम्बन्धादणुत्वमिति सूत्रयोजना। पाकानाश्रयस्य पक्तृत्ववद् गत्यनाश्रयस्यापि गन्तृत्वोक्तिः किं न स्याद्? इत्यत आह—गमेरिति। गमनस्य कर्तरि संयोगविभागरूपातिशयहेतुत्वात् कर्त्राश्रितत्वं लोकसिद्धम् इत्यर्थः। जीवः अणुः, अमध्यमपरिमाणत्वे सति गतिमत्त्वात्, परमाणुवद्, इत्याह—अमध्यमेति। अङ्गीकारं त्यजति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्माका देहसे निर्गम उत्क्रान्ति नहीं है जिससे आत्मा अणु हो, परन्तु स्वामित्व निवृत्ति उत्क्रान्ति है, ऐसा कतिपय कहते हैं। उसका अंगीकार करके भी अणुत्व आवश्यक है, ऐसा कहते हैं—"स्वात्मना" इत्यादिसे। उत्क्रान्तिके अनन्तर कही गई गति और आगतिका स्वात्मा अर्थात् कर्त्ताके साथ सम्बन्ध होनेसे अणुत्व है, ऐसी सूत्रकी योजना करनी चाहिए। जैसे पाकका आश्रय न होनेपर भी पक्ता कहलाता है, वैसे ही जो गतिका आश्रय नहीं है वह गन्ता क्यों न कहा जाय, इसपर कहते हैं—"गमेः" इत्यादिसे। गमनके कर्त्तामें संयोग और विभागरूप अतिशयका हेतु होनेसे कर्त्तामें गमनका आश्रितत्व लोकप्रसिद्ध है, ऐसा अर्थ है। जीव अणु है, मध्यमपरिमाण न होकर गतिमान् होनेसे, परमाणुके समान, ऐसा

भाष्य

देहाद् गत्यागती स्याताम्, देहप्रदेशानां चोत्क्रान्तावपादानत्ववचनात् 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा चान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ० ४।४।२) इति। 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' (बृ० ४।४।१), 'शुक्रमादाय पुनरेति स्थानम्' (बृ० ४।३।११) इति चान्तरेऽपि शरीरे शारीरस्य गत्यागती भवतः। तस्मादप्यस्याऽणुत्वसिद्धिः ॥२०॥

भाष्यका अनुवाद

ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि देहसे बाहर न निकले हुएकी गति और आगति नहीं होती, चूँकि देहप्रदेश उत्क्रान्तिमें आपादान रूपसे कहे गये हैं। 'चक्षुष्टो वा' (नेत्रसे, माथेसे या शरीरके अन्य प्रदेशोंसे) ऐसा कहा है। और 'स एतास्तेजोमात्राः' (वह आत्मा इन तेजके अवयवोंको—इन्द्रियोंको भली भाँति लेकर-संहार करके हृदयमें ही—पुंडरीक आकाशमें ही जाता है-हृदयमें अभिव्यक्त विज्ञानस्वरूप होता है) 'शुक्रमादाय' (प्रकाशक इन्द्रियसमूहको लेकर आत्मा पीछे जागरित स्थानमें आता है) इस प्रकार शरीरमें भी जीवात्माकी गति और आगति है। इससे भी इसके (जीवके) अणुत्वका सिद्धि है ॥ २० ॥

रत्नप्रभा

सत्योश्चेति। न स्वाम्यनिवृत्तिमात्रम् उत्क्रान्तिः इत्यर्थः। देहाद् निर्गम एव उत्क्रान्तिरित्यत्र लिङ्गान्तरमाह—देहप्रदेशानामिति। अपादानत्वम्—अवधित्वम्। अन्येभ्यो वा मुखादिभ्यः। एष आत्मा निष्क्रामतीति शेषः। किंच, देहमध्येऽपि जीवस्य गत्यागतिश्रुतेः अणुत्वम् इत्याह—स इति। इन्द्रियाणि गृह्णन् स्वापादौ हृदयं स जीवो गच्छति शुक्रं प्रकाशकम् इन्द्रियग्राममादाय पुनर्जागरितस्थानम् आगच्छतीत्यर्थः ॥ २० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"असध्यम" इत्यादिसे। अङ्गीकारका त्याग करते हैं—"सत्योश्च" इत्यादिसे। स्वामित्वकी निवृत्ति ही उत्क्रान्ति नहीं है, ऐसा अर्थ है। देहसे निर्गम ही उत्क्रान्ति है, उसमें अन्य लिङ्ग कहते हैं—'देहप्रदेशानाम्" इत्यादिसे। अपादानत्व—अवधित्व। 'अन्य मुख आदिसे यह आत्मा निकलता है' इतना शेष है। और देहमें भी जीवकी गति और आगतिका श्रवण होनेसे जीव अणु है ऐसा कहते हैं—"सः" इत्यादिसे। इन्द्रियोंका ग्रहण करके स्वाप आदिमें वह जीव हृदयमें जाता है, शुक्र—प्रकाशक इन्द्रियसमुदायको लेकर फिर जागरित स्थानमें आता है, ऐसा अर्थ है ॥२०॥

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ।।) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मंगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।



Regd. No. A. 2426

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

Cover printed at the Indian Press, Ltd.,
Benares

अच्युत



वर्ष २ } संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी {

वैशाख पूर्णिमा

१६६२

अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रति का—॥)

[नोट—दूकानदारों तथा स्थायी ग्राहकोंके लिए २५% कमीशन काटकर ४॥) वार्षिक]

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट काशी।

मुद्रक—माधव रामचन्द्र काले, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।



अच्युत

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ पंक्ति
२१ वाँ सूत्र—नाणुरतच्छ्रुतेरिति०	...	...	१४३९ – १
अन्य हेतुसे पुनः जीवके अणुत्वका कथन	...	...	१४३९ – १६
२२ वाँ सूत्र—स्वशब्दोन्मानाभ्यां च	...	...	१४४१ – १
अणुत्वका भिन्न रीतिसे उपपादन	...	...	१४४१ – १०
२३ वाँ सूत्र—अविरोधश्चन्दनवत्	...	...	१४४२ – १९
जीवके अणु होनेपर भी सर्वशरीर-व्यापी ज्ञानकी उपपत्तिका प्रदर्शन			१४४३ – २
२४ वाँ सूत्र—अवस्थितिवैशेष्यादिति०	...	...	१४४३ – २१
दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकके तुल्यत्वका कथन	...	...	१४४५ – ३
२५ वाँ सूत्र—गुणाद्वा लोकवत्	...	...	१४४६ – १
मणि आदिके दृष्टान्तसे सर्वदेहव्यापी कार्यका कथन		...	१४४६ – १२
२६ वाँ सूत्र—व्यतिरेको गन्धवत्	...	...	१४४७ – १९
चैतन्य-गुणके व्यतिरेककी आशङ्का और उसका समाधान		...	१४४८ – २
२७ वाँ सूत्र—तथा च दर्शयति ...	...	...	१४५० – २३
अणु जीवके व्यापित्वमें प्रमाणरूपसे श्रुतिका कथन		...	१४५१ – २
२८ वाँ सूत्र—पृथगुपदेशात् ...	...	...	१४५१ – १५
चैतन्य-गुणके योगसे शरीरव्यापित्वका प्रतिपादन		...	१४५१ – २३
२९ वाँ सूत्र—तद्गुणसारत्वात्तु०	...	...	१४५२ – २०
आत्माके अणुत्वका खण्डन [सिद्धान्त]	...	...	१४५३ – २
जीवके अणु होनेपर सर्वशरीरव्यापिनी वेदनाका असम्भव		...	१४५४ – २
यत्र तत्र प्रतिपादित अणुत्वकी उपाधि द्वारा व्यवस्था		...	१४६० – ७
३० वाँ सूत्र—यावदात्मभावित्वाच्च०	...	...	१४६१ – १७
आत्मामें असंसारित्वप्राप्तिका खण्डन	...	...	१४६२ – २
मिथ्याज्ञानमूलक उपाधिका सम्बन्ध	...	...	१४६३ – १०

विषय	पृष्ठ पंक्ति
३१ वाँ सूत्र—पुंस्त्वादिवत्त्वस्य०	१४६५ – १
विद्यमान ही का आविर्भाव होता है	१४६५ – ११
३२ वाँ सूत्र—नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि०	१४६७ – १
अन्तःकरणकी स्वीकृतिमें युक्तिका कथन	१४६८ – ४
कामादि अन्तःकरणकी वृत्तियां हैं, इसमें श्रुतिका उपन्यास ...	१४७१ – २

[कर्त्रधिकरण पृ० १४७२—१४८२]

चतुर्दश अधिकरणका सार	१४७२ – ६
३३ वाँ सूत्र—कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्	१४७२ – १३
जीवमें कर्तृत्वका साधन [सिद्धान्त]	१४७३ – २
३४ वाँ सूत्र—विहारोपदेशात्	१४७४ – २३
अन्य प्रकारसे जीवमें कर्तृत्वका साधन	१४७५ – २
३५ वाँ सूत्र—उपादानात्	१४७५ – १६
जीवमें कर्तृत्वका पुनः साधन	१४७५ – २३
३६ वाँ सूत्र—व्यपदेशाच्च क्रियायाम्०	१४७६ – १४
शास्त्रप्रामाण्यसे कर्तृत्वका प्रतिपादन	१४७७ – ३
३७ वाँ सूत्र—उपलब्धिवदनियमः	१४७८ – ११
उपलब्धिमें आत्माके स्वातन्त्र्यका कथन	१४७९ – ३
३८ वाँ सूत्र—शक्तिविपर्ययात्	१४८० – १४
विज्ञानशब्दसे जीव ही विवक्षित है यदि बुद्धि विवक्षित हो, तो शक्तिका विपर्यय होगा	१४८१ – ३
३९ वाँ सूत्र—समाध्यभावाच्च	१४८२ – १
आत्माकी प्रतिपत्तिके लिए कही गई समाधि भी आत्माके कर्तृत्वमें प्रमाण है	१४८२ – १०

[तक्षाधिकरण पृ० १४८३—१४९७]

पन्द्रहवें अधिकरणका सार	१४८३ – ६
४० वाँ सूत्र—यथा च तक्षोभयथा	१४८३ – १२
पूर्वोक्त कर्तृत्व स्वाभाविक है [पूर्वपक्ष]	१४८४ – ४
कर्तृत्वकी स्वाभाविकताका खण्डन [सिद्धान्त] ...	१४८४ – ५
शास्त्रके वलसे कर्तृत्वादि अविद्या-निमित्त हैं	१४८७ – ४
सूत्रका विवरण	१४८९ – ४

विषय	पृष्ठ पंक्ति
विधिशास्त्रकी प्रवृत्ति अविद्याप्रयुक्त कर्तृत्वसे भी हो सकती है ...	१४९१ – ६
बुद्धिमें कर्तृत्व माननेपर शक्ति-विपर्यय नहीं हो सकता है ...	१४९५ – ४

[परायत्ताधिकरण पृ० १४९८–१५०६]

सोलहवें अधिकरणका सार	१४९८ – ६
४१ वाँ सूत्र–परात्तु तच्छ्रुतेः	१४९९ – १
जीव अपने कर्तृत्वमें ईश्वरकी अपेक्षा नहीं करता है [पूर्वपक्ष]	१४९९ – १४
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन [सिद्धान्त]	१५०१ – ६
४२ वाँ सूत्र–कृतप्रयत्नापेक्षस्तु०	१५०३ – ७
ईश्वरके प्रेरकत्वमें वैषम्य आदि दोषोंका परिहार	१५०४ – १
जीव द्वारा किये गये प्रयत्नकी ईश्वर अपेक्षा रखता है ...	१५०५ – ६

[अंशाधिकरण पृ० १५०७–]

सप्तदश अधिकरणका सार	१५०७ – ६
४३ वाँ सूत्र–अंशो नानाव्यपदेशा०	१५०८ – १
जीव ईश्वरका अंश है [सिद्धान्त]	१५०९ – ६
४४ वाँ सूत्र—मन्त्रवर्णाच्च	१५१२ – १६
श्रुतिसे भी प्रतीत होता है कि जीव ईश्वरका अंश है ...	१५१३ – २
४५ वाँ सूत्र–अपि च स्मर्यते	१५१४ – १
भगवद्गीतामें भी जीव ईश्वरका अंश कहा गया है ...	१५१४ – ८
४६ वाँ सूत्र—प्रकाशादिवन्नैवं परः	१५१६ – १
परमात्माको देहादिका अभिमान नहीं है, अतः जीवदुःखसे वह दुःखी नहीं होता	१५१६ – १४
४७ वाँ सूत्र—स्मरन्ति च	१५१९ – २३
जीवदुःखसे परमात्मा दुःखी नहीं होता है, इस विषयमें व्यासादिकी स्मृति	१५२० – २
४८ वाँ सूत्र—अनुज्ञापरिहारौ०	१५२२ – २०
सब प्राणियोंमें जीवभावसे एक ही परमात्माके स्थित रहनेपर भी—देह-सम्बन्धसे विधि और निषेधकी अनुपपत्ति नहीं है ...	१५२३ – २
४९ वाँ सूत्र—असन्ततेश्चाव्यतिकरः	१५२६ – २६
उपाधिके सन्तत न होनेसे कर्मफलोंकी संकीर्णता नहीं होती है ...	१५२७ – ३

विषय	पृष्ठ पंक्ति
५० वाँ सूत्र—आभास एव च	१५२८ – १
जीव परमात्माका प्रतिबिम्ब है, इससे भी कर्मफलका संकर नहीं है	१५२८ – ११
५१ वाँ सूत्र—अदृष्टानियमात्	१५३२ – २०
अदृष्ट नियामक नहीं है	१५३३ – २
५२ वाँ सूत्र—अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम्	१५३४ – १
संकल्प आदि नियामक नहीं हो सकते हैं	१५३४ – ८

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्त्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष २ } वैशाख पूर्णिमा १९९२ { अङ्क ४

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

प्रातःस्मरणम् ।

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं
सच्चित्सुखं परमहंसगतिं तुरीयम् ।
यत्स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यं
तद् ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसङ्घः ॥ १ ॥

प्रातर्भजामि मनसां वचसामगम्यं
वाचो विभान्ति निखिला यदनुग्रहेण ।
यन्नेति नेति वचनैर्निगमा अवोचु-
स्तं देवदेवमजमच्युतमाहुरग्र्यम् ॥ २ ॥

प्रातर्नमामि तमसः परमर्कवर्णं
पूर्णं सनातनपदं पुरुषोत्तमाख्यम् ।
यस्मिन्निदं जगदशेषमशेषमूर्त्तौ
रज्ज्वां भुजङ्गम इव प्रतिभासितं वै ॥ ३ ॥

श्लोकत्रयमिदं पुण्यं लोकत्रयविभूषणम् ।
प्रातःकाले पठेद् यस्तु स गच्छेत् परमं पदम् ॥ ४ ॥

—श्रीशंकराचार्याः ।



नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥२१॥

पदच्छेद—न, अणुः, अतच्छ्रुतेः, इति, चेत्, न, इतराधिकारात।

पदार्थोक्ति—नाऽणुः—नाऽयं जीवोऽणुपरिमाण', अतच्छ्रुतेः—'सर्वव्यापी' इत्यादिना सर्वगतत्वश्रुतेः, इति चेत् न—इति न वक्तव्यम्, [कुतः] इतराधिकारात्—इतरस्य ब्रह्मणः सर्ववेदान्तेषु प्रधानतया ज्ञेयत्वेन प्रकृतत्वात् [तस्यैव सर्वगतत्वश्रुतिर्न जीवस्य]।

भाषार्थ—जीव अणुपरिमाण नहीं है, क्योंकि 'सर्वव्यापी' इत्यादि श्रुति जीवके सर्वगतत्वका प्रतिपादन करती है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सब वेदान्तोंमें जीवसे भिन्न ब्रह्म प्रधानतया ज्ञेयरूपसे प्रस्तुत है; इसलिए सर्वगतत्व-श्रुति उसीकी है जीवकी नहीं है।

भाष्य

अथाऽपि स्यान्नाऽणुरयमात्मा। कस्मात्? अतच्छ्रुतेः। अणुत्व-विपरीतपरिमाणश्रवणादित्यर्थः। 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२), 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्येवंजातीयका हि श्रुतिरात्मनोऽणुत्वे विप्रतिषिध्येतेति चेत्, नैष दोषः। कस्मात्? इतराधिकारात्। परस्य ह्यात्मनः प्रक्रियायामेषा परिमाणान्तरश्रुतिः, परस्यैवाऽऽत्मनः

भाष्यका अनुवाद

तो भी शङ्का होती है—जीवात्मा अणु नहीं है। किससे? इससे कि अणुपरि-माणकी प्रतिपादिका श्रुति नहीं है अर्थात् अणुपरिमाणके विपरीत परिमाणकी श्रुति है। 'स वा एष०' (यह महान् अज आत्मा है, जो यह प्राणोंमे विज्ञानमय है) 'आकाशवत्०' (आकाशके समान व्यापक और नित्य है) 'सत्यं ज्ञानम्०' (सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है) इस प्रकारकी श्रुतियाँ आत्माको अणु माननेपर विरुद्ध होगी, ऐसा यदि कहो तो भी दोष नहीं है। किससे? इससे कि इतरका

रत्नप्रभा

इतराधिकाराद्—ब्रह्मप्रकरणात। ननु महत्त्वश्रुतेः कथं परप्रकरणस्थत्वम्?

रत्नप्रभाका अनुवाद

"इतराधिकारात्"—ब्रह्मके प्रकरणसे। परन्तु महत्त्वप्रतिपादक श्रुति परमात्माके प्रकरणमें

भाष्य

प्राधान्येन वेदान्तेषु वेदितव्यत्वेन प्रकृतत्वात् । 'विरजः पर आकाशात्' इत्येवंविधाच्च परस्यैवाऽऽत्मनस्तत्र तत्र विशेषाधिकारात् । ननु 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) इति शारीर एव महत्त्वसंबन्धित्वेन प्रतिनिर्दिश्यते । शास्त्रदृष्ट्या त्वेष निर्देशो वामदेववद् द्रष्टव्यः । तस्मात् प्राज्ञविषयत्वात् परिमाणान्तरश्रवणस्य न जीवस्याऽणुत्वं विरुध्यते ॥२१॥

भाष्यका अनुवाद

अधिकार है, परमात्माकी प्रक्रियामें यह अन्य परिमाणकी श्रुति है, क्योंकि परमात्मा ही मुख्यतया ज्ञातव्यरूपसे वेदान्तवाक्योंमें प्रकृत है। और 'विरजः०' (विशुद्ध आकाशसे पर) इस प्रकारके वचनोंसे परमात्माका ही तत्-तत् स्थलमें विशेषाधिकार है। 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है) ऐसा शारीर (जीव) का ही महत्त्वसम्बन्धीरूपसे प्रतिनिर्देश है। यह निर्देश तो शास्त्रदृष्टिसे वामदेवके समान समझना चाहिए। इसलिए परिमाणान्तर-श्रुति के प्राज्ञविषयक होनेसे जीवके अणुत्वका विरोध नहीं है ॥२१॥

रत्नप्रभा

इत्यत आह—परस्येति । या वेदान्तश्रुतिः सा परप्रकरणस्था इति उत्सर्गात् तस्याः तत्स्थत्वं ब्रह्मारभ्याधीतत्वात् च इत्याह—विरज इति । निर्दोष इत्यर्थः । विज्ञानमयश्रुत्या प्रकरणं बाध्यम् इति शङ्कते—नन्विति । अणोः जीवस्य ब्रह्मणा भेदाभेदाङ्गीकारात् शास्त्रीयाभेददृष्ट्या महत्त्वोक्तिः यथा वामदेवस्य अहं मनुरिति सर्वात्मत्वोक्तिरिति अविरोधमाह—शास्त्रेति ॥२१॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

किस प्रकार होगी? इसपर कहते हैं—"परस्य" इत्यादिसे। 'जो वेदान्तश्रुति है वह ब्रह्मप्रकरण-परक है' इस सामान्य नियमसे वह श्रुति परप्रकरणस्थ है और ब्रह्मका उपक्रम करके ही पठित है, यह कहते हैं—"विरज." इत्यादिसे। विरज अर्थात् निर्दोष। विज्ञानमयश्रुतिसे प्रकरण बाध्य है ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। ब्रह्मके साथ अणु जीवके भेदाभेदका अङ्गीकार होनेसे शास्त्रीय अभेददृष्टिसे जीवके महत्त्वका कथन है, जैसे वामदेवकी 'मैं मनु हूं' ऐसी सर्वात्मत्वकी उक्ति है—इस प्रकार अविरोध कहते हैं—"शास्त्र" इत्यादिसे ॥२१॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥२२॥

पदच्छेद—स्वशब्दोन्मानाभ्याम्, च ।

पदार्थोक्ति—स्वशब्दोन्मानाभ्याम्—'एषोऽणुरात्मा' इति अणुत्ववाचकात् शब्दात्, 'बालाग्रशतभागस्य' इति अत्यन्तापकृष्टपरिमाणात् च [जीवोऽणुपरिमाण एव] ।

भाषार्थ—'एषोऽणुरात्मा' (यह आत्मा अणुपरिमाण है) इस अणुत्ववाचक श्रुतिसे और 'बालाग्रशत०' (बालके अग्रभागके शतांश का शतांश) इस श्रुतिमें उक्त अत्यन्त अपकृष्ट परिमाणसे जीव अणु ही है ।

भाष्य

इतश्चाऽणुरात्मा, यतः साक्षादेवाऽस्याऽणुत्ववाची शब्दः श्रूयते—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' (मु० ३।१।९) इति । प्राणसंबन्धाच्च जीव एवाऽयमणुरभिहित इति गम्यते । तथोन्मानमपि जीवस्याऽणिमानं गमयति—'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः' (श्वे० ५।८) इति ।

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी आत्मा अणु है, क्योंकि साक्षात् ही इसको अणु कहनेवाली श्रुति है—'एषोऽणुरात्मा०' (यह अणु आत्मा विशुद्ध चित्तसे जानने योग्य है, जिसमें प्राण-वायु पांच प्रकारसे प्रविष्ट है) और प्राणके सम्बन्धसे जीव ही अणु कहा जाता है, ऐसा ज्ञात होता है । उसी प्रकार उन्मान भी जीवको अणु बतलाता है—'बालाग्रशत०' (केशके अग्रभागके सौ भाग करके उस शतांशके पुनः सौ विभाग करनेपर जो भाग होता है

रत्नप्रभा

एवम् उत्क्रान्त्यादिश्रुत्या अणुत्वम् अनुमितम्, तत्र श्रुतिमप्याह—स्वशब्देति । बालाग्राद् उद्धृतः शततमो भागः तस्मादपि उद्धृतः शततमो भागो जीव इति । उद्धृत्य मानम् उन्मानम्, अत्यन्तात्पत्वमित्यर्थः । बालः—केशः, तोत्रप्रोतायः-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार उत्क्रान्त्यादि श्रुतिसे अणुत्वका अनुमान किया, उसमें श्रुति भी कहते हैं—"स्व-शब्द" इत्यादिसे । बालके अग्रभागसे उद्धृत जो सौवाँ भाग उससे भी लिया हुआ शततम भाग जीव है, इस प्रकार लिया हुआ परिमाण उन्मान है, अर्थात् अत्यन्त अल्प है ऐसा अर्थ है ।

भाष्य

'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ५।८) इति चोन्मानान्तरम् ॥२२॥

नन्वणुत्वे सत्येकदेशस्थस्य सकलदेहगतोपलब्धिर्विरुध्यते । दृश्यते च जाह्नवीह्रदनिमग्नानां सर्वाङ्गशैत्योपलब्धिर्निदाघसमये च सकलशरीरपरितापोलब्धिरिति । अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

वह जीव है, अर्थात् जीवका परिमाण इतना सूक्ष्म है) 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि' (आरके अग्रभागके समान आत्मा देखा गया है) यह अन्य उन्मान है ॥२२॥

परन्तु जीवके अणु होनेपर एकदेशमें रहनेवाले जीवको सम्पूर्ण शरीरव्यापी ज्ञानकी उपलब्धि विरुद्ध होगी, क्योंकि गंगाजीमें या तालाबमें स्नान करनेवालोंको सर्वाङ्गमें शैत्यकी उपलब्धि और उष्ण कालमें सारे शरीरमें परितापकी उपलब्धि देखी जाती है । इससे उत्तर सूत्र पढ़ते हैं—

रत्नप्रभा

शलाकाग्रम्—आराग्रम्, तस्माद् उद्धृताः मात्रा—मानं यस्य स जीवः तथा ॥ २२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाल-केश, अंकुशमें लगी हुई लोहेकी शलाकाका अग्रभाग—आराग्र, उससे ली हुई मात्रा—मान जिसका वैसा जीव है ॥ २२ ॥

अविरोधश्चन्दनवत् ॥२३॥

पदच्छेद—अविरोधः, चन्दनवत् ।

पदार्थोक्ति—चन्दनवत्—यथा चन्दनबिन्दुः शरीरैकदेशस्थः शरीरव्यापि सुखं जनयति तथा अणुः जीवोऽपि देहव्यापिनं शैत्याद्युपलम्भं करिष्यतीति अविरोधः—विरोधाभावः ।

भाषार्थ—जैसे शरीरके एक अवयवमें स्थित चन्दनबिन्दु शरीरव्यापी सुखकी उत्पत्ति करता है, वैसे ही अणु जीव भी देहव्यापी शीत आदिकी प्रतीति करावेगा इससे विरोध नहीं है ।

भाष्य

यथा हि हरिचन्दनविन्दुः शरीरैकदेशसम्बद्धोऽपि सन् सकलदेहव्यापिनमाह्लादं करोति, एवमात्माऽपि देहैकदेशस्थः सकलदेहव्यापिनीमुपलब्धिं करिष्यति। त्वक्सम्बन्धाच्चाऽस्य सकलशरीरगता वेदना न विरुध्यते, त्वगात्मनोर्हि सम्बन्धः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते, त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति ॥ २३ ॥

भाष्यका अनुवाद

जैसे शरीरके एकदेशमें लगा हुआ हरिचन्दनका बिन्दु सकल देहव्यापी आनन्द पैदा करता है, वैसे आत्मा भी देहके एकदेशमें रह कर सम्पूर्ण शरीरव्यापिनी उपलब्धि करेगा। और त्वचाके सम्बन्धसे इसका सकल शरीरमें रहनेवाला ज्ञान विरुद्ध नहीं होता, क्योंकि त्वचा और आत्माका सम्बन्ध समस्त त्वचामें है, और त्वचा समस्त शरीरमें व्याप्त है ॥ २३ ॥

रत्नप्रभा

आत्मसंयुक्तायास्त्वचो देहव्यापिस्पर्शोपलब्धिकरणस्य महिम्ना आत्मनो व्यापिकार्यकारित्वम् अविरुद्धम्। त्वगात्मनोरिति। सम्बन्धस्य त्वगवयविनिष्ठत्वादवयविनश्चैकत्वादात्मसंयोगस्य कृत्स्नत्वङ्निष्ठता इत्यर्थः ॥ २३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

देहव्यापी स्पर्शज्ञानके करण—आत्मसंयुक्त त्वचाके सामर्थ्यसे आत्माके एकदेशस्थ होनेपर भी सारे शरीरव्यापी कार्यकारितामें विरोध नहीं है। "त्वगात्मनोः" इत्यादि। सम्बन्ध त्वचारूपी अवयवीमें है और अवयवी एक होनेसे आत्माका संयोग सम्पूर्ण त्वचामें है, ऐसा अर्थ है ॥२३॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॥२४॥

पदच्छेद—अवस्थितिवैशेष्यात्, इति, चेत्, न, अभ्युपगमाद्, हृदि, हि।

पदार्थोक्ति—अवस्थितिवैशेष्यात्—चन्दनबिन्दोः प्रत्यक्षेण एकदेशेऽवस्थितिर्दृश्यते जीवस्य तु नैवमिति अतुल्यत्वात्, [नात्र चन्दनदृष्टान्तः] इति चेत्, न— इति न वक्तव्यम्, [कुतः] अभ्युपगमात्—जीवाणुत्वस्य स्वीकारात्, हि—यतः, हृदि—अल्पपरिमाणे हृदि [जीवः पठ्यते 'हृद्यन्तर्ज्योतिः' इत्यादौ, तस्माज्जीवाणुत्वमभ्युपगम्यते इति न दृष्टान्ते वैषम्यम्]।

भाषार्थ—प्रत्यक्षरूपसे चन्दनबिन्दुकी शरीरके एक भागमें अवस्थिति देखी जाती है, जीवकी इस प्रकार एकदेशमें अवस्थिति नहीं है, अतः समानता न होनेसे यहांपर चन्दन-दृष्टान्त युक्त नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जीवकी अणुताका स्वीकार है अल्प परिमाण हृदयमें 'हृद्यन्तर्ज्योतिः' इत्यादि श्रुतिमें जीवका पाठ है इससे जीवकी अणुताका स्वीकार है इस प्रकार दृष्टान्तमें विषमता नहीं है।

भाष्य

अत्राऽऽह—यदुक्तमविरोधश्चन्दनवत् इति, तदयुक्तम्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरतुल्यत्वात्। सिद्धे ह्यात्मनो देहैकदेशस्थत्वे चन्दनदृष्टान्तो भवति, प्रत्यक्षं तु चन्दनस्याऽवस्थितिवैशेष्यमेकदेशस्थत्वं सकलदेहाह्लादनं च, आत्मनः पुनः सकलदेहोपलब्धिमात्रं प्रत्यक्षं नैकदेशवर्तित्वम्। अनुमेयं तु तदिति यदप्युच्येत—न चाऽत्राऽनुमानं सम्भवति। किमात्मनः सकलशरीरगता वेदना त्वगिन्द्रियस्येव सकलदेहव्यापिनः सतः किं वा

भाष्यका अनुवाद

यहाँ कहते हैं—चन्दनके समान अविरोध है, ऐसा जो कहा गया है वह अयुक्त है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें समानता नहीं है—देहके एक देशमें आत्माकी स्थितिके सिद्ध होनेपर चन्दनका दृष्टान्त हो सकता है, परन्तु चन्दनका अवस्थितिविशेष—एकदेशमें अवस्थिति और सकल देहमें आह्लाद प्रत्यक्ष है। और आत्माका सकल देहमें उपलब्धिमात्र प्रत्यक्ष है, एकदेशमें अवस्थिति प्रत्यक्ष नहीं है। वह (आत्माका एकदेशस्थत्व) अनुमेय है ऐसा यदि कहो, तो इसमें अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि क्या आत्माकी सकलशरीरगत उपलब्धि त्वगिन्द्रियके समान आत्माके सकलदेहव्यापी होनेसे है या वह आकाशके

रत्नप्रभा

सिद्धे हीति। न तु सिद्धमिति अतुल्यतेत्यर्थः। विशेष एव वैशेष्यम्। चन्दनबिन्दोः अल्पत्वस्य प्रत्यक्षत्वात् त्वग्व्याप्त्या व्यापिकार्यकारित्वकल्पना युक्ता, जीवस्य त्वणुत्वे सन्देहाद् व्यापिकार्यदृष्ट्या व्यापित्वकल्पनमेव युक्तम्। व्यापिकार्याश्रयो व्यापीति उत्सर्गादिति सूत्रशङ्काभागार्थः। आत्मा अल्पः, व्यापिकार्यकारित्वात्, चन्दनबिन्दुवद्, इत्यनुमानम् अयुक्तम्, त्वगादौ व्यभिचाराद् इत्याह—न चाऽत्राऽनुमानमिति। पूर्वोक्तश्रुतिभिर्जीवस्याऽणुत्वनिश्चयाद् हृदिस्थत्वश्रुति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सिद्धे हि" इत्यादि। परन्तु सिद्ध नहीं है, अतः तुल्यता नहीं है, ऐसा अर्थ है। विशेष ही वैशेष्य है। चन्दनबिन्दुमें अल्पत्वके प्रत्यक्ष होनेसे त्वचाकी व्याप्तिसे व्यापिकार्यकारिताकी कल्पना योग्य है, परन्तु जीवके अणुत्वमें सन्देह होनेसे व्यापी कार्यकी उपलब्धिसे उसको व्यापी मानना सयुक्तिक है, क्योंकि 'व्यापी कार्यका आश्रय व्यापी है' ऐसा सामान्य नियम है ऐसा सूत्रके शङ्काभागका अर्थ है। आत्मा छोटा है, व्यापी कार्य करनेवाला होनेसे, चन्दनबिन्दुके समान, इस प्रकारका अनुमान अयोग्य है, क्योंकि त्वगिन्द्रियमें व्यभिचार है, ऐसा कहते हैं—"न चाऽत्राऽनुमानम्" इत्यादिसे। पूर्वोक्त श्रुतियोंमें जीवमें अणुत्वका निश्चय होनेसे

भाष्य

विभोर्नभस इवाऽऽहोस्विच्चन्दनबिन्दोरिवाऽणोरेकदेशस्थस्येति संशयानतिवृत्तेरिति। अत्रोच्यते—नाऽयं दोषः। कस्मात्? अभ्युपगमात्। अभ्युपगम्यते ह्यात्मनोऽपि चन्दनस्येव देहैकदेशवृत्तित्वमवस्थितिवैशेष्यम्। कथमिति, उच्यते—हृदि ह्येष आत्मा पठ्यते वेदान्तेषु—'हृदि ह्येष आत्मा' (प्र० ३।६) 'स वा एष आत्मा हृदि' (छा० ८।३।३) कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४।३।७) इत्याद्युपदेशेभ्यः। तस्माद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरवैषम्याद् युक्तमेवैतदविरोधश्चन्दनवदिति ॥ २४ ॥

भाष्यका अनुवाद

समान विभु होनेसे है, या चन्दनबिन्दुके समान अणु और एकदेशस्थ होनेसे है ऐसे संशयकी निवृत्ति नहीं होती। इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है। किससे? अभ्युपगमसे। चन्दनके समान आत्माका भी देहके एकदेशमें रहना यह जो अवस्थितिविशेष है इसका स्वीकार किया गया है। किस प्रकार? ऐसा कहो तो कहते हैं—यह आत्मा हृदयमें अवस्थित है ऐसा वेदान्तोंमें 'हृदि ह्येष आत्मा' (यह आत्मा हृदयमें है) 'स वा एष०' (यह आत्मा हृदयमें है) 'कतम आत्मा०' (आत्मा कौन है? ऐसा प्रश्न होनेपर जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है, हृदयके मध्यमें ज्योतिस्वरूप है) इत्यादि उपदेशोंसे पढ़ा जाता है। इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें वैषम्य न होनेसे चन्दनके समान अविरोध है, यह युक्त ही है ॥ २४ ॥

रत्नप्रभा

भिरेकदेशस्थत्वनिश्चयाच्च न दृष्टान्तवैषम्यमिति परिहारभागार्थमाह—अत्रोच्यते इति ॥ २४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और 'जीव हृदयमें है' इस प्रकार श्रुतियोंसे एकदेशस्थत्वका निश्चय होनेसे दृष्टान्तके साथ वैषम्य नहीं है, इस प्रकार परिहारभागके अर्थको कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे ॥२४॥

---

(१) आत्मा अणु है, व्यापी कार्यको करनेवाला होनेसे, चन्दनविन्दुके समान, इस अनुमानसे आत्मामें अणुत्वकी सिद्धि होगी, परन्तु यह नहीं हो सकता, क्योंकि त्वग् आदिमें हेतु है, परन्तु अणुत्वके नहीं रहनेसे व्यभिचार होगा, हेत्वाभास दोषसे दुष्ट अनुमान प्रमाण नहीं होता है, प्रकृत स्थलमें साध्याभाववद्वृत्तित्वरूप व्यभिचारके रहनेसे साध्याभाववद्वृत्तित्वरूप व्याप्तिज्ञानका प्रतिबन्ध होगा, और व्याप्तिज्ञानके प्रतिबन्धसे सुतरां अनुमिति नहीं बनेगी, अतः अणुत्व सिद्ध नहीं होगा एवं त्वचाके प्रतिदृष्टान्त होनेसे संशयकी निवृत्ति नहीं होगी ऐसा भाव है।

गुणाद्वा लोकवत् ॥२५॥

पदच्छेद—गुणाद्, वा, लोकवत् ।

पदार्थोक्ति—वा—अथवा, लोकवत्—यथा लोके गृहनिष्ठप्रदीपस्याऽल्पत्वेऽपि प्रभारूपगुणवशात् गृहव्यापि प्रकाशादि कार्यं संभवति, [तथा] गुणात्—[आत्मनोऽणुत्वेऽपि तन्निष्ठज्ञानगुणस्य व्यापकत्वाङ्गीकारात्] व्यापकगुणात् [व्यापि कार्यं भविष्यति] ।

भाषार्थ—अथवा जैसे लोकमे गृहमध्यवर्ती दीपकके अल्प होनेपर भी उसके प्रभारूप गुणसे गृहव्यापी प्रकाश आदि कार्य होता है, वैसे ही आत्माके अणु होनेपर भी आत्मामें रहनेवाले चैतन्यरूप गुणको व्यापक माननेसे व्यापकगुणसे व्यापी कार्य होगा ।

भाष्य

चैतन्यगुणव्याप्तेर्वाऽणोरपि सतो जीवस्य सकलदेहव्यापि कार्यं न विरुध्यते । यथा लोके मणिप्रदीपप्रभृतीनामपवरकैकदेशवर्तिनामपि प्रभाऽपवरकव्यापिनी सती कृत्स्नेऽपवरके कार्यं करोति तद्वत् । स्यात् कदाचिच्चन्दनस्य सावयवत्वात् सूक्ष्मावयवविसर्पणेनाऽपि सकलदेहे आह्लादयितृत्वं न त्वणोर्जीवस्याऽवयवाः सन्ति यैरयं सकलदेहं विप्रसर्पे-

भाष्यका अनुवाद

अथवा चैतन्यरूप गुणके सम्बन्धसे जीवके अणु होनेपर भी उसका सम्पूर्ण शरीरव्यापी कार्य विरुद्ध नहीं है, जैसे कि लोकमें कोठरीके एक देशमें रखे हुए भी मणिदीप, आदिकी प्रभा कोठरीमें व्याप्त होती हुई सम्पूर्ण कोठरीमें कार्य करती है । चन्दन सावयव है अतः सूक्ष्म अवयवके फैलनेसे भी वह सकल देहमें आह्लाद कर सकता है, परन्तु अणु जीवके अवयव नहीं हैं जिनसे कि वह

रत्नप्रभा

आत्मवत्तद्धर्मज्ञानस्याऽप्यणुत्वं स्वतः, कादाचित्कं तु देहपरिमाणत्वम् इत्युक्त्वा स्वत एव व्यापित्वमिति मतान्तरमाह—गुणाद्वेति । वाशब्देन

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्माके समान उसका धर्म—ज्ञान भी स्वतः अणु है, देहपरिमाण तो कादाचित्क है, ऐसा कहकर आत्माका व्यापित्व स्वभावतः है, इस प्रकारके मतान्तरको कहते हैं—"गुणाद्वा" इत्यादिसे ।

भाष्य

दित्याशङ्क्य 'गुणाद्वा लोकवद्' इत्युक्तम् ॥२५॥

कथं पुनर्गुणो गुणिव्यतिरेकेणाऽन्यत्र वर्तेत, नहि पटस्य शुक्लो गुणः पटव्यतिरेकेणाऽन्यत्र वर्तमानो दृश्यते। प्रदीपप्रभावद् भवेदिति चेत्, न; तस्या अपि द्रव्यत्वाभ्युपगमात्। निबिडावयवं हि तेजोद्रव्यं प्रदीपः, प्रविरलावयवं तु तेजोद्रव्यमेव प्रभेति। अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

सारे शरीरमें फैले, ऐसी आशङ्का करके 'गुणाद्वा लोकवत्' ऐसा कहा है ॥२५॥

परन्तु गुण गुणीको छोड़ कर अन्यत्र किस प्रकार रहेगा? क्योंकि पटके शुक्ल गुणकी स्थिति पटको छोड़कर अन्यत्र नहीं देखी जाती है। प्रदीपकी प्रभाके समान होगा, ऐसा यदि कहो तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि उसको भी द्रव्य माना है, घन अवयववाला तेजोद्रव्य दीप है और प्रविरल अवयव-वाला तेजोद्रव्य प्रभा है। इससे उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

चन्दनदृष्टान्तापरितोषः सूचितः, तमाह—स्यादिति ॥ २५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वा शब्दसे चन्दनके दृष्टान्तमें असन्तोष सूचित होता है, उसको कहते हैं—"स्यात्" इत्यादिसे ॥२५॥

व्यतिरेको गन्धवत् ॥२६॥

पदच्छेद—व्यतिरेकः, गन्धवत्।

पदार्थोक्ति—गन्धवत्—यथा गुणस्यापि सतो गन्धस्य गुणिव्यतिरेकेण वृत्तिः पुष्पवाटिकापरिसरे पर्यटतः पुंसो गन्धोपलम्भदर्शनात् [तथा] व्यतिरेकः—आत्मगुणस्य ज्ञानस्य गुणिविश्लेषः [भवितुमर्हति]।

भाषार्थ—जैसे गुण होते हुए भी गन्धकी स्थिति गुणी द्रव्यसे पृथक् दिखाई देती है, क्योंकि पुष्पवाटिकाके समीपमें घूमते हुए पुरुषको गन्धकी उपलब्धि होती है, वैसे ही आत्माके गुण ज्ञानकी आत्मासे पृथक् अवस्थिति हो सकती है।

भाष्य

यथा गुणस्याऽपि सतो गन्धस्य गन्धवद्द्रव्यव्यतिरेकेण वृत्तिर्भवति, अप्राप्तेष्वपि कुसुमादिषु गन्धवत्सु कुसुमगन्धोपलब्धेः। एवमणोरपि सतो जीवस्य चैतन्यगुणव्यतिरेको भविष्यति, अतश्चाऽनैकान्तिकमेतद्—गुणत्वाद् रूपादिवदाश्रयविश्लेषानुपपत्तिरिति, गुणस्यैव सतो गन्धस्याऽऽश्रयविश्लेषदर्शनात्। गन्धस्याऽपि सहैवाऽऽश्रयेण विश्लेष इति चेत्, न; यस्मान्मूलद्रव्याद् विश्लेषस्तस्य क्षयप्रसङ्गात्। अक्षीयमाणमपि तत्पूर्वावस्थातो गम्यते, अन्यथा तत्पूर्वावस्थैर्गुरुत्वादिभिर्हीयेत। स्यादेतत्—

भाष्यका अनुवाद

जैसे गुण होनेपर भी गन्धकी अन्यत्र स्थिति होती है, क्योंकि गन्धयुक्त पुष्पोंके प्राप्त न होनेपर भी पुष्पोंकी सुगन्धिकी प्रतीति होती है, इसी प्रकार जीवके अणु होनेपर भी चैतन्य गुणका व्यतिरेक होगा, इससे 'गुण होनेसे रूपादिके समान आश्रयसे उसका विश्लेप अनुपपन्न है' यह व्यभिचरित हुआ, क्योंकि गन्ध गुणका ही आश्रयसे विश्लेप देखा जाता है। गन्धका भी आश्रयके साथ ही विश्लेप होता है, ऐसा यदि कहो तो यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि जिस मूलद्रव्यसे विश्लेष मानोगे उसका विनाश प्राप्त होगा। परन्तु वह मूलद्रव्य पहलेकी अवस्थासे क्षीण नहीं मालूम होता है,

---

रत्नप्रभा

उत्तरसूत्रव्यावर्त्यं शङ्कते—कथमिति। ज्ञानं न गुणिव्यतिरिक्तदेशव्यापि, गुणत्वाद्, रूपवत्। न च प्रभायां व्यभिचारः, तस्या अपि द्रव्यत्वाद् इति प्राप्ते गन्धे व्यभिचारमाह—अत उत्तरमिति। गुणस्य द्रव्यव्यतिरेकः— आश्रयविश्लेषः। ननु विश्लिष्टावयवानामल्पत्वाद् द्रव्यक्षयो न भाति इत्यत आह—अक्षीयमाणमपीति। अपिः अवधारणे। पूर्वावस्थालिङ्गेन—अक्षीयमाणमेव तद् द्रव्यमनुमीयते इत्यर्थः। विमतम् अविश्लिष्टावयवम्, पूर्वावस्थातो

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्तर सूत्रसे व्यावर्त्यकी शङ्का करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। ज्ञान गुणीसे अतिरिक्तदेशव्यापी नहीं है, गुण होनेसे, रूपके समान। प्रभाके द्रव्य होनेसे उसमें व्यभिचार नहीं है, ऐसा प्राप्त होनेपर गन्धमें व्यभिचार कहते हैं—"अत उत्तरम्" इत्यादिसे। गुणका द्रव्यसे व्यतिरेक—गुणका आश्रयसे विश्लेप। पृथक् हुए अवयवोंके थोड़े होनेके कारण द्रव्यका क्षय नहीं प्रतीत होता है, इसपर कहते हैं—"अक्षीयमाणमपि" इत्यादिसे। अपि—अवधारणार्थक है। पूर्व अवस्थाके लिङ्गसे अक्षीयमाण ही वह द्रव्य अनुमेय होता है, ऐसा अर्थ है। अर्थात् विमत

भाष्य

गन्धाश्रयाणां विश्लिष्टानामवयवानामल्पत्वात् सन्नपि विशेषो नोपलक्ष्यते, सूक्ष्मा हि गन्धपरमाणवः सर्वतो विप्रसृता गन्धबुद्धिमुत्पादयन्ति नासिकापुटमनुप्रविशन्त इति चेत्, न; अतीन्द्रियत्वात् परमाणूनाम्, स्फुटगन्धोपलब्धेश्च नागकेसरादिषु। न च लोके प्रतीतिः—गन्धवद् द्रव्यमाघ्रातमिति, गन्ध एवाऽऽघ्रात इति तु लौकिकाः प्रतियन्ति। रूपादिष्वाश्रय-

भाष्यका अनुवाद

अन्यथा—अगर क्षय माना जाय, तो पूर्व अवस्थाके गुरुत्व आदि धर्मोंसे हीन होगा। यदि ऐसी शङ्काकी जाय कि पृथक् हुए गन्धके आश्रय अवयवोंके थोड़े होनेके कारण विशेषके रहते भी उसका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि चारों तरफ फैले हुए सूक्ष्म गन्धके परमाणु नासिका पुटमें प्रवेश करते हुए गन्धकी बुद्धि उत्पन्न करते हैं, तो भी यह स्वीकार्य नहीं है, इसलिए कि, परमाणु अतीन्द्रिय हैं और नागकेसर आदिमें स्पष्ट गन्धकी उपलब्धि होती है। और लोकमें 'गन्धवद् द्रव्य सूंघा' ऐसी प्रतीति नहीं होती है, प्रत्युत 'गन्ध

रत्नप्रभा

गुरुत्वाद्यपचयहीनत्वात् संमतवदिति भावः। शङ्कते—स्यादेतदिति। विश्लिष्टानामल्पत्वादिति उपलक्षणम्। अवयवान्तराणां प्रवेशादित्यपि द्रष्टव्यम्। विशेषोऽवयवानां विश्लेषप्रवेशरूपः सन्नपि न ज्ञायते। तथा च गुरुत्वापचयो न भवति इति हेतोरन्यथासिद्धिरिति शङ्कार्थः। आगच्छन्तोऽवयवाः परमाणवः त्रसरेणवो वा? नाद्यः, तद्गतरूपवद्गन्धस्याऽपि अनुपलब्धिप्रसङ्गादिति परिहरति—नेति। द्वितीयं प्रत्याह—स्फुटेति। त्रसरेणुगन्धश्चेत् स्फुटो न

रत्नप्रभाका अनुवाद

विश्लिष्टावयव नहीं हैं, पूर्व अवस्थासे गुरुत्व आदिके अपचयसे हीन होनेसे, सम्मतवत् ऐसा भाव है। शङ्का करते हैं—"स्यात्" इत्यादिसे। विश्लिष्ट अवयवोंके अल्प होनेसे यह उपलक्षण है अन्य अवयवोंके प्रवेशसे ऐसा भी समझना चाहिए। यद्यपि अवयवविश्लेष या अवयवप्रवेश रूप विशेष है तो भी वह जाननेमें नहीं आता, इसलिए गुरुत्वका अपचय नहीं होता यह हेतु अन्यथासिद्ध है, ऐसा शङ्काका अर्थ है। आते हुए अवयव परमाणु हैं या त्रसरेणु हैं? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि परमाणुमें रहनेवाले रूपके समान गन्धकी भी अनुपलब्धिका प्रसङ्ग आवेगा। ऐसा परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। द्वितीयके प्रति कहते हैं—"स्फुट" इत्यादिसे। यदि त्रसरेणु

भाष्य

व्यतिरेकानुपलब्धेर्गन्धस्याऽप्ययुक्त आश्रयव्यतिरेक इति चेत्, न; प्रत्यक्षत्वादनुमानाप्रवृत्तेः। तस्माद् यद् यथा लोके दृष्टं तत् तथैवाऽनुमन्तव्यं निरूपकैर्नाऽन्यथा। नहि रसो गुणो जिह्वयोपलभ्यत इत्यतो रूपादयोऽपि गुणा जिह्वयैवोपलभ्येरन्निति नियन्तुं शक्यते ॥२६॥

भाष्यका अनुवाद

सूंघा' ऐसा लोग व्यवहार करते हैं। अगर रूपादि आश्रय द्रव्यसे व्यतिरिक्त देखे नहीं जाते एतावता [उस दृष्टान्तसे] गन्धका भी आश्रय व्यतिरेकसे उपलम्भ नहीं होता, ऐसी शङ्का करो तो यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव होनेसे अनुमान प्रवृत्त नहीं होगा। अतः लोकमें जैसा देखा जाय, वैसे ही अनुमान निरूपकोंको करना चाहिए, अन्यथा नहीं। रसगुण जिह्वासे उपलब्ध होता है, इससे रूपादि गुण भी जिह्वासे उपलब्ध हों, ऐसा नियम नहीं कर सकते ॥ २६ ॥

रत्नप्रभा

स्यादित्यर्थः। अतो गन्धस्य पुष्पादिस्थस्यैव गुणिव्यतिरेको वाच्य इति भावः। गन्धः न गुणिविश्लिष्टः, गुणत्वाद्, रूपवत् इति शङ्कते—रूपेति। विश्लेषस्य प्रत्यक्षत्वाद् बाध इत्याह—नेति॥ २६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

गन्ध हो तो स्फुट न हो ऐसा अर्थ है, अतः पुष्प आदिमें रहनेवाले गन्धका ही गुणीसे व्यतिरेक कहना चाहिए, ऐसा भाव है। गन्ध गुणीसे विश्लिष्ट नहीं है, गुण होनेसे, रूपके समान, ऐसी शङ्का करते हैं—"रूप" इत्यादिसे। विश्लेषके प्रत्यक्ष होनेसे बाध है, इसपर कहते हैं—"न" इत्यादिसे ॥ २६ ॥

तथा च दर्शयति ॥२७॥

पदच्छेद—तथा, च, दर्शयति।

पदार्थोक्ति—च—अपि, ['आ लोमभ्य आ नखाग्रेभ्यः' इत्यादिश्रुतिः] तथा—आत्मनो ज्ञानेन समस्तशरीरव्यापित्वम्, दर्शयति—प्रतिपादयति।

भाषार्थ—और 'आ लोमभ्यः'० (लोमपर्यन्त और नखाग्रपर्यन्त) इत्यादि श्रुति आत्माका ज्ञानसे सम्पूर्ण शरीरमें व्यापित्वका प्रतिपादन करती है।

भाष्य

हृदयायतनत्वमणुपरिमाणत्वं चाऽऽत्मनोऽभिधाय तस्यैव 'आ लोमभ्य आ नखाग्रेभ्यः' (छा० ८।८।१) इति चैतन्येन गुणेन समस्तशरीरव्यापित्वं दर्शयति ॥२७॥

भाष्यका अनुवाद

आत्माका हृदयमें स्थान और अणुपरिमाण कहकर उसका ही 'आ लोमभ्यः०' (लोमपर्य्यन्त, नखाग्रपर्य्यन्त) इस प्रकार श्रुति चैतन्यगुणसे समस्त शरीरमें सम्बन्ध दिखलाती है ॥ २७ ॥

रत्नप्रभा

आत्मनः चैतन्यगुणेनैव देहव्याप्तिरित्यत्र श्रुतिमाह सूत्रकारः— तथा च दर्शयतीति । तद् व्याचष्टे—हृदयेति ॥ २७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्माकी चैतन्य गुणके योगसे ही देहव्याप्ति है, उसमें सूत्रकार श्रुति कहते हैं—"तथा च दर्शयति" इत्यादिसे । उसकी व्याख्या करते हैं—"हृदय" इत्यादिसे ॥ २७ ॥

पृथगुपदेशात् ॥२८॥

पदच्छेद—पृथक्, उपदेशात् ।

पदार्थोक्ति—['प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' इति श्रुत्या आत्मज्ञानयोः कर्तृकरणभावेन] पृथक्—भेदेन, उपदेशात्—कथनात् [गुणद्वाराऽस्य शरीरव्यापित्वं गम्यते]।

भाषार्थ—'प्रज्ञया०' (प्रज्ञासे शरीरपर आरूढ होकर इस श्रुतिसे आत्मा और ज्ञानका कर्ता और करणरूपसे पृथक् उपदेश है, अतः गुण द्वारा जीवका शरीरव्यापी ज्ञान होता है।

भाष्य

'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौ० ३।६) इति चाऽऽत्मप्रज्ञयोः कर्तृ-

भाष्यका अनुवाद

'प्रज्ञया शरीरम्' (प्रज्ञा द्वारा शरीरका सम्यक् आरोहण करके) इस प्रकार

रत्नप्रभा

तत्रैव श्रुत्यन्तरार्थं सूत्रम्—पृथगिति। विज्ञानम्—इन्द्रियाणां ज्ञानशक्तिम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसीमें अन्य श्रुतिके लिए सूत्र है—"पृथक्" इत्यादि । विज्ञान—इन्द्रियोंकी ज्ञानशक्ति

भाष्य

करणभावेन पृथगुपदेशाच्चैतन्यगुणेनैवाऽस्य शरीरव्यापिता गम्यते। 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २।१।१७) इति च कर्तुः शरीरात् पृथग् विज्ञानस्योपदेश एतमेवाऽभिप्रायमुपोद्वलयति तस्मादणुरात्मेति ॥२८॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

भाष्यका अनुवाद

आत्मा और प्रज्ञाका कर्तृकरणरूपसे उपदेश है, इससे चैतन्यगुण द्वारा ही यह शरीरमें व्यापी है, ऐसा समझा जाता है। 'तदेषां प्राणानाम्०' (सुषुप्तिमें वागादि प्राणोंका अन्तःकरणगत अभिव्यक्तिविशेषरूप विज्ञानसे अपने अपने विषयगत सामर्थ्यका ग्रहण करके) इस प्रकार कर्ता शरीरसे पृथक् विज्ञानका उपदेश पूर्वोक्त अभिप्रायको ही पुष्ट करता है। अतः आत्मा अणु है ॥ २८ ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

विज्ञानेन—चैतन्यगुणेन आदाय शेते इत्यर्थः। एतम्—चैतन्यगुणव्याप्तिगोचरम् अभिप्रायम् ॥ २८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विज्ञानेन—चैतन्यगुण द्वारा लेकर सोता है ऐसा अर्थ है। एतम्—चैतन्यगुणव्याप्ति-विषयक अभिप्रायको ॥ २८ ॥

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२९॥

पदच्छेद—तद्गुणसारत्वात्, तु तद्व्यपदेशः, प्राज्ञवत्।

पदार्थोक्ति—तु—किन्तु, तद्गुणसारत्वात्—तस्या बुद्धेः गुणा अणुत्वोत्क्रान्तिगत्यागतिसुखदुःखादयः ते सारं प्रधानं यस्य [जीवस्य] स तद्गुणसारस्तस्यभावस्तत्त्वं तस्मात्। तद्व्यपदेशः—अणुत्वादिव्यपदेशः [न स्वाभाविकः] प्राज्ञवत्—यथा प्राज्ञस्य (परमात्मनः) सगुणोपासनेषु दहराद्युपाधिवशादणुत्वादिकं व्यपदिश्यते तद्वत्।

भाषार्थ—किन्तु जीवमें बुद्धिके अणुत्व, उत्क्रमण, गमन, आगमन, सुख, दुःख आदि बुद्धिके गुण हैं अतः उसमें अणुत्वका व्यपदेश होता है, वह स्वाभाविक नहीं है जैसे परमात्माकी सगुणोपासनामें दहर आदि उपाधियोंके कारण उसमें अणुत्व आदिका व्यपदेश होता है, वैसे ही यहां समझना चाहिए।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति—अणुरात्मेति। उत्पत्त्यश्रवणाद्धि परस्यैव तु ब्रह्मणः प्रवेशश्रवणात् तादात्म्योपदेशाच्च परमेव ब्रह्म जीव इत्युक्तम्। परमेव चेद् ब्रह्म जीवस्तस्माद् यावत् परं ब्रह्म तावानेव जीवो भवितुमर्हति, परस्य च ब्रह्मणो विभुत्वमाम्नातम्, तस्माद् विभुर्जीवः। तथा च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) इत्येवंजातीयका जीवविषया

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द पक्षकी व्यावृत्ति करता है। 'आत्मा अणु है' यह ठीक नहीं है, क्योंकि आत्माकी उत्पत्तिकी श्रुतियां नहीं हैं, और परब्रह्मके प्रवेशकी श्रुति है। एवं तादात्म्यका उपदेश है, इससे परब्रह्म ही जीव है, ऐसा कहा है। यदि जीव परब्रह्म ही है, तो जितना बड़ा परब्रह्म है उतना बड़ा जीव हो सकता है और 'परब्रह्म विभु है' ऐसा श्रुतिमें कहा गया है, इससे जीव विभु है। इसी प्रकार 'स वा एष०' (यह महान् अज आत्मा है जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है) इस प्रकारके जीवके श्रौत और स्मार्त विभुत्ववाद सङ्गत

रत्नप्रभा

तत्र आत्माणुत्वविभुत्वश्रुतीनां विरोधाद् अप्रामाण्यप्राप्तौ अणुत्वं जीवस्य विभुत्वमीश्वरस्य इति अविरोध इत्येकदेशिपक्षो दर्शितः, तं दूषयन् सिद्धान्तसूत्रम् व्याचष्टे—**तुशब्द इत्यादिना**। तस्माद् ब्रह्माभिन्नत्वात् विभुः जीवः ब्रह्मवत्, इत्यनुमानानुगृहीते श्रुतिस्मृती आह—**तथा च स वा एष इति**। 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' (भ० गी० २।२४) इत्याद्याः स्मार्तवादाः। एतेन जीवस्य ब्रह्माभेदज्ञानेऽणुत्वाभावधीः तस्यां तद् इत्यन्योन्याश्रय इति निरस्तम्। प्रधानमहावाक्यानुगुणश्रुतिस्मृतिभिः अणुत्वाभावनिश्चयानन्तरम् अभेदज्ञानात् प्रधानवाक्यविरोधे

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसमें आत्माका अणुत्व और विभुत्व दिखलानेवाली श्रुतियोंके परस्पर विरोधसे अप्रामाण्य प्राप्त होनेपर जीवका अणुत्व है और ईश्वरका विभुत्व है, ऐसा अविरोध है, ऐसा एकदेशीका पक्ष दिखलाया गया है, अब उस पक्षको दूषित करते हुए सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तुशब्दः" इत्यादिसे। इसलिए ब्रह्मसे अभिन्न होनेसे जीव विभु है, ब्रह्मके समान, ऐसे अनुमानसे अनुगृहीत श्रुति और स्मृति कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। "नित्यः सर्वगतः स्थाणु·" (आत्मा नित्य, सर्वव्यापक और स्थाणु है) इत्यादि स्मृतिवचन हैं। इससे जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, ऐसा ज्ञान होनेपर अणुत्वके अभावकी बुद्धि होती है और अणुत्वके अभावकी बुद्धि होनेपर जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, ऐसा ज्ञान होता है इस प्रकार अन्योन्याश्रय है, इस कथनका

भाष्य

विभुत्ववादाः श्रौताः स्मार्ताश्च समर्थिता भवन्ति। न चाऽणोर्जीवस्य सकलशरीरगता वेदनोपपद्यते। त्वक्सम्बन्धात् स्यादिति चेत्, न; कण्टकतोदनेऽपि सकलशरीरगतैव वेदना प्रसज्येत, त्वक्कण्टकयोर्हि संयोगः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति। पादतल एव तु

भाष्यका अनुवाद

होते हैं। और अणु जीवकी सारे शरीरमें स्थित वेदना उपपन्न नहीं होगी। त्वचाके सम्बन्धसे होगी, ऐसा कहोगे तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि त्वचामें कांटा लगनेपर भी सकल शरीरगत ही वेदना प्रसक्त होगी, क्योंकि त्वचा और कांटेका संयोग सम्पूर्ण त्वचामें है और त्वचा सम्पूर्ण शरीरमें है।

रत्नप्रभा

गुणभूताणुत्वश्रुतीनाम् औपाधिकाणुत्वविषयत्वकल्पनात्। 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' इति न्यायादिति भावः। किञ्च, सर्वदेहव्यापिशैत्यानुभवान्यथानुपपत्त्या अणुत्वश्रुतयोऽध्यस्ताणुत्वविषयत्वेन कथञ्चिदर्थवादा नेयाः, लौकिकन्यायादपि तासां दुर्बलत्वादिति मत्वाऽऽह—न चाऽणोरिति। शङ्कते—त्वगिति। यदि अण्वात्मसम्बन्धस्य त्वग्व्याप्त्या देहव्यापिनी वेदना स्यात् तर्ह्यतिप्रसङ्गः इति दूषयति—नेति। प्रसङ्गस्येष्टत्वं निरस्यति—पादतल एवेति। तस्माद् अल्पमहतोः संयोगो न महद्व्यापी, कण्टकसंयोगस्य देहव्याप्त्यदर्शनात्, तथा च अण्वात्मसंयोगस्त्वगेकदेशस्थ एव इति देहव्यापिवेदनानुपपत्तिः। न च सिद्धान्ते त्वगात्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

निराकरण हुआ, क्योंकि प्रधान महावाक्यके (तत्त्वमसिके) अनुगुण श्रुति और स्मृतियोंसे अणुत्वके अभावका निश्चय होनेके अनन्तर अभेद ज्ञान होनेसे प्रधान वाक्यके विरोधमें गुणभूत अणुत्व श्रुतियां औपाधिक अणुत्वविषयक हैं, ऐसी कल्पना है, क्योंकि गुण—अप्रधानमें अन्याय्यकी (लक्षणाकी) कल्पना होती है, इस न्यायसे, ऐसा भाव है। सारे शरीरमें शैत्यके अनुभवकी अन्यथा अनुपपत्तिसे अणुत्व श्रुतियां अध्यस्त—आरोपित अणुत्वविषयद्वारा कथंचित् अर्थवादरूपसे समझनी चाहिएँ, लौकिकन्यायसे भी वे श्रुतियाँ दुर्बल हैं, ऐसा मानकर कहते हैं—"न चाऽणोः" इत्यादिसे। शङ्का करते हैं—"त्वग्" इत्यादिसे। परन्तु अणु आत्माका सम्बन्ध त्वचामें व्यापक होनेसे देहव्यापी वेदना होगी, यदि ऐसा कहोगे, तो अतिप्रसङ्ग है, ऐसा दूषण कहते हैं—"न" इत्यादिसे। अतिप्रसङ्ग इष्ट है, ऐसी जो कोई शङ्का करे, तो इसका निरसन करते हैं—"पादतल एव" इत्यादिसे। इससे आत्मा और महत् इन दोनोंका संयोग महद्व्यापी नहीं है, क्योंकि कांटेका संयोग देहमें व्याप्त हुआ देखनेमें नहीं आता। इसलिए अणु आत्माका संयोग त्वचाके एकदेशमें ही होनेसे देहव्यापी वेदना

भाष्य

कण्टकतुन्नो वेदनां प्रतिलभते । न चाऽणोर्गुणव्याप्तिरुपपद्यते, गुणस्य गुणिदेशत्वात् । गुणत्वमेव हि गुणिनमनाश्रित्य गुणस्य हीयेत । प्रदीपप्रभायाश्च द्रव्यान्तरत्वं व्याख्यातम् । गन्धोऽपि गुणत्वाभ्युपगमात् साश्रय एव सञ्चरितुमर्हति, अन्यथा गुणत्वहानिप्रसङ्गात् । तथा चोक्तं

भाष्यका अनुवाद

वेदना तो केवल कांटेसे पीडित पैरके तलवेमें ही होती है। इसी प्रकार अणुकी गुणके साथ व्याप्ति उपपन्न नहीं है, क्योंकि गुण गुणीका प्रदेश है। यदि गुण गुणीका आश्रय न करे, तो उसका गुणत्व ही नष्ट हो जायगा। दीपप्रभा तो अन्य द्रव्य है ऐसा व्याख्यान किया जा चुका है। गन्ध भी गुण है, ऐसा स्वीकार करनेसे वह आश्रय सहित ही संचार करेगा, अन्यथा गुणत्वकी हानिका प्रसङ्ग होगा।

रत्नप्रभा

सम्बन्धस्य व्यापित्वात् कण्टकसम्बन्धे देहव्यापिवेदनाप्रसङ्ग इति वाच्यम्, यावती विषयसम्बद्धा त्वक् तावद्व्याप्यात्मसम्बन्धः तावद्व्यापिवेदनाहेतुरिति नियमात् । न चैवं विषयत्वक्सम्बन्ध एव तद्धेतुः अस्तु, किमात्मव्याप्त्या ? इति वाच्यम् । वेदना हि सुखं दुःखं तदनुभवश्च । न चैषां व्यापकानां कार्याणामल्पमुपादानं सम्भवति, कार्यस्य उपादानाद् विश्लेषानुपपत्तेः । न चैषां व्यापकत्वम् असिद्धम्, सूर्यतप्तस्य गङ्गानिमग्नस्य सर्वाङ्गव्यापिसुखदुःखानुभवस्य दुरपह्नवत्वात् यदुक्तम्—गुणस्याऽपि गुणिविश्लेषो गन्धवदिति, तन्न इत्याह—न चाऽणोरिति । गन्धः न आश्रयाद् विश्लिष्टः, गुणत्वात्, रूपवत्, इत्यत्राऽऽगममाह—तथा चोक्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनुपपन्न है। और ऐसी शङ्का न करनी चाहिए कि सिद्धान्तमें त्वचा और आत्माका सम्बन्ध व्यापी होनेसे कंटकके साथ आत्माका सम्बन्ध होनेपर देहव्यापी वेदनाका प्रसङ्ग होगा, क्योंकि जितनी त्वचा विषयके साथ सम्बद्ध है, उतनी त्वचामें व्याप्त आत्माका सम्बन्ध उतनी ही त्वचामें व्याप्त वेदनाका हेतु है, ऐसा नियम है। तब विषय और त्वचाका सम्बन्ध ही उस वेदनाका हेतु हो, आत्माकी व्याप्तिको हेतु माननेका क्या प्रयोजन है ? ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वेदना अर्थात् सुख-दुःख और उनका अनुभव। ये व्यापक कार्य हैं, अतः इनका अल्प उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि कार्यका उपादानसे विश्लेष अयुक्त है। और ये कार्य व्यापक हैं, यह असिद्ध है, ऐसा भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि सूर्यसे संतप्त हुए और गंगामें निमग्न हुए पुरुषको सब अङ्गमें व्यापी सुख और दुःखका अनुभव होता है, उसका अपह्नव नहीं हो सकता। और गुणका भी गुणीसे विश्लेष होता है, गन्धके समान, ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न चाऽणोः" इत्यादिसे। गन्ध आश्रयसे विश्लिष्ट

भाष्य

द्वैपायनेन—

'उपलभ्याप्सु चेद्गन्धं केचिद् ब्रूयुरनैपुणाः ।
पृथिव्यामेव तं विद्यादपो वायुं च संश्रितम् ॥' इति ।

यदि च चैतन्यं जीवस्य समस्तं शरीरं व्याप्नुयान्नाऽणुर्जीवः स्यात् । चैतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपमग्नेरिवौष्ण्यप्रकाशौ, नाऽत्र गुणगुणिविभागो विद्यत इति । शरीरपरिमाणत्वं च प्रत्याख्यातम् । परिशेषाद् विभुर्जीवः । कथं तर्ह्यणुत्वादिव्यपदेश इत्यत आह—'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः' इति ।

भाष्यका अनुवाद

इसी प्रकार भगवान् द्वैपायनने कहा है—'उपलभ्याप्सु०' (जलमें गन्धकी उपलब्धि करके कतिपय अनिपुण पुरुष उसमें गन्ध है, ऐसा कहते हैं, परन्तु जल एवं वायुमें रहनेवाला गन्ध पृथ्वीका ही है ऐसा जानना चाहिए) यदि जीवका चैतन्य समस्त शरीरमें व्याप्त हो, तो जीव अणु न हो, क्योंकि जैसे अग्निका स्वरूप उष्णता और प्रकाश है वैसे ही जीवका स्वरूप चैतन्य है । इसमें गुण और गुणीका विभाग नहीं है । जीवके शरीरपरिमाणका तो पहले खण्डन किया जा चुका है । परिशेषसे जीव विभु है । तब उसमें अणुत्व आदि व्यपदेश किस प्रकार हैं ? इसपर

रत्नप्रभा

भिति । न च प्रत्यक्षबाधः, गन्धस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि निराश्रयत्वस्याऽप्रत्यक्षत्वात् । महतां त्रसरेणूनाम् अनुद्भूतस्पर्शानाम् उद्भूतगन्धानाम् आगमनात् स्फुटगन्धोपलम्भसम्भवः, अवयवान्तरप्रवेशान्न सहसा मूलद्रव्यक्षय इति भावः । पूर्वं चैतन्यस्य गुणत्वम् उपेत्य तद्व्याप्त्या गुण्यात्माणुत्वं निरस्तम्, सम्प्रति तस्य गुणत्वम् असिद्धमित्याह—यदि च चैतन्यमिति । उत्सूत्रं विभुत्वं प्रसाध्य अणुत्वाद्युक्तेर्गतिप्रदर्शनार्थं सूत्रं व्याचष्टे—कथमित्यादिना । 'अन्तरा विज्ञानमनसी०' (ब्र० सू० २।३।१५)

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं हो सकता, गुण होनेसे, रूपके समान, इसमें आगम कहते हैं—"तथा चोक्तम्" इत्यादिसे । आगमका प्रत्यक्षसे बाध नहीं हो सकता, क्योंकि गन्ध प्रत्यक्ष है, तो भी उसका निराश्रयत्व—आश्रयशून्यत्व अप्रत्यक्ष है, और बड़े त्रसरेणु, जिनका स्पर्श अनुद्भूत है और गन्ध उद्भूत है, उनके आनेसे स्फुट गन्धके उपलम्भका सम्भव है, उसी प्रकार अन्य अवयवोंके प्रवेशसे सहसा मूल द्रव्यका क्षय नहीं होता, ऐसा भाव है । प्रथम चैतन्यको गुण मानकर उसकी व्याप्तिसे गुणी आत्माके अणुत्वका निरसन किया गया । अब, चैतन्यका गुणत्व असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"यदि च चैतन्यम्" इत्यादिसे । सूत्रके बाहर विभुत्व सिद्ध करके अणुत्व आदि उक्तिकी गति दिखलानेके लिए सूत्रका व्याख्यान करते हैं—

भाष्य

तस्या बुद्धेर्गुणास्तद्गुणा इच्छा, द्वेषः, सुखम्, दुःखमित्येवमादयस्तद्गुणाः सारः प्रधानं यस्याऽऽत्मनः संसारित्वे सम्भवति स तद्गुणसारस्तस्य भावस्तद्गुणसारत्वम्। नहि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्याऽऽत्मनः संसारित्वमस्ति, बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तुश्चाऽसंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत आत्मनः। तस्मात् तद्गुणसारत्वाद् बुद्धिपरिमाणेनाऽस्य परिमाणव्यपदेशः। तदुत्क्रान्त्यादिभिश्चाऽस्योत्क्रान्त्यादिव्यपदेशो न स्वतः। तथा च—

'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते॥' (श्वे० ५।९)

भाष्यका अनुवाद

हैं—'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः'। उसके अर्थात् बुद्धिके जो गुण वे तद्गुण, अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख इत्यादि। तद्गुण सार—प्रधान जिस आत्माके संसारित्वमें हैं, वह तद्गुणसार, उसका भाव तद्गुणसारत्व है, क्योंकि बुद्धिके गुणोंके बिना केवल आत्माका संसारित्व नहीं है। अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी, नित्यमुक्त, सत्स्वरूप आत्माका कर्तृत्वभोक्तृत्वरूप संसार बुद्धिरूप उपाधिके धर्मके अध्याससे ही है। जीवमें बुद्धिके गुणोंकी प्रधानता होनेसे बुद्धिके परिमाणसे जीवके परिमाणका व्यपदेश होता है और बुद्धिकी उत्क्रान्ति आदिसे जीवकी उत्क्रान्ति आदिका व्यपदेश होता है, उसके परिणाम, उत्क्रमण आदि स्वाभाविक नहीं हैं। और इसी प्रकार 'वालाग्रशत०' (केशके अग्रभागका किया हुआ जो सौवाँ भाग उसका पुनः किया हुआ जो सौवाँ भाग वह जीव है और वह अनन्तता

रत्नप्रभा

'हृदि हि' (ब्र० सू० २।३।२६) इति च प्रकृता बुद्धिः योग्यत्वात् तच्छब्देन परामृश्यते। बुद्धिगुणानामात्मनि अध्यासाद् अणुत्वाद्युक्तिः, न स्वतः, आनन्त्यश्रुतिविरोधाद् इत्याह—तथा चेति। अकार्यकारणद्रव्यसमानाधिकरणतया 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।१२) इति वाक्यस्य सोऽयमिति वाक्यवदखण्डाभेदार्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"कथम्" इत्यादिसे। 'अन्तरा विज्ञानमनसी' (विज्ञान और मनके बीचमें) 'हृदि हि' (हृदयमें है) इस प्रकार प्रकृत बुद्धिका योग होनेसे 'तद्गुणसारत्वात्' में तद्शब्दसे परामर्श किया जाता है। बुद्धिके गुणोंका आत्मामें अध्यास होनेसे अणुत्व आदिकी उक्ति है, स्वतः नहीं है, क्योंकि आनन्त्य श्रुतिका विरोध होता है, ऐसा कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। जिसका कार्य और कारण

भाष्य

इत्यणुत्वं जीवस्योक्त्वा तस्यैव पुनरानन्त्यमाह। तच्चैवमेव समञ्जसं स्याद् यद्यौपचारिकमणुत्वं जीवस्य भवेत् पारमार्थिकं चाऽऽनन्त्यम्। नह्युभयं मुख्यमवकल्पेत। न चाऽऽनन्त्यमौपचारिकमिति शक्यं विज्ञातुम्, सर्वोपनिषत्सु ब्रह्मात्मभावस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात्। तथेतरस्मिन्नप्युन्माने 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ५।८) इति च बुद्धिगुणसम्बन्धेनैवाऽऽराग्रमात्रतां शास्ति न स्वेनैवाऽऽत्मना।

भाष्यका अनुवाद

के लिए समर्थ होता है) इस प्रकार जीवको अणु कहकर उसके ही पीछे श्रुति जीवकी अनन्तताका प्रतिपादन करती है। वह तभी युक्त हो सकता है जब कि जीवका अणुत्व गौण माना जाय और आनन्त्य पारमार्थिक माना जाय, क्योंकि दोनों मुख्य नहीं हो सकते हैं। आनत्यको गौण और अणुत्वको मुख्य मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि सभी उपनिषदोंमें ब्रह्मात्मभाव-प्रतिपादन करना अभिलषित है। वैसे ही अन्य उन्मानमें भी 'बुद्धेर्गुणेन०' (बुद्धिगुणनिमित्तक आत्मामें अध्यस्त गुणसे जीव आरके अग्रपरिमाणके बराबर और अपकृष्ट समझा जाता है, स्वतः तो वह अनन्त है)

रत्नप्रभा

त्वात् आनन्त्यं सत्यम्, अणुत्वमध्यस्तम् इत्यर्थः। उक्तञ्चैतदङ्गुष्ठाधिकरणे—'प्रतिपाद्यविरुद्धमुद्देश्यगतविशेषणमविवक्षितम्' इति। वालाग्रवाक्यम् आराग्रवाक्यं चेति उन्मानद्वयमुक्तम्, तत्र आद्यं निरस्य द्वितीयं निरस्यति–तथेतरस्मिन्नपीति। बुद्धेः गुणेन तन्निमित्तेन आत्मनि अध्यस्तो गुणो भवति, तेनाऽऽत्मगुणेनाऽध्यस्तेनैवाऽऽराग्रपरिमाणोऽपकृष्टश्च जीवो दृष्टः स्वतस्तु अनन्त एवेत्यर्थः। 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, ऐसे ब्रह्म तत्के साथ त्वम्का सामानाधिकरण्य होनेसे 'तत्त्वमसि' यह वाक्य 'सोऽहम्' इस वाक्यके समान अखण्ड अभेदार्थक होनेसे जीवकी अनन्तता ही सत्य है और अणुत्व अध्यस्त है, ऐसा अर्थ है। प्रतिपाद्य वस्तुसे विरुद्ध उद्देश्यगत विशेषण अविवक्षित है, ऐसा अङ्गुष्ठाधिकरणमें कहा है। वालाग्रवाक्य (वालाग्रशतभागस्य इत्यादि) और आराग्रवाक्य (आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः) ऐसे दो उन्मान—अल्पपरिमाण प्रतिपादक कहे गये हैं, उनमें आद्यका निराकरण किया जा चुका है। अब द्वितीयका निराकरण कहते हैं—"तथेतरस्मिन्नपि" इत्यादिसे। बुद्धिके गुणरूप–इस निमित्तसे आत्मामें गुण अध्यस्त होता है और उस अध्यस्त आत्मगुणसे ही जीव आराग्रपरिमाण, अपकृष्ट प्रतीत होता है, स्वतः तो वह अनन्त

भाष्य

'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मु० ३।१।९) इत्यत्रापि न जीवस्याऽणुपरिमाणत्वं शिष्यते, परस्यैवाऽऽत्मनश्चक्षुराद्यनवग्राह्यत्वेन ज्ञानप्रसादगम्यत्वेन च प्रकृतत्वात्। जीवस्याऽपि च मुख्याणुपरिमाणत्वानुपपत्तेः। तस्माद् दुर्ज्ञानत्वाभिप्रायमिदमणुत्ववचनमुपाध्यभिप्रायं वा द्रष्टव्यम्। तथा 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौ० ३।६) इत्येवंजातीयकेष्वपि भेदोपदेशेषु बुद्ध्यैवोपाधिभूतया जीवः शरीरं समारुह्येत्येवं योजयितव्यम्। व्यप-

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार बुद्धिगुणके सम्बन्धसे ही आराग्रपरिमाणका शासन है, अपने स्वरूपसे नहीं। 'एषोऽणुः०' (यह अणु आत्मा विशुद्ध चित्तसे जानने योग्य है) इसमें भी जीवके अणुपरिमाणका उपदेश नहीं है, क्योंकि परमात्मा ही चक्षु आदिसे गृहीत न होने और ज्ञानप्रसादगम्य होनेसे प्रकृत है। और जीवका भी मुख्य अणुपरिमाण उपपन्न नहीं होता। इससे जीवको अणु कहना, 'जीव दुर्ज्ञेय है' इस अभिप्रायसे अथवा उपाधिके अभिप्रायसे है, ऐसा समझना चाहिए। इसी प्रकार 'प्रज्ञया०' (प्रज्ञा द्वारा शरीरपर समारोहण करके) इस प्रकार भेदके उपदेशोंमें भी उपाधिरूप बुद्धिसे ही 'जीव शरीरपर समारोहण करके' ऐसी योजना करनी चाहिए। अथवा

रत्नप्रभा

तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' इत्युक्त्वा 'एषोऽणुरात्मा' (मु० ३।१।९) इत्युक्तः पर एव यदि जीवः, तथापि अध्यस्ताणुत्वमणुशब्दार्थ इत्याह—जीवस्याऽपीति। यदुक्तं पृथगुपदेशात् चैतन्यगुणेनैवाऽऽत्मनो देहव्याप्तिरिति, तत्राह—तथा प्रज्ञयेति। प्रज्ञा—बुद्धिः इत्यर्थः। यदि चैतन्यं प्रज्ञा, तदा

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही है, ऐसा तात्पर्य है। 'न चक्षुषा गृह्यते०' (नेत्रसे, वाणीसे या अन्य देवों—इन्द्रियोंसे तप या कर्म—वैदिक अग्निहोत्रादि कर्मसे उसका ग्रहण नहीं किया जाता। ज्ञानप्रसादसे विशुद्ध अन्तःकरण जिसका हुआ है वह ध्यान करता हुआ निरवयव आत्माको देखता है) ऐसा कहकर 'एषोऽणुरात्मा' (यह अणु आत्मा विशुद्ध चित्तसे ही वेदनीय है) इससे प्रतिपादित परमात्मा ही यदि जीव है तो भी अध्यस्त अणुत्व अणुशब्दका अर्थ है, ऐसा कहते हैं—"जीवस्यापि" इत्यादिसे। आत्मा और प्रज्ञाका पृथक् उपदेश होनेसे चैतन्य गुण द्वारा ही आत्माकी देहके साथ व्याप्ति है, ऐसा जो कहा है, उसपर कहते हैं—"तथा प्रज्ञया" इत्यादिसे। प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि। जब प्रज्ञाका अर्थ चैतन्य हो, तब भेदका

भाष्य

देशमात्रं वा 'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' इत्यादिवत्। नह्यत्र गुणगुणिविभागोऽपि विद्यत इत्युक्तम्। हृदयायतनत्ववचनमपि बुद्धेरेव तदायतनत्वात्। तथोत्क्रान्त्यादीनामप्युपाध्यायत्ततां दर्शयति—'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति' (प्र० ६।३) 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६।४) इति। उत्क्रान्त्यभावे हि गत्यागत्योरप्यभावो विज्ञायते, नह्यनपसृप्तस्य देहाद् गत्यागती स्याताम्। एवमुपाधिगुणसारत्वाज्जीवस्याऽणुत्वादिव्यपदेशः प्राज्ञवत्। यथा प्राज्ञस्य परमात्मनः

भाष्यका अनुवाद

यह 'पत्थरकी पुत्तलीका शरीर' इत्यादिके समान व्यपदेशमात्र है, क्योंकि यहां गुण और गुणीका विभाग नहीं है, ऐसा कहा जा चुका है। 'जीवका स्थान हृदय है' यह वचन भी बुद्धिके ही अभिप्रायसे है। बुद्धिका ही स्थान हृदय है, उसी प्रकार 'कस्मिन्न्वहम्०' (किसके उत्क्रान्त होनेपर मैं उत्क्रान्त होऊँगा और किसके प्रतिष्ठित होनेपर प्रतिष्ठा प्राप्त करूँगा) स प्राणमसृजत' (उसने प्राण उत्पन्न किया) इस प्रकार उत्क्रान्ति आदि भी उपाधिके अधीन हैं, ऐसा (श्रुति) दिखलाती है। उत्क्रान्तिके अभावमें गति और आगतिका भी अभाव समझा जाता है, क्योंकि जो देहसे निकला न हो, उसकी गति और आगति नहीं होगी। इस प्रकार उपाधिके गुणकी प्रधानतासे जीवमें अणुत्व आदिका व्यपदेश है, प्राज्ञके समान,

---

रत्नप्रभा

भेदोपचार इत्याह—व्यपदेशमात्रं चेति। ननु चैतन्यं गुण इति भेदो मुख्योऽस्तु, नेत्याह—नह्यत्रेति। निर्गुणत्वश्रुतेः इत्यर्थः। अन्यदपि पूर्वोक्तं बुद्ध्याद्युपाधिकम् इत्याह—हृदयेत्यादिना। सौत्रं दृष्टान्तं विवृणोति—यथेति। असत्त्वमिति आपाततः। असंसारित्वम्—आपाद्यम्। शेषं सुबोधम् ॥२९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपचार है, ऐसा कहते हैं—"व्यपदेशमात्रं च" इत्यादिसे। चैतन्य गुण है, इसलिए भेद मुख्य है औपचारिक नहीं है यदि कोई ऐसा कहे, तो नहीं, ऐसा कहते हैं—"नह्यत्र" इत्यादिसे। निर्गुणत्वश्रुति होनेसे, ऐसा अर्थ है। दूसरा भी जो कुछ पूर्वमें कहा है, वह बुद्धि आदि उपाधिप्रयुक्त है, ऐसा कहते हैं—"हृदय" इत्यादिसे। सौत्र दृष्टान्तका विवरण करते हैं—"यथा" इत्यादिसे। असत्त्व यह कथन आपातसे है। और असंसारित्व आपाद्य है, अवशिष्ट अंश सुगम है ॥ २९ ॥

भाष्य

सगुणेषूपासनेषूपाधिगुणसारत्वादणीयस्त्वादिव्यपदेशः—'अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा' (छा० ३।१४।३) 'मनोमयः प्राणशरीरः सर्वगन्धः सर्वरसः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ३।१४।२) इत्येवंप्रकारः तद्वत् ॥२९॥

स्यादेतद्—यदि बुद्धिगुणसारत्वादात्मनः संसारित्वं कल्प्येत, ततो बुद्ध्यात्मनोर्भिन्नयोः संयोगावसानमवश्यंभावीत्यतो बुद्धिवियोगे सत्यात्मनो विभक्तस्याऽनालक्ष्यत्वादसत्त्वमसंसारित्वं वा प्रसज्येतेति, अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

जैसे सगुण उपासनाओंमें उपाधिके गुणोंकी प्रधानता से प्राज्ञ—परमात्मामें अणुत्व आदिका व्यपदेश है 'अणीयान्' (व्रीहिसे या यवसे विशेष अणु) 'मनोमयः०' (मनोमय, प्राणशरीर, सर्वगन्ध, सर्वरस, सत्यकाम, और सत्यसंकल्प,) इस प्रकार, वैसे यहाँ भी समझना चाहिए ॥ २९ ॥

यह शङ्का हो सकती है कि यदि बुद्धिके गुणकी प्रधानतासे आत्मा संसारी है, ऐसा माना जाय तो परस्पर विभिन्न बुद्धि और आत्माके संयोगका अवसान अवश्य होगा, इसलिए बुद्धिका वियोग होनेपर विभक्त आत्माके अनालक्ष्य होनेसे उसका असत्त्व या असंसारित्व प्राप्त होगा ? इसपर उत्तर कहते हैं—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥३०॥

पदच्छेद—यावदात्मभावित्वात्, च, न, दोषः, तद्दर्शनात् ।

पदार्थोक्ति—[बुद्धिसंयोगस्य] यावदात्मभावित्वात्—यावत् आत्मनः सम्यग्दर्शनेन संसारो न निवर्तते, तावद्भावित्वात्, न दोषः—नोक्तदोषः, [कुतः] तद्दर्शनात्—देहवियोगेऽपि तस्य बुद्धिसंयोगस्य 'समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति' इत्यादिश्रुतौ दर्शनात् ।

भावार्थ—बुद्धिका संयोग जबतक आत्मज्ञानसे संसारकी निवृत्ति नहीं होती तबतक रहता है, इसलिए उक्त दोष नहीं है, क्योंकि देहका वियोग होनेपर भी बुद्धिका संयोग 'समानः०' (समान होकर दोनों लोकोंमें संचरण करता है।) इत्यादि श्रुतिमें देखा गया है ।

भाष्य

नेयमनन्तरनिर्दिष्टदोषप्राप्तिराशङ्कनीया। कस्मात्? यावदात्मभावित्वाद् बुद्धिसंयोगस्य। यावदयमात्मा संसारी भवति, यावदस्य सम्यग्दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते, तावदस्य बुद्ध्या संयोगो न शाम्यति। यावदेव चाऽयं बुद्ध्युपाधिसंबन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च। परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसंबन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणाऽस्ति। नहि नित्यमुक्तस्वरूपात् सर्वज्ञादीश्वरादन्यश्चेतनो धातुर्द्वितीयो वेदान्तार्थनिरूपणायामुपलभ्यते, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता' (बृ० ३।७।२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ' (छा०६।८।७) 'तत्त्वमसि' (छा०६।१।६) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ०१।४।७) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः। कथं पुनरवगम्यते—यावदात्मभाविबुद्धिसंयोग इति। तद्दर्शनादित्याह। तथा हि शास्त्रं दर्शयति—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव'

भाष्यका अनुवाद

पूर्वमें कही हुई दोषप्राप्तिकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, किससे? बुद्धिसंयोगके यावदात्मभावी होनेसे। जबतक यह आत्मा संसारी है एवं जबतक सम्यक् दर्शनसे संसार निवृत्त नहीं होता है, तबतक इसका बुद्धिके साथ संयोग नष्ट नहीं होता। और जबतक बुद्धिरूप उपाधिके साथ सम्बन्ध है, तबतक जीवका जीवत्व और संसारित्व है। वस्तुतः बुद्धिरूप उपाधिके सम्बन्धसे परिकल्पित स्वरूपसे व्यतिरिक्त जीव है ही नहीं, क्योंकि नित्य, मुक्तस्वरूप, सर्वज्ञ, ईश्वरसे अन्य चेतन तत्त्व वेदान्तके अर्थका निरूपण करनेपर उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि 'नान्यदतोऽस्ति०' (इससे अन्य द्रष्टा, श्रोता, मननकर्ता या विज्ञाता नहीं है) 'तत्त्वमसि' (वह तू है) 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादि सैकड़ों श्रुतियां हैं। परन्तु बुद्धिसंयोग यावदात्मभावी है यह कैसे समझा जाता है? उसके दर्शनसे, ऐसा कहते हैं, क्योंकि 'योऽयम् विज्ञानमयः०' (जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय बुद्धिमें ज्योतिस्वरूप पूर्ण है, वह बुद्धिसमान होकर दोनों

रत्नप्रभा

ननु स्वतः संसारित्वमस्तु किं बुद्ध्युपाधिना इत्यत आह—यावदेव चाऽयमिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि कोई कहे कि आत्मा स्वतः संसारी हो, बुद्धिरूप उपाधिसे क्या प्रयोजन है? इसपर कहते हैं—

भाष्य

(बृ० ४।३।७) इत्यादि। तत्र विज्ञानमय इति बुद्धिमय इत्येतदुक्तं भवति। प्रदेशान्तरे 'विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' इति विज्ञानमयस्य मनआदिभिः सह पाठात्। बुद्धिमयत्वं च तद्गुणसारत्वमेवाऽभिप्रेयते, यथा लोके 'स्त्रीमयो देवदत्तः' इति स्त्रीरागादिप्रधानोऽभिधीयते, तद्वत्। 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति' इति च लोकान्तरगमनेऽप्यवियोगं बुद्ध्या दर्शयति, केन समानस्तयैव बुद्ध्येति गम्यते, संनिधानात्। तच्च दर्शयति—'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ०४।३।७) इति। एतदुक्तं भवति—नाऽयं स्वतो ध्यायति, नाऽपि चलति, ध्यायन्त्यां बुद्धौ ध्यायतीव चलन्त्यां बुद्धौ चलतीवेति। अपि च मिथ्याज्ञानपुरःसरोऽय-

भाष्यका अनुवाद

लोकोंमें संचार करता है, मानो ध्यान करता है, मानो अत्यर्थ चलन क्रिया करता है) इत्यादि शास्त्र प्रतिपादन करता है। उसमें 'विज्ञानमयः' इस पदसे बुद्धिमय यह कहा समझना चाहिए, क्योंकि अन्य प्रदेशमें 'विज्ञानमयो०' (विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय,) इस श्रुतिमें विज्ञानमयका मन आदिके साथ पाठ है। बुद्धिमयत्वसे तद्गुणसारत्व ही अभिप्रेत है। जैसे स्त्रीमें प्रेम आदिकी प्रधानतासे लोकमें 'देवदत्त स्त्रीमय है' ऐसा व्यवहार होता है, वैसे यहाँ भी समझना चाहिए। 'स समानः०' (वह समान होकर दोनों लोकोंमें संचरण करता है) यह श्रुति लोकान्तरमें गमन करनेमें आत्माका बुद्धिके साथ अवियोग दिखलाती है। किसके समान? सान्निध्यसे उस बुद्धिके समान, ऐसा समझा जाता है। उसको (सन्निधानको) श्रुति दिखलाती है—'ध्यायतीव लेलायतीव' (मानो ध्यान करता है, मानो चलन क्रिया करता है)। भाव यह है कि यह आत्मा स्वतः न तो चलता है और न ध्यान करता है, परन्तु बुद्धिके ध्यान करनेपर वह मानो ध्यान

रत्नप्रभा

समानः—बुद्धितादात्म्यापन्नः सन्। ननु विज्ञानम्—ब्रह्म, तन्मयः—विकारः अणुरित्यर्थः किं न स्यात्? इत्यत आह—प्रदेशान्तर इति। विज्ञानमयः—बुद्धिप्रचुर इत्यर्थः। केन समान इत्याकाङ्क्षायामिति शेषः। श्रुतिबलाद् बुद्धेः यावत्संसार्यात्मभावित्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

"यावदेव" इत्यादिसे। समान—बुद्धिके साथ तादात्म्यको प्राप्त हुआ। यदि कोई कहे कि विज्ञान—ब्रह्म, तन्मय—विकार अर्थात् अणु, ऐसा अर्थ क्यों न हो? इसपर कहते हैं—"प्रदेशान्तरे" इत्यादिसे। विज्ञानमय—बुद्धिप्रचुर, ऐसा अर्थ है। किसके समान? ऐसी आकांक्षामें इतना शेष है। श्रुतिके बलसे जबतक संसारी आत्मा है तबतक बुद्धि रहती है, ऐसा कहा जा चुका है, अब कारणके रहते

भाष्य

मात्मनो बुद्ध्युपाधिसंबन्धः । न च मिथ्याज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानादन्यत्र निवृत्तिरस्तीत्यतो यावद् ब्रह्मात्मतानवबोधस्तावदयं बुद्ध्युपाधिसंबन्धो न शाम्यति । दर्शयति च—'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३।८) इति ॥३०॥

ननु सुषुप्तप्रलययोर्न शक्यते बुद्धिसम्बन्ध आत्मनोऽभ्युपगन्तुम्, 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति वचनात्, कृत्स्नविकारप्रलयाभ्युपगमाच्च । तत् कथं यावदात्मभावित्वं बुद्धिसंबन्धस्येत्यत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

करता है, एवं बुद्धिके चलनेपर मानो वह चलता है। और आत्माका बुद्धिरूप उपाधिके साथ सम्बन्ध मिथ्याज्ञानमूलक है। और मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति यथार्थ ज्ञानके बिना नहीं हो सकती, अतः जबतक ब्रह्मात्माका अज्ञान है तबतक बुद्धिरूप उपाधिका सम्बन्ध शान्त नहीं हो सकता है। श्रुति भी कहती है—'वेदाहमेतं पुरुषम्०' (इस आत्माको, जो महान् प्रकाशरूप अन्धकारसे पर है, मैं जानता हूँ, उसीको जानकर पुरुष मृत्युका अतिक्रमण करता है, मोक्षके लिए अन्य मार्ग नहीं है) ॥ ३० ॥

सुषुप्ति और प्रलयमें बुद्धिके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं मान सकते, क्योंकि 'सता सोम्य०' (हे सोम्य ! जब पुरुष सोता है, तब सत् शब्दवाच्य देवताके साथ एकीभूत होता है और अपने स्वरूपको प्राप्त होता है) ऐसा वचन है, और सम्पूर्ण विकारके प्रलयका स्वीकार है। तो बुद्धिसम्बन्ध यावदात्मभावी किस प्रकार है ? इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

उक्तम्, सति मूले कार्यस्य वियोगासम्भवाच्चेति युक्त्याऽप्याह—अपि च मिथ्येति। सम्यग्ज्ञानादेव बुद्ध्यादिबन्धध्वंस इत्यत्र श्रुतिमाह—दर्शयतीति। मृत्युमत्येतीति अन्वयः। आदित्यवर्णम्—स्वप्रकाशम्। तमसः परस्तात्—अज्ञानास्पृष्टम् इत्यर्थः॥ ३०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्यका वियोग असम्भव है इस युक्तिसे भी कहते हैं—"अपि च मिथ्या" इत्यादिसे। सम्यक् ज्ञानसे ही बुद्धि आदि बन्धका ध्वंस होता है, इसमें श्रुतिप्रमाण कहते हैं—"दर्शयति" इत्यादिसे। 'मृत्युमत्येति' (मृत्युको अतिक्रमण करता है) ऐसा अन्वय है। आदित्यवर्णम्—स्वप्रकाश। तमसः परस्तात्—अज्ञानसे असम्बद्ध, ऐसा अर्थ है ॥ ३० ॥

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥३१॥

पदच्छेद—पुंस्त्वादिवत्, तु, अस्य, सतः, अभिव्यक्तियोगात्।

पदार्थोक्ति—पुंस्त्वादिवत्—यथा बाल्ये पुंस्त्वादेः सत एव यौवने अभिव्यक्तिः, तद्वत्, अस्य—बुद्धिसंयोगस्य, सतः—सुषुप्तौ सूक्ष्मात्मना वर्तमानस्यैव, अभिव्यक्तियोगात्—अभिव्यक्तिसंभवात् [यावदात्मभावित्वं न विरुद्ध्यते]।

भाषार्थ—जैसे बाल्यावस्थामें विद्यमान ही पुंस्त्व आदिका यौवनमें विकास होता है, उसी भांति सुषुप्ति अवस्थामें सूक्ष्मरूपसे विद्यमान बुद्धिसंयोगकी अभिव्यक्ति होती है, इसलिए बुद्धिसंयोगका जबतक आत्मा रहे तबतक रहना विरुद्ध नहीं है।

भाष्य

यथा लोके पुंस्त्वादीनि बीजात्मना विद्यमानान्येव बाल्यादिष्वनुपलभ्यमानान्यविद्यमानवदभिप्रेयमाणानि यौवनादिष्वाविर्भवन्ति नाऽविद्यमानान्युत्पद्यन्ते, षण्ढादीनामपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। एव-

भाष्यका अनुवाद

जैसे लोकमें पुंस्त्व आदि बीजरूपसे विद्यमान ही बाल्य आदिमें अनुपलब्ध अतएव अविद्यमानके समान स्वीकृत यौवन आदिमें आविर्भूत होते हैं, अविद्यमान उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि षण्ढ आदिमें भी उनकी उत्पत्ति

रत्नप्रभा

यावदात्मभावित्वस्य असिद्धिं शङ्कते—नन्विति। सुषुप्तौ बुद्धिसत्त्वे ब्रह्मसम्पत्तिः न स्यात्, प्रलये तत्सत्त्वे प्रलयव्याहतिरित्यर्थः। स्थूलसूक्ष्मात्मना बुद्धेः यावदात्मभावित्वम् अस्तीत्याह—पुंस्त्वेति। पुंस्त्वम्—रेतः। आदिपदेन श्मश्रुादिग्रहः। अस्य—बुद्धिसम्बन्धस्येत्यर्थः। स्वापे बीजात्मना सतो

रत्नप्रभाका अनुवाद

बुद्धिसम्बन्ध यावदात्मभावी है, यह असिद्ध है, ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। सुषुप्तिमें बुद्धि रहे तो ब्रह्मसम्पत्ति नहीं होगी, यदि प्रलयमें वह रहे तो प्रलयका ही व्याघात होगा, ऐसा अर्थ है। स्थूल और सूक्ष्म रूपसे बुद्धिमें यावदात्मभावित्व है, ऐसा कहते हैं—"पुंस्त्व" इत्यादिसे। पुंस्त्व-रेत अर्थात् वीर्य। आदिशब्दसे श्मश्रु— मूछ आदिका

भाष्य

मयमपि बुद्धिसंबन्धः शक्त्यात्मना विद्यमान एव सुषुप्तप्रलययोः पुनः प्रबोधप्रसवयोराविर्भवति। एवं ह्येतद् युज्यते, नह्याकस्मिकी कस्य-चिदुत्पत्तिः संभवति, अतिप्रसङ्गात्। दर्शयति च सुषुप्तादुत्थानमविद्या-त्मकबीजसद्भावकारितम्—'सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति' 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा' (छा० ६।९।३) इत्यादिना। तस्मात् सिद्धमेतद् यावदात्मभावी बुद्ध्याद्युपाधिसंबन्ध इति ॥ ३१ ॥

भाष्यका अनुवाद

माननी पड़ेगी, इसी प्रकार वह बुद्धिसम्बन्ध भी सुषुप्ति और प्रलयमें शक्तिस्वरूपसे वर्तमान ही पुनः प्रबोध और प्रसवमें आविर्भूत होता है, क्योंकि इसी प्रकार यह युक्त है। किसी की आकस्मिक उत्पत्ति नहीं हो सकती है, अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा। और 'सति सम्पद्य'० (सुषुप्ति आदि अवस्थामें सत् शब्द-वाच्य देवताके साथ एकीभूत होकर 'हम सत्के साथ एकीभूत हैं' ऐसा नहीं जानते। इसलिए 'त इह०' (इस लोकमें वाघ या सिंह जो पूर्वमें होते हैं, वही होते हैं) इत्यादि श्रुति अविद्यात्मक बीजके सद्भावसे किया हुआ सुषुप्तिसे उत्थान दिखलाती है। अतः बुद्धिरूप उपाधिका सम्बन्ध यावदात्मभावी है, यह सिद्ध हुआ ॥३१॥

रत्नप्रभा

बुद्ध्यादेः प्रबोधेऽभिव्यक्तिरित्यत्र श्रुतिमाह—दर्शयतीति। न विदुरिति अविद्यात्मकबीजसद्भावोक्तिः। ते व्याघ्रादयः पुनराविर्भवन्तीति अभिव्यक्ति-निर्देशः ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ग्रहण है, इसका—बुद्धि-सम्बन्धका ऐसा अर्थ है। सुषुप्तिमें बीजरूपसे वर्तमान बुद्धि आदिकी जाग्रत् अवस्थामें अभिव्यक्ति है, उसमें श्रुति कहते हैं—"दर्शयति" इत्यादिसे। 'न विदुः' इन शब्दोंसे अविद्यात्मक बीजका सद्भाव कहा है। ते व्याघ्रादयः पुनराविर्भवन्ति—वे व्याघ्रादि रूपसे फिर आविर्भूत होते हैं, इस प्रकार अभिव्यक्तिका निर्देश है ॥ ३१ ॥

(१) संसारमें जितने कार्य हैं वे सब किसी कारणसे उत्पन्न हुआ करते हैं, कारणके बिना कार्य नहीं होता है, यदि कारणके बिना कार्य उत्पन्न होता है, ऐसा माना जाय तो घटके लिए मृत्तिकाका पटके लिए तन्तुका उपादान घटार्थी और पटार्थीके लिए व्यर्थ होगा। किञ्च, आकस्मिक कार्यवादमें आकाश प्रभृतिमें गन्धादिकी उत्पत्ति भी प्रसक्त होगी, इसी अतिप्रसङ्गको लेकर भगवान् भाष्यकार कहते हैं—'नहि आकस्मिकी कस्यचिद्' इत्यादिसे।

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा॥ ३२॥

पदच्छेद— नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः, अन्यतरनियमः, वा, अन्यथा।

पदार्थोक्ति—[अन्तःकरणमवश्यमभ्युपगन्तव्यम्] अन्यथा—अन्तःकरणानभ्युपगमे, नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः—सर्वेषामिन्द्रियाणां स्वस्वविषयसन्निधानदशायां युगपत् सर्वविषयोपलब्धिप्रसङ्गः, मनोऽव्यतिरिक्तज्ञानसामग्र्याः सत्त्वात्; यदि सत्यामपि सामग्र्यां ज्ञानाभावस्तदा नित्यमनुलब्धिप्रसंगः, वा—अथवा—[एकस्योपलब्धिमितरेषामनुपलब्धिमिच्छता ज्ञानसामग्रीमध्ये] अन्यतरनियमः—अन्यतरस्य—आत्मन इन्द्रियस्य वा, नियमः—शक्तिप्रतिबन्धः [अङ्गीकार्यः, स न सम्भवति, निर्धर्मे आत्मनि शक्तेरभावात। नापि इन्द्रियस्य शक्तिः, आन्तरत्वेन तद्धर्मत्वायोगात्। तस्माद् व्यासंगस्थले इच्छैव नियामिका। तस्याश्च मनोधर्मत्वेन, तदन्यथानुपपत्त्या 'कामः सङ्कल्पः' इत्यादिश्रुत्या च सिद्धमन्तःकरणम्, तत्प्रयुक्तश्चात्मनि अणुत्वादिव्यवहारः इति तस्मादौपाधिकाणुत्वश्रुत्या न वास्तविकसर्वगतत्वश्रुतेर्विरोध इति सिद्धम्।

भाषार्थ—मनको अवश्य मानना चाहिए, यदि मन न माना जाय, तो सब इन्द्रियोंके अपने अपने विषयोंकी सन्निधि होनेपर एक ही समयमें सब विषयोंका ज्ञान होगा, क्योंकि मनको छोड़कर और ज्ञानकी सामग्री विद्यमान है। यदि सामग्रीके रहनेपर ज्ञान न हो, तो कभी भी विषयोंकी उपलब्धि नहीं होगी। अथवा एककी उपलब्धि औरोंकी अनुपलब्धिकी इच्छा करनेवालेको ज्ञानसामग्रीमेंसे आत्मा या मनकी शक्तिका प्रतिबन्ध मानना चाहिए। वह नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मशून्य आत्मामें शक्ति नहीं है, इन्द्रियकी भी शक्ति नहीं है, क्योंकि शक्ति आन्तर होनेसे इन्द्रियधर्म नहीं हो सकती। इससे मानना होगा कि अवधानस्थलमें इच्छा ही नियामिका है। इच्छा मनका धर्म है, मनको न माननेमें इच्छाकी उपपत्ति न होनेसे और 'कामः सङ्कल्पः' (काम, संकल्प, इच्छा, श्रद्धा, अश्रद्धा ये सब मन हैं) इत्यादि श्रुतिसे अन्तःकरणकी सिद्धि होती है। मनःप्रयुक्त ही आत्मामें अणुत्व आदि व्यवहार होता है। इससे सिद्ध हुआ कि औपाधिक अणुत्व श्रुतिसे वास्तविक सर्वगतत्व श्रुतिका विरोध नहीं है।

भाष्य

तच्चाऽऽत्मन उपाधिभूतमन्तःकरणं मनो बुद्धिर्विज्ञानं चित्तमिति चाऽनेकधा तत्र तत्राऽभिलप्यते। क्वचिच्च वृत्तिविभागेन संशयादिवृत्तिकं मन इत्युच्यते, निश्चयादिवृत्तिकं बुद्धिरिति। तच्चैवंभूतमन्तःकरणमवश्यमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा ह्यनभ्युपगम्यमाने तस्मिन् नित्योपलब्ध्य

भाष्यका अनुवाद

आत्माका उपाधिभूत वह अन्तःकरण भिन्न-भिन्न स्थलोंपर मन, बुद्धि, विज्ञान और चित्त इत्यादि अनेक प्रकारसे कहा जाता है। कहीं वृत्तिके विभागसे संशय आदि वृत्तिवाला होनेसे मन कहा जाता है एवं निश्चय आदि वृत्ति होनेपर बुद्धिशब्दसे कहा जाता है। इस प्रकारके अन्तःकरण का अवश्य स्वीकार करना चाहिए। अन्यथा—यदि उसका स्वीकार न किया जाय, तो नित्य उपलब्धि, या

रत्नप्रभा

बुद्धिसद्भावे मानमाह सूत्रकारः—नित्येति। 'मनसा ह्येव पश्यति' (बृ० १।५।३) 'बुद्धिश्च न विचेष्टते' (क० ६।१०) 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै० २।५।१) 'चेतसा वेदितव्यः' (मु० १।१) 'चित्तं च चेतयितव्यं च' (प्र० ४।८) इति तत्र तत्र श्रुतिषु मनआदिपदवाच्यं तावद् बुद्धिद्रव्यं प्रसिद्धमित्यर्थः। कथमेकस्य अनेकधोक्तिः तत्राह—क्वचिच्चेति। गर्ववृत्तिकोऽहङ्कारः—विज्ञानम्, चित्प्रधानं स्मृतिप्रधानं वा चित्तम् इत्यपि द्रष्टव्यम्। यद्यपि साक्षिप्रत्यक्षसिद्धमन्तःकरणम् श्रुत्यनूदितं च, तथापि प्रत्यक्षश्रुत्योर्विवदमानं प्रति व्यासङ्गानुपपत्त्या तत् साधयति—तच्चेत्यादिना। सूत्रं योजयति—अन्यथेति। पञ्चेन्द्रियाणां पञ्चविषयसम्बन्धे सति नित्यं युगपत् पञ्चोपलब्धयः

रत्नप्रभाका अनुवाद

बुद्धिके सद्भावमें सूत्रकार प्रमाण कहते हैं—"नित्य" इत्यादिसे 'मनसा ह्येव पश्यति' (मनसे ही देखता है) 'बुद्धिश्च न विचेष्टते' (और बुद्धि चेष्टा नहीं करती है) 'विज्ञानं यज्ञम्' (विज्ञान यज्ञ करता है) 'चेतसा०' (चित्तसे जानना चाहिए) 'चित्तञ्च०' (चित्तको जानना युक्त है) इत्यादि तत् तत् प्रदेशोंमें श्रुतियोंमें मन आदि पदवाच्य बुद्धिरूप द्रव्य प्रसिद्ध है, ऐसा अर्थ है। एक अनेक प्रकारसे कैसे कहा गया? इसपर कहते हैं—"क्वचिच्च" इत्यादिसे। गर्ववृत्तिवाला अहंकार विज्ञान है। चित्प्रधान अथवा स्मृतिप्रधान चित्त है, ऐसा समझना चाहिए। यद्यपि अन्तःकरण साक्षीसे प्रत्यक्ष सिद्ध है और श्रुति उसका अनुवाद करती है, तथापि प्रत्यक्ष और श्रुतिमें विवाद करनेवालेके प्रति व्यासङ्ग (अवधान) की अनुपपत्तिसे उसको सिद्ध करते हैं "तच्च" इत्यादिसे। सूत्रकी योजना करते हैं—"अन्यथा" इत्यादिसे।

भाष्य

नुपलब्धिप्रसङ्गः स्यात्, आत्मेन्द्रियविषयाणामुपलब्धिसाधनानां संनिधाने सति नित्यमेवोपलब्धिः प्रसज्येत। अथ सत्यपि हेतुसमवधाने फलाभावस्ततो नित्यमेवाऽनुपलब्धिः प्रसज्येत । न चैवं दृश्यते । अथवाऽन्यतरस्याऽऽत्मन इन्द्रियस्य वा शक्तिप्रतिबन्धोऽभ्युपगन्तव्यः । न चाऽऽत्मनः शक्तिप्रतिबन्धः संभवति, अविक्रियत्वात् । नाऽपीन्द्रियस्य, नहि तस्य पूर्वोत्तरयोः क्षणयोर-

भाष्यका अनुवाद

अनुपलब्धिका प्रसङ्ग आवेगा । आत्मा, इन्द्रिय और विषय जो उपलब्धिके साधन हैं उनके सन्निधानमें नित्य ही उपलब्धि प्रसक्त होगी, यदि हेतुके सन्निधानके रहते भी फलका अभाव हो तो सर्वदा अनुपलब्धि ही प्रसक्त होगी, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता । अथवा आत्मा या इन्द्रिय, इन दोनोंमें से एककी शक्तिके प्रतिबन्धका स्वीकार करना चाहिए। आत्माकी शक्तिका प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह अविकारी है, इसी प्रकार इन्द्रियकी भी शक्तिका प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि

रत्नप्रभा

स्युः, मनोऽतिरिक्तसामग्र्याः सत्त्वात् । यदि सत्यामपि सामग्र्यामुपलब्ध्यभावः, तर्हि सदैव अनुपलब्धिप्रसङ्ग इत्यर्थः । अतः कादाचित्कोपलब्धिनियामकं मन एष्टव्यमिति भावः । ननु सत्यपि कराग्निसंयोगे दाहकादाचित्कत्ववद् उपलब्धि-कादाचित्कत्वमस्तु, किं मनसा इत्याशङ्क्याऽन्यतरनियमो वा इत्येतद् व्याचष्टे—**अथवेति** । सत्यां सामग्र्यां नित्योपलब्धिः वा अङ्गीकार्या, अन्यतरस्य कारणस्य केनचित् शक्तिप्रतिबन्धनियमो वा अङ्गीकार्यः, यथा मणिनाऽग्निशक्तिप्रतिबन्ध इति वाकारार्थः । अस्तु प्रतिबन्ध इत्यत आह—**न चेति** । न चेन्द्रियस्यैव अस्तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

पांच इन्द्रियोंका पांच विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर नित्य—एक कालमें पांच उपलब्धियां होंगी क्योंकि मनसे अन्य सामग्री है । यदि सामग्रीके रहनेपर भी उपलब्धिका अभाव हो, तो सदा ही अनुपलब्धिका प्रसङ्ग आवेगा, ऐसा अर्थ है । अतः कादाचित्क उपलब्धिके नियामक मनका स्वीकार करना चाहिए, ऐसा भाव है । जैसे अग्नि और हाथका संयोग होनेपर भी दाह कादाचित्क है, वैसे उपलब्धि भी कादाचित्क होगी मनका क्या प्रयोजन है ? ऐसी आशङ्का करके 'अन्यतर नियमो वा' इस सूत्रभागका व्याख्यान करते हैं—"अथवा" इत्यादिसे । सामग्रीके रहनेपर नित्य उपलब्धिका स्वीकार करना चाहिए अथवा अन्यतर कारणका किसी हेतुसे शक्तिप्रतिबन्धरूप नियमका स्वीकार करना चाहिए । जैसे मणिसे अग्निकी शक्तिका प्रतिबन्ध होता है, ऐसा वाकारका अर्थ है । प्रतिबन्ध मानो, इसपर कहते हैं—'न च'

भाष्य

प्रतिबद्धशक्तिकस्य सतोऽकस्माच्छक्तिः प्रतिबध्येत, तस्माद् यस्याऽवधानानवधानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धी भवतस्तन्मनः। तथा च श्रुतिः—'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्, अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' (बृ० १।५।३) इति, 'मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति' (बृ० १।५।३) इति। कामाद-

भाष्यका अनुवाद

पूर्व और उत्तर क्षणमें अप्रतिबद्धशक्तिवालेकी शक्ति अकस्मात् प्रतिबद्ध नहीं होगी, इससे जिसके सन्निधान और असन्निधानसे उपलब्धि और अनुपलब्धि होती है वह मन है। तथा च श्रुति है—'अन्यत्रमना'० (मन अन्यत्र था, अतः मैंने नहीं देखा, और नहीं सुना। 'मनसा ह्येव'० (मनसे ही देखता है, मनसे सुनता है)

रत्नप्रभा

शक्तिप्रतिबन्ध इति वाच्यम्, प्रतिबन्धकाभावात्। न च दृष्टसामग्र्यां सत्यां अदृष्टं प्रतिबन्धकमिति युक्तम्, अतिप्रसंगात। न च व्यासंगः प्रतिबन्धकः, मनोऽसत्त्वे तस्याऽसम्भवात। तथा हि—रसादीनां सहोपलब्धिप्राप्तौ रसबुभुत्सारूपो व्यासंगो रूपाद्युपलब्धिप्रतिबन्धको वाच्य', स च गुणत्वाद् रूपवद्गुण्याश्रयः, तत्राऽऽत्मनोऽसंगनिर्गुणकूटस्थस्य गुणित्वायोगात् मन एव गुणित्वेन एष्टव्यमिति व्यासंगानुपपत्त्या मनःसिद्धिः। एतदभिप्रेत्य उपसंहरति—तस्मादिति। अवधानम्—बुभुत्सा। न चाऽनिच्छतोऽपि दुर्गन्धाद्युपलम्भान्न बुभुत्सा उपलब्धिनियामिकेति वाच्यम्. अनेकविषयसन्निधौ क्वचिदेव तस्या नियामकत्वाङ्गीकारात्। येषां मते पुनरिच्छादीनामात्मधर्मत्वम्, तेषां मन एव दुर्लभमिति मन्तव्यम्। इच्छादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। इन्द्रियकी शक्तिका प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतिबन्धकका अभाव है। जबतक दृष्टसामग्री हो, तबतक अदृष्टको प्रतिबन्धक मानना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा करनेसे अतिप्रसङ्ग होगा। और व्यासङ्ग (अनवधान) प्रतिबन्धक नहीं हो सकता, क्योंकि मनके न होनेसे उसका (मनका) व्यासङ्ग असम्भव है। रस आदिकी एक साथ उपलब्धि प्राप्त होनेपर रसकी उपलब्धिकी इच्छारूप व्यासङ्गको रूप आदिकी उपलब्धिका प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा, और वह (व्यासङ्ग) गुण होनेसे रूपके समान गुणीका आश्रित है, उसमें आत्मा असङ्ग, निर्गुण, कूटस्थ होनेसे गुणी नहीं हो सकता, अत. मनको ही गुणीरूपसे स्वीकार करना पड़ेगा, इस प्रकार व्यासङ्गकी अनुपपत्तिसे मनकी सिद्धि है, इसी अभिप्रायसे उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। अवधान—अनुभव या स्मरण करनेकी इच्छा। जो इच्छा नहीं करता उसको भी दुर्गन्ध आदिका उपलम्भ होनेसे बोधकी इच्छा उपलब्धिकी नियामिका नहीं है, यह कथन युक्त

भाष्य

यश्चाऽस्य वृत्तय इति दर्शयति—'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव' (बृ० १।५।३) इति। तस्माद् युक्तमेतत् 'तद्‌गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः' इति ॥ ३२ ॥

भाष्यका अनुवाद

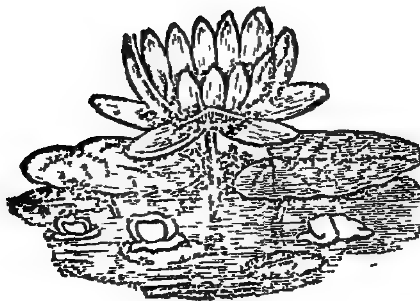
और काम आदि इसकी वृत्तियां हैं—'कामः संकल्पः'० (काम, संकल्प, संशय, ज्ञान, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, प्रज्ञा, भय ये सब मन ही हैं) ऐसी श्रुति है। इससे 'तद्‌गुणसारत्वात्०' यह युक्त है ॥३२॥

रत्नप्रभा

धर्मिणैवाऽऽत्मना व्यासंगोपपत्तेः। सम्प्रति व्यासंगस्य मानसत्त्वे श्रुतिमाह—तथा चेति। न केवलं व्यासंगात् मनःसिद्धिः, किन्तु कामाद्याश्रयत्वेनाऽपि इत्याह—कामादयश्चेति। बुद्धेः प्रामाणिकत्वोक्तिफलमाह—तस्मादिति ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, क्योंकि अनेक विषयोंकी सन्निधिमें क्वचित् ही वह नियामक है, ऐसा स्वीकार है। जिनके मतमें इच्छा आदि आत्माके धर्म हैं उनको मनके अस्तित्वका प्रतिपादन करना कठिन है, ऐसा जानना चाहिए, क्योंकि इच्छा आदिके धर्मीरूप आत्मासे ही व्यासङ्ग उपपन्न है। अब व्यासङ्गके लिए प्रमाण कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। केवल अवधानसे मनकी सिद्धि नहीं होती, बल्कि काम आदिका आश्रय होनेसे भी मन सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"कामादयश्च" इत्यादिसे। बुद्धि प्रामाणिक—प्रमाणसिद्ध है, इस उक्तिका फल कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥३२॥



[१४ कर्त्रधिकरण सू० ३३—३९]

जीवोऽकर्ताऽथवा कर्ता धियः कर्तृत्वसम्भवात् ।
जीवकर्तृतया किं स्यादित्याहुः सांख्यमानिनः ॥ १ ॥
करणत्वान्न धीः कर्त्री यागश्रवणलौकिकाः ।
व्यापारा न विना कर्त्रा तस्माज्जीवस्य कर्तृता* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—जीव अकर्ता है या कर्ता है ।

पूर्वपक्ष—साङ्ख्यसिद्धान्ती कहते हैं कि बुद्धिको कर्ता माननेसे काम चल जायगा, पुनः जीव क्यों कर्ता माना जाय ?

सिद्धान्त—बुद्धि करण होनेसे कर्ता नहीं हो सकती और याग, श्रवण और लौकिक कृष्यादि व्यापार कर्ताके विना नहीं हो सकते हैं, अतः जीवको कर्ता मानना चाहिए ।

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—कर्ता, शास्त्रार्थवत्त्वात् ।

पदार्थोक्ति—कर्ता—आत्मैव कर्ता न बुद्धिः, [कुतः] शास्त्रार्थवत्त्वात्—कर्तुरपेक्षितोपायबोधकविधिशास्त्रस्य सार्थकत्वात् । [यदि बुद्धिः कर्त्री, फलभोक्ता च आत्मा इति उच्येत तर्हि तादृशविधिशास्त्रमनर्थकमापद्येत । अतो न केवलं बुद्धेः कर्तृत्वम्, अपि तु आत्मन इति] ।

भाषार्थ—आत्मा ही कर्ता है बुद्धि कर्त्री नहीं है, क्योंकि कर्ताके अपेक्षित उपायोंका बोध करानेवाला विधिशास्त्र सार्थक है । यदि बुद्धि कर्त्री है और फलका भोग करनेवाला आत्मा है, ऐसा कहा जाय, तो तथोक्त विधिशास्त्र निरर्थक हो जायगा । इसलिए केवल बुद्धि कर्त्री नहीं है, किन्तु आत्मा कर्ता है ।

---

* भाव यह है कि बुद्धिके परिणामिनी होनेसे क्रियावेशात्मक कर्तृत्व उसमें हो सकता है, आत्मा तो असङ्ग है, अतः उक्त कर्तृत्वकी उसमें सम्भावना नहीं है, इस प्रकार जो साङ्ख्यवादियोंने कहा है वह असङ्गत है, क्योंकि करणत्वेन प्रसिद्ध बुद्धिमें कर्तृशक्तिकी कल्पना करना युक्त नहीं है, कारण कि कुठार आदिमें ऐसा नहीं देखा जाता है । बुद्धि यदि कर्त्री मानी जाय, तो अन्य करणकी कल्पना करनी होगी । तब कर्ता ही न मानो, यह युक्त नहीं है, क्योंकि कर्मकाण्डमें याग आदि व्यापार और वेदान्तमें श्रवण आदि व्यापार और लोकमें कृषि आदि व्यापार सर्वदा कर्ताकी अपेक्षा करते हैं, इससे जीव कर्ता है, यह स्वीकार करना चाहिए ।

भाष्य

तद्गुणसारत्वाधिकारेणैवाऽपरोऽपि जीवधर्मः प्रपञ्च्यते। कर्ता चाऽयं जीवः स्यात्। कस्मात्? शास्त्रार्थवत्त्वात्। एवञ्च 'यजेत' 'जुहुयात्' 'दद्यात्' इत्येवंविधं शास्त्रमर्थवद् भवति। अन्यथा तदनर्थकं स्यात्।

भाष्यका अनुवाद

तद्गुणसारत्वके प्रसङ्गसे ही अन्य जीवधर्मका भी विस्तारसे विचार किया जाता है। जीव कर्ता हो सकता है। किससे? इससे कि जीव शास्त्रप्रतिपाद्य फलका अधिकारी है। इस प्रकार 'यजेत' (यज्ञ करे) 'जुहुयात्' (होम करे) 'दद्यात्' (दान करे) इत्यादि विधिशास्त्र सार्थक होता है, अन्यथा

रत्नप्रभा

एवम् आत्मनि अणुत्वाध्यासोक्त्या स्वाभाविकं महत्त्वं स्थापितम्, सम्प्रति ततो बहिष्ठं कर्तृत्वं साधयति—कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्। स नित्यश्चिद्रूपो महानात्मा कर्ता न वा इति असंगत्वश्रुतीनां विध्यादिश्रुतीनां च विप्रतिपत्त्या संशये बुद्धिकर्तृत्वेनैव विध्यादिशास्त्रोपपत्तेः अकर्त्ताऽऽत्मेति सांख्यपक्षप्राप्तौ सिद्धान्तयन्नेव तद्गुणसारत्वोक्त्या आत्मनि कर्तृत्वाध्यासस्याऽपि सिद्धत्वात् पुनरुक्तिमाशङ्क्य साङ्ख्यपक्ष-निरासार्थम् आत्मनि कर्तृत्वाध्यासप्रपञ्चनात् न पुनरुक्तिरित्याह—तद्गुणेति। अधिकारः—प्रसङ्गः, वस्तुतः असङ्गत्वम्, अविद्यातः कर्तृत्वम् इति असङ्गत्व-कर्तृत्वश्रुतीनाम् अविरोधोक्तेः कर्तृत्वविचारात्मकाधिकरणत्रयस्य पादसंगतिः। श्रुतीनां मिथोविरोधाविरोधौ पूर्वोत्तरपक्षयोः फलम्। यद्वाऽत्र पूर्वपक्षे बन्धा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वोक्त रीतिसे आत्मामें अणुत्वका अध्यास कहनेसे आत्मामें स्वाभाविक महत्त्वका स्थापन किया गया, अब उससे अन्यमें कर्तृत्वका साधन करते हैं—"कर्ता च शास्त्रार्थवत्त्वात्" इस सूत्रसे। वह नित्य चिद्रूप महान् आत्मा कर्ता है या नहीं, इस प्रकार असङ्गत्वप्रतिपादक श्रुतियों और विधि आदि बोधक श्रुतियोंमें परस्पर विप्रतिपत्तिमूलक संशय होनेपर विज्ञानको कर्त्ता माननेमें विध्यादि शास्त्रकी उपपत्ति होनेसे अकर्ता आत्मा है, इस प्रकार सांख्यका पक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हुए भाष्यकार 'तद्गुणसारत्वके कथनसे आत्मामें कर्तृत्वका भी अध्यास सिद्ध है, अतः पुनरुक्ति है' इस प्रकार आशङ्का करके सांख्यपक्षके निरासके लिए आत्मामें कर्तृत्वके अध्यासका निरूपण होनेसे पुनरुक्ति नहीं है, यह कहते हैं—"तद्गुण" इत्यादिसे। अधिकार—प्रसङ्ग। वस्तुतः आत्मा असङ्ग है और अविद्यासे उसमें कर्तृत्व है, इस प्रकार असङ्गत्व श्रुति और कर्तृत्वश्रुतिका अविरोध कहनेसे कर्तृत्वविचारात्मक तीन अधिकरणोंकी इस पादके साथ सङ्गति है। श्रुतियोंका परस्पर विरोध और अविरोध पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षका फल है। अथवा इस पूर्वपक्षमें बन्धके अभावसे शास्त्रका वैयर्थ्य

भाष्य

तद्धि कर्तुः सतः कर्तव्यविशेषमुपदिशति । न चाऽसति कर्तृत्वे तदुपपद्येत। तथेदमपि शास्त्रमर्थवद् भवति—'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' (प्र० ४।९) इति ॥ ३३ ॥

भाष्यका अनुवाद

वह अनर्थक होगा, क्योंकि उक्त शास्त्र कर्ताके रहनेपर कर्तव्यविशेषका उपदेश करता है, कर्ताके अभावमें उसकी उपपत्ति नहीं होगी, इसी प्रकार 'एष हि द्रष्टा०' (यह आत्मा द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा और विज्ञानस्वरूप है) यह शास्त्र भी सार्थक होता है ॥ ३३ ॥

रत्नप्रभा

भावात् शास्त्रवैयर्थ्यं फलम्, सिद्धान्ते कर्तृत्वादिसम्बन्धसत्त्वात् शास्त्रार्थवत्ता इति भेदः। ननु बुद्धिकर्तृत्वेन शास्त्रार्थवत्ताऽस्तु किं जीवकर्तृत्वेन तत्राह—तद्धि कर्तुः सत इति। मयेदं कर्तव्यम् इति बोधसमर्थस्य चेतनस्यैव कर्तृत्वं वाच्यम्, न त्वचेतनाया बुद्धेः। किञ्च, भोक्तुः आत्मन एव कर्तृता वाच्या, 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' इति न्यायात् इति भावः ॥ ३३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

फल है, सिद्धान्तमें कर्तृत्व आदिका सम्बन्ध होनेसे शास्त्र सार्थक है, इस प्रकार भेद है। यदि कोई कहे कि बुद्धिको कर्ता माननेसे शास्त्र सार्थक होगा? जीवको कर्ता माननेका क्या प्रयोजन है? इसपर कहते हैं—"तद्धि कर्तुः सतः" इत्यादिसे। 'मया इदं कर्तव्यम्' (मुझे यह करना है) इस प्रकार ज्ञानके लिए समर्थ चेतनको ही कर्ता मानना होगा, अचेतन बुद्धिको नहीं। किञ्च, 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' (विधिजन्य फल अनुष्ठानकर्ताको होता है) इस न्यायसे भोग करनेवाले आत्माको ही कर्ता मानना चाहिए ॥ ३३ ॥

विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥

पदार्थोक्ति—विहारोपदेशात्—'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' इति जीवप्रकरणे स्वप्नावस्थायां सञ्चरणोपदेशात् [अकर्तुः सञ्चरणायोगात् आत्मनः कर्तृत्वम्]।

भाषार्थ—'स्वे०' (अपने शरीरमें इच्छानुसार विहार करता है) इस प्रकार जीवके प्रकरणमें स्वप्नावस्थामें आत्माका शरीरमें सञ्चरणका उपदेश है। जो कर्ता नहीं है, उसका सञ्चरण नहीं हो सकता। अतएव आत्मा कर्ता है।

भाष्य

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वम्, यज्जीवप्रक्रियायां संध्ये स्थाने विहारमुपदिशति—'स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' (बृ० ४।३।१२) इति, 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' (बृ० २।१।१८) इति च ॥ ३४ ॥

भाष्यका अनुवाद

इससे भी जीव कर्ता है, क्योंकि जीवके प्रकरणमें स्वप्नावस्थामें 'स ईयतेऽमृतो०' (वह अमृत जीव जहाँ इच्छा होती है, वहाँ जाता है) यह श्रुति विहारका उपदेश करती है, एवं 'स्वे शरीरे०' (अपने ही शरीरमें इच्छानुसार परिवर्तन करता है) ऐसी दूसरी श्रुति भी विहारका उपदेश करती है ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभा

विहारोपदेशात्। सन्ध्यं स्थानम्—स्वप्नः, अमृतः स आत्मा यथेष्टम् ईयते—गच्छतीति विहारोपदेशाद् आत्मा कर्ता ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सन्ध्यं स्थानम्—स्वप्न, अमृत आत्मा अपनी इच्छाके अनुसार संचरण करता है, इस प्रकार विहारके उपदेशसे भी आत्मा कर्ता है ॥ ३४ ॥

उपादानात् ॥ ३५ ॥

पदार्थोक्ति—उपादानात्—'प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' इति आत्मन इन्द्रियशक्तिग्रहणश्रवणात् [अकर्तुरुपादानायोगात् आत्मनः कर्तृत्वम्] ।

भाषार्थ—'प्राणानाम्०' (इन्द्रियोंकी शक्तिका बुद्धिसे ग्रहण करके) इस प्रकार आत्माका इन्द्रियोंकी शक्तिका ग्रहण सुना जाता है, जो कर्ता नहीं है, वह ग्रहण नहीं कर सकता, अतः सिद्ध हुआ कि आत्मा कर्ता है।

भाष्य

इतश्चाऽस्य कर्तृत्वम्, यज्जीवप्रक्रियायामेव करणानामुपादानं संकीर्त-

भाष्यका अनुवाद

इससे भी जीव कर्ता है कि जीवके प्रकरणमें श्रुति इन्द्रियोंके उपादानका

रत्नप्रभा

उपादानात्। कर्ता प्राणानां मध्ये विज्ञानेन—बुद्ध्या विज्ञानसमर्थम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

"उपादानात्"। कर्ता प्राणोंमेंसे बुद्धिद्वारा विज्ञानके लिए समर्थ इन्द्रियसमुदायको लेकर सोता है, इस

भाष्य

यति—'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २।१।१७) इति, 'प्राणान् गृहीत्वा' (बृ० २।१।१८) इति च ॥ ३५ ॥

भाष्यका अनुवाद

वर्णन करती है—'तदेषां प्राणानाम्०' (स्वप्नावस्थामें इन वागादिप्राणोंके विज्ञानसे विज्ञानको लेकर) और 'प्राणान् गृहीत्वा' (प्राणोंका ग्रहण करके) इत्यादिसे ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभा

इन्द्रियजातम् आदाय शेते इति प्राणान् गृहीत्वा परिवर्तते इति उपादानकर्तृत्वम् आत्मनः। अकर्तृत्वे उपादानानुपपत्तेरिति भावः ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकार प्राणोंका ग्रहण करके संचरण करता है, अतः उपादानकर्तृत्व आत्मामें है, यदि उसको कर्ता न माना जाय, तो उपादानत्वकी अनुपपत्ति होगी, ऐसा भाव है ॥ ३५ ॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—व्यपदेशात, च, क्रियायाम, न, चेत्, निर्देशविपर्ययः।

पदार्थोक्ति—च—अपि, क्रियायाम्—'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादौ लौकिक-वैदिकक्रियायाम्, व्यपदेशात्—विज्ञानशब्दवाच्यस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वव्यपदेशात; न चेत्—यदि विज्ञानशब्दो बुद्धिपरो जीवपरो न चेत्, [तर्हि] निर्देश-विपर्ययः—बुद्धेः करणत्वेन विज्ञानमिति कर्तृत्वनिर्देशस्य विज्ञानेनेति करणत्व-विपर्ययः स्यात्।

भाषार्थ—और 'विज्ञानम्०' (विज्ञान यज्ञ करता है) इत्यादि श्रुतिमें लौकिक और वैदिक क्रियाका विज्ञानशब्दवाच्य आत्मा कर्ता कहा गया है। यदि विज्ञानशब्दको बुद्धिपरक मानो जीवपरक न मानो, तो बुद्धिके करण होनेसे 'विज्ञानम्' इस प्रकार कर्तृनिर्देशके स्थानमें 'विज्ञानेन' इस प्रकार करणनिर्देश होनेसे निर्देशविपर्यय होगा।

भाष्य

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वम्, यदस्य लौकिकीषु वैदिकीषु च क्रियासु कर्तृत्वं व्यपदिशति शास्त्रम्—'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' (तै० २।५।१) इति। ननु विज्ञानशब्दो बुद्धौ समधिगतः, कथमनेन जीवस्य कर्तृत्वं सूच्यत इति। नेत्युच्यते जीवस्यैवैष निर्देशो न बुद्धेः। न चेज्जीवस्य स्यान्निर्देशविपर्ययः स्यात्, विज्ञानेनेत्येवं निरदेक्ष्यत्। तथा ह्यन्यत्र बुद्धिविवक्षायां विज्ञानशब्दस्य करणविभक्तिनिर्देशो दृश्यते 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २।१।१७) इति। इह तु 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै० २।५।१) इति कर्तृसामानाधिकरण्यनिर्देशाद् बुद्धिव्यतिरिक्तस्यैवाऽऽत्मनः कर्तृत्वं सूच्यत इत्यदोषः ॥ ३६ ॥

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी जीव कर्ता है, क्योंकि लौकिक और वैदिक क्रियाओंमें 'यह कर्ता है' इस प्रकार शास्त्र व्यपदेश करता है—'विज्ञानं यज्ञं०' (विज्ञान यज्ञ करता है और कर्म भी करता है) इत्यादिसे। परन्तु विज्ञानशब्द बुद्धिका वाचक है, अतः इससे 'जीव कर्ता है' यह कैसे सूचित होता है ? नहीं, ऐसा कहते हैं, क्योंकि जीवका ही यह निर्देश है, बुद्धिका नहीं है। यदि जीवका यह निर्देश न हो, तो विपर्यय होगा अर्थात् 'विज्ञानेन' (विज्ञान द्वारा) इस प्रकार निर्देश करते। जैसे अन्यत्र स्थलमें विज्ञानशब्दसे बुद्धिकी विवक्षामें विज्ञानशब्दका करणविभक्तिसे निर्देश देखा जाता है—'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन' इत्यादिसे। यहाँ तो 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इस प्रकार कर्ताके सामानाधिकरण्यका निर्देश है, अतः बुद्धिसे व्यतिरिक्त आत्माका कर्तृत्व सूचित होता है, अतः अविरोध है ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभा

व्यपदेशाच्च क्रियायाम्। विज्ञानशब्दो जीवस्य निर्देशो न चेत्, तदा प्रथमानिर्देशाद् विपर्ययः करणद्योतितृतीयया निर्देशः स्यात्। तस्मादिह श्रुतौ 'तनुते' इत्याख्यातेन कर्तृवाचिना विज्ञानपदस्य सामानाधिकरण्यनिर्देशात् क्रियायाम् आत्मनः कर्तृत्वं सूच्यते इति सूत्रभाष्ययोरर्थः ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विज्ञानशब्द यदि जीवका वाचक न होता, तो 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इसमें विज्ञानशब्दका प्रथमासे विपरीत निर्देश होता अर्थात् करणबोधक तृतीयासे निर्देश होता। इससे इस श्रुतिमें कर्तृवाचक आख्यातके साथ विज्ञानशब्दका सामानाधिकरण्यके निर्देशसे उक्त क्रियामें आत्मा कर्ता है, यह सूचित होता है, ऐसा सूत्र और भाष्यका अर्थ है ॥ ३६ ॥

भाष्य

अत्राह—यदि बुद्धिव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता स्यात्, स स्वतन्त्रः सन् प्रियं हितं चैवाऽऽत्मनो नियमेन सम्पादयेन्न विपरीतम्। विपरीतमपि तु संपादयन्नुपलभ्यते। न च स्वतन्त्रस्याऽऽत्मन ईदृशी प्रवृत्तिरनियमेनोपपद्यत इति। अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

यदि बुद्धिसे भिन्न जीव कर्ता हो, तो वह स्वतन्त्र होकर अपना अभीष्ट और हित ही नियमतः करेगा, न कि विपरीत। परन्तु वह विपरीतका भी सम्पादन करता हुआ देखा जाता है, स्वतन्त्र आत्माकी ऐसी अनियमसे प्रवृत्ति युक्त नहीं हो सकती है। अतः उत्तर सूत्र कहते हैं—

उपलब्धिवदनियमः ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—उपलब्धिवत्, अनियमः।

पदार्थोक्ति—उपलब्धिवत्—यथा उपलब्धौ स्वतन्त्रोऽप्यात्मा इष्टम् अनिष्टं चोपलभते तथा, अनियमः—इष्टम् अनिष्टं च सम्पादयतीति अनियमः।

भाषार्थ—जैसे उपलब्धिमें स्वतन्त्र होता हुआ भी आत्मा इष्ट और अनिष्टकी उपलब्धि करता है, वैसे ही इष्ट और अनिष्टका सम्पादन करता है इससे कोई नियम नहीं है।

भाष्य

यथाऽयमात्मोपलब्धिं प्रति स्वतन्त्रोऽप्यनियमेनेष्टमनिष्टं चोपलभत एवमनियमेनैवेष्टमनिष्टं च संपादयिष्यति। उपलब्धावप्यस्वातन्त्र्यमुपलब्धि-

भाष्यका अनुवाद

जैसे यह आत्मा उपलब्धिके प्रति स्वतंत्र है, तो भी अनियमसे इष्ट और अनिष्ट प्राप्त करता है, वैसे अनियमसे ही इष्ट और अनिष्टका सम्पादन करेगा। उपलब्धिमें

रत्नप्रभा

सूत्रान्तरम् अवतारयति—अत्राहेति। जीवः स्वतन्त्रश्चेत् इष्टमेव कुर्यात्, अस्वतन्त्रश्चेत् न कर्ता, 'स्वतन्त्रः कर्ता' (पा० सू० १।४।५४) इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य सूत्रका अवतरण करते हैं—"अत्राह" इत्यादिसे। यदि जीव स्वतन्त्र है, तो इष्टही सर्वदा करेगा, और यदि अस्वतन्त्र है, तो कर्ता नहीं होगा, क्योंकि स्वतन्त्र कर्ता होता है, ऐसा

भाष्य

हेतूपादानोपलम्भादिति चेत्, नः विषयप्रकल्पनामात्रप्रयोजनत्वादुपलब्धिहेतूनाम्। उपलब्धौ त्वनन्यापेक्षत्वमात्मनः, चैतन्ययोगात्। अपि चाऽर्थक्रियायामपि नाऽत्यन्तमात्मनः स्वातन्त्र्यमस्ति, देशकालनिमित्तविशेषापेक्षत्वात्। न च सहायापेक्षस्य कर्तुः कर्तृत्वं निवर्तते। भवति

भाष्यका अनुवाद

भी आत्मा स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि उपलब्धिहेतुके उपादानका ग्रहण है ? ऐसा कोई कहे, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि उपलब्धिके हेतुका प्रयोजन केवल विषयकी कल्पना ही है। उपलब्धिमें तो आत्मा अन्यकी अपेक्षा नहीं करता है, कारण कि चैतन्यका योग है। और अर्थक्रियामें भी आत्मा अत्यन्त स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि देशविशेष, कालविशेष और निमित्तविशेषकी अपेक्षा है। सहकारीकी अपेक्षा करनेवाले कर्ताका कर्तृत्व निवृत्त नहीं होता, क्योंकि जल, काष्ठ आदिकी

रत्नप्रभा

न्यायादित्यर्थः। सत्यपि स्वातन्त्र्ये कारकवैचित्र्याद् अनियता प्रवृत्तिरिति सूत्रेण परिहरति—यथेति। दृष्टान्तासम्प्रतिपत्त्या शङ्कते—उपलब्धावपीति। चक्षुरादीनां चैतन्येन विषयसम्बन्धार्थत्वात् स्वसम्बन्धोपलब्धौ चाऽऽत्मनश्चैतन्यस्वभावत्वेन स्वातन्त्र्याद् दृष्टान्तसिद्धिरित्याह—नेति। ननु आत्मा विषयसम्बन्धाय करणानि अपेक्षते चेत्, कथं स्वतन्त्र इति आशङ्क्याऽऽह—अपि चेति। स्वातन्त्र्यं नाम न स्वान्यानपेक्षत्वम्, ईश्वरस्याऽपि प्राणिकर्मापेक्षत्वेन अस्वातन्त्र्यप्रसंगात्, किन्तु स्वेतरकारकप्रयोक्तृत्वे सति कारकाप्रेर्यत्वम् स्वातन्त्र्यम्, तेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

न्याय है, यह अर्थ है। जीवके स्वतन्त्र होनेपर भी कारककी विचित्रतासे उसकी प्रवृत्ति अनियत होगी, इस प्रकार सूत्रसे परिहार करते हैं—"यथा" इत्यादिसे। दृष्टान्तमें सम्मति न होनेसे शङ्का करते हैं—"उपलब्धावपि" इत्यादिसे। चक्षु आदिका चैतन्यके साथ विषयसम्बन्धरूप प्रयोजन होनेसे और अपने सम्बन्धकी उपलब्धिमें चैतन्यस्वभाव होनेके कारण आत्माके स्वतन्त्र होनेसे दृष्टान्तकी सिद्धि है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। यदि आत्मा विषयसम्बन्धके लिए करणोंकी अपेक्षा करता है, तो वह स्वतन्त्र कैसे हुआ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। स्वभिन्नकी अनपेक्षा स्वातन्त्र्य नहीं है, क्योंकि प्राणियोंके कर्मकी अपेक्षा होनेसे ईश्वरमें भी अस्वातन्त्र्यका प्रसङ्ग आवेगा। किन्तु जो स्वभिन्न कारकका प्रयोक्ता होकर स्वयं कारकसे प्रेरित न हो, वह स्वतन्त्र है। इससे स्वतन्त्र भी

भाष्य

द्वेषोदकाद्यपेक्षस्याऽपि पक्तुः पक्तृत्वम्। सहकारिवैचित्र्याच्चेष्टानिष्टार्थक्रियायामनियमेन प्रवृत्तिरात्मनो न विरुध्यते ॥ ३७ ॥

भाष्यका अनुवाद

अपेक्षा होनेपर भी पाचकमें पाककर्तृत्वका व्यवहार होता है। सहकारियोंके वैचित्र्यसे ही इष्ट, अनिष्टरूप अर्थक्रियामें नियमके बिना आत्माकी प्रवृत्ति अविरुद्ध है ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभा

स्वतन्त्रोऽपि जीवः इष्टसाधनत्वभ्रान्त्या अनिष्टसाधनमपि अनुतिष्ठति इति अनियता प्रवृत्तिः स्वातन्त्र्यं चेति अविरुद्धम् इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीव इष्टसाधनकी भ्रान्तिसे अनिष्टसाधनका भी अनुष्ठान करता है, अतः अनियत प्रवृत्ति और स्वातन्त्र्य ये दोनों अविरुद्ध हैं, ऐसा अर्थ है ॥ ३७ ॥

शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८ ॥

पदार्थोक्ति—शक्तिविपर्ययात्—बुद्धेः कर्तृत्वे करणशक्तिविपर्ययः [करणशक्तिः हीयेत, अतः आत्मनः कर्तृत्वं सिद्धम्। यदि बुद्धेः कर्तृत्वमभ्युपगम्येत, तर्हि करणान्तरमवश्यं स्वीकार्यं स्यात् इत्यर्थान्तरम्] ।

भावार्थ—बुद्धिको कर्ता माननेमें उसकी करणशक्तिका विपर्यय होता है, उससे करणशक्तिका नाश होगा, अतः सिद्ध हुआ कि आत्मा कर्ता है। यदि बुद्धिको कर्ता मानो, तो अन्य करण अवश्य मानना पड़ेगा। इस प्रकार अर्थमें कोई भेद नहीं है।

---

(१) [illegible]

भाष्य

इतश्च विज्ञानव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता भवितुमर्हति। यदि पुनर्विज्ञानशब्दवाच्या बुद्धिरेव कर्त्री स्यात्, ततः शक्तिविपर्ययः स्यात्—करणशक्तिर्बुद्धेर्हीयेत कर्तृशक्तिश्चाऽऽपद्येत। सत्यां च बुद्धेः कर्तृशक्तौ तस्या एवाऽहंप्रत्ययविषयत्वमभ्युपगन्तव्यम्। अहङ्कारपूर्विकाया एव प्रवृत्तेः सर्वत्र दर्शनात्—अहं गच्छाम्यहमागच्छाम्यहं भुञ्जेऽहं पिबामीति च। तस्याश्च कर्तृशक्तियुक्तायाः सर्वार्थकारि करणमन्यत् कल्पयितव्यम्, शक्तोऽपि हि सन् कर्ता करणमुपादाय क्रियासु प्रवर्तमानो दृश्यत इति। ततश्च संज्ञामात्रे विवादः स्यान्न वस्तुभेदः कश्चित्, करणव्यतिरिक्तस्य कर्तृत्वाभ्युपगमात् ॥ ३८ ॥

भाष्यका अनुवाद

इससे भी विज्ञानसे अतिरिक्त जीव कर्ता हो सकता है। यदि विज्ञानशब्दवाच्य बुद्धिही कर्त्री मानी जाय, तो शक्तिका विपर्यय प्रसक्त होगा—बुद्धिमें करणशक्तिका ह्रास होगा एवं कर्तृशक्ति प्राप्त होगी। और बुद्धिमें कर्तृशक्तिके होनेपर बुद्धिमें ही अहंप्रत्ययविषयता माननी पड़ेगी, क्योंकि सर्वत्र प्रवृत्ति अहंकारपूर्वक ही होती है—'अहं गच्छामि' (मैं जाता हूँ) 'अहम् आगच्छामि' (मैं आता हूँ) 'अहं भुञ्जे' (मैं खाता हूँ) 'अहं पिबामि' (मैं पान करता हूँ) इत्यादि। बुद्धिके कर्तृशक्तियुक्त होनेपर उसके सर्वार्थकारी अन्य करणकी कल्पना करनी होगी, क्योंकि कर्ताके समर्थ होनेपर भी करणको लेकर ही उसकी क्रियामें प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः नाममात्रमें विवाद होगा, अर्थमें कोई भेद नहीं होगा, क्योंकि करणसे व्यतिरिक्तमें कर्तृत्वका स्वीकार है ॥३८॥

रत्नप्रभा

जीवस्य कर्तृत्वे हेत्वन्तरार्थं सूत्रम्—शक्तीति। बुद्धेः करणशक्तिविपरीता कर्तृशक्तिः स्याद् इत्यर्थः। ततः किं? तत्राऽऽह—सत्यां च बुद्धेरिति। योऽहंधीगम्यः, स कर्ता, स एव जीवः, यत् तदपेक्षितं करणम्, तत् मन इति जीवकर्तृत्वसिद्धिः इति भावः ॥ ३८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवके कर्तृत्वमें अन्य हेतुके लिए सूत्र है—"शक्ति" इत्यादि। बुद्धिमें करणशक्तिसे विपरीत कर्तृशक्ति होगी, ऐसा अर्थ है। इससे प्रकृतमें क्या आया? इसपर कहते हैं—"सत्यां च बुद्धेः" इत्यादिसे। जो अहंबुद्धिसे गम्य है, वह कर्ता है, और वही जीव है, उसको अपेक्षित जो करण है, वह मन है, इस प्रकार जीवमें कर्तृत्व सिद्ध हुआ, ऐसा भाव है ॥३८॥

समाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥

पदच्छेद—समाध्यभावात्, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, समाध्यभावात्—आत्मनोऽकर्तृत्वे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादौ विहितस्य ब्रह्मसाक्षात्कारसाधनस्य समाधेः अभावप्रसंगात् [आत्मनः कर्तृत्वसिद्धिः] ।

भाषार्थ—आत्माके कर्ता न होनेपर 'आत्मा वा०' (आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए) इत्यादि श्रुतिमें विहित ब्रह्मसाक्षात्कारके साधन समाधिका अभाव हो जायगा । अतएव आत्माके कर्तृत्वकी सिद्धि होती है ।

भाष्य

योऽप्ययमौपनिषदात्मप्रतिपत्तिप्रयोजनः समाधिरुपदिष्टो वेदान्तेषु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (बृ० २।४।५), 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (मु० २।२।६) इत्येवंलक्षणः, सोऽप्यसत्यात्मनः कर्तृत्वे नोपपद्येत, तस्मादप्यस्य कर्तृत्वसिद्धिः ॥ ३९ ॥

भाष्यका अनुवाद

'आत्मा वा अरे०' (अरे मैत्रेयि ! आत्मा दर्शन करने योग्य है, श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है और निदिध्यासन करने योग्य है, उसका अन्वेषण करना चाहिए, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए) 'ओमित्येवम्०' (ओम् इस प्रकार तुम आत्माका ध्यान करो) इस प्रकार जो औपनिषद आत्माकी प्रतिपत्तिरूप प्रयोजनके लिए वेदान्तमें समाधि कही गई है, वह भी आत्माके कर्ता न होनेपर उपपन्न नहीं होगी । अतः आत्मा कर्ता है, यह सिद्ध हुआ ॥३९॥

रत्नप्रभा

ज्ञानसाधनविध्यन्यथानुपपत्त्याऽपि आत्मनः कर्तृत्वं वाच्यमित्याह—समाधीति । मुक्तिफलभोक्तुरेव तदुपायसमाधिकर्तृत्वं युक्तम्, अन्यथा आत्मनः कर्तृत्वे बुद्धेः अपि अभोक्त्र्याः कर्तृत्वायोगात् समाध्यभावप्रसंग इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ज्ञानके साधन विधिकी अन्यथाऽनुपपत्तिसे भी आत्मा कर्ता है यह कहना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"समाधि" इत्यादिसे । मुक्तिरूप फलका भोक्ता ही उसके उपाय—समाधिका कर्ता होता है यह युक्त है, अन्यथा—आत्माको कर्ता न माननेपर भोग न करनेवाली बुद्धि भी कर्त्री नहीं होगी, इससे समाधिका अभाव प्राप्त होगा, ऐसा अर्थ है ॥ ३९ ॥

[१५ तक्षाधिकरण सू० ४०]

कर्तृत्वं वास्तवं किं वा कल्पितं वास्तवं भवेत् ।
यजेतेत्यादिशास्त्रेण सिद्धस्याऽबाधितत्वतः ॥ १ ॥
असंगो हीति तद्बाधात् स्फटिके रक्ततेव तत् ।
अध्यस्तं धीचक्षुरादिकरणोपाधिसान्निधेः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

संशय—आत्मामें प्रतिपादित कर्तृत्व सत्य है या कल्पित है ?

पूर्वपक्ष—'यजेत' इत्यादि शास्त्रसे सिद्ध कर्तृत्व अबाधित होनेसे वास्तविक है ।

सिद्धान्त—'असङ्गो हि' इस शास्त्रसे कर्तृत्वका बाध होनेसे स्फटिकमें रक्तताके समान बुद्धि, चक्षु आदि करणरूप उपाधिके सन्निधानसे कर्तृत्व आत्मामें अध्यस्त है, अर्थात् सत्य नहीं है ।

यथा च तक्षोभयथा ॥ ४० ॥

पदच्छेद—यथा, च, तक्षा, उभयथा ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, यथा—येन प्रकारेण, तक्षा—काष्ठतृट्, उभयथा—करणानि अपेक्ष्य कर्ता सन् दुःखी भवति अनपेक्ष्य तु स्वरूपेण अकर्ता सुखी भवति [तथा आत्मापि बुद्ध्यादिकरणान्यपेक्ष्य कर्ता संसरति, अनपेक्ष्य तु स्वभावतोऽकर्ता परमानन्दघन एव भवति। विधिशास्त्रं हि कर्तृत्वं विना अनुपपन्न सत् तत् साधयति, न तु तस्य स्वाभाविकत्वमपीति न तेनासङ्गत्वश्रुतेर्विरोध इति सिद्धम्] ।

भाषार्थ—और जैसे लोकमे बढ़ई बसुला आदि साधनोंकी अपेक्षा करके कर्ता होता हुआ दुःखी होता है और उनकी अपेक्षा न करके स्वरूपतः अकर्ता तथा सुखी होता है वैसे ही आत्मा भी बुद्धि आदि करणोंकी अपेक्षा करके कर्ता एवं संसारी होता है उनकी अपेक्षा न करके स्वभावतः अकर्ता परमानन्दघन ही है । विधिशास्त्र तो कर्तृत्वके विना उपपन्न न होता हुआ कर्तृत्वको सिद्ध करता है, परन्तु कर्तृत्व की स्वाभाविकता को सिद्ध नहीं करता, इससे सिद्ध हुआ कि आत्माके कर्तृत्वसे असङ्गत्व श्रुतिका विरोध नहीं है ।

---

* सारांश यह है कि पूर्वपक्षी प्रतिपादन करता है—पूर्व अधिकरणमें सिद्ध किया हुआ कर्तृत्व आत्मामें वास्तविक है, कल्पित नहीं है । ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिसे आत्मामें कर्तृत्व धर्मका सम्बन्ध बाधित ज्ञात होता है । इससे जैसे जपाकुसुमके सान्निध्यसे स्फटिकमें रक्तत्वका अध्यास होता है, वैसे अन्तःकरणकी सन्निधिसे आत्मामें कर्तृत्व अध्यस्त है, वास्तविक नहीं है ।

भाष्य

एवं तावच्छास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः कर्तृत्वं शारीरस्य प्रदर्शितम्, तत् पुनः स्वाभाविकं वा स्यादुपाधिनिमित्तं वेति चिन्त्यते। तत्रैतैरेव शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः स्वाभाविकं कर्तृत्वमपवादहेत्वभावादिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मनः संभवति, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। कर्तृत्वस्वभावत्वे ह्यात्मनो न कर्तृत्वाद् निर्मोक्षः संभवति—अग्नेरिवौ-

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार शास्त्रार्थवत्त्व आदि हेतुओंसे जीव कर्ता है, ऐसा भली भांति दिखलाया जा चुका है, किन्तु वह कर्तृत्व स्वाभाविक है या उपाधिनिमित्त है, ऐसा विचार किया जाता है। उक्त विचारके आरम्भ होनेपर शास्त्रार्थवत्त्व आदि हेतुओंसे ही आत्माका स्वाभाविक कर्तृत्व है, क्योंकि स्वाभाविक कर्तृत्वके अपवादका कोई हेतु नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—आत्माका स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे आत्माके मोक्षके अभावका प्रसङ्ग आवेगा, कारण कि आत्माका कर्तृत्वस्वभाव होनेपर जैसे अग्निका

रत्नप्रभा

यथा च तक्षोभयथा। उक्तम् आत्मनः कर्तृत्वम् उपजीव्य संशयपूर्वपक्षौ आह—एवं तावदित्यादिना। सांख्यनिरासेनाऽऽत्मनः कर्तृत्वे साधिते बाधकाभावात् तत् सत्यम् इति मीमांसकादिपक्षः प्राप्तः। न च असंगत्वागमेन बाधः, अहं कर्तेति अनुभवसहितकर्तृत्वश्रुतिबलेन तस्याऽऽगमस्य स्तावकत्वाद् इति प्राप्ते उत्सूत्रमेव सिद्धान्तयति—न स्वाभाविकमिति। यदुक्तम्—बाधकाभावादिति तदसिद्धमित्याह—अनिर्मोक्षेति। ननु कर्तृत्वं नाम क्रियाशक्तिः मुक्तौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

"यथा च तक्षोभयथा"। पूर्वोक्त आत्माके कर्तृत्वके आधारपर संशय और पूर्वपक्ष कहते हैं—"एवं तावत्" इत्यादिसे। साङ्ख्यमतके निरसनसे आत्मामें कर्तृत्वकी सिद्धि होनेपर बाधकके अभावसे वह कर्तृत्व अबाधित है, ऐसा मीमांसक आदिका पक्ष प्राप्त हुआ। असङ्गत्वप्रतिपादक शास्त्रसे उसका बाध होगा, ऐसा कोई कहे, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकारके अनुभव सहित कर्तृत्वप्रतिपादक श्रुतिके बलसे वह (असङ्ग) शास्त्र स्तुति करनेवाला है, ऐसा प्राप्त होनेपर सूत्रसे बाहर सिद्धान्त करते हैं—"न स्वाभाविकम्" इत्यादिसे। बाधकका अभाव है, इस प्रकार जो कहा है वह असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"अनिर्मोक्ष" इत्यादिसे। यद्यपि क्रियाशक्तिरूप कर्तृत्व मुक्तिमें भी है, तथापि शक्तिके कार्य—क्रियारूपशक्यके अभावसे मुक्तिमें

भाष्य

ष्ण्यात्। न च कर्तृत्वादनिर्मुक्तस्याऽस्ति पुरुषार्थसिद्धिः, कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वात्। ननु स्थितायामपि कर्तृत्वशक्तौ कर्तृत्वकार्यपरिहारात् पुरुषार्थः सेत्स्यति, तत्परिहारश्च निमित्तपरिहारात्। यथाऽग्नेर्दहनशक्तियुक्तस्याऽपि काष्ठवियोगाद् दहनकार्याभावस्तद्वत्, न; निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन सम्बन्धेन सम्बद्धानामत्यन्तपरिहारासम्भवात्। ननु मोक्षसाधनविधानाद् मोक्षः

भाष्यका अनुवाद

ष्णत्वसे निर्मोक्ष नहीं हो सकता, वैसे ही आत्माका कर्तृत्वसे छुटकारा पाना सम्भव नहीं है। और कर्तृत्वसे छुटकारा न पाये हुएको पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि कर्तृत्व दुःखरूप है। यदि कहो, कर्तृत्वशक्तिके रहनेपर भी कर्तृत्वरूप कार्यके परिहारसे पुरुषार्थ सिद्ध होगा और उसका परिहार निमित्तके परिहारसे होगा। जैसे यद्यपि अग्नि दहनशक्तियुक्त है, तो भी काष्ठके वियोगसे उसमें दहनकार्यका अभाव होता है, वैसेही यहाँ भी समझना चाहिए, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि शक्तिरूप सम्बन्धसे सम्बद्ध निमित्तोंका भी अत्यन्त परिहार नहीं हो सकता। यदि कहो कि मोक्षसाधनोंके विधानसे मोक्ष सिद्ध

रत्नप्रभा

अपि अस्ति, तथाऽपि शक्तिकार्यस्य क्रियारूपशक्यस्य अभावाद् मुक्तेः पुरुषार्थत्वसिद्धिरिति शङ्कते—**ननु स्थितायामिति**। सत्यां शक्तौ कथं कार्यपरिहारः? तत्राऽऽह—**तत्परिहारश्चेति**। मुक्तौ शक्तिसत्त्वे कार्यमपि स्याद्, शक्याभावे शक्त्ययोगात्। अस्ति हि प्रलयेऽपि कार्यं पुनरुद्भवयोग्यं सूक्ष्मं शक्यम्, तथा च शक्त्या धर्मादिनिमित्तैः सहितकार्याक्षेपाद् मुक्तिलोप इति परिहरति—**न निमित्तानामपीति**। सनिमित्तस्य कार्यस्य शक्यत्वेन शक्त्या सम्बन्धाद् निमित्तानामपि परम्परया शक्तिसम्बन्धित्वम् उक्तम् मन्तव्यम्। सम्बन्धेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरुषार्थत्वकी सिद्धि है, ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु स्थितायाम्" इत्यादिसे। शक्तिके रहते कार्यका परिहार कैसे होगा? उसपर कहते हैं—"तत्परिहारश्च" इत्यादिसे। मुक्तिमें शक्तिके अस्तित्वमें कार्य (शक्य) भी होगा, क्योंकि शक्यके अभावमें शक्ति नहीं रह सकती है। पुनः उत्पत्तिके योग्य शक्य सूक्ष्म कार्य प्रलयमें है, इसलिए शक्तिसे धर्म आदि कारण सहित कार्योंके प्रसङ्गसे मुक्तिका लोप होगा इस प्रकार परिहार करते हैं—"न निमित्तानामपि" इत्यादिसे। निमित्त सहित कार्यके शक्य होनेसे शक्तिके साथ सम्बन्ध है, अतः कारणोंमें भी परम्परासे शक्तिसम्बन्धित्व कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए। सम्बन्धेन—सम्बन्धसे। अथवा शक्ति—

भाष्य

सेत्स्यति, नः साधनायत्तस्याऽनित्यत्वात् । अपि च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तात्मप्रतिपादनान्मोक्षसिद्धिरभिमता । तादृगात्मप्रतिपादनं च न स्वाभाविके कर्तृत्वेऽवकल्पेत, तस्मादुपाधिधर्माध्यासेनैवाऽऽत्मनः कर्तृत्वं न स्वाभाविकम् । तथा च श्रुतिः—'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४।३।७) इति । 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (क० ३।४) इति

भाष्यका अनुवाद

होगा, सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो साधनके अधीन है, वह अनित्य है। और नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्माके प्रतिपादनसे मोक्षसिद्धि कही गई है। और वैसा आत्मज्ञान कर्तृत्वके स्वाभाविक होनेपर नहीं हो सकता, इससे सिद्ध हुआ कि उपाधिधर्मके अध्याससे ही आत्मामें कर्तृत्व है, स्वाभाविक नहीं है। इसी प्रकार श्रुति भी है—'ध्यायतीव०' (मानो ध्यान करता है, चलनक्रिया करता है) और 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्०' (शरीर, इन्द्रिय और मनसे युक्तको विवेकी लोग भोक्ता—संसारी कहते हैं) इस प्रकार दोनों

रत्नप्रभा

सम्बन्धिना इत्यर्थः । यद्वा, शक्तिः लक्षणम् आक्षेपकं यस्य कार्यस्य तेन कार्येण यः सम्बन्धः, तेन इति व्यधिकरणे तृतीये । ननु नरस्य कर्मणा देवत्ववत् शास्त्रबलात् कर्तुरेवाऽकर्तृतासिद्धिः इति शङ्कते—नन्विति । ज्ञानाद् अकर्तृत्वाख्यमोक्षश्चेत्, कर्तृत्वम् आविद्यकं स्यात्, यतो ज्ञानम् अज्ञानस्यैव निवर्तकम् । यदि कर्मणा मोक्षः, तत्राऽऽह—नेति । आत्मनः स्वाभाविकं कर्तृत्वम् अभ्युपगम्य अनिर्मोक्ष उक्तः, सम्प्रति असंगनिर्विकारत्वानेकश्रुतिव्याकोपात् तन्न स्वाभाविकम् इत्याह—अपि चेति । न च अभ्यस्तानेकश्रुतीनां स्तावकत्वकल्पनं युक्तम्, न च 'अहं कर्ता' इति अनुभवो विरुध्यते, तस्य सत्यमिथ्योदासीनकर्तृत्वावगाहिनः

रत्नप्रभाका अनुवाद

लक्षण—आक्षेपक है जिस कार्यका, उस कार्यके साथ जो सम्बन्ध, उस सम्बन्धसे, इस प्रकार व्यधिकरणमें तृतीया है। परन्तु जैसे मनुष्य कर्मसे देवता बन जाता है, वैसे ही शास्त्रके बलसे कर्ताके अकर्तृत्वकी सिद्धि होगी? इस प्रकार शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। यदि ज्ञानसे अकर्तृत्वरूप मोक्ष प्राप्त हो, तो कर्तृत्व अविद्याजन्य होगा, क्योंकि ज्ञान अज्ञानका निवर्तक है। यदि कर्मसे मोक्ष होगा ऐसा कहो, तो उसपर कहते हैं—"न" इत्यादिसे। आत्मामें स्वाभाविक कर्तृत्वका स्वीकार करके अनिर्मोक्ष कहा जा चुका है, अब असङ्गत्व और निर्विकारत्व प्रतिपादक अनेक श्रुतियोंके विरोधसे वह कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अभ्यस्त अनेक श्रुतियोंको स्तुतिपरक मानना युक्त नहीं है, यद्यपि 'अहं कर्ता' यह अनुभव

भाष्य

चोपाधिसंपृक्तस्यैवाऽऽत्मनो भोक्तृत्वादिविशेषलाभं दर्शयति। नहि विवेकिनां परस्मादन्यो जीवो नाम कर्ता भोक्ता वा विद्यते। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ४।३।२३) इत्यादिश्रवणात्। पर एव तर्हि संसारी कर्ता भोक्ता च प्रसज्येत, परस्मादन्यश्चेच्चितिमाञ्जीवः कर्ता बुद्ध्यादिसङ्घातव्यतिरिक्तो न स्यात्, न; अविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात् कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः

भाष्यका अनुवाद

श्रुतियां उपाधिसे सम्पृक्त आत्माके ही भोक्तृत्व आदि विशेषका लाभ होता है ऐसा दिखलाती हैं, क्योंकि विवेकियोंकी दृष्टिमें परसे अन्य जीव नामका कर्ता या भोक्ता कोई नहीं है, कारण कि 'नान्योऽतोऽस्ति०' (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुति है। तब परमात्मा ही संसारी, कर्ता और भोक्ता है, ऐसा प्राप्त होगा। चैतन्ययुक्त कर्ता जीव यदि परमात्मासे अन्य हो, तो बुद्धि आदि सघातसे व्यतिरिक्त न होगा, नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि कर्तृत्व और

रत्नप्रभा

अध्यासत्वेनाऽपि उपपत्तेः इत्यर्थः। कर्तृत्वस्याऽध्यस्तत्वे श्रुतिमाह—तथा चेति। विद्वदनुभवबाधितं च कर्तृत्वमित्याह—नहीति। बुद्ध्यादिसंघाताद् व्यतिरिक्तो यदि परस्माद् अन्यः चेतनो न स्यात्, तदा पर एव संसारी प्रसज्येत, तच्च अनिष्टम्, परस्य नित्यमुक्तत्वव्याघाताद् इति शङ्कते—पर एवेति। न वयं शुद्धस्य चिद्धातोः परस्य बन्धं वदामः, किन्तु तस्यैव अविद्याबुद्ध्यादिप्रतिबिम्बितस्य अविद्यया भिन्नस्य जीवत्वं प्राप्तस्य बन्धमोक्षौ इति ब्रूमः। कल्पितभेदोऽपि लोके बिम्बप्रतिबिम्बयोः धर्मव्यवस्थापको दृष्ट इति परिहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्मामें कर्तृत्व न माननेसे विरुद्ध है, तथापि सत्य, मिथ्या और उदासीन कर्तृत्वावगाही उक्त अनुभवकी अध्याससे भी उपपत्ति हो सकती है, ऐसा अर्थ है। कर्तृत्वके अध्यासमें श्रुति कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। विद्वानोंके अनुभवसे भी कर्तृत्व बाधित है ऐसा कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। बुद्धि आदि संघातसे भिन्न ईश्वरसे अन्य यदि चेतन न हो, तो पर ही संसारी प्रसक्त होगा, वह इष्ट नहीं है, क्योंकि परके नित्यमुक्तत्वका व्याघात होगा, इस प्रकार शङ्का करते हैं—"पर एव" इत्यादिसे। हम शुद्ध चिद्रूप परब्रह्ममें बन्ध है, ऐसा नहीं कहते हैं, किन्तु अविद्या, बुद्धि आदिमें प्रतिबिम्बित और अविद्यासे भिन्न जीवभावको प्राप्त हुएके बन्ध और मोक्ष हैं, ऐसा कहते हैं। लोकमें बिम्ब और प्रतिबिम्बरूपसे कल्पित भेद भी धर्मका व्यवस्थापक है, ऐसा देखा गया है, इस प्रकार परिहार करते हैं—"नाऽविद्या" इत्यादिसे।

भाष्य

तथा च शास्त्रम्—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१४) इत्यविद्यावस्थायां कर्तृत्वभोक्तृत्वे दर्शयित्वा विद्यावस्थायां ते एव कर्तृत्वभोक्तृत्वे निवारयति—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४) इति। तथा स्वप्नजागरितयोरात्मन उपाधिसम्पर्ककृतं श्रमं श्येनस्येवाऽऽकाशे विपरिपततः श्रावयित्वा तदभावं सुषुप्तौ प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तस्य श्रावयति—'तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्' (बृ० ४।३।२१)

भाष्यका अनुवाद

भोक्तृत्व ये अविद्यासे कल्पित हैं। और वैसी श्रुति भी है—'यत्र हि द्वैतमिव०' (क्योंकि जहां द्वैत-सा होता है, वहां अन्य अन्यको देखता है) इस प्रकार अविद्याकी स्थितिमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व दिखलाकर 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्०' (परन्तु जहां सब इसकी आत्मा ही हो गई, वहां किस करणसे किसको देखे) इस प्रकार विद्याकी अवस्थामें उन्हीं कर्तृत्व और भोक्तृत्वका श्रुति निवारण करती है। इसी प्रकार स्वप्न और जागरित अवस्थामें आकाशमें उड़नेवाले श्येनके श्रमके समान आत्माका उपाधिके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए श्रमका श्रवण कराके श्रुति सुषुप्तिमें प्राज्ञ आत्माके साथ सम्यक् संयुक्त हुएका श्रमाभाव श्रवण कराती है—'तद्वा अस्यैतदाप्तकाम०' (ज्योतिःस्वरूप आत्माका

रत्नप्रभा

नाऽविद्येति। अविद्योपहिते बन्धः न शुद्धात्मनि इत्यत्र श्रुतिमाह—तथा चेति। कर्तृत्वस्य बुद्ध्युपाध्यन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् श्रुतेश्च न स्वाभाविकत्वमित्याह—तथा स्वप्नेति। आत्मैव काम्यते आनन्दत्वादिति आत्मकामं स्वरूपं स्वातिरिक्तकाम्यासत्त्वात् अकामम्, आत्मकामत्वात् अकामत्वाच्च आप्तकामम्, विशोकत्वाच इत्याह—शोकेति। शोकान्तरम्—दुःखास्पृष्टमित्यर्थः। तस्यैव

रत्नप्रभाका अनुवाद

अविद्यासे उपहितमें बन्ध है, न कि विशुद्ध आत्मामें, इसमें श्रुति कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। बुद्धिरूप उपाधिके साथ अन्वय-व्यतिरेक होनेसे, श्रुतिसे कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तथा स्वप्न" इत्यादिसे। आनन्दरूप होनेसे आत्मा अभीष्ट है, अतः आत्मकाम स्वरूप है, स्वभिन्न काम्यके न रहनेसे अकाम है, आत्मकाम, अकाम, और विशोक होनेसे आप्तकाम है, ऐसा कहते हैं—"शोक" इत्यादिसे। शोकान्तरम्—दुःखसे अस्पृष्ट, ऐसा अर्थ है।

भाष्य

इत्यारभ्य 'एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः' (बृ० ४।३।३२) इत्युपसंहारात् । तदेतदाहाऽऽचार्यः— 'यथा च तक्षोभयथा' इति । त्वर्थे चाऽयं चः पठितः । नैवं मन्तव्यम्— स्वाभाविकमेवाऽऽत्मनः कर्तृत्वमग्नेरिवौष्ण्यम् इति । यथा तु तक्षा लोके वास्यादिकरणहस्तः कर्ता दुःखी भवति स एव स्वगृहं प्राप्तो वियुक्तवास्यादिकरणः स्वस्थो निर्वृतो निर्व्यापारः सुखी भवत्येवमविद्याप्रत्युपस्थापितद्वैतसंपृक्त आत्मा स्वप्नजागरितावस्थयोः कर्ता दुःखी भवति, स

भाष्यका अनुवाद

आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और सर्वशोकशून्य स्वरूप है) ऐसा आरम्भ करके 'एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य०' (यह इसकी परम गति है, यह इसकी परम सम्पत्ति है, यह इसका परम लोक है, यह इसका परम आनन्द है) ऐसा उपसंहार है । इससे आचार्य 'यथा च तक्षोभयथा' ऐसा कहते हैं । यहांपर 'च' परन्तुके अर्थमें है । जैसे अग्निकी उष्णता स्वाभाविक है, वैसे आत्माका कर्तृत्व स्वाभाविक ही है, ऐसा नहीं मानना चाहिए । परन्तु जैसे बढ़ई लोकमें बसुला आदि साधनोंको हाथमें लेकर कर्ता और दुःखी होता है, वही अपने घर जाकर बसुला आदि साधनोंसे रहित होकर स्वस्थ, शान्त, व्यापारशून्य और सुखी होता है, उसी प्रकार अविद्यासे कल्पित द्वैतसे युक्त हुआ आत्मा स्वप्न और जागरित अवस्थामें कर्ता होकर दुःखी होता है । वह आत्मा उस श्रमको

रत्नप्रभा

सुषुप्तात्मरूपस्य परमपुरुषार्थतामाह—एष इति । गतिः—प्राप्यम्, सम्पत्— ऐश्वर्यम्, लोकः—भोग्यं सुखम् च एतस्मात् अन्यत्राऽस्तीत्यर्थः । आत्मा स्वतोऽकर्ता बुद्ध्याद्युपाधिना तु कर्तेति उभयथा अभावः उक्तः, तत्रार्थे सूत्रं योजयति— तदेतदाहेत्यादि । सम्प्रसादः—सुषुप्तिः । यथा स्फटिकस्य लौहित्यं कुसुमाद्युपाधिकम्, तथाऽऽत्मनः कर्तृत्वं बुद्ध्याद्युपाधिकम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धम् । न

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसी सुषुप्त आत्मरूपको परमपुरुषार्थता कहते हैं—"एष" इत्यादिसे । गति—प्राप्य । संपत्—ऐश्वर्य, लोक—भोग्य सुख यह सब इससे अन्यत्र है, ऐसा अर्थ है । आत्मा स्वतः अकर्ता है बुद्धि आदि उपाधिसे तो कर्ता है, इस प्रकार दोनों तरहसे उसमें कर्तृत्वका अभाव कहा गया है । इस अर्थमें सूत्रकी योजना करते हैं—"तदेतदाह" इत्यादिसे । सम्प्रसाद—सुषुप्ति, जैसे कुसुम आदि उपाधिसे स्फटिकमें लौहित्य है वैसे अन्वय—व्यतिरेकसे बुद्धि आदि उपाधिप्रयुक्त आत्मामें कर्तृत्व है परन्तु वे अन्वय—व्यतिरेक करणविषयक हैं उपादानविषयक नहीं हैं, ऐसा कोई कहे, तो यह

भाष्य

तच्छ्रमापनुत्तये स्वमात्मानं परं ब्रह्म प्रविश्य विमुक्तकार्यकरणसङ्घातोऽकर्ता सुखी भवति सम्प्रसादावस्थायाम्। तथा मुक्त्यवस्थायामप्यविद्याध्वान्तं विद्याप्रदीपेन विधूयाऽऽत्मैव केवलो निर्वृतः सुखी भवति। तक्षदृष्टान्तश्चैतावतांऽशेन द्रष्टव्यः। तक्षा हि विशिष्टेषु तक्षणादिव्यापारेष्वपेक्ष्यैव प्रतिनियतानि करणानि वास्यादीनि कर्ता भवति, स्वशरीरेण त्वकर्तैव। एवमयमात्मा सर्वव्यापारेष्वपेक्ष्यैव मनआदीनि करणानि कर्ता भवति, स्वात्मना त्वकर्तैवेति। न त्वात्मनस्तक्ष्ण इवाऽवयवाः सन्ति यैर्हस्तादि-

भाष्यका अनुवाद

दूर करनेके लिए अपने स्वरूप परब्रह्ममें प्रवेश करके कार्यकरणसंघातसे विमुक्त होकर सुषुप्ति अवस्थामें अकर्ता होकर सुखी होता है। इसी प्रकार मुक्तिकी अवस्थामें भी अविद्यारूपी अन्धकारको विद्यारूपी प्रदीपसे दूर करके आत्मा ही केवल शान्त और सुखी होता है। और बढ़ईका दृष्टान्त इतने अंशमें समझना चाहिए कि बढ़ई छीलना आदि विशेष व्यापारोंमेंसे तत्-तत् व्यापारोंमें नियत वसुला आदि करणोंकी अपेक्षा रखकर ही कर्ता होता है, अपने शरीरसे तो वह अकर्ता ही है। इसी प्रकार यह आत्मा सब व्यापारोंमें मन आदि करणोंकी अपेक्षा रख कर ही कर्ता होता है, अपने स्वरूपसे तो अकर्ता ही है। परन्तु आत्माके बढ़ईके जैसे अवयव नहीं हैं कि

रत्नप्रभा

न तौ बुद्धेः आत्मकर्तृत्वे करणत्वविषयौ, न उपादानत्वविषयौ इति युक्तम्, करणत्वात् कार्यान्वय्युपादानत्वस्य अन्तरङ्गतया चित्संवलितबुद्धेः ताभ्याम् उपादानत्वस्यैव सिद्धेः। एवं चिदभेदेनाऽध्यस्तबुद्ध्याख्याहङ्कारस्य कर्तृत्वोपादानत्वे महावाक्यसम्मतिश्चेति भावः। ननु तक्षा स्वहस्तादिना वास्यादिप्रेरणशक्तत्वात् स्वतः कर्ता, आत्मा तु निरवयवत्वात् अशक्त इति दृष्टान्तवैषम्यमाशङ्क्य औपाधिककर्तृत्वांशेन विवक्षितेन साम्यमाह—तक्षदृष्टान्तश्चेति। शास्त्रेण

रत्नप्रभाका अनुवाद

कथन युक्त नहीं है, क्योंकि करणत्वकी अपेक्षा कार्य्यान्वयी उपादानत्वके अन्तरङ्ग होनेसे चिन्मिश्रित बुद्धिका उपादानत्व उन दोनोंसे सिद्ध ही है। इस प्रकार चित्के अभेदसे अध्यस्त बुद्धिरूप अहंकारके कर्तृत्व, उपादानत्वमें महावाक्यकी संमति भी है, ऐसा भाव है। परन्तु तक्षा (बढ़ई) अपने हाथसे वास्यादिकी प्रेरणामें शक्त होनेसे स्वयं कर्ता हो सकता है, लेकिन आत्मा निरवयव होनेसे अशक्त है, इस प्रकार दृष्टान्तवैषम्यकी आशङ्का करके विवक्षित औपाधिक कर्तृत्वके अंशसे साम्य कहते हैं—"तक्षदृष्टान्तश्च" इत्यादिसे। शास्त्रसे अनूदित कर्तृत्व

भाष्य

भिरिव वास्यादीनि तक्षा मनआदीनि करणान्यात्मोपाददीत न्यस्येद्वा। यत्तूक्तम्—शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः स्वाभाविकमात्मनः कर्तृत्वम्—इति। तन्न। विधिशास्त्रं तावद् यथाप्राप्तं कर्तृत्वमुपादाय कर्तव्यविशेषमुपदिशति न कर्तृत्वमात्मनः प्रतिपादयति। न च स्वाभाविकमस्य कर्तृत्वमस्ति, ब्रह्मात्मत्वोपदेशादित्यवोचाम। तस्मादविद्याकृतं कर्तृत्वमुपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते। 'कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' इत्येवंजातीयकमपि शास्त्रमनुवादरूपत्वाद् यथाप्राप्तमेवाऽविद्याकृतं कर्तृत्वमनुवदिष्यति। एतेन विहारोपादाने परिहृते, तयोरप्यनुवादरूपत्वात्। ननु संध्ये स्थाने प्रसुप्तेषु करणेषु स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते इति

भाष्यका अनुवाद

जिनसे जैसे बढ़ई हाथ आदिसे बसुला आदिका ग्रहण करता है और त्याग करता है वैसे मन आदि करणोंको आत्मा ग्रहण करे या छोड़े। शास्त्रार्थवत्त्व आदि हेतुओंसे आत्माका कर्तृत्व स्वाभाविक है, ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है। प्रथमतो विधिशास्त्र यथार्थत्वको लेकर कर्तव्यविशेषका उपदेश करता है, आत्माके कर्तृत्वका प्रतिपादन नहीं करता। और आत्मामें स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं है, क्योंकि उसके ब्रह्मात्मत्वका उपदेश है, ऐसा हमने कहा है। इसलिए अविद्यासे कल्पित कर्तृत्वको लेकर विधिशास्त्र प्रवृत्त होगा। 'कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' (विज्ञातृस्वभाव पुरुष कर्ता है) इस प्रकारका शास्त्र भी अनुवादरूप होनेसे लोकसिद्ध अविद्यासे कल्पित कर्तृत्वका ही अनुवाद करेगा। इससे विहार और उपादानका परिहार हुआ, क्योंकि वे भी अनुवादरूप हैं। परन्तु स्वप्नमें इन्द्रियोंके प्रसुप्त होनेपर अपने शरीरमें इच्छानुसार परिवर्तन

रत्नप्रभा

अनूद्यमानं कर्तृत्वं स्वाभाविकमेव किं न स्यात् इत्यत आह—न च स्वाभाविकमिति। उपाध्यभावकाले श्रुतं कर्तृत्वं स्वाभाविकमेव इति शङ्कते—ननु सन्ध्य इति। किञ्च, करणैः विशिष्टस्य कर्तृत्वे तेषां कर्त्रन्तर्भावाद् तेषु अपि कर्तृत्वबुद्धिः स्यात्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वाभाविक क्यों नहीं, इसपर कहते हैं—'न च स्वाभाविकम्" इत्यादिसे। उपाधिके अभाव कालमें सुना गया कर्तृत्व स्वाभाविक ही है? ऐसी आशङ्का करते हैं "ननु सन्ध्य" इत्यादिसे। किञ्च, करणोंसे विशिष्टमें कर्तृत्व माननेपर उनसे अन्य कर्ताके अभावसे उनमें भी कर्तृ

भाष्य

विहार उपदिश्यमानः केवलस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वमावहति। तथोपादानेऽपि 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' इति करणेषु कर्मकरणविभक्ती श्रूयमाणे केवलस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वं गमयत इति। अत्रोच्यते—न तावत् संध्ये स्थानेऽत्यन्तमात्मनः करणविरमणमस्ति, 'सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति' (बृ० ४।३।७) इति तत्राऽपि धीसम्बन्धश्रवणात्। तथा च स्मरन्ति—

'इन्द्रियाणामुपरमे मनोऽनुपरतं यदि।
सेवते विषयानेव तद्विद्यात् स्वप्नदर्शनम्॥' इति।

'कामादयश्च मनसो वृत्तयः' इति श्रुतिः, ताश्च स्वप्ने दृश्यन्ते, तस्मात् समना एव स्वप्ने विहरति। विहारोऽपि च तत्रत्यो वासनामय

भाष्यका अनुवाद

करता है, इस प्रकार किया हुआ विहारका उपदेश आत्माके कर्तृत्वको सिद्ध करता है। वैसे उपादानमें भी 'तदेषां प्राणानाम्०' (इससे इन इन्द्रियोंकी विज्ञान-शक्तिसे विज्ञानका ग्रहण करके) इस प्रकार करणोंमें श्रूयमाण कर्मविभक्ति और करणविभक्ति केवल आत्माके कर्तृत्वको सूचित करती हैं, इसपर कहते हैं—स्वप्नमें आत्माके करणों—इन्द्रियोंका अत्यन्त विराम नहीं होता, क्योंकि 'सधीः स्वप्नो भूत्वेमं०' (बुद्धिसहित स्वप्न होकर इस लोकका अतिक्रमण करता है) इस प्रकार स्वप्नमें भी बुद्धिके साथ संबन्धका श्रवण है। इसी प्रकार स्मृतिकार भी कहते हैं—'इन्द्रियाणामुपरमे०' (इन्द्रियोंके उपरत होने-पर मन यदि उपरत न हो और विषयोंका ही सेवन करे तो उसको स्वप्नदर्शन समझना चाहिए) 'कामादयश्च मनसो वृत्तयः' (काम आदि मनकी वृत्तियां हैं) ऐसी श्रुति है, और वे वृत्तियां स्वप्नमें दिखाई देती हैं, इसलिए मन

रत्नप्रभा

न चैवमस्ति, ततः केवलात्मनः कर्तृत्वमित्याह—तथेति। स्वप्नविहारे तावद् उपाध्यभावोऽसिद्ध इत्याह—न तावत् सन्ध्य इति। विहारस्य मिथ्यात्वात् तत्कर्तृत्वमपि मिथ्या इत्याह—विहारोऽपीति। जक्षत्—भुञ्जान इव। करणत्वविशि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विभक्ति होगी। परन्तु ऐसा है नहीं इससे केवल आत्मामें कर्तृत्व है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। स्वप्नविहारमें उपाधिका अभाव असिद्ध है, इस प्रकार कहते हैं—"न तावत् सन्ध्य" इत्यादिसे। विहारके मिथ्या होनेसे उसका कर्तृत्व भी मिथ्या है, इस प्रकार कहते हैं—

भाष्य

एव न तु पारमार्थिकोऽस्ति। तथा च श्रुतिः इवकारानुबद्धमेव स्वप्नव्यापारं वर्णयति—'उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्' (बृ० ४।३।१३) इति। लौकिका अपि तथैव स्वप्नं कथयन्ति 'आरुक्षमिव गिरिशृङ्गमद्राक्षमिव वनराजिम्' इति। तथोपादानेऽपि यद्यपि करणेषु कर्मकरणविभक्तिनिर्देशस्तथापि तत्संपृक्तस्यैवाऽऽत्मनः कर्तृत्वं द्रष्टव्यम्, केवले कर्तृत्वासम्भवस्य दर्शितत्वात्। भवति च लोकेऽनेकप्रकारा विवक्षा—'योधा युध्यन्ते योधै राजा युध्यते' इति। अपि

भाष्यका अनुवाद

सहित ही आत्मा स्वप्नमें विहार करता है और उस अवस्थाका विहार भी वासनामय ही है, पारमार्थिक नहीं है। वैसे श्रुति भी 'मानो' के आकारसे युक्त होकर स्वप्नव्यापारका ही वर्णन करती है—'उतेव स्त्रीभिः सह०' (मानो स्त्रियोंके साथ आनन्द पाता हुआ, मानो मित्रोंके साथ हंसता हुआ, मानो सिंहादि भय हेतुओंको देखता हुआ) लौकिक भी उसी प्रकार स्वप्नका वर्णन करते हैं—'मानो मैं गिरिके शिखरपर चढ़ा, मानो मैंने वनपंक्ति देखी।' उसी प्रकार उपादानमें भी यद्यपि करणोंमें कर्मविभक्ति और करणविभक्तिका निर्देश है, तो भी इससे सम्पृक्त आत्मा ही कर्त्ता है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि केवल आत्मामें कर्तृत्वका असम्भव दिखलाया है। और लोकमें अनेक प्रकारकी विवक्षा होती है—योद्धा लड़ते हैं, योद्धाओं द्वारा राजा लड़ता है। और इस उपादानमें करणके व्यापारके विराममात्रकी विवक्षा है,

रत्नप्रभा

ष्टस्य कर्तृत्वे करणेषु कर्तृविभक्तिः स्यात न करणविभक्तिः इत्युक्तं प्रत्याह—भवति च लोक इति। कर्तृषु अपि करणविभक्तिः न विरुध्यते दृष्टत्वात्, अस्ति च कर्तृप्रयोगः 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादौ इति भावः। उपादानस्य सकर्तृकत्वम् अङ्गीकृत्य केवलात्मनः कर्तृत्वं निरस्तम्, इदानीं तस्य अक्रियत्वात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

''विहारोऽपि'' इत्यादिसे। जक्षत् मानो खाता हुआ। करणत्वविशिष्टको कर्ता माननेपर करणोंमें कर्तृविभक्ति होगी, करणविभक्ति नहीं होगी, इस कथनके उत्तरमें कहते हैं—''भवति च लोके'' इत्यादिसे। कर्तामें भी करणविभक्ति विरुद्ध नहीं है, क्योंकि लोकमें ऐसा देखा जाता है—'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादिमें ऐसा भाव है। उपादानमें सकर्तृत्वका अङ्गीकारकर केवल आत्माके कर्तृत्वका निरसन किया गया, अब निष्क्रिय होनेसे कर्ताकी अपेक्षा नहीं है,

भाष्य

चाऽस्मिन्नुपादाने करणव्यापारोपरममात्रं विवक्ष्यते न स्वातन्त्र्यं कस्यचिदबुद्धिपूर्वकस्यापि स्वापे करणव्यापारोपरमस्य दृष्टत्वात्। यस्त्वयं व्यपदेशो दर्शितः—'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इति, स बुद्धेरेव कर्तृत्वं प्रापयति, विज्ञानशब्दस्य तत्र प्रसिद्धत्वात्, मनोऽनन्तरं पाठाच। 'तस्य श्रद्धैव शिरः' (तै० २।४) इति च विज्ञानमयस्याऽऽत्मनः श्रद्धाद्यवयवत्वसङ्कीर्तनात् श्रद्धादीनां च बुद्धिधर्मत्वप्रसिद्धेः, 'विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते' (तै० २।५।१) इति च वाक्यशेषात्,

भाष्यका अनुवाद

किसीके स्वातन्त्र्यकी विवक्षा नहीं है, क्योंकि स्वप्नमें अबुद्धिपूर्वक भी करण-व्यापारका विराम देखा जाता है। 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (विज्ञान यज्ञ करता है) यह जो व्यपदेश दिखलाया है, वह बुद्धिमें ही कर्तृत्व प्राप्त करता है, क्योंकि विज्ञान उस अर्थमें प्रसिद्ध है और मनके अनन्तर उसका पाठ है। 'तस्य श्रद्धैव०' (उसका श्रद्धा ही शिर है) विज्ञानमय आत्माके श्रद्धा आदि अवयव कहे हैं और श्रद्धा आदि बुद्धिके धर्मरूपसे प्रसिद्ध हैं, इसी प्रकार 'विज्ञानं देवाः' (सब देवता विज्ञानकी ब्रह्मरूपसे ज्येष्ठरूपसे उपासना

रत्नप्रभा

न कर्त्रपेक्षा इत्याह—अपि चेति। पूर्वं विज्ञानं जीव इत्यङ्गीकृत्य जीवस्य कर्तृत्वे 'तनुते' इति श्रुतिरुक्ता, सम्प्रति तया श्रुत्या अनुपहितात्मनः कर्तृत्वमिति प्राप्तौ, विज्ञानं बुद्धिरेव, तस्या एवाऽत्र कर्तृत्वमुच्यते, तदुपहितात्मनः कर्तृत्वसिद्धये इत्यभिप्रेत्याऽऽह—यस्त्विति। 'योऽयं विज्ञानमयः' (बृ० ४।३।७—४।४।२२) इत्यादिश्रुतिषु विज्ञानशब्दस्य बुद्धौ प्रसिद्धत्वाद् अत्र च मनोमयकोशानन्तरं पठितत्वात् श्रद्धादिलिङ्गाच बुद्धिरेव विज्ञानमित्यर्थः। तत्रैव लिङ्गान्तरमाह—विज्ञानं देवा इति। 'महद्यक्षं प्रथमजम्' (बृ० ५।४।१) इत्यादिश्रुतौ हिरण्यगर्भ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। पूर्वमें विज्ञान जीव है, ऐसा अङ्गीकार करके जीवके कर्तृत्वमें 'तनुते' इस प्रकार श्रुति कही गई है, अब उस श्रुतिसे उपाधिरहित आत्मामें कर्तृत्व है, इस प्रकारकी प्राप्तिमें विज्ञान बुद्धि ही है, उसीमें यहाँ कर्तृत्व कहा गया है। तदुपहित आत्मामें कर्तृत्वकी सिद्धि है इस अभिप्रायसे कहते हैं—"यस्तु" इत्यादिसे। 'योऽयम्' इत्यादि श्रुतियोंमें विज्ञानशब्दकी बुद्धिमें प्रसिद्धि होनेसे और यहां मनोमय कोशके अनन्तर पाठ होनेसे एवं श्रद्धा आदि लिङ्गसे बुद्धि ही विज्ञान है, ऐसा अर्थ है। उसमें अन्य लिङ्ग कहते

भाष्य

ज्येष्ठत्वस्य च प्रथमजत्वस्य बुद्धौ प्रसिद्धत्वात्। 'स एष वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरक्रमो यद्यज्ञः' इति च श्रुत्यन्तरे यज्ञस्य वाग्बुद्धिसाध्यत्वावधारणात्। न च बुद्धेः शक्तिविपर्ययः करणानां कर्तृत्वाभ्युपगमे भवति, सर्वकारकाणामेव स्वस्वव्यापारेषु कर्तृत्वस्याऽवश्यंभावित्वात्। उपलब्ध्य-

भाष्यका अनुवाद

करते हैं) ऐसा वाक्यशेष है और ज्येष्ठत्व अर्थात् प्रथम उत्पन्न होना भी बुद्धिमें प्रसिद्ध है। और 'स एष वा०' (जो वाणी और चित्तका उत्तरोत्तर क्रम है, वही यह यज्ञ है) इस प्रकार अन्य श्रुतिमें वाणी और बुद्धिसे यज्ञ साध्य है, ऐसा अवधारण किया गया है। और करणोंका कर्तृत्व स्वीकार करनेमें बुद्धिकी शक्तिका विपर्यय नहीं होता, क्योंकि सभी कारकोंका अपने-अपने व्यापारोंमें कर्तृत्व अवश्यंभावी है, परन्तु उन करणोंका करणत्व उपलब्धिकी

रत्नप्रभा

ब्रह्मात्मबुद्धेः ज्येष्ठत्वोक्तेः अत्र देवैः—इन्द्रियैः उपास्यमानं ज्येष्ठं ब्रह्म विज्ञानं बुद्धिरेवेत्यर्थः। यक्षम्—पूज्यम्। किञ्च, श्रुत्यन्तरे यज्ञस्य बुद्धिकार्यत्वोक्तेः अत्राऽपि यज्ञकर्तृविज्ञानं बुद्धिः इत्याह—स एष इति। चित्तेन ध्यात्वा वाचा मन्त्रोक्त्या यज्ञो जायते, ततः चित्तस्य वाचः पूर्वोत्तरभावो यज्ञ इत्यर्थः। यच्चोक्तम्—बुद्धेः कर्तृत्वे शक्तिवैपरीत्यप्रसङ्गः इति, तन्न; विक्लिद्यन्ते तण्डुलाः, ज्वलन्ति काष्ठानि, बिभर्ति स्थालीति स्वस्वव्यापारेषु सर्वकारकाणां कर्तृत्वस्वीकारादित्याह—न चेति। तर्हि बुद्ध्यादीनां कर्तृत्वे करणत्ववार्ता तेषु न स्यात् इत्यत आह—उपलब्धीति। यथा काष्ठानां स्वव्यापारे कर्तृत्वेऽपि पाकापेक्षया

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"विज्ञानं देवा" इत्यादिसे। 'महद् यक्षं प्रथमजम्०' (प्रथम उत्पन्न हुआ महान् यक्ष) इत्यादि श्रुतिमें हिरण्यगर्भात्मक बुद्धिके ज्येष्ठत्वके कथनसे यहाँ देव—इन्द्रियोंसे उपास्यमान ज्येष्ठ ब्रह्म विज्ञान बुद्धि ही है, ऐसा अर्थ है। यक्ष—पूज्य। किञ्च, अन्य श्रुतिमें यज्ञमें बुद्धिके कार्यत्वकी उक्तिसे यहाँ भी यज्ञ करनेवाला विज्ञान बुद्धि ही है, ऐसा कहते हैं—"स एष" इत्यादिसे। चित्तसे ध्यान करके वाचा—मन्त्रोक्तिसे यज्ञ उत्पन्न होता है, उसके अनन्तर चित्त और वाणीका पूर्व और उत्तर भाव यज्ञ है, ऐसा अर्थ है। और यह जो कहा है कि बुद्धिको कर्ता माननेसे उसकी शक्तिका विपर्यय प्रसक्त होगा, यह युक्त नहीं है, क्योंकि 'विक्लिद्यन्ते तण्डुलाः' (चावल पकते हैं) 'ज्वलन्ति काष्ठानि' (लकड़ियाँ जलती हैं) 'बिभर्ति स्थाली' (स्थाली धारण करती है) इत्यादि स्थलोंमें अपने-अपने व्यापारोंमें सभी कारकोंमें कर्तृत्वका स्वीकार है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। यदि बुद्धि आदिमें कर्तृत्व माना जाय, तो

भाष्य

पेक्षं त्वेषां करणानां करणत्वम्, सा चाऽऽत्मनः। न च तस्यामप्यस्य कर्तृत्वमस्ति, नित्योपलब्धिस्वरूपत्वात्। अहङ्कारपूर्वकमपि कर्तृत्वं

भाष्यका अनुवाद

अपेक्षासे है और वह उपलब्धि आत्माकी है। उसमें भी इसका कर्तृत्व हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि यह नित्य उपलब्धिस्वरूप है। अहङ्कारपूर्वक

रत्नप्रभा

करणत्वम्, तथा बुद्ध्यादीनाम् अध्यवसायसङ्कल्पादिक्रियाकर्तृत्वेऽपि उपलब्ध्यपेक्षया करणत्वमित्यर्थः। ननु तर्हि उपलब्धिः कस्य व्यापारः? इत्यत आह—सा चेति। तर्हि तस्याम् आत्मा केवलः कर्ता स्यात् 'यस्य यो व्यापारः स तस्य कर्ता' इति स्थितेरित्यत आह—न चेति। उपलब्धेः नित्यत्वे बुद्ध्यादीनां कथं करणत्वम् उक्तमिति चेद् उच्यते—अखण्डसाक्षिचैतन्यं बुद्धिवृत्तिभिः भिन्नं सत् विषयावच्छिन्नत्वेन जायते, तथा च विषयावच्छिन्नचैतन्यस्य उपलब्धौ बुद्ध्यादीनां करणत्वम्, बुद्ध्याद्युपहितात्मनः कर्तृत्वम्, न केवलस्य। न च बुद्धेरेव तत्कर्तृत्वम्, चैतन्यस्य जडव्यापारत्वायोगादिति भावः। यच्चोक्तम्—बुद्धेः कर्तृत्वे स एवाऽहंधीगम्यो जीव इति, तस्य करणान्तरं कल्पनीयम्। तथा च नाममात्रे विवाद इति। तत्र केवलात्मनः कर्तृत्वम् उक्तमिति भ्रान्तिं निरस्यति—अहङ्कारेति। सांख्यनिरा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उनमें करणत्वका कथन न होगा, इसपर कहते हैं—'उपलब्धि" इत्यादिसे। जैसे काष्ठ आदिका अपने व्यापारमें कर्तृत्व होनेपर भी पाककी अपेक्षासे उनमें करणत्व है, वैसे ही बुद्धि आदिमें अध्यवसाय, संकल्प आदि क्रियाके प्रति कर्तृत्व होनेपर भी उपलब्धिकी अपेक्षा वह करण है, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि उपलब्धि किसका व्यापार है? इसपर कहते हैं—"सा च" इत्यादिसे। तब उसका केवल आत्मा ही कर्ता होगा, क्योंकि 'जिसका जो व्यापार होता है, वह उसका कर्ता होता है' ऐसा नियम है, इसपर कहते हैं—"न च' इत्यादिसे। उपलब्धि नित्य है, अतः बुद्धि आदमें करणत्व किस प्रकार कहा गया? ऐसा कहो, तो कहते हैं—अखण्ड साक्षी चैतन्य बुद्धिकी वृत्तियोंसे विशिष्ट होता हुआ विषयावच्छिन्नस्वरूपसे पैदा होता है, इससे विषयावच्छिन्न चैतन्यकी उपलब्धिमें बुद्धि आदिमें करणत्व है और बुद्धिसे उपहित आत्मामें कर्तृत्व है, केवल आत्मामें कर्तृत्व नहीं है। वह कर्तृत्व बुद्धिका नहीं हो सकता, क्योंकि चैतन्य जड़का व्यापार नहीं हो सकता है, ऐसा भाव है। और यह जो कहा है कि बुद्धिको कर्ता माननेपर वही अहंप्रत्ययसे गम्य जीव होगा, अतः उससे अन्य करणकी कल्पना करनी होगी, इससे नाममात्रमें विवाद होगा। उसमें केवल आत्मामें ही कर्तृत्व कहा गया, इस प्रकारकी भ्रान्तिका निराकरण करते हैं—"अहंकार" इत्यादिसे।

भाष्य

नोपलब्धुर्भवितुमर्हति, अहङ्कारस्याऽप्युपलभ्यमानत्वात्। न चैवं सति करणान्तरकल्पनाप्रसङ्गः, बुद्धेः करणत्वाभ्युपगमात्। समाध्यभावस्तु शास्त्रार्थवत्त्वेनैव परिहृतः, यथाप्राप्तमेव कर्तृत्वमुपादाय समाधिविधानात्। तस्मात् कर्तृत्वमप्यात्मन उपाधिनिमित्तमेवेति स्थितम् ॥ ४० ॥

भाष्यका अनुवाद

कर्तृत्व उपलब्धाका हो, यह युक्त नहीं है, क्योंकि अहङ्कार भी उपलभ्यमान है। और ऐसा होनेपर अन्य करणकी कल्पनाका प्रसङ्ग आवेगा, ऐसा भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि बुद्धिका करणरूपसे स्वीकार किया गया है। समाधिके अभावका तो शास्त्रार्थवत्त्वसे ही परिहार किया जा चुका है, क्योंकि लोकसिद्ध कर्तृत्वको लेकर ही समाधिका विधान है। इसलिए आत्माका कर्तृत्व भी उपाधिनिमित्तक ही है, ऐसा निश्चय हुआ ॥ ४० ॥

रत्नप्रभा

सार्थं बुद्ध्यभेदेन अध्यस्तचिदात्मकाहङ्कारगतं कर्तृत्वं यदुक्तम्, तदहंधीगम्यस्य बुद्धिविशिष्टात्मन एव, न केवलस्य साक्षिणो भवितुमर्हति, दृश्यधर्मस्य साक्षिस्वभावत्वायोगात्। एवं विशिष्टात्मनः कर्तृत्वे विशेषणीभूताया जडबुद्धेरेव करणत्वोपपत्तेः न करणान्तरकल्पनाप्रसङ्गः। अध्यासं विना केवलबुद्धिकर्तृत्ववादिनस्तु करणान्तरप्रसङ्गो दुर्वार इत्यर्थः। एवं शास्त्रार्थवत्त्वादिहेतूनाम् आत्मनः कर्तृत्वमात्रसाधकत्वेऽपि स्वाभाविककर्तृत्वसाधनसामर्थ्याभावाद् अध्यस्तमेव कर्तृत्वं विध्यादिकर्तृत्वश्रुतीनाम् उपजीव्यम्। तस्मात् असङ्गत्वविध्यादिकर्तृत्वश्रुतीनाम् अविरोध इति सिद्धम् ॥ ४० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

साङ्ख्यमतके निरासार्थ बुद्धिके अभेदसे अध्यस्त चिदात्मक अहंकारगत ही कर्तृत्व जो कहा जा चुका है, वह अहंप्रत्ययगम्य बुद्धिविशिष्ट आत्माका ही है, केवल साक्षीका वह नहीं हो सकता है, क्योंकि दृश्य धर्म साक्षीके स्वभाव नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार विशिष्ट आत्मामें कर्तृत्व माननेसे विशेषणीभूत जड बुद्धिमें ही करणत्वकी उपपत्ति हो सकती है, अतः अन्य करणकी कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। अध्यासके बिना केवल बुद्धिको कर्ता माननेवालेको करणान्तरका प्रसंग दुर्वार है, ऐसा अर्थ है। इस प्रकार शास्त्रार्थवत्त्वादि हेतुओंके आत्मामें कर्तृत्वमात्रसाधकत्व होनेपर भी उनमें स्वाभाविक कर्तृत्वके साधनकी सामर्थ्य न रहनेसे अध्यस्त ही कर्तृत्व विधि आदिके कर्तृत्वका उपजीव्य है। अतः असंगत्व और विध्यादिकर्तृत्व श्रुतियोंका परस्पर अविरोध है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ४० ॥

[१६ परायत्ताधिकरण सू० ४१—४२]

प्रवर्तकोऽस्य रागादिरीशो वा, रागतः कृपौ ।
दृष्टा प्रवृत्तिर्वैषम्यमीशस्य प्रेरणे भवेत् ॥ १ ॥
सस्येषु वृष्टिवज्जीवेष्वीशस्याविषयत्वतः ।
रागोऽन्तर्याम्यधीनोऽत ईश्वरोऽस्य प्रवर्तकः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—जीवके प्रवर्तक राग आदि हैं अथवा ईश्वर है ?

पूर्वपक्ष—कृषिमें रागमूलक प्रवृत्ति देखी जाती है, और ईश्वरको प्रवर्तक माननेपर ईश्वरमें वैषम्य प्रसक्त होगा, अतः जीवके प्रवर्तक राग, द्वेष आदि हैं, ईश्वर प्रवर्तक नहीं है।

सिद्धान्त—सस्योंमें वृष्टिके समान जीवोंमें ईश्वर विषम नहीं है और राग आदि अन्तर्यामीके—ईश्वरके अधीन हैं, अतः जीवका प्रवर्तक ईश्वर ही है।

---

* भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है— लोकमें राग-द्वेष ही कृषकोंके प्रवर्तक देखे जाते हैं, उसीके अनुसार धर्म और अधर्मका आचरण करनेवाले जीवोंके भी वे ही प्रवर्तक हैं, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। ईश्वर यदि प्रवर्तक माना जाय, तो ईश्वर कुछ जीवोंको धर्ममें प्रवृत्त करता है, कुछ को अधर्ममें प्रवृत्त करता है, इस प्रकार ईश्वरमें विषमताका निवारण नहीं हो सकेगा। इससे प्रतीत होता है कि ईश्वर प्रवर्तक नहीं है।

सिद्धान्ती कहते हैं—ईश्वरको विषमता दोष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह वृष्टिके समान सबके प्रति साधारण निमित्त है। (जैसे सब धान्योंके प्रति वृष्टि साधारण निमित्त है, वैसे ही सब जीवोंकी प्रवृत्तिमें ईश्वर साधारण निमित्त है) जैसे ईश्वर 'यथायोग्य जीव प्रवृत्त हों' इस प्रकारकी अनुज्ञासे साधारण प्रवर्तक है। यदि ईश्वरको असाधारण प्रवर्तक माना जाय, तो भी उसमें विषमता प्राप्त नहीं होगी; क्योंकि पूर्वमें किये हुए कर्म और वासनाएँ वैषम्यके हेतु हैं। यदि ऐसा कोई कहे कि कर्म फलके हेतु हैं, अन्य कर्मके प्रति कारण नहीं हैं, ठीक है, परन्तु सुख-दुःखरूप फलको देनेके लिए जीवकी प्रेरणा करते हुए कर्म अर्थतः कर्मान्तरको उत्पन्न करते हैं, अतः अन्य कर्मके प्रति उनमें कारणत्व दुर्वार है। वासनाएँ साक्षात् कर्मके प्रति कारण हैं। अतः ईश्वरमें वैषम्यका प्रसङ्ग कैसे होगा ? रागके प्रवर्तकत्वका जो दृष्टान्त दिया है, वह वैसा ही रहे, उससे ईश्वरके प्रवर्तकत्वकी कुछ हानि नहीं होती है, क्योंकि सर्वान्तर्यामी ईश्वर द्वारा रागका भी नियमन होता है। इससे ईश्वर जीवका प्रवर्तक है यह सिद्ध हुआ।

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥

पदच्छेद—परात्, तु, तच्छ्रुतेः ।

पदार्थोक्ति—[न स्वतो जीवस्य कर्तृत्वादिसिद्धिः] तु—किन्तु, परात्—परस्मात् ईश्वरात् कर्माध्यक्षात् [अविद्यातिमिरान्धस्य कर्तृत्वादिसंसारसिद्धिः, तदनुग्रहे तु विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भविष्यति, कुतः] तच्छ्रुतेः—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' इत्यादिकायाः श्रुतेः [ईश्वरस्य कर्तृत्वमवसीयते] ।

भाषार्थ—जीवमें कर्तृत्व आदि स्वभावतः सिद्ध नहीं होता, किन्तु कर्माध्यक्ष परमात्मासे अज्ञानसे आच्छन्न जीवमें कर्तृत्व आदि संसारकी सिद्धि होती है; परमात्माका अनुग्रह होनेपर ज्ञानसे मोक्षसिद्धि होती है, क्योंकि 'एष ह्येव०' (यही अच्छे कर्म कराता है) इत्यादि श्रुतिसे ईश्वरके कर्तृत्वकी प्रतीति होती है ।

भाष्य

यदिदमविद्यावस्थायामुपाधिनिबन्धनं कर्तृत्वं जीवस्याऽभिहितम्, तत् किमनपेक्ष्येश्वरं भवत्याहोस्विदीश्वरापेक्षमिति भवति विचारणा ।

तत्र प्राप्तं तावत्—नेश्वरमपेक्षते जीवः कर्तृत्व इति । कस्मात्? अपेक्षा-

भाष्यका अनुवाद

अविद्यावस्थामें जो यह औपाधिक जीवका कर्तृत्व कहा गया है, वह क्या ईश्वरकी अपेक्षाके विना होता है अथवा ईश्वरकी अपेक्षासे होता है? इस प्रकार विचारणा—जिज्ञासा होती है ।

रत्नप्रभा

परात्तु तच्छ्रुतेः । यथा स्फटिके लौहित्याध्यासे लोहितद्रव्यं करणम्, तेनाऽयं स्फटिको लोहित इति अनुभवः, तथा कामादिपरिणामिबुद्धिः आत्मनि कर्तृत्वाद्यध्यासे करणम् इत्युक्तम्, तदध्यस्तं कर्तृत्वम् उपजीव्य जीवस्य कारकसम्पन्नत्वादीश्वरस्य कारयितृत्वश्रुतेश्च संशयमाह—यदिदमिति । अत्र 'एष ह्येव'

रत्नप्रभाका अनुवाद

"परात्तु तच्छ्रुतेः" । जैसे स्फटिकमें रक्तताके अध्यासमें लाल द्रव्य करण है, क्योंकि उससे यह स्फटिक लाल है, ऐसा अनुभव होता है, वैसे ही कामादिरूपसे परिणामिनी बुद्धि आत्मामें कर्तृत्व आदिके अध्यासमें करण है, ऐसा कहा जा चुका है, अब इस अध्यस्त कर्तृत्वके आधारपर जीवके कारक सम्पन्न होनेसे ईश्वरमें और कारयितृत्वश्रुतिमें संशय कहते हैं—"यदिदम्" इत्यादिसे । यहाँ 'एष ह्येव' (यही साधु कर्म कराता है) इत्यादि श्रुतियोंका,

भाष्य

प्रयोजनाभावात् । अयं हि जीवः स्वयमेव रागद्वेषादिदोषप्रयुक्तः कारकान्तरसामग्रीसम्पन्नः कर्तृत्वम् अनुभवितुं शक्नोति । तस्य किमीश्वरः करिष्यति ? न च लोके प्रसिद्धिरस्ति कृष्यादिकासु क्रियास्वनडुहादिवदीश्वरोऽपेक्षितव्य इति । क्लेशात्मकेन च कर्तृत्वेन जन्तून् संसृजत ईश्वरस्य नैर्घृण्यं प्रसज्येत । विषमफलं चैषां कर्तृत्वं विदधतो वैषम्यम् । ननु 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्ष-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—जीव (अपने) कर्तृत्वमें ईश्वरकी अपेक्षा नहीं करता है । किससे ? अपेक्षाके प्रयोजनका अभाव होनेसे । क्योंकि यह जीव अपने आप ही राग, द्वेष आदि दोषोंसे प्रेरित होता हुआ अन्य कारक सामग्रीसे सम्पन्न होकर कर्तृत्वका अनुभव कर सकता है, उसका ईश्वर क्या करेगा ? और कृषि आदि क्रियामें बैलके समान ईश्वरकी अपेक्षा की जाती हो, ऐसा लोकमें अनुभव नहीं है । और दुःखरूप कर्तृत्वसे जन्तुको उत्पन्न करनेवाले ईश्वरमें नैर्घृण्य दोष प्रसक्त होगा और जिसमें विषम फल है ऐसे कर्तृत्वको उत्पन्न करनेवाले ईश्वरमें विषमता होगी । परन्तु यह कहा जा चुका है कि 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' (प्राणियोंके कर्मकी अपेक्षा

रत्नप्रभा

(कौ० ३।८) इत्यादिश्रुतीनां कर्तृस्वातन्त्र्यद्योतकविध्यादिश्रुतिभिः विरोधसमाधानात् पादसंगतिः । कर्ममीमांसकमतेन पूर्वपक्षयति—तत्रेत्यादिना । बुद्ध्यादिकारकसम्पत्तौ ईश्वरव्यतिरेके कर्तृत्वव्यतिरेकानुपलब्धेः न ईश्वरः प्रयोजकः । किञ्च, प्रयोजकत्वे नैर्घृण्यादिप्रसङ्ग इत्याह—क्लेशात्मकेन चेति । दत्तोत्तरमिदं चोद्यमिति शङ्कते—नन्विति । पूर्वं जीवस्य धर्माधर्मवत्त्वं सिद्धवत्कृत्य तत्सापेक्षत्वाद् विषमजगत्कर्तृत्वमविरुद्धमित्युक्तम्, सम्प्रति ईश्वराधीनत्वे जीवस्य कर्तृत्वे सिद्धे धर्माधर्मवत्त्वसिद्धिः; तद्वत्त्वसिद्धौ तत्सापेक्षकारयितृत्वसिद्धिः, ईश्वरस्य कारयितृत्वे

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीव स्वतन्त्र कर्ता है, ऐसा सूचन करनेवाली विध्यादि श्रुतियोंके साथ विरोधके समाधानसे पादकी संगति है । कर्ममीमांसकोंके मतसे पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । जीवमें बुद्धि आदि कारकोंकी सम्पत्ति है और ईश्वरके अभावमें जीवके कर्तृत्वके अभावकी अनुपलब्धि होनेसे ईश्वर प्रयोजक नहीं है यदि ईश्वरको प्रयोजक मानो, तो नैर्घृण्य आदि प्रसक्त होते हैं, ऐसा कहते हैं—"क्लेशात्मकेन च" इत्यादिसे । इस शंकाका उत्तर तो दिया जा चुका है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । पूर्वमें जीवके धर्मवत्त्व और अधर्मवत्त्वको सिद्धवत् मानकर उनके सापेक्ष होनेसे ईश्वरका विषम जगत् कर्तृत्व अविरुद्ध है, ऐसा कहा है । अब जीवका कर्तृत्व ईश्वरके अधीन है,

भाष्य

स्यात्, (ब्र० १।४।१७) इत्युक्तम्, सत्यमुक्तम्; सति त्वीश्वरस्य सापेक्षत्वसम्भवे। सापेक्षत्वं चेश्वरस्य सम्भवति सतोर्जन्तूनां धर्माधर्मयोः, तयोश्च सद्भावः सति जीवस्य कर्तृत्वे। तदेव चेत्कर्तृत्वमीश्वरापेक्षं स्यात् किंविषयमीश्वरस्य सापेक्षत्वमुच्येत। अकृताभ्यागमश्चैवं जीवस्य प्रसज्येत। तस्मात् स्वत एवाऽस्य कर्तृत्वमिति। एतां प्राप्तिं तुशब्देन व्यावर्त्य प्रतिज्ञा-

भाष्यका अनुवाद

होनेसे ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं हैं) ठीक है, कहा जा चुका है, परन्तु जब ईश्वरमें सापेक्षत्वका सम्भव हो तब यह उपपन्न होगा, प्राणियोंके धर्म और अधर्मके रहनेपर ईश्वरमें सापेक्षत्व होगा और धर्म और अधर्मका सद्भाव जीवके कर्तृत्वके होनेपर है। वही कर्तृत्व अगर ईश्वर सापेक्ष रहे, तो ईश्वरमें सापेक्षत्व किस प्रकारसे कहा जायगा? जीवमें अकृताभ्यागम प्रसक्त होगा इससे जीवको स्वतः ही कर्तृत्व है। पूर्वपक्षकी इस प्राप्तिका निवारण करके

रत्नप्रभा

सिद्धे जीवस्य कर्तृत्वसिद्धिरिति चक्रकापत्तेः कर्मसापेक्षत्वं न सम्भवतीत्युच्यते इत्याह—सत्यमिति। अस्तु कर्मानपेक्षस्य प्रवर्तकत्वं तत्राह—अकृतेति। अनपेक्षस्य प्रवर्तकत्वे धर्मवतो नरान् दुःखेन अधर्मवतः सुखेन योजयेत्, कारुणिकत्वे वा सर्वे सुखेन एकरूपाः स्युरिति जगद्वैचित्र्यं विध्यादिशास्त्रं च न स्यात्। तस्माद् विध्यादिशास्त्रार्थवत्त्वाय रागद्वेषायत्तं स्वत एव जीवस्य कर्तृत्वं वाच्यम्, तथा च कारयितृत्वश्रुतिविरोधः, ईश्वरस्ताविका वा सा श्रुतिरिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—एतामिति। यथा चन्दनादिसामग्र्यां सत्यां धर्मव्यतिरेके

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा सिद्ध होनेपर जीवका धर्मवत्त्व और अधर्मवत्त्व सिद्ध होता है ऐसा होनेसे उसका सापेक्ष कारयितृत्व सिद्ध होता है और ईश्वरका कारयितृत्व सिद्ध होनेसे जीवका कर्तृत्व सिद्ध होता है, इस प्रकार चक्रकके प्रसक्त होनेसे कहते हैं कि कर्मसापेक्षत्वका सम्भव नहीं है, इसे कहते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे। ईश्वरका प्रवर्तकत्व कर्मकी अनपेक्षासे हो, इसपर कहते हैं—"अकृत" इत्यादि। धर्म और अधर्मकी अपेक्षाके बिना प्रवर्तक हो, तो धर्मवान् नरोंको दुःखी करेगा और अधर्मवान् नरोंको सुखी करेगा, अथवा कारुणिक हो, तो सबको सुखी करेगा अर्थात् सब सुखसे एकरूप होंगे। अतः जगत्की विचित्रता या विध्यादिशास्त्रके अर्थवान् होनेके लिए राग-द्वेषके अधीन जीवका स्वतः ही कर्तृत्व कहना चाहिए, और ऐसा होनेसे कारयितृत्व श्रुतिके साथ विरोध आता है, या वे श्रुतियाँ केवल ईश्वरका स्तवन करनेवाली हैं, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"एताम्" इत्यादिसे। जैसे चन्दन आदि सामग्रीके होनेपर

भाष्य

नीते—'परात्' इति। अविद्यावस्थायां कार्यकरणसङ्घाताविवेकदर्शिनो जीवस्याविद्यातिमिरान्धस्य सतः परस्मादात्मनः कर्माध्यक्षात् सर्वभूताधिवासात् साक्षिणश्चेतयितुरीश्वरात्तदनुज्ञया कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य संसारस्य सिद्धिः, तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति। कुतः? तच्छ्रुतेः। यद्यपि रागादिदोषप्रयुक्तः सामग्रीसंपन्नश्च जीवः, यद्यपि च लोके कृष्यादिषु कर्मसु नेश्वरकारणत्वं प्रसिद्धम्, तथापि सर्वास्वेव प्रवृत्तिष्वीश्वरो हेतुकर्तेति श्रुतेरवसीयते। तथा हि श्रुतिर्भवति—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौ० ३।८) इति, 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति चैवंजातीयका ॥ ४१ ॥

भाष्यका अनुवाद

सूत्रकार प्रतिज्ञा करते हैं—'परात्' इत्यादिसे। अविद्यावस्थामें कार्य-करण संघातके साथ अभेद देखनेवाला और अविद्यारूप अन्धकारसे अन्ध जीवके कर्तृत्व भोक्तृत्वरूप संसारकी सिद्धि कर्मोंके अध्यक्ष, सम्पूर्ण भूतोंके अधिष्ठान साक्षीरूप चेतयिता पर आत्मा ईश्वरसे उसकी आज्ञा द्वारा है। और उसके अनुग्रहरूप कारण द्वारा (प्राप्त) विज्ञानसे मोक्षकी सिद्धि हो सकती है। किससे? उस प्रकार कहनेवाली श्रुतिसे। यद्यपि राग आदि दोषसे प्रेरित एवं सामग्रीसम्पन्न जीव है और यद्यपि लोकमें कृषि आदि कर्मोंमें ईश्वर कारणरूपसे प्रसिद्ध नहीं है, तथापि सब प्रवृत्तियोंमें ईश्वर हेतुकर्ता—प्रयोजककर्ता है, क्योंकि ऐसा श्रुतिसे समझा जाता है। जैसे कि 'एष ह्येव०' (जिसको यह उत्तमलोकमें ले जानेकी इच्छा करता है उससे शुभ कर्म कराता है, और जिसको हीन लोकमें ले जानेकी इच्छा करता है उससे अशुभ कर्म कराता है।) 'य आत्मनि तिष्ठन्०' (जो आत्मामें रहकर आत्माका नियमन करता है) इत्यादि श्रुतियां हैं ॥ ४१ ॥

रत्नप्रभा

सुखव्यतिरेकग्रहाभावेऽपि 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति' (बृ० ३।२।१३) इत्यादिशास्त्रप्रामाण्यादेव धर्मस्य हेतुत्वसिद्धिः, एवमीश्वरस्याऽपि शास्त्रबलात् कारयितृत्वसिद्धिरिति भावः ॥ ४१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्मके अभावमें सुखके अभावका ज्ञान नहीं होता, तो भी "पुण्यो वै०" (पुण्य कर्मसे निश्चय पुण्यशाली होता है) इत्यादि शास्त्रप्रामाण्यसे ही धर्मके हेतुत्वकी सिद्धि है—धर्म हेतुरूपसे सिद्ध होता है, वैसे ईश्वर भी शास्त्रके बलसे कारयिता है, ऐसा सिद्ध होता है, ऐसा भाव है ॥ ४१ ॥

भाष्य

नन्वेवमीश्वरस्य कारयितृत्वे सति वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामकृताभ्यागमश्च जीवस्येति। नेत्युच्यते—

भाष्यका अनुवाद

उक्त प्रकारसे ईश्वरको प्रेरक माननेपर उसमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष प्रसक्त होंगे और जीवको अकृताभ्यागम प्राप्त होगा। नहीं ऐसा कहते हैं—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥४२॥

पदच्छेद—कृतप्रयत्नापेक्षः, तु, विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः।

पदार्थोक्ति—तुः उक्तपूर्वपक्षनिरासार्थकः, कृतप्रयत्नापेक्षः—जीवेन कृतो यः प्रयत्नः—धर्माधर्मरूपः तदपेक्ष एवेश्वरोऽन्यस्मिन् जन्मन्यपि धर्मादिकं कारयति, तदपेक्षश्च सुखादिरूपं फलं प्रयच्छति [इति न वैषम्यनैर्घृण्ये ईश्वरस्य प्रसज्येते। संसारस्याऽनादित्वात् पूर्वजन्मकृतधर्माद्यपेक्षा युक्तैव। ननु कस्मात् तदपेक्षत्वम् अत आह] विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः—ईश्वरस्य कर्मापेक्षत्वे 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति द्वयोः विहितप्रतिषिद्धयोः सार्थक्यं भवति, अन्यथा विधिनिषेधशास्त्रं निरर्थकमेव स्यात्। [एवं च ईश्वराधीनकर्तृत्वप्रतिपादकविध्यादिशास्त्रेण 'एष ह्येव साधु कर्म' इत्यादिशास्त्रस्य न विरोधः]।

भाषार्थ—जीवसे अनुष्ठित धर्म-अधर्मरूप व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाला ही ईश्वर अन्य जन्ममें भी धर्म आदि कराता है और तदनुसार सुख आदि फल देता है। इसलिए ईश्वरमें वैषम्य और अकारुण्यरूप दोष प्राप्त नहीं होते हैं। संसारके अनादि होनेसे पूर्व जन्ममें किये गये धर्म और अधर्मकी अपेक्षा उचित ही है। ईश्वर धर्म और अधर्मकी अपेक्षा क्यों रखता है? इस प्रश्नपर कहते हैं—ईश्वरके कर्मकी अपेक्षा रखनेवाला होनेमें 'ज्योतिष्टोमेन०' (ज्योतिष्टोमसे यज्ञ करे) 'ब्राह्मणो न०' (ब्राह्मणको नहीं मारना चाहिए) इत्यादि विधि और निषेध सार्थक होते हैं। अन्यथा विधिनिषेधशास्त्र अनर्थक हो जायगा। इस प्रकार जीवका कर्तृत्व ईश्वरके अधीन है ऐसा प्रतिपादन करनेवाले विधि आदि शास्त्र से 'एष ह्येव०' (यही साधु कर्म कराता है) इत्यादि शास्त्रका विरोध नहीं है।

भाष्य

तुशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः। कृतो यः प्रयत्नो जीवस्य धर्माधर्मलक्षणस्तदपेक्ष एवैनमीश्वरः कारयति। ततश्चैते चोदिता दोषा न प्रसज्यन्ते। जीवकृतधर्माधर्मवैषम्यापेक्ष एव तत्तत्फलानि विषमं विभजेत् पर्जन्यवदीश्वरो निमित्तत्वमात्रेण। यथा लोके नानाविधानां गुच्छगुल्मादीनां व्रीहियवादीनां चाऽसाधारणेभ्यः स्वस्वबीजेभ्यो जायमानानां साधारणं निमित्तं भवति पर्जन्यः, नह्यसति पर्जन्ये रसपुष्पफलपलाशादिवैषम्यं तेषां जायते, नाऽप्यसत्सु स्वस्वबीजेषु, एवं जीवकृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वरस्तेषां शुभाशुभं विदध्यादिति श्लिष्यते। ननु कृतप्रयत्नापेक्षत्वमेव

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द पूर्वोक्त दोषकी व्यावृत्तिके लिए है। जीवद्वारा किये गये धर्म और अधर्म रूप प्रयत्न की अपेक्षा रखनेवाला ईश्वर जीवकी प्रेरणा करता है। इससे उक्त दोष प्रसक्त नहीं होते हैं, जीवके किये हुए धर्म और अधर्मके वैषम्यकी अपेक्षा रखनेवाला ही ईश्वर पर्जन्यके समान निमित्तरूपसे ही तत्-तत् फलोंको विषमरूपसे विभक्त करता है। जैसे लोकमें असाधारण अपने अपने बीजोंसे उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके गुच्छ, गुल्म, व्रीहि, यव आदिके प्रति साधारण कारण पर्जन्य होता है, क्योंकि पर्जन्य न हो, तो रस, पुष्प, फल, पत्र आदिका वैषम्य नहीं होगा, और बीजोंके न रहनेपर भी वैषम्य नहीं होगा। इसी प्रकार जीवके व्यापारोंकी अपेक्षा करनेवाला ईश्वर उनका शुभ और अशुभ करता है यह संगत है।

रत्नप्रभा

धर्माधर्माभ्यामेव फलवैषम्यसिद्धेरलमीश्वरेणेति आशङ्क्यबीजैरेवाऽङ्कुरवैषम्यसिद्धेः पर्जन्यवैयर्थ्यं स्यात्। यदि विशेषहेतूनां साधारणहेत्वपेक्षत्वान्न वैयर्थ्यम्, तर्हि ईश्वरस्याऽपि साधारणहेतुत्वाद् न वैयर्थ्यमित्याह—पर्जन्यवदिति। दृष्टान्तं विवृणोति—यथेति। अतिदीर्घवल्लीग्रन्थयो गुच्छाः पुष्पस्तवका वा, गुल्मास्तु ह्रस्ववल्ल्य इति भेदः। किमीश्वरस्य कारयितृत्वे जीवस्य कर्तृत्वं न स्यादित्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्म और अधर्मसे ही फलकी विषमता सिद्ध होती है, तो ईश्वरका क्या प्रयोजन है? ऐसी आशंका करके बीजद्वारा ही अंकुरकी विषमता सिद्ध हो, तो पर्जन्य व्यर्थ होगा। यदि विशेष हेतु साधारण हेतुकी अपेक्षासे व्यर्थ नहीं होता है, तो ईश्वर भी साधारण हेतु होनेसे व्यर्थ नहीं होगा, ऐसा कहते हैं—"पर्जन्यवत्" इत्यादिसे। दृष्टान्तका विवरण करते हैं—"यथा" इत्यादिसे। गुच्छ—लताओंकी बड़ी ग्रन्थियाँ या फूलोंके गुच्छे। गुल्म—छोटी लताएँ, यह भेद है। क्या ईश्वरको प्रेरक माननेमें जीवका कर्तृत्व नहीं होता, ऐसा प्रतिपादन करते हो या चक्रक दोषकी आपत्ति

भाष्य

जीवस्य परायत्ते कर्तृत्वे नोपपद्यते। नैष दोषः। परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः, कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति। अपि च पूर्वप्रयत्नमपेक्ष्येदानीं कारयति पूर्वतरं च प्रयत्नमपेक्ष्य पूर्वमकारयदित्यनादित्वात् संसारस्येत्यनवद्यम्। कथं पुनरवगम्यते कृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वर इति? विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य इत्याह। एवं हि 'स्वर्गकामो यजेत' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्येवंजातीयकस्य विहितस्य प्रतिषिद्धस्य चाऽवैयर्थ्यं भवति, अन्यथा तदनर्थकं स्यात्, ईश्वर एव विधिप्रतिषेधयोर्नियुज्येत, अत्यन्त-

भाष्यका अनुवाद

जीवके कर्तृत्वके पराधीन होनेपर ईश्वरका जीवकृतप्रयत्नापेक्षत्व ही नहीं घटता है। यह दोष नहीं है, क्योंकि पराधीन होनेपर भी जीव करता ही है, करते हुए जीवको ईश्वर प्रेरित करता है। और पूर्व प्रयत्नकी अपेक्षा करके इस समय वह जीवकी प्रेरणा करता है और पूर्वतर प्रयत्नकी अपेक्षा करके उसने पूर्वमें उसे प्रेरित किया था, इस प्रकार संसारके अनादि होनेसे बीजाङ्कुरकी भांति अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं है, अतः यह दोषरहित है। यह कैसे समझा जाता है कि ईश्वर जीवद्वारा किये गये प्रयत्नकी अपेक्षा रखता है? विधि, प्रतिषेधके सार्थक होनेसे, ऐसा कहते हैं। इसीसे 'स्वर्ग कामो यजेत' (स्वर्गकी इच्छावाला याग करे) (ब्राह्मणो न हन्तव्यः) (ब्राह्मणका हनन नहीं करना चाहिए) इस प्रकारके विधि और निषेध सार्थक होते हैं, यदि ऐसा न माना

रत्नप्रभा

पाद्यते उत चक्रकापत्तिर्वा? नाद्य इत्याह—नैष दोष इति। अध्यापकाधीनस्य बटोः मुख्याध्ययनकर्तृत्वदर्शनादिति भावः। चक्रकं निरस्यति—अपि चेति। अनवद्यं जीवस्य कर्तृत्वं ईश्वरस्य कारयितृत्वं चेति शेषः। ईश्वरस्य सापेक्षत्वे विध्यादिशास्त्रप्रामाण्यान्यथानुपपत्तिं प्रमाणयति—कथमित्यादिना। एवं सापेक्षत्वे सत्यवैयर्थ्यं भवति। अन्यथा—अनपेक्षत्वे। वैयर्थ्यं प्रपञ्चयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

होती है, ऐसा प्रतिपादन करते हो? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। अध्यापकके अधीन जो बटु है वह भी मुख्य अध्ययनका कर्ता देखा जाता है, ऐसा भाव है। चक्रकका निरसन करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। जीवका कर्तृत्व और ईश्वरका कारयितृत्व दोषरहित है, इतना शेष है। ईश्वरके सापेक्षत्वमें विध्यादिशास्त्रके प्रामाण्यकी अन्यथानुपपत्तिको प्रमाणित करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। इस प्रकार ईश्वरके सापेक्ष होनेपर विधि आदि शास्त्र व्यर्थ नहीं होते हैं, नहीं तो—यदि ईश्वर उनकी अपेक्षावाला न हो, तो—विधि आदि

भाष्य

परतन्त्रत्वाज्जीवस्य। तथा विहितकारिणमप्यनर्थेन संसृजेत् प्रतिषिद्धकारिणमप्यर्थेन, ततश्च प्रामाण्यं वेदस्यास्तमियात्। ईश्वरस्य चात्यन्तानपेक्षत्वे लौकिकस्याऽपि पुरुषकारस्य वैयर्थ्यम्, तथा देशकालनिमित्तानां पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गश्चेत्येवंजातीयकं दोषजातमादिग्रहणेन दर्शयति ॥ ४२ ॥

भाष्यका अनुवाद

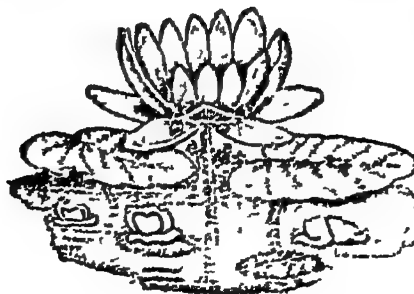
जाय, तो निरर्थक होंगे। विधि और प्रतिषेधका ईश्वर ही नियोक्ता है, क्योंकि जीव अत्यन्त परतन्त्र है। वैसे (वेद) विहित कर्म करनेवालेका अनर्थके साथ और प्रतिषिद्ध कर्म करनेवालेका अर्थके साथ सम्बन्ध करावेगा, इससे वेदका प्रामाण्य अस्त हो जायगा। ईश्वर अत्यन्त अनपेक्ष हो, तो लौकिक पुरुषार्थ व्यर्थ होगा, वैसेही देशकाल और निमित्तोंके पूर्वोक्त दोषप्रसङ्ग इत्यादि दोषसमुदाय आदिके ग्रहणसे दिखलाते हैं ॥ ४२ ॥

रत्नप्रभा

ईश्वर इति। तयोः स्थाने स एव नियुज्येत अभिषिच्येत, तयोः कार्यं स एव कुर्यादिति यावत्। तथा च जीवस्य निरपेक्षेश्वरपरतन्त्रत्वाद् विध्यादिशास्त्रमकिञ्चित्करम्—अनर्थकं स्यादिति सम्बन्धः। पुरुषकारः—प्रयत्नः। आदिशब्दार्थमाह—तथेति। पूर्वोक्तदोषोऽकृताभ्यागमादिः। तस्मात् कर्मसापेक्षेश्वरस्य कारयितृत्वाद् 'एष ह्येव' (कौ० ३।८) इत्यादिश्रुतेर्विध्यादिश्रुत्यविरोध इति सिद्धम् ॥ ४२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

शास्त्र व्यर्थ होंगे, ऐसा विवेचन करते हैं—"ईश्वरः" इत्यादिसे। विधि और प्रतिषेधमें ईश्वर ही नियुक्त हो—अभिषिक्त हो, उन दोनोंका कार्य वही करे। जीवके निरपेक्ष ईश्वरके अधीन होनेसे विधि आदि शास्त्र अकिञ्चित्कर—अनर्थक होगा, ऐसा सम्बन्ध है। पुरुषकार—प्रयत्न। आदिशब्दका अर्थ कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। पूर्वोक्त दोष—अकृतकी प्राप्ति। इसलिए कर्मकी अपेक्षा रखनेवाले ईश्वरके कारयिता होनेसे 'एष ह्येव' इत्यादि श्रुतियोंका विधि आदि श्रुतियोंके साथ विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥४२॥



[१७ अंशाधिकरण सू० ४३-५३]

किं जीवेश्वरसांकर्यं व्यवस्था वा श्रुतिद्वयात् ।
अभेदभेदविषयात् सांकर्यं न निवार्यते ॥१॥
अंशोऽवच्छिन्न आभास इत्यौपाधिककल्पनैः ।
जीवेशयोर्व्यवस्था स्याज्जीवानां च परस्परम् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—क्या जीव और ईश्वरका परस्पर साङ्कर्य है या दोनों श्रुतियोंसे कोई व्यवस्था हो सकती है ?

पूर्वपक्ष—अभेदश्रुति और भेदश्रुतिके विषय होनेसे जीव और ईश्वरके साङ्कर्यका निवारण नहीं किया जा सकता है ।

सिद्धान्त—अंश, अवच्छिन्न और आभास इस प्रकार औपाधिक कल्पनाओंसे जीव और ईशकी तथा परस्पर जीवोंकी व्यवस्था हो सकती है, अतः साङ्कर्य नहीं है ।

---

* भाव यह है—पूर्वपक्षी कहता है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियाँ जीव और ईश्वरका अभेद प्रतिपादन करती हैं और 'आत्मा०' इत्यादि श्रुतियाँ द्रष्टृ-द्रष्टव्यरूपसे उनके भेदका प्रतिपादन करती हैं, इससे भेदश्रुतिके सामर्थ्यसे 'जीव नहीं है' इस प्रकार अपलाप नहीं कर सकते हैं, अभेदश्रुतिसे इससे पृथक् जीवकी व्यवस्था नहीं कर सकते हैं, अतः विद्यमान जीवका ईश्वरके साथ साङ्कर्य दुर्वार है, इससे ब्रह्मवादी जगत्‌की व्यवस्था नहीं कर सकेगा ।

सिद्धान्ती कहते हैं—यद्यपि गो और महिषके समान ब्रह्म और जीवका अत्यन्त भेद वास्तविक नहीं है, तथापि व्यवहारदशामें उपाधिसे कल्पित भेदको लेकर शास्त्र तीन प्रकारसे जीवका निरूपण करते हैं—'ममैवांशः' इससे 'जीव ईशका अंश है' ऐसा समझा जाता है 'स समानः सन्०' इस श्रुतिमें विज्ञानमय जीवका विज्ञानशब्दवाच्य बुद्धिके साथ तुल्यपरिमाणके निर्देशसे घटाकाशके समान अवच्छिन्नत्व प्रतीत होता है, 'एक एव तु०' इत्यादि शास्त्रसे आभासत्व प्रतीत होता है । अतः ब्रह्मवादीके मतमें जगत्‌की व्यवस्था सुलभ है; और जीवोंका परस्पर जैसे अनेक जलपात्रोंमें सूर्यके अनेक प्रतिबिम्ब होते हैं, उसके समान व्यवहारकी व्यवस्था सुतरां उपपन्न है, अतः कोई दोष नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ।

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥ ४३ ॥

पदच्छेद—अंशः, नानाव्यपदेशात्, अन्यथा, च, अपि, दाशकितवादित्वम्, अधीयते, एके।

पदार्थोक्ति—[जीव ईश्वरस्य] अंशः—अंश इवांशः, न तु स्वाभाविकोंऽशः [तस्य 'निष्कलम्' इत्यादिना निरंशत्वश्रवणात्, अतः कल्पितांशो जीवः। कुतः पुनर्जीवेश्वरयोरंशांशिभावः, 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिना तयोः] नानाव्यपदेशात्—नानात्वस्य व्यपदेशात्, अन्यथा चापि—अनानात्वस्यापि व्यपदेशात्। [तथाहि ऐके—आथर्वणिकाः, ['ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः' इति] दाशकितवादित्वम्—ब्रह्मण एव दाशत्वं दासत्वं कितवत्वञ्च, अधीयते पठन्ति, [तत्र भेदवादिश्रुतिजातस्य प्रत्यक्षसिद्धभेदानुवादेनाऽभेदपरत्वात् कल्पितभेदवानंशो जीव इति सिद्धम्]।

भाषार्थ—जीव ईश्वरका कल्पित अंश है स्वाभाविक अंश नहीं है, क्योंकि 'निष्कलम्' इत्यादिसे वह निरवयव कहा गया है, इससे सिद्ध हुआ कि जीव ईश्वरका कल्पित अंश है। जीव और ईश्वरके अंशांशिभाव माननेका क्या कारण है ? 'य आत्मनि तिष्ठन्' (जो आत्मामें रहता हुआ) इत्यादिसे जीव और ब्रह्मका भेद-कथन है और अभेदका भी कथन है, क्योंकि आथर्वण शाखावाले 'ब्रह्म दाशाः' (ब्रह्म ही धीवर हैं ब्रह्म ही भृत्य हैं और ब्रह्म ही ये जुआरी हैं, ऐसा कहते हैं अर्थात् ब्रह्ममें ही धीवरत्व दासत्वका कथन है। इससे भेद और अभेदका व्यपदेश है। यहांपर भेदवादिनी श्रुतियां प्रत्यक्षसिद्ध भेदके अनुवादसे अभेदपरक ही हैं। इससें निर्णय हुआ कि जीव ईश्वरका कल्पितभेदवाला अंश है।

भाष्य

जीवेश्वरयोरुपकार्योपकारकभाव उक्तः। स च सम्बद्धयोरेव लोके

भाष्यका अनुवाद

जीव और ईश्वरका (परस्पर) उपकार्य उपकारकभाव कहा गया और वह

रत्नप्रभा

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा०। 'नित्यः स्वप्रकाशो नाणुरकर्ता

रत्नप्रभाका अनुवाद

'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा०'। 'नित्यः स्वप्रकाशो०' (जीव नित्य है, स्वप्रकाश है,

भाष्य

दृष्टो यथा स्वामिभृत्ययोर्यथा वाऽग्निविस्फुलिङ्गयोः। ततश्च जीवेश्वरयोरप्युपकार्योपकारकभावाभ्युपगमात्किं स्वामिभृत्यवत् सम्बन्ध आहोस्विदग्निविस्फुलिङ्गवदित्यस्यां विचिकित्सायामनियमो वा प्राप्नोति। अथवा स्वामिभृत्यप्रकारेष्वेवेशित्रीशितव्यभावस्य प्रसिद्धत्वात्तद्विध एव सम्बन्ध इति प्राप्नोति। अतो ब्रवीत्यंश इति। जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति,

भाष्यका अनुवाद

(उपकार्य उपकारकभाव) लोकमें सम्बद्धोंका ही देखा जाता है, जैसे स्वामी और सेवकोंका, अग्नि और चिनगारियोंका। इससे जीव और ईश्वरका भी उपकार्य उपकारकभाव स्वामी और सेवककी भांति है या अग्नि और विस्फुलिङ्गके समान है ? इस प्रकार संशय होनेपर अनियम प्राप्त होता है अथवा स्वामी और सेवकमें नियम्यनियामकभाव जैसा प्रसिद्ध है, वैसा ही सम्बन्ध है ? इससे कहते हैं—'अंशः०' इत्यादिसे। जीव ईश्वरका अंश हो सकता है,

---

रत्नप्रभा

जीवः' इति शोधितत्वम्पदार्थस्यात्र ब्रह्मैक्यसाधनेन भेदाभेदश्रुतीनां विरोधसमाधानात् पादसंगतिः। पूर्वपक्षे प्रत्यगभिन्नब्रह्मासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः। पूर्वोक्तोपकार्योपकारकभावाक्षिप्ते जीवेशयोः सम्बन्धं विषयीकृत्य द्विविधदृष्टान्तदर्शनात् संशयमाह—ततश्चेति। प्रसिद्धस्वस्वामित्वसम्बन्धसम्भवाद् 'यः कश्चित् सम्बन्धः' इत्यनियमो न युक्त इत्यरुचेराह—अथवेति। अनेन 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धभेदकोटिर्दर्शिता। एवं 'तत्त्वमसि' (छा० ६।३।१५) इत्यादिश्रुतिसिद्धाऽभेदकोटिर्द्रष्टव्या। तथा च भेदाभेदश्रुतीनां समबलत्वाद् विरोधे

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनणु है, अकर्ता है) इस प्रकार शोधित त्वम्पदार्थके यहाँपर ब्रह्मैक्यके साधन होनेसे भेदाभेद श्रुतियोंके विरोधके समाधानसे पादसङ्गति है। पूर्वपक्षमें प्रत्यक्से अभिन्न ब्रह्म असिद्ध है और सिद्धान्तमें सिद्ध है, ऐसा भेद है। पूर्वोक्त उपकार्योपकारकभावसे आक्षिप्त, जीव और ईश्वरके सम्बन्धको लेकर दो प्रकारके दृष्टान्त देखनेमें आते हैं, इसलिए संशय कहते हैं—"ततश्च" इत्यादिसे। प्रसिद्ध स्वस्वामिभाव सम्बन्धके संभव होनेसे 'कोई सम्बन्ध है' ऐसा अनियम युक्त नहीं है, ऐसी अरुचिसे कहते हैं—"अथवा" इत्यादि। इससे 'य आत्मनि तिष्ठन्०' (जो आत्मामें रहकर) इत्यादि श्रुतिसे प्रसिद्ध भेदकोटि दिखलाई गई है। उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध अभेदकोटि समझनी चाहिए। इस प्रकार भेदाभेदश्रुतियोंके समबल होनेसे उनमें विरोध होनेपर सम्बन्धका निश्चय न होनेसे सम्बन्धकी अपेक्षासे स्थित पूर्वोक्त उपकार्योपकारकभाव

भाष्य

यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गः। अंश इवांशो नहि निरवयवस्य मुख्योंऽशः सम्भवति। कस्मात् पुनर्निरवयवत्वात् स एव न भवति ? नानाव्यपदेशात्। सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१) 'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति चैवंजातीयको भेदनिर्देशो नाऽसति भेदे युज्यते। ननु चाऽयं नानाव्यपदेशः सुतरां स्वामिभृत्यसारूप्ये युज्यत इत्यत आह—अन्यथा चाऽपीति। न

भाष्यका अनुवाद

जैसे अग्निका विस्फुलिङ्ग। अंशके समान अंश है, क्योंकि निरवयवका मुख्य अंश नहीं हो सकता है। परन्तु परमात्मा निरवयव है तो वही जीव क्यों नहीं होता है ? भिन्नरूपसे व्यपदेश होनेसे 'सोऽन्वेष्टव्यः' (वह अन्वेषण करने योग्य है और जिज्ञासा करने योग्य है) 'एतमेव विदित्वा०' (उसीको जानकर मुनि होता है) 'य आत्मनि तिष्ठन्०' (जो आत्माके अन्दर रहकर आत्माका नियमन करता है) इस प्रकारका भेदनिर्देश भेदके विना नहीं घट सकता है। परन्तु यह भिन्नरूपसे व्यपदेश स्वामी और सेवकके सादृश्यसे ठीक ठीक घट सकता है, इसपर कहते हैं—'अन्यथा चापि' (अन्यरीतिसे भी)। केवल भेदव्यपदेशसे ही

रत्नप्रभा

सति सम्बन्धानिश्चयात् सम्बन्धापेक्षस्य पूर्वोक्तोपकार्योपकारकभावस्याऽसिद्धिरित्याक्षेपात् संगतिः। लोकसिद्धानर्थात् प्रसिद्धभेदानुवादित्वेन भेदश्रुतीनां दुर्बलत्वादज्ञातफलवदभेदश्रुत्यनुसारेण प्रकल्पितभेदनिबन्धनोंऽशांशिभावः सम्बन्ध इति सिद्धान्तयति—अत इत्यादिना। अग्नेः सांशत्वेऽपि निष्कलेश्वरस्य कथं सांशत्वमत आह—अंश इवेति। जीव इत्यनुषङ्गः। भेद एव चेत् स्वस्वामिभावो युक्तः; नांशांशिभाव इति शङ्कते—ननु चेति। अभेदस्याऽपि सत्त्वादंशां-

रत्नप्रभाका अनुवाद

असिद्ध है, इस प्रकार आक्षेपसे संगति है। लोकसिद्ध अनर्थात्मक भेदका अनुवाद करनेवाली होनेसे भेदश्रुतियां दुर्बल हैं, इसलिए अज्ञात फलवाली अभेद श्रुतियोंके अनुसार प्रकल्पित भेदके आधारपर स्थित अंशांशिभाव सम्बन्ध है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"अतः" इत्यादिसे। अग्निके सांश होनेपर भी निरवयव ईश्वर किस प्रकार अंशवाला है ? इसपर कहते हैं—"अंश इव" इत्यादिसे। 'जीव' का अनुषङ्ग है। यदि भेद ही हो, तो स्वस्वामिभाव युक्त है, अंशांशिभाव युक्त नहीं है, ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु च" इत्यादिसे। अभेदके होनेसे भी अंशांशिभाव है, ऐसा कहते हैं—"अतः" इत्यादिसे। वञ्चिसि—जाता है। जो नामरूपका

भाष्य

च नानाव्यपदेशादेव केवलादंशत्वप्रतिपत्तिः। किं तर्ह्यन्यथा चापि व्यपदेशो भवत्यनानात्वस्य प्रतिपादकः। तथा हि एके शाखिनो दाशकितवादिभावं ब्रह्मण आमनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते-'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः' इत्यादिना। दाशा य एते कैवर्ताः प्रसिद्धाः, ये चाऽमी दासाः स्वामिष्वात्मानमुपक्षिपन्ति, ये चान्ये कितवा द्यूतकृतस्ते सर्वे ब्रह्मैवेति हीनजन्तूदाहरणेन सर्वेषामेव नामरूपकृतकार्यकरणसंघातप्रविष्टानां जीवानां ब्रह्मत्वमाह। तथाऽन्यत्रापि ब्रह्मप्रक्रियायामेवाऽयमर्थः प्रपञ्च्यते—'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।

त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥'

(श्वे० ४।३) इति।

'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते।' इति

भाष्यका अनुवाद

अंशत्वका ज्ञान नहीं होता है, किन्तु, अन्य प्रकारका व्यपदेश भी नानात्वका प्रतिपादक है, जैसे—आथर्वण शाखावाले ब्रह्मसूक्तमें ब्रह्मके दाशभाव—धीवरत्व, कितवभाव आदि भावोंका प्रतिपादन करते हैं—'ब्रह्म दाशाः०' (ब्रह्म दाश हैं, ब्रह्म दास हैं, ब्रह्म ही ये कितव हैं) इत्यादिसे, दाश अर्थात् जो ये कैवर्तरूपसे प्रसिद्ध हैं और ये जो दास हैं—स्वामीके प्रति आत्माका उपक्षय करते हैं और अन्य जो कितव हैं अर्थात् द्यूत खेलनेवाले हैं वे सब ब्रह्म ही हैं, इस प्रकार हीन जन्तुओंके उदाहरणसे नाम और रूपसे किये गये कार्यकरणके सङ्घातमें प्रविष्ट सम्पूर्ण जीव ब्रह्म हैं, ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र ब्रह्मके प्रकरणमें भी इसी अर्थको विस्तृत करते हैं—'त्वं स्त्री त्वं पुमान्०' (तू स्त्री है, तू पुरुष है; तू कुमार है अथवा तू कुमारी है, वृद्धावस्थामें तू दण्ड लेकर चलता है, तू सर्वतोमुख उत्पन्न होता है) 'सर्वाणि रूपाणि' (सब रूपोंका निर्माण करके नाम रखकर अभिवादन करता हुआ रहता है)

रत्नप्रभा

शिभाव इत्याह—अत इति। वञ्चसि—गच्छसि, यदास्ते यो नामरूपे निर्माय प्रविश्य व्यवहरन् वर्तते तं विद्वानमृतो भवतीति श्रुत्यर्थः। श्रुतिसिद्धाभेदे

रत्नप्रभाका अनुवाद

निर्माण करके प्रवेशकर व्यवहार करता हुआ रहता है उसको जाननेवाला पुरुष मुक्त हो जाता है ऐसा श्रुतिका अर्थ है। श्रुतिसिद्ध अभेदमें युक्ति कहते हैं—"चैतन्य"

भाष्य

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३) इत्यादिश्रुतिभ्यश्चाऽस्याऽर्थस्य सिद्धिः। चैतन्यं चाऽविशिष्टं जीवेश्वरयोर्यथाऽग्निविस्फुलिङ्गयोरौष्ण्यम्। अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः ॥ ४३ ॥

कुतश्चांऽशत्वावगमः—

भाष्यका अनुवाद

'नान्योऽतोऽस्ति' (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुतियोंसे यही अर्थ सिद्ध होता है। जैसे अग्नि और विस्फुलिङ्गकी उष्णतामें कोई विशेषता नहीं है, एवं जीव और ईश्वरका चैतन्य अविशिष्ट है। इससे भेद और अभेदका ज्ञान होनेसे 'जीव अंश है' ऐसा ज्ञान होता है ॥ ४३ ॥

और किससे जीव अंश है ऐसा ज्ञान होता है—

रत्नप्रभा

युक्तिमाह—चैतन्यं चेति। जीवः ब्रह्मैव, चेतनत्वाद्, ब्रह्मवत् इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। जीव ब्रह्म ही है, चेतन होनेसे, ब्रह्मके समान, ऐसा अर्थ है ॥ ४३ ॥



मन्त्रवर्णाच्च ॥ ४४ ॥

पदच्छेद—मन्त्रवर्णात्, च।

पदार्थोक्ति—च—अपि, मन्त्रवर्णात्—'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इति श्रुतेः [परमेश्वरस्याऽविद्याकल्पितांशो भूतशब्दवाच्यो जीव इति गम्यते]।

भाषार्थ—और 'पादोऽस्य०' (सब भूत—प्राणी इसके एक पाद हैं) इस श्रुतिसे प्रतीत होता है कि भूतशब्दवाच्य जीव ईश्वरका अविद्याकल्पित अंश है।

भाष्य

मन्त्रवर्णश्चैतमर्थमवगमयति 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) इति । अत्र भूतशब्देन जीवप्रधानानि स्थावरजङ्गमानि निर्दिशति, 'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' इति प्रयोगात् । अंशः पादो भाग इत्यनर्थान्तरम् । तस्मादप्यंशत्वावगमः ॥४४॥

कुतश्चांऽशत्वावगमः—

भाष्यका अनुवाद

'तावान०' (उतनी इस ब्रह्मकी महिमा है, इससे पुरुष महत्तर है, उसका एक पाद सब भूत हैं, इसके तीन पाद अमृतस्वरूप द्योतनवान् स्वात्मामें हैं) यह मन्त्रवर्ण भी उसी अर्थका बोध कराता है। यहाँपर श्रुति भूतशब्दसे जीवप्रधान स्थावर जङ्गमोंका निर्देश करती है, क्योंकि 'अहिंसन्०' (तीर्थसे अन्यत्र सब प्राणियोंकी अहिंसा करता हुआ) ऐसा प्रयोग है। अंश, पाद, भाग ये एकार्थक ही शब्द हैं। इससे भी जीवके अंशत्वका ज्ञान होता है ॥ ४४ ॥

और जीव अंश है, यह किससे ज्ञात होता है—

रत्नप्रभा

मन्त्रवर्णाच्च । अस्य सहस्रशीर्षपुरुषस्य तावान् प्रपञ्चो महिमा विभूतिः, पुरुषः तस्मात् प्रपञ्चात् ज्यायान् महत्तरः । भूतानि देहिनो जीवा इत्यत्र नियामकमाह—अहिंसन्निति । तीर्थानि—शास्त्रोक्तकर्माणि, तेभ्योऽन्यत्र सर्वप्राणिहिंसामकुर्वन् ब्रह्मलोकमाप्नोतीत्यर्थः । अत्र भूतशब्दस्य प्राणिषु प्रयोगात् सूक्तोक्तमन्त्रेऽपि तथेति भावः । भूतानां पादत्वेऽपि अंशत्वं कुतः ? तत्राह—अंशः पाद इति ॥४४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'मन्त्रवर्णाच्च'। इस सहस्र शिरवाले पुरुषका इतना प्रपञ्च—महिमा अर्थात् विभूति है, उस प्रपञ्चसे पुरुष महत्तर है। भूतानि—देही, जीव। इस विषयमें नियामक कहते हैं—"अहिंसन्" इत्यादिसे। तीर्थ—अर्थात् शास्त्रोक्त कर्म। उनसे अन्यत्र सब प्राणियोंकी हिंसा न करनेवाला ब्रह्मलोक प्राप्त करता है, ऐसा अर्थ है। यहाँ भूतशब्द प्राणीमें प्रयुक्त होनेसे सूक्तोक्त मन्त्रमें भी उसी प्रकार है, ऐसा भाव है। भूतोंके पाद होनेपर भी वे अंश किस प्रकार हैं ? इसपर कहते हैं—"अंशः पादः" इत्यादिसे ॥ ४४ ॥

अपि च स्मर्यते ॥४५॥

पदच्छेद—अपि, च, स्मर्यते ।

पदार्थोक्ति—अपि च—किञ्च, 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इति भगवद्गीतासु परमेश्वरस्य अविद्याकल्पितांशो जीव इति स्मर्यते ।

भाषार्थ—और 'ममैवांशः०' (जीवलोकमें अविनाशी जीव मेरा ही अंश है) इस प्रकार भगवद्गीतामें परमेश्वरका अविद्याकल्पित अंश जीव है, ऐसा कहा गया है ।

भाष्य

ईश्वरगीतास्वपि चेश्वरांशत्वं जीवस्य स्मर्यते—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गी० १५।७) इति । तस्मादप्यंशत्वावगमः । यत्तूक्तम्-स्वामिभृत्यादिष्वेवेशित्रीशितव्यभावो लोके प्रसिद्ध इति, यद्यप्येषा लोके प्रसिद्धिस्तथापि शास्त्रात् त्वत्रांशांशित्वमीशित्रीशितव्यभावश्च निश्चीयते ।

भाष्यका अनुवाद

जीव ईश्वरका अंश है, ऐसी स्मृति है—'ममैवांशः०' (संसारमें जीवस्वरूप मेरा ही अंश है, अतः सनातन है), इससे भी अंशत्वका ज्ञान होता है । परन्तु यह जो कहा है कि स्वामी, सेवक आदिमें ईशितृत्व और ईशितव्यत्व लोकमें प्रसिद्ध है । यद्यपि लोकमें ऐसा प्रसिद्ध है तो भी यहां तो शास्त्रसे अंशांशित्व और ईशितृत्व और

रत्नप्रभा

जीवस्य पुरुषसूक्तमन्त्रोक्तभगवदंशत्वे भगद्गीतामुदाहरति सूत्रकारः—अपि चेति । अत्यन्तभिन्नेशित्रीशितव्यभावप्रसिद्धेः ईशितव्यजीवस्य कथमीश्वरांशत्वमित्याशङ्क्य कल्पितभेदेनाऽपीशितव्यत्वोपपत्तेः अनन्यथासिद्धाभेदशास्त्रबलादंशत्वमित्याह—यत्त्वित्यादिना । औपाधिके ईश्वरस्य नियन्तृत्वे जीव

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरुषसूक्तके मन्त्रमें जीव भगवान्‌के अंशरूपसे कहा गया है इसमें सूत्रकार भगवद्गीताका उदाहरण देते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । अत्यन्त भिन्न ईशितृभाव और ईशितव्यभावके प्रसिद्ध होनेसे ईशितव्य जो जीव है, वह ईश्वरका अंश किस प्रकार होगा ? ऐसी आशंका करके कल्पित भेदसे भी ईशितव्यत्व उपपन्न हो सकता है, क्योंकि अनन्यथासिद्ध जो अभेद शास्त्र है, उसके बलसे जीवमें अंशत्व प्रतीत होता है । ऐसा कहते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे । परन्तु ईश्वरका नियन्तृत्व औपाधिक है, तो जीव ही

भाष्य

निरतिशयोपाधिसम्पन्नश्चेश्वरो निहीनोपाधिसम्पन्नाञ्जीवान् प्रशास्तीति न किंचिद् विप्रतिषिध्यते ॥४५॥

अत्राह—ननु जीवस्येश्वरांशत्वाभ्युपगमे तदीयेन संसारदुःखोपभोगेनांऽशिन ईश्वरस्यापि दुःखित्वं स्यात्, यथा लोके हस्तपादाद्यन्यतमाङ्गगतेन दुःखेनाऽङ्गिनो देवदत्तस्य दुःखित्वं तद्वत्। ततश्च तत्प्राप्तानां महत्तरं दुःखं प्राप्नुयात्, अतो वरं पूर्वावस्थः संसार एवास्त्विति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः स्यादिति। अत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

ईशितव्यभावका निश्चय किया जाता है। निरतिशय उपाधिसे सम्पन्न ईश्वर अत्यन्त हीन उपाधिसे सम्पन्न जीवोंपर शासन करता है, इसमें कुछ विरुद्ध नहीं है ॥ ४५ ॥

यहां कहते हैं—जैसे लोकमें हाथ, पैर आदिमें से किसी एक अङ्गके दुःखसे अंगी देवदत्तको दुःख होता है, वैसे जीवको ईश्वरका अंश माननेपर उसके संसारदुःखके उपभोगसे अंशी ईश्वरको भी दुःख होगा। इससे उस (ब्रह्म) को प्राप्त हुए जनोंको अत्यन्त दुःख प्राप्त होगा, इसलिए पूर्वावस्थावाला संसार ही रहे यह श्रेष्ठ है, इस प्रकार सम्यग्दर्शनके निरर्थक होनेका प्रसङ्ग आवेगा। इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

एव तन्नियन्ता किं न स्यादित्यत आह—निरतिशयेति। नितरां हीनः शरीराद्युपाधिः, आज्ञानिकोपाधितारतम्यादीशेशितव्यव्यवस्था, न वस्तुतः। तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—'ईशेशितव्यसम्बन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः। सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः' इति ॥ ४५ ॥

उत्तरसूत्रमवतारयति—अत्राहेति। ईश्वरः स्वांशदुःखैर्दुःखी, अंशित्वात्, देवदत्तवदित्यर्थः। ततः किं तत्राह—ततश्चेति। ज्ञानात् सर्वांशदुःखसमष्टि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसका नियन्ता क्यों न हो? इसपर कहते हैं—"निरतिशय" इत्यादिसे। अत्यन्त हीन शरीर आदि उपाधि है। अज्ञानजन्य तारतम्यसे ईश और ईशितव्यकी व्यवस्था है, वह वस्तुतः नहीं है। सुरेश्वराचार्यने कहा है कि—ईश और ईशितव्यका सम्बन्ध प्रत्यगात्माके अज्ञानरूप हेतुसे होता है, सम्यक् ज्ञान होनेपर, अज्ञानके नष्ट होनेपर वह ईश्वरोंका भी ईश्वर है ॥४५॥

उत्तर सूत्रका अवतरण देते हैं—"अत्राह" इत्यादिसे। ईश्वर अपने अंशके दुःखोंसे दुःखी है, अंशी होनेसे, देवदत्तके समान, ऐसा अर्थ है। इससे प्रकृतमें क्या आया? इसपर कहते हैं—

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥४६॥

पदच्छेद—प्रकाशादिवत्, न, एवम्, परः ।

पदार्थोक्ति—[यथा जीवोऽविद्यावेशवशात् देहाद्यात्मभावमिव गतस्तत्कृतेन दुःखेन 'दुःखी अहम्' इति मन्यते] नैवं परः—ईश्वर एवं न, प्रकाशादिवत्—यथा सौरश्चान्द्रमसो वा प्रकाशो नभो व्याप्य वर्तमानो वक्रकाष्ठाद्युपाधिकृतवक्रभावमिवापन्नोऽपि न वस्तुतः वक्रभावमापद्यते तद्वत् [जीवोऽपि न परमार्थतो दुःखित्वमभिमन्यते ।]

भाषार्थ—जैसे जीव अविद्याके आवेशसे देहात्मभावको प्राप्त होकर देहजनित दुःखसे 'मैं दुःखी हूं' ऐसा मान बैठता है, वैसे परमात्मा दुःखी नहीं होता। जैसे सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश आकाशको व्याप्त करके स्थित भी वक्रकाष्ठ आदि उपाधिसे वक्रता को प्राप्त हुआ जैसा प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः वक्रताको प्राप्त नहीं होता, वैसे ही जीव भी वस्तुतः दुःखित्वका अभिमानी नहीं होता है।

भाष्य

यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवं पर ईश्वरोऽनुभवतीति प्रतिजानीमहे। जीवो ह्यविद्यावेशवशाद् देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते, नैवं परमेश्वरस्य

भाष्यका अनुवाद

जैसे जीव संसाररूप दुःखका अनुभव करता है, वैसे परमेश्वर दुःखका अनुभव नहीं करता है, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं। क्योंकि जीव अविद्याके आवेशके बलसे देहाद्यात्मभावको मानों प्राप्त होकर तत्कृतदुःखसे 'अहं दुःखी' (मैं दुःखी हूँ) इस प्रकार अविद्याकृत दुःखके उपभोगका अभिमानी

रत्नप्रभा

प्राप्त्यपेक्षया संसारो वरम्, तत्र स्वदुःखमात्रानुभवादित्यर्थः। नैवं पर इति प्रतिज्ञां विभजते—यथा जीव इति। देवदत्तदृष्टान्ते भ्रान्तिकामकर्मरूपदुःखसामग्रीमत्त्वमुपाधिः तदभावात् नेश्वरस्य दुःखित्वप्राप्तिः। उक्तञ्चैतदभेदेऽपि बिम्बप्रतिबिम्बयो-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"ततश्च" इत्यादिसे। ज्ञानसे सर्वाशदुःख समष्टिकी प्राप्तिकी अपेक्षासे संसार श्रेष्ठतर है, क्योंकि उसमें स्वदुःखमात्रका अनुभव होता है, ऐसा अर्थ है। 'नैवं परः' इस सूत्रभागसे प्रतिज्ञा करते हैं—"यथा जीवः" इत्यादिसे। देवदत्तके दृष्टान्तमें भ्रान्ति, काम और कर्मरूप दुःखकी सामग्रीका होना, यह उपाधि है। ईश्वरमें उनका अभाव होनेसे दुःखित्वकी प्राप्ति नहीं है।

भाष्य

देहाद्यात्मभावो दुःखाभिमानो वाऽस्ति। जीवस्याऽप्यविद्याकृतनामरूपनिर्वृत्तदेहेन्द्रियाद्युपाध्यविवेकभ्रमनिमित्त एव दुःखाभिमानो न तु पारमार्थिकोऽस्ति। यथा च स्वदेहगतदाहच्छेदादिनिमित्तं दुःखं तदभिमानभ्रान्त्याऽनुभवति तथा पुत्रमित्रादिगोचरमपि दुःखं तदभिमानभ्रान्त्यैवाऽनुभवत्यहमेव पुत्रोऽहमेव मित्रमित्येवं स्नेहवशेन पुत्रमित्रादिष्वभिनिविशमानः। ततश्च निश्चितमेतदवगम्यते—मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभव इति। व्यतिरेकदर्शनाच्चैवमवगम्यते। तथा हि—पुत्रमित्रादिमत्सु बहुषूपविष्टेषु तत्सम्बन्धाभिमानिष्वितरेषु च पुत्रो मृतो मित्रं मृतमित्येवमाद्युद्घोषिते येषामेव पुत्रमित्रादिमत्त्वाभिमानस्तेषामेव तन्निमित्तं दुःखमुत्पद्यते,

भाष्यका अनुवाद

होता है, इस प्रकार परमात्माका देहादिमें आत्मभाव या दुःखाभिमान नहीं है। जीवका भी अविद्यासे कल्पित नामरूपसे निर्वृत्त देह, इन्द्रिय उपाधियोंके अविवेकभ्रमसे उत्पन्न हुआ ही दुःखाभिमान है, पारमार्थिक दुःखाभिमान नहीं है, जैसे पुरुष अपने देहको प्राप्त हुए दाह, छेदन आदिसे उत्पन्न दुःखका उस देहके अभिमानकी भ्रान्तिसे अनुभव करता है, वैसे ही स्नेहवश पुत्र, मित्र आदिमें अभिनिवेश करता हुआ 'मैं ही पुत्र हूँ' 'मैं ही मित्र हूँ' इत्यादिरूपसे अनुभव करता है। इससे यह निश्चित समझा जाता है कि मिथ्याभिमानका भ्रम ही दुःखानुभवका निमित्त है। और व्यतिरेकके दर्शनसे भी ऐसा ही समझा जाता है, जैसे पुत्र, मित्र आदि परिवारवाले, उनमें पुत्रत्व आदि सम्बन्धका अभिमान रखते हों और जो उक्त सम्बन्धका अभिमान नहीं रखते ऐसे अनेक लोग बैठे हों, वहांपर 'पुत्र मरा' 'मित्र मरा' इस प्रकारकी घोषणा होनेपर उन्हींको तन्निमित्त दुःख होता है

रत्नप्रभा

धर्मव्यवस्थेति भावः। दुःखस्य भ्रान्तिकृतत्वं प्रपञ्चयति—जीवस्यापीत्यादिना। भ्रान्तौ सत्यां दुःखमित्यन्वयमुक्त्वा भ्रान्त्यभावे दुःखाभावदर्शनाच्च भ्रान्तिकृतं दुःखमिति निश्चीयते इत्याह—व्यतिरेकेति। इतरेषु—अभिमानशून्येषु इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभेद होनेपर भी यह कहा गया है कि बिम्ब और प्रतिबिम्बमें धर्मकी व्यवस्था है, ऐसा भाव है। दुःख भ्रान्तिकृत है, ऐसा विस्तारसे कहते हैं—"जीवस्यापि" इत्यादिसे। भ्रान्ति होनेपर दुःख होता है, ऐसा अन्वय कहकर भ्रान्तिके अभावमें दुःखके अभावका दर्शन होनेसे दुःख भ्रान्तिकृत है, ऐसा निश्चय होता है, ऐसा कहते हैं—"व्यतिरेक" इत्यादिसे। इतरेषु—

भाष्य

नाभिमानहीनानां परिव्राजकादीनाम् । अतश्च लौकिकस्याऽपि पुंसः सम्यग्दर्शनार्थवत्त्वं दृष्टम्, किमुत विषयशून्यादात्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तरमपश्यतो नित्यचैतन्यमात्रस्वरूपस्येति । तस्मान्नास्ति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः । प्रकाशादिवदिति निदर्शनोपन्यासः । यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद् व्याप्याऽवतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसम्बन्धात् तेष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तत्तद्भावमिव प्रतिपद्यमानोऽपि न परमार्थतस्तद्भावं प्रतिपद्यते। यथा चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निव विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो गच्छति, यथा चोदशरावादिकम्पनात् तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेऽपि न तद्वान् सूर्यः कम्पते, एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपहिते जीवा-

भाष्यका अनुवाद

जिनको पुत्र, मित्र आदिका अभिमान है, अभिमानरहित संन्यासियोंको नहीं होता है। इससे लौकिक पुरुषका भी सम्यक्दर्शन सार्थक होता दीखता है, तो विषयशून्य आत्मासे अन्य—दूसरी वस्तुको नहीं देखनेवाले, नित्य चैतन्यमात्र स्वरूपका सम्यक् दर्शन सार्थक हो, इसमें कहना ही क्या है ? इससे सम्यक्दर्शनकी निरर्थकता नहीं है । 'प्रकाशादिके समान' यह दृष्टान्तका कथन है । जैसे सूर्य या चन्द्रका प्रकाश आकाशको व्याप्तकर स्थित भी अङ्गुली आदि उपाधिके सम्बन्धसे ऋजुभाव, वक्रभाव आदिको प्राप्त होनेपर तद्भावके समान प्राप्त भी परमार्थरूपसे तद्रूप नहीं होता है अथवा जैसे घटादिके जानेपर आकाश जाता हुआ सा ज्ञात होता है, तो भी वस्तुतः वह जाता नहीं है अथवा जैसे जलपात्रके कम्पनसे सूर्य प्रतिबिम्बके कांपनेपर भी सूर्य नहीं कांपता है, इसी प्रकार अविद्यासे उपस्थित बुद्धि आदिसे

रत्नप्रभा

जीवस्याऽपि सम्यग्ज्ञाने दुःखाभावो दृष्टः, किमु वाच्यं नित्यसर्वज्ञेश्वरस्येत्याह— अतश्चेति । एवमंशित्वहेतोः सोपाधिकत्वमुक्त्वा योंऽशी स वस्तुतः स्वांशधर्मवानिति व्याप्तिं स्थलत्रये व्यभिचारयति—प्रकाशादिवदिति । वस्तुतः स्वांशदुःखि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभिमानशून्योंमें, ऐसा अर्थ है । सम्यग् ज्ञान होनेपर जीवके भी दुःखका अभाव देखनेमें आता है, तो नित्य, सर्वज्ञ ईश्वरके दुःखका अभाव हो, इसमें कहना ही क्या है ? ऐसा कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे । इस प्रकार अंशित्व हेतु सोपाधिक है, ऐसा कहकर जो अंशी है, वह अपने अंशके धर्मवाला है, इस व्याप्तिका तीन स्थलोंमें व्यभिचार देते हैं—"प्रकाशा-

भाष्य

ख्येंऽशे दुःखायमानेऽपि न तद्वानीश्वरो दुःखायते। जीवस्याऽपि तु दुःख-प्राप्तिरविद्यानिमित्तैवेत्युक्तम्। तथा चाऽविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्म-भावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः 'तत्त्वमसि' इत्येवमादयः। तस्मा-न्नास्ति जैवेन दुःखेन परमात्मनो दुःखित्वप्रसङ्गः ॥४६॥

भाष्यका अनुवाद

उपहित जीवरूप अंशके दुःखी होनेपर भी अंशी ईश्वर दुःखी नहीं होता है। और जीवको दुःखकी प्राप्ति अविद्यारूप निमित्तसे ही होती है, ऐसा कहा जा चुका है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि वेदान्त अविद्यानिमित्तक जीवभावका निरसन करके जीवके ब्रह्मभावका ही प्रतिपादन करते हैं। इससे जीवके दुःखसे परमात्मामें दुःखित्वका प्रसङ्ग नहीं है॥ ४६॥

रत्नप्रभा

त्वसाध्यस्य देवदत्तदृष्टान्ते वैकल्यमप्याह—जीवस्येति। कल्पितदुःखित्वसाध्यं तु भ्रान्त्याद्यभावादीश्वरे नास्तीत्युक्तम्। किञ्च, जीवस्येश्वरस्य वा वस्तुतो दुःखित्वा-नुमानं न युक्तम्, आगमबाधादित्याह—तथा चेति। दुःखित्वे तद्भावोपदेशो न स्याद् इत्यर्थः ॥४६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

दिवत्" इत्यादिसे। वस्तुतः स्वांशदुःखित्वरूप साध्यका देवदत्त-दृष्टान्तमें वैकल्य भी कहते हैं—"जीवस्य" इत्यादिसे। कल्पित दुःखित्व साध्य तो ईश्वरमें नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति आदिका अभाव है, ऐसा कहा गया है। ईश्वरमें या जीवमें वास्तविक दुःखित्वका अनुमान युक्त नहीं है, क्योंकि आगमका बाध है, ऐसा कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। यदि जीव दुःखी हो तो उसका ब्रह्मभावरूपसे उपदेश नहीं होगा॥ ४६॥

स्मरन्ति च ॥४७॥

पदच्छेद—स्मरन्ति, च।

पदार्थोक्ति—च—अपि, स्मरन्ति—'तत्र यः परमात्माऽसौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा॥' इत्यादिना व्यासादय ईश्वरस्य सांसारिकदुःखास्पर्शित्वं प्रतिपादयन्ति।

भाषार्थ—और 'तत्र यः०' (जीव और परमात्मामेंसे जो यह परमात्मा है वह नित्य और निर्गुण कहा गया है, जैसे कमलका पत्ता जलसे संसृष्ट नहीं होता, वैसे ही वह धर्म-अधर्मरूप कर्म और उनके फलोंसे लिप्त नहीं होता है) इत्यादिसे व्यास आदि ईश्वरमें सांसारिक दुःखोंका स्पर्श नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं।

भाष्य

स्मरन्ति च व्यासादयो यथा जवेन दुःखेन न परमात्मा दुःखायत इति—

'तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ।
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ।
स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः ॥' इति ।

चशब्दात् समामनन्ति चेति वाक्यशेषः । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्व·

भाष्यका अनुवाद

व्यास आदि कहते हैं कि जीवके दुःखसे परमात्मा दुःखी नहीं होता है—'तत्र यः परमात्मा०' (उनमें (जीव और परमात्मामें) जो परमात्मा है वह नित्य निर्गुण कहा गया है वह कर्म फलोंसे लिप्त नहीं होता है जैसे कमलका पत्ता जलसे लिप्त नहीं होता है। और जो कर्मात्मा (कर्माश्रय जीव) अन्य है वह मोक्ष और बन्धसे युक्त होता है। और वह सतरह राशिसे भी जुड़ा हुआ है।) च-शब्दसे 'समामनन्ति' (और श्रुतियां कहती हैं) ऐसा वाक्य शेष है। 'तयोरन्यः०' (उन दोनोंमें से एक स्वादुफल खाता है, दूसरा खाये विना

रत्नप्रभा

स्मृत्याऽपि अनुमानं बाध्यमित्याह—स्मरन्ति चेति । सूत्रं व्याचष्टे—स्मरन्तीति । तत्र—जीवपरयोर्मध्ये। कर्मात्मा—कर्माश्रयो जीवः। दशेन्द्रियाणि पञ्च प्राणाः मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशसंख्याको राशिः लिङ्गम्। सूत्रे चशब्दः श्रुतिसमुच्चयार्थ इत्याह—चशब्दादिति । यथाऽऽदित्यः प्रकाश्यदोषैर्न लिप्यते, तथेत्यर्थः। यतो बाह्यः असङ्गः, तस्मात् न लिप्यते । एवमंशित्वकृतमीश्वरे दोषं निरस्यांऽश इत्युक्तम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्मृतिसे भी अनुमान बाधित है ऐसा कहते हैं—"स्मरन्ति च" इत्यादिसे। सूत्रकी व्याख्या करते हैं—"स्मरन्ति" इत्यादिसे। तत्र—जीव और परमात्माके बीचमें। कर्माश्रय—जीव। दश इन्द्रियाँ, पांच प्राण, मन, बुद्धि इस प्रकारका सतरह सङ्ख्यावाला राशि लिङ्ग है। सूत्रमें चशब्द श्रुतिके समुच्चयके लिए है, ऐसा कहते हैं—"चशब्दात्" इत्यादिसे। जैसे आदित्य प्रकाश्यके दोषोंसे लिप्त नहीं होता है, वैसे, ऐसा अर्थ है। चूंकि बाह्य असंग है, अतः लिप्त नहीं होता है। इस प्रकार ईश्वरमें अंशित्वकृत दोषका निराकरण करके 'अंश इव' इससे उक्त जीवका

भाष्य

स्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (श्वे० ४।६) इति । 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' (क० ५।११) इति च ॥४७॥

अत्राह—यदि तर्ह्येक एव सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा स्यात् कथमनुज्ञापरिहारौ स्यातां लौकिकौ वैदिकौ चेति। ननु चांशो जीव ईश्वरस्येत्युक्तम्, तद्भेदाच्चाऽनुज्ञापरिहारौ तदाश्रयावव्यतिकीर्णावुपपद्येते किमत्र चोद्यत इति। उच्यते नैतदेवम्। अनंशत्वमपि हि जीवस्याऽभेदवादिन्यः श्रुतयः प्रतिपादयन्ति 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६।१), 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९), 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०)

भाष्यका अनुवाद

केवल देखता रहता है) 'एकस्तथा०' (वैसे एक सब भूतोंका अन्तरात्मा असङ्ग ईश्वर लोकके दुःखसे लिप्त नहीं होता है ॥४७॥

यहां पूर्वपक्षी कहता है—यदि सब भूतोंका एक ही अन्तरात्मा हो तो, लौकिक और वैदिक अनुज्ञा और परिहार कैसे होंगे ? परन्तु जीव ईशका अंश है ऐसा कहा जा चुका है, अतः अंशविशेषसे तन्निमित्त अव्यतिकीर्ण अनुज्ञा और परिहार उपपन्न होंगे, (इसलिए) यहां शङ्का किस तरह करते हो ? कहते हैं—यह ऐसा नहीं है, क्योंकि अभेद प्रतिपादक श्रुतियां जीवको अनंश कहती हैं—'तत्सृष्ट्वा०' (उसको उत्पन्न करके उसमें ही अनुप्रवेश किया) 'नान्योऽतोऽस्ति०' (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है) 'मृत्योः स०' (जो यहां भेद देखता है वह मृत्यु-परम्पराको प्राप्त होता है) 'तत्त्वमसि' (वह तू है) अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस प्रकारकी श्रुतियां हैं। परन्तु

रत्नप्रभा

जीवस्यांशत्वं देहाद्युपाधिकमिति स्फुटयितुमत्यन्तस्वरूपैक्यमादाय आक्षिपति—अत्राहेत्यादिना। कथं तर्हि इत्यन्वयः। तद्भेदाद्—अंशभेदात्। निरवयवब्रह्मणो मुख्यांशो न सम्भवतीति वदता सिद्धान्तिना भेदो नास्तीत्युक्तं भवति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

अंशत्व देहादि उपाधिकृत है, इसका स्पष्टीकरण करनेके लिए अत्यन्त स्वरूपैक्यको लेकर आक्षेप करते हैं—"अत्राह" इत्यादि। तो किस तरह, ऐसा अन्वय है। तद्भेदात्—अंशके भेदसे। निरवयव ब्रह्मका मुख्य अंश नहीं हो सकता है, इस प्रकार कहनेवाले सिद्धान्ती द्वारा भेद नहीं है, ऐसा कहा जायगा, भेदके अभावमें अंशांऽशित्वका अभाव होगा, अतः अनुज्ञा इत्यादि

भाष्य

इत्येवंजातीयकाः। ननु भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वं सिद्ध्यतीत्युक्तम्। स्यादेतदेवं यद्युभावपि भेदाभेदौ प्रतिपिपादयिषितौ स्याताम्, अभेद एव त्वत्र प्रतिपिपादयिषितो ब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तौ पुरुषार्थसिद्धेः। स्वभावप्राप्तस्तु भेदोऽनूद्यते। न च निरवयवस्य ब्रह्मणो मुख्योंऽशो जीवः संभवतीत्युक्तम्। तस्मात् पर एवैकः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा जीवभावेनाऽवस्थित इत्यतो वक्तव्याऽनुज्ञापरिहारोपपत्तिः। तां ब्रूमः—

भाष्यका अनुवाद

भेद और अभेदके अवगमसे अंशत्व सिद्ध होता है, ऐसा कहा गया है। यदि भेद और अभेद दोनोंका प्रतिपादन करना इष्ट होता, तो ऐसा हो सकता, परन्तु अभेदका ही यहां प्रतिपादन करना इष्ट है, क्योंकि ब्रह्मात्मत्वकी प्रतिपत्ति होनेपर पुरुषार्थकी सिद्धि है, भेद तो स्वभावप्राप्त है, अतः अनुवाद किया जाता है। और निरवयव ब्रह्मका मुख्य अंश जीव नहीं हो सकता है ऐसा कहा गया है। इसलिए, एक परमात्मा ही सब भूतोंका अन्तरात्मा जीवभावसे स्थित है। इस कारण अनुज्ञा और परिहारकी उपपत्ति कहनी चाहिए। उसको कहते हैं—

रत्नप्रभा

भेदाभावे चांशांशित्वाभावादनुज्ञादिभेदव्यवहारानुपपत्तिरित्याक्षेपाभिप्रायः ॥४७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

भेदव्यवहार की अनुपपत्ति होगी, ऐसा आक्षेपका अभिप्राय है ॥४७॥

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥४८॥

पदच्छेद—अनुज्ञापरिहारौ, देहसंबन्धात्, ज्योतिरादिवत्।

पदार्थोक्ति—अनुज्ञापरिहारौ—'मित्रं सेव्यम्' 'शत्रवः परिहर्तव्याः' इति विधिनिषेधौ [सर्वत्रात्मनोऽखण्डैकरसत्वेऽपि] देहसम्बन्धात्—देहतादात्म्यसम्बन्धात् संगच्छेते, ज्योतिरादिवत्—यथा अग्नेरेकत्वेऽपि श्मशानसम्बन्ध्यग्निः परिहर्तव्यः भवति, नेतरः, तद्वदात्मापि।

भाषार्थ—मित्रका सेवन करना चाहिए, शत्रुओंसे दूर रहना चाहिए इस प्रकारके विधि और निषेध सर्वत्र आत्माके अखण्डैकरस होनेपर भी देहके साथ तादात्म्य सम्बन्धसे संगत होते हैं। जैसे अग्निके एक होनेपर भी श्मशानकी अग्नि परिहरणीय है अन्य अग्नियां परिहरणीय नहीं हैं, वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिए।

भाष्य

'ऋतौ भार्यामुपेयात्' इत्यनुज्ञा। 'गुर्वङ्गनां नोपगच्छेत्' इति परिहारः। तथा 'अग्नीषोमीयं पशुं संज्ञपयेत्' इत्यनुज्ञा। 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति परिहारः। एवं लोकेऽपि 'मित्रमुपसेवितव्यम्' इत्यनुज्ञा। 'शत्रुः परिहर्तव्य' इति परिहारः। एवंप्रकारावनुज्ञापरिहारावेकत्वेऽप्यात्मनो देहसम्बन्धात् स्याताम्। देहैः सम्बन्धो देहसम्बन्धः। कः पुनर्देहसम्बन्धः? देहादिरयं संघातोऽहमेवेत्यात्मनि विपरीतप्रत्ययोत्पत्तिः। दृष्टा च सा सर्वप्राणिनामहं गच्छाम्यहमागच्छाम्यहमन्धोऽहमनन्धोऽहं मूढोऽहममूढ इतीत्येवमात्मिका। नह्यस्याः सम्यग्दर्शनादन्यन्निवारकमस्ति। प्राक्तु स-

भाष्यका अनुवाद

'ऋतौ भार्यामुपेयात्' (ऋतुमें भार्याका प्रसङ्ग करना चाहिए) यह अनुज्ञा है। 'गुर्वङ्गनां नोपगच्छेत्' (गुरुकी स्त्रीके साथ प्रसङ्ग नहीं करना चाहिए) यह परिहार है। 'अग्नीषोमीयं पशुं संज्ञपेत्' (अग्निषोमीय पशुका बध करना चाहिए) यह अनुज्ञा है, 'न हिंस्यान् सर्वा भूतानि' (किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिए) यह परिहार है। इस प्रकार लोकमें भी 'मित्रमुपसेवितव्यम्' (मित्रका सेवन करे) वह अनुज्ञा है और 'शत्रुः परिहर्तव्यः' (शत्रु का त्याग करे) यह परिहार है। इस प्रकारके अनुज्ञा और परिहार आत्माके एक होनेपर भी इसके देहसम्बन्धसे होंगे। देहके साथ सम्बन्ध—देहसम्बन्ध है। परन्तु देहसंबन्ध क्या है? यह देहादि सङ्घात 'मैं ही हूँ' इस प्रकार आत्मामें विपरीत प्रत्ययकी उत्पत्ति देहसम्बन्ध है यह सब प्राणियोंको होती है—'मैं जाता हूँ', 'मै आता हूँ', 'मैं अन्धा हूँ', 'मै अन्धा नहीं हूँ', 'मैं मूढ़ हूँ', 'मैं अमूढ़ हूँ' इत्यादि रूपसे। इसका निवारक यथार्थ ज्ञानको छोड़कर अन्य नहीं है, सम्यक् दर्शनके पूर्व यह भ्रान्ति सब प्राणियोंमे

रत्नप्रभा

न वयं भेदस्याऽसत्त्वं नरशृङ्गवत् ब्रूमः, किन्तु मिथ्यात्वं वदामः। तथा च देहाद्युपाधिभेदेनांऽशजीवानामाब्रह्मबोधात् कल्पितभेदाद् भेदव्यवहारोपपत्तिरिति सूत्रेण समाधत्ते—तामित्यादिना। ननु भ्रान्तेः कुतश्चिन्निवृत्तौ व्यवहारविच्छेदः स्यादित्यत आह—न ह्यस्या इत्यादिना। प्रतता—सन्तता, विशेषः—

रत्नप्रभाका अनुवाद

हम नरशृङ्गके समान भेदकी असत्ता नहीं कहते हैं, किन्तु मिथ्यात्व कहते हैं। इसलिए देह आदि उपाधिकेभेदसे अंशरूप जीवोंके ब्रह्मज्ञान होने तक कल्पित भेदसे भेदके व्यवहार की उपपत्ति होगी, ऐसा सूत्रसे समाधान करते हैं—"ताम्" इत्यादिसे। परन्तु भ्रान्तिकी किसी कारणवश निवृत्ति होनेपर व्यवहारका लोप प्रसक्त होगा? इसपर कहते हैं—"नह्यस्याः"

भाष्य

स्यग्दर्शनात् प्रततैषा भ्रान्तिः सर्वजन्तुषु । तदेवमविद्यानिमित्तदेहाद्युपाधिसम्बन्धकृताद्विशेषादैकात्म्याभ्युपगमेऽप्यनुज्ञापरिहाराववकल्प्येते । सम्यग्दर्शिनस्तर्ह्यनुज्ञापरिहारानर्थक्यं प्राप्तम्, न; तस्य कृतार्थत्वान्नियोज्यत्वानुपपत्तेः । हेयोपादेययोर्हि नियोज्यो नियोक्तव्यः स्यात् । आत्मनस्त्वतिरिक्तं हेयमुपादेयं वा वस्त्वपश्यन् कथं नियुज्येत । न चाऽऽत्माऽऽत्मन्येव नियोज्यः स्यात् । शरीरव्यतिरेकदर्शिन एव नियोज्यत्वमिति चेत्, न; तत्संहतत्वाभिमानात् । सत्यं व्यतिरेकदर्शिनो नियोज्यत्वं तथापि व्योमादिवद् देहाद्यसंहतत्वमपश्यत एवात्मनो नियोज्यत्वाभिमानः । नहि देहा-

भाष्यका अनुवाद

संतत है। इस कारण अविद्यानिमित्त देहादि उपाधिके सम्बन्धसे किये गये विशेष द्वारा एकात्माके स्वीकारमें भी अनुज्ञा और परिहारका सम्भव है। तब सम्यग्दर्शीके अनुज्ञा और परिहार निरर्थक होंगे? नहीं, क्योंकि वह कृतार्थ होनेसे नियोज्य हो यह युक्त नहीं है, इसलिए कि हेय और उपादेयमें नियोज्यका नियोग करना चाहिए, परन्तु आत्मासे भिन्न हेय और उपादेय वस्तुको नहीं देखता हुआ वह किस प्रकारसे नियुक्त होगा? आत्मा आत्मामें ही नियुक्त हो, यह युक्त नहीं है। शरीरसे आत्मा भिन्न है, ऐसे ज्ञानवाला ही नियोज्य होगा, ऐसा कहो तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मा देहादिका सङ्घात है, ऐसा अभिमान है। आत्मा देहसे व्यतिरिक्त है ऐसा जाननेवाला नियोज्य है यह ठीक है, तो भी आकाश आदिके समान देहादिसे आत्मा असंहत है, ऐसा जिसको

रत्नप्रभा

भेदः, अनियोज्यत्वाद् ब्रह्मविदः शास्त्रानर्थक्यमिष्टमित्याह—न तस्येति । नियोगविषयद्वैताभावादात्मनि असाध्ये नियोगानुपपत्तेर्न ब्रह्मविन्नियोज्य इत्यर्थः । ननु आमुष्मिकफलहेतुके कर्मणि देहभिन्नात्मविवेकिन एवाधिकारो वाच्यः, तथा च ब्रह्मवित् नियोज्यः, विवेकित्वात्, कर्माधिकारिवदिति शङ्कते—शरीरव्यतिरेकेति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । प्रतता—संतत अर्थात् विस्तृत । विशेषः—भेद । ब्रह्मवेत्ताके नियोज्य न होनेसे शास्त्रकी निरर्थकता इष्ट है, ऐसा कहते हैं—"न तस्य" इत्यादिसे । नियोगके विषय द्वैतके अभावसे असाध्य आत्मामें नियोगकी अनुपपत्ति होनेसे ब्रह्मवेत्ता नियोज्य नहीं है, ऐसा अर्थ है । परन्तु आमुष्मिक फलके कारण कर्ममें देह भिन्न आत्माको जाननेवालेका ही अधिकार है, इसलिए ब्रह्मवेत्ता नियोज्य है । विवेकी होनेसे, कर्माधिकारीके समान, ऐसी

भाष्य

ह्यसंहतत्वदर्शिनः कस्यचिदपि नियोगो दृष्टः। किमुतैकात्म्यदर्शिनः। न च नियोगाभावात् सम्यग्दर्शिनो यथेष्टचेष्टाप्रसङ्गः। सर्वत्राभिमानस्यैव प्रवर्तकत्वादभिमानाभावाच्च सम्यग्दर्शिनः। तस्माद् देहसम्बन्धादेवानुज्ञा-परिहारौ, ज्योतिरादिवत्। यथा ज्योतिष एकत्वेऽप्यग्निः क्रव्यात् परि-ह्रियते नेतरः। यथा च प्रकाश एकस्यापि सवितुरमेध्यदेशसम्बद्धः परि-

भाष्यका अनुवाद

ज्ञान नहीं है, उसको ही नियोज्यत्वका अभिमान है। देह आदिसे आत्मा असंहत है, ऐसे ज्ञानवाले किसीका भी नियोग देखनेमें नहीं आता, तो एकात्मदर्शीका नियोग कैसे हो सकता है? यदि कोई कहे कि नियोगके न रहनेसे सम्यग्दर्शीको यथेष्ट चेष्टाका प्रसङ्ग आवेगा, यह युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वत्र अभिमान ही प्रवर्तक है और सम्यग्दर्शीको अभिमान नहीं है। अतः देहके सम्बन्धसे ही अनुज्ञा और परिहार होते हैं, ज्योति आदिके समान। जैसे ज्योति एक है, तो भी क्रव्याद् अग्निका परिहार होता है, अन्यका

रत्नप्रभा

परोक्षविवेकस्याऽपरोक्षभ्रमाविरोधित्वात् कर्मिणो देहाभेदभ्रमोऽस्ति, तथा च भ्रम उपाधिरिति परिहरति—नेत्यादिना। यथा व्योम देहाद् भिन्नं तद्वदहमित्य-पश्यतः भ्रान्तस्येत्यर्थः।' ब्रह्मवित् न नियोज्यः, अभ्रान्तत्वात्, सुषुप्तवदित्याह—नहीति। देहादिषु असंहतत्वदर्शिनः—संहतत्वदर्शनशून्यस्य—भेदभ्रान्तिरहि-तस्य, सुषुप्तस्येति यावत्। अज्ञस्यापि भ्रान्त्यभावकाले नियोज्यत्वं न दृष्टम्, किमु वाच्यमात्मविद इत्यर्थः। अनियोज्यत्वे बाधकमाशङ्क्य परिहरति—न चेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

शङ्का करते हैं—"शरीरव्यतिरेक" इत्यादिसे। परोक्ष विवेक अपरोक्ष भ्रमका विरोधी नहीं है, अतः कर्मीका देहके साथ अभेद भ्रम है, इसलिए भ्रम उपाधि है, इसका परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। जैसे आकाश देहसे भिन्न है तद्वत् 'अहम्' इसको नहीं जाननेवाले भ्रमीको, ऐसा अर्थ है। ब्रह्मवेत्ता नियोज्य नहीं है, अभ्रान्त होनेसे, सुषुप्तके समान, ऐसा कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। अर्थात् देहादिमें असंहतत्वदर्शी और संहतत्वदर्शनशून्य भेदभ्रान्तिरहित अर्थात् सुषुप्तका, ऐसा निष्कर्ष है। भ्रान्तिके अभावकालमें अज्ञको भी नियोज्यत्व दृष्ट नहीं है तो फिर आत्मवेत्ताके लिए कहना ही क्या है? ऐसा भाव है। अनियोज्यत्वमें बाधककी आशङ्का करके परिहार करते हैं—"न च" इत्यादिसे। विषयके वैराग्यसे ज्ञानके लिए अभ्यस्त-

भाष्य

ह्रियते, नेतरः शुचिभूमिष्ठः। यथा भौमाः प्रदेशा वज्रवैडूर्यादय उपादीयन्ते, भौमा अपि सन्तो नरकलेवरादयः परिह्रियन्ते। यथा मूत्र-पुरीषं गवां पवित्रतया परिगृह्यते, तदेव जात्यन्तरे परिवर्ज्यते, तद्वत् ॥४८॥

भाष्यका अनुवाद

नहीं होता। सूर्य यद्यपि एक है तो भी उसका अपवित्र देशके साथ सम्बद्ध प्रकाश परिहृत होता है, अन्य—पवित्र भूमिमें रहा हुआ परिहरणीय नहीं होता है, इसी प्रकार वज्र, वैडूर्य आदि भूमिके प्रदेशोंका उपादान होता है और नरकलेवर आदि प्रदेश भूमिके ही हैं तो भी उनका परिहार होता है। इसी प्रकार गौके मूत्र और गोबर पवित्र हैं, अतः उनका ग्रहण होता है, अन्य जातिके वे ही मूत्र, पुरीष आदि त्यागे जाते हैं, ऐसा ही यहां भी समझना ॥ ४८ ॥

रत्नप्रभा

विषयवैराग्यस्य ज्ञानार्थमभ्यस्तस्य ज्ञानानन्तरमनुवृत्त्या विषयेषु प्रवर्तकरागनिवृत्तेर्नाऽतिप्रसङ्ग इत्यर्थः। तदुक्तं भगवता 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' (भ० गी० २।५९) इति। एवमनुज्ञादिप्रसङ्गेन अनियोज्यत्वं विदुष उक्त्वा प्रकृतमुपसंहरति—तस्मादिति। एकस्याप्युपाधिभेदाद् अनुज्ञापरिहारयोः दृष्टान्तमाह—ज्योतिरिति। क्रव्यं मांसमत्तीति क्रव्याद् अशुचिः श्मशानाग्निरित्यर्थः ॥ ४८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरुषको ज्ञानके अनन्तर अनुवृत्तिसे विषयोंमें प्रवर्त्तक रागकी निवृत्तिसे अतिप्रसङ्ग नहीं है, ऐसा अर्थ है। उसीको भगवान्‌ने कहा है—'रसोऽप्यस्य०' (परको देखकर रसकी निवृत्ति होती है) इस प्रकार अनुज्ञादिके प्रसंगसे विद्वान्‌को अनियोज्य कहकर प्रकृतका उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। एकके भी उपाधिभेदसे अनुज्ञा और परिहारमें दृष्टान्त कहते हैं—"ज्योतिः" इत्यादिसे। क्रव्यम्—मांसको जो खाय वह क्रव्याद—अपवित्र श्मशानकी अग्नि ऐसा अर्थ है ॥४८॥

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥४९॥

पदच्छेद—असन्ततेः, च, अव्यतिकरः।

पदार्थोक्ति—च—अपि, अव्यतिकरः—कर्मफलसंबन्धस्य असंकरः स्यात्, [कुतः] असन्ततेः—उपाधिपरिच्छिन्नस्य आत्मनः सर्वैः शरीरैः सहासम्बन्धात्।

भाषार्थ—और आत्माके एक होनेसे कर्मफलका संबन्ध संकीर्ण नहीं होगा, क्योंकि उपाधिसे परिच्छिन्न आत्माका सब शरीरोंके साथ सम्बन्ध नहीं है।

भाष्य

स्यातां नामानुज्ञापरिहारावेकस्याप्यात्मनो देहविशेषयोगात् । यस्त्वयं कर्मफलसम्बन्धः स चैकात्म्याभ्युपगमे व्यतिकीर्येत, स्वाम्येकत्वादिति चेत् । नैतदेवम् । असन्ततेः। नहि कर्तुर्भोक्तुश्चात्मनः सन्ततः सर्वैः शरीरैः सम्बन्धोऽस्ति । उपाधितन्त्रो हि जीव इत्युक्तम् । उपाध्यसन्तानाच्च नास्ति जीवसन्तानः । ततश्च कर्मव्यतिकरः फलव्यतिकरो वा न भविष्यति ॥४९॥

भाष्यका अनुवाद

आत्मा यद्यपि एक है तो भी देहविशेषके योगसे अनुज्ञा और परिहार होंगे। परन्तु जो यह कर्म-फलका संबन्ध है, वह एक आत्माके स्वीकारमें संकीर्ण हो जायगा, क्योंकि स्वामी एक है, ऐसा कहो; तो यह ऐसा नहीं है। असंततिसे, क्योंकि कर्ता और भोक्ता आत्माका सब शरीरोंके साथ संतत संबन्ध नहीं है। जीव उपाधिके अधीन है, ऐसा कहा जा चुका है, और उपाधिके संतत न होनेसे जीव भी संतत नहीं है। इससे कर्मका या फलका संकर नहीं होगा ॥४९॥

रत्नप्रभा

शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रं व्याचष्टे—स्यातामित्यादिना। यद्यपि स्थूलदेहसम्बन्धादुपादानपरित्यागौ स्याताम्, तथाऽप्यन्यकृतकर्मफलमितरेणाऽपि भुज्येतेति कर्मफलव्यतिकरः—सांकर्यं स्यात्, इह विशिष्टस्य स्वर्गादिभोगायोगेन अविशिष्टात्मन एकस्यैव भोक्तृत्वात्। तस्मात् स्वर्गी नरकी चेति व्यवस्थासिद्धये आत्मस्वरूपभेदो वाच्य इति शङ्कार्थः। भवेत् तदा साङ्कर्यम्, यद्यनुपहितात्मन एव भोक्तृत्वं स्यात्, न त्वेतदस्ति। 'तद्गुणसारत्वात्तु' (ब्र० सू० २।३।३०) इत्यत्र मोक्षस्यापि, बुद्ध्युपहितस्यैव कर्तृत्वादिस्थापनात्, तथा च बुद्धेः परदेहासम्बन्धात् तदुपहितजीवस्य नास्ति परदेहसम्बन्ध इति बुद्धिभेदेन भोक्तृभेदान्न कर्मादिसाङ्कर्यमिति समाधानार्थः ॥ ४९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

शङ्काके उत्तररूपसे सूत्रकी व्याख्या करते हैं—"स्याताम्" इत्यादिसे। यद्यपि स्थूलदेहके सम्बन्धसे उपादान और परित्याग होंगे, तथापि अन्य द्वारा किये गये कर्मके फलका अन्य भी उपभोग करेगा, अतः कर्मफलका व्यतिकर—साङ्कर्य होगा, क्योंकि देहविशिष्ट आत्मामें स्वर्गादि भोगका योग न होनेसे अविशिष्ट एक ही आत्मा भोक्ता होगा। इससे स्वर्गी और नरकी इस प्रकारकी व्यवस्थासिद्धिके लिए आत्माका स्वरूपभेद कहना चाहिए ऐसा शङ्काका अर्थ है। तब साङ्कर्य होगा जब अनुपहित आत्मा ही भोक्ता होगा, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि 'तद्गुणसारत्वात्' इस सूत्रमें मोक्षका भी बुद्ध्युपहित हीमें कर्तृत्वका स्थापन किया है, इसलिए बुद्धिका परदेहके साथ असम्बन्ध है, अतः तद्विशिष्ट जीवमें परदेहसम्बन्ध नहीं है. इससे बुद्धिके भेदसे भोक्ताका भेद होनेसे कर्मादिके साथ साङ्कर्य नहीं है, ऐसा समाधान का अर्थ है ॥ ४९ ॥

आभास एव च ॥५०॥

पदच्छेद—आभासः, एव, च ।

पदार्थोक्ति—च—किञ्च, आभास एव—एष जीवः परस्यात्मनः प्रतिबिम्ब एव [सूर्यप्रतिबिम्बवत्, ततश्च यथैकस्मिन् सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमाने न प्रतिबिम्बान्तरं कम्पते तथैकस्मिन् जीवे कर्मफलसम्बन्धिनि सति न जीवान्तरस्य तत्सम्बन्ध इति संकरः सुपरिहरः] ।

भावार्थ—और सूर्यप्रतिबिम्बकी भांति यह जीव परमात्माका प्रतिबिम्ब ही है। जैसे एक प्रतिबिम्बके कांपनेपर दूसरा प्रतिबिम्ब नहीं कांपता है, वैसे ही एक जीवका कर्मफलके साथ सम्बन्ध होनेपर दूसरे जीवका उसके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है, इस प्रकार संकरका परिहार होना सरल है।

भाष्य

आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः। न स एव साक्षात्। नापि वस्त्वन्तरम्। अतश्च यथा नैकस्मिञ्जलसूर्यके

भाष्यका अनुवाद

जलमें पड़े हुए सूर्यप्रतिबिम्ब आदिके समान इस जीवको परमात्माका आभास प्रतिबिम्ब ही समझना युक्त है, वह साक्षात् परमात्मा ही नहीं है, इसी

रत्नप्रभा

अंशेत्याद्यसूत्रे जीवस्यांऽशत्वं घटाकाशस्येवोपाध्यवच्छेदबुद्ध्योक्तम्, सम्प्रति एवकारेणाऽवच्छेदपक्षारुचिं सूचयन् 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (बृ० २।५।१९) इत्यादिश्रुतिसिद्धं प्रतिबिम्बपक्षमुपन्यस्यति भगवान् सूत्रकारः—आभास एव चेति। स परमात्मैवानुपहितो जीवो न भवति, उपाध्यनुभवात्। नापि ततो भिन्नः, 'स एष इह प्रविष्टः' (बृ० १ । ४ । ७) इत्याद्यभेदश्रुतिस्मृतिविरोधात्, तस्मादविद्यातत्कार्यबुद्ध्यादिप्रतिबिम्ब एव जीव इत्यर्थः। अस्मिन् पक्षे बुद्धिप्रतिबिम्बभेदात् स्वर्गी नरकीत्यादिव्यवस्था, जीवत्वस्याऽऽविद्यकत्वाद् विद्यया

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अंशः" इत्यादि सूत्रमें 'जीव अंश है' यह घटाकाशके समान उपाधिरूप अवच्छेदक बुद्धिसे कहा गया है, अब एवकारसे अवच्छेदवादमें अरुचि सूचित करते हुए 'रूपं रूपं' इत्यादि श्रुतिसिद्ध प्रतिबिम्बपक्षका उपन्यास भगवान् सूत्रकार करते हैं—"आभास एव च" इत्यादिसे। अनुपहित परमात्मा जीव नहीं हो सकता, उपाधिके अनुभवसे, उस परमात्मासे जीव भिन्न है, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि 'स एष इह प्रविष्टः' इत्यादि अभेद प्रतिपादक श्रुतिके साथ विरोध होगा, अतः अविद्या, तत्कार्य बुद्धि आदिमें प्रतिबिम्ब ही जीव है, ऐसा अर्थ है। इस पक्षमें बुद्धि प्रतिबिम्बके भेदसे स्वर्गी,

भाष्य

कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, एवं नैकस्मिञ्जीवे कर्मफलसम्बन्धिनि जीवान्तरस्य तत्संबन्धः। एवमप्यव्यतिकर एव कर्मफलयोः। आभासस्य चाविद्याकृतत्वात् तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वोपपत्तिरिति, तद्-

भाष्यका अनुवाद

प्रकार अन्य वस्तु भी नहीं है। इसलिए जैसे एक जलसूर्यकके—जलमें स्थित-सूर्य-प्रतिविम्बके हिलनेसे अन्य जलसूर्यक नहीं हिलता, वैसे ही एक जीवके कर्मफलसंबन्धी होनेपर अन्य जीवका उसके (कर्मफलके) साथ संबन्ध नहीं होता। इस प्रकार भी कर्म और फलका अव्यतिकर ही है। और आभासके अविद्याजनित होनेसे उसका आश्रित संसार अविद्याजनित है, यह उपपन्न

रत्नप्रभा

मोक्षश्चेत्युपपद्यत इत्याह—अतश्चेत्यादिना। यस्त्वयं भास्करस्य प्रलापः—प्रतिबिम्बस्य नोपाधिसंसृष्टतया कल्पितत्वम्, किन्तु स्वरूपेणैव, अतः कल्पित-प्रतिबिम्बस्य मुक्तौ स्थित्ययोगात् न जीवत्वम्—इति स सिद्धान्तरहस्याज्ञानकृत इत्युपेक्षणीयः। यदि दर्पणे मुखं शुक्तौ रजतवत् कल्पितं स्यात्, तदा नेदं रजतमिति स्वरूपबाधवन्नेदं मुखमिति बाध्यं स्यात्, अतो नास्ति दर्पणे मुखमिति संसर्गमात्रबाधान्मदीयं मुखमेवेदमित्यबाधितमुखाभेदानुभवात् संसृष्टत्वेनैव कल्पितत्वम्। प्रवेशवाक्यैश्चाऽविकृतब्रह्मण एव प्रतिबिम्बभावाख्यप्रवेशोक्तेर्न स्वरूपकल्पना। पराक्रान्तं चाऽत्र दर्पणटीकायामचार्यैरित्युपरम्यते। एवं स्वमते स्वरूपैक्येऽप्युपहितजीवभेदादसांकर्यमुक्तम्, सम्प्रति सूत्रे चकारसूचितं

रत्नप्रभाका अनुवाद

नरकी इत्यादि व्यवस्था और जीवके आविद्यक होनेसे विद्यासे मोक्ष इत्यादि उपपन्न होते हैं, ऐसा कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। जो कि भास्करका यह प्रलाप है—उपाधिके संसर्गसे प्रतिबिम्ब कल्पित नहीं है, किन्तु स्वरूपसे ही कल्पित है इससे कल्पित प्रतिबिम्बकी मुक्तिमें स्थिति न होनेसे जीवत्व नहीं है इत्यादि, उसका वह प्रलाप सिद्धान्तके रहस्यके अज्ञानसे उत्पन्न है, अतः उपेक्षणीय है। यदि शुक्तिमें रजतके समान दर्पणमें मुख कल्पित हो, तो 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार स्वरूप बाधके समान 'यह मुख नहीं है' ऐसा बाध प्रसक्त होगा। अतः 'दर्पणमें मुख नहीं है' इस प्रकार संसर्गमात्रका बाध होनेसे और 'मेरा मुख है' इस प्रकार अबाधित मुखके साथ अभेदज्ञान होनेसे संसृष्टरूपसे ही कल्पितत्व और प्रवेश-वाक्योंसे अविकृत ब्रह्म ही का प्रवेश कथित है, अत. स्वरूप कल्पना नहीं है। दर्पणटीकामें आचार्यने इस विषयमें अत्यन्त विचार किया है, अतः विराम करते हैं। इस प्रकार अपने मतमें स्वरूपके एक होनेपर भी उपहित जीवके

भाष्य

व्युदासेन च पारमार्थिकस्य ब्रह्मात्मभावस्योपदेशोपपत्तिः। येषां तु बहव आत्मानस्ते च सर्वे सर्वगतास्तेषामेवैष व्यतिकरः प्राप्नोति। कथम्? बहवो विभवश्चात्मानश्चैतन्यमात्रस्वरूपा निर्गुणा निरतिशयाश्च तदर्थं साधारणं प्रधानं तन्निमित्तैषां भोगापवर्गसिद्धिरिति सांख्याः। सति बहुत्वे विभुत्वे च घटकुड्यादिसमाना द्रव्यमात्रस्वरूपाः स्वतोऽचेतना आत्मानस्तदुपकरणानि चाऽणूनि मनांस्यचेतनानि। तत्रात्मद्रव्याणां मनोद्रव्याणां च संयोगान्नवेच्छादयो वैशेषिका आत्मगुणा उत्पद्यन्ते। ते चाऽव्यतिकरेण प्रत्येकमात्मसु समवयन्ति स संसारः। तेषां नवानामात्मगुणानामत्यन्तानुत्पादो मोक्ष इति काणादाः। तत्र सांख्यानां तावच्चैतन्यस्वरूपत्वात् सर्वात्मनां संनिधानाद्यविशेषाच्चैकस्य सुखदुःखसम्बन्धे सर्वेषां सुखदुःखसम्बन्धः

भाष्यका अनुवाद

होता है और इसलिए उसके नाशसे पारमार्थिक ब्रह्मात्मभावका उपदेश उपपन्न होता है। परन्तु जिनके मतमें आत्मा बहुत हैं और वे सब सर्वगत हैं, उनके मतमें यह व्यतिकर प्राप्त होता है। किस प्रकार? आत्मा बहुत और विभु हैं, चैतन्यमात्रस्वरूप हैं, निर्गुण और निरतिशय हैं उनके लिए प्रधान साधारण है और उसके कारणसे उनका भोग और अपवर्ग सिद्ध होता है, ऐसा सांख्य मानते हैं। आत्मा बहुत और विभु होकर घट, कुड्य आदिके सदृश, द्रव्यमात्रस्वरूप, स्वयं अचेतन हैं और उनके उपकरण मन अणु और अचेतन हैं। उनमें आत्मद्रव्य और मनोद्रव्यके संयोगसे इच्छा आदि नौ आत्माके विशेषगुण उत्पन्न होते हैं। और वे व्यतिकरके विना प्रत्येक आत्मामें समवायसंबन्धसे रहते हैं, वह संसार है, और उन नौ आत्मगुणोंकी अत्यन्त अनुत्पत्ति मोक्ष है, ऐसा कणादानुयायी मानते हैं। उनमें प्रथम सांख्योंके मतमें सब आत्माओंके चैतन्यस्वरूप होनेसे और संनिधान आदिके अविशेषसे

रत्नप्रभा

परेषां सांकर्यं वक्तुमुपक्रमते—येषामित्यादिना। बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाः नव आत्मविशेषगुणाः। सन्निधानादीत्यादिपदादौदासीन्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

साथ भेद होनेसे असाङ्कर्य है, ऐसा कहा जा चुका है, अब सूत्रमें चकारसे सूचित अन्योंका साङ्कर्य कहनेके लिए उपक्रम करते हैं—"येषाम्" इत्यादिसे। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना, ये नौ आत्माके विशेषगुण हैं, सन्निधानादि इत्यादि पदसे औदासीन्य कहा गया है।

भाष्य

प्राप्नोति। स्यादेतत्—प्रधानप्रवृत्तेः पुरुषकैवल्यार्थत्वाद् व्यवस्था भविष्यति। अन्यथा हि स्वविभूतिख्यापनार्था प्रधानप्रवृत्तिः स्यात्। तथा चाऽनिर्मोक्षः प्रसज्येतेति। नैतत्सारम्। नह्यभिलषितसिद्धिनिबन्धना व्यवस्था शक्या विज्ञातुम्, उपपत्त्या तु कयाचिद् व्यवस्थोच्येत। असत्यां पुनरुपपत्तौ कामं मा भूदभिलषितं पुरुषकैवल्यम्, प्राप्नोति तु व्यवस्थाहेत्वभावाद् व्यतिकरः।

भाष्यका अनुवाद

एकके सुख-दुःखके साथ संबन्ध होनेपर सबके सुख-दुःखके साथ संबन्ध प्राप्त होता है। परन्तु (सांख्य शंका करता है) प्रधानकी प्रवृत्ति पुरुषके कैवल्यके लिए होनेसे व्यवस्था होगी, क्योंकि नहीं तो प्रधानकी प्रवृत्ति अपनी विभूति दिखानेके लिए होगी। और उससे अनिर्मोक्ष प्रसक्त होगा। यह युक्त नहीं है, क्योंकि अभिलषितकी सिद्धिके आधारपर व्यवस्था नहीं की जा सकती है, परन्तु किसी उपपत्तिसे व्यवस्था की जा सकती है। उपपत्ति न होनेपर अभिलषित पुरुषकैवल्य नहीं होगा, प्रत्युत व्यवस्थाका

रत्नप्रभा

मुक्तम्। सांख्यः स्वाभिप्रायं शङ्कते—स्यादेतदिति। सर्वेषां पुंसां प्रकृति-सान्निध्याद्यविशेषेऽपि प्रतिपुरुषं नियमेन भोगापवर्गार्थं प्रवर्तते, तथा चोद्दे-श्यपुरुषार्थनियता प्रधानप्रवृत्तिरिति भोगादिव्यवस्था। अन्यथा—नियत-प्रवृत्त्यनङ्गीकारे स्वमाहात्म्यख्यापनार्था प्रधानस्य प्रवृत्तिरित्युद्देश्यविघातः स्यादि-त्यर्थः। जडप्रधानस्योद्देश्यविवेकाभावात् पुरुषार्थस्याऽप्यनागतस्याऽचेतनस्याऽ-नियामकत्वान्न व्यवस्था, मानयुक्तिशून्यत्वादित्याह—नैतदिति। यो हि नियामकाभावेनोद्देश्यविघातमापादयति तं प्रति तस्यैवाऽऽपादनमिष्टमिति भावः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

साङ्ख्य अपने अभिप्रायकी शङ्का करता है—"स्यादेतत्" इत्यादिसे। सब पुरुषोंका प्रकृतिके साथ सन्निधान समान है, तो भी प्रकृति ही प्रत्येक पुरुषमें नियमसे भोग और अपवर्गके लिए प्रवृत्त होती है। इसलिए उद्देश्य और पुरुषार्थसे प्रधानकी प्रवृत्ति नियत है, अतः भोगादिकी व्यवस्था उपपन्न होती है। यदि नियत प्रवृत्ति न मानी जाय, तो अपने माहात्म्यकी प्रसिद्धिके लिए प्रधानकी प्रवृत्ति है' इस प्रकार उद्देश्यका विघात प्रसक्त होगा, ऐसा अर्थ है। जड़ प्रधानको उद्देश्यका ज्ञान नहीं है और अनागत अचेतन पुरुषार्थ भी नियामक नहीं है, अतः व्यवस्था नहीं होगी, क्योंकि प्रमाण और युक्ति नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—"नैतत्" इत्यादिसे। जो नियामकके अभावसे उद्देश्य विघातका आपादन करता है, उसके प्रति उसीका आपादन इष्ट है, ऐसा भाव है।

भाष्य

काणादानामपि यदैकेनाऽऽत्मना मनः संयुज्यते तदात्मान्तरैरपि नान्तरीयकः संयोगः स्यात्, संनिधानाद्यविशेषात्। ततश्च हेत्वविशेषात् फलाविशेष इत्येकस्यात्मनः सुखदुःखयोगे सर्वात्मनामपि समानं सुखदुःखित्वं प्रसज्येत ॥५०॥

स्यादेतत्—अदृष्टनिमित्तो नियमो भविष्यतीति, नेत्याह—

भाष्यका अनुवाद

हेतु न होनेसे व्यतिकर प्राप्त होगा। काणादोंके मतमें भी जब एक आत्माके साथ मनका संयोग होता है, तब अन्य आत्माओंके साथ भी अवश्य संयोग होगा, क्योंकि संनिधान आदिका अविशेष है। और हेतुमें विशेष न होनेसे फलमें विशेष नहीं होगा, तो एक आत्मामें सुख और दुःखका सम्बन्ध होनेपर सब आत्माओंमें समान सुख-दुःख प्रसक्त होंगे ॥५०॥

यह इच्छा हो सकती है—अदृष्टके निमित्तसे नियम होगा। इसपर कहते हैं कि नहीं—यह शंका युक्त नहीं है—

रत्नप्रभा

तार्किकमतेऽपि भोगादिसाङ्कर्यमित्याह—काणादानामिति। हेतुः—मनःसंयोगः, फलम्—सुखादि ॥ ५० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तार्किक मतमें भी भोग आदिके साथ सांकर्य है ऐसा कहते हैं—'काणादानाम्' इत्यादिसे। हेतुः—मनका संयोग, फलम्—सुख आदि ॥५०॥

अदृष्टानियमात् ॥ ५१ ॥

पदार्थोक्ति—अदृष्टानियमात्—सांख्यमते प्रधानसमवेतस्यादृष्टस्य सर्वात्मसाधारणत्वात् [स दोषस्तदवस्थः] न्यायमतेऽपि अदृष्टहेतुमनःसंयोगस्य सर्वात्मसाधारणतया इदमस्याऽदृष्टम्, इदमस्येत्येवंरूपस्यादृष्टनियमस्याभावाद् फलानियमः]।

भावार्थ—सांख्यमतमें प्रधानमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले अदृष्टके सब आत्माओंके प्रति साधारण होनेसे वह दोष ज्योंका त्यों है। न्यायमतमें भी अदृष्टके उत्पादक होनेवाले मनःसंयोगके सब आत्माओंके प्रति साधारण होनेसे यह इसका अदृष्ट है और यह इसका, इस प्रकारके अदृष्टनियमका अभाव होनेसे फलसम्बन्धका नियम नहीं है।

भाष्य

बहुष्वात्मस्वाकाशवत् सर्वगतेषु प्रतिशरीरं बाह्याभ्यन्तराविशेषेण संनिहितेषु मनोवाक्कायैर्धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपार्ज्यते । सांख्यानां तावत्तदनात्मसमवायि प्रधानवर्ति प्रधानसाधारण्यान्न प्रत्यात्मं सुखदुःखोपभोगस्य नियामकमुपपद्यते । काणादानामपि पूर्ववत् साधारणेनात्ममनःसंयोगेन निर्वर्तितस्यादृष्टस्याप्यस्यैवात्मन इदमदृष्टमिति नियमे हेत्वभावादेष एव दोषः ॥ ५१ ॥

स्यादेतत्—अहमिदं फलं प्राप्नवानीदं परिहराणीत्थं प्रयतै इत्थं करवाणीत्येवंविधा अभिसंध्यादयः प्रत्यात्मं प्रवर्तमाना अदृष्टस्यात्मनां च स्वस्वामिभावं नियंस्यन्तीति । नेत्याह—

भाष्यका अनुवाद

आकाशके समान सर्वगत और प्रत्येक शरीरमें बाहर और भीतर समान रीतिसे संनिहित अनेक आत्माओंमें मन, वाणी और शरीर द्वारा धर्मलक्षण और अधर्मलक्षण अदृष्टका उपार्जन किया जाता है। और सांख्योंके मतमें वह अदृष्ट आत्मामें समवेत नहीं है, किंतु प्रधानमें रहता है और प्रधानके साधारण होनेसे प्रत्येक आत्मामें वह (अदृष्ट) सुख दुःखके उपभोगका नियामक हो, यह उपपन्न नहीं होता। काणादोंके मतमें भी मनके संयोगके समान साधारण आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न हुए अदृष्टके 'यह अदृष्ट इसी आत्माका है, इस नियममें हेतु न होनेसे यही दोष है ॥५१॥

यह शङ्का हो सकती है कि मैं इस फलको प्राप्त करूं, इस फलका परिहार करूं, इस प्रकार प्रयत्न करूँ और इस प्रकार करूँ, इस प्रकारके संकल्प जो कि प्रत्येक आत्मामें रहते हैं, वे अदृष्ट और आत्माके स्वस्वामिभावका नियमन करेंगे, इसपर नहीं ऐसा कहते हैं—

रत्नप्रभा

यदात्मादृष्टकृतो यो मनःसंयोगः स तदात्मन एव सुखादिहेतुरिति शङ्कते—स्यादेतदिति । सूत्रेण परिहरति—नेत्याहेति । पूर्ववत्—मनःसंयोगवत्, अदृष्टस्याऽपि सर्वात्मसाधारणत्वात् न व्यवस्थेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिस आत्माके अदृष्टसे मनका संयोग हो, वह उसी आत्मामें सुख आदिका हेतु है, इस प्रकार व्यवस्थाकी शङ्का करते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे । सूत्रसे परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे । पूर्ववत्—अर्थात् मनके संयोगके समान अदृष्टके भी सर्वात्मसाधारण होनेसे व्यवस्था नहीं है ऐसा अर्थ है ॥ ५१ ॥

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥५२॥

पदच्छेद—अभिसन्ध्यादिषु, अपि, च, एवम् ।

पदार्थोक्ति—अभिसन्ध्यादिष्वपि—साधारणमनःसंयोगसाध्येषु संकल्पादिष्वपि, चैवम्—अदृष्टनियमहेतुत्वमावः [इत्युक्तदोषस्तदवस्थः] ।

भाषार्थ—साधारणमनःसंयोगसे होनेवाले संकल्प आदि भी अदृष्ट-नियमके हेतु नहीं हैं, अतः उक्त दोष ज्योंका त्यों है ।

भाष्य

अभिसन्ध्यादीनामपि साधारणेनैवात्ममनःसंयोगेन सर्वात्मसंनिधौ क्रियमाणानां नियमहेतुत्वानुपपत्तेरुक्तदोषानुषङ्ग एव ॥ ५२ ॥

भाष्यका अनुवाद

साधारण आत्ममनःसंयोगसे सब आत्माओंकी सन्निधिमें उत्पन्न किये जानेवाले संकल्प आदि भी नियमके हेतु नहीं हो सकते हैं, इससे उक्त दोषकी प्राप्ति है ही ॥ ५२ ॥

रत्नप्रभा

रागादिनियमात्तज्जादृष्टनियम इत्याशङ्क्य उत्तरत्वेन सूत्रं गृह्णाति—स्यादेतदित्यादिना । उक्तदोषः—अनियम ॥ ५२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

राग आदिके नियमसे उससे उत्पन्न हुए अदृष्टका नियम है, ऐसी आशंका करके उत्तररूपसे अग्रिम सूत्रका ग्रहण करते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे । उक्त दोष अर्थात् अनियम ॥ ५२ ॥



अच्युतग्रन्थमालासे प्रकाशित पुस्तकोंका सूचीपत्र

(क) विभाग

१–**भगवन्नामकौमुदी**—[भगवन्नामकी महिमाका प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ] मीमांसाके धुरन्धर विद्वान् श्रीलक्ष्मीधरकी कृति, अनन्तदेवरचित 'प्रकाश' टीकासहित । सम्पादक–आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री ।

पृ० सं० १५०, मू.—आ. १०

२–**भक्तिरसायन**—[भक्तिस्वरूपका परिचायक अत्युत्तम ग्रन्थ] यतिवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीरचित प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकाररचित शेष दो उल्लासोंमें आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री रचित टीकासे विभूषित। सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री । पृ० सं० १७०, मू.–आ. १२

३–**शुल्बसूत्र**—[कात्यायनश्रौतसूत्रका परिशिष्ट अंश] वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़की बनाई हुई सरलवृत्तिसहित । सं०—वेदाचार्य विद्याधर गौड़ ।

पृ० सं० ६०, मू.—आ. ४

४–**कात्यायनश्रौतसूत्र**—[इसमें दर्शपूर्णमाससे लेकर अश्वमेध, पितृमेधपर्यन्त कितने ही यज्ञोंकी विधियां साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं] महर्षि कात्यायनप्रणीत, वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़ द्वारा रचित सुसरल वृत्तिसे अलंकृत। सं०—वेदाचार्य विद्याधर गौड़ । पृ० सं० लगभग १०००, मू. –रु. ६

५–**प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि**—(प्रथम भाग) [शाङ्करभाष्यानुसार वेदान्तका सुसरल पद्यमय ग्रन्थ] श्रीसदानन्द व्यासविरचित, ग्रन्थकाररचित सरल संस्कृत टीकासहित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री ।

पृ० स० ३४०, मू.–रु. २

६–**भक्तिरसामृतसिन्धु**—[भक्तिरससे परिपूर्ण यह ग्रन्थ सचमुच पीयूषसिन्धु है] श्रीरूप गोस्वामीप्रणीत, श्रीजीव गोस्वामीप्रणीत दुर्गमसङ्गमनी टीकासहित । सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री । पृ० सं० ६२५, मू०–रु०३

७–**प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि**—(द्वितीय भाग) पृ० सं० ४५० मू०–रु. २ आ. ४

८–**तिथ्यर्क**—[तिथियोंके निर्णय आदिपर अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ] श्रीदिवाकर विरचित । सं०साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री ।

पृ० सं० ३४०, मू०–रु० १ आ० ८

९–परमार्थसार—[वेदान्तका अति प्राचीन ग्रन्थ] श्रीपतञ्जलि भगवान्‌की कृति, प्राचीन टीका तथा टिप्पणीसे विभूषित। सं०—न्यायव्याकरणाचार्य श्रीसूर्यनारायणशुक्ल। पृ० सं० १००, मू.–आ. ६

१०–प्रेमपत्तन—[श्रीकृष्णभक्तिसे सराबोर चैतन्य-सम्प्रदायका अपूर्व ग्रन्थ] भक्तवर रसिकोत्तंसकी कृति तथा अद्भुतप्रणीत टीकासे अलंकृत। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ. सं. २३०, मू.–रु.१

(ख) विभाग

१–खण्डनखण्डखाद्य—कवितार्किकशिरोमणि श्रीहर्षरचित, पंडितवर श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल विरचित भाषानुवादसे विभूषित।

पृ० सं० ४३५ (बड़ा आकार) मू.–रु. २ आ. १२

२–काशी-केदार-माहात्म्य—[ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत] साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्द त्रिपाठीद्वारा विरचित भाषानुवादसहित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ० सं० २६+६०४, मू.–रु. २ आ. ८

३–सिद्धान्तबिन्दु—(वेदान्तका प्रमेयबहुल अपूर्व ग्रन्थ) आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीविरचित, भाषानुवाद तथा टिप्पणीसे विभूषित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ० सं २८०, मू. रु. १ आ. ६

५–प्रकरणपञ्चक—भगवान् शङ्कराचार्यके आत्मबोध, प्रौढानुभूति, तत्त्वोपदेश आदि ५ प्रकरण-ग्रन्थोंका भाषानुवादसहित संग्रह। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ० सं० १२१, मू.–आ. ८

यन्त्रस्थ ग्रन्थ—

१ पदसन्दर्भ, विविध टीकाओंसे विभूषित।

मिलनेका पता—

(१) अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।

(२) गीताप्रेस, गोरखपुर।



नोट—अच्युतग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहकोंको उक्त सभी पुस्तकें पौन मूल्यपर दी जाती हैं। 'अच्युत' मासिक पत्रके स्थायी ग्राहक (ख) विभागके स्थायी ग्राहक समझे जायँगे।

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ।।) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मंगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।



विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

Cover printed at the Indian Press, Ltd.,
Benares

अच्युत



वर्ष २ } संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी { अङ्क ४

ज्येष्ठ पूर्णिमा

१९९२

अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रति का—॥)

[नोट—दूकानदारों तथा स्थायी ग्राहकोंके लिए २५% कमीशन काटकर ४॥) वार्षिक]

सम्पादक—

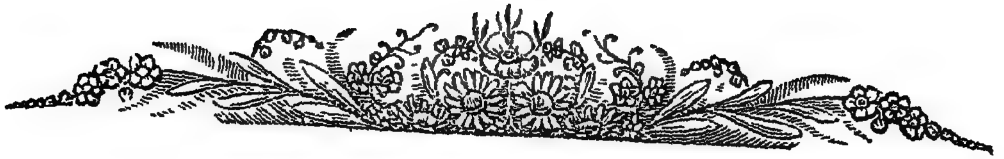
पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट काशी ।

मुद्रक—माधव रामचन्द्र काले, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी ।



अच्युत

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ पंक्ति
५३ वाँ सूत्र—प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्	...	...	१५३५ – १
प्रदेशकृत व्यवस्थाका खण्डन	...	...	१५३५ – १५
आकाश आदिके विभुत्वका खण्डन	...	...	१५३९ – ३

प्राणोत्पत्त्यधिकरण [पृ० १५४१ – १५५५]

चतुर्थपादके प्रथम अधिकरणका सार	...	...	१५४१ – ८
प्रथम सूत्र—तथा प्राणाः ...	...	...	१५४२ – १
'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि श्रुतियोंमें प्राणकी उत्पत्ति न होनेसे प्राण नित्य हैं [पूर्वपक्ष]	...	...	१५४२ – १०
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन [सिद्धान्त]	...	...	१५४४ – ५
प्रकृत उपमानके न रहनेसे तथाशब्द असम्बद्ध है		...	१५४४ – ५
उदाहरणमे गृहीत उपमानसे तथाशब्दकी उपपत्ति		...	१५४५ – ६
व्यवाहित उपमानके साथ सम्बन्ध भी तन्त्रसम्मत है		...	१५४६ – ४
द्वितीय सूत्र—गौण्यसम्भवात्	...	...	१५४९ – १
गौणी उत्पत्तिश्रुतिके असम्भवका कथन [सिद्धान्त]		...	१५४९ – ९
वियदाधिकरण और प्राणोत्पत्त्यधिकरणमें पठित 'गौण्यसम्भवात्' सूत्रका पृथक्रूपसे व्याख्यान	...	...	१५५१ – ४
तृतीय सूत्र—तत्प्राक्श्रुतेश्च ...	...	...	१५५२ – १५
आकाश और प्राणकी जन्मश्रुति मुख्य है ...		...	१५५२ – २२
चौथा सूत्र—तत्पूर्वकत्वाद्वाचः	...	...	१५५४ – १
प्राण ब्रह्मजन्य है, उसमें श्रुतियोंका प्रामाण्यरूपसे उपादान		...	१५५४ – ९

विषय	पृष्ठ पंक्ति

सप्तगत्यधिकरण [पृ० १५५६ – १५६७]

द्वितीय अधिकरणका सार ··· ··· ···	१५५६ – ६
५ वाँ सूत्र—सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ··· ···	१५५६ – १२
प्राणकी संख्याके विषयमें श्रुतिद्वारा संशयका प्रदर्शन ···	१५५७ – ४
प्राण सात हैं [पूर्वपक्ष] ··· ···	१५५८ – ५
६ ठा सूत्र—हस्तादयस्तु— ··· ···	१५६० – १
उक्त शङ्काके परिहारद्वारा एकादश प्राण-इन्द्रियोंका स्थापन [सिद्धान्त]	१५६० – १२
एकादशसे अधिक कहे गये प्राणोंका उसीमें अन्तर्भाव होता है ··	१५६१ – ७
पञ्चम और षष्ठ सूत्रकी अन्य व्याख्या ··· ···	१५६४ – २

प्राणाणुत्वाधिकरण [पृ० १५६८ – १५७०]

तृतीय अधिकरणका सार ··· ···	१५६८ – ६
७ वाँ सूत्र—अणवश्च ··· ··· ···	१५६८ – १३
प्राणोंमें अणुत्व—परिच्छिन्नत्वका कथन ··· ···	१५६९ – ३

प्राणश्रैष्ठ्याधिकरण [पृ० १५७१ – १५७४]

चतुर्थ अधिकरणका सार ··· ··· ···	१५७१ – ६
८ वाँ सूत्र—श्रेष्ठश्च ··· ··· ···	१५७१ – १३
मुख्य प्राण भी इन्द्रियोंके समान ब्रह्मका विकार है [सिद्धान्त]	१५७२ – २

वायुक्रियाधिकरण [पृ० १५७५ – १५८७]

पञ्चम अधिकरणका सार ··· ··· ···	१५७५ – ६
९ वाँ सूत्र—न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ··· ···	१५७६ – १
मुख्य प्राण वायुरूप या क्रियारूप है [पूर्वपक्ष] ···	१५७६ – १३
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन [सिद्धान्त] ··· ···	१५७७ – ५
सम्पूर्ण करणका व्यापार भी प्राण नहीं है ··· ···	१५७८ – ५
'यः प्राणः स वायुः' इस श्रुतिकी सिद्धान्तमें व्यवस्था ···	१५७९ – ७
१० वाँ सूत्र—चक्षुरादिवत्तु— ··· ···	१५८१ – १
प्राण जीवका उपकरण है ··· ···	१५८१ – ११
११ वाँ सूत्र—अकरणत्वाच्च— ··· ···	१५८३ – १
प्राणको विषयान्तर प्रसङ्ग नहीं है ··· ···	१५८३ – १२

विषय	पृष्ठ पंक्ति
मुख्य प्राणके विशेष कार्यका प्रदर्शन	१५८४ – २
१२ वॉ सूत्र—पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते	१५८५ – २१
मुख्य प्राणका अन्य भी कार्य है	१५८६ – २
प्राण आदिके स्वरूपका कथन	१५८६ – ४

श्रेष्ठाणुत्वाधिकरण [पृ० १५८८-१५९०]

षष्ठ अधिकरणका सार	१५८८ – ६
१३ वॉ सूत्र—अणुश्च	१५८८ – १२
मुख्य प्राण भी अणु है	१५८९ – २
श्रुतिमें कथित प्राणके विभुत्वकी व्यवस्था	१५९० – २

जोतिराद्यधिकरण [पृ० १५९१–१५९९]

सप्तम अधिकरणका सार	१५९१ – ६
१४ वॉ सूत्र—ज्योतिराद्यधिष्ठानन्तु—	१५९१ – १३
प्राण—इन्द्रियॉ अपने सामर्थ्यसे ही प्रवृत्त होती हैं [पूर्वपक्ष] ...	१५९२ – ४
अग्नि आदि देवताओसे अधिष्ठित प्राण प्रवृत्त होते हैं [सिद्धान्त]	१५९३ – ४
इसी सिद्धान्तमें अनेक श्रुति और स्मृतियोका प्रमाणरूपसे उपन्यास	१५९३ – ७
१५ वॉ सूत्र—प्राणवता शब्दात्	१५९६ – १
'जीवके ही साथ प्राणोका सम्बन्ध है' अतः भोक्ता जीव है, अधिष्ठात्री देवता नहीं	१५९६ – १०
१६ वॉ सूत्र—तस्य च नित्यत्वात्	१५९७ – २१
अन्य रीतिसे देवताओंमें भोक्तृत्वका निरसन ...	१५९८ – २

इन्द्रियाधिकरण [पृ० १६००–१६०८]

अष्टम अधिकरणका सार	१६०० – ६
१७वॉ सूत्र—त इन्द्रियाणि—	१६०१ – १
इन्द्रियॉ मुख्य प्राणकी वृत्तियॉ हैं [पूर्वपक्ष] ...	१६०१ – १२
इन्द्रियॉ मुख्य प्राणसे अन्य तत्व हैं [सिद्धान्त] ...	१६०२ – ६
प्राणमें इन्द्रियत्वका खण्डन	१६०४ – २
१८वॉ सूत्र—भेदश्रुतेः	१६०५ – १

विषय	पृष्ठ पंक्ति
मुख्यप्राणसे अन्य प्राण—इन्द्रियाँ अन्य तत्व हैं उसमें अन्य श्रुतिरूप प्रमाणका कथन	१६०५ – ९
१९वाँ सूत्र—वैलक्षण्याच्च	१६०६ – ११
प्राण और इन्द्रियोंमे वैलक्षण्यका कथन	१६०७ – २
'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' इस श्रुतिसे पूर्वपक्षी द्वारा प्रतिपादित मुख्य प्राण और अमुख्य प्राणके अभेदका खण्डन ...	१६०७ – ६

संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरण पृ० [१६०९–१६२०]

नवम अधिकरणका सार	१६०९ – ६
२० वाँ सूत्र—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु—	१६०९ – १४
नाम और रूपकी व्याक्रिया जीवकर्तृक है [पूर्वपक्ष] ...	१६१० – ६
नाम और रूपका व्याकर्ता ईश्वर है [सिद्धान्त] ...	१६१२ – ६
'जीवेन' इस पदका 'अनुप्रविश्य' इसके साथ सम्बन्ध है 'व्याकरवाणि' इसके साथ नहीं	१६१३ – ७
२१वाँ सूत्र—मांसादि भौमम्—	१६१७ – १
मांस आदि भूमिके कार्य हैं	१६१७ – १२
२२वां सूत्र—वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः	१६१९ – १
पृथ्वी आदिके आधिक्यसे पृथ्वी, जल आदिका व्यवहार होता है	१६१९ – १०



ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष २ } ज्येष्ठ पूर्णिमा १९९२ { अङ्क ५

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

॥ श्रीः ॥

कौपीन-पञ्चकम् ।



वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तो भिक्षान्नमात्रेण च तुष्टिमन्तः ।
विशोकमन्तःकरणे रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥१॥

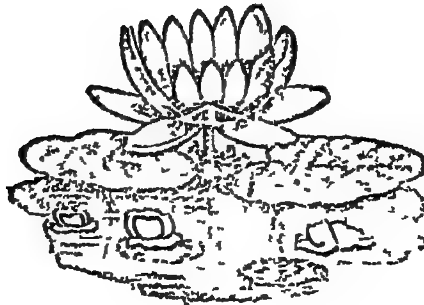
मूलं तरोः केवलमाश्रयन्तः पाणिद्वयं भोक्तुमन्त्रयन्तः ।
कन्थामिव श्रीमपि कुत्सयन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥२॥

देहादिभावं परिवर्तयन्तः आत्मानमात्मन्यवलोकयन्तः ।
नान्तं न मध्यं न बहिः स्मरन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥३॥

स्वानन्दभावे परितुष्टिमन्तः संशान्तसर्वेन्द्रियतुष्टिमन्तः ।
अहर्निशं ब्रह्मणि ये रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥४॥

पञ्चाक्षरं पावनमुच्चरन्तः पतिं पशूनां हृदि भावयन्तः ।
भिक्षाशिनो दिक्षु परिभ्रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥५॥

—श्रीशङ्कराचार्याः ।



प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥५३॥

पदच्छेद—प्रदेशात्, इति, चेत्, न, अन्तर्भावात्।

पदार्थोक्ति—प्रदेशात्—आत्मनां विभुत्वेऽपि यादृशयादृशशरीरावच्छिन्ने आत्मप्रदेशे मनःसंयोगस्तादृशात्मप्रदेशात् [अभिसन्ध्यादिनियमः स्यात्] इति चेन्न, अन्तर्भावात्—सर्वेषामात्मनां विभुत्वाविशेषात् कृत्स्नशरीरेष्वन्तर्भावात् [अस्यैतच्छरीरमिति नियमाभावेन पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गस्तदवस्थ एव]।

भाषार्थ—आत्माओंके विभु होनेपर भी जिस शरीरावच्छिन्न आत्मप्रदेशमें मनःसंयोग हो, उसी आत्मप्रदेशसे अभिसन्ध्यादिका नियम होगा, यदि ऐसा कहो, तो युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मामें विभुत्वके साधारण होनेसे सभी शरीरोंमें उसका अन्तर्भाव है, अतः 'इसका यह शरीर है' इस प्रकार नियमके न रहने के कारण पूर्वोक्त दोषका प्रसङ्ग तदवस्थ ही है।

भाष्य

अथोच्येत—विभुत्वेऽप्यात्मनः शरीरप्रतिष्ठेन मनसा संयोगः शरीरावच्छिन्न एवात्मप्रदेशे भविष्यति, अतः प्रदेशकृता व्यवस्थाऽभिसंध्यादीनामदृष्टस्य सुखदुःखयोश्च भविष्यतीति। तदपि नोपपद्यते। कस्मात्? अन्तर्भावात्। विभुत्वाविशेषाद्धि सर्व एवात्मानः सर्वशरीरेष्वन्तर्भवन्ति।

भाष्यका अनुवाद

यदि ऐसा कहा जाय कि यद्यपि आत्मा विभु है, तो भी शरीरमें स्थित मनके साथ उसका संयोग शरीरमें मर्यादित आत्मप्रदेशमें ही होगा, इसलिए अभिसन्धि आदिकी, अदृष्टकी और सुखदुःखकी प्रदेशकृत व्यवस्था होगी, वह भी उपपन्न नहीं है। किससे? अन्तर्भावसे। क्योंकि सब आत्माओंके

रत्नप्रभा

आत्मान्तरप्रदेशस्य परदेहे अनन्तर्भावात् व्यवस्था इति शङ्कार्थः। किं मनसा संयुक्तात्मैवात्मनः प्रदेशः, उत कल्पितः? आद्ये सर्वात्मनां सर्वदेहेषु अन्तर्भाव

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य आत्माके प्रदेशका परदेहमें अन्तर्भाव नहीं है, अतः व्यवस्था होगी, ऐसा शङ्काका अर्थ—अभिप्राय है। क्या मनके साथ संयुक्त हुआ आत्मा ही आत्माका प्रदेश है या कल्पित है? प्रथम पक्षमें सब आत्माओंका सब देहोंमें अन्तर्भाव होनेसे अव्यवस्था है। द्वितीय पक्षको दूषित करते हैं—

भाष्य

तत्र न वैशेषिकैः शरीरावच्छिन्नोऽप्यात्मनः प्रदेशः कल्पयितुं शक्यः। कल्प्यमानोऽप्ययं निष्प्रदेशस्यात्मनः प्रदेशः काल्पनिकत्वादेव न पारमार्थिकं कार्यं नियन्तुं शक्नोति। शरीरमपि सर्वात्मसंनिधावुत्पद्यमानमस्यैवात्मनो नेतरेषामिति न नियन्तुं शक्यम्। प्रदेशविशेषाभ्युपगमेऽपि च

भाष्यका अनुवाद

विभुत्वके समान होनेसे सब आत्माएँ सब शरीरोंमें अन्तर्भूत होंगी। इस प्रकार सब आत्माओंका सब शरीरोंमें अन्तर्भाव होनेपर वैशेषिक लोग आत्माके शरीरावच्छिन्न प्रदेशकी भी कल्पना नहीं कर सकते हैं। निरवयव आत्माके प्रदेशकी किसी प्रकार कल्पना की जाय, तो वह काल्पनिक होनेसे ही पारमार्थिक कार्यका नियन्त्रण नहीं कर सकता। सब आत्माओंकी सन्निधिमें उत्पन्न हुआ शरीर भी इसी आत्माका है अन्य आत्माओंका नहीं, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता है। प्रदेशविशेष स्वीकार करनेपर भी समान सुखदुःख भोगनेवाले

रत्नप्रभा

इति अव्यवस्था। द्वितीयं दूषयति—तत्र न वैशेषिकैरिति। सर्वात्मसांनिध्ये सति कस्यचिदेव प्रदेशः कल्पयितुमशक्यः, नियमकाभावात् इत्यर्थः। प्रदेशकल्पनामङ्गीकृत्याप्याह—कल्प्येति। कार्यम्—अभिसंध्यादिकम्। यस्यात्मनो यच्छरीरं तत्र तस्यैव भोग इति व्यवस्थामाशङ्क्याह—शरीरमपीति। प्रदेशपक्षे दोषान्तरमाह—प्रदेशेति। यस्मिन्नात्मप्रदेशेऽदृष्टोत्पत्तिः स किं चलः स्थिरो वा? नाद्यः, अचलेंऽशिन्यंशस्य चलनविभागयोरसंभवात् अण्वात्मवादापाताच्च। द्वितीये तस्मिन्नेव प्रदेशे परस्यापि भोगदर्शनात् अदृष्टमस्तीत्येकेनापि शरीरेण द्वयोरात्मनोर्भोगप्रसङ्गः। यद्यात्मभेदात्प्रदेशयोर्भेदस्तदापि तयोरेकदेहान्तर्भावाद् भोगसांकर्यं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तत्र न वैशेषिकै." इत्यादिसे। सब आत्माओंके सान्निध्य होनेपर भी किसी एकके ही प्रदेशकी कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि किसकी कल्पना की जाय, इसमें नियामक कोई नहीं है, ऐसा अर्थ है। प्रदेशकी कल्पनाका स्वीकार करके भी कहते हैं—"कल्प्य" इत्यादिसे। कार्य—अभिसंधि आदि। जिस आत्माका जो शरीर है, उसमें उसीका ही भोग है, ऐसी व्यवस्थाकी आशङ्का करके कहते हैं—"शरीरमपि" इत्यादिसे। प्रदेश पक्षमें अन्य दोष कहते हैं—"प्रदेश" इत्यादिसे। जिस आत्मप्रदेशमें अदृष्ट उत्पन्न होता है, वह चल है या स्थिर है? प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि अंशीके अचल होनेपर अंशके चलन और विभागका संभव नहीं है और 'आत्मा अणु है' इस वादका प्रसङ्ग आवेगा।

भाष्य

द्वयोरात्मनोः समानसुखदुःखभाजोः कदाचिदेकेनैव तावच्छरीरेणोपभोगसिद्धिः स्यात्। समानप्रदेशस्यापि द्वयोरात्मनोरदृष्टस्य संभवात्। तथाहि—देवदत्तो यस्मिन्प्रदेशे सुखदुःखमन्वभूत्तस्मात्प्रदेशादपक्रान्ते तच्छरीरे यज्ञदत्त-

भाष्यका अनुवाद

दो आत्माओंका उपभोग कदाचित् एक ही शरीरसे सिद्ध हो जायगा, क्योंकि दो आत्माओंका अदृष्ट एक ही प्रदेशमें हो, ऐसा सम्भव है। जैसे कि जिस प्रदेशमें देवदत्तने सुखदुःखका अनुभव किया, उस प्रदेशसे उसका शरीर दूर जाय और यज्ञदत्तका शरीर उस प्रदेशमें प्राप्त हो, तो उसको भी दूसरे के समान ही सुखदुःखका अनुभव देखा जाता है, वह अनुभव यदि देवदत्त और यज्ञदत्तका अदृष्ट समानप्रदेशवाला न हो, तो नहीं होगा। और प्रदेश-

रत्नप्रभा

तदवस्थं सावयवात्मवादप्रसङ्गश्च। किञ्च यत्र यत्रात्मनः प्रदेशे शरीरादिसंयोगाददृष्टमुत्पन्नं तत्तत्रैवाचलप्रदेशे स्थितमिति स्वर्गादिशरीरावच्छिन्नात्मन्यदृष्टाभावाद् भोगो न स्याद् अतः प्रदेशभेदो न व्यवस्थापकः। यत्त्वत्रोत्पन्नमदृष्टं स्वाश्रये यत्र क्वचिद् भोगहेतुरिति स्वर्गादिभोगसिद्धिरिति। तन्न। भोगशरीराद् दूरस्थादृष्टे मानाभावादिति भावः। यदपि केचिदाहुः—मनस एकत्वेऽप्यात्मनां भेदेन संयोगव्यक्तीनां भेदात् कयाचित् संयोगव्यक्त्या कस्मिंश्चिदेवात्मन्यदृष्टादिकमिति असाङ्कर्यमिति तन्न। संयोगव्यक्तीनां वैजात्याभावेन सर्वासामेवैकदेहान्तःस्थसर्वात्मस्वदृष्टहेतुत्वा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

द्वितीय पक्षमें उसी प्रदेशमें अन्यका भी भोग देखा जाता है, इसलिए अदृष्टके अस्तित्वसे एक शरीरमें दो आत्माओंका भोग प्रसक्त होगा। यदि आत्माके भेदसे प्रदेशका भेद हो, तो भी उन दोनोंका एक देशमें अन्तर्भाव होनेसे भोगका सांकर्य ज्यों-का-त्यों है और आत्मा सावयव है, ऐसे वादका प्रसंग आवेगा। और जिस जिस आत्मप्रदेशमें शरीर आदि संयोगसे अदृष्ट उत्पन्न होता है, वह उसी अचल प्रदेशमें स्थित है, इसलिए स्वर्गादिशरीरावच्छिन्न आत्मामें अदृष्टके न होनेसे भोग न होगा, इससे प्रदेशका भेद व्यवस्थापक नहीं है। और यहां उत्पन्न हुआ अदृष्ट अपने आश्रयमें चाहे जहां भोगका हेतु होनेसे स्वर्गादि भोग सिद्ध होता है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि भोगशरीरसे अदृष्ट दूर रहे, इसमें प्रमाण नहीं है, यह भाव है। कितने ही जो ऐसा कहते हैं कि मनके एक होनेपर भी आत्माके भेदसे संयोगव्यक्तियोंका भेद होता है, किसी एक संयोगव्यक्तिसे किसी एक ही आत्मामें अदृष्ट आदि होते हैं, इसलिए साकर्य नहीं है, यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि संयोग व्यक्तियोंके सजातीय होनेसे सभी व्यक्तियां एक देहके भीतर सब आत्माओंमें अदृष्टका हेतु होंगी, ऐसा प्रसङ्ग आवेगा। इससे सब

भाष्य

शरीरे च तं प्रदेशमनुप्राप्ते तस्यापीतरेण समानः सुखदुःखानुभवो दृश्यते स न स्याद्यदि देवदत्तयज्ञदत्तयोः समानप्रदेशमदृष्टं न स्यात्। स्वर्गाद्य-नुपभोगप्रसङ्गश्च प्रदेशवादिनः स्यात्। ब्राह्मणादिशरीरप्रदेशेष्वदृष्टनिष्पत्तेः प्रदेशान्तरवर्तित्वाच्च स्वर्गाद्युपभोगस्य। सर्वगतत्वानुपपत्तिश्च बहूनामात्मनां, दृष्टान्ताभावात्। वद तावत्त्वं के बहवः समानप्रदेशाश्चेति। रूपादय इति चेत्, न; तेषामपि धर्म्यंशेनाभेदाल्लक्षणभेदाच्च। न तु बहूनामात्मनां

भाष्यका अनुवाद

वादीको स्वर्गादिके अनुपभोगका प्रसङ्ग आवेगा, क्योंकि ब्राह्मण आदि शरीर-प्रदेशोंमें अदृष्ट निष्पन्न होता है और स्वर्गादिका उपभोग अन्य प्रदेशमें है। और अनेक आत्मा सर्वगत हों, यह युक्त नहीं है, क्योंकि इसमें दृष्टान्तका अभाव है। तुम कहो तो सही कि बहुत और समान प्रदेशवाले कौनसे पदार्थ हैं? अनेक और समान देशवाले रूपादि हैं, यदि ऐसा कहो, तो युक्त नहीं है,

रत्नप्रभा

पत्तेः। तथा च सर्वात्मनामेकस्मिन् देहे भोक्तृत्वं दुर्वारम्। किञ्च बहूनां विभुत्वमङ्गीकृत्य सांकर्यमुक्तं, सम्प्रति कर्तॄणां विभुत्वमसिद्धम् 'अहमिहैवास्मि' इत्यल्पत्वानुभवात् मानाभावात् च इत्याह—सर्वगतत्वानुपपत्तिश्चेति। किञ्च बहूनां विभुत्वे समानदेशत्वं वाच्यं, तच्च अयुक्तम्, अदृष्टत्वात्, इत्याह—वदेति। ननु रूपरसादीनाम् एकघटस्थत्वं दृष्टमिति चेत्, नायमस्मत्संमतो दृष्टान्तः, रूपस्य तेजोमात्रत्वाद्रसस्य जलमात्रत्वाद्गन्धस्य पृथ्वीमात्रत्वादित्येवं तत्तद्गुणस्य स्वस्वधर्म्यं-शेनाभेदात्तेजआदिधर्म्यतिरिक्तघटाभावात्। किञ्चात्मनां बहुत्वमप्यसिद्धम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्माओंका एकही देहमें भोक्तृत्व दुर्वार हो जायगा। अनेक आत्माओंका विभुत्व स्वीकार करके सांकर्य कहा जा चुका है, अब कहते हैं कि कर्ताओंका विभुत्व असिद्ध है, क्योंकि 'मैं यहीं हूँ' ऐसे अल्पत्वका अनुभव होता है और विभुत्वमें प्रमाणका अभाव है, ऐसा कहते हैं—"सर्वगतत्वानुप-पत्तिश्च" इत्यादिसे। और अनेक आत्मा विभु हैं, तो वे समान देशमें हैं, ऐसा कहना चाहिए। परन्तु वह अयुक्त है, क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता, ऐसा कहते हैं—"वद" इत्यादिसे। परन्तु रूप, रस आदि एक घटमें स्थित देखे जाते हैं, यदि ऐसा कहोगे, तो यह दृष्टान्त हमें सम्मत नहीं है, क्योंकि रूप तेजमात्र है, रस जलमात्र है और गन्ध पृथिवीमात्र है, इस प्रकार तत्-तत् गुण अपने अपने धर्मीके अंशरूपसे धर्मीसे अभिन्न हैं, अतः तेज आदि धर्मीसे भिन्न घटका अभाव है। और आत्मा अनेक हैं, यह भी असिद्ध है, क्योंकि आत्मत्वरूप-

भाष्य

लक्षणभेदोऽस्ति । अन्त्यविशेषवशाद्भेदोपपत्तिरिति चेत्, न; भेदकल्पनाया अन्त्यविशेषकल्पनायाश्चेतरेतराश्रयत्वात् । आकाशादीनामपि विभुत्वं ब्रह्म-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि वे भी समान प्रदेशवाले नहीं हैं, क्योंकि धर्मीके अंशरूपसे अभिन्न हैं और उनके लक्षणमें भेद है, परन्तु बहुत आत्माओंका लक्षणमें भेद नहीं है । अन्त्यविशेषके कारण भेद उपपन्न होगा, यदि ऐसा कहोगे, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि भेदकी कल्पना और अन्त्यविशेषकी कल्पनामें अन्योन्याश्रय है । आकाशादिका भी विभुत्व ब्रह्मवादीके मतमें असिद्ध है,

रत्नप्रभा

आत्मत्वरूपलक्षणस्याभेदात् । तथा च देवदत्तात्मा यज्ञदत्तात्मनः न भिन्नः, आत्मत्वात्, यज्ञदत्तात्मवत् । अत्र वैशेषिकः शङ्कते—अन्त्यविशेषेति । नित्यद्रव्यमात्रवृत्तयो विशेषाः, ते च स्वयं स्वाश्रयव्यावर्तका एव न स्वेषां व्यावर्तकमपेक्षन्त इत्यन्त्या उच्यन्ते । तथा च विशेषरूपलक्षणभेदाद् भवत्यात्मभेद इत्यर्थः । न तावदात्मन्यनात्मनः सकाशाद् भेदज्ञानार्था विशेषकल्पना, आत्मत्वादेवानात्मभेदसिद्धेः । नाप्यात्मनां मिथो भेदज्ञानार्थं तत्कल्पना, आत्मभेदस्याद्याप्यसिद्धेः । न च विशेषभेदकल्पनादेवात्मभेदकल्पना युक्ता, आत्मभेदज्ञप्तावात्मसु विशेषभेदसिद्धिस्तत्सिद्धौ तज्ज्ञप्तिरित्यन्योन्याश्रयादिति परिहारार्थः । यस्तु बहूनां विभुत्वे आकाशदिक्कालदृष्टान्त इति सोऽप्यसम्मत इत्याह—आकाशादीनामिति । विभुत्वस्यैकवृत्तित्वे लाघवान्न विभुभेदः । यथैकस्मिन्नाकाशे भेरीवीणादिभेदेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

लक्षण समान है, उस लक्षणमें भेद नहीं है । इसलिए देवदत्तकी आत्मा यज्ञदत्तकी आत्मासे भिन्न नहीं है, आत्मा होनेसे, यज्ञदत्तकी आत्माके समान । यहां वैशेषिक शंका करता है—"अन्त्यविशेष" इत्यादिसे । नित्यद्रव्यमात्रमें जिसकी वृत्ति है वह, विशेष है और वह विशेष अपने आप आश्रयका व्यावर्त्तक है, इसलिए उसको अपने व्यावर्त्तक की अपेक्षा नहीं है, इस कारणसे वह अन्त्य कहलाता है । इसलिए विशेषरूपलक्षणभेदसे आत्माका भेद होता है, ऐसा अर्थ है । आत्माका अनात्मासे भेद जाननेके लिए विशेषकी कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि वे आत्मा हैं, इसीसे—आत्मस्वरूपसे वे अनात्मासे भिन्न हैं, ऐसा सिद्ध होता है । इसी प्रकार आत्माओंका परस्पर भेद जाननेके लिए विशेषकी कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि आत्माका भेद अद्यापि असिद्ध है । इसी प्रकार विशेषभेदकी कल्पनासे भी आत्मभेदकी कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मभेदके ज्ञान होनेपर आत्मामें विशेषभेद सिद्ध होता है और उसके सिद्ध होनेपर आत्मभेदका ज्ञान सिद्ध होता है, ऐसा अन्योन्याश्रय होता है, इस प्रकार शङ्काका परिहार है ।

भाष्य

वादिनोऽसिद्धं कार्यत्वाभ्युपगमात्। तस्मादात्मैकत्वपक्ष एव सर्वदोषाभाव इति सिद्धम् ॥ ५३ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ
शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य
तृतीयः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि वह कार्य है, ऐसा वे स्वीकार करते हैं। इसलिए आत्माके एकत्वपक्षमें ही सब दोषोंका अभाव है, ऐसा सिद्ध होता है ॥ ५३ ॥

यतिवर श्री भोलेबाबा विरचित शाङ्करभाष्यभाषानुवादमें द्वितीय अध्यायका
तृतीय पाद समाप्त।

रत्नप्रभा

तारमन्द्रादिशब्दव्यवस्था, एवमेकस्मिन्नप्यात्मनि बुद्ध्युपाधिभेदेन सुखादिव्यवस्थोपपत्तेरात्मभेदेऽपि व्यवस्थानुपपत्तेः उक्तत्वात् मृषा भेदकल्पना इत्युपसंहरति—तस्मादिति। एवं भूतमोक्षश्रुतीनां विरोधाभावाद् ब्रह्मण्यद्वये समन्वय इति सिद्धम् ॥५३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य
श्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसादर्शन
भाष्यव्याख्यायां रत्नप्रभायां द्वितीयाध्यायस्य
तृतीयः पादः समाप्तः ॥ २ ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि अनेकोंके विभु होनेमें आकाश, दिक् और कालके दृष्टान्त दिये जायं, तो वे भी असम्मत हैं, ऐसा कहते हैं—"आकाशादीनाम्" इत्यादिसे। विभुत्व एकमें श्रुति होनेसे लाघव है अतः विभुभेद युक्त नहीं है। जैसे एक ही आकाशमें भेरी, वीणा आदिके भेदसे तार, मन्द आदि शब्दोंकी व्यवस्था होती है, वैसे एक ही आत्मामें बुद्धिरूप उपाधिके भेदसे सुखादिकी व्यवस्था उपपन्न होने और आत्माओंका भेद माननेमें भी व्यवस्था उपपन्न नहीं होगी, ऐसा पूर्वमें उक्त होनेसे भेदकल्पना व्यर्थ है, ऐसा उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। इस प्रकार भूतमोक्षश्रुतियोंका विरोध न होनेसे अद्वितीय ब्रह्ममें समन्वय है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥५३॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित द्वितीय अध्यायके तृतीयपादके
रत्नप्रभाका भाषानुवाद समाप्त।



द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः ।

[अत्र पादे लिङ्गशरीरश्रुतीनां विरोधपरिहारः]

[१ प्राणोत्पत्त्यधिकरण सू० १–४]

किमिन्द्रियाण्यनादीनि सृज्यन्ते वा परात्मना ।
सृष्टेः प्रागृषिनाम्नैषां सद्भावोक्तेरनादिता ॥ १ ॥
एकबुध्या सर्वबुद्धेर्भौतिकत्वाज्जनिश्रुतेः ।
उत्पद्यन्तेऽथ सद्भावः प्रागवान्तरसृष्टितः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—क्या इन्द्रियाँ अनादि हैं या परमात्मासे उत्पन्न होती हैं ?

पूर्वपक्ष—सृष्टिके पूर्वमें ऋषिनामसे इन्द्रियोंका अस्तित्व कहा गया है, अतः अनादि हैं ।

सिद्धान्त—इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, क्योंकि एकविज्ञानसे सर्वविज्ञान, भूतकार्यत्व और उनके जन्मका श्रवण है । सृष्टिके पूर्वमें उनका सद्भाव अवान्तर सृष्टिके अभिप्रायसे है ।

---

* पूर्वपक्ष होनेका कारण यह है कि 'ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत् (तदाहुः) के ते ऋषयः—इति, प्राणा वाव ऋषयः' इस श्रुतिसे जगत्की उत्पत्तिके पूर्वमें इन्द्रियोंके अस्तित्वका ज्ञान होता है, अतः वे अनादि हैं अर्थात् उत्पन्न नहीं होती हैं ।

सिद्धान्ती ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं कि यद्यपि पूर्व कथित शास्त्रसे प्राणोंका–इन्द्रियोंका सद्भाव उत्पत्तिके पहिले ज्ञात होता है, तथापि उनकी उत्पत्ति नहीं माननेसे एकविज्ञानसे सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञाका भङ्ग होगा और 'अन्नमयं हि सोम्य ! मनः' 'आपोमयः प्राणः' इत्यादि श्रुतियाँ इन्द्रियोंमें भूतकार्यत्वका प्रतिपादन करती हैं । किञ्च, 'एतस्माज्जायते०' इत्यादि श्रुति तो इन्द्रियों की उत्पत्ति स्पष्ट रीतिसे कहती है । और सृष्टिके पूर्वकालमें उनकी सत्ताका बोधक जो शास्त्र है वह अवान्तरसृष्टिपरक है, अतः परमात्मासे इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, ऐसा अनवद्य है ।

तथा प्राणाः ॥ १ ॥

पदच्छेद—तथा, प्राणाः ।

पदार्थोक्ति—तथा—'एतस्माज्जायते' इत्यादिश्रुतिवाक्यस्थाकाशादिवत् प्राणाः—इन्द्रियाणि [जायन्ते, उत्पत्तिप्रतिपादिकायाः श्रुतेः सामान्यादित्यर्थः] ।

भाषार्थ—'एतस्माज्जायते' इत्यादि श्रुतिमें आकाशकी उत्पत्ति जिस प्रकार है, उसी प्रकार प्राण–इन्द्रियां भी उत्पन्न होती हैं, क्योंकि उत्पत्तिप्रतिपादिका श्रुति सबके लिए साधारण है ।

भाष्य

वियदादिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधस्तृतीयेन पादेन परिहृतः । चतुर्थेनेदानीं प्राणविषयः परिह्रियते । तत्र तावत् 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१।१) इति चैवमादिषूत्पत्तिप्रकरणेषु प्राणानामुत्पत्तिर्नाऽऽम्नायते । क्वचिच्चाऽनुत्पत्तिरे-

भाष्यका अनुवाद

तृतीय पादमें आकाशादि भूतविषयक श्रुतियोंके परस्पर विरोधका परिहार किया गया है। अब चतुर्थ पादमें प्राणविषयक—प्राणोंकी—इन्द्रियोंकी उत्पत्ति, संख्या, स्वरूप इत्यादिका निरूपण करनेवाली श्रुतियोंके परस्पर विरोधका परिहार किया जाता है। 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया), 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः०' (उस परमात्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि उत्पत्तिप्रकरणोंमें प्राणोंकी उत्पत्ति श्रुतीमें नहीं कही गई है, परन्तु कहींपर इन प्राणोंकी अनुत्पत्ति ही श्रुतिमें कही गई है। 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (पूर्वमें यह असत्—अव्याकृत

रत्नप्रभा

पूर्वाधिकरणे कर्तुः स्वरूपं विचार्य तदुपकरणानामिन्द्रियाणाम् उत्पत्तिं साधयति—तथा प्राणाः । भूतभोक्तृविचारानन्तरं भौतिकप्राणविचार इति हेतुहेतुमद्भावं पादयोः संगतिमाह—वियदादीति । तमेव विप्रतिषेधमाह—तत्रेत्यादिना । यद्यपि प्राणानामनुत्पत्तौ एकविज्ञानप्रतिज्ञानुपपत्तेर्वियदधिकरणन्यायात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व अधिकरणमें कर्ताके स्वरूपका विचारकर अब उसके साधनभूत इन्द्रियोंकी उत्पत्ति सिद्ध करते हैं—"तथा प्राणाः"। भूत और भोक्ताके विचारके बाद भौतिक प्राणोंका विचार है, इस प्रकार दोनों पादोंकी हेतुहेतुमद्भावरूप संगति कहते हैं—"वियदादि" इत्यादिसे। उसी विरोधको दिखलाते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। यद्यपि प्राणोंकी उत्पत्ति न माननेमें एक विज्ञानसे

भाष्य

वैषामाम्नायते, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २।७) 'तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्, तदाहुः के ते ऋषय इति, प्राणा वाव ऋषयः' इत्यत्र प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणात्। अन्यत्र तु प्राणानामप्युत्पत्तिः पठ्यते—'यथाग्नेर्ज्वलतः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येव-मेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' इति, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २।१।३) इति, 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मु० २।१।८) इति, 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नम्' (प्र० ६।४) इति चैवमादिप्रदेशेषु।

भाष्यका अनुवाद

नामरूप ही था) 'तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयः०' (वे कहते हैं—वह असत् क्या था, इस प्रकार वे वेदवादी ऋषि विचार करने लगे, कि उत्पत्तिके पूर्वमें वे ऋषि ही असत् थे। वे कहते हैं—वे ऋषि कौन? वे ऋषि प्राण थे) इस श्रुतिमें उत्पत्तिके पूर्व प्राणोंके सद्भाव—अस्तित्वकी श्रुति है। अन्य स्थलोंमें तो प्राणोंकी भी उत्पत्ति श्रुतिमें वर्णित है—'यथाग्नेर्ज्वलतः०' (जैसे जलती हुई अग्निसे छोटी छोटी चिनगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार इस आत्मासे सब प्राण निकलते हैं), 'एतस्माज्जायते०' (इससे प्राण, मन और सब इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं), 'सप्त प्राणाः' (उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं), 'स प्राणमसृजत०' (उसने प्राणको उत्पन्न किया, प्राणसे श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन और अन्नको उत्पन्न किया) इत्यादि।

रत्नप्रभा

तेषामुत्पत्तिः सिध्यति, तथापि प्रलये प्राणसद्भावश्रुतेर्गतिकथनार्थम् एतद् अधिकरणम् इति अपौनरुक्त्यम्। अत्र प्राणा विषयाः। ते किमुत्पद्यन्ते न वा इति श्रुतीनां विप्रतिपत्त्या संशये तासां समबलत्वाद् अनिर्णय इति अप्रामाण्यम् इति पूर्वपक्षफलं, तत्र गौणवादी समाधानमाह—अथ वेति। प्राणानां प्रलये सद्भावश्रुतेर्निरवकाशत्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

सब विज्ञानोंकी प्रतिज्ञाकी उपपत्ति नहीं होती है, इसलिए वियदधिकरणन्यायसे प्राणोंकी उत्पत्ति सिद्ध होती है, तो भी प्रलयमें प्राणोंके सद्भावका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिकी गति कहनेके लिए यह अधिकरण है, इस प्रकार पुनरुक्ति नहीं है। यहां प्राण विषय हैं, वे उत्पन्न होते हैं या नहीं? इस प्रकार श्रुतियोंके परस्पर विरोधसे सन्देह होनेपर उनके समानबल होनेसे निर्णय नहीं होता है, इसलिए उक्त श्रुतियोंमें अप्रामाण्य है, यह पूर्वपक्षका फल है। उसपर गौणवादी समाधान कहता

भाष्य

तत्र तत्र श्रुतिविप्रतिषेधादन्यतरनिर्धारणकारणानिरूपणाच्चाऽप्रतिपत्तिः प्राप्नोति। अथवा प्रागुत्पत्तेः सद्भावश्रवणाद् गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिरिति प्राप्नोति।

अत उत्तरमिदं पठति—'तथा प्राणाः' इति। कथं पुनरत्र तथेत्यक्षरानुलोम्यम्, प्रकृतोपमानाभावात्। सर्वगतात्मबहुत्ववादिदूषणमतीतानन्तरपादान्ते प्रकृतं; तत्तावन्नोपमानं संभवति, सादृश्याभावात्। सादृश्ये हि सत्युपमानं स्यात्—यथा सिंहस्तथा बलवर्मेति। अदृष्टसाम्यप्रतिपादनार्थं-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—तत्-तत् श्रुतियोंमें परस्पर विरोध होनेसे और उनमें किसी एक पक्षका भी निर्धारण—निश्चय करनेका कारण निरूपित न होनेसे अप्रतिपत्ति प्राप्त होती है अर्थात् इन्द्रियोंकी उत्पत्ति या अनुत्पत्तिके ज्ञानके न होनेसे उक्त विषयमें अनिर्णय प्राप्त होता है। अथवा उत्पत्तिके पूर्वमें प्राणोंके सद्भावकी श्रुति होनेसे उत्पत्तिश्रुति गौणी है, ऐसा प्राप्त होता है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर कहते हैं—'तथा प्राणाः' परन्तु इस सूत्रमें 'तथा' इन अक्षरोंकी योग्यता किस प्रकार है—तथाशब्द यहांपर कैसे अनुकूल होगा क्योंकि प्रकृत उपमानका अभाव है। सर्वगत आत्मा बहुत हैं, ऐसा माननेवालोंका दूषण अतीत—पिछले पादके अन्तमें प्रकृत है, परन्तु वह परपक्षदूषण प्राणका उपमान नहीं हो सकता, क्योंकि सादृश्यका अभाव है। सादृश्य होनेपर ही उपमान हो सकता है, जैसा सिंह वैसा बलवर्मा, इस प्रकार। अदृष्टके साथ साम्य प्रतिपादन करनेके लिए प्राणका उपमान है। जैसे सब आत्माओंकी

रत्नप्रभा

बलीयस्त्वादुत्पत्तिश्रुतिः जीवोत्पत्तिश्रुतिवद्गौणी इति अविरोध इत्यर्थः। अप्रमाणपक्षवद्गौणपक्षोऽपि मुख्यसिद्धान्तिनः पूर्वपक्ष एव इति ज्ञापनार्थम् 'अथवा' इत्युक्तम्। मुख्यसिद्धान्त्याह—अत इति। तथाशब्दमाक्षिपति—कथमिति। आनुलोम्यम् आञ्जस्यमित्यर्थः। साम्यम् स्फुटयति—यथाऽदृष्टस्येति। दूषणवत्प्राणा

रत्नप्रभाका अनुवाद

है—"अथवा" इत्यादिसे। प्रलयमें प्राणोंके अस्तित्वका बोध करानेवाली श्रुति निरवकाश होनेसे विशेष बलवती है, इसलिए उत्पत्तिश्रुति जीवोत्पत्तिश्रुतिके समान गौणी है, इस प्रकार अविरोध है, ऐसा अर्थ है। श्रुतियाँ अप्रमाण हैं इस पक्षकी भाँति उत्पत्तिश्रुति गौणी है, यह पक्ष भी मुख्य सिद्धान्तीका पूर्वपक्ष ही है, ऐसा ज्ञापन करनेके लिए 'अथवा' यह कहा है। मुख्य सिद्धान्ती कहता है—"अतः" इत्यादिसे। तथाशब्दपर आक्षेप करते हैं—"कथम्"

भाष्य

मिति यद्युच्येत—यथाऽदृष्टस्य सर्वात्मसंनिधावुत्पद्यमानस्याऽनियतत्वमेवं प्राणानामपि सर्वात्मनः प्रत्यनियतत्वमिति। तदपि देहानियमेनैवोक्तत्वात् पुनरुक्तं भवेत्। न च जीवेन प्राणा उपमीयेरन्, सिद्धान्तविरोधात्। जीवस्य ह्यनुत्पत्तिराख्याता, प्राणानां तूत्पत्तिर्व्याचिख्यासिता। तस्मात्तथेत्यसंबद्धमिव प्रतिभाति, न; उदाहरणोपात्तेनाऽप्युपमानेन सम्बन्धोपपत्तेः। अत्र प्राणोत्पत्तिवादिवाक्यजातमुदाहरणम्—'एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवास्सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' (बृ० २।१।२०) इत्येवंजातीयकम्। तत्र यथा लोकादयः परस्माद् ब्रह्मण उत्पद्यन्ते तथा प्राणा अपीत्यर्थः। तथा—

भाष्यका अनुवाद

सन्निधिमें उत्पन्न होनेवाला अदृष्ट अनियत है, वैसे प्राण भी सब आत्माओंके प्रति अनियत हैं,—ऐसा यदि कहो, तो वह भी देहके अनियमसे ही उक्त होनेके कारण पुनरुक्त हो जायगा। जीवके साथ भी प्राणोंका सादृश्य नहीं है, क्योंकि सिद्धान्तके साथ विरोध है, कारण कि जीवकी अनुत्पत्ति कही गई है और प्राणोंकी तो उत्पत्ति कहना इष्ट है। इसलिए 'तथा' यह असम्बद्ध-सा प्रतीत होता है। परन्तु यह आक्षेप युक्त नहीं है, क्योंकि उदाहरणमें गृहीत उपमानसे भी सम्बन्ध उपपन्न होते हैं। यहां प्राण उत्पन्न होते हैं, ऐसा माननेवालोंका इस प्रकार वाक्यसमूह उदाहरण है—'एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः०' (इस आत्मासे सब प्राण, सब लोक, सब देव और सब भूत निकलते हैं)। उसमें जैसे लोक आदि परब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं वैसे प्राण भी परब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं,

रत्नप्रभा

इत्यनन्वितम्। यद्यप्यदृष्टवत्प्राणा अप्यनियता इति सूत्रम् अन्वेति तथापि पुनरुक्तम्, जीववत्प्राणा नोत्पद्यन्त इति सूत्रार्थः चेदपसिद्धान्तः इति आक्षेपार्थः। समाधत्ते—न; उदाहरणेति। दृष्टान्तो दार्ष्टान्तिकसंनिहितो वाच्यः इति अङ्गीकृत्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। आनुलोम्य—आञ्जस्य' यह अर्थ है। साम्य स्पष्ट करते हैं—"यथाऽदृष्टस्य" इत्यादिसे। दूषणके समान प्राण, ऐसा अन्वय नहीं होता। यद्यपि अदृष्टके समान प्राण भी अनियत हैं, इस प्रकार सूत्रका अन्वय हो सकता है, तो भी पुनरुक्त है। जीवके समान प्राण उत्पन्न नहीं होते है, यदि ऐसा सूत्रार्थ हो, तो सिद्धान्तकी हानि होती है, ऐसा आक्षेपका अर्थ है।

भाष्य

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ (मु० २।१।३)

इत्येवमादिष्वपि खादिवत् प्राणानामुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम् । अथवा 'पानव्यापच्च

भाष्यका अनुवाद

ऐसा अर्थ है । इसी प्रकार—'एतस्माज्जायते प्राणो०' (इससे प्राण, मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, तेज, जल, और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है) इस प्रकारकी श्रुतियोंमें भी आकाश आदिके समान प्राणोंकी उत्पत्ति है, ऐसा समझना चाहिए । अथवा 'पानव्यापच्च तद्वत्' (और सोमपान करनेसे जो व्यापत्—वमन हो, तो उसके समान) इत्यादिमें व्यवहित उप-

रत्नप्रभा

एकवाक्यस्थत्वेन सांनिध्यम् उक्तम्, संप्रति नायं नियमः, जैमिनिना भगवता व्यवहितदृष्टान्तस्याश्रितत्वादित्याह—अथ वेति । अस्ति तृतीयाध्यायेऽश्वप्रतिग्रहेष्ट्यधिकरणं, तस्येदं विषयवाक्यं—'यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्' इति, तदुत्तराधिकरणे किमियं वारुणीष्टिः दातुः उत प्रतिग्रहीतुः इति विशये 'प्रतिगृह्णीयात्' इति श्रुतेः प्रतिग्रहीतुः इति आशंक्य 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्' इत्युपक्रमे दातृकीर्तनाल्लिङ्गादश्वदातुरेवेति स्थास्यति, अतः प्रतिगृह्णीयात् इत्यस्य पदस्याऽश्वान् यः प्रतिग्राहयेदित्यर्थः । दद्यादिति यावत् । 'योऽश्वदाता स वारुणीमिष्टिं कुर्यात्' इति वाक्यार्थे स्थिते चिन्ता अश्वदाननिमित्ता

रत्नप्रभाका अनुवाद

समाधान करते हैं—"न; उदाहरण" इत्यादिसे । दार्ष्टान्तिकका निकटवर्ती दृष्टान्त कहना चाहिए, ऐसा अंगीकार करके एक वाक्यमें स्थित होनेसे सानिध्य कहा गया है । अब यह नियम नहीं है, क्योंकि भगवान् जैमिनिने व्यवहित दृष्टान्तका आश्रयण किया है, ऐसा कहते हैं—"अथ वा" इत्यादिसे । पूर्वमीमांसाके तृतीय अध्यायमें अश्वप्रतिग्रहेष्टि अधिकरण है । उसका यह विषयवाक्य है—'यावतोऽश्वान्०' (जितने घोड़े दे उतने ही वरुणके लिए चतुष्कपालोंका होम करे) इसके उत्तर अधिकरणमें यह वारुणी इष्टि दाताको करनी चाहिए या प्रतिग्रहीताको करनी चाहिए, ऐसा संशय होनेपर 'प्रतिगृह्णीयात्' इस श्रवणसे प्रतिग्रहीताको करनी चाहिए, ऐसी शंका करके 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्' (प्रजापतिने वरुणको अश्व दिया) इस प्रकार उपक्रम करके दातृकीर्तनरूप लिंगसे अश्वदाताको ही वह इष्टि करनी चाहिए, ऐसा प्रतीत होता है, इसलिए 'प्रतिगृह्णीयात्' इस पदका अर्थ 'अश्वान् य. प्रतिग्राहयेत्' (अश्वोंका जो प्रतिग्रह करावे) ऐसा अर्थ है, अर्थात् 'दद्यात्' (दे) ऐसा अर्थ है । तब जो अश्वदाता है, उसको वारुणी इष्टि करानी चाहिए, ऐसा वाक्यार्थ होनेपर विचार होता है कि

भाष्य

तद्वत्' (जै० ३।४।१५) इत्येवमादिषु व्यवहितोपमानसम्बन्धस्याऽप्याश्रितत्वात्। यथाऽतीतानन्तरपादादावुक्ता वियदादयः परस्य ब्रह्मणो विकाराः

भाष्यका अनुवाद

मानके साथ सम्बन्धका भी आश्रयण किया गया है, इसलिए अतीत—पिछले पादके आरम्भमें कहे गये आकाश आदि जैसे परब्रह्मके विकार हैं, वैसे

रत्नप्रभा

इयम् इष्टिः किं लौकिके अश्वदाने वैदिके वा इति। तत्र 'न केसरिणो ददाति' इति निषिद्धलौकिकाश्वदाने दोषसंभवात्तन्निरासार्थेयमिष्टिरिति 'दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्यात्' इति सूत्रेण प्राप्ते सिद्धान्तः—'अत्र हि वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति' इति दातुः दोषं संकीर्त्य इष्टिः विहिता। वरुणशब्दो जलोदराख्यरोगे रूढः। न च लौकिके अश्वदाने अयं रोगो भवति इति प्रसिद्धम्। न च अनेनैव वाक्येन प्रसिद्धिः। 'दाने दोषः तन्निरासार्था चेष्टिः' इति वदतोऽर्थभेदे वाक्यभेदात्। न च वृणोतीति व्युत्पत्त्या वरुणशब्दो निषेधातिक्रमकृतदोषानुवादकः इति युक्तं, रूढित्यागापातात्। तत्त्यागे च वैदिकेऽपि दाने अश्वत्यागजन्यदुःखं प्राप्तमुक्तव्युत्पत्त्या शक्नोत्यनुवदितुं, तस्मात् प्राप्तानुवादी अर्थवादोऽयमिति यज्ञसंबन्धिन्यश्वदाने इयमिष्टिरित्येवं विचार्योक्तम्—पानव्यापच्च तद्वदिति। सोमपाने क्रियमाणे व्यापत्—वमनं यदि स्यात् तदा 'एतं सौमेन्द्रं श्यामाकं चरुं निर्वपेत्' इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अश्वदाननिमित्तक यह इष्टि लौकिक दानमें हैं या वैदिक अश्वदानमें ? वहापर 'न केसरिणो ददाति' (अश्वोंको नही देता) इससे निषिद्ध लौकिक अश्वदानमें दोषकी सम्भावना है, अत उसकी निवृत्तिके लिए यह इष्टि है, ऐसा 'दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्यात्' इस सूत्रसे प्राप्त हुआ, इसपर सिद्धान्त—'अत्र हि०' (जो अश्वका प्रतिग्रह करेगा उसको वरुण-जलोदररोग आक्रमण करेगा, इस प्रकार दाताके दोषका कथनकर इष्टिका विधान है। वरुणशब्द जलोदरनामक रोगमें रूढ़ है। लौकिक अश्वदानमें यह रोग नही होता है, यह प्रसिद्ध है। इसी वाक्यसे वरुणरूप रोग होता है, यह प्रसिद्ध है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अश्वदानमें जलोदरनामका रोगरूप दोष होता है और उसकी निवृत्तिके लिए इष्टि होती है, ऐसा कहनेवालेके मतमें अर्थभेद होनेसे वाक्यभेद होता है। और वरुणशब्द 'वृणोति' इस व्युत्पत्तिसे निषेधके अतिक्रमसे हुए दोषका अनुवादक है, ऐसा कहना संगत नहीं है, क्योंकि ऐसा अर्थ माननेमें रूढ़िका त्याग करना पड़ेगा और उसका त्याग करनेपर वैदिक दानमें भी वरुणशब्द प्राप्त हुए अश्वत्यागजन्यक्लेशका उक्त व्युत्पत्तिसे अनुवाद कर सकता है, इसलिए यह प्राप्त अर्थका अनुवाद करनेवाला अर्थवाद है। अत यज्ञ सम्बन्धी अश्वके दानमें निमित्त यह इष्टि है, ऐसा विचार करके कहा है—"पानव्यापच्च तद्वत्"

भाष्य

समधिगतास्तथा प्राणा अपि परस्य ब्रह्मणो विकारा इति योजयितव्यम्। कः पुनः प्राणानां विकारत्वे हेतुः? श्रुतत्वमेव। ननु केषुचित् प्रदेशेषु न प्राणानामुत्पत्तिः श्रूयत इत्युक्तम्। तदयुक्तम्, प्रदेशान्तरेषु श्रवणात्। नहि क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं निवारयितुमुत्सहते। तस्माच्छ्रुतत्वाविशेषादाकाशादिवत् प्राणा अप्युत्पद्यन्त इति सूक्तम् ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्राण भी परब्रह्मके विकार हैं, ऐसी योजना करनी चाहिए। परन्तु प्राण विकार हैं इसमें हेतु क्या है? श्रुति ही हेतु है। परन्तु कितने ही प्रदेशोंमें प्राणोंकी उत्पत्तिका श्रवण नहीं है, ऐसा कहा गया है। वह अयुक्त है, क्योंकि अन्य प्रदेशोंमें श्रुति है। कहींपर अश्रवण अन्यत्र श्रवणका निवारण नहीं कर सकता है, इसलिए समानरूपसे श्रवण होनेसे आकाश आदिके समान प्राण भी उत्पन्न होते हैं, यह कथन ठीक है ॥ १ ॥

रत्नप्रभा

श्रूयते। तत्राऽश्वप्रतिग्रहेष्ट्यधिकरणपूर्वपक्षन्यायो बहुसूत्रव्यवहितस्तद्वदिति परामृश्यते, तद्वद् लौकिके धातुसाम्यार्थं पीतसोमस्य वमने अयं चरुः स्यात् वमननिमित्तेन्द्रियशोषाख्यदोषस्य दृष्टस्य 'इन्द्रियेण वीर्येण व्यृध्यते यः सोमं वमति' इत्यनुवादादिति पूर्वपक्षसूत्रार्थः। वैदिके तु सोमपाने शेषप्रतिपत्तेः जातत्वाद्वमने अपि न दोष इति प्राप्ते सिद्धान्तः—लोके वमनकृतेन्द्रियशोषस्य धातुसाम्यकरत्वेन गुणत्वात् न दोषता। वेदे तु 'मा मे वाङ् नाभिमतिगाः' इति सम्यग्जरणार्थमन्त्रलिङ्गाद्वमने कर्मवैगुण्यात्तस्य दोषता। तस्माद्वैदिकसोमवमने सौमेन्द्रश्चरुः इति स्थितम् इत्येवमादिषु सूत्रेषु इत्यर्थः ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिमें। सोमपान करनेपर व्याप्त—वमन हो, तो "एतं सौमेन्द्रम्०" ऐसी श्रुति है। इसमें जैसे अनेक सूत्रोंसे व्यवहित अश्वप्रतिग्रहेष्टि अधिकरण पूर्वपक्ष न्यायका परामर्श होता है, वैसे ही यहां भी परामर्श होगा। इसलिए समान धातुओंको समताके लिए पान किये गये सोमके वमनमें यह चरु होगा, क्योंकि वमननिमित्त इन्द्रियशोषरूप इष्ट दोष का 'इन्द्रियेण वीर्येण०' यह अनुवाद है, ऐसा पूर्वपक्ष सूत्रका अर्थ है। वैदिक सोमपानमें अवशिष्ट सोमपानकी प्राप्ति होनेसे वमनमें भी दोष नहीं है ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त कहते हैं—लोकमें वमनसे होनेवाले इन्द्रियशोषण धातुओंको साम्य करता है अतः गुण होनेसे उसमें दोषत्व नहीं है। वेदमें तो "मा मे०" (मेरी वाणी नाभिका उल्लंघन कर जानेवाली न हो) इस प्रकार भली भांति पाचनके प्रतिपादक मन्त्ररूप लिङ्गसे वमन होनेपर कर्ममें वैगुण्य आनेसे वह दूषण है। इससे वैदिक सोम वमनमें सौमेन्द्र चरु होता है, ऐसा इन प्रकारके सूत्रोंमें निर्णीत है, यह अर्थ है ॥ १ ॥

गौण्यसम्भवात् ॥ २ ॥

पदार्थोक्ति—गौण्या उत्पत्तिप्रतिपादकश्रुतेरसम्भवस्तस्मात् [कुत्रचन प्रदेशे सृष्टेः पूर्वस्मिन् इन्द्रियसद्भावश्रवणेन गौणी प्राणोत्पत्तिश्रुतिरीति न वाच्यम्, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया भङ्गप्रसङ्गेन तस्या असम्भवादित्यभिसन्धिः] ।

भाषार्थ—इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाली गौणी श्रुति नहीं है, क्योंकि एकके विज्ञानसे सर्वविज्ञानको कहनेवाली श्रुतिके साथ विरोध होनेसे उसका असम्भव है ।

भाष्य

यत् पुनरुक्तम्—प्रागुत्पत्तेः सद्भावश्रवणाद् गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिः इति । तत् प्रत्याह—'गौण्यसम्भवाद्'इति । गौण्या असम्भवो गौण्यसम्भवः । नहि प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी सम्भवति, प्रतिज्ञाहानिप्रसङ्गात् । 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।३) इति ह्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तत्साधनायेदमाम्नायते—'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु० २।१।३) इत्यादि । सा च प्रतिज्ञा प्राणादेः समस्तस्य जगतो ब्रह्मविकारत्वे सति प्रकृतिव्यतिरेकेण विकाराभावात् सिद्ध्यति । गौण्यां तु प्राणानामुत्पत्तिश्रुतौ प्रतिज्ञेयं हीयेत । तथा च प्रतिज्ञातार्थमुपसंहरति—

भाष्यका अनुवाद

उत्पत्तिके पूर्वमें प्राणोंके सद्भावके श्रवणसे प्राणोंकी उत्पत्तिश्रुति गौणी है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—'गौण्यसम्भवात्' । गौणीका जो असंभव वह गौण्यसम्भव है । निस्सन्देह, प्राणोंकी उत्पत्तिश्रुति गौणी नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रतिज्ञाकी हानिका प्रसङ्ग आता है । कारण कि 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते०' (हे भगवन् ! किसके ज्ञान होनेपर यह सब विदित होता है) इस प्रकार एकके विज्ञानसे सबके विज्ञानकी प्रतिज्ञा करके उसके साधनके लिए यह श्रुति है—'एतस्माज्जायते०' (इससे प्राण उत्पन्न होता है) इत्यादि । प्राणादि समस्त जगत्के ब्रह्मविकार होनेपर वह प्रतिज्ञा सिद्ध होती है, क्योंकि प्रकृतिसे

रत्नप्रभा

ननु प्रतिज्ञापि गौणी किं न स्यात् इत्यत आह—**तथा च प्रतिज्ञातार्थ-**

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि कोई कहे कि प्रतिज्ञा भी गौणी क्यों न हो, तो इसपर कहते हैं—"तथा च

भाष्य

'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्' (मु० २।१।१०) इति, 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' (मु० २।२।११) इति च। तथा 'आत्मनो वा अरे ! दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इत्येवंजातीयकासु श्रुतिष्वेषैव प्रतिज्ञा योजयितव्या। कथं पुनः प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणम् ? नैतन्मूलप्रकृतिविषयम्, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः' (मु० २।१।२) इति मूलप्रकृतेः प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वाव-

भाष्यका अनुवाद

अतिरिक्त विकार नहीं है। परन्तु प्राणोंकी उत्पत्तिश्रुतिको गौण माननेसे तो इस प्रतिज्ञाकी हानि होगी। इसी प्रकार श्रुति प्रतिज्ञात अर्थका उपसंहार करती है—'पुरुष एवेदं विश्वम्०' (पुरुष ही यह सर्व, कर्म, तप, ब्रह्म और पर अमृत है) और 'ब्रह्मैवेदम्०' (यह सब जगत् वरिष्ठ ब्रह्म ही है)। इसी प्रकार 'आत्मनो वा अरे०' (अरे मैत्रेयि ! आत्माके दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञानसे यह सब विदित होता है) इस प्रकारकी श्रुतियोंमें इसी प्रतिज्ञाकी योजना करनी चाहिए। परन्तु उत्पत्तिके पूर्व प्राणोंके सद्भावकी श्रुति किस प्रकार है ? यह प्राणके सद्भावका श्रवण मूलप्रकृतिविषयक नहीं है, क्योंकि 'अप्राणोऽह्यमनाः०' (प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध और अविनाशी

रत्नप्रभा

मिति। उपक्रमोपसंहाराभ्यां प्रतिपिपादयिषिताद्वितीयत्वप्रतिज्ञानुरोधेन प्राणोत्पत्तिर्मुख्यैवेति भावः। मुण्डकवत् श्रुत्यन्तरेऽपि प्रतिज्ञादर्शनात् सा मुख्या इत्याह—तथेति। एषा प्रतिज्ञा प्राणोत्पत्तिमुख्यत्वे हेतुत्वेन द्रष्टव्या इत्यर्थः। इदानीं प्रलये प्राणसत्त्वश्रुतेर्गतिं प्रश्नपूर्वकमाह—कथमित्यादिना। नेदं वाक्यं महाप्रलये परमकारणस्य ब्रह्मणः प्राणवत्त्वपरं, किन्तु अवान्तरप्रलये हिरण्यगर्भाख्यावान्तरप्रकृतिरूपप्राणसद्भावपरम् इत्यर्थः। ननु हिरण्यगर्भरूपविकारस्य सत्त्वे

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रतिज्ञातार्थम्" इत्यादिसे। उपक्रम और उपसंहारका आलोचन करनेसे विवक्षित अद्वितीयत्वकी प्रतिज्ञाके अनुसार प्राणोत्पत्ति मुख्य ही है, ऐसा भाव है। मुण्डक उपनिषत्के समान अन्य श्रुतिमें भी प्रतिज्ञा देखी जाती है, इसलिए वह प्रतिज्ञा मुख्य है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। प्राणोंकी उत्पत्तिको मुख्य माननेमें इस प्रतिज्ञाको हेतुरूपसे समझना चाहिए, ऐसा अर्थ है। अब प्रलयमें प्राणके अस्तित्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिकी गतिको प्रश्नपूर्वक कहते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। इस वाक्यका महाप्रलयमें परमकारण ब्रह्म प्राणवत् है, ऐसा तात्पर्य नहीं है। किन्तु अवान्तरप्रलयमें हिरण्यगर्भसंज्ञक अवान्तरप्रकृतिक प्राणका

भाष्य

धारणात्। अवान्तरप्रकृतिविषयं त्वेतत् स्वविकारापेक्षं प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावावधारणमिति द्रष्टव्यम्, व्याकृतविषयाणामपि भूयसीनामवस्थानां श्रुतिस्मृत्योः प्रकृतिविकारभावप्रसिद्धेः। वियदधिकरणे हि 'गौण्यसम्भवात्' इति पूर्वपक्षसूत्रत्वाद् गौणी जन्मश्रुतिः असम्भवात्, इति व्याख्यातम्। प्रतिज्ञाहान्या च तत्र सिद्धान्तोऽभिहितः। इह तु सिद्धान्तसूत्रत्वाद् गौण्या

भाष्यका अनुवाद

परसे पर) इस प्रकार मूलप्रकृति प्राण आदि समस्त विशेषोंसे रहित है, ऐसा अवधारण—निश्चय है। उत्पत्तिके पूर्व प्राणोंके सद्भावका जो अवधारण है, वह अवान्तर प्रकृतिविषयक और अपने विकारकी अपेक्षासे है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि व्याकृत विषयोंकी भी बहुतसी अवस्थाओंका प्रकृतिविकृतिभाव श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध है। वियदधिकरणमें 'गौण्यसंभवात्' इसके पूर्वपक्षसूत्र होनेसे जन्मश्रुति गौणी है, क्योंकि मुख्यका असंभव है, इस प्रकार व्याख्यान किया है और प्रतिज्ञाहानिसे वहाँ सिद्धान्त कहा है, यहां तो सिद्धान्तसूत्र होनेसे 'गौणी जन्मश्रुतिका असम्भव होनेसे' ऐसा व्याख्यान किया है। परन्तु उसके अनुसार यहां भी 'जन्मश्रुति गौणी है, सम्भव

रत्नप्रभा

कथं तदा विकारासत्त्वकथनं, तत्राह—स्वविकारेति। स्वस्य—कार्यब्रह्मणो यत्कार्यं स्थूलं तस्य उत्पत्तिः इत्यर्थः। ननु यथाश्रुति महाप्रलये प्राणसद्भावरूपं लिङ्गं प्राणानुत्पत्तिसाधकं किमिति अवान्तरप्रलयपरतया नीयते? इति चेत्, 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादिप्रबलजन्मश्रुतिबलात् इति वदामः। ननु विकारस्य ब्रह्मणः कथं प्रकृतित्वम्? इत्यत आह—व्याकृतेति। 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इत्यादिश्रुतौ 'आदिकर्ता स भूतानाम्' इत्यादिस्मृतौ च विकारात्मनामपि मूलकारणावस्था-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सद्भाव कहनेमें इस वाक्यका तात्पर्य है। यदि कोई कहे कि हिरण्यगर्भरूप विकारके रहते 'महाप्रलयमें विकार नहीं है' यह कथन कैसे संगत होता है, तो इसपर कहते हैं—"स्वविकार" इत्यादिसे। स्वका—कार्यब्रह्मका जो स्थूल कार्य उसकी उत्पत्ति, ऐसा अर्थ है। परन्तु श्रुतिसम्मत महाप्रलयमें प्राणके सद्भावके बोधक और प्राणकी अनुत्पत्तिके साधक लिंगको अवान्तर प्रलयपरक क्यों मानते हो? 'एतस्माज्जायते प्राणः' (इससे प्राण उत्पन्न होता है) इत्यादि प्रबल श्रुतिवाक्य है, अतः हम ऐसा कहते हैं। परन्तु विकारभूत ब्रह्म प्रकृति कैसे होगा? इसपर कहते हैं—"व्याकृत" इत्यादिसे। 'हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे' (पूर्वमें हिरण्यगर्भ हुआ) इत्यादि श्रुति और 'आदि कर्ता स भूतानाम्' (वह भूतोंका आदि कर्ता है) इत्यादि

भाष्य

जन्मश्रुतेरसम्भवादिति व्याख्यातम् । तदनुरोधेन त्विहाऽपि गौणी जन्मश्रुतिः असम्भवादिति व्याचक्षाणैः प्रतिज्ञाहानिरुपेक्षिता स्यात् ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

न होनेसे' ऐसा व्याख्यान करनेवालोंसे प्रतिज्ञाकी हानिकी उपेक्षा की जायगी ॥२॥

रत्नप्रभा

रूपाणां ब्रह्मविराडादीनां प्रकृतिविकारभावेन प्रसिद्धिः अस्ति । पूर्वापेक्षया विकार-स्याऽपि उत्तरापेक्षया प्रकृतित्वम् इत्यर्थः । केचिद् वियदधिकरणानुरोधेन इदं सूत्रं व्याचक्षते तान् दूषयति—वियदिति ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्मृतिमें विकाररूप मूलकारणके अवस्थाविशेष—ब्रह्म, विराट् आदिकी प्रकृति-विकारभावसे प्रसिद्धि है। पूर्वकी अपेक्षासे जो विकार हो, वह भी उत्तरकी अपेक्षासे प्रकृति हो सकता है, ऐसा अर्थ है। कोई लोग वियदधिकरणके अनुसार इस सूत्रका व्याख्यान करते हैं, उनको दूषित करते हैं—"वियद्" इत्यादिसे ॥२॥

तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥ ३ ॥

पदच्छेद—तत्प्राक्श्रुतेः, च।

पदार्थोक्ति—तत्प्राक्श्रुतेः—तस्य 'जायते' इति जन्मवाचिपदस्याकाशादिषु मुख्यस्य पाठापेक्षया प्राचीनेषु प्राणादिषु श्रुतेः—श्रवणात् [इन्द्रियोत्पत्तिर्मुख्या]।

भाषार्थ—'जायते' इस प्रकारके जन्मवाची पदका, जो आकाश आदिमें मुख्य है, पाठकी अपेक्षासे पूर्वमें पठित प्राण आदिमें श्रवण होनेसे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति मुख्य है।

भाष्य

इतश्चाऽऽकाशादीनामिव प्राणानामपि मुख्यैव जन्मश्रुतिः । यत् 'जायते' इत्येकं जन्मवाचिपदं प्राणेषु प्राक् श्रुतं तदुत्तरेष्वप्याकाशादिष्वनुवर्तते—

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी आकाशादिके समान प्राणोंकी भी जन्मश्रुति मुख्य ही है, क्योंकि 'जायते' ऐसा एक जन्मवाची पद प्राणोंमें पूर्व

रत्नप्रभा

तस्य 'जायते' इति पदस्याकाशादिषु मुख्यस्य पाठापेक्षया प्राचीनेषु प्राणेषु

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसकी अर्थात् 'जायते' इस जन्मवाची पदकी, जो आकाश आदिमें मुख्य है, पाठकी अपेक्षासे

भाष्य

'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु० २।१।३) इत्यत्र। आकाशादिषु मुख्यं जन्मेति प्रतिष्ठापितम्; तत्सामान्यात् प्राणेष्वपि मुख्यमेव जन्म भवितुमर्हति। नह्येकस्मिन् प्रकरण एकस्मिंश्च वाक्य एकः शब्दः सकृदुच्चरितो बहुभिः संबध्यमानः क्वचिन्मुख्यः क्वचिद् गौण इत्यध्यवसातुं शक्यम्, वैरूप्यप्रसङ्गात्। तथा 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्र० ६।४) इत्यत्रापि प्राणेषु श्रुतः सृजतिः परेष्वप्युत्पत्तिमत्सु श्रद्धादिष्वनुषज्यते। यत्रापि पश्चाच्छ्रुत उत्पत्तिवचनः शब्दः पूर्वैः सम्बध्यते तत्राप्येष एव न्यायः। यथा 'सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' इत्ययमन्ते पठितो व्युच्चरन्तिशब्दः पूर्वैरपि प्राणादिभिः सम्बध्यते ॥३॥

भाष्यका अनुवाद

श्रुत है, उसका उत्तर—आकाशादिमें भी अनुवृत्ति होती है—'एतस्माज्जायते' इत्यादि स्थलमें। आकाश आदिका जन्म मुख्य ही है, ऐसा निर्णय किया जा चुका है। उसके सादृश्यसे प्राणोंका भी जन्म मुख्य ही हो सकता है, क्योंकि एक प्रकरणमें और एक वाक्यमें एकबार उच्चरित तथा बहुतोंके साथ सम्बद्ध होनेवाला एक शब्द कहीं मुख्य है और कहीं गौण है, ऐसा निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे वाक्य विरूप हो जायगा। उसी प्रकार 'स प्राणमसृजत०' (उसने प्राण उत्पन्न किया और प्राणसे श्रद्धा) इसमें भी प्राणोंमें श्रुत सृजति (उत्पत्ति) के अनन्तर उत्पन्न होनेवाले श्रद्धा आदिमें अनुवृत्ति होती है। जहां पीछे सुना गया उत्पत्तिवाचक शब्दका पूर्वके साथ सम्बन्ध होता है, वहां भी यही न्याय है। जैसे 'सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' (सब भूत निकलते हैं) इसमें अन्तमें पठित 'व्युच्चरन्ति' (निकलते हैं) शब्दका पूर्वमें आये हुए प्राण आदि शब्दोंके साथ सम्बन्ध होता है ॥ ३ ॥

रत्नप्रभा

श्रुतेः मुख्यं जन्म इति सूत्रयोजना। तत्सामान्यादिति। तेनाकाशादिजन्मना सामान्यम्—एकशब्दोक्तत्वं तस्मात् इत्यर्थः। एकस्मिन्वाक्ये एकस्य शब्दस्य क्वचिन्मुख्यत्वं क्वचिद्गौणत्वमिति वैरूप्यं न युक्तमिति न्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—**यत्रापि पश्चाच्छ्रुत इति** ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व पठित प्राणोंमें श्रुति होनेसे प्राण आदिका जन्म मुख्य है, ऐसी सूत्रकी योजना है। "तत्सामान्यात्" इत्यादि। उसके साथ अर्थात् आकाशादिके जन्मके साथ सामान्य—सादृश्य—एक शब्दसे उक्तत्व उससे, ऐसा अर्थ है। एक वाक्यमें एक शब्दका कही मुख्यत्व हो और कही गौणत्व हो इस प्रकार वैरूप्य युक्त नही है, इस न्यायका अन्यत्र अतिदेश करते हैं—"यत्रापि पश्चाच्छ्रुत" इत्यादिसे॥ ३॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

पदच्छेद—तत्पूर्वकत्वात्, वाचः ।

पदार्थोक्ति—वाचः—'अन्नमयं हि सोम्य ! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाग्' इति मनःप्राणसहिताया वाचः तत्पूर्वकत्वात्—ब्रह्मप्रकृतिकतेजोवन्नपूर्वकत्वाभिधानात् [अस्ति प्राणोत्पत्तिश्रुतिः] ।

भाषार्थ—'अन्नमयं हि सोम्य ! मन०' इत्यादिसे मन और प्राण सहित वाणीमें ब्रह्मप्रकृतिकतेज, जल और अन्न पूर्वकत्वका कथन है, अतः इन्द्रियोंकी उत्पत्तिश्रुति है।

भाष्य

यद्यपि 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येतस्मिन् प्रकरणे प्राणानामुत्पत्तिर्न पठ्यते, तेजोवन्नानामेव च त्रयाणां भूतानामुत्पत्तिश्रवणात् । तथापि ब्रह्मप्रकृतिकतेजोवन्नपूर्वकत्वाभिधानाद् वाक्प्राणमनसां तत्सामान्याच्च सर्वेषामेव प्राणानां ब्रह्मप्रभवत्वं सिद्धं भवति । तथाहि—अस्मिन्नेव प्रकरणे तेजोवन्नपूर्वकत्वं वाक्प्राणमनसामाम्नायते—'अन्नमयं हि सोम्य !

भाष्यका अनुवाद

यद्यपि 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेजकी सृष्टि की) इस प्रकरणमें प्राणोंकी उत्पत्ति नहीं कही गई है, क्योंकि तेज, जल और अन्न इन तीन भूतोंकी ही उत्पत्तिका श्रवण है, तो भी ब्रह्मप्रकृतिसे उत्पन्न हुए तेज, जल और अन्नपूर्वक, वाक्, प्राण और मनका अभिधान होनेसे और उनके सादृश्यसे सब प्राण ब्रह्मसे उत्पन्न हैं, यह सिद्ध होता है। जैसे कि इसी प्रकरणमें वाक्, प्राण और मन, तेज, जल और अन्नपूर्वक श्रुतिमें कहे गये हैं—'अन्नमयं हि०' (हे सोम्य ! मन

रत्नप्रभा

यच्चोक्तं छान्दोग्येऽपि प्राणानामुत्पत्तिर्न श्रूयत इति, तत्राह—तत्पूर्वकत्वाद्वाच इति। अत्र सूत्रे वाक्पदं प्राणमनसोः उपलक्षणम् । वाक्प्राणमनसां तेजोवन्नपूर्वकत्वोक्तेः [उत्पत्तेः] अश्रवणमसिद्धम् इति योजना । तैर्वागादिभिश्चक्षुरादीनां सामान्यं

रत्नप्रभाका अनुवाद

छान्दोग्यमें भी प्राणोंकी उत्पत्तिका श्रवण नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—"तत्पूर्वकत्वाद्वाच." इत्यादिसे । इस सूत्रमें वाक्पद प्राण और मनका उपलक्षक है । वाक्, प्राण और मन, तेज, जल और अन्नपूर्वक कहे गये हैं, इसलिए प्राणोंकी उत्पत्तिका अश्रवण असिद्ध है, ऐसी योजना है। उन वाक् आदिके साथ चक्षु आदिका सामान्य—सादृश्य करणत्व है, उस

भाष्य

मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छा० ६।५।४) इति । तत्र यदि तावन्मुख्यमेवैषामन्नादिमयत्वं ततो वर्तत एव ब्रह्मप्रभवत्वम् । अथ भाक्तम्, तथापि ब्रह्मकर्तृकायां नामरूपव्याक्रियायां श्रवणात् 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६।१।३) इति चोपक्रमात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६।८।७) इति चोपसंहाराच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धेश्च ब्रह्मकार्यत्वप्रपञ्चनार्थमेव मनआदीनामन्नादिमयत्ववचनमिति गम्यते। तस्मादपि प्राणानां ब्रह्मविकारत्वसिद्धिः ॥४॥

भाष्यका अनुवाद

अन्नमय है, प्राण जलमय है और तेजोमयी वाणी है) । उसमें यदि उनके अन्नमयत्व आदि मुख्य ही हों, तो उससे इनका ब्रह्मजन्यत्व है ही । मन आदिके अन्नमयत्व आदि यदि गौण हों, तो भी ब्रह्म जिसका कर्ता है, ऐसे नामरूपके व्याकरणमें श्रवण होनेसे, 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (जिससे अश्रुत श्रुत होता है) ऐसा उपक्रम होनेसे, 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (यह सारा प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप है) इस प्रकार उपसंहार होनेसे, और अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध होनेसे मन आदिका अन्नमयत्व आदि जो कहा गया है, वह वे ब्रह्मकार्य हैं, ऐसा विस्तारसे दिखलानेके लिए ही है, ऐसा ज्ञात होता है । इससे भी प्राण ब्रह्मके विकार हैं, ऐसा सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

रत्नप्रभा

करणत्वं तत्सामान्यादित्यर्थः । अत्र 'मयट् विकारे मुख्यः' इति पक्षे वर्तत एव प्राणानां ब्रह्मकार्यत्वम्, तेजोबन्नानां ब्रह्मविकारत्वात् । यदि प्राणस्य वायोर्जलविकारत्वायोगात्तदधीनस्थितिकत्वमात्रेण भाक्तस्तथापि प्राणानां विकारत्वे भूताधीनस्थितिकत्वं लिङ्गं मयटा उक्तम्, इति सिद्धं ब्रह्मकार्यत्वम्, 'स प्राणमसृजत' इत्यादिश्रुत्यन्तरे स्पष्टं ब्रह्मकार्यत्वोक्तेश्च । तस्मात्प्राणानामुत्पत्तिश्रुतीनां सद्भावश्रुत्यविरोधात्कारणे ब्रह्मणि समन्वय इति सिद्धम् । लिङ्गशरीरविचारात्मकाधिकरणानां लिङ्गात् त्वंपदार्थभेदधीः फलम् इति द्रष्टव्यम् ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सादृश्यसे, ऐसा अर्थ है । यहा 'मयट् प्रत्यय विकाररूप अर्थमें मुख्य है' इस पक्षमे प्राण ब्रह्मके कार्य हैं ही, क्योकि तेज, जल और अन्न ब्रह्मके विकार है । यदि वायुरूप प्राणमें जलविकारत्वके संभव न होनेसे उसके अधीन स्थितिमात्रसे यहा विकार गौण हो, तो भी प्राणोंके विकार होनेमें भूतके अधीन स्थितिरूप लिग मयट्प्रत्ययसे कहा गया है । इससे प्राण ब्रह्मके कार्य हैं, यह सिद्ध हुआ । और 'स प्राणमसृजत' इत्यादि अन्य श्रुतियोमें स्पष्टतया प्राण ब्रह्मके कार्य कहे गये हैं, इससे भी। इससे प्राणोकी उत्पत्तिश्रुतियोका सृष्टिके पूर्व प्राणोंके सद्भावका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिके साथ विरोध न होनेसे कारणब्रह्ममें समन्वय है, ऐसा सिद्ध हुआ । लिगशरीरसे त्वंपदार्थ भिन्न है ऐसा ज्ञान, लिगशरीरविचारात्मक अधिकरणोका फल है, ऐसा जानना चाहिए ॥४॥

[२ सप्तगत्यधिकरण सू० ५–६]

सप्तैकादश वाऽक्षाणि सप्त प्राणा इति श्रुतेः ।
सप्त स्युर्मूर्धनिष्ठेषु छिद्रेषु च विशेषणात् ॥१॥
अशीर्षण्यस्य हस्तादेरपि वेदे समीरणात् ।
ज्ञेयान्येकादशाक्षाणि तत्तत्कार्यानुसारतः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—प्राण—इन्द्रियाँ एकादश हैं या सात हैं ?

पूर्वपक्ष—इन्द्रियाँ सात हैं, क्योंकि 'सप्त प्राणाः' ऐसी श्रुति है और माथेके सात छिद्रोंके आधारपर वे इन्द्रियाँ विशेषित हैं ।

सिद्धान्त—मस्तकके छिद्रोंके विना अन्य हस्त आदिका वेदमें कथन है, अतः तत्-तत् कार्य (आलोचन आदि) के अनुसार एकादश इन्द्रियाँ हैं ।

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

पदच्छेद—सप्त, गतेः, विशेषितत्वात्, च ।

पदार्थोक्ति—सप्त—सप्तसङ्ख्याकानि [इन्द्रियाणि कुतः,] गतेः—श्रुत्या सप्तत्वावगतेः, विशेषितत्वात्—'सप्त वै शीर्षण्याः' इति शास्त्रेण प्राणानां शीर्षण्यत्वेन विशेषितत्वात्, च ।

भाषार्थ—वे इन्द्रियां सात हैं, क्योकि श्रुतिसे उनके सप्तत्वका ज्ञान होता है और 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' इस शास्त्रसे शीर्षण्यत्वसे वे इन्द्रियां विशेषित हैं ।

---

* भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—इन्द्रियाँ सात हैं, किससे ? 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति' इस सामान्य श्रुतिसे और 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' इस प्रकार मस्तकके सात छिद्रोंसे प्राणोंके विशेषित होनेसे । इसपर सिद्धान्ती कहता है कि—माथेकी इन्द्रियोंके अतिरिक्त हस्त आदि भी वेदमें कहे गये हैं—'हस्तौ चाऽऽदातव्यम्' 'उपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यम्' इत्यादिसे । इसलिए वेदसे निश्चय होनेपर दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन, स्पर्शन, अभिवदन, आदान, गमन, आनन्द, विसर्ग और ध्यान, इस प्रकारके एकादश व्यापारोंके उपलम्भ होनेसे उनके साधन इन्द्रियाँ भी एकादश माननी चाहिएँ ।

भाष्य

उत्पत्तिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधः प्राणानां परिहृतः। संख्याविषय इदानीं परिहियते। तत्र मुख्यं प्राणमुपरिष्टाद् वक्ष्यति। संप्रति तु कतीतरे प्राणा इति संप्रधारयति। श्रुतिविप्रतिपत्तेश्चाऽत्र विशयः। क्वचित् सप्त प्राणाः सङ्कीर्त्यन्ते—'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मु० २।१।८) इति। क्वचिदष्टौ प्राणा ग्रहत्वेन गुणेन सङ्कीर्त्यन्ते—'अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः' (बृ० ३।२।१) इति। क्वचिन्नव—'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववाञ्चौ' (तै० सं० ५।१।७।१) इति। क्वचिद्दश—'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' इति। क्वचिदेकादश—'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः'

भाष्यका अनुवाद

प्राणोंकी उत्पत्ति के विषयमें श्रुतियोंके परस्पर विरोधका परिहार किया जा चुका है। अब संख्याविषयक श्रुतिविरोधका परिहार किया जाता है। उन प्राणोंमें मुख्य प्राणको सूत्रकार आगे कहेंगे। अभी तो अन्य-गौण प्राण कितने हैं, यह निर्णय करते हैं और श्रुतिविरोधसे यहां संशय है। कहींपर सात प्राण कहे जाते हैं—'सप्त प्राणाः' (उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं), कहींपर आठ प्राण ग्रहत्वगुणसे कहे जाते हैं—'अष्टौ ग्रहाः०' (आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं), कहीं नव कहे जाते हैं—'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववाञ्चौ' (निश्चय, सात शीर्षमें स्थित प्राण हैं और दो नीचेके हैं), कहीं दश कहे जाते हैं—'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' (पुरुषमें नव प्राण हैं और दसवीं नाभि है), कहीं ग्यारह—'दशेमे पुरुषे

रत्नप्रभा

एवं जन्मलब्धसत्ताकानां प्राणानामुपजीव्योपजीवकत्वसंगत्या संख्यां निर्णेतुं श्रुतीनां विरोधात् संशये पूर्वपक्षयति—सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च। विशयः—संशयः। इन्द्रियाणि अत्र विषयः। पञ्च धीन्द्रियाणि वाङ्मनश्चेति सप्त प्राणाः एत एव हस्तेन सहाष्टौ। ग्रहत्वम्—बन्धकत्वम्। गृह्णन्ति बध्नन्ति इति ग्रहाः—इन्द्रियाणि, तेषां

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार जन्म द्वारा जिन्होंने अस्तित्व प्राप्त किया है उन प्राणोंकी उपजीव्यत्व और उपजीवकत्व संगतिसे संख्याका निश्चय करनेके लिए श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेसे संशय होनेपर पूर्वपक्ष कहते हैं—"सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च" इत्यादिसे। विषय—संशय। यहां इन्द्रिया विषय हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां—नेत्र, घ्राण, रसना, श्रोत्र और त्वक् तथा वाक् और मन ये सात प्राण हैं। पूर्वोक्त सात प्राण ही हाथके साथ मिलकर आठ होते हैं। ग्रह—बन्धन

भाष्य

(बृ० ३।९।४) इति। क्वचिद् द्वादश—'सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्' (बृ० २।४।११) इत्यत्र। क्वचित् त्रयोदश 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' (प्र० ४।८) इत्यत्र। एवं हि विप्रतिपन्नाः प्राणेयत्तां प्रति श्रुतयः।

किं तावत्प्राप्तम्? सप्तैव प्राणा इति। कुतः? गतेः। यतस्तावन्तोऽवगम्यन्ते—'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मु० २।१।८) इत्येवंविधासु श्रुतिषु। विशेषिताश्चैते 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' इत्यत्र। ननु 'प्राणा

भाष्यका अनुवाद

प्राणा आत्मैकादशः' (पुरुषमें दश प्राण हैं और आत्मा ग्यारहवां है), कहीं बारह—'सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम' (सब स्पर्शोंकी त्वचा एक स्थान है) और कहीं तेरह—'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च (नेत्र और द्रष्टव्य) इस प्रकार प्राणोंकी इयत्ताके प्रति श्रुतियाँ परस्पर विरुद्ध हैं।

पूर्वपक्षी—तब क्या प्राप्त होता है? प्राण सात ही हैं, किससे? गतिसे। क्योंकि 'सप्त प्राणाः०' (उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं) इस प्रकारकी श्रुतियोंमें सात ही प्राणोंकी अवगति होती है, और 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः'

रत्नप्रभा

बन्धकत्वं विषयाधीनमित्यतिग्रहाः, ग्रहानतिक्रान्ता विषया इत्यर्थः। द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे घ्राणे वाक्चेति सप्त शीर्षणि भवाः प्राणाः, द्वौ अवाञ्चौ पायूपस्थौ च इति नव, ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि दशेमे पुरुषे—देहे प्राणाः, आत्मा—मन एकादश प्राण इति सिद्धान्तकोटिरुक्ता। एत एव हृदयाख्यया बुद्ध्या सह द्वादश। अहंकारेण सह त्रयोदश। श्रुतितः सप्तत्वावगतेर्ये शीर्षण्याः सप्त ते प्राणा इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

करनेवाला। इन आठ प्राणोंको 'ग्रह' कहा है, क्योंकि ये पुरुषको बन्धनमें डालते हैं। 'गृह्णन्ति बध्नन्तीति ग्रहा इन्द्रियाणि' (जो ग्रहण करें—बन्धनमें डालें, वे ग्रह—इन्द्रियाँ) इन इन्द्रियोंकी बन्धकता विषयोंके अधीन है, अतएव विषय अतिग्रह कहलाते हैं। विषय ग्रहोंको अतिक्रमण करके स्थित हैं, ऐसा अर्थ है [वे राग उत्पन्न करके इन्द्रियोंका आकर्षण करते हैं, इसलिए ग्रहोंको अतिक्रमण करके स्थित हैं] कहीं प्राण नव गिनाये गये हैं—दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो नासिकाएँ और वाणी ये सात शिरमें रहनेवाले प्राण हैं और पायु और उपस्थ ये दो नीचे रहनेवाले प्राण हैं। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय ये दश, पुरुषमें—देहमें प्राण हैं और आत्मा—मन ग्यारहवां है—यह सिद्धान्तकोटि कही गई है। ये ही हृदयसंज्ञक बुद्धिके साथ बारह प्राण होते हैं। अहंकारके साथ तेरह होते हैं। श्रुतिसे प्राण सात हैं ऐसा ज्ञान होता है अथवा

भाष्य

गुहाशया निहिताः सप्त सप्त' (मु० २।१।८) इति वीप्सा श्रूयते, सा सप्तभ्योऽतिरिक्तान् प्राणान् गमयतीति। नैष दोषः, पुरुषभेदाभिप्रायेयं वीप्सा—प्रतिपुरुषं सप्त सप्त प्राणा इति, न तत्त्वभेदाभिप्राया—सप्त सप्तान्येऽन्ये प्राणा इति। नन्वष्टत्वादिकापि संख्या प्राणेषूदाहृता कथं सप्तैव स्युः। सत्यमुदाहृता। विरोधात् त्वन्यतमा संख्याऽध्यवसातव्या। तत्र स्तोककल्पनानुरोधात् सप्तसंख्याध्यवसानम्। वृत्तिभेदापेक्षं च संख्यान्तरश्रवणमिति मन्यते ॥ ५ ॥

अत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

(शीर्षमें रहनेवाले सात प्राण हैं) इस श्रुतिमें ये विशेषित हैं। परन्तु 'गुहाशया निहिताः सप्त सप्त' (गुहाशया—हृदयमें रहनेवाले प्राण अपने स्थानमें सात सात स्थापित हैं) इस प्रकारकी वीप्सा सातसे अधिक प्राणोंका बोध कराती है। यह दोष नहीं है, क्योंकि यह वीप्सा प्रत्येक पुरुषमें सात सात प्राण हैं, इस प्रकार पुरुषभेदके अभिप्रायसे है। सात सात अन्य अन्य प्राण हैं, इस प्रकार तत्त्वभेदके अभिप्रायसे नहीं है। परन्तु अष्टत्व आदि संख्या भी प्राणोंकी कही गई है, फिर सात ही प्राण क्यों? यह ठीक है, कही गई है, परन्तु विरोध होनेसे सबमेंसे किसी एक संख्याका निश्चय करना चाहिए। उसमें थोड़ी कल्पनाके अनुसार सात संख्याका निश्चय है और अन्य संख्याकी श्रुति (प्राणकी) भिन्नवृत्तिकी अपेक्षासे है, ऐसा समझा जाता है ॥ ५ ॥

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

शीर्षण्योद्देशेन प्राणत्वविशेषणात् वा शीर्षण्यानां प्राणशब्दितेन्द्रियत्वपरिसंख्यया सप्तैव प्राणा इति सूत्रयोजना। सप्तत्वं वीप्साविरुद्धम् इति शङ्कते—नन्विति। गुहायां—हृदये शेरत इति गुहाशयाः; स्वस्थानेषु निहिताः—निक्षिप्ताः इत्यर्थः। चित्तेन चतुर्दशत्वं मन्तव्यम्। पूर्वपक्षी परिहरति—नैष दोष इति ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'ये शीर्षण्याः सप्त, ते प्राणा' इस प्रकार शीर्षण्यको उद्देश करके प्राणत्वके विशेषण होनेसे शीर्षण्योंमें प्राणत्वका कथन है। प्राणशब्दित इन्द्रियत्वकी परिसंख्यासे सात ही प्राण हैं, इस प्रकार सूत्रकी योजना है। परन्तु प्राण सात ही हैं, ऐसा कहना वीप्सासे विरुद्ध है ऐसी शङ्का करते हैं-"ननु" इत्यादिसे। गुहामें—हृदयमें सोते हैं, अतएव गुहाशय कहलाते हैं। निहिता—स्वस्थानमें निक्षिप्त, ऐसा अर्थ है। चित्तके साथ चौदह समझना चाहिए। पूर्वपक्षी परिहार करता है—"नैष दोष" इत्यादिसे ॥५॥

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ६ ॥

पदच्छेद—हस्तादयः, तु, स्थिते, अतः, न, एवम् ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दः पूर्वमतनिरासार्थः, हस्तादयः—करादयः, [अपि, 'हस्तो वै ग्रहः' इत्यादि श्रुत्या अतिरिक्तेन्द्रियत्वेन श्रूयन्ते] स्थिते—सप्तत्वसंख्यायाम-सम्भावितान्तर्भावे सप्तत्वातिरेके स्थिते, [सप्तत्वसंख्या एकादशसङ्ख्यायामन्तर्भावयितुं शक्यते] अतः—अस्मात्, न एवम्—न तथा [मन्तव्यम्—सप्तैव प्राणा इति]

भापार्थ—हस्त आदि भी 'हस्तो वै ग्रहः' इत्यादि श्रुतिसे अतिरिक्त प्राण सुने जाते हैं, और सप्तत्व संख्यामें एकादश संख्याका अन्तर्भाव भी नहीं हो सकता है, किन्तु एकादश संख्यामें सप्तत्व संख्याका अन्तर्भाव हो सकता है, अतः 'सात ही इन्द्रियां हैं' यह मानना युक्त नहीं है ।

भाष्य

हस्तादयस्त्वपरे सप्तभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः श्रूयन्ते—'हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्रहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति' (बृ० ३।२।८) इत्येवमाद्यासु श्रुतिषु । स्थिते च सप्तत्वातिरेके सप्तत्वमन्तर्भावाच्छक्यते सम्भावयितुम् । हीनाधिकसंख्याविप्रतिपत्तौ ह्यधिका संख्या सङ्ग्राह्या

भाष्यका अनुवाद

परन्तु 'हस्तौ वै ग्रहः' (निश्चय, हाथ ग्रह हैं, वे कर्मरूप अतिग्रहसे गृहीत हैं, क्योंकि हाथोंसे काम करते हैं) इत्यादि श्रुतियोंमें अन्य हस्त आदि सातोंसे अतिरिक्त प्राण सुने जाते हैं । इन्द्रियां सातसे अधिक हैं, ऐसी स्थितिमें [अधिक सङ्ख्यामें सातके] अन्तर्भावकी सम्भावना की जा सकती है, क्योंकि न्यून और अधिक संख्याकी

रत्नप्रभा

सिद्धान्तिनाम् अपि एकादशसु मनोवृत्तिभेदात् निश्चयात्मिका बुद्धिः, गर्वात्मकः—अहंकारः, स्मरणात्मकम्—चित्तम् इति द्वादशादिसंख्यान्तर्भावनीया । ततो वरं प्राथमिकसप्तत्वेऽन्तर्भावः, लाघवात्, इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—अत्रेति । आदानेन कर्मणा गृहीतः—संबद्धः । संबन्धमेवाह—हस्ताभ्यामिति । अतोऽधिक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्तीको भी एकादश संख्यामें मनोवृत्तिके भेदसे निश्चयात्मिका बुद्धि, गर्वात्मक अहंकार, स्मरणात्मक चित्त, इसप्रकार द्वादश आदि संख्याका अन्तर्भाव करना पड़ेगा । अत एव लाघव होनेसे प्राथमिक सप्त संख्यामें अधिक संख्याका अन्तर्भाव ठीक है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते

भाष्य

भवति; तस्यां हीनान्तर्भवति न तु हीनायामधिका। अतश्च नैवं मन्तव्यम् स्तोककल्पनानुरोधात् सप्तैव प्राणाः स्युरिति। उत्तरसंख्यानुरोधात् त्वेकादशैव ते प्राणाः स्युः। तथा चोदाहृता श्रुतिः—'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' (बृ० ३।९।४) इति। आत्मशब्देन चाऽत्राऽन्तःकरणं परिगृह्यते, करणाधिकारात्। नन्वेकादशत्वादप्यधिके द्वादशत्रयोदशत्वे उदाहृते। सत्यमुदाहृते, नत्वेकादशभ्यः कार्यजातेभ्योऽधिकं कार्यजातमस्ति, यदर्थमधिकं करणं कल्प्येत। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयाः पञ्च बुद्धिभेदाः,

भाष्यका अनुवाद

विप्रतिपत्तिमें अधिक संख्या ग्राह्य होती है क्योंकि उसमें—अधिक संख्यामें न्यून संख्याका अन्तर्भाव होता है, हीनमें अधिकका अन्तर्भाव नहीं होता। इससे कल्पनालाघवके अनुसार सात ही प्राण हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए। किन्तु उत्तर संख्याके अनुरोधसे ग्यारह ही प्राण हैं। इसी प्रकार श्रुति आगे कहती है—'दशेमे पुरुषे०' (पुरुषमें ये दश प्राण हैं और आत्मा ग्यारहवाँ है) यहां आत्मशब्दसे अन्तःकरणका ग्रहण किया जाता है, क्योंकि करणका अधिकार है। परन्तु ग्यारहसे भी अधिक बारह और तेरह संख्या कही गई है, ठीक है, कही गई है, परन्तु ग्यारह कार्यसे अधिक कार्य नहीं हैं, जिनके लिए अधिक करणकी कल्पना की जाय। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और

रत्नप्रभा

संख्यायाः न्यूनायाम् अन्तर्भावायोगात्सप्तैव प्राणाः स्युः लाघवानुरोधादित्येवं न मन्तव्यम् इति अन्वयः। तर्हि कतीन्द्रियाणि ? इति आकांक्षायामाह—उत्तरेति। 'श्रुतीनां मिथो विरोधे सति मानान्तरानुगृहीता श्रुतिः बलीयसी' इति न्यायेन कार्यलिङ्गानुमानानुगृहीतैकादशप्राणश्रुत्यनुसारेणान्याः श्रुतयो नेयाः इत्यभिसंधायाह—सत्यमिति। एकादशकार्यलिङ्गानि आह—शब्देति। त्रयः कालाः

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"अत्र" इत्यादिसे। आदानरूप कर्मसे गृहीत अर्थात् संबद्ध। सम्बन्धको ही कहते हैं—"हस्ताभ्याम्" इत्यादिसे। अधिक संख्याका न्यूनमें अन्तर्भाव न होनेसे सात ही प्राण हैं, लाघवके अनुरोधसे, ऐसा न मानना चाहिए, ऐसा अन्वय है। तब इन्द्रिया कितनी हैं ? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—"उत्तर" इत्यादिसे। 'श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेपर अन्य प्रमाणसे अनुगृहीत श्रुति अधिक बलवती है, इस न्यायसे कार्यरूप लिंगानुमानसे अनुगृहीत एकादश प्राणबोधक श्रुतिके अनुसार अन्य श्रुतियोंको गौण मानना चाहिए, इस आशयसे

भाष्य

तदर्थानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि। वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः पञ्च कर्मभेदाः, तदर्थानि च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। सर्वार्थविषयं त्रैकाल्यवृत्ति मनस्त्वेकमनेकवृत्तिकम्। तदेव वृत्तिभेदात् क्वचिद् भिन्नवद् व्यपदिश्यते—'मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं च' इति। तथा च श्रुतिः कामाद्या नानाविधा वृत्तीरनुक्रम्याऽऽह—'एतत् सर्वं मन एव' (बृ० १।५।३) इति। अपि च सप्तैव शीर्षण्यान् प्राणानभिमन्यमानस्य चत्वार एव प्राणा अभिमताः स्युः। स्थानभेदाद् ह्येते चत्वारः सन्तः सप्त गण्यन्ते 'द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे नासिके एका वाक्' इति। न च तावतामेव वृत्तिभेदा इतरे प्राणा इति

भाष्यका अनुवाद

गन्ध जिनके विषय हैं, ऐसे पांच बुद्धिके—ज्ञानके भेद हैं और उनके लिए पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। वचन, आदान—ग्रहण, विहरण—चलना, उत्सर्ग—मलका त्याग, आनन्द—सुखानुभव, ये पांच कर्मके भेद हैं और इनके लिए पांच कर्मेन्द्रियां हैं। सब पदार्थ जिसके विषय हैं, ऐसा तीनों कालकी वस्तुओंका ग्रहण करनेवाला मन एक है और उसकी अनेक वृत्तियां हैं। उसीका ही वृत्तिके भेदसे कहींपर भिन्नरूपसे व्यपदेश होता है—'मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं च' (मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त)। उसी प्रकार श्रुति काम आदि अनेक प्रकारकी वृत्तियोंका अनुक्रम करके कहती है—'एतत् सर्वं मन एव' (यह सब मन ही है)। और सात ही शीर्षण्य प्राण हैं, ऐसा माननेवालेको चार ही प्राण अभिमत होंगे, क्योंकि स्थानके भेदसे ये चार होकर सात गिने जाते हैं—'द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी०' (दो कान, दो आंखें, दो नासिकाएँ और एक वाणी)। तब अन्य प्राण उन्हींके ही वृत्तिभेद हैं, ऐसा नहीं

रत्नप्रभा

त्रैकाल्यं तद्विषया वृत्तिः यस्य तत् त्रैकाल्यवृत्ति। इन्द्रियान्तराणां वर्तमानमात्रग्राहित्वादतीतादिज्ञानाय मनः अङ्गीकार्यम् इत्यर्थः। विशेषितत्वादित्युक्तं निरस्यति—अपि च सप्तेति। न च तावतामिति। आदानादीनां श्रोत्रादिभ्योऽत्यन्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे। एकादश कार्यलिंगको कहते हैं—"शब्द" इत्यादिसे। तीनों कालोंको त्रैकाल्य कहते हैं—तीन कालमें जिसकी वृत्ति है, वह त्रैकाल्यवृत्ति—त्रिकालवृत्तिवाला कहलाता है। अन्य इन्द्रियां वर्तमानका ही ग्रहण करती हैं, अत एव अतीत आदिके ज्ञानके लिए मनका अङ्गीकार करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। 'विशेषितत्वात्' ऐसा जो कहा है, उसका

भाष्य

शक्यते वक्तुम्, हस्तादिवृत्तीनामत्यन्तविजातीयत्वात्। तथा 'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' इत्यत्रापि देहच्छिद्रभेदाभिप्रायेणैव दश प्राणा उच्यन्ते, न प्राणतत्त्वभेदाभिप्रायेण; नाभिर्दशमीति वचनात्। नहि नाभिर्नाम कश्चित् प्राणः प्रसिद्धोऽस्ति। मुख्यस्य तु प्राणस्य भवति नाभिरप्येकं विशेषायतनमित्यतो नाभिर्दशमीत्युच्यते। क्वचिदुपासनार्थं कतिचित्प्राणा गण्यन्ते, क्वचित् प्रदर्शनार्थम्। तदेवं विचित्रे प्राणेयत्ताम्नाने सति क्व किं परमाम्नानमिति विवेक्तव्यम्। कार्यजातवशात् त्वेकादशत्वाम्नानं प्राणविषयं प्रमाणमिति स्थितम्।

भाष्यका अनुवाद

कह सकते, क्योंकि हस्त आदिकी वृत्तियां अत्यन्त विजातीय हैं। इसी प्रकार 'नव वै पुरुषे०' (पुरुषमें नव ही प्राण हैं और नाभी दसवीं है) इस श्रुतिमें भी देहके छिद्रभेदके अभिप्रायसे ही दश प्राण कहे गये हैं, न कि प्राणतत्त्वके भेदके अभिप्रायसे। क्योंकि 'नाभिर्दशमी' (नाभी दसवीं है) ऐसा वचन है। नाभि नामका कोई प्राण प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु मुख्य प्राणका नाभि भी एक विशेष स्थान है, अतः नाभि दसवीं है, ऐसा कहा गया है। कहींपर उपासनाके लिए कितने ही प्राण गिने जाते हैं और कहींपर प्रदर्शनके लिए। इस प्रकार प्राणोंकी संख्याका भिन्न-भिन्नरूपसे कथन होनेके कारण किस वाक्यमें किस अर्थमें यह कथन है, इसका विचार करना चाहिए। ग्यारह कार्य हैं, इससे प्राणविषयक (इन्द्रियविषयक) एकादशत्वका कथन प्रमाण है, ऐसा स्थित है।

रत्नप्रभा

वैजात्यादित्यर्थः। तेषां तद्वृत्तित्वे बधिरादीनामादानादि न स्यादिति भावः। कथं तर्हि छिद्रे प्राणशब्द इति आशंक्य लक्षणया इति आह—मुख्यस्य त्विति। 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति' इति उपासनार्थम्। 'अष्टौ ग्रहाः' इति श्रुतिस्तु उपलक्षणार्थो। पायूपस्थपादानामपि बन्धकत्वाविशेषात् इति विवेक्तव्यम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

निराकरण करते हैं—"अपि च सप्त" इत्यादिसे। "न च तावताम्" इत्यादि। आदान आदि श्रोत्र आदिसे अत्यन्त विजातीय हैं, इससे, ऐसा अर्थ है। ये आदान आदि यदि श्रोत्र आदिके वृत्ति हों, तो बधिर आदिसे आदान आदि नही होंगे, ऐसा भाव है। तब छिद्रमें प्राणशब्दका प्रयोग किस प्रकार है? ऐसी आशंका करके, लक्षणासे, ऐसा कहते हैं—"मुख्यस्य तु" इत्यादिसे। 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति' यह उपासनाके लिए है। 'अष्टौ ग्रहा' यह श्रुति तो उपलक्षणके लिए है। क्योंकि वायु, उपस्थ, पाद ये भी समानरूपसे ही बन्धक हैं, इस प्रकार क्वचित् उपासनार्थ है और क्वचित् उपलक्षणार्थ है, ऐसा विवेक करना चाहिए। यदि कोइ कहे कि

भाष्य

इयमपरा सूत्रद्वययोजना—सप्तैव प्राणाः स्युः, यतः सप्तानामेव गतिः श्रूयते—'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्यत्र।

ननु सर्वशब्दोऽप्यत्र पठ्यते, तत्कथं सप्तानामेव गतिः प्रतिज्ञायत इति; विशेषितत्वादित्याह। सप्तैव हि प्राणाश्चक्षुरादयस्त्वक्पर्यन्ता विशेषिता इह प्रकृताः 'स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति' (बृ० ४।४।१) 'एकीभवति न पश्यतीत्याहुः' (बृ० ४।४।२) इत्येवमा-

भाष्यका अनुवाद

दोनों सूत्रोंकी यह दूसरी योजना है—प्राण सात ही हैं, क्योंकि 'तमुत्क्रामन्तम्०' (जीवके उत्क्रमण—शरीरत्यागके अनन्तर सब प्राण—इन्द्रियां उत्क्रमण करती हैं) इस श्रुतिमें सातोंकी ही गति श्रुत है।

पूर्वपक्षी—इस श्रुतिमें 'सर्व' शब्द भी पठित है, तो सातोंकी ही गतिकी किस प्रकार प्रतिज्ञा की जाती है? विशेषित होनेसे, ऐसा कहते हैं। क्योंकि 'स यत्रैष०' 'एकीभवति न पश्यतीत्याहुः' (जिस अवस्थामें वह यह नेत्रका अधिष्ठाता देवता सूर्यका अंशरूप पुरुष बहिर्देशसे स्वस्थानके प्रति आता है, उस समय जीव अरूपज्ञ—बाह्यरूपके ज्ञानसे रहित होता है, हृदयमें चक्षु एक होता है और पास खड़े हुए लोग उसे नहीं दीख पड़ते, ऐसा कहते हैं)

रत्नप्रभा

ननु इदं सूत्रव्याख्यानम् असंगतम्, पञ्चधीन्द्रियवाङ्मनसां सप्तत्वावगतिः शीर्षण्यानां चतुर्णां विशेषितत्वमिति हेतोः वैयधिकरण्यात्, उक्तपरिसंख्यादोषाच्चेत्यरुचेराह—इयमपरेति। इन्द्रियाणि कति? इति संदेहे पूर्वपक्षसूत्रं योजयति—सप्तेति। तं जीवात्मानं ये प्राणाः सह गच्छन्ति तेषामेव भोगहेतुत्वात् इन्द्रियत्वमित्यर्थः। विपन्नावस्थायामेव चाक्षुषश्चक्षुषि स्थितोऽनुग्राहकसूर्यांशरूपः पुरुषः पराङ् पर्यावर्तते बहिर्देशात्स्वांशिनं सूर्यं प्रतिगच्छ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रका यह व्याख्यान असंगत है, पांच बुद्धीन्द्रिय, वाणी और मन इस प्रकार सप्तत्वकी अवगति, और शीर्षण्य चारके प्राणोंसे विशेषितत्व हेतुके वैयधिकरण्य होनेसे तथा उक्त परिसंख्यामें दोष होनेसे अरुचि है, अत अन्य अर्थ कहते हैं—"इयमपरा" इत्यादिसे। इन्द्रिया कितनी हैं, ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वपक्ष सूत्रकी योजना करते हैं—"सप्त" इत्यादिसे। उस जीवात्माके साथ जो उत्क्रमण करते हैं, वे ही भोगहेतु होनेसे इन्द्रिया हैं, ऐसा अर्थ है। जब विपन्न अवस्थामें यह नेत्रमें स्थित अनुग्राहक सूर्यका अंशरूप पुरुष बाहरसे अपने अंशी सूर्यमें लौटकर जाता है

भाष्य

दिनाऽनुक्रमणेन। प्रकृतगामी च सर्वशब्दो भवति यथा 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इति ये निमन्त्रिताः प्रकृता ब्राह्मणास्त एव सर्वशब्देनोच्यन्ते नाऽन्ये। एवमिहापि ये प्रकृताः सप्त प्राणास्त एव सर्वशब्देनोच्यन्ते, नाऽन्य इति। नन्वत्र विज्ञानमष्टममनुक्रान्तम्, कथं सप्तानामेवानुक्रमणम्। नैष दोषः। मनोविज्ञानयोस्तत्वाभेदाद् वृत्तिभेदेऽपि सप्तत्वोपपत्तेः। तस्मात् सप्तैव प्राणा इति।

एवंप्राप्ते ब्रूमः—हस्तादयस्त्वपरे सप्तभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः प्रतीयन्ते—

भाष्यका अनुवाद

इत्यादि अनुक्रमणसे विशेषित नेत्रसे लेकर त्वक्पर्यन्त सात ही प्राण यहां प्रकृत हैं। 'सर्वे प्राणाः' यहांपर सर्वशब्द प्रकृतगामी—प्रकृत होनेसे इन्द्रियोंका विषय करनेवाला है। जैसे 'सर्वे ब्राह्मणाः भोजयितव्याः' (सब ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिए) यहांपर जो निमन्त्रित प्रकृत ब्राह्मण हैं, वे ही सर्वशब्दसे कहे जाते हैं, अन्य नहीं। उसी प्रकार यहां भी जो प्रकृत सात प्राण हैं, वे ही सर्वशब्दसे कहे जाते हैं, अन्य नहीं कहे जाते। परन्तु यहां आठवें विज्ञानका अनुक्रमण है, तो सातका ही अनुक्रमण है, यह कैसे कहते हो? यह दोष नहीं है, क्योंकि मन और विज्ञानके स्वरूपमें अभेद है, अतः वृत्ति भिन्न होनेपर भी सप्तत्वकी उपपत्ति होती है, इससे सात ही प्राण हैं।

रत्नप्रभा

ति। अथ तदानीमयं मुमूर्षुररूपज्ञो भवति। देवांशे देवं प्रविष्टे लिङ्गांशश्चक्षुर्हृदये मनसा एकीभवति तदायं न पश्यतीति पार्श्वस्था आहुरित्यर्थः। आदिपदात् 'न जिघ्रति, न वदति, न रसयते, न शृणोति, न मनुते, न स्पृशति, न विजानाति' इति गृह्यते। सप्तानामेव जीवेन सह गतिरित्यसिद्धं, ग्रहत्वश्रुत्या हस्तादीनामपि गतिप्रतीतेः इति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना। हस्तादिबन्धस्य प्राङ्

रत्नप्रभाका अनुवाद

तब यह मुमुर्षु अरूपज्ञ होता है। देवांशके देवमें प्रविष्ट होनेपर लिंगांश चक्षु हृदयमें एक होता है तब 'यह नही देखता' ऐसा पार्श्व स्थित लोक कहते हैं, ऐसा अर्थ है। आदि पदसे सूंघता नही, बोलता नही, चखता नही, सुनता नहीं, विचार नही करता, स्पर्श नहीं करता, नहीं जानता है, इनका ग्रहण होता है। सातकी ही जीवके साथ गति है, यह असिद्ध है, क्योंकि हस्तादि भी ग्रह हैं, ऐसी श्रुति होनेसे उनकी भी गति प्रतीत होती है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। हस्तादि बन्ध मोक्षपर्यन्त आत्माके अनुयायी हैं, इसमें स्मृति

भाष्य

'हस्तो वै ग्रहः' (बृ० ३।२।८) इत्यादिश्रुतिषु। ग्रहत्वं च बन्धनभावो गृह्यते, बध्यते क्षेत्रज्ञोऽनेन ग्रहसंज्ञकेन बन्धनेनेति। स च क्षेत्रज्ञो नैकस्मिन्नेव शरीरे बध्यते, शरीरान्तरेष्वपि तुल्यत्वाद् बन्धनस्य। तस्माच्छरीरान्तरसंचारीदं ग्रहसंज्ञकं बन्धनमित्यर्थादुक्तं भवति। तथाच स्मृतिः—

'पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते।
तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन च॥'

इति प्राङ् मोक्षाद् ग्रहसंज्ञकेनानेन बन्धनेनाऽवियोगं दर्शयति। आथर्वणे च विषयेन्द्रियानुक्रमणे 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' इत्यत्र तुल्यवद्धस्तादीनीन्द्रियाणि सविषयाण्यनुक्रामति—'हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च' (प्र० ४।८) इति। तथा दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति' (बृ० ३।९।४)

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—परन्तु 'हस्तो वै ग्रहः' (निश्चय हस्त ग्रह है) इत्यादि श्रुतियोंमें दूसरे हस्त आदि सातसे अतिरिक्त प्राण प्रतीत होते हैं। ग्रहत्वसे बन्धन समझा जाता है। क्षेत्रज्ञ इस ग्रहसंज्ञक बन्धनसे बांधा जाता है और क्षेत्रज्ञ एक ही शरीरमें नहीं बँध जाता है, क्योंकि अन्य शरीरोंमें भी बन्धन तुल्य है। इससे यह ग्रहसंज्ञक बन्धन अन्य शरीरोंमें संचरणशील है, ऐसा अर्थ कहा जाता है। इसी प्रकार स्मृति भी है—'पुर्यष्टकेन लिंगेन' (वह प्राणादि पुर्यष्टक लिंगसे युक्त होता है और उससे बद्धका बन्धन होता है और मुक्तका मोक्ष होता है)। यह स्मृति मोक्षके पूर्व ग्रहसंज्ञक इस बन्धनसे अवियोग दिखलाती है। और आथर्वणमे विषय और इन्द्रियोंके अनुक्रमणमें 'चक्षुश्च द्रष्टव्यञ्च' (नेत्र और द्रष्टव्य) इसमें समान रीतिसे हस्तादि इन्द्रियोंको विषयसहित गिनाते हैं—'हस्तौ चादातव्यं च०' (हाथ और आदातव्य—जिसका उपादान होता

रत्नप्रभा

मोक्षात्सहगतौ स्मृतिमाह—पुर्यष्टकेनेति। प्राणादिपञ्चकं भूतसूक्ष्मपञ्चकं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकमन्तःकरणचतुष्टयमविद्या कामः कर्म चेति पुर्यष्टकमा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"पुर्यष्टकेन" इत्यादिसे। पाच प्राणादि, पांच, सूक्ष्म भूत पांच कर्मेन्द्रियां, पाच ज्ञानेन्द्रियां, चार अन्तःकरण, अविद्या काम और कर्म, ये पुर्यष्टक हैं,

भाष्य

इत्येकादशानां प्राणानामुत्क्रान्तिं दर्शयति। सर्वशब्दोऽपि च प्राणशब्देन सम्बध्यमानोऽशेषान् प्राणानभिदधानो न प्रकरणवशेन सप्तस्वेवावस्थापयितुं शक्यते, प्रकरणाच्छब्दस्य बलीयस्त्वात्। 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इत्यत्रापि सर्वेषामेवाऽवनिवर्तिनां ब्राह्मणानां ग्रहणं न्याय्यम्, सर्वशब्दसामर्थ्यात्। सर्वभोजनासम्भवात्तु तत्र निमन्त्रितमात्रविषया सर्वशब्दस्य वृत्तिराश्रिता। इह तु न किञ्चित् सर्वशब्दार्थसंकोचने कारणमस्ति। तस्मात् सर्वशब्देनाऽत्राशेषाणां प्राणानां परिग्रहः। प्रदर्शनार्थं च सप्तानामनुक्रमणमित्यनवद्यम्—तस्मादेकादशैव प्राणाः शब्दतः कार्यतश्चेति सिद्धम् ॥६॥

भाष्यका अनुवाद

है, उपस्थ और आनन्दयितव्य, पायु और विसर्ग, दोनों पैर और उनका गन्तव्य)। इसी प्रकार 'दशेमे पुरुषे' (पुरुषमें ये दश प्राण हैं, आत्मा ग्यारहवां है, वे जब इस मर्त्य शरीरसे उत्क्रमण करते हैं, तब इसके सम्बन्धियोंको रुलाते हैं, इसलिए रुद्र कहलाते हैं) यह श्रुति ग्यारह प्राणोंकी उत्क्रान्ति दिखलाती है। सर्वशब्द भी प्राणशब्दके साथ सम्बन्ध रखता हुआ अशेष प्राणका अभिधान करता हुआ प्रकरणवशात् सातमें अवस्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रकरणसे शब्द विशेष बलवान् है। 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः' (सब ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिए) इसमें भी पृथिवीपर रहनेवाले सब ब्राह्मणोंका ही ग्रहण न्याय्य है, सर्वशब्दके सामर्थ्यसे। परन्तु सबके भोजनका संभव न होनेसे वहां शब्दकी वृत्ति केवल निमन्त्रित ब्राह्मणोंमें ही मानी जाती है। यहां तो सर्वशब्दके अर्थके संकोचमें कुछ कारण नहीं है। इसलिए सर्वशब्दसे यहां अशेष प्राणोंका परिग्रह है और प्रदर्शनके लिए सातोंका अनुक्रमण है, यह कथन निर्दुष्ट है। इसलिए शब्दसे और कार्यसे ग्यारह ही प्राण हैं, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

त्मनो ज्ञापकत्वात् लिङ्गं, सति संभवे सर्वश्रुतिसंकोचो न युक्त इत्याह—सर्वशब्दोऽपीति। तस्मात्संख्याश्रुतीनाम् अविरोधात् एकादशेन्द्रियकारणे ब्रह्मणि समन्वयः इति सिद्धम् ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और आत्माके ज्ञापक होनेसे वे लिङ्ग हैं, सम्भव होनेपर सब श्रुतियोंका संकोच करना युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"सर्वशब्दोऽपि" इत्यादिसे। इससे संख्याश्रुतियोंका विरोध न होनेसे एकादश इन्द्रियका कारणब्रह्ममें समन्वय है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ६ ॥

[३ प्राणाणुत्वाधिकरण सू० ७]

व्यापीन्यणूनि वाऽक्षाणि सांख्या व्यापित्वमूचिरे।
वृत्तिलाभस्तत्र तत्र देहे कर्मवशाद् भवेत् ॥ १ ॥
देहस्थवृत्तिमद्भागेष्वेवाक्षत्वं समाप्यताम् ।
उत्क्रान्त्यादिश्रुतेस्तानि ह्यणूनि स्युरदर्शनात् * ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—इन्द्रियाँ व्यापक हैं या अणु हैं ?

पूर्वपक्ष—उन उन देहोंमें कर्मके सामर्थ्यसे वृत्तिके लाभका सम्भव है, इसलिए इन्द्रियाँ व्यापक हैं, ऐसा साङ्ख्य कहते हैं।

सिद्धान्त—इन्द्रियाँ व्यापक नहीं हैं, अर्थात् देहमें रहनेवाले वृत्तिमद्भागोंमें ही इन्द्रियत्व है, देहसे बाहर नहीं है, इसलिए अणु हैं, क्योंकि उत्क्रान्ति आदिकी श्रुति है और उनका प्रत्यक्ष नहीं है।

अणवश्च ॥ ७ ॥

पदच्छेद—अणवः, च ।

पदार्थोक्ति—[पूर्वोक्ताः प्राणाः] च, अणवः—परिच्छिन्नपरिमाणाः [सूक्ष्माश्च सन्ति, इन्द्रियाग्राह्यत्वात्] ।

भाषार्थ—और वे प्राण—इन्द्रियां अणु—परिच्छिन्न तथा सूक्ष्म हैं अर्थात् विभु नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके अविषय हैं।

---

* आशय इस प्रकार है कि सांख्य कहते हैं—सर्वगत इन्द्रियोंको तत्-तत् शरीरावच्छिन्न प्रदेशोंमें तत्-तत् जीवके कर्मफलके उपभोगके लिए वृत्तिलाभ होता है।

सिद्धान्ती इसपर कहते हैं कि वह अयुक्त है, क्योंकि ऐसी कल्पना करनेसे गौरव है, यदि देहावच्छिन्न वृत्तिमद्भाग द्वारा ही सम्पूर्ण व्यवहार की उपपत्ति हो जाय, तो वृत्तिरहित सर्वगत इन्द्रियोंकी कल्पना करनेसे क्या प्रयोजन ? किञ्च, श्रुति जीवकी उत्क्रान्ति और आगतिका प्रतिपादन करती है, वे (गत्यागती) जीवकी मुख्य नहीं हो सकती हैं, अतः मुख्यत्वकी सिद्धिके लिए इन्द्रियरूप उपाधि स्वीकृत की गई है यदि वह भी उपाधि व्यापक होगी, तो उत्क्रान्ति आदि मुख्य कैसे होंगे ? इससे असर्वगत इन्द्रियाँ हैं, अर्थात् व्यापक नहीं हैं, मध्यम परिमाणमें ही अणुत्वकी विवक्षासे सूत्रकारने अणुशब्दका प्रयोग किया है।

भाष्य

अधुना प्राणानामेव स्वभावान्तरमभ्युच्चिनोति । अणवश्चैते प्रकृताः प्राणाः प्रतिपत्तव्याः । अणुत्वं चैषां सौक्ष्म्यपरिच्छेदौ, न परमाणुतुल्यत्वम्, कृत्स्नदेहव्यापिकार्यानुपपत्तिप्रसंगात् । सूक्ष्मा एते प्राणाः । स्थूलाश्चेत् स्युर्मरणकाले शरीरान्निर्गच्छन्तो बिलादहिरिवोपलभ्येरन् म्रियमाणस्य पार्श्वस्थैः । परिच्छिन्नाश्चैते प्राणाः सर्वगताश्चेत् स्युरुत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिव्याकोपः स्यात्, तद्गुणसारत्वं च जीवस्य न सिध्येत् । सर्वगताना-

भाष्यका अनुवाद

अब सूत्रकार प्राणोंके—इन्द्रियोंके ही इस सूत्रसे अन्य स्वभावका समुच्चय कहते हैं। ये प्रकृत प्राण अणु हैं, ऐसा समझना चाहिए। इन प्राणोंकी अणुता सूक्ष्मत्व और परिच्छेद है, परमाणुतुल्यता नहीं है, क्योंकि उसे परमाणुतुल्य माननेमें समस्त शरीरमें व्यापक कार्यकी अनुपपत्ति प्राप्त होगी। प्राण सूक्ष्म हैं, क्योंकि यदि स्थूल होते, तो मरणकालमें बिलसे निकलते हुए सर्पके समान मरते हुए पुरुषके शरीरसे निकलते हुए वे समीपस्थ लोगोंको दिखाई देते। और ये प्राण परिच्छिन्न हैं। यदि वे व्यापक हों, तो उत्क्रान्ति, गति और आगतिश्रुतिका विरोध होगा और जीवका अन्तःकरणगुणप्रधानत्व सिद्ध

रत्नप्रभा

अणवश्च । 'प्राणाः सर्वेऽनन्ताः' इति श्रुतेरिन्द्रियाणां विभुत्वात् तेषाम् उत्क्रान्तिः असिद्धा, किन्तु तत्तद्देहे तेषामभिव्यक्तिरूपाः प्रादेशिक्यो वृत्तयः सन्ति न तासामुत्क्रान्त्यादिरिति सांख्यानामाक्षेपः; तत्संगत्या प्राणाः किंपरिमाणा इति संदेहे सिद्धान्तयति—अधुनेत्यादिना । उत्पत्तिसंख्यानिर्णयानन्तरं परिमाणं निरूप्यत इत्यर्थः । अनुद्भूतरूपस्पर्शत्वं—सूक्ष्मत्वम् । परिच्छेदः—अल्पत्वम् । बुद्ध्यादीनां विभुत्वे तदुपाधिकम् आत्मनः अणुत्वादिकं न सिद्ध्येदित्युक्तन्यायविरोधमाह—तद्गुणसारत्वमिति । उक्ताक्षेपमनूद्य निरस्यति—सर्वगताना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अणवश्च"। 'प्राणाः सर्वेऽनन्ता' (सब प्राण अनन्त हैं) ऐसी श्रुति होनेसे इन्द्रिया विभु हैं, इसलिए उनकी उत्क्रान्ति असिद्ध है, परन्तु तत्-तत् देहमें उनकी अभिव्यक्तिरूप प्रादेशिकी वृत्तिया हैं, उनकी उत्क्रान्ति आदि नही होते हैं, ऐसा साख्योका आक्षेप है, उसकी संगतिसे प्राणोंका क्या परिमाण है? ऐसा सन्देह होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"अधुना" इत्यादिसे। उत्पत्ति और संख्याका निर्णय करनेके पश्चात् परिमाणोका निरूपण किया जाता है, ऐसा अर्थ है। अनुद्भूत रूप और स्पर्श जिसमे है, वह सूक्ष्म, परिच्छेद—अल्प। बुद्धि आदि

भाष्य

सर्पि वृत्तिलाभः शरीरदेशे स्यादिति चेत्, न; वृत्तिमात्रस्य करणत्वोपपत्तेः। यदेव ह्युपलब्धिसाधनम् वृत्तिः अन्यद्वा, तस्यैव नः करणत्वम्। संज्ञामात्रे विवाद इति करणानां व्यापित्वकल्पना निरर्थिका। तस्मात् सूक्ष्माः परिच्छिन्नाश्च प्राणा इत्यध्यवस्यामः॥ ७॥

भाष्यका अनुवाद

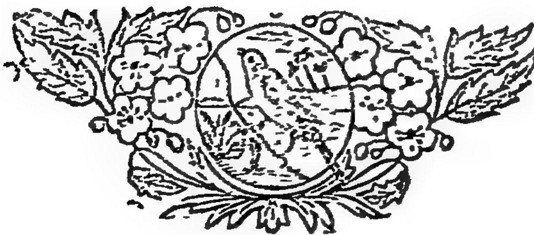
नहीं होगा। परन्तु व्यापक प्राणोंका भी शरीरप्रदेशमें वृत्तिलाभ होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वृत्तिमात्रके करणत्वका सम्भव है, क्योंकि वृत्ति हो, चाहे जो कुछ हो, जो उपलब्धिका साधन है, वही हमारे मतमें करण है। संज्ञामात्रमें विवाद होनेसे करण व्यापी हैं, ऐसी कल्पना निरर्थक है। इसलिए प्राण सूक्ष्म और परिच्छिन्न हैं, ऐसा निश्चय करते हैं॥७॥

रत्नप्रभा

मिति। आनन्त्यश्रुतेः उपासनार्थत्वात् न उत्क्रान्त्यादिश्रुतीनां तया विरोध इति सिद्धम्॥ ७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि विभु हों, तो आत्माका अणुत्व बुद्धिरूप उपाधिसे है, यह सिद्ध नहीं होगा, इस प्रकार उक्त न्यायका विरोध कहते हैं—"तद्गुणसारत्वम्" इत्यादिसे। उक्त आक्षेपका अनुवाद करके उसका निरसन करते हैं—"सर्वगतानाम्" इत्यादिसे। आनन्त्य श्रुतिके उपासनार्थक होनेसे उत्क्रान्ति आदि श्रुतिका उसके साथ विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ॥ ७॥



[४ प्राणश्रैष्ठ्याधिकरण सू०-८]

मुख्यः प्राणः स्यादनादिर्जायते वा न जायते ।
आनीदिति प्राणचेष्टा प्राक् सृष्टेः श्रूयते यतः ॥१॥
आनीदिति ब्रह्मसत्वं प्रोक्तं वातनिषेधनात् ।
एतस्माज्जायते प्राण इत्युक्तेरेष जायते* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—मुख्य प्राण अनादि है या उत्पन्न होता है ?

पूर्वपक्ष—अनादि है अर्थात् उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि 'आनीत्' इसशब्दसे सृष्टिके पूर्वमें प्राणकी चेष्टा सुनी जाती है।

सिद्धान्त—'आनीत्' शब्दसे ब्रह्मकी सत्ता कही गई है और प्राणके व्यापारका निषेध किया गया है एवं 'एतस्माज्जायते प्राणः' इससे प्राणकी उत्पत्ति स्पष्ट है, इसलिए प्राण अनादि नहीं है, प्रत्युत उत्पन्न होता है।

श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥

पदच्छेद—श्रेष्ठः, च ।

पदार्थोक्ति—श्रेष्ठः—मुख्यः प्राणः, च—अपि [इन्द्रियवत् ब्रह्मणो जायते] ।

भाषार्थ—इन्द्रियोंके समान मुख्य प्राण भी ब्रह्मसे उत्पन्न होता है।

---

* भाव यह है—मुखविवरसे निकलनेवाला वायु प्राण है, यह उत्पन्न नहीं होता है अथवा होता है ? इस प्रकार संशय होनेपर पूर्वपक्षी कहता है कि उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि उत्पत्तिके पूर्वमें 'आनीदवातम्' इसमें 'आनीत्' शब्दसे सृष्टिके पूर्वमें प्राणका व्यापार देखनेमें आता है अतः प्राण नित्य है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं—'आनीत्' शब्द प्राणके व्यापारको नहीं कहता है, क्योंकि 'अवातम्' इस श्रुतिसे उसके व्यापारका निषेध है, किन्तु ब्रह्मकी सत्ताको कहता है, क्योंकि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि सृष्टिके पूर्वमें अवस्थाप्रतिपादक अन्य श्रुतियोंके साथ समानार्थक है। 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादि श्रुति तो प्रत्यक्ष ही प्राणके जन्मका प्रतिपादन करती है, इससे यह सिद्ध है कि इन्द्रियके समान प्राण भी उत्पन्न होता है।

भाष्य

मुख्यश्च प्राण इतरप्राणवद् ब्रह्मविकार इत्यतिदिशति। तच्चाऽविशेषेणैव सर्वप्राणानां ब्रह्मविकारत्वमाख्यातम्, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २।१।३) इति सेन्द्रियमनोव्यतिरेकेण प्राणस्योत्पत्तिश्रवणात्, 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६।४) इत्यादिश्रवणेभ्यश्च। किमर्थः पुनरतिदेशः ? अधिकाशङ्कापाकरणार्थः। नासदासीये हि ब्रह्मप्रधाने सूक्ते

भाष्यका अनुवाद

मुख्य प्राण भी अन्य प्राणोंके समान ब्रह्मका विकार है, ऐसा सूत्रकार अतिदेश करते हैं। वह ब्रह्मविकारत्व सब प्राणोंका समानरूपसे ही कहा गया है। 'एतस्माज्जायते प्राणः०' (इससे प्राण, मन और सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं) इसमें इन्द्रियसहित मनसे अतिरिक्त प्राणकी उत्पत्तिका श्रवण है और 'स प्राणमसृजत' (उसने प्राणको उत्पन्न किया) इत्यादि पुष्कल श्रुतियाँ हैं। फिर अतिदेशका क्या प्रयोजन है ? अधिक आशंका दूर करनेके लिए यह अतिदेश है, क्योंकि नासदासीय नामके सुप्रसिद्ध ब्रह्म-

रत्नप्रभा

श्रेष्ठश्च। अतिदेशत्वात् न सगत्याद्यपेक्षा। 'तथा प्राणाः' इत्युक्तन्यायः अत्रातिदिश्यते। ननु प्राणो जायते न चेति संशयाभावादतिदेशो न युक्त इत्याक्षिपति—किमर्थ इति। निश्चितमहाप्रलये प्राणसद्भावश्रुत्या अधिकां शङ्कामाह—नासदासीये हीति। 'नासदासीत्' इत्यारभ्याधीत इत्यर्थः। तर्हि—तदा प्रलयकाले मृत्युः—मारको मृत्युमत्—कार्यं वा नासीत्—अमृतं च देवभोग्यं नासीत्, रात्र्याः प्रकेतः चिह्नरूपः चन्द्रः, अह्नः प्रकेतः सूर्यश्च न आस्तां, स्वधया सह इत्यन्वयः। पितृभ्यो देयमन्नं स्वधा। यद्वा स्वेन धृता माया स्वधा, तया सह तदेकं ब्रह्मानीत्

रत्नप्रभाका अनुवाद

"श्रेष्ठश्च" इत्यादि। अतिदेश होनेसे संगतिकी अपेक्षा नहीं है। 'तथा प्राणाः' इसमें कहे गये न्यायका अतिदेश करते हैं। यदि कोई कहे कि प्राण उत्पन्न होता है या नहीं ? ऐसा संशय न होनेसे अतिदेश युक्त नहीं है, ऐसा आक्षेप करते हैं—"किमर्थः" इत्यादिसे। निश्चित महाप्रलयमें प्राणके सद्भावका श्रवण होनेसे अधिक शंका करते हैं—"नासदासीये हि" इत्यादिसे। 'नासदासीत्' (असत् नहीं था) को आरंभ करके अधीत—पठित, ऐसा अर्थ है। तर्हि—तब प्रलयकालमें, मृत्युः—मारक या मृत्युमत् कार्य, नासीत् अमृतम्—देवभोग्य नहीं था। रात्रिका चिन्हभूत चन्द्रमा और दिवसका चिन्हभूत सूर्य नहीं थे, स्वधया—स्वधाके साथ, ऐसा अन्वय है। पितरोंके लिए देय अन्न स्वधा है। अथवा अपनेसे धारण की गई माया

भाष्य

मन्त्रवर्णो भवति 'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' (ऋ० सं० ८।७।१७) इति। आनीदिति प्राणकर्मोपादानात् प्रागुत्पत्तेः सन्तमिव प्राणं सूचयति। तस्मादजः प्राण इति जायते कस्यचिन्मतिः। तामतिदेशेनापनुदति। आनीच्छब्दोऽपि न प्रागुत्पत्तेः प्राणसद्भावं सूचयति अवातमिति विशेषणात्, 'अप्राणोह्यमनाः शुभ्रः' इति च मूलप्रकृतेः प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वस्य दर्शितत्वात्। तस्मात् कारणसद्भावप्रदर्शनार्थ एवाऽयमानीच्छब्द इति। श्रेष्ठः इति च मुख्यं प्राणमभिदधाति, 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च (छा० ५।१।१) इति श्रुतिनिर्देशात्। ज्येष्ठश्च प्राणः, शुक्रनिषेककाला-

भाष्यका अनुवाद

प्रधान सूक्तमें ऐसी श्रुति है—'न मृत्युरासीदमृतम्०' (महाप्रलय कालमें मृत्यु नहीं थी, और अमृत भी नहीं था, रात्रि तथा दिवसके चिन्हभूत चन्द्र और सूर्य नहीं थे, स्वधाके साथ अर्थात् पितृदेय भी नहीं था, वह अकेला वातवर्जित [ब्रह्म] था, उससे पर अन्य कुछ नहीं था), 'आनीत्' यह शब्द प्राणकर्मका ग्रहण होनेसे उत्पत्तिके पूर्व प्राणका विद्यमानकी भांति सूचन करता है। इससे प्राण जन्मरहित है, ऐसा किसीका मत हो सकता है। उसको अतिदेशसे दूर करते हैं। 'आनीत्' शब्द भी उत्पत्तिके पूर्व प्राणके सद्भावको सूचित नहीं करता, क्योंकि 'अवातम्' (वातवर्जित) ऐसा विशेषण है और 'अप्राणोऽह्यमना शुभ्रः' (निस्सन्देह, वह प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध है) इस प्रकार मूलप्रकृति प्राण आदि समस्त विशेषोंसे शून्य है, ऐसा दिखलाया है। इसलिए कारणके सद्भावको दिखानेके लिए ही यह 'आनीत्' शब्द है। 'श्रेष्ठः' यह शब्द मुख्य प्राणका अभिधान करता है, क्योंकि 'प्राणो वाव०' (प्राण ही ज्येष्ठ

रत्नप्रभा

आसीदिति परमार्थः। अत्रानीदिति तच्चेष्टां कृतवदिति पूर्वपक्षार्थः। तस्माद्ब्रह्मणः परः परमुत्कृष्टमन्यच्च किमपि न बभूवेत्यर्थः। परिहारः सुबोधः। ननु श्रेष्ठशब्दस्य प्राणे प्रसिद्ध्यभावात्कथं सूत्रमिति, तत्राह—श्रेष्ठ इति चेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वधा है, उसके साथ वही एक ब्रह्म था, ऐसा परमार्थ है। यहांपर 'आनीत्' इसका उसने चेष्टा की, ऐसा पूर्वपक्षका अर्थ है, उस ब्रह्मसे पर अर्थात् उत्कृष्ट और अन्य कुछ नहीं था, ऐसा अर्थ है। परिहार सहजमें जाना जा सकता है। परन्तु श्रेष्ठ शब्दकी प्राणमें प्रसिद्धि न होनेसे

भाष्य

दारभ्य तस्य वृत्तिलाभात् । न चेत् तस्य तदानीं वृत्तिलाभः स्याद् योनौ निषिक्तं शुक्रं पूयेत न सम्भवेद् वा । श्रोत्रादीनां तु कर्णशष्कुल्यादिस्थान-विभागनिष्पत्तौ वृत्तिलाभान्न ज्येष्ठत्वम् । श्रेष्ठश्च प्राणो गुणाधिक्यात्—'न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुम्' (बृ० ६।१।१३) इति श्रुतेः ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

और श्रेष्ठ है) ऐसा श्रुतिका निर्देश है। प्राण ज्येष्ठ है, क्योंकि वीर्यनिषेक कालसे—गर्भाधान कालसे प्राणकी स्थिति होती है। यदि उस समय उसका अस्तित्व न होता, तो गर्भाशय में स्थापित वीर्य दूषित हो जाता या उसका संभव न होता। श्रोत्र आदि तो ज्येष्ठ नहीं हैं, क्योंकि कर्ण-शष्कुलि आदि स्थान-विभाग होनेपर उनका अस्तित्व होता है। और प्राण श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें गुणोंका आधिक्य है, कारण कि 'न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुम्' (तुम्हारे विना हम नहीं जी सकते) ऐसी श्रुति है ॥८॥

रत्नप्रभा

श्रुतिं व्याचष्टे—ज्येष्ठश्च प्राण इत्यादिना । पूयेत—पूयं भवेत् । न संभवेत्तद्गर्भो न भवेदित्यर्थः । वागादिजीवनहेतुत्वं प्राणस्य गुणः । एवमानीच्छ्रुत्यविरोधा-त्प्राणोत्पत्तिश्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वय इति सिद्धम् ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्र कैसे होगा ? इसपर कहते हैं—"श्रेष्ठ इति च" इत्यादिसे। श्रुतिकी व्याख्या करते हैं—"ज्येष्ठश्च प्राण." इत्यादिसे। पूयेत—दूषित होता। न संभवेत्—उसका गर्भ नहीं होता, ऐसा अर्थ है। वाणी आदिके जीवनका हेतु प्राणका गुण है। इस प्रकार 'आनीत्' इस श्रुतिके साथ विरोध न होनेसे प्राणोत्पत्ति श्रुतिका ब्रह्ममें समन्वय है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ८ ॥



[५ वायुक्रियाधिकरण सू० ९-१२]

वायुर्वाऽक्षक्रिया वाऽन्यो वा प्राणः श्रुतितोऽनिलः ।
सामान्येन्द्रियवृत्तिर्वा सांख्यैरेवमुदीरणात् ॥ १ ॥
भाति प्राणो वायुनेति भेदोक्तेरेकताश्रुतिः ।
वायुजत्वेन सामान्यवृत्तिर्नाक्षेष्वतोऽन्यता* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—प्राण वायु है या इन्द्रियोंका सामान्य व्यापार है अथवा उन दोनोंसे पृथक् है ?

पूर्वपक्ष—'यः प्राणः स वायुः' इस श्रुतिसे प्राण वायु ही है अथवा इन्द्रियोंका सामान्य व्यापार है, क्योंकि साङ्ख्योंने ऐसा कहा है ।

सिद्धान्त—'प्राणो वायुना भाति' (वायुसे प्राण अभिव्यक्त होता है) ऐसा श्रुतिमें वायु और प्राणके भेदका कथन है और एकताकी उपपत्ति कार्यकारणके अभेदसे होगी, वैसे करणोंके सामान्य व्यापारका सम्भव नहीं है, अतः वायु और उक्त व्यापारसे प्राण पृथक् है ।

---

* इसका विस्तृत अर्थ यह है—पूर्वपक्षी कहता है कि वायु वेणुके छिद्रके समान मुखछिद्रमें प्रवेश कर प्राण नामसे प्रसिद्ध होता है न कि कोई प्राण अन्य पदार्थ है, अतः भगवती श्रुति इसी अर्थको कहती है—'यः प्राणः स वायुः' (जो प्राण है वह वायु ही है) अथवा जैसे पिंजरेमें रहनेवाले अनेक पक्षी अपने व्यापारसे पिंजरेको चलाते हैं, वैसे एकादश इन्द्रियाँ अपने अपने व्यापारसे देहको चलाती हैं, उसमें जो देहका चालनरूप सब इन्द्रियोंका सामान्य व्यापार है वही प्राण है अतः सांख्योंने कहा है—'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' (करणोंके सामान्य व्यापार प्राण, अपान आदि पाँच हैं) इससे प्राण अन्य तत्त्व नहीं है ।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि 'प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च' इस प्रकारकी अन्य श्रुतिमें चतुष्पाद् ब्रह्मकी उपासनाके प्रसङ्गसे आध्यात्मिक प्राणका और आधिदैविक वायुका परस्पर उपकार्य-उपकारकभावरूपसे भेद स्पष्ट ही बतलाया है, इससे 'यः प्राणः स वायुः' यह अभेदप्रतिपादक श्रुति कार्यकारणके अभेदवृत्तिसे समझनी चाहिए । 'सामान्यकरणवृत्तिः' इससे जो साङ्ख्योंने कहा है वह असङ्गत है, क्योंकि इन्द्रियोंकी सामान्यवृत्ति नहीं हो सकती है । पक्षियोंके तो पिंजरेके चालनके अनुकूल एक प्रकारके चालनरूप व्यापार हो सकते हैं, परन्तु वैसा इन्द्रियोंका व्यापार नहीं हो सकता है, क्योंकि दर्शन, श्रवण और गमन आदि उनके व्यापार पृथक् पृथक् हैं और वे व्यापार चालनके अनुकूल भी नहीं हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राण अन्य वस्तु है ।

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

पदच्छेद—न वायुक्रिये, पृथगुदेशात् ।

पदार्थोक्ति—न वायुक्रिये—मुख्यः प्राणः न वायुः, नापि क्रिया—इन्द्रियव्यापारः [किन्तु वायुविशेष एव, कुतः,] पृथगुपदेशात्—'स वायुना ज्योतिषा' इत्यादिना वायोः प्राणस्य च पृथगुपदेशात्, तथा 'एतस्माज्जायते प्राणः' इति श्रुत्या च इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशात् [नहीन्द्रियव्यापारस्य सतः इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो युज्यते, तस्माद् वायुविशेषोऽध्यात्मभावापन्नः पञ्चवृत्तिः प्राणः] ।

भाषार्थ—मुख्य प्राण वायु नहीं है और इन्द्रियव्यापार भी नहीं है, किन्तु वायु विशेष है, क्योंकि 'स वायुना ज्योतिषा' इत्यादि श्रुतिसे तथा 'एतस्माज्जायते प्राणः' इस श्रुतिसे भी वायु और प्राणका पृथक् पृथक् उपदेश है, इन्द्रियव्यापारका इन्द्रियोंसे पृथक् उपदेश नहीं हो सकता है, इसलिए अध्यात्मभावापन्न पञ्चवृत्ति ही प्राण है।

भाष्य

स पुनः मुख्यः प्राणः किंस्वरूप इतीदानीं जिज्ञास्यते। तत्र प्राप्तं तावच्छ्रुतेर्वायुः प्राण इति। एवं श्रूयते—'यः प्राणः स एष वायुः स एष

भाष्यका अनुवाद

उस मुख्य प्राणका स्वरूप कैसा है, इसकी अब जिज्ञासा होती है।

पूर्वपक्षी—श्रुतिसे ज्ञात होता है कि प्राण वायु है, क्योंकि ऐसी ही श्रुति है—'यः प्राणः स वायुः०' (जो प्राण है वह वायु है वह वायु पांच प्रकारका

रत्नप्रभा

इन्द्रियाणि विचार्य तद्व्यापारात् प्राणं पृथक्कर्तुमुत्पत्तिः अतिदिष्टा। संप्रति उत्पन्नप्राणस्वरूपं पृथक्करोति—**न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्**। मुख्यः प्राणः किं वायुमात्रम्, उत करणानां साधारणव्यापारः, आहोस्वित् तत्त्वान्तरम्? इति वायुप्राणयोर्भेदाभेदश्रुतीनां मिथोविरोधात् संशये पूर्वपक्षमाह—तत्रेति। द्वितीयं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इन्द्रियोंका विचारकर उनके व्यापारसे प्राणको अलग करनेके लिए प्राणकी उत्पत्तिका अतिदेश किया गया है। अब उत्पन्न हुए प्राणके स्वरूपका पृथक्करण करते हैं—"न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्" इत्यादिसे। मुख्य प्राण क्या वायुमात्र है या इन्द्रियोंका साधारण व्यापार है या अन्यतत्त्व है? इस प्रकार वायु और प्राणमें भेदश्रुति और अभेद श्रुतियोंके परस्पर विरोधसे संशय होनेपर पूर्वपक्ष कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। दूसरे अर्थात् सांख्य पूर्वपक्ष

भाष्य

वायुः पञ्चविधः—प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' इति। अथवा तन्त्रान्तरीयाभिप्रायात् समस्तकरणवृत्तिः प्राण इति प्राप्तम्। एवं हि तन्त्रान्तरीया आचक्षते—'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' इति।

अत्रोच्यते—न वायुः प्राणो नापि करणव्यापारः। कुतः? पृथगुपदेशात्। वायोस्तावत् प्राणस्य पृथगुपदेशो भवति—'प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च' (छा० ३।१८।४) इति। नहि वायुरेव सन् वायोः पृथगुपदिश्येत। तथा करणवृत्तेरपि पृथगुपदेशो भवति, वागादीनि करणान्यनुक्रम्य तत्र तत्र पृथक् प्राणस्याऽनुक्रमणात्, वृत्ति-

भाष्यका अनुवाद

है—प्राण, अपान व्यान, उदान और समान)। अथवा अन्य तन्त्रके अभिप्रायसे प्राण समस्त इन्द्रियोंकी वृत्ति है, ऐसा प्राप्त होता है। क्योंकि अन्य तन्त्रवाले ऐसा कहते हैं—इन्द्रियोंकी सामान्यवृत्ति—प्राण आदि पाँच वायु हैं।

सिद्धान्ती—यहांपर कहते हैं—प्राण वायु नहीं है और उसी प्रकार इन्द्रियोंका व्यापार भी नहीं है। किससे? पृथक् उपदेशसे। प्राणोंका वायुसे पृथक् उपदेश है—'प्राण एव०' (प्राण ही ब्रह्मका चौथा पाद है, वह वायुरूप ज्योतिद्वारा अभिव्यक्त होता है और तपता है) यदि प्राण वायुरूप ही होता, तो वायुसे उसका पृथक् उपदेश नहीं किया जाता। इसी प्रकार इन्द्रियोंकी वृत्तिसे भी प्राणका

रत्नप्रभा

सांख्यपूर्वपक्षमाह—अथ वेति।

सिद्धान्तत्वेन सूत्रमादत्ते—अत्रोच्यत इति। मनोरूपब्रह्मणो वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रैश्चतुष्पात्त्वं श्रुतावुक्तं। तत्र प्राणो वायुनाधिदैविकेन भात्यभिव्यज्यते अभिव्यक्तः संस्तपति—कार्यक्षमो भवतीत्यर्थः। श्रुतिषु तत्र तत्र प्राणस्य वागादीनां च मिथःसंवादलिङ्गेन पृथगुत्पत्तिलिङ्गेन च इन्द्रियतदभिन्नव्यापारेभ्योऽपि भिन्नत्वमित्याह—तथेति। प्राणस्येन्द्रियवृत्तित्वं श्रुत्या निरस्य युक्त्यापि निरस्यति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। सिद्धान्तरूपसे सूत्रका ग्रहण करते हैं—"अत्र उच्यते" इत्यादिसे। मनोरूप ब्रह्मके वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये चार पाद श्रुतिमें कहे गये हैं। [जैसे मार्गमें गाय पगसे चलती है, वैसे वाक् आदि द्वारा अपने विषयोंमें मन प्रवृत्त होता है] उसमें प्राण आधिदैविक वायु द्वारा अभिव्यक्त होता है और अभिव्यक्त होकर अपने व्यापारमें प्रवृत्त होता है—कार्यक्षम होता है, ऐसा अर्थ है। श्रुतियोंमें तत्र तत्र प्राण और वागादिके

भाष्य

वृत्तिमतोश्चाऽभेदात्। नहि करणव्यापार एव सन् करणेभ्यः पृथगुपदिश्येत। तथा 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुः' (मु० २।१।३) इत्येवमादयोऽपि वायोः करणेभ्यश्च प्राणस्य पृथगुपदेशा अनुसर्तव्याः। नच समस्तानां करणानामेका वृत्तिः संभवति, प्रत्येकमेकैकवृत्तित्वात्, समुदायस्य चाऽकारकत्वात्। ननु पञ्जरचालनन्यायेनैतद्भविष्यति—यथैकपञ्जरवर्तिन एकादशपक्षिणः प्रत्येकं प्रतिनियतव्यापाराः सन्तः संभूयैकं पञ्जरं चालयन्ति, एवमेकशरीरवर्तिन एकादश प्राणाः प्रत्येकं प्रतिनियतवृत्तयः सन्तः संभूयैकां प्राणाख्यां वृत्तिं प्रतिलप्स्यन्त इति। नेत्युच्यते—युक्तं तत्र

भाष्यका अनुवाद

पृथक् उपदेश है, क्योंकि वाक् आदि इन्द्रियोंका उपक्रम कर तत्-तत् प्रकरणमें पृथक् अनुक्रम है, और वृत्ति और वृत्तिमान्का अभेद है। यदि प्राण इन्द्रियोंका व्यापार ही होता, तो उसका इन्द्रियोंसे पृथक् उपदेश नहीं किया जाता। उसी प्रकार 'एतस्माज्जायते प्राणो०' (इससे प्राण, मन और सब इन्द्रियाँ, आकाश और वायु उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतियोंका, जिनमें वायुसे और इन्द्रियोंसे प्राणका पृथक् उपदेश है, उनका भी अनुसरण करना चाहिए। और समस्त इन्द्रियोंकी एक वृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रत्येककी पृथक् एक एक वृत्ति है और समुदाय कारक नहीं है। परन्तु पञ्जरचालन न्यायसे ऐसा होगा—जैसे एक पिंजरेमें रहनेवाले ग्यारह पक्षी प्रत्येक पृथक् पृथक् व्यापारवाले हैं, तो भी इकट्ठे होकर पिंजरेको हिलाते हैं; इसी प्रकार एक शरीरमें रहनेवाले ग्यारह प्राण प्रत्येक पृथक् पृथक् व्यापारवाले हैं, तो भी इकट्ठे होकर एक प्राणसंज्ञक व्यापार प्राप्त करेंगे, नहीं, ऐसा हम कहते हैं। प्रत्येकमें रहनेवाले पिंजरा हिलानेके अनुरूप

रत्नप्रभा

न च समस्तानामिति। या चक्षुःसाध्या वृत्तिः सैव न श्रोत्रादिसाध्या, करणानां प्रत्येकमेकैकरूपग्रहादिवृत्तावेव हेतुत्वात्। न च समुदायस्य वृत्तिः संभवति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

परस्पर संवादरूप लिंगसे और पृथक् उत्पत्तिरूप लिंगसे ये प्राण इन्द्रियोंसे और इन्द्रियोंसे अभिन्न व्यापारोंसे भी भिन्न हैं, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। प्राण इन्द्रियोंकी वृत्ति है, इसका श्रुतिसे निरसन करके युक्तिसे भी निरसन करते हैं—"न च समस्तानाम्" इत्यादिसे। जो व्यापार नेत्रेन्द्रियसे साध्य है वही व्यापार श्रोत्र आदिसे साध्य नहीं है, क्योंकि इन्द्रियोंमेंसे प्रत्येक एक एक रूपग्रहण आदि व्यापारका हेतु है और इन्द्रियसमुदायका व्यापार नहीं हो

भाष्य

प्रत्येकवृत्तिभिरवान्तरव्यापारैः पञ्जरचालनानुरूपैरेवोपेताः पक्षिणः संभूयैकं पञ्जरं चालयेयुरिति, तथा दृष्टत्वात्। इह तु श्रवणाद्यवान्तरव्यापारोपेताः प्राणा न संभूय प्राण्युरिति युक्तम्, प्रमाणाभावात्, अत्यन्तविजातीयत्वाच्च श्रवणादिभ्यः प्राणनस्य। तथा प्राणस्य श्रेष्ठत्वाद्युद्धोषणम्, गुणभावोपगमश्च तं प्रति वागादीनाम्, न करणवृत्तिमात्रे प्राणेऽवकल्पते, तस्मादन्यो वायुक्रियाभ्यां प्राणः। कथं तर्हीयं श्रुति—'यः प्राणः स वायुः' इति। उच्यते—वायुरेवाऽयमध्यात्ममापन्नः पञ्चव्यूहो विशेषात्मनाऽवतिष्ठमानः

भाष्यका अनुवाद

अवान्तर व्यापारोंसे युक्त पक्षी इकट्ठे होकर एक पिंजरेको हिलावें यह युक्त है, क्योंकि वैसा देखा जाता है। यहां तो श्रवण आदि अवान्तर व्यापारोंसे युक्त प्राण इकट्ठे होकर प्राणन व्यापार करें, यह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाण नहीं है और श्रवण आदिसे प्राणन व्यापार अत्यन्त विजातीय है, इसी प्रकार प्राणको श्रेष्ठ कहना और वाक् आदि इन्द्रियोंको उसका अंग मानना यह प्राणके इन्द्रिय व्यापारमात्र होनेपर नहीं घट सकता, इससे सिद्ध हुआ कि वायु और क्रियासे प्राण अन्य है। तब 'यः प्राणः स वायुः' (जो प्राण है, वह वायु है) इस श्रुतिकी क्या व्यवस्था होगी? कहते हैं—यह वायु ही अध्यात्मभावको प्राप्त

रत्नप्रभा

तस्यासत्त्वादित्यर्थः। **प्रमाणाभावादिति**। श्रोत्रादीनामेकप्राणनाख्यवृत्त्यनुकूलपरिस्पन्देषु मानाभावात्, श्रवणादीनामपरिस्पन्दत्वेन विजातीयानां, परिस्पन्दरूपप्राणनाननुकूलत्वादवान्तरव्यापाराभावान्न समस्तकरणवृत्तिः प्राण इत्यर्थः। किञ्च प्राणस्य करणवृत्तित्वे वागादीनामेव प्राधान्यं वाच्यं, नैतदस्तीत्याह—**तथा प्राणस्येति**। यथा मृदो घटो न वस्त्वन्तरं नापि मृन्मात्रं तद्विकारत्वात्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

सकता, क्योंकि वह नही है, ऐसा अर्थ है। "प्रमाणाभावात्" इत्यादि। श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके एक प्राणनसंज्ञक व्यापारके अनुकूल परिस्पन्दमें चलनादि व्यापारोंमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि परिस्पन्दनरूप न होनेसे प्राणनसे विजातीय श्रवण आदिका प्राणनरूप प्रधान व्यापारके अनुरूप न होनेके कारण अवान्तर व्यापार नहीं है, इसलिए प्राणन समस्त इन्द्रियोंका व्यापार नहीं है, ऐसा अर्थ है। और यदि प्राण इन्द्रियका व्यापार माना जाय, तो वाक् आदिका ही प्राधान्य कहना पड़ेगा, परन्तु वह संभव नही है, ऐसा कहते है—"तथा प्राणस्य" इत्यादिसे। जैसे

भाष्य

प्राणो नाम भण्यते, न तत्त्वान्तरं नापि वायुमात्रम्, अतश्चोभे अपि भेदाभेदश्रुती न विरुध्येते ॥ ९ ॥

स्यादेतत्—प्राणोऽपि तर्हि जीववदस्मिन् शरीरे स्वातन्त्र्यं प्राप्नोति, श्रेष्ठत्वाद् गुणभावोपगमाच्च तं प्रति वागादीनामिन्द्रियाणाम्। तथा ह्यनेकविधा विभूतिः प्राणस्य श्राव्यते—'सुप्तेषु वागादिषु प्राण एवैको हि जागर्ति प्राण एको मृत्युनाऽनाप्तः प्राणः संवर्गो वागादीन् संवृङ्क्ते प्राण इतरान् प्राणान् रक्षति मातेव पुत्रान्' इति। तस्मात् प्राणस्यापि जीववत् स्वातन्त्र्यप्रसङ्गः। तं परिहरति—

भाष्यका अनुवाद

होकर पांच अवस्थावाला होकर विशेष स्वरूपसे स्थित हुआ प्राण कहा जाता है, वह अन्य तत्त्व नहीं है और वायुमात्र भी नहीं है। इससे भेद श्रुति और अभेद श्रुति दोनों विरुद्ध नहीं हैं ॥ ९ ॥

परन्तु तब प्राण भी इस शरीरमें जीवके समान स्वतन्त्र है, क्योंकि वह श्रेष्ठ है और वाक् आदि इन्द्रियां उसके अंग हैं। क्योंकि प्राणकी अनेक प्रकारकी विभूतियां श्रुतिमें प्रतिपादित हैं—'सुप्तेषु वागादिषु०' (निश्चय, वागादि इन्द्रियोंके लीन होनेपर प्राण अकेला जागता है, प्राण ही अकेला मृत्युसे आप्त नहीं होता, वाग् आदिका संहरण करता है अतः प्राण संवर्ग है, जैसे माता पुत्रोंका रक्षण करती है वैसे प्राण अन्य प्राणोंका रक्षण करता है, इसलिए प्राण जीवके समान स्वतन्त्र है ऐसा प्रसक्त होता है, उसका परिहार करते हैं—

रत्नप्रभा

तथा वायोर्विकारः प्राण इत्यभेदश्रुतेर्गतिमाह—उच्यत इति। देहं प्राप्तः पञ्चावस्थो विकारात्मना स्थितो वायुरेव प्राण इत्यर्थः ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मृत्तिकासे घट अन्य वस्तु नहीं है, और मृत्तिकामात्र भी नहीं है, क्योंकि उसका विकार है वैसे ही प्राण वायुका विकार है, इस अभेद श्रुतिकी व्यवस्था कहते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे। देहमें प्राप्त अपान आदि पांच अवस्थावाला विकाररूपसे स्थित वायु ही प्राण है, ऐसा अर्थ है ॥ ९ ॥

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥१०॥

पदच्छेद—चक्षुरादिवत्, तु, तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः।

पदार्थोक्ति—तु-शब्दः उक्तशङ्कानिरासार्थः। [प्राणो न जीववत्स्वतन्त्रः किन्तु] चक्षुरादिवत्—यथा चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि करणत्वेन परतन्त्राणि तद्वत् [अयमपि प्राणः पराधीन एव, कुतः ?] प्राणसंवादप्रकरणे तैः चक्षुरादिभिः सहाऽस्य शिष्टेः—अनुशासनात्, तदादिभ्यः—अचेतनत्वादिभ्यो हेतुभ्यः।

भाषार्थ—प्राण जीवात्माके समान स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु चक्षु आदि करणके समान पराधीन है, क्योंकि प्राणोंके संवादके प्रकरणमें चक्षु आदिके साथ प्राणका कथन है और प्राणमें अचेतनत्व आदिका प्रतिपादन है।

भाष्य

तुशब्दः प्राणस्य जीववत् स्वातन्त्र्यं व्यावर्तयति। यथा चक्षुरादीनि राजप्रकृतिवज्जीवस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्रत्युपकरणानि न स्वतन्त्राणि, तथा मुख्योऽपि प्राणो राजमन्त्रिवज्जीवस्य सर्वार्थकरत्वेनोपकरणभूतो न स्वतन्त्रः। कुतः ? तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः। तैश्चक्षुरादिभिः सहैव प्राणः

भाष्यका अनुवाद

'तु' शब्द जीवके समान प्राणकी स्वतन्त्रताकी व्यावृत्ति करता है। राजसेवकके समान चक्षु आदि इन्द्रियां जैसे जीवके कर्तृत्व और भोक्तृत्वके प्रति उपकरण हैं, स्वतन्त्र नहीं, वैसे ही मुख्य प्राण भी राजाके मंत्रीके समान जीवका सर्वार्थ साधक होनेसे उपकरण भूत है, स्वतन्त्र नहीं है। किससे ? उसके साथ इसका शासन आदि होनेसे। प्राण संवाद आदिमें उनके—चक्षु आदिके साथ

रत्नप्रभा

प्राणस्य करणवृत्तित्वाभावे जीववद्भोक्तृत्वं स्यादिति शङ्कते—**स्यादेतदिति**। प्राणो न भोक्ता, भोगोपकरणत्वात्, चक्षुरादिवत्, इतिसूत्रार्थमाह—**तुशब्द इत्यादिना**। यथा बृहद्रथन्तरयोः सर्वत्र सहप्रयुज्यमानत्वेन सामत्वेन वा साम्यात्सह-

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि प्राण इन्द्रियोंका व्यापार नहीं माना जाय, तो वह जीवके समान भोक्ता होगा, ऐसी शंका करते है—"स्यादेतत्" इत्यादिसे। प्राण भोक्ता नहीं है, भोगका साधन होनेसे, चक्षु आदिके समान, ऐसा सूत्रका अर्थ कहते हैं—"तुशब्द" इत्यादिसे। जैसे बृहत् और रथन्तरका सर्वत्र साथ प्रयोग और साम होनेके कारण दोनोंके सादृश्य होनेसे साथ पाठ होता है, वैसे ही

भाष्य

शिष्यते प्राणसंवादादिषु, समानधर्माणां च सह शासनं युक्तं बृहद्रथन्तरादिवत्। आदिशब्देन संहतत्वाचेतनत्वादीन् प्राणस्य स्वातन्त्र्यनिराकरणहेतून् दर्शयति ॥ १० ॥

स्यादेतत्—यदि चक्षुरादिवत् प्राणस्य जीवं प्रति करणभावोऽभ्युपगम्येत, विषयान्तरं रूपादिवत् प्रसज्येत—रूपाद्यालोचनादिभिर्वृत्तिभिर्यथास्वं चक्षुरादीनां जीवं प्रति करणभावो भवति। अपि चैकादशैव कार्यजातानि रूपालोचनादीनि परिगणितानि, यदर्थमेकादश प्राणाः संगृहीताः। न तु द्वादशमपरं कार्यजातमवगम्यते, यदर्थमयं द्वादशः प्राणः प्रतिज्ञायेतेति। अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

ही प्राणका शासन है और समान धर्मवालोंका ही एक साथ शासन होना युक्त है, बृहत् और रथन्तर आदिके समान। आदिशब्दसे संहतत्व, अचेतनत्व आदि प्राणके स्वातन्त्र्यका निराकरण करनेवाले हेतु दिखलाते हैं ॥१०॥

यदि चक्षु आदिके समान प्राणका भी जीवके प्रति करणभाव स्वीकार किया जाय, तो रूपादिके समान उसके भी अन्य विषयकी प्राप्ति होगी। रूपादिके आलोचनादि अपनी वृत्तियों द्वारा चक्षु आदिके जीवके प्रति करणभावकी प्राप्ति होती है। और रूपके आलोचन आदि ग्यारह कार्यसमूहोंकी ही गणना की गई है (जिनके लिए ग्यारह प्राणोंका संग्रह किया गया है। किन्तु बारहवां दूसरा कार्य ज्ञात नहीं होता, जिसके लिए इस बारहवें प्राणकी प्रतिज्ञा की जाय, ऐसी शंका होनेपर सूत्रकार 'अकरणत्वाच्च' इत्यादि सूत्रसे उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

पाठः तथा करणैः सह उपकरणत्वेन साम्यात् प्राणस्य पाठः इति न हेत्वसिद्धिरित्यर्थः। किञ्च प्राणो न भोक्ता, सावयवत्वात्, जडत्वात्, भौतिकत्वात् च, देहवत् ॥१०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपकरण होनेके कारण इन्द्रियोंके साथ प्राणका सादृश्य होनेसे प्राणका इन्द्रियोंके साथ पाठ है, इसलिए हेतु असिद्ध नहीं है, ऐसा अर्थ है। और प्राण भोक्ता नहीं है, सावयव जड़ और भौतिक होनेसे, देह के समान ॥१०॥

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति ॥११॥

पदच्छेद—अकरणत्वात्, च, न, दोषः, तथा, हि, दर्शयति।

पदार्थोक्ति—अकरणत्वात्—प्राणस्य ज्ञानकरणत्वरहितत्वात्, न दोषः—चक्षुरादिवद्विषयान्तरप्रसङ्गलक्षणदोषो न [भवति, न च तावता प्राणस्य कार्याभाव इति शङ्क्यम्] हि—यतः तथा—शरीरेन्द्रियस्थितिलक्षणं कार्यम् 'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच' इत्यादिश्रुतिः दर्शयति—प्रतिपादयति।

भाषार्थ—प्राणके ज्ञानमे करण न होनेसे चक्षु आदिके समान अन्य विषयके प्रसङ्गका दोष नहीं है, प्राणका कोई कार्य नहीं है, ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'तान् वरिष्ठः०' इत्यादिश्रुति शरीर और इन्द्रियके धारणरूप कार्यको बतलाती है।

भाष्य

न तावद् विषयान्तरप्रसङ्गो दोषः, अकरणत्वात् प्राणस्य। नहि चक्षुरादिवत् प्राणस्य विषयपरिच्छेदेन करणत्वमभ्युपगम्यते। न चाऽस्यैतावता

भाष्यका अनुवाद

अन्य विषयकी प्राप्ति होना दोष नहीं है, क्योंकि प्राण अकरण हैं, चक्षु आदिके सनान विषयके परिच्छेदसे—विषयके निश्चयसे प्राणमें करणत्व नहीं माना जा सकता। इतनेसे—विषयपरिच्छेदके अभाव होनेके कारण

रत्नप्रभा

ननु यद्भोगोपकरणं तत् सविषयं दृष्टं यथा चक्षुरादिकं, प्राणस्य तु निर्विषयत्वादसाधारणकार्याभावाच्च नोपकरणत्वमिति शङ्कते—**स्यादेतदिति**। उक्तव्याप्तेः शरीरे व्यभिचाराद्देहेन्द्रियधारणोत्क्रान्त्याद्यसाधारणकार्यसत्त्वाच्च निर्विषयस्यापि प्राणस्य शरीरवद्भोगोपकरणत्वमक्षतम्, न तु चक्षुरादिवज्ज्ञानकर्मकरणत्वमस्ति येन सविषयत्वं स्यादिति परिहरति—**न तावदित्यादिना**। अहं श्रेयसि—स्वस्य श्रेष्ठतानिमित्तम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो भोगका उपकरण है वह लोकमें चक्षु आदिके समान सविषय देखा जाता है, प्राण तो निर्विषय है और उसका कोई असाधारण कार्य नहीं है, अतः वह उपकरण नहीं हो सकता, ऐसी शङ्का करते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे। उक्त व्याप्तिका शरीरमें व्यभिचार है और प्राणके असाधारणकार्य—देह और इन्द्रियका धारण, उत्क्रमण आदि हैं, अतः प्राणके निर्विषय होनेपर भी शरीरकी भांति उसमें भोगोपकरणता अक्षत है, परन्तु चक्षु आदिके समान प्राणमें ज्ञानरूप कर्मकी करणता नहीं है

भाष्य

कार्याभाव एव। कस्मात्? तथा हि श्रुतिः प्राणान्तरेष्वसंभाव्यमानं मुख्यप्राणस्य वैशेषिकं कार्यं दर्शयति प्राणसंवादादिषु। 'अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरे' इत्युपक्रम्य 'यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठः' (छा० ५।१।६-७) इति चोपन्यस्य प्रत्येकं वागाद्युत्क्रमणेन तद्वृत्तिमात्रहीनं यथापूर्वं जीवनं दर्शयित्वा प्राणोच्चिक्रमिषायां वागादिशैथिल्यापत्तिं शरीरपातप्रसङ्गं च दर्शयन्ती श्रुतिः प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियस्थितिं दर्शयति। 'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' इति च एतमेवार्थं श्रुतिराह। 'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्' (बृ० ४।३।१२) इति च सुप्तेषु चक्षुरादिषु प्राण-

भाष्यका अनुवाद

कार्यका अभाव नहीं हो सकता। किससे? क्योंकि श्रुति अन्य प्राणोंमें न होनेवाला मुख्य प्राणका विशिष्ट कार्य प्राणसंवाद आदिमें दिखलाती है। 'अथ ह प्राणाः०' (अनन्तर प्राणोंने अपनी श्रेष्ठताके लिए विवाद किया) इसका उपक्रम करके 'यस्मिन् वा०' (तुममेंसे जिसका उत्क्रमण होनेपर शरीर पापिष्ठतर-सा दीखे वह तुममें श्रेष्ठ है) ऐसा उपन्यास करके प्रत्येक वाक् आदिके उत्क्रमणसे केवल उसकी वृत्तिमात्रहीन पूर्वकी तरह जीवन दिखलाकर प्राणके उत्क्रमण करनेकी इच्छा करनेपर वाक् आदिकी शिथिलताका और शरीरपातका प्रसंग दिखलाती हुई श्रुति शरीर और इन्द्रियोंकी स्थिति प्राणनिमित्त ही है, ऐसा दिखलाती है। 'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच०' (उनसे मुख्य प्राणने कहा—अविवेकसे अभिमान मत करो, मैं ही अपने स्वरूपके पांच विभाग करके इस कार्यकरणसंघातरूप शरीरको अवलम्बन करके धारण करता हूँ) यह श्रुति भी इसी अर्थको कहती है। 'प्राणेन रक्षन्नवरं०' (प्राण द्वारा निकृष्ट शरीरका रक्षण करता हुआ) इस प्रकार श्रुति चक्षु आदिके लीन

रत्नप्रभा

व्यूदिरे—विवादं चक्रिरे। तद्वृत्तिमात्रहीनमिति। मूकादिभावेन स्थितमित्यर्थः। अवरम्—नीचं, कुलायम्—देहाख्यं गृहम्, प्राणेन रक्षन् जीवः स्वपितीत्यर्थः। तदैव—

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिससे प्राण सविषय हो, इस प्रकार परिहार करते हैं—"न तावत्" इत्यादिसे। अहं श्रेयसि—अपनी श्रेष्ठताके लिए। व्यूदिरे—विवाद किया। "तद्वृत्तिमात्रहीनम्" इत्यादि। मूकादिभावसे स्थित, ऐसा अर्थ है। अवर—नीच। कुलाय—देहसंज्ञक घर। प्राणसे रक्षा करता

भाष्य

निमित्तां शरीररक्षां दर्शयति। 'यस्मात् कस्माच्चाऽङ्गात् प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति' (बृ० १।३।१९)। 'तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति' इति च प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियपुष्टिं दर्शयति। 'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि' इति, 'स प्राणमसृजत' इति च प्राणनिमित्ते जीवस्योत्क्रान्तिप्रतिष्ठे दर्शयति ॥११॥

भाष्यका अनुवाद

होनेपर प्राणसे शरीरकी रक्षा दिखलाती है। 'यस्मात् कस्माच्चाङ्गात्०' (जिस किसी अंगसे प्राण उत्क्रमण करता है, उसी समय वह अंग शुष्क—नीरस हो जाता है), और 'तेन यदश्नाति०' (उस प्राणद्वारा जीव जो खाता है और जो पीता है उससे अन्य प्राणोंका रक्षण करता है) इस प्रकार श्रुति प्राणनिमित्त शरीरकी और इन्द्रियोंकी पुष्टि दिखलाती है। 'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त०' (किसके देहसे उत्क्रान्त होनेपर मैं उत्क्रान्त होऊँगा और किसके देहमें प्रतिष्ठित होनेपर मैं प्रतिष्ठित होऊँगा) यह विचार कर 'स प्राणमसृजत०' (उसने प्राणको उत्पन्न किया) यह श्रुति जीवकी उत्क्रान्ति और प्रतिष्ठा प्राणनिमित्तक है, ऐसा दिखलाती है ॥११॥

रत्नप्रभा

तदानीमेव। तेन प्राणेन यदश्नाति जीवस्तेन प्राणकृताशनेनेति यावत् ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हुआ जीव सोता है, ऐसा अर्थ है। तदेव—तभी। तेन यदश्नाति—उस प्राणसे जीव जो भोजन करता है उस प्राणकृत भोजन द्वारा, ऐसा अर्थ है ॥११॥

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥१२॥

पदच्छेद—पञ्चवृत्तिः, मनोवत्, व्यपदिश्यते।

पदार्थोक्ति—मनोवत्—यथा मनसः श्रोत्रादिनिमित्ताः शब्दादिविषयाः पञ्चवृत्तयः तद्वत् [प्राणोऽपि] पञ्चवृत्तिः—प्राणादिपञ्चवृत्तिः ['प्राणोऽपानो०' इत्यादिश्रुतिषु] व्यपदिश्यते—उपदिश्यते।

भाषार्थ—जिस प्रकार श्रोत्र आदिके निमित्तसे अन्तःकरणकी शब्द आदि विषयक पाच वृत्तियाँ होती हैं, उसी प्रकार 'प्राणोऽपानो०' इत्यादि श्रुतिमें प्राणकी भी प्राण आदिके भेदसे पांच वृत्तियां कही गई हैं।

भाष्य

इतश्चाऽस्ति मुख्यस्य प्राणस्य वैशेषिकं कार्यम्, यत्कारणं पञ्चवृत्तिरयं व्यपदिश्यते श्रुतिषु—'प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' (बृ०१।५।३) इति। वृत्तिभेदश्चायं कार्यभेदापेक्षः—प्राणः प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा, अपानोऽवाग्वृत्तिर्निश्वासादिकर्मा, व्यानस्तयोः संधौ वर्तमानो वीर्यवत्कर्महेतुः, उदान ऊर्ध्ववृत्तिरुत्क्रान्त्यादिहेतुः, समानः समं सर्वेष्वङ्गेषु योऽन्नरसान्नयतीति। एवं पञ्चवृत्तिः प्राणो मनोवत्—यथा मनसः पञ्चवृत्तय एवं प्राणस्याऽपीत्यर्थः। श्रोत्रादिनिमित्ताः शब्दादिविषया मनसः पञ्च वृत्तयः प्रसिद्धाः, न तु कामः संकल्प इत्याद्याः परिपठिताः परिगृह्येरन्, पञ्चसंख्या-

भाष्यका अनुवाद

और इस कारणसे भी मुख्य प्राणका विशेष कार्य है, क्योंकि श्रुतियोंमें प्राण पांच वृत्तिवाला कहा जाता है—'प्राणोऽपानो०' (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) इस भेदसे। और यह वृत्तिभेद कार्यभेदकी अपेक्षासे है। प्राण प्राग्वृत्ति—जिसका व्यापार नासिकासे बाहर निकलता है और उच्छ्वास आदि कर्म करनेवाला है। अपान अवाग्वृत्ति—जिसका व्यापार भीतर आकर्षण है और निश्वास आदि कर्म करता है। व्यान इन दोनोंकी सन्धिमें रहता हुआ और वीर्यवान् कर्मका हेतु है। उदान ऊर्ध्व वृत्तिवाला है और उत्क्रान्ति आदिका हेतु है। जो सब अवयवोंमें अन्नरसोंको ले जाता है, वह समान है। इस प्रकार मनके समान प्राण भी पांच वृत्तिवाला है। जैसे मनकी पांच वृत्तियां हैं वैसे प्राणकी भी पांच वृत्तियां हैं, ऐसा अर्थ है। श्रोत्रादिनिमित्तक शब्दादिविषयक मनकी, पांच वृत्तियां प्रसिद्ध हैं, परन्तु काम, संकल्प आदि 'कामः' इत्यादि श्रुतिमें पठित मनकी वृत्तियोंका यहां ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि काम आदि वृत्तिकी संख्या

रत्नप्रभा

एवं श्रुतेः प्राणस्यासाधारणं कार्यमस्ति इति उक्तम् तत्रैव हेत्वन्तरार्थं सूत्रं व्याचष्टे—इतश्चेत्यादिना। वृत्तिः—अवस्था। अग्निमन्थनादिकम्—वीर्यवत्कर्म। कामादिवृत्तिवत् ज्ञानेऽपि पञ्चत्वनियमो नास्तीत्यरुचिं स्वयमेवोद्भाव्य पक्षान्तरं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार श्रुतिसे प्राणका असाधारण कार्य है, ऐसा कहा है। अब इसमें अन्य हेतुके लिए सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"इतश्च" इत्यादिसे। वृत्ति—अवस्था। अग्निमन्थन आदि वीर्यवत् कार्य हैं। काम आदि वृत्तिके समान ज्ञानमें भी पंचत्व नियम नहीं है, इस प्रकार अरुचि दिखलाकर अन्य पक्षका ग्रहण करते हैं—"नन्वत्रापि" इत्यादिसे।

भाष्य

तिरेकात्। नन्वत्रापि श्रोत्रादिनिरपेक्षा भूतभविष्यदादिविषयाऽपरा मनसो वृत्तिरस्तीति समानः पञ्चसंख्यातिरेकः। एवं तर्हि 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' इति न्यायादिहापि योगशास्त्रप्रसिद्धा मनसः पञ्चवृत्तयः परिगृह्यन्ते— 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः' (पा० यो० सू० १।१।६) नाम। बहुवृत्तित्वमात्रेण वा मनः प्राणस्य निदर्शनमिति द्रष्टव्यम्। जीवोपकरणत्वमपि प्राणस्य पञ्चवृत्तित्वान्मनोवदिति वा योजयितव्यम् ॥१२॥

भाष्यका अनुवाद

पांचसे अधिक हो जायगी। परन्तु ज्ञानमें भी श्रोत्रादिकी जिनको अपेक्षा नहीं है और भूत, भविष्यत् आदि जिनके विषय हैं, ऐसी मनकी दूसरी वृत्तियां हैं, इस प्रकार पांचकी संख्यामें अधिकता समान है। यदि ऐसा हो, तो 'परमतमप्रतिषिद्ध०' (यदि परमत प्रतिषिद्ध न हो, तो वह अनुमत होता है) इस न्यायसे यहां भी योगशास्त्रमें प्रसिद्ध मनकी पांच वृत्तियोंका परिग्रहण होता है—'प्रमाणविपर्ययविकल्प०' (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति)। अथवा अनेक वृत्तिवाला होनेसे ही मन प्राणका दृष्टान्त है, ऐसा समझना चाहिए। प्राण भी जीवका उपकरण है, पांचवृत्तिवाला होनेसे, मनके समान, ऐसी योजना करनी चाहिए ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

गृह्णाति—नन्वत्रापीत्यादिना। प्रमाणं—प्रमितिः, विपर्ययः—भ्रमः, शशविषाणादिज्ञानम्—विकल्पः, तामसी वृत्तिः—निद्रा, स्मृतिः प्रसिद्धा। भ्रमनिद्रयोरविद्यावृत्तित्वात् न मनोवृत्तित्वमित्यरुच्या स्वमतमाह—बहिति। सूत्रस्यार्थान्तरमाह—जीवेति। तदेवं प्राणवायोः भेदाभेदश्रुत्योः अविरोध इति सिद्धम् ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रमाण—प्रमिति। विपर्यय—भ्रम। शशविषाण आदिका ज्ञान विकल्प है। तामसी वृत्ति निद्रा है। स्मृति प्रसिद्ध है। भ्रम और निद्रा ये अविद्यावृत्ति होनेसे मनोवृत्ति नहीं हैं, ऐसी अरुचिसे अपना मत कहते हैं—"बहु" इत्यादिसे। सूत्रका अन्य अर्थ कहते हैं—"जीव" इत्यादिसे। इस प्रकार प्राण और वायुकी भेदाभेदश्रुतियोंमें विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥१२॥



[६ श्रेष्ठाणुत्वाधिकरण सू० १३]

प्राणोऽयं विभुरल्पो वा विभुः स्यात् प्लुष्युपक्रमे ।
हिरण्यगर्भपर्यन्ते सर्वदेहे समोक्तितः ॥ १ ॥
समष्टिव्यष्टिरूपेण विभुरेवाधिदैविकः ।
आध्यात्मिकोऽल्पः प्राणः स्याददृश्यश्च यथेन्द्रियम्* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—यह प्राण विभु है या परिच्छिन्न है ?

पूर्वपक्ष—व्यापक है, क्योंकि प्लुषी और मशकसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्य्यन्त सब देहोंमें समानताका कथन है ।

सिद्धान्त—आधिदैविक प्राण भले ही समष्टिरूपसे व्यापक हो, परन्तु आध्यात्मिक प्राण तो इन्द्रियोंके समान परिच्छिन्न और अदृश्य है ।

अणुश्च ॥ १३ ॥

पदच्छेद—अणुः, च ।

पदार्थोक्ति—[पूर्वोक्तो मुख्यः प्राणः] अणुः—परिच्छिन्नः, च—अपि, सूक्ष्मः इत्यर्थः ।

भाषार्थ—पूर्व अधिकरणमें उक्त मुख्य प्राण अणु है अर्थात् परिच्छिन्न और सूक्ष्म है ।

---

* भाव यह है कि प्लुषि—मशकसे भी छोटा पुत्तिका नामवाला जीव, उससे लेकर हिरण्यगर्भपर्य्यन्त सब शरीरोंमें उन उन देहोंके साथ प्राणके तुल्यत्वका श्रवण होता है, जैसे 'समः प्लुषिणा समो मशकेन' इत्यादिसे । इसलिए प्राण व्यापक है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं कि आधिदैविक हिरण्यगर्भके प्राणकी व्यष्टि और समष्टिरूपसे अवस्थिति होनेके कारण वह भले ही व्यापक रहे, क्योंकि 'वायुरेव व्यष्टिः वायुरेव समष्टिः' ऐसी श्रुति है, वही विभुत्व 'समः प्लुषिणा' इत्यादि श्रुतिमें प्रपञ्चित है, परन्तु आध्यात्मिक प्राण तो इन्द्रियोंके समान अदृश्य और परिच्छिन्न है ।

भाष्य

अणुश्चाऽयं मुख्यः प्राणः प्रत्येतव्यः, इतरप्राणवत्। अणुत्वं चेहाऽपि सौक्ष्म्यपरिच्छेदौ, न परमाणुतुल्यत्वम्। पञ्चभिर्वृत्तिभिः कृत्स्नशरीरव्यापित्वात्—सूक्ष्मः प्राण उत्क्रान्तौ पार्श्वस्थेनानुपलभ्यमानत्वात्। परिच्छिन्नश्च, उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिभ्यः।

ननु विभुत्वमपि प्राणस्य समाम्नायते—'समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण' (बृ० १।३।२२) इत्येवमादिप्रदेशेषु।

भाष्यका अनुवाद

अन्य प्राणोंके समान मुख्य प्राण भी अणु है, ऐसा जानना चाहिए। यहां भी अणुत्व सूक्ष्मत्व और परिच्छेद है, परमाणुतुल्यत्व नहीं है। क्योंकि मुख्य पांच वृत्तियों द्वारा समस्त शरीरमें व्याप्त है, प्राण सूक्ष्म है, क्योंकि उत्क्रान्तिके समय समीप स्थित लोगोंसे उपलब्ध नहीं होता। परिच्छिन्न भी है, क्योंकि उत्क्रान्ति, गति और आगतिकी श्रुतियां हैं।

पूर्वपक्षी—श्रुतिमें प्राणका विभुत्व भी कहा जाता है—'समः प्लुषिणा०' (पुत्तिकाके समान, मच्छड़के समान, हाथीके समान, इन तीनों लोकोंके समान, इन सबके समान) इत्यादि प्रदेशोंमें।

रत्नप्रभा

एवं मुख्यप्राणस्य उत्पत्तिं स्वरूपं च उक्त्वा परिमाणसंदेहे अणुत्वम् उपदिशति—अणुश्चेति। अधिकाशङ्कामाह—ननु विभुत्वमपीति। प्लुषिः—मशकादपि सूक्ष्मो जन्तुः पुत्तिकेत्युच्यते। नागः—हस्ती। 'प्राण उत्क्रामति' इति श्रुत्या अल्पत्वं प्राणस्य भाति, 'समोऽनेन सर्वेण' इति श्रुत्या विभुत्वम् इति विरोधे आध्यात्मिकप्राणस्य अल्पत्वम्, आधिदैविकस्य विभुत्वम्, इति विषयभेदात् श्रुत्योः

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार मुख्य प्राणकी उत्पत्ति और स्वरूप कहकर परिमाणमें सन्देह होनेपर अणुत्वका उपदेश करते हैं—"अणुश्च" इत्यादिसे। अधिककी आशङ्का करते हैं—"ननु विभुत्वम्" इत्यादिसे। प्लुषि—मशकसे भी छोटा जन्तु जो पुत्तिका नामसे कहा जाता है। नाग—हाथी। 'प्राण उत्क्रामति' (प्राण उत्क्रमण करता है) इस श्रुतिसे प्राण अल्प है, ऐसा समझा जाता है। 'समोऽनेन सर्वेण' (इन सबके समान) इस श्रुतिसे प्राण विभु है, इस प्रकार विषयके भेदसे श्रुतियां अविरुद्ध हैं, ऐसा समाधान करते हैं—"तदुच्यते" इत्यादिसे। किंच, उपक्रममें भी प्राण पुत्तिका

भाष्य

तदुच्यते—आधिदैविकेन समष्टिव्यष्टिरूपेण हैरण्यगर्भेण प्राणात्मनैवैतद् विभुत्वमाम्नायते नाऽऽध्यात्मिकेन। अपि च समः प्लुपिणेत्यादिना साम्यवचनेन प्रतिप्राणिवर्तिनः प्राणस्य परिच्छेद एव प्रदर्श्यते तस्माददोषः ॥१३॥

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती उसपर कहते हैं—आधिदैविक समष्टिरूप और व्यष्टिरूप, हिरण्यगर्भके प्राणस्वरूपसे ही यह विभुत्व श्रुतिमें कहा है, आध्यात्मिक स्वरूपसे नहीं। और 'पुत्तिकाके समान है'—इत्यादि तुल्यताके वचनसे प्रत्येक प्राणीमें रहनेवाले प्राणका परिच्छेद ही दिखलाया है इसलिए दोष नहीं है ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

अविरोध इति समाधत्ते—तदुच्यत इति। किंच उपक्रमे प्राणस्य प्लुप्यादिसमत्वेनाल्पत्वोक्तेः सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः इति विराड्देहसाम्यम्, समोऽनेनेति सूत्रात्मत्वम् इति विषयव्यवस्था सुस्थेत्याह—अपि चेति। अणवश्चेत्यत्र 'सर्वेऽनन्ता' इति इन्द्रियानन्त्यम् उपासनार्थम् इति समाहितम्, अत्र तु प्राणविभुत्वम् आधिदैविकम् इति समाधानान्तरोक्तेः अपौनरुक्त्यम्। अन्ये तु प्रसङ्गात् तत्र सांख्याक्षेपो निरस्तः, अत्र तु श्रुतिविरोधो निरस्त इत्यपौनरुक्त्यमाहुः ॥१३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिके समान है, इस प्रकार उसके अल्पत्वके कथनसे 'इन तीनों लोकोंके समान' इस प्रकार विराडात्मा देहके समान कही गई है। 'इन सबके समान' इस प्रकार सूत्रात्मा कही गई है, इस तरह विषयव्यवस्था युक्त है, ऐसा कहते है—"अपि च" इत्यादिसे। 'अणवश्च' इस सूत्रमें 'प्राणाः सर्वेऽनन्ताः' इस श्रुतिमें इन्द्रियोंकी जो अनन्तता कही गई है, वह उपासनाके लिए है, ऐसा समाधान किया है। यहां तो प्राणका विभुत्व आधिदैविक है, इस प्रकार अन्य समाधान कहा है, इससे पुनरुक्ति नहीं है। दूसरे टीकाकार कहते हैं कि वहां प्रसंगसे सांख्यके आक्षेपका निराकरण किया है और यहां श्रुतिके विरोधका निरसन किया है, इस प्रकार पुनरुक्ति दोष नहीं है ॥१३॥



[७ ज्योतिराद्यधिकरण सू० १४–१६]

स्वतन्त्रा देवतन्त्रा वा वागाद्याः स्युः स्वतन्त्रता ।
नोचेद्वागादिजो भोगो देवानां स्यान्न चात्मनः ॥ १ ॥
श्रुतमग्न्यादितन्त्रत्वं भोगोऽग्न्यादेस्तु नोचितः ।
देवदेहेषु सिद्धत्वाज्जीवो भुङ्क्ते स्वकर्मणा* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—वाक् आदि इन्द्रियाँ स्वतन्त्र है या देवके अधीन ?

पूर्वपक्ष—स्वतन्त्र हैं, यदि स्वतन्त्र नहीं होवे, तो वागादिजन्य भोग देवोंको ही होगा जीवात्माको नहीं होगा ।

सिद्धान्त—वागादि परतन्त्र हैं, क्योंकि श्रुतिमें अग्नि आदि देवताओंके अधीन वे कहे गये हैं, अग्नि आदिको भोगका प्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि देवदेहोंमें उनका भोग सिद्ध है, अतः जीव ही अपने कर्मके अनुसार भोग करता है ।

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥१४॥

पदच्छेद—ज्योतिराद्यधिष्ठानम्, तु, तदामननात् ।

पदार्थोक्ति—ज्योतिराद्यधिष्ठानम्—ज्योतिरादिभिः—आदित्यादिदेवताभिः अधिष्ठीयते—प्रेर्य्यत इति, आदित्यादिदेवताधिष्ठितमेव [चक्षुरादीन्द्रियजातं चेष्टते, कुतः ?] तदामननात्—तस्य देवताधिष्ठितत्वस्य 'आदित्यश्चक्षुः' इत्यादि श्रुत्याऽभिधानात् ।

भाषार्थ—चक्षु आदि इन्द्रियोंकी आदित्यादि देवताओंके अधीन चेष्टा होती है, क्योंकि 'आदित्यश्चक्षुः' इत्यादि श्रुतिसे उसका प्रतिपादन है ।

---

* सारांश यह है कि वागादि इन्द्रियाँ अपने अपने विषयमें स्वातन्त्र्यसे प्रवृत्त होती हैं अर्थात् देवपरतन्त्र नहीं हैं, अन्यथा वागादिजन्य भोग देवोंको ही प्रसक्त होगा और जीवात्मामें भोक्तृत्व नहीं होगा, ऐसा प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' इत्यादि श्रुतियोंमें वागादि अग्नि आदिसे अनुगृहीत हैं, ऐसा प्रतीत होता है, इससे ज्ञात होता है कि देवतापरतन्त्र ही इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति है। इससे देवोंमें भोक्तृत्वका प्रसङ्ग आवेगा, यह नहीं कह सकते, क्योंकि बड़े पुण्यसे देवत्वको जो प्राप्त हुए हैं, उनकी अधम भोगमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती और देवताओंके शरीरमें उच्च भोग सिद्ध है। मनुष्य आदि जीव तो देवताओं द्वारा प्रेरित इन्द्रियोंसे सम्पादित अपने कर्मके फलका भोग करते हैं, अतः यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियाँ देवपरतन्त्र हैं।

भाष्य

ते पुनः प्रकृताः प्राणाः किं स्वमहिम्नैव स्वस्मै स्वस्मै कार्याय प्रभवन्ति आहोस्विद् देवताधिष्ठिताः प्रभवन्तीति विचार्यते।

तत्र प्राप्तं तावद्—यथास्वं स्वकार्यशक्तियोगात् स्वमहिम्नैव प्राणाः प्रवर्तेरन्निति। अपि च देवताधिष्ठितानां प्राणानां प्रवृत्तावभ्युपगम्य-

भाष्यका अनुवाद

क्या वे प्रकृत प्राण अपनी महिमासे ही अपने अपने कार्यके लिए शक्तिमान् होते हैं या देवतासे अधिष्ठित होकर शक्तिमान् होते हैं ? इसका विचार किया जाता है।

पूर्वपक्षी—अपनी कार्यशक्तिके योगसे अपनी महिमासे ही अपने अपने कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। और देवतासे अधिष्ठित होकर प्राणोंकी प्रवृत्ति स्वीकार करनेपर उस

रत्नप्रभा

पूर्वं प्राणस्य आध्यात्मिकाधिदैविकविभागेनापि अणुत्वविभुत्वव्यवस्था उक्ता, तत्प्रसङ्गेन आध्यात्मिकानां प्राणानाम् आधिदैविकाधीनत्वमाह—**ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्**। 'वाचा हि नामान्यभिवदति चक्षुषा रूपाणि पश्यति' इति तृतीया-श्रुत्या अन्वयव्यतिरेकवत्या वागादीनां निरपेक्षसाधनत्वोक्तिविरोधात् 'अग्निर्वाग्भूत्वा' इत्यादिश्रुतिः तेषाम् अचेतनाग्न्याद्युपादानकत्वपरा, न तु तेषाम् अधिष्ठातृदेवतापरा। न च स्वकार्ये शक्तानापि वागादीनामचेतनत्वात् अधिष्ठात्रपेक्षा न विरुध्यत इति वाच्यम्, जीवस्य अधिष्ठातृत्वात्। किञ्च देवतानामधिष्ठातृत्वे जीववद्भोक्तृत्वम् अस्मिन् देहे स्यात्, तथा च एकत्र अनेकभोक्तृणां विरोधाद् दुर्बलस्य जीवस्य भोक्तृत्वं न स्यात् इति पूर्वपक्षार्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वमें प्राणके आध्यात्मिक और आधिदैविक विभागसे अणुत्व-विभुत्वकी व्यवस्था कही गई है। अब उसके प्रसंगसे आध्यात्मिक प्राण आधिदैविकके अधीन हैं, ऐसा कहते हैं—"ज्योतिराद्य-धिष्ठानम्" इत्यादिसे। 'वाचा हि नामानि०' (वाणीसे नामोंका उच्चारण करता है और नेत्रसे रूप देखता है) इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकयुक्त तृतीया श्रुतिसे वाक् आदिके निरपेक्ष साधनत्वके कथनका विरोध है, इसलिए 'अग्निर्वाग्भूत्वा' (अग्नि वाणी होकर) इत्यादि श्रुति अग्नि आदि अचेतन उनके उपादान हैं, ऐसा प्रतिपादन करती है, अधिष्ठाता देवता है, ऐसा प्रतिपादन नहीं करती, ऐसा समझना चाहिए। और अपने कार्यमें समर्थ होनेपर भी वाक् आदि अचेतन होनेसे अधिष्ठाताकी अपेक्षा रखते हैं, इससे विरोध नहीं है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि जीव अधिष्ठाता है। और देवताओंके अधिष्ठाता होनेपर जीवके समान वे इस देहमें भोक्ता

भाष्य

मानायां तासामेवाऽधिष्ठात्रीणां देवतानां भोक्तृत्वप्रसङ्गाच्छारीरस्य भोक्तृत्वं प्रलीयेत, अतः स्वमहिम्नैवैषां प्रवृत्तिरिति।

एवं प्राप्त इदमुच्यते—'ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु' इति। तुशब्देन पूर्वपक्षो व्यावर्त्यते। ज्योतिरादिभिरग्न्याद्यभिमानिनीभिर्देवताभिरधिष्ठितं वागादिकरणजातं स्वकार्येषु प्रवर्तत इति प्रतिजानीते। हेतुं च व्याचष्टे—तदामननादिति। तथा ह्यामनन्ति—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० २।४) इत्यादि। अग्नेश्चायं वाग्भावो मुखप्रवेशश्च देवतात्मनाऽधिष्ठातृत्वमङ्गीकृत्योच्यते, नहि देवतासम्बन्धं प्रत्याख्याय अग्नेः वाचि मुखे वा कश्चित् विशेष-

भाष्यका अनुवाद

अधिष्ठात्री देवताको ही भोक्तृत्व प्राप्त होनेसे शारीरका भोक्तृत्व जाता रहेगा, इसलिए अपनी महिमासे ही ये प्रवृत्त होते हैं।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहा जाता है—'ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु'। तुशब्दसे पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति की जाती है। ज्योति आदिसे-अग्नि आदि अभिमानिनी देवताओंसे अधिष्ठित वाक् आदि इन्द्रियाँ अपने कार्यमें प्रवृत्त होती हैं, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं। हेतुका व्याख्यान करते हैं—'तदामननात्'। क्योंकि श्रुतियां कहती हैं—'अग्निर्वाग्भूत्वा०' (अग्नि वाक् होकर मुखमें प्रविष्ट हुई) इत्यादि। अग्निका वाक् होना और मुखमे प्रवेश होना, यह देवतास्वरूपसे अधिष्ठातृत्वका अंगीकार करके कहा जाता है, क्योंकि देवतासंबन्धका

रत्नप्रभा

सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इत्यादिना। अग्निर्वाग्भूत्वादित्यश्चक्षुर्भूत्वेति च तद्भावः अत्र अग्न्यादिदेवताधिष्ठेयत्वरूप एव सम्बन्धो न तदुपादानकत्वरूपः, दूरस्थादित्यमण्डलादेः मुखस्थचक्षुराद्युपादानत्वासंभवात्, इत्याह—अग्नेश्चायमिति। वायुः

रत्नप्रभाका अनुवाद

होंगे, इसलिए एक स्थानमें अनेक भोक्ताओंके विरोधसे दुर्बल जीव भोक्ता नहीं होगा, ऐसा पूर्वपक्षका अर्थ है। सिद्धान्त करते हैं—"एवं प्राप्त" इत्यादिसे। "अग्निर्वाग्भूत्वा०' (अग्नि वाणी होकर, आदित्य चक्षु होकर) ऐसा जो तद्भाव है, वह प्रकृतमें अग्नि आदि अधिष्ठाता हैं, ऐसा सम्बन्ध ही विवक्षित है, उनका उपादानकत्वरूप सम्बन्ध विवक्षित नहीं है, क्योंकि दूरस्थ आदित्यमण्डल आदि मुखस्थ चक्षु आदिके उपादान हों, यह संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अग्नेश्चायम्" इत्यादिसे। वायु प्राणका अधिष्ठाता होकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ, इस प्रकार व्याख्यान

भाष्य

सम्बन्धो दृश्यते । तथा 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' (ऐ० २।४) इत्येवमाद्यपि योजयितव्यम् । तथान्यत्रापि 'वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च' (छा० ३।१८।३) इत्येवमादिना वागादीनामग्न्यादिज्योतिष्ट्वादिवचनेनैतमेवार्थं द्रढयति । 'स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत् सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्' (बृ० १।३।१२) इति चैवमादिना वागादीनामग्न्यादिभावापत्तिवचनेनैतमेवार्थं द्योतयति । सर्वत्र चाऽध्यात्माधिदैवतविभागेन वागाद्यग्न्याद्यनुक्रमणमनयैव प्रत्यासत्त्या भवति । स्मृतावपि—

भाष्यका अनुवाद

प्रत्याख्यान करके अग्निका वाणी या मुखमें कोई विशेष सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। इसी प्रकार 'वायुः प्राणो भूत्वा' (वायु प्राण होकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ) इत्यादिकी भी योजना करनी चाहिए। उसी प्रकार अन्यत्र भी 'वागेव ब्रह्मण-श्चतुर्थः०' (वाणी ही ब्रह्मका चौथा पाद है, वह अग्निरूप ज्योतिसे भासता है और स्वकार्य करता है) इत्यादिसे वाक् आदिका अग्नि आदि ज्योति हैं, इत्यादि वचनसे इसी अर्थको श्रुति दृढ़ करती है। 'स वै वाचमेव०' (वह प्राण उद्गीथ कर्ममें प्रधानभूत वाणीको मृत्युसे छुड़ाकर ले गया, वह वाणी जब मृत्युसे मुक्त हुई, तब अग्नि हो गई) इत्यादि श्रुति वाक् आदिमें अग्नि आदि भावके बोधक वचनसे इसी अर्थको सूचित करती है। और सर्वत्र अध्यात्म और अधिदैवत विभाग द्वारा वाक् आदि और अग्नि आदिका अनुक्रमण इसी प्रत्या-

---

रत्नप्रभा

प्राणाधिष्ठाता भूत्वा नासापुटे प्राविशत् इति व्याख्येयम् इति आह—तथेति । भाति—दीप्यते, तपति—स्वकार्यं करोतीत्यर्थः । एतस्मिन् अधिष्ठात्रधिष्ठेयत्वरूपार्थे लिङ्गान्तर-माह—स वै वाचमिति । स प्राणः वाचं प्रथमाम्—उद्गीथकर्मणि प्रधानाम् अनृतादिपाप्मरूपं मृत्युमतीत्य अवहत्—मृत्युना मुक्तां कृत्वा अग्निदेवतात्मत्वं प्रापितवान् इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

करना चाहिए ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । भाति प्रकाशित होता है, तपति—अपना कार्य करता है, ऐसा अर्थ है । अग्नि आदि अधिष्ठाता हैं और वाक् आदि अधिष्ठेय हैं, इस अर्थमें अन्य लिंग कहते हैं—"स वै वाचम्" इत्यादिसे । वह प्राण प्रथम वाणीको अर्थात् उद्गीथ कर्ममें जो प्रधान है, उसको अनृतादि पापरूप मृत्युसे छुड़ाकर ले गया अर्थात् मृत्युसे मुक्त करके अग्निदेवतात्मरूपमें पहुँचा दिया, ऐसा अर्थ है । किन्तु 'मृतस्याग्नि०'

भाष्य

'वागध्यात्ममिति प्राहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ।
वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥'

इत्यादिना वागादीनामग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वं सप्रपञ्चं दर्शितम् । यदुक्तम्—स्वकार्यशक्तियोगात् स्वमहिम्नैव प्राणाः प्रवर्तेरन्निति, तदयुक्तम्, शक्तानामपि शकटादीनामनडुहा[दा]द्यधिष्ठितानां प्रवृत्तिदर्शनात् । उभयथोपपत्तौ चाऽऽगमाद् वागादीनां देवताधिष्ठितत्वमेव निश्चीयते ॥ १४ ॥

यदप्युक्तम्—देवतानामेवाधिष्ठात्रीणां भोक्तृत्वप्रसङ्गो न शारीरस्येति तत् परिह्रियते—

भाष्यका अनुवाद

सत्ति—सान्निध्यसे होता है । स्मृतिमें भी 'वागध्यात्ममिति०' (तत्त्वदर्शी ब्राह्मण वाणीको अध्यात्म कहते हैं, वक्तव्यको अधिभूत कहते हैं और उसमें वह्निको अधिदैवत कहते हैं) इत्यादिसे वाक् आदि अग्नि आदि देवताओंसे अधिष्ठित हैं, ऐसा सविस्तर दिखलाया गया है । अपनी कार्यशक्तिके योगसे अपनी ही महिमासे प्राण प्रवृत्त होंगे, ऐसा जो कहा गया है, वह अयुक्त है, क्योंकि शकट आदि यद्यपि शक्त हैं, तो भी बैल आदिसे अधिष्ठित होनेपर ही उनमें प्रवृत्ति देखी जाती है । और दोनों प्रकारसे उपपत्ति होनेपर भी आगमसे वाक् आदिमें देवताधिष्ठितत्वका निश्चय होता है ॥ १४ ॥

और जो ऐसा कहा गया है कि अधिष्ठात्री देवताओंमें ही भोक्तृत्वका प्रसङ्ग होगा, शारीर—जीवको नहीं होगा, उसका परिहार करते हैं—

रत्नप्रभा

किञ्च 'मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणः, चक्षुरादित्यम्' इत्यादिश्रुतिरपि अधिष्ठात्रधिष्ठेयत्वसंबन्धं द्योतयति इत्याह—सर्वत्रेति । ननु शकटादीनां बलीवर्दादिप्रेरितानां प्रवृत्तिः दृष्टा, क्षीरादीनां त्वनधिष्ठितानामपि दध्यादिप्रवृत्तिर्दृश्यते, तथा च उभयथा संभवे कथं निश्चयः, तत्राह—उभयथोपपत्तौ चेति ॥ १४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

(मृत पुरुषकी वाणी अग्निमें, प्राण वायुमे और चक्षु आदित्यमें प्रलीन होता है) इत्यादि श्रुति भी अधिष्ठाता और अधिष्ठेयका सम्बन्ध ही दिखलाती है, ऐसा कहते हैं—"सर्वत्र" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि शकट आदिकी बैल आदि द्वारा प्रवृत्ति देखी जाती है और क्षीर आदि तो अधिष्ठित नही हैं, तो भी दधि आदिमें उनकी प्रवृत्ति देखी जाती है, इसप्रकार उभयथा संभव होनेसे निश्चय किस प्रकार होगा ? इसपर कहते हैं—"उभयथोपपत्तौ च" इत्यादिसे । अन्य दोष जो कहा है उसका निरसन करनेके लिए सूत्रका अवतरण करते है—"यदपि" इत्यादिसे ॥१४॥

प्राणवता शब्दात् ॥१५॥

पदच्छेद—प्राणवता, शब्दात् ।

पदार्थोक्ति—प्राणवता—जीवेन [सह इन्द्रियाणां स्वस्वामिभावसम्बन्धो वर्तते, अतश्चेन्द्रियसाध्यभोगभागित्वं जीवस्यैव, नेन्द्रियाधिष्ठातृदेवतानाम्, कुतः ?] शब्दात्—'स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः' इत्यादि श्रुतेः ।

भाषार्थ—प्राणवान् जीवके साथ इन्द्रियोंका स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है, अतः इन्द्रियोंसे होने वाला भोगका भागी जीव है, इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देव नहीं हैं, क्योंकि 'स चाक्षुषः पुरुषो०' इत्यादि श्रुति प्रमाण है ।

भाष्य

सतीष्वपि प्राणानामधिष्ठात्रीषु देवतासु प्राणवता कार्यकरणसंघातस्वामिना शारीरेणैवैषां प्राणानां सम्बन्धः श्रुतेरवगम्यते । तथा हि श्रुतिः—'अथ यत्रै-तदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्' (छा० ८।१२।४) इत्येवंजातीयका

भाष्यका अनुवाद

प्राणोंकी अधिष्ठात्री देवताओंके रहनेपर भी प्राणवाले कार्यकरणसंघातके स्वामी शारीर—जीवसे ही प्राणोंका सम्बन्ध श्रुतिसे ज्ञात होता है। जैसे कि 'अथ यत्रैतदाकाश०' (देहमें प्राणके प्रवेश होनेके अनन्तर जिस [कृष्ण तारासे उप-लक्षित] देहच्छिद्रमें चक्षु-इन्द्रिय प्रविष्ट होता है, उस चक्षुमें अभिमानी वह आत्मा चाक्षुष है, उसको रूपकी उपलब्धि होनेके लिए चक्षु करण है । मैं यह सूंघता हूँ, ऐसा जो जाने, वह आत्मा है, उसको गन्धका ज्ञान होनेके लिए नासिका है) इस

रत्नप्रभा

उक्तदोषान्तरनिरासाय सूत्रम् अवतारयति—यद्यपीति । शारीरेणैवेति । भोक्त्रेति शेषः । संबन्धो भोक्तृभोग्यभावः । अथ देहे प्राणप्रवेशानन्तरं यत्र गोलके एतच्छिद्रमनुप्रविष्टं चक्षुरिन्द्रियम्, तत्र चक्षुषि अभिमानी स आत्मा चाक्षुषः तस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त अन्य दोषके वारणके लिए सूत्रका अवतरण करते हैं "यद्यपि" इत्यादिसे । "शारीरेणैव" इत्यादि । शारीर जो भोक्ता है, उससे, इतना शेष समझना चाहिए । सम्बन्ध—भोक्तृभोग्यभाव । देहमें प्राणप्रवेशके अनन्तर जिस गोलकगत छिद्रमें चक्षुरिन्द्रिय प्रविष्ट है उस चक्षुमें अभिमानी जो आत्मा है वह चाक्षुष है उसको रूपदर्शनके लिए चक्षु है । यद्यपि

भाष्य

शारीरेणैव प्राणानां सम्बन्धं श्रावयति। अपि चाऽनेकत्वात् प्रतिकरणमधिष्ठात्रीणां देवतानां न भोक्तृत्वमस्मिञ्शरीरेऽवकल्पते। एको ह्ययमस्मिन् शरीरे शारीरो भोक्ता प्रतिसंधानादिसंभवादवगम्यते ॥१५॥

भाष्यका अनुवाद

प्रकारकी श्रुति शारीरसे ही प्राणोंका संबन्ध है, ऐसा श्रवण कराती है और प्रत्येक करणमें अधिष्ठात्री देवताओंके अनेक होनेसे उनका भोक्तृत्व इस शरीरमें नहीं हो सकता, क्योंकि इस शरीरमें एक ही शारीर भोक्ता है, ऐसा प्रतिसंधान आदिके सम्भवसे समझा जाता है ॥ १५ ॥

रत्नप्रभा

रूपदर्शनाय चक्षुः। यद्यपि आत्मा करणानि अपेक्षते, तथापि ज्ञेयज्ञानतदाश्रयाहंकारान् यो वेद स आत्मा चिद्रूप एव, करणानि तु गन्धादिप्रवृत्तये अपेक्ष्यन्ते, न चैतन्याय इति श्रुत्यर्थः। किञ्च 'योऽहं रूपमद्राक्षं स एवाहं शृणोमि' इति प्रतिसंधानात् एकः शारीर एव भोक्ता, न बहवो देवा इत्याह—अपि चेति ॥१५॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्मा इन्द्रियोंकी अपेक्षा रखता है, तो भी ज्ञेय, ज्ञान और तदाश्रय अहंकारको जो जानता है वह आत्मा चिद्रूप ही है, करणोकी गन्धादि प्रवृत्तिके लिए अपेक्षा है, चैतन्यके लिए नहीं है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। और 'जिस मैंने रूपको देखा है, वही मैं श्रवण करता हूँ' ऐसा प्रतिसन्धान होनेसे एक शारीर ही भोक्ता है, अनेक देवता भोक्ता नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे ॥ १५ ॥

तस्य च नित्यत्वात् ॥१६॥

पदच्छेद—तस्य, च, नित्यत्वात्।

पदार्थोक्ति—च, अपि, तस्य—जीवस्य [स्वधर्मार्जिते काये कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च] नित्यत्वात्—सदातनत्वात् [नास्मिन् शरीरे देवतानां भोक्तृत्वम्]

भाषार्थ—और जीवके अपने धर्मोपार्जित शरीरमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व द्वारा नित्य—सदा होनेसे इस शरीरमें देवताओंका भोक्तृत्व नहीं है

भाष्य

तस्य च शारीरस्याऽस्मिञ्शरीरे भोक्तृत्वेन नित्यत्वम्—पुण्यपापोपलेपसंभवात् सुखदुःखोपभोगसंभवाच्च, न देवतानाम्। ता हि परस्मिन्नैश्वर्ये पदेऽवतिष्ठमाना न हीनेऽस्मिञ्शरीरे भोक्तृत्वं प्रतिलब्धुमर्हन्ति। श्रुतिश्च भवति—'पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान् पापं गच्छति' (बृ० १।५।२) इति। शारीरेणैव च नित्यः प्राणानां सम्बन्धः, उत्क्रान्त्यादिषु तदनुवृत्ति-

भाष्यका अनुवाद

और वह अर्थात् शारीर इस शरीरमें भोक्तारूपसे नित्य है, क्योंकि उसमें पुण्य और पापके लेपका संभव है, और सुख और दुःखके उपभोगका संभव है, देवताओंका शरीरके साथ नित्य संवन्ध नहीं है, क्योंकि परम ऐश्वर्य पदमें रहनेवाले हीन शरीरमें भोक्तृत्व प्राप्त करें, यह युक्त नहीं है। श्रुति भी है—'पुण्यमेवामुं गच्छति०' (प्राजापत्य पदमें स्थित देवताओंको पुण्य ही प्राप्त होता है, पाप प्राप्त नहीं होता) इत्यादि। और शारीरसे ही प्राणोंका नित्य संवन्ध है, क्योंकि 'तमुत्क्रान्तं०' (उसके उत्क्रमण करनेके अनन्तर प्राण उत्क्रमण करता है और प्राणके उत्क्रमणके

रत्नप्रभा

कदाचित् देवानामत्र भोक्तृत्वम्, कदाचित् जीवस्य इति अनियमः अस्तु इत्याशङ्क्य स्वकर्मार्जिते देहे जीवस्य भोक्तृत्वनियमात् मा एवम् इत्याह सूत्रकारः—तस्य चेति। उत्क्रमणादिषु जीवस्य प्राणाव्यभिचारात् तस्यैव प्राणस्वामित्वं, देवतानां तु परस्वामिकरथसारथिवत् अधिष्ठातृत्वमात्रम् इति व्याख्यान्तरम् आह—शारीरेणैव च नित्य इति। यथा प्रदीपादिः करणोपकारकतया करणपक्षस्यान्तर्गतः तथा देवाः करणोपकारिण एव न भोक्तार इत्यर्थः। जीवस्य अदृष्टद्वारा करणाधिष्ठातृत्वात् रथस्वामिवद् भोक्तृत्वम्, देवानां तु करणोपकाराभिज्ञतया सारथिवत् अधिष्ठा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस शरीरमें कभी देवताओंका भोक्तृत्व और कभी जीवका, इस प्रकार अनियम प्राप्त होगा, ऐसी आशंका करके स्वकर्मोंसे उपार्जित देहमें जीव भोक्ता है, ऐसा नियम होनेसे अनियम नहीं है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"तस्य च" इत्यादिसे। उत्क्रमण आदिमें जीव प्राणसे व्यभिचरित नही होता है, इसलिए वही प्राणोंका स्वामी है, देवता तो दूसरेके सारथिके समान केवल अधिष्ठाता हैं, ऐसा दूसरा व्याख्यान करते हैं—"शारीरेणैव च नित्यः" इत्यादिसे। जैसे प्रदीप आदि करणोंके उपकारक होनेसे करणपक्षमें अन्तर्गत हैं, वैसे ही देवता करणोंके उपकारक ही हैं, भोक्ता नही हैं, ऐसा अर्थ है। अदृष्ट द्वारा जीव इन्द्रियोंका अधिष्ठाता है,

भाष्य

दर्शनात्। 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात् सतीष्वपि करणानां नियन्त्रीषु देवतासु न शारीरस्य भोक्तृत्वमपगच्छति। करणपक्षस्यैव हि देवता न भोक्तृपक्षस्येति ॥ १६ ॥

भाष्यका अनुवाद

पश्चात् सब प्राण—इन्द्रियां उत्क्रमण करती हैं) इत्यादि श्रुतियोंसे उत्क्रान्ति आदिमें उनकी अनुवृत्ति देखी जाती है। इसलिए यद्यपि इन्द्रियोंके नियामक देवता हैं, तो भी शारीरका भोक्तृत्व नहीं जाता है, क्योंकि करणपक्षके ही देवता हैं, भोक्तृपक्षके नहीं हैं ॥ १६ ॥

रत्नप्रभा

तृत्वमिति न जीवेन अन्यथासिद्धिः। देवानामधिष्ठातृत्वेन अस्मिन्देहे भोक्तृत्वानुमानं तु 'न ह वै देवान् पापं गच्छति' इत्युक्तश्रुतिबाधितम्। तस्मात् 'चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति' इति श्रुतेः साधनत्वमात्रबोधित्वात् 'अग्निर्वाग्भूत्वा' इत्याद्यधिष्ठातृदेवतापेक्षाबोधकश्रुतिभिरविरोध इति सिद्धम् ॥ १६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए रथस्वामीके समान भोक्ता है, देवता तो प्रकाशके समान इन्द्रियोंके उपकारक होनेसे सारथीके समान अधिष्ठाता है, इस प्रकार जीवसे देवता अन्यथासिद्ध नही है। देवताओंके अधिष्ठातृत्व होनेसे इस देहमें वे भोक्ता है, यह अनुमान तो 'न ह वै देवान्०' इस उक्त श्रुतिसे बाधित है, इसलिए 'चक्षुपा हि रूपाणि पश्यति' (नेत्रसे रूप देखता है) यह श्रुति साधनमात्रका बोध कराती है, इससे 'अग्निर्वाग्भूत्वा' इत्यादि अधिष्ठातृदेवताकी अपेक्षाका बोध करानेवाली श्रुतियोसे विरोध नही है, ऐसा सिद्ध होता है ॥ १६ ॥



[८ इन्द्रियाधिकरण सू० १७-१९]

प्राणस्य वृत्तयोऽक्षाणि प्राणात्तत्त्वान्तराणि वा ।
तद्रूपत्वश्रुतेः प्राणनाम्नोक्तत्वाच्च वृत्तयः ॥ १ ॥
श्रमाश्रमादिभेदोक्तेर्गौणे तद्रूपनामनी ।
आलोचकत्वेनान्यानि प्राणो नेताऽक्षदेहयोः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—इन्द्रियाँ प्राणकी वृत्तियाँ हैं या प्राणसे अन्य तत्त्व हैं ?

पूर्वपक्ष—इन्द्रियाँ प्राणकी वृत्तियाँ हैं, क्योंकि तद्रूपताकी श्रुति है और प्राण-शब्दसे उनका—इन्द्रियोंका व्यवहार होता है ।

सिद्धान्त—प्राणसे इन्द्रियाँ पृथक् हैं, क्योंकि श्रम और अश्रम आदिके भेदसे कथन है, अत एव प्राणरूपता और प्राणनाम जो इन्द्रियोंका कहा गया है वह उपचारमात्र समझना चाहिए, और इन्द्रियाँ आलोचक हैं और प्राण देह एवं इन्द्रियोंका नेता है ।

---

* भाव इस प्रकार है—वागादि इन्द्रियाँ मुख्य प्राणकी वृत्तियाँ हो सकती हैं, क्योंकि उनमें प्राणरूपताकी श्रुति है—'हन्ताऽस्यैव सर्वे रूपमसाम' (हर्ष! हम सब इन्द्रियाँ इसी प्राणके रूप हों) इत्यादि। किञ्च, लोकमें प्राणशब्दसे इन्हीं इन्द्रियोंका व्यवहार होता है। और श्रुति भी इन्द्रियोंको प्राणनामसे कहती है—'न वै वाचः, न चक्षूंषि, न श्रोत्राणि, न मनांसि, इत्याचक्षते, प्राणा इत्येवाचक्षते' इत्यादि। इसलिए प्राणसे अन्य इन्द्रियाँ नहीं हैं।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त—'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे । तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्' इत्यादि श्रुतियोंसे वाक् आदि इन्द्रियोंके अपने अपने विषयमें श्रमको कहकर 'अथेम-मेव नाऽऽप्नोत् योऽयं मध्यमः प्राणः यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथते' यह श्रुति प्राणमें श्रमके अभाव-को कहती है, यह एक भेद है। इसी प्रकार प्राणसंवादमें वागादिके निर्गमन और प्रवेशमें देहके मरण और उत्थानका अभाव कहकर प्राणके निर्गमन और प्रवेशमें देहका मरण और उत्थान कहा है, इसलिए ऐसे भेदोंके कथनसे वागादिमें प्राणरूपता और प्राणशब्दका व्यवहार गौण है। और इन्द्रियाँ सेवकन्यायसे प्राणका अनुवर्तन करती हैं और व्यवहारमें प्राण और इन्द्रियोंका बहुतसा भेद उपलब्ध होता है। अपने अपने विषयोंके परिच्छेदद्वारा इन्द्रियाँ आलोचक हैं और प्राण तो इन्द्रियोंका और देहका नेता है, इससे—अत्यन्त वैलक्षण्यसे प्राणसे इन्द्रियाँ भिन्न हैं।

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥१७॥

पदच्छेद—ते, इन्द्रियाणि, तद्व्यपदेशात्, अन्यत्र, श्रेष्ठात् ।

पदार्थोक्ति—श्रेष्ठात्—मुख्यात्प्राणात् अन्यत्र—अन्ये [अपि प्रकृताः] ते—वागादयः, इन्द्रियाणि—इन्द्रियशब्दवाच्यानीत्युच्यन्ते [न प्राणः कुतः ?] 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादिषु प्राणस्य इन्द्रियेभ्यो भेदेन व्यपदेशात् ।

भाषार्थ—मुख्य प्राणसे अन्य वागादि इन्द्रियशब्दसे कहे जाते हैं, प्राणशब्दसे नहीं, क्योंकि 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादि श्रुतिमें उस प्राणका भेदसे व्यपदेश है ।

भाष्य

मुख्यश्चैक इतरे चैकादश प्राणा अनुक्रान्ताः । तत्रेदमपरं संदिह्यते—किं मुख्यस्यैव प्राणस्य वृत्तिभेदा इतरे प्राणा आहोस्वित् तत्त्वान्तराणीति ।

किं तावत्प्राप्तम् ? मुख्यस्यैवेतरे वृत्तिभेदा इति । कुतः ? श्रुतेः । तथाहि श्रुतिर्मुख्यमितरांश्च प्राणान् संनिधाप्य मुख्यात्मतामितरेषां ख्यापयति—'हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' (बृ०

भाष्यका अनुवाद

और मुख्य प्राण एक और अमुख्य ग्यारह प्राण अनुक्रान्त हैं । उन ग्यारह प्राणोंके विषयमें यह दूसरा सन्देह किया जाता है—क्या अन्य प्राण मुख्य प्राणकी ही वृत्तियां हैं या अन्यतत्त्व हैं ?

पूर्वपक्षी—अन्य प्राण मुख्य प्राणकी ही वृत्तियाँ हैं, ऐसा प्राप्त होता है । किससे ? श्रुतिसे । क्योंकि 'हन्तास्यैव सर्वे०' (हर्ष है कि अब इसी प्राणके हम सब रूप

रत्नप्रभा

सत्सु इन्द्रियेषु तदधिष्ठातृदेवताचिन्ता, तान्येव प्राणवृत्तिव्यतिरेकेण न सन्ति इत्याक्षेपं प्रत्याह—**त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्** । प्राणादिन्द्रियाणां भेदाभेदश्रुतिभ्यां संशयं वदन् पूर्वपक्षयति—**मुख्यश्चेत्यादिना** । हन्त इदानीम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

इन्द्रियोंके अस्तित्वमें उनकी अधिष्ठात्री देवताओंका विचार हो सकता है, परन्तु इन्द्रियाँ ही प्राणवृत्तिसे भिन्न नहीं हैं, ऐसे आक्षेपका परिहार करते हैं—"त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशाद०" इत्यादिसे । प्राणसे इन्द्रियाँ भिन्न हैं या नहीं ? ऐसा भेदाभेदप्रतिपादक श्रुतियोंसे संशय कहकर पूर्वपक्ष करते हैं—"मुख्यश्च" इत्यादिसे । हर्षकी बात है कि अब हम सब इसी मुख्यप्राणके स्वरूप हो जाँय,

भाष्य

१।५।२१) इति । प्राणैकशब्दत्वाच्चैकत्वाध्यवसायः । इतरथा ह्यन्याय्यमनेकार्थत्वं प्राणशब्दस्य प्रसज्येत एकत्र वा मुख्यत्वमितरत्र वा लाक्षणिकत्वमापद्येत । तस्माद् यथैकस्यैव प्राणस्य प्राणाद्याः पञ्च वृत्तय एवं वागाद्या अप्येकादशेति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तत्त्वान्तराण्येव प्राणाद् वागादीनीति । कुतः ? व्यपदेशभेदात् । कोऽयं व्यपदेशभेदः ? ते प्रकृताः प्राणाः श्रेष्ठं वर्जयित्वा-

भाष्यका अनुवाद

हो जाँय, ऐसा निश्चय करके वे वाग् आदि सब उसके ही रूप हो गये) यह श्रुति मुख्य और अन्य प्राणोंको एकको दूसरेके समीप स्थापित करके अमुख्य प्राण मुख्यप्राणरूप हैं, ऐसा कहती है । उसी प्रकार इन सबका उद्देश कर 'प्राण' इस एक शब्दका प्रयोग होनेसे उनके एकत्वका निश्चय होता है । प्राणशब्दको एकार्थ न माननेपर प्राणशब्दका अनेकार्थत्व जो अन्याय्य है, वह प्राप्त होगा । अथवा एक स्थलमें मुख्यत्व और अन्य स्थलमें लाक्षणिकत्व प्रसक्त होगा । इसलिए जैसे एक ही प्राणकी प्राण, अपान आदि पांच वृत्तियां हैं, वैसे ही वाक् आदि ग्यारह भी एकही प्राणकी भिन्न-भिन्न वृत्तियां हैं ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—वाक् आदि प्राणसे अन्य ही

रत्नप्रभा

अस्यैव मुख्यप्राणस्य, 'सर्वे वयं स्वरूपं भवाम' इति संकल्प्य ते वागादयः तथा अभवन् इत्यभेदश्रुत्यर्थः । ते प्राणात् अभिन्नाः, प्राणपदवाच्यत्वात्, प्राणवत्, इत्याह—प्राणेति ।

ते प्राणाः श्रेष्ठादन्यत्र अन्ये इति प्रतिज्ञार्थत्वेन पदत्रयं व्याचष्टे—तत्त्वान्तराण्येवेति । तद्व्यपदेशादित्यत्र तच्छब्दः प्रतिज्ञातान्यत्वं परामृशति । प्राणा इन्द्रियाणि इत्यपर्यायशब्दाभ्यामन्यत्वोक्तेरिति हेतूपपादनार्थत्वेन पुनस्तानि सूत्रपदानि योजयति—क इत्यादिना । सूत्रस्य विश्वतोमुखत्वात् उभयार्थत्वम् अलंकार

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा संकल्प करके वे वाक् आदि प्राणके स्वरूप ही हो गये, यह अभेद श्रुतिका अर्थ है, वे प्राणसे अभिन्न हैं, प्राणपदसे वाच्य होनेसे, प्राणके समान, ऐसा कहते हैं—"प्राण" इत्यादिसे । ते-प्राण, श्रेष्ठादन्यत्र—श्रेष्ठसे अन्य, इस प्रतिज्ञाके अर्थरूपसे तीन पदोंका व्याख्यान करते हैं—"तत्त्वान्तराण्येव" इत्यादिसे । "तद्व्यपदेशात्" इसमें तत्-शब्द प्रतिज्ञातसे अन्यका परामर्श करता है । प्राण इन्द्रियाँ हैं, ऐसे अपर्य्याय शब्दोंसे अन्यत्व कहा है, अतः हेतुका उपपादन

भाष्य

ऽवशिष्टा एकादशेन्द्रियाणीत्युच्यन्ते, श्रुतावेवं व्यपदेशभेददर्शनात्। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २।१।३) इति ह्येवंजातीयकेषु प्रदेशेषु पृथक्प्राणो व्यपदिश्यते पृथक्चेन्द्रियाणि। ननु मनसोऽप्येवं सति वर्जनमिन्द्रियत्वेन प्राणवत् स्यात्, 'मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति पृथग्व्यपदेशदर्शनात्। सत्यमेतत्, स्मृतौ त्वेकादशेन्द्रियाणीति मनोऽपी-

भाष्यका अनुवाद

तत्त्व हैं, किससे ? निर्देशके भेदसे। यह निर्देशभेद क्या है ? श्रेष्ठको—प्राणको छोड़कर वे अवशिष्ट प्रकृत प्राण ग्यारह इन्द्रियां हैं, ऐसे कहे जाते हैं। क्योंकि श्रुतिमें ऐसा व्यपदेशभेद देखा जाता है। 'एतस्माज्जायते प्राणो०' (इससे प्राण, मन और सब इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं) इस प्रकारके प्रदेशोंमें प्राणका पृथक् निर्देश है और इन्द्रियोंका पृथक् निर्देश है। परन्तु उक्त हेतुसे वाग् आदि मुख्य प्राणसे पृथक् तत्त्व हैं, ऐसा माननेपर प्राणकी भाँति मन भी इन्द्रिय नहीं है, ऐसा प्राप्त होगा। क्योंकि 'मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मन और सब इन्द्रियां) इस प्रकार पृथक् व्यपदेश देखा जाता है। यह ठीक है, स्मृतिमें तो 'एकादशेन्द्रियाणि' (ग्यारह इन्द्रियां हैं) इससे मनका भी

रत्नप्रभा

एव न दूषणम्। एतेन प्रतिज्ञाध्याहारः तच्छब्दस्य अप्रकृतभेदपरामर्शित्वं च इति दोषद्वयम् अपास्तम्। शब्दभेदाद् वस्तुभेदसाधने अतिप्रसङ्गं शङ्कते—नन्विति। प्राणवत् मनसोऽपि इन्द्रियेभ्यो भेदः स्यादित्यर्थः। अपर्यायसंज्ञाभेदात् स्वतन्त्रसंज्ञिवस्तुभेद इति उत्सर्गः। स च 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' इत्यादिस्मृतिबाधात् मनसि अपोद्यते, प्राणे तु बाधकाभावात् उत्सर्गसिद्धिः इति समाधत्ते—सत्यमित्यादिना। मन

रत्नप्रभाका अनुवाद

करनेके लिए पुन. उन सूत्रपदोंकी योजना करते हैं—"क" इत्यादिसे। सूत्रके विश्वतोमुख होनेसे उसका उभयार्थ होना अलङ्कार ही है, दूषण नही है। इससे प्रतिज्ञाका अध्याहार और तत्शब्दसे होनेवाला अप्रकृत भेदका परामर्श, ये दोनो दोषोका निराकरण हुआ। शब्दभेदसे वस्तुभेद सिद्ध करनेमें अतिप्रसङ्गकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। प्राणके समान मनका भी इन्द्रियोंसे भेद होगा, ऐसा अर्थ है। पर्य्यायभिन्न संज्ञाके भेदसे स्वतन्त्रसंज्ञीरूप वस्तुका भेद होता है, यह उत्सर्ग है। और यह उत्सर्ग 'मन. षष्ठानीन्द्रियाणि' इत्यादि स्मृतिके वचनोंसे बाधित है, अतः मनमें उसका निराकरण है, प्राणमें तो कोई बाधक नही है, इससे उत्सर्गकी सिद्धि है, इस प्रकार समाधान करते है—"सत्यम्" इत्यादिसे। मन

भाष्य

न्द्रियत्वेन श्रोत्रादिवत् संगृह्यते, प्राणस्य त्विन्द्रियत्वं न श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धमस्ति। व्यपदेशभेदश्चाऽयं तत्त्वभेदपक्ष उपपद्यते। तत्त्वैकत्वे तु 'स एवैकः सन्प्राण इन्द्रियव्यपदेशं लभते न लभते च' इति विप्रतिपिद्धम्। तस्मात् तत्त्वान्तरभूता मुख्यादितरे ॥ १७ ॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः मुख्यादितरे—

भाष्यका अनुवाद

श्रोत्रादिके समान इन्द्रियरूपसे ग्रहण किया जाता है, परन्तु प्राण इन्द्रिय है, ऐसी श्रुति या स्मृतिमें प्रसिद्धि नहीं है। यह व्यपदेशका भेद तत्त्वके भेदपक्षमें उपपन्न होता है। तत्त्वके एक होनेपर तो वह प्राण एक ही होकर इन्द्रियत्वको प्राप्त करता है और नहीं करता है, ऐसा विरोध होता है, इससे सिद्ध हुआ कि मुख्य प्राणसे अमुख्य प्राण अन्य तत्त्व हैं ॥ १७ ॥

और किस हेतुसे मुख्य प्राणसे भिन्न अमुख्य प्राण अन्य तत्त्व हैं ?—

रत्नप्रभा

इन्द्रियाणि च इति भेदोक्तिः गोवलीवर्दन्यायेन नेया। सिद्धान्ते मनसः प्रमोपादानत्वात् आत्मवत् अनिन्द्रियत्वमिष्टं ततो न उत्सर्गबाध इति केचित्। किञ्च 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति पृथग्जन्मव्यपदेशात् स्वतन्त्रवस्तुभेद इत्याह—व्यपदेशभेदश्चायमिति। एकस्मिन् वाक्ये प्राण इन्द्रियशब्दमैक्याल्लभते पुनरुक्तिभयान्न लभते चेति व्याघात इत्यर्थः ॥ १७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और इन्द्रिय, इस प्रकारकी भेदोक्ति 'गोवलीवर्द' न्यायसे समझनी चाहिए। सिद्धान्तमें मन प्रमाका उपादान है अतः आत्माके समान उसमें इन्द्रियत्वका न होना इष्ट है, इसलिए उत्सर्गका बाध नहीं है, ऐसा कोई कहते हैं। किञ्च 'एतस्माज्जायते प्राणो०' इत्यादिसे मनके व्यपदेशसे स्वतन्त्र वस्तुभेद है, ऐसा कहते हैं—"व्यपदेशभेदश्चाऽयम्" इत्यादिसे। एक वाक्यमें प्राण इन्द्रियशब्दको एकतासे प्राप्त करता है और पुनरुक्तिके भयसे प्राप्त नहीं करता है, इस प्रकार व्याघात है, ऐसा अर्थ है ॥ १७ ॥

भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥

पदार्थोक्ति—[वागादीन्द्रियप्रकरणमुपसंहृत्य 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः' इति भिन्नप्रकरणे] भेदश्रुतेः—प्राणस्य इन्द्रियेभ्यो भेदेन श्रवणात् [न प्राणव्यापारत्वमिन्द्रियाणाम्, किन्तु तत्त्वान्तरत्वमित्यर्थः] ।

भाषार्थ—वाक् आदि इन्द्रियके प्रकरणका उपसंहार करके 'अथ हेममासन्यं, इस श्रुतिसे भिन्न प्रकरणमें इन्द्रियोंसे प्राणका पृथक् श्रवण होनेसे इन्द्रियाँ प्राणका व्यापार नहीं हैं, किन्तु अन्य तत्त्व हैं ।

भाष्य

भेदेन वागादिभ्यः प्राणः सर्वत्र श्रूयते—'ते ह वाचमूचुः' (बृ० १।३।२) इत्युपक्रम्य वागादीनसुरपाप्मविध्वस्तानुपन्यस्योपसंहृत्य वागादिप्रकरणम् 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः' इत्यसुरविध्वंसिनो मुख्यस्य प्राणस्य पृथगुप-

भाष्यका अनुवाद

श्रुतिमें सर्वत्र प्राणका वाक् आदिसे भेद सुना जाता है—'ते ह वाचमूचुः' (देवताओंने वाणीसे कहा) ऐसा उपक्रम करके वाक् आदि इन्द्रियोंको असुरोंके पापोंसे विद्ध कहकर और वाक् आदिके प्रकरणका उपसंहार कर 'अथ हेममासन्यं०' (पीछे उन्होंने मुखमें रहनेवाले प्राणसे कहा) इस प्रकार असुरोंका विध्वंस करनेवाले मुख्य प्राणका पृथक् उपक्रम होनेसे भेद कहा है। उसी

रत्नप्रभा

एवं भेदेनापर्यायसंज्ञाभ्यामुक्तेः पृथग्जन्मोक्तेश्चेति तद्व्यपदेशादिति हेतुः व्याख्यातः । भेदश्रुतेरिति सूत्रेण प्रकरणभेदो हेतुरुक्त इति न पौनरुक्त्यम् । ते देवाः शास्त्रीयेन्द्रियमनोवृत्तिरूपा असुराणां पापवृत्तिरूपाणां जयार्थम् उद्गीथकर्मणि प्रथमं व्यापृतां वाचम् ऊचुः त्वं न उद्गायासुरनाशार्थमिति तथास्तु इत्यङ्गीकृत्य उद्गायन्तीं वाचमनृतादिदोषेण विध्वंसितवन्तोऽसुराः इत्येवं क्रमेण सर्वेष्विन्द्रियेषु पापग्रस्तेषु पश्चात् अथेति प्रकरणं विच्छिद्य 'प्रसिद्धमास्ये भवमासन्यं मुख्यं प्राणमूचुः त्वं न

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार भेदसे अपर्याय संज्ञाओंके कथन और पृथक् जन्मकी उक्तिसे 'तद्व्यपदेशात्' इस हेतुका व्याख्यान किया है, और 'भेदश्रुते' इस सूत्रसे प्रकरणभेदरूप हेतु कहा है, इससे पुनरुक्ति नहीं है । 'तेह वाचमूचुः—इन शास्त्रीय-इन्द्रिय-मनोवृत्तिरूप देवताओंने पापवृत्तिरूप असुरोंकी पराजयके लिए उद्गीथ कर्ममें प्रथम उद्युक्त हुई वाणीसे कहा कि असुरोंके नाशके लिए तू हमारे लिए उद्गान कर, उनके कथनका अङ्गीकार करके वाणीने उद्गान किया,

भाष्य

क्रमणात्। तथा 'मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत' इत्येवमाद्या अपि भेदश्रुतय उदाहर्तव्याः। तस्मादपि तत्त्वान्तरभूता मुख्यादितरे ॥१८॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः मुख्यादितरे—

भाष्यका अनुवाद

प्रकार 'मनो वाचं०' (मन, वाक् और प्राण, उनको प्रजापतिने अपने लिए किया) इस प्रकारकी भी भेद श्रुतियां उद्धृत करनी चाहिएँ। इससे सिद्ध होता है कि अमुख्य अन्य प्राण मुख्यप्राणसे भिन्न तत्त्व हैं ॥ १८ ॥

रत्नप्रभा

उद्गायेति तेन प्राणेनोद्गात्रा निर्विषयतया सङ्गदोषशून्येनासुरा नष्टाः' इत्यसुराणां विध्वंसिनो मुख्यप्राणस्योक्तेर्भेदसिद्धिः इत्याह—ते हेति। तानि—त्रीणि अन्यानि आत्मने—स्वार्थं प्रजापतिः कृतवानित्यर्थः ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु असुरोंने उनको अनृतादि दोषोंसे विद्ध कर दिया, इस प्रकार सब इन्द्रियोंके पापग्रस्त होने पर 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचु ०' (अनन्तर प्रसिद्ध मुखमें रहनेवाले प्राणसे उन्होंने कहा कि तुम हमारे लिए उद्गान करो) इस प्रकार असुरोंके नाशकरूपसे मुख्य प्राण कहा गया है, इससे भेद सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—"ते ह" इत्यादिसे। उन अन्य तीनोंको प्रजापतिने अपने लिए किया, ऐसा अर्थ है ॥ १८ ॥

वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥

पदच्छेद—वैलक्षण्यात्, च।

पदार्थोक्ति—च-अपि, वैलक्षण्यात्—सुषुप्तौ प्राणस्य स्थितिर्नेन्द्रियाणा-मित्यादिरूपात् वैलक्षण्यात्, [तत्त्वान्तरत्वमिन्द्रियाणामिति भावः]।

भाषार्थ—और 'सुषुप्तिमें प्राणकी स्थिति है, इन्द्रियोंकी नहीं' इस प्रकार अत्यन्त वैलक्षण्य होनेसे इन्द्रियां अन्य तत्त्व हैं।

भाष्य

वैलक्षण्यं च भवति मुख्यस्येतरेषां च। सुषुप्तेषु वागादिषु मुख्य एको जागर्ति स एव चैको मृत्युनाऽनाप्त आप्तास्त्वितरे। तस्यैव च स्थित्युत्क्रान्तिभ्यां देहधारणपतनहेतुत्वम्, नेन्द्रियाणाम्। विषयालोचनहेतुत्वं चेन्द्रियाणां न प्राणस्येत्येवंजातीयको भूयाँल्लक्षणभेदः प्राणेन्द्रियाणाम्। तस्मादप्येषां तत्त्वान्तरभावसिद्धिः। यदुक्तम्—'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' (बृ० १।५।२१) इति श्रुतेः प्राण एवेन्द्रियाणि—इति, तदयुक्तम्, तत्रापि पौर्वापर्यालोचनाद् भेदप्रतीतेः। तथाहि—'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे (बृ० १।५।२१) इति वागादीनीन्द्रियाण्यनुक्रम्य 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्' इति च श्रमरूपेण मृत्युना ग्रस्तत्वं वागादीनामभिधाय 'अथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः

भाष्यका अनुवाद

मुख्य प्राण और अन्य प्राणोंमें वैलक्षण्य भी है। वाक् आदिके लीन होनेपर अकेला मुख्य प्राण जागता है और वही अकेला मृत्युसे आक्रान्त नहीं होता, अन्य प्राण तो आक्रान्त होते हैं। वही स्थितिसे देह धारणका और उत्क्रान्तिसे देह पतनका हेतु है, इन्द्रियां स्थिति और उत्क्रान्ति द्वारा देह धारण और पतनके हेतु नहीं हैं। इन्द्रियां विषयके ज्ञानमें निमित्त हैं, प्राण विषयज्ञानमें निमित्त नहीं हैं, इस प्रकार इन्द्रिय और प्राणका महान् स्वरूपभेद है। इससे भी ये अन्य तत्त्व हैं, ऐसा सिद्ध होता है। 'त एतस्यैव०' (वे सब इसीके रूप हुए) इस श्रुतिसे इन्द्रियां प्राण ही हैं, ऐसा जो कहा गया है, वह अयुक्त है, क्योंकि उनमें भी पूर्वापर सम्बन्धका आलोचन करनेसे भेद प्रतीत होता है, क्योंकि 'वदिष्याम्येवाहमिति०' (बोलूंगी ही—वदनरूप अपने व्यापारसे मैं उपरत न होऊँगी—ऐसा वाणीने व्रतधारण किया) इस प्रकार वाक् आदि इन्द्रियोंका अनुक्रम करके 'तानि मृत्युः श्रमो०' (मृत्युने श्रम हो कर उनका ग्रहण किया, इसलिए वाणी श्रान्त होती ही है) इस प्रकार श्रमरूप मृत्युसे वाक् आदि ग्रस्त होते हैं, ऐसा कहकर 'अथेममेव नाप्नोद्यो०'

रत्नप्रभा

विरुद्धधर्मवत्त्वाच्च भेद इत्याह—वैलक्षण्याच्चेति। मृत्युः—आसङ्गदोषः। वाग्दध्रेव्रतं धृतवतीत्यर्थः। बहुभिर्भेदलिङ्गैर्विरोधाद् वागादीनां प्राणरूपभवनं प्राणाधीनस्थि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विरुद्ध धर्मोंसे भी (मुख्य प्राण और इन्द्रियोंका) भेद, है, ऐसा कहते हैं—"वैलक्षण्याच्च"

भाष्य

प्राणः' (बृ० १।५।२१) इति पृथक्प्राणं मृत्युनाऽनभिभूतं तमनुक्रामति। 'अयं वै नः श्रेष्ठः' (बृ० १।५।२१) इति च श्रेष्ठतामस्यावधारयति। तस्मात् तदविरोधेन वागादिषु परिस्पन्दलाभस्य प्राणायत्तत्वं तद्रूपभवनं वागादीनामिति मन्तव्यम्, न तादात्म्यम्। अत एव च प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकत्वसिद्धिः। तथा च श्रुतिः—'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्, तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणाः' (बृ० १।५।२१) इति मुख्यप्राणविषयस्यैव प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकीं वृत्तिं दर्शयति। तस्मात् तत्त्वान्तराणि प्राणाद् वागादीनीन्द्रियाणीति ॥ १९ ॥

भाष्यका अनुवाद

(जो यह मध्यम प्राण है, उसीको मृत्युने आक्रान्त नहीं किया) इस प्रकार श्रुति मृत्युद्वारा अनभिभूत प्राणका पृथक् अनुक्रम करती है। 'अयं वै नः श्रेष्ठः' (निस्सन्देह, यह हममें श्रेष्ठ है) इस प्रकार उसकी श्रेष्ठताका अवधारण करती है। इसलिए उसके साथ विरोध न होनेसे इस प्रकार वाक् आदिमें परिस्पन्द—चेष्टाकी प्राप्ति प्राणके अधीन है, ऐसा वाक् आदिके प्राणरूप होनेका अर्थ समझना चाहिए, तादात्म्य नहीं समझना चाहिए। इसीलिए ही प्राणशब्द इन्द्रियोंमें लाक्षणिक है, ऐसा सिद्ध होता है, क्योंकि 'त एतस्यैव०' (वे सब इसीके रूप हुए, इसलिए ये वाक् आदि इस प्राणाभिधानसे 'प्राण' कहलाते हैं) यह श्रुति मुख्य प्राणविषयक जो प्राणशब्द है उसकी इन्द्रियोंमें लाक्षणिक वृत्ति दिखलाती है, इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रियां प्राण से भिन्न तत्त्व हैं ॥ १९ ॥

रत्नप्रभा

तिकत्वरूपं व्याख्येयम्। एतदेव प्राणशब्दस्य इन्द्रियेषु लक्षणाबीजं श्रुतौ 'तस्मादेत एतेनाख्यायन्त' इति परामृष्टम्, इति न भेदाभेदश्रुत्योर्विरोध इति सिद्धम् ॥ १९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। मृत्यु—आसङ्गदोष। वाग्दध्रे—वाणीने व्रत धारण किया, ऐसा अर्थ है। अनेक भेदबोधक लिङ्गोंके साथ विरोध होनेसे वाक् आदि प्राणरूप हैं, इसकी 'प्राणके अधीन 'वागादिकी स्थिति है, ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। यही प्राण शब्दकी इन्द्रियमें लक्षणा माननेमें बीज है और उसका 'तस्मादेत एतेन०' इत्यादि श्रुतिमें परामर्श किया है, अतः भेदाभेद श्रुतियोंका विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १९ ॥

[९ संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरण सू० २०-२२]

नामरूपव्याकरणे जीवः कर्ताऽथवेश्वरः ।
अनेन जीवेनेत्युक्तेर्व्याकर्ता जीव इष्यते ॥ १ ॥
जीवान्वयः प्रवेशेन सन्निधेः सर्वसर्जने ।
जीवोऽशक्तः शक्त ईश उत्तमोक्तिस्तथोक्षितुः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—नाम और रूपके व्याकरणमें (उत्पत्तिमे) जीव कर्ता है अथवा ईश्वर कर्ता है ?

पूर्वपक्ष—व्याकर्ता जीव ही है, क्योंकि 'अनेन जीवेन' ऐसी श्रुति है ।

सिद्धान्त—नाम और रूपका व्याकर्ता ईश्वर ही है, क्योंकि सब वस्तुके निर्माणमें जीवका सामर्थ्य नहीं हो सकता है और 'अनेन जीवेन' इत्यादि श्रुतिमें उत्तमपुरुषकी उक्ति ईश्वरके कर्तृत्वमे घटती है, जीवका अन्वय संनिधिसे केवल प्रवेशके साथ ही है ।

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २० ॥

पदच्छेद—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः, तु, त्रिवृत्कुर्वतः, उपदेशात् ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दस्त्वत्रसूत्रे वादिसिद्धान्तभञ्जनप्रयोजनकः । त्रिवृत्कुर्वतः—'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' इति त्रिवृत्कुर्वतः परमेश्वरस्य [एव] संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः—नामरूपयोर्व्याक्रिया—पृथक्करणम् [न जीवस्याल्पमेधसो महीधरादिव्याकरणासमर्थस्य, कुतः ?] उपदेशात्—'सेयं देवता' इत्युपक्रम्य 'व्याकरवाणि' इत्युपसंहारे परदेवताकर्तृकस्य व्याकरणस्य शासनात् ।

भाषार्थ—'तासां त्रिवृतम्' इस श्रुतिमें कहा गया त्रिवृत् करनेवाला परमेश्वर ही नाम और रूपका व्याकर्ता—पृथक् कर्ता है, जीव नहीं, क्योंकि 'सेयं देवता' इसका आरम्भ करके 'व्याकरवाणि' इस प्रकारके उपसंहारमें व्याक्रियाका कर्ता परमेश्वर ही प्रतिपादित है ।

---

* ईश्वर द्वारा पञ्चभूतोंके उत्पन्न होनेपर दृश्यमान भौतिक—महीधरादि नाम रूपका व्याकर्ता-स्रष्टा जीव है, क्योंकि 'अनेन जीवेन' इत्यादिसे सृष्टिमें जीवके ही अन्वयका श्रवण है ।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि 'जीवेनाऽनुप्रविश्य' इसमें प्रवेशके साथ ही जीवका सान्नि-धानसे अन्वय होता है, 'जीवेन व्याकरवाणि' ऐसा कहनेमें व्यवहित अन्वय होगा, और जीवकी गिरि,

भाष्य

सत्प्रक्रियायां तेजोबन्नानां सृष्टिमभिधायोपदिश्यते—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति, तासां त्रिवृतमेकैकां करवाणीति' (छा० ६ । ३ । २) । तत्र संशयः—किं जीवकर्तृकमिदं नामरूपव्याकरणम् आहोस्वित् परमेश्वरकर्तृकमिति ।

तत्र प्राप्तं तावत्—जीवकर्तृकमेवेदं नामरूपव्याकरणमिति । कुतः ? 'अनेन

भाष्यका अनुवाद

सत्के प्रकरणमें तेज, जल और अन्नकी सृष्टि कहकर ऐसा उपदेश किया है—'सेयं देवतैक्षत०' (इस प्रकृत सदात्मक देवताने विचार किया कि अब मैं इन तीन देवताओंमें इस जीवात्मा द्वारा प्रवेश करके नाम और रूपका स्पष्टीकरण करूं, उन तीन देवताओंमेंसे प्रत्येकको तीन तीन भागोंमें विभक्त करूं) यहांपर संशय होता है कि नाम और रूपका यह व्याकरण जीवने किया है या परमेश्वरने किया है ?

पूर्वपक्षी—नाम और रूपका यह व्याकरण जीवने किया है, ऐसा प्राप्त होता

रत्नप्रभा

उत्पत्तिः उत्पादना इति च कार्यकर्त्रोर्व्यापारौ प्रसिद्धौ । तत्र जगदुत्पत्तिश्रुतिविरोधः अतीतेन पादद्वयेन निरस्तः, संप्रति उत्पादनश्रुतिविरोधो निरस्यते । तत्रापि सूक्ष्मभूतोत्पादनम् पारमेश्वरम् एवेति श्रुतिष्वविप्रतिपन्नं, स्थूलभूतोत्पादने त्वस्ति श्रुतिविप्रतिपत्तिरिति तन्निरासार्थमाह—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् । नामरूपभेदात् करणभिन्नः प्राण इत्युक्तं, तत् प्रसङ्गेन स्थूलनामरूपक्लृप्तिः किंकर्तृका

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पत्ति—उत्पन्न होना और उत्पादना—उत्पन्न करना, ये दोनों क्रमसे कार्य और कर्ताके व्यापार रूपसे प्रसिद्ध हैं । उसमें पिछले दो पादोंसे जगत् की उत्पत्तिका प्रतिपादन करने वाली श्रुतियोंके विरोधका निरसन किया जा चुका है, अब उत्पादनाविषयक श्रुतियोंके विरोधका निराकरण किया जाता है । उसमें भी सूक्ष्मभूतोंका उत्पादन तो परमेश्वर कृत ही है, ऐसा सब श्रुतियोंको सम्मत है, स्थूल भूतोंके उत्पादनके विषयमें तो श्रुतियोंमें परस्पर विरोध है उसके निराकरणके लिए कहते हैं—''संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु'' । नाम और रूपके भेदसे

नदी आदिके निर्माणमें शक्ति नहीं हो सकती । ईश्वर तो सर्वशक्तिमान् है, क्योंकि 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' ऐसा श्रवण है, किञ्च, 'व्याकरवाणि' यह उत्तम पुरुष ईश्वर पक्षमें ही अन्वित होता है, इसलिए नाम और रूपका स्रष्टा ईश्वर ही है—जीव नहीं, घट आदिमें ईश्वरकी प्रेरणासे कुलालादिमें कर्तृत्व है । इससे ईश्वर ही सबका कर्ता है, यह सिद्ध हुआ ।

भाष्य

जीवेनात्मना' इति विशेषणात्। यथा लोके चारेणाहं परसैन्यमनुप्रविश्य संकलयानीत्येवंजातीयके प्रयोगे चारकर्तृकमेव सत् सैन्यसंकलनं हेतुकर्तृत्वात् राजा आत्मन्यध्यारोपयति संकलयानीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण। एवं

भाष्यका अनुवाद

है। किससे ? इससे कि 'अनेन जीवेनात्मना' (इस जीवात्मा द्वारा) ऐसा विशेषण है। जैसे लोकमें 'चार द्वारा परसैन्यमें प्रवेश करके मैं गणना करूँ' इस प्रकारके प्रयोगमें यद्यपि सैन्यगणना चारने ही की है, तो भी प्रयोजक कर्ता

रत्नप्रभा

इति चिन्त्यत इति अवान्तरसंगतिः। प्रक्रिया—प्रकरणम्। ईक्षणमेवाह—हन्तेत्यादिना। हन्त इदानीं देवताः सूक्ष्मा अनुप्रविश्य इति संबन्धः। तासां तिसृणां देवतानामेकैकां देवतां तेजोबन्नात्मना त्र्यात्मिकां करिष्यामि इति श्रुतिः पञ्चीकरणोपलक्षणार्था। छान्दोग्ये अपि आकाशवाय्वोरुपसंहारस्य उक्तत्वात्। एवं स्थूलीकृतेषु भूतेषु प्राणिनां व्यवहारः सेत्स्यति इति परदेवतायाः तात्पर्यम्। जीवेनेतिपदस्य व्याकरवाणीत्यनेन संबन्धसंभवासंभवाभ्यां संशयमाह—तत्रेति। पूर्वपक्षे जीवस्यैव भौतिकस्रष्टृत्वाद् ब्रह्मणः सर्वस्रष्टृत्वासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम्। जीवेनेत्यस्य व्याकरवाणीतिप्रधानक्रियापदेन संबन्ध इति पूर्वपक्षमाह—तत्र प्राप्तमिति। परदेवताया अकर्तृत्वे कथम् उत्तमपुरुषप्रयोग इत्याशङ्क्य प्रयोजकत्वात्कर्तृत्वोपचार इत्याह—यथा लोक इति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इन्द्रियोंसे प्राण भिन्न है, ऐसा कहा गया है, उसके प्रसङ्गसे स्थूल नाम और रूपकी रचनाका कर्ता कौन है ? इस विषयपर विचार किया जाता है ऐसी अवान्तर सङ्गति है। प्रक्रिया—प्रकरण। ईक्षणको ही कहते हैं—"हन्त" इत्यादिसे। हर्ष है कि इस समय सूक्ष्म देवता प्रवेश करके, ऐसा सम्बन्ध है। उन तीन देवताओंमेंसे प्रत्येक देवताको तेज, जल और अन्नके आत्मासे त्र्यात्मक करूँगा, यह श्रुति पञ्चीकरणके उपलक्षणके लिए है। क्योंकि छान्दोग्यमें भी आकाश और वायुके उपसंहारका कथन है, इस प्रकार स्थूल किये गये भूतोंमें प्राणियोंका व्यवहार सिद्ध होगा, ऐसा परदेवताका तात्पर्य है। 'जीवेन' इस पदका 'व्याकरवाणि' इस पदके साथ सम्बन्धके सम्भव और असम्भव होनेसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें जीव ही भूतोंका स्रष्टा है अतः ब्रह्म सबका उत्पादक है यह असिद्ध है, सिद्धान्तमें ब्रह्म सबका स्रष्टा है यह सिद्ध है। 'जीवेन' इसका 'व्याकरवाणि' इस प्रधान क्रियापदके साथ सम्बन्ध है, ऐसा पूर्वपक्ष कहते हैं—"तत्र प्राप्तम्" इत्यादिसे। परदेवता यदि कर्ता न हो,

भाष्य

जीवकर्तृकमेव सन्नामरूपव्याकरणं हेतुकर्तृत्वाद् देवता आत्मन्यध्यारोपयति व्याकरवाणीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण। अपि च डित्थडवित्थादिषु नामसु घटशरावादिषु च रूपेषु जीवस्यैव व्याकर्तृत्वं दृष्टम्। तस्माज्जीवकर्तृकमेवेदं नामरूपव्याकरणम्।

इत्येवं प्राप्तेऽभिधत्ते—'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु' इति। तुशब्देन पक्षं व्यावर्तयति। संज्ञामूर्तिक्लृप्तिरिति नामरूपव्याक्रियेत्येतत् त्रिवृत्कुर्वत इति परमेश्वरं लक्षयति, त्रिवृत्करणे तस्य निरपवादकर्तृत्वनिर्देशात्—येयं संज्ञा-

भाष्यका अनुवाद

होनेसे राजा 'मैं गणना करूँ' इस प्रकार उत्तम पुरुषके प्रयोगसे अपनेमें उसका—सैन्य-संकलनका अध्यारोप करता है, इस प्रकार यद्यपि नाम और रूपका स्पष्टीकरण जीवने ही किया है, तो भी प्रयोजक कर्त्ता होनेसे देवता 'व्याकरवाणि' (व्याकार करूँ) इस प्रकार उत्तम पुरुषके प्रयोगसे उसका अपनेमें अध्यारोप करता है और डित्थ, डवित्थ आदि नामोंमें और घट, शराव आदि रूपोंमें जीव ही व्याकरण करनेवाला है, ऐसा देखा जाता है, इसलिए नाम और रूपका यह व्याकरण जीवकर्तृक ही है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु'। तुशब्दसे पूर्वपक्षकी निवृत्ति करते हैं। संज्ञामूर्तिक्लृप्ति अर्थात् नाम और रूपका व्याकरण। 'त्रिवृत्कुर्वतः' यह परमेश्वरको सूचित करता है, क्योंकि त्रिवृत्करणमें वही बे-रोक-टोक कर्तारूपसे निर्दिष्ट है। अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत्, इसप्रकार

रत्नप्रभा

सिद्धान्तयति—तु शब्देनेत्यादिना। प्रत्याकृति—प्रतिजाति इत्यर्थः। अनेन स्थूलसर्वसर्गे जीवस्य असामर्थ्यं द्योतितम्। तथा च पदान्वयस्य पदार्थयोग्यताधीनत्वात् जीवरूपेण प्रविश्य अहमेव व्याकरवाणि इत्यन्वयः, न तु जीवेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो उत्तम पुरुषका प्रयोग किस प्रकार होगा, ऐसी शङ्का करके प्रयोजक होनेसे परदेवतामें कर्तृत्व गौण है, ऐसा कहते हैं—"यथा लोके" इत्यादिसे। सिद्धान्त करते हैं—"तु शब्देन" इत्यादिसे। प्रत्येक आकृतिमें—प्रत्येक जातिमें, ऐसा अर्थ है। इससे सम्पूर्ण स्थूलकी सृष्टि करनेमें जीवका असामर्थ्य सूचित किया गया है, पदका अन्वय पदार्थकी योग्यताके अधीन होता है, अतः जीवरूपसे प्रवेश करके मैंही (पर देवता ही) व्याकृत करूंगा, ऐसा अन्वय है, जीव द्वारा व्याकृत करूंगा, ऐसा अन्वय नहीं है।

भाष्य

क्लृप्तिर्मूर्तिक्लृप्तिश्चाग्निरादित्यश्चन्द्रमा विद्युदिति, तथा कुशकाशपलाशादिषु पशुमृगमनुष्यादिषु च प्रत्याकृति प्रतिव्यक्ति चानेकप्रकारा, सा खलु परमेश्वरस्यैव तेजोबन्नानां निर्मातुः कृतिर्भवितुमर्हति। कुतः? उपदेशात्। तथा हि—'सेयं देवतैक्षत' इत्युपक्रम्य 'व्याकरवाणि' इत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण परस्यैव ब्रह्मणो व्याकर्तृत्वमिहोपदिश्यते। ननु जीवेनेति विशेषणाज्जीवकर्तृकत्वं व्याकरणस्याऽध्यवसितम्। नैतदेवम्, जीवेनेत्येतदनुप्रविश्येत्यनेन संबध्यते, आनन्तर्यात्; न व्याकरवाणीत्यनेन। तेन हि संबन्धे व्याकरवाणीत्ययं देवताविषय उत्तमपुरुष औपचारिकः कल्प्येत। न च गिरिनदीसमुद्रादिषु नानाविधेषु नामरूपेष्वनीश्वरस्य जीवस्य व्याकरणसामर्थ्यमस्ति। येष्वपि चाऽस्ति सामर्थ्यम्, तेष्वपि परमेश्वरायत्तमेव तत्। न च जीवो नाम परमेश्वरादत्यन्तभिन्नश्चार इव राज्ञः, आत्मनेति

भाष्यका अनुवाद

जो नामका व्याकरण है, तथा कुश, काश, पलाश आदिमें और पशु, मृग, मनुष्य आदिमें प्रत्येक जाति और प्रत्येक व्यक्तिमें अनेक प्रकारके रूपका जो व्याकरण है, वह तेज, जल और अन्नके निर्माता परमेश्वरकी ही कृति हो सकती है। किससे? उपदेशसे। क्योंकि 'सेयं देवतैक्षत०' (उस देवताने विचार किया) इस प्रकार उपक्रम करके 'व्याकरवाणि' (मैं स्पष्टीकरण करूँ) इस प्रकार उत्तम पुरुषके प्रयोगसे पर ब्रह्म ही व्याकरणकर्ता है, ऐसा यहां उपदेश किया जाता है। परन्तु 'जीवेन' (जीवद्वारा) इस विशेषणसे व्याकरणकर्ता जीव है, ऐसा निश्चय किया जाता है। यह ऐसा नहीं है, 'जीवेन' (जीवद्वारा) इसका 'अनुप्रविश्य' (प्रवेश करके) इसके साथ संबन्ध है, आनन्तर्य होनेके कारण, 'व्याकरणवाणि' इसके साथ नहीं। क्योंकि यदि उसके साथ संबन्ध माना जाय, तो 'व्याकरवाणि' इस प्रकारका

रत्नप्रभा

व्याकरवाणीति। ननु तर्हि प्रवेशक्रिया जीवकर्तृका, व्याकरणम् ईश्वरकर्तृकम् इति कर्तृभेदात् क्त्वाप्रत्ययो न स्यादित्यत आह—न च जीवो नामेति। वस्तुतस्तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु ऐसा है, तो अनुप्रवेशक्रिया जीवकर्तृक है और व्याकरणक्रिया ईश्वरकर्तृक है, इस प्रकार कर्ताके भेद होनेसे क्त्वा प्रत्यय (अनुप्रविश्यमें जो क्त्वा प्रत्ययका ल्यप् हुआ है, वह) नहीं होगा? इसपर कहते हैं—"नच जीवो नाम" इत्यादिसे। वास्तवमें तो 'सूर्यो जले प्रविष्टः'

भाष्य

विशेषणात्, उपाधिमात्रनिबन्धनत्वाच्च जीवभावस्य। तेन तत्कृतमपि नामरूपव्याकरणं परमेश्वरकृतमेव भवति, परमेश्वर एव च नामरूपयोर्व्याकर्तेति सर्वोपनिषत्सिद्धान्तः, 'आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' (छा० ८ । १४ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात् परमेश्वरस्यैव त्रिवृत्कुर्वतः कर्म नामरूपयोर्व्याकरणम् । त्रिवृत्करणपूर्वकमेवेदमिह

भाष्यका अनुवाद

देवताविषयक यह उत्तम पुरुष औपचारिक है, ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी। और गिरि, नदी, समुद्र आदि नाना प्रकारके नाम और रूपोंके व्याकरण करनेकी सामर्थ्य ईश्वरसे भिन्न जीवमें नहीं है, और जिनमें सामर्थ्य है उनमें भी वह सामर्थ्य परमेश्वरके अधीन ही है। और जैसे चार राजासे अत्यन्त भिन्न है, वैसे जीव परमेश्वरसे अत्यन्त भिन्न नहीं है, क्योंकि 'आत्मना' (आत्मा द्वारा) यह विशेषण है, और (आत्माका) जीवभाव उपाधिमात्रके आधारपर है। इसलिए उससे (जीवसे) किया गया भी नाम और रूपका व्याकरण परमेश्वरकृत ही होता है, और परमेश्वर ही नाम और रूपका व्याकरणकर्ता है, ऐसा सब उपनिषदोंका सिद्धान्त है—'आकाशो हि नाम०' (आकाश श्रुतियोंमें प्रसिद्ध आत्मा है और वह नाम और रूपका व्याकरणकर्ता है) इत्यादि। इसलिए नाम और रूपका व्याकरण इस त्रिवृत्करनेवाले परमेश्वरका ही काम है। यह नामरूपव्याकरण यहां त्रिवृत्करणपूर्वक ही विवक्षित है, क्योंकि प्रत्येक नाम और रूपका व्याकरण

रत्नप्रभा

'सूर्यो जले प्रविष्टः' इति प्रतिबिम्बभावाख्यप्रवेशे सूर्यस्य एव कर्तृत्वप्रयोगात् जीवात्मना प्रवेशेऽपीश्वर एव कर्ता इति क्त्वाश्रुतिर्युक्तेति बोध्यम्। नन्वभेदश्चेज्जीव एव व्याकर्ता किं न स्यात्? इत्याशङ्क्य कल्पनया भिन्नस्य तस्य अशक्यत्वाच्छ्रुतिविरोधात् च नैवमित्याह—परमेश्वरे इति। प्रत्येकं महाभूतसर्गस्य प्राक् उक्तत्वात् इह व्याकरणवाक्ये यत्नपूर्वकं स्थूलभौतिकसर्ग उच्यत इति पाठव्यत्ययेन सूत्रसूचितं श्रुत्यर्थमाह—त्रिवृत्करणपूर्वकमिति। ईश्वरकृतं

रत्नप्रभाका अनुवाद

(सूर्य जलमें प्रविष्ट हुआ) इस प्रकार सूर्यके प्रतिबिम्बभावका प्रवेश होनेपर भी सूर्यका ही कर्तारूपसे प्रयोग होनेसे जीवात्मा द्वारा प्रवेशमें भी ईश्वर ही कर्ता है, इस प्रकार क्त्वाकी श्रुति युक्त है, ऐसा समझना चाहिए। परन्तु अभेद है, तो जीव ही व्याकर्ता क्यों न हो, ऐसी आशङ्का करके कल्पनासे भिन्न जो जीव है उसके अशक्य होने और श्रुतिका विरोध होनेसे, ऐसा नहीं है,

भाष्य

नामरूपव्याकरणं विवक्ष्यते, प्रत्येकं नामरूपव्याकरणस्य तेजोबन्नोत्पत्ति-वचनेनैवोक्तत्वात्। तच्च त्रिवृत्करणमग्न्यादित्यचन्द्रविद्युत्सु श्रुतिर्दर्शयति—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' (छा० ६।४।१) इत्यादिना। तत्राऽग्निरितीदं रूपं व्याक्रियते, सति च रूपव्याकरणे विषयप्रतिलम्भादग्निरितीदं नाम व्याक्रियते। एवमेवादित्यचन्द्रविद्युत्स्वपि द्रष्टव्यम्। अनेन चाग्न्याद्युदाहरणेन भौमाम्भसतैजसेषु त्रिष्वपि द्रव्येष्वविशेषेण त्रिवृत्करणमुक्तं भवति, उपक्रमोपसंहारयोः साधारणत्वात्। तथा ह्यविशेषेणैवोपक्रमः—'इमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका

भाष्यका अनुवाद

तेज, जल और अन्नकी उत्पत्तिके कथनसे ही कहा गया है। और उस त्रिवृत्करणको अग्नि, आदित्य, चन्द्र और विद्युत्‌में 'यदग्नेरोहितं रूपं०' (अग्निका जो रोहित रूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है) इत्यादिसे श्रुति दिखलाती है, उसमें अग्नि यह रूपका व्याकरण है और रूपका व्याकरण होनेपर विषयका लाभ होनेसे अग्नि यह नामका व्याकरण है। इसी प्रकार आदित्य, चन्द्र और विद्युत्‌में समझना चाहिए। और इन अग्नि आदि उदाहरणोंसे पार्थिव, जलीय और तैजस तीनों द्रव्योंमें समान रीतिसे त्रिवृत्करण कहा जाता है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहार इन तीनोंमें साधारण है। क्योंकि समान रीतिसे उपक्रम है—'इमास्तिस्रो देवता-

रत्नप्रभा

त्र्यात्मत्वम् इति क्व दृष्टम्? इत्यत आह—तच्चेति। इदानीं नामरूपव्याकरणे क्रममाह—तत्राग्निरिति। यद्यपि 'अतः प्रभवात्' इत्यत्र वेदशब्दपूर्विका अर्थसृष्टिरुक्ता, तथाप्यव्यक्तात् स्मृतात् शब्दात् अर्थसृष्टौ सत्यां स्फुटनामसंबन्धाभिव्यक्तिरत्रोक्तेत्यविरोधः। नन्वग्न्यादीनां तैजसानामेव श्रुतावुदाहरणाद् भूजलयोः त्र्यात्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह कहते हैं—"परमेश्वर" इत्यादिसे। प्रत्येक महाभूतकी सृष्टि पूर्वमें कही गई है, यहां व्याकरण वाक्यमें यत्नपूर्वक स्थूल भौतिक सृष्टि कही जाती है, इस प्रकार पाठव्यत्ययसे सूत्रसूचित श्रुतिका अर्थ कहते हैं—"त्रिवृत्करणपूर्वकम्" इत्यादिसे। ईश्वरकृत त्रिवृत्करण कहाँ देखा गया है, इसपर कहते हैं—"तच्च" इत्यादिसे। अब नामरूपके व्याकरणमें क्रम कहते हैं—"तत्राग्निः" इत्यादिसे। यद्यपि 'अत प्रभवात्' इस सूत्रमें वेदशब्द पूर्वक अर्थकी सृष्टि कही गई है, तथापि अव्यक्त स्मृत शब्दसे अर्थकी सृष्टि होनेपर स्पष्ट नाम सम्बन्धकी अभिव्यक्ति यहा कही गई है, अत. विरोध नही है, परन्तु अग्नि आदि तेजके

भाष्य

भवति' (छा० ६ । ३ । ४) इति । अविशेषेणैव चोपसंहारः—'यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपम्' इत्येवमादिः, 'यदविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास इति (छा० ६ । ४ । ६, ७) एवमन्तः ॥ २० ॥

तासां तिसृणां देवतानां बहिस्त्रिवृत्कृतानां सतीनामध्यात्ममपरं त्रिवृत्करणमुक्तम्—'इमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति' (छा० ६ । ४ । ७) इति । तदिदानीमाचार्यो यथाश्रुत्येवोपदर्शयत्याशङ्कितं कंचिद् दोषं परिहरिष्यन्—

भाष्यका अनुवाद

त्रिवृत्०' (ये तीन देवता प्रत्येक त्रिवृत् त्रिवृत् होते हैं), और उपसंहार भी समान रीतिसे है—'यदुरोहितमिवाभूत्०' (अनेकरूप होनेसे कपोतादिरूपसे जो संदिह्यमान दिखाई देता है, उसमें) (जो कुछ रोहितसा [पूर्व ब्रह्मवेत्ताओंसे गृहीत] हुआ, वह तेजका रूप है [ऐसा उन्होंने जाना]) यह आदिमें है और 'यदविज्ञातमिवाभूत्०' (जो अविज्ञात-सा [विशेषतः अगृह्यमान-सा] हुआ, वह भी इन तीन देवताओंका ही समुदाय है [ऐसा उन्होंने जाना), यह अन्तमें है ॥२०॥

बाह्य पदार्थ में त्रिवृत्कृत इन तीन देवताओंका दूसरा आध्यात्मिक त्रिवृत्करण कहा गया है—'इमास्तिस्रो देवताः०' (ये तीन देवता पुरुषको प्राप्तकर प्रत्येक त्र्यात्मक त्र्यात्मक होती हैं)। अब आचार्य आशंकित किसी एक दोषका परिहार करनेकी इच्छा से उसको श्रुतिके अनुसार ही दिखलाते हैं—

रत्नप्रभा

कत्वं न विवक्षितम् इत्यत आह—अनेन चेति । उपक्रमे तासां मध्य इति शेषः । यत्कपोतरूपादिकं कृष्णत्वादिविशेषाकारेण अविज्ञातम् इव भवति तत् देवतानां समुदायरूपमित्यर्थः ॥ २० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विकारोंका ही श्रुतिमें उदाहरण होनेसे पृथ्वी और जलमें त्र्यात्मकत्व विवक्षित नहीं है, इसपर कहते हैं—"अनेन च" इत्यादिसे । उपक्रममें, उनके मध्यमें इतना शेष है । जो कपोतरूपादि कृष्णत्व आदि विशेष आकारसे अविज्ञात-सा होता है वह देवताओंका समुदायरूप है, ऐसा अर्थ है ॥ २० ॥

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥

पदच्छेद—मांसादि, भौमम्, यथाशब्दम् इतरयोः, च ।

पदार्थोक्ति—[मांसादीत्यत्रादिशब्दः 'अन्नमशितं त्रेधाभवति' इति श्रुत्या पुरीषमनसोरुपलक्षकस्तथाच] मांसादि—मांसपुरीषप्रभृति, भौमम्—त्रिवृत्कृताया अन्नात्मिकाया भूमेः कार्यम् । [एवम्] इतरयोश्च—अप्तेजसोरपि यथाशब्दम्—'मूत्रं लोहितं प्राणश्चापां कार्यम्' इत्यादिशास्त्रमनुसृत्य [मूत्रादिकं कार्यं बोध्यम्] ।

भाषार्थ—मांस, पुरीष आदि त्रिवृत्कृत अन्नात्मक भूमिके कार्य हैं और इसी प्रकार 'मूत्रं लोहितम्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार मूत्र, रुधिर आदि जल आदिके कार्य हैं ।

भाष्य

भूमेस्त्रिवृत्कृतायाः पुरुषेणोपभुज्यमानाया मांसादिकार्यं यथाशब्दं निष्पद्यते । तथा हि श्रुतिः—'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः' (छा० ६ । ५ । १) इति । त्रिवृत्कृता भूमिरेवैषा व्रीहियवाद्यन्नरूपेणाद्यत इत्यभि-

भाष्यका अनुवाद

त्रिवृत्कृत पुरुषसे उपभोग की गई भूमिका मांसादि कार्य श्रुतिके अनुसार निष्पन्न होता है, क्योंकि—'अन्नमशितं त्रेधा०' (खाये गये अन्नका तीन विभाग होता है उसका जो स्थूलतम धातु है, वह पुरीष है, जो मध्यम धातु है वह मांस है, जो सबसे अणु धातु है वह मन है) ऐसी श्रुति है। यह त्रिवृत्कृत भूमि ही व्रीहि, यव आदि अन्नरूपसे खाई जाती है, ऐसा अभिप्राय है । और

रत्नप्रभा

बाह्यं त्रिवृत्करणम् उक्त्वाऽऽध्यात्मिकम् अपरं पूर्वोक्तविलक्षणं वदन् उत्तर-सूत्रमवतारयति—तासामित्यादिना । पुरुषशरीरं प्राप्यैकैका त्रिवृद्भवति—कार्य-त्रयात्मना भवतीत्यर्थः । उत्तरसूत्रेणाशंकितं दोषं निरसितुमादौ शङ्काविषयमा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाह्य त्रिवृत्करण कहकर पूर्वोक्तसे विलक्षण दूसरे आध्यात्मिकको कहते हुए सूत्रकी अवतरणिका देते हैं—"तासाम्" इत्यादिसे । पुरुष शरीरको प्राप्त कर प्रत्येक त्रिवृत् होता है—कार्यत्रयात्मक होता है, ऐसा अर्थ है । उत्तर सूत्रमें जिसकी शंका की गई है, उस दोषका निरसन

भाष्य

ग्रायः। तस्याश्च स्थविष्ठं रूपं पुरीषभावेन बहिर्निर्गच्छति, मध्यममध्यात्मं मांसं वर्धयति, अणिष्ठं तु मनः। एवमितरयोरप्तेजसोर्यथाशब्दं कार्यमवगन्तव्यम्। एवं मूत्रं लोहितं प्राणश्चापां कार्यम्। अस्थि मज्जा वाक् तेजस इति॥ २१॥

अत्राह—यदि सर्वमेव त्रिवृत्कृतं भूतभौतिकम् अविशेषश्रुतेः—'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्' इति। किंकृतस्तर्ह्ययं विशेषव्यपदेशः—'इदं तेज इमा आप इदमन्नम्' इति। तथा 'अध्यात्ममिदमन्नस्याऽशितस्य कार्यं मांसादि, इदमपां पीतानां कार्यं लोहितादि, इदं तेजसोऽशितस्य कार्यमस्थ्यादि' इति। अत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

उसका स्थूलतमरूप पुरीषभावसे बाहर निकलता है, मध्यमरूप अध्यात्म मांस बढ़ाता है और सबसे अणुरूप मनकी वृद्धि करता है। इसी प्रकार दूसरे दो—जल और तेजका भी श्रुतिके अनुसार कार्य समझना चाहिए। इस प्रकार मूत्र, रक्त और प्राण, ये जलके कार्य हैं और हड्डी, मज्जा और वाणी, ये तेजके कार्य हैं॥२१॥

यहां कहते हैं—यदि भूत, भौतिक सभी ही त्रिवृत्कृत हैं, क्योंकि 'तासां त्रिवृतम्०' (देवताओंमेंसे प्रत्येक को त्र्यात्मक त्र्यात्मक किया) ऐसी सामान्य श्रुति है, तो 'इदं तेजः०' (यह तेज, यह जल और यह अन्न) और 'अध्यात्ममिदमन्न०' (शरीरमें जो मांसादि हैं, ये खाये गये अन्नके कार्य हैं, जो लोहितादि हैं ये पिये गये जलके कार्य हैं और जो अस्थि आदि हैं, ये खाये गये तेजके कार्य हैं) इस श्रुतिमें ऐसा विशेषव्यपदेश क्यों किया है? इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

ध्यात्मिकत्रिवृत्करणं दर्शयति इति भाष्यार्थः। नन्वन्नमयं मांसादि कथं भौमम् इत्यत आह—त्रिवृत्कृता भूमिरेवेति। प्राणस्य वायोः अप्कार्यत्वम् औपचारिकं द्रष्टव्यम्॥ २१॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

करने के लिया प्रथम शंका के विषयीभूत आध्यात्मिक त्रिवृत्करण को दिखलाते हैं, ऐसा भाष्यका अर्थ है। यदि कोई कहे कि अन्नमय मांसादि भूमिके कार्य किस प्रकार हैं? इसपर कहते हैं—"त्रिवृत्कृता भूमिरेव" इत्यादिसे। वायुरूप प्राण जलका कार्य है, ऐसा जो कहा है वह औपचारिक है, ऐसा समझना चाहिए॥ २१॥

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

पदच्छेद—वैशेष्यात्, तु, तद्वादः, तद्वादः ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दः शङ्काविनाशाय । [सर्वेषां पृथ्व्यादीनां त्रिवृत्करणाविशेषेऽपि] वैशेष्यात्—स्वभागस्य प्रचुरत्वात् तद्वादः—पृथ्व्यादिशब्देन प्रसिद्धिः—व्यवहारः । द्वितीयस्तद्वादशब्दोऽस्याऽध्यायस्य परिसमाप्तिसूचकः ।

भाषार्थ—पृथ्वी आदिके त्रिवृत्करणके सामान्य होने पर भी पृथ्वी आदिके आधिक्यसे 'यह पृथ्वी' 'यह जल' इत्यादि व्यवहार होता है। सूत्रमें द्वितीय 'तद्वाद' शब्द अध्यायकी समाप्तिके सूचनके लिए है।

भाष्य

तुशब्देन चोदितं दोषमपनुदति । विशेषस्य भावो वैशेष्यम्, भूयस्त्वमिति यावत् । सत्यपि त्रिवृत्करणे क्वचित् कस्यचित् भूतधातोर्भूयस्त्वमुपलभ्यते—'अग्नेस्तेजोभूयस्त्वम्, उदकस्याब्भूयस्त्वम्, पृथिव्या अन्नभूयस्त्वम्' इति । व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं चेदं त्रिवृत्करणम् । व्यवहारश्च त्रिवृत्कृतरज्जुवदेकत्वापत्तौ सत्यां न भेदेन भूतत्रयगोचरो लोकस्य

भाष्यका अनुवाद

तुशब्दसे उक्त दोषका निराकरण करते हैं। विशेषका भाव वैशेष्य है अर्थात् भूयस्त्व । यद्यपि त्रिवृत्करण है, तो भी क्वचित् किसी एक धातुका आधिक्य उपलब्ध होता है—'अग्नेस्तेजोभूयस्त्वम्०' (अग्निमें तेजका आधिक्य है, उदकमें जलका और पृथिवीमें अन्नका आधिक्य है) और व्यवहारकी प्रसिद्धिके लिए यह त्रिवृत्करण है। त्रिवृत् की गई रज्जुके समान एकत्वका प्रसंग होनेपर लोकमें तीन भूतसम्बन्धी भेदव्यवहार प्रसिद्ध न होगा।

रत्नप्रभा

एवं विषयम् उक्त्वा दोषं शङ्कते—अत्राहेति । तदुत्तरत्वेन सूत्रं व्याचष्टे—तुशब्देनेति । स्वभागाधिक्यं वैशेष्यं किमर्थं कृतम् इत्यत आह—व्यवहार-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार विषय कहकर दोषकी शङ्का करते हैं—"अत्राह" इत्यादिसे। शङ्काके उत्तररूपसे सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तु-शब्देन" इत्यादिसे। अपने भागका आधिक्य, ऐसा वैशेष्य किसलिए किया है, इसपर कहते हैं—"व्यवहार प्रसिद्ध्यर्थम्" इत्यादिसे। इस प्रकार ब्रह्ममें जो

भाष्य

प्रसिद्ध्येत्। तस्मात् सत्यपि त्रिवृत्करणे वैशेष्यादेव तेजोऽबन्नविशेषवादो भूतभौतिकविषय उपपद्यते। तद्वादस्तद्वाद इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥४॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्येऽविरोधाख्यो द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

इसलिए त्रिवृत्करण है, तो भी भूतभौतिकमें तेज, जल और अन्न, ऐसा विशेषवाद वैशेष्यसे ही उपपन्न होता है। 'तद्वादस्तद्वादः' इस पदकी पुनरुक्ति अध्यायकी परिसमाप्तिको सूचित करती है ॥२२॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित शाङ्करभाष्य भाषानुवादमें द्वितीय अध्यायका चतुर्थ पाद समाप्त।

रत्नप्रभा

प्रसिद्ध्यर्थमिति। एवं स्मृतिन्यायमतान्तरश्रुतिभिरविरोधः ब्रह्मणि वेदान्ततात्पर्यस्य इति सिद्धम् ॥ २ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्यश्रीरामानन्दकृतौ शारीरकमीमांसादर्शनभाष्यव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ २ ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वेदान्ततात्पर्य्य है, उसका स्मृति, न्याय, मतान्तर और श्रुतियोंके साथ विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ २२ ॥

यतिवर भोलेबाबा विरचित द्वितीय अध्यायके चतुर्थ पादका भाषानुवाद समाप्त।



अच्युतग्रन्थमालासे प्रकाशित पुस्तकोंका सूचीपत्र

(क) विभाग

१–भगवन्नामकौमुदी—[भगवन्नामकी महिमाका प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ] मीमांसाके धुरन्धर विद्वान् श्रीलक्ष्मीधरकी कृति, अनन्तदेवरचित 'प्रकाश' टीकासहित। सम्पादक–आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री।

पृ० सं० १५०, मू.—आ. १०

२–भक्तिरसायन—[भक्तिस्वरूपका परिचायक अत्युत्तम ग्रन्थ] यतिवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीरचित प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकाररचित शेष दो उल्लासोंमें आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री रचित टीकासे विभूषित। सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री। पृ० सं० १७०, मू.–आ. १२

३–शुल्बसूत्र—[कात्यायनश्रौतसूत्रका परिशिष्ट अंश] वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़की बनाई हुई सरलवृत्तिसहित। सं०–वेदाचार्य विद्याधर गौड़।

पृ० सं० ६०, मू.—आ. ४

४–कात्यायनश्रौतसूत्र—[इसमें दर्शपूर्णमाससे लेकर अश्वमेध, पितृमेधपर्यन्त कितने ही यज्ञोंकी विधियां साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं] महर्षि कात्यायनप्रणीत, वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़ द्वारा रचित सुसरल वृत्तिसे अलंकृत। सं०–वेदाचार्य विद्याधर गौड़। पृ० सं० लगभग १०००, मू. –रु. ६

५–प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि—(प्रथम भाग) [शाङ्करभाष्यानुसार वेदान्तका सुसरल पद्यमय ग्रन्थ] श्रीसदानन्द व्यासविरचित, ग्रन्थकाररचित सरल संस्कृत टीकासहित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।

पृ० सं० ३४०, मू.–रु. २

६–भक्तिरसामृतसिन्धु—[भक्तिरससे परिपूर्ण यह ग्रन्थ सचमुच पीयूषसिन्धु है] श्रीरूप गोस्वामीप्रणीत, श्रीजीव गोस्वामीप्रणीत दुर्गमसङ्गमनी टीकासहित। सं०–आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री। पृ० सं० ६२५, मू०–रु० ३

७–प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि—(द्वितीय भाग) पृ० सं० ४५० मू०–रु. २ आ. ४

८–तिथ्यर्क—[तिथियोंके निर्णय आदिपर अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ] श्रीदिवाकर विरचित। सं० साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।

पृ० सं० २४०, मू०–रु० १ आ० ८

९—परमार्थसार—[वेदान्तका अति प्राचीन ग्रन्थ] श्रीपतञ्जलि भगवान्‌की कृति, प्राचीन टीका तथा टिप्पणीसे विभूषित। सं०—न्यायव्याकरणाचार्य श्रीसूर्यनारायणशुक्ल। पृ० सं० १००, मू.—आ. ६

१०—प्रेमपत्तन—[श्रीकृष्णभक्तिसे सरावोर चैतन्य-सम्प्रदायका अपूर्व ग्रन्थ] भक्तवर रसिकोत्तंसकी कृति तथा अद्भुतप्रणीत टीकासे अलंकृत। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ. सं. २३०, मू.—रु.१

(ख) विभाग

१—खण्डनखण्डखाद्य—कवितार्किकशिरोमणि श्रीहर्षरचित, पंडितवर श्रीचण्डी-प्रसाद शुक्ल विरचित भाषानुवादसे विभूषित।

पृ० सं० ४३५ (बड़ा आकार) मू.—रु. २ आ. १२

२—काशी-केदार-माहात्म्य—[ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत] साहित्यरञ्जन पं० श्री-विजयानन्द त्रिपाठीद्वारा विरचित भाषानुवादसहित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ० सं० २६+६०४, मू.—रु. २ आ. ८

३—सिद्धान्तविन्दु—(वेदान्तका प्रमेयवहुल अपूर्व ग्रन्थ) आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीविरचित, भाषानुवाद तथा टिप्पणीसे विभूषित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ० सं २८०, मू. रु. १ आ. ६

५—प्रकरणपञ्चक—भगवान् शङ्कराचार्यके आत्मबोध, प्रौढानुभूति, तत्त्वोपदेश आदि ५ प्रकरण-ग्रन्थोंका भाषानुवादसहित संग्रह। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ० सं० १३१, मू.—आ. ८

यन्त्रस्थ ग्रन्थ—

१ षट्सन्दर्भ, विविध टीकाओंसे विभूषित।

मिलनेका पता—

(१) अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।

(२) गीताप्रेस, गोरखपुर।



नोट—अच्युतग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहकोंको उक्त सभी पुस्तकें पौन मूल्यपर दी जाती हैं। 'अच्युत' मासिक पत्रके स्थायी ग्राहक (ख) विभागके स्थायी ग्राहक समझे जायँगे।

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ।।) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मंगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।



विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

Cover printed at the Indian Press Ltd ,
Benares

अच्युत



वर्ष २ } संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी { अङ्क

आषाढ पूर्णिमा

१९९२

अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रति का—॥)

[नोट—दूकानदारों तथा स्थायी ग्राहकोंके लिए २५% कमीशन काटकर ४॥) वार्षिक]

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट काशी।

मुद्रक—माधव रामचन्द्र काले, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।



अच्युत

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ पंक्ति
तृतीय अध्यायका आरम्भ	१६२१ – १

तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरण [पृ० १६२१–१६४६]

तृतीय अध्यायके प्रथमपादके प्रथम अधिकरणका सार ...	१६२१ – ८
प्रथम सूत्र—तदन्तरप्रतिपत्तौ—...	१६२२ – १
द्वितीय अध्यायके वृत्तके अनुवादपूर्वक तृतीय अध्यायके विषयका संक्षेपतः कथन	१६२२ – १५
देहके वीजभूत भूतसूक्ष्मोंसे जीव अपरिवेष्टित जाता है [पूर्वपक्ष]	१६२४ – ७
भूतसूक्ष्मोंसे परिवेष्टित ही जीव जाता है [सिद्धान्त] ...	१६२६ – २
द्वितीय सूत्र—त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्	१६२९ – १७
जल त्र्यात्मक है	१६३० – २
तृतीय सूत्र—प्राणगतेश्च	१६३१ – २२
प्राणकी गति आश्रयके विना नहीं होती है	१६३२ – ४
चतुर्थ सूत्र—अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति —	१६३२ – २१
देहान्तरकी प्राप्तिमे प्राण जीवके साथ नहीं जाते हैं [पूर्वपक्ष]	१६३३ – २
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन [सिद्धान्त]	१६३३ – ५
पञ्चम सूत्र—प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न—	१६३४ – १५
'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इसका निर्धारण किस प्रकार ? [पूर्वपक्ष]	१६३५ – २
उक्त शङ्काका खण्डन	१६३६ – २
वैदिकप्रयोगसे श्रद्धाशब्द जलका वाचक है	१६३७ – ६
षष्ठ सूत्र—अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादि—	१६३८ – २०
जीव परिवेष्टित नहीं जाता है [अन्य पूर्वपक्ष]... ...	१६३९ – २
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन	१६३९ – ५
७वाँ सूत्र—भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति... ...	१६४२ – २०
'ते चन्द्रं प्राप्य अन्नं भवन्ति' इस श्रुतिसे प्रतिपादित इष्टादि कारियोंमे जो अन्नत्व है वह भाक्त है	१६४३ – २
'अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति' इसकी अन्य व्याख्या ...	१६४५ – २

कृतात्ययाधिकरण [पृ० १६४७–१६६९]

विषय	पृष्ठ पंक्ति
द्वितीय अधिकरणका सार	१६४७ – ६
अष्टम सूत्र—कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्याम्— ...	१६४७ – १२
इष्टादिकारियोंका चन्द्रमण्डलसे प्रत्यवरोह दिखलाकर निरनुशय आते हैं या सानुशय आते हैं इस प्रकार संशयका कथन ...	१६४८ – २
निरनुशय चन्द्रमण्डलसे आते हैं [पूर्वपक्ष]	१६४९ – ३
सानुशय आते हैं, इस सिद्धान्तका कथन	१६५१ – २
इष्टादिकारी सानुशय आते हैं, इसमें श्रुति और स्मृतियोंका प्रमाणतया कथन	१६५१ – ७
अनुशयके अर्थके प्रदर्शनमें मतमतान्तर	१६५३ – २
मरण अनारब्ध सब कर्मका अभिव्यञ्जक है, इस मतका खण्डन	१६५७ – २
धर्म और अधर्मके स्वरूपके ज्ञानमें शास्त्र ही प्रमाण है ...	१६६० – ४
अवरोह करनेवाले जिस मार्गसे जाते हैं उस मार्गसे अथवा उससे विपरीत मार्गसे आते हैं	१६६२ – २
९वाँ सूत्र—चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ...	१६६३ – १५
चरणसे योन्यापत्ति है अनुशयसे नहीं [पूर्वपक्ष] ...	१६६४ – ३
चरणश्रुतिके उपलक्षण होनेसे दोष नहीं है	१६६५ – २
१०वाँ सूत्र—आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ...	१६६५ – १६
शीलार्थक चरणसे भी शुभाशुभयोनि प्राप्त होगी ...	१६६६ – ३
उक्त मतका प्रतिषेध	१६६६ – ६
कर्म सर्वार्थकारी है	१६६७ – २
११वाँ सूत्र—सुकृतदुष्कृते एव तु बादरिः	१६६८ – १
चरणशब्दसे सुकृत और दुष्कृत ही विवक्षित है, इस बादरिमतका कथन	१६६८ – १२

अनिष्टादिकार्यधिकरण [पृ० १६७०–१६८५]

तृतीय अधिकरणका सार	१६७० – ६
१२वाँ सूत्र—अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्	१६७० – १२
इष्टादि करनेवाले ही चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा नियम नहीं है, प्रत्युत अनिष्टादिकारी भी जाते हैं—[पूर्वपक्ष] ...	१६७१ – ३

विषय		पृष्ठ पंक्ति
१३वाँ सूत्र—सयमने त्वनुभूयेतरेषाम्—	... ...	१६७२ – २२
सब चन्द्रलोकमे जाते हैं, ऐसा नियम नहीं है [सिद्धान्त]	...	१६७३ – २
१४वाँ सूत्र—स्मरन्ति च	... ...	१६७४ – २३
पाप कर्म करनेवाले यमाधीन यातना भोगते हैं	... ...	१६७५ – २
१५वाँ सूत्र—अपि च सप्त	... ...	१६७५ – ७
रौरवादि पापकर्मके फलकी उपभोगभूमि हैं	... ...	१६७५ – १५
१६वाँ सूत्र—तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः	... ...	१६७६ – १
रौरव आदिमे यमप्रयुक्त ही चित्रगुप्त आदिमें अधिष्ठातृत्व है	...	१६७६ – १२
१७वाँ सूत्र—विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात्	... ...	१६७७ – १
'एतयोः पथोः' इसमें 'एतयोः' शब्दसे विद्या और कर्मका ग्रहण करना चाहिए	... ...	१६७८ – २
अनिष्टादिकारी चन्द्रबिम्बमें चढ़कर पुनः क्षुद्रयोनिको प्राप्त करे, यह भी असङ्गत है	... ...	१६७९ – ३
१८वाँ सूत्र—न तृतीये तथोपलब्धेः	... ...	१६८० – २३
तृतीय स्थानमें देहके लाभके लिए आहुतिका पञ्चसंख्यानियम नहीं है		१६८१ – २
१९वाँ सूत्र—स्मर्यतेऽपि च लोके	... ...	१६८२ – १५
द्रोण, सीता आदिका अयोनिजत्व सुना जाता है	...	१६८३ – २
२०वाँ सूत्र—दर्शनाच्च	... ...	१६८३ – २१
आहुति संख्याके अनादरमे पुनः दृष्टान्तका कथन	...	१६८४ – २
२१वाँ सूत्र—तृतीयशब्दावरोधः	... ...	१६८५ – १
उद्भिज्जशब्दसे स्वेदजका संग्रह होता है	... ...	१६८५ – १३

साभाव्यापत्त्यधिकरण [पृ० १५८६–१६८९]

चतुर्थ अधिकरणका सार	... ...	१६८६ – ६
२२वाँ सूत्र—साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः	... ...	१६८६ – १२
इष्टादिकारी आकाशादि स्वरूप ही होते हैं [पूर्वपक्ष]	...	१६८८ – ३
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन	... ...	१६८८ – ७

नातिचिराधिकरण [पृ० १६९०–१६९२]

पञ्चम अधिकरणका सार	... ...	१६९० – ६
२३वाँ सूत्र—नातिचिरेण विशेषात्	... ...	१६९० – १२
अनुशयी अल्पकाल आकाशादिभावमें रहकर वृष्टिद्वारा इस भूमिमें आते हैं	... ...	१६९१ – ५

अन्याधिष्ठिताधिकरण [पृ० १६९३–१७०४]

विषय	पृष्ठ पंक्ति
षष्ठ अधिकरणका सार	१६९३ – ६
२४वाँ सूत्र अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्	१६९३ – १२
'त इह व्रीहियवा' इत्यादि श्रुतिसे स्थावरजात्यापन्न अनुशयी होते हैं	१६९४ – ६
कथित पक्षका खण्डन	१६९६ – २
व्रीह्यादिभावसे संश्लेषमात्र विवक्षित है, इसमें हेतुका कथन ...	१६९६ – ५
यदि व्रीह्यादिमें मुख्य जन्म माना जाय, तो दोष होगा ...	१६९७ – २
२५वाँ सूत्र—अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्	१६९९ – १६
अग्निष्टोममें पशुहिंसा अधर्म नहीं है	१६९९ – २
२६वाँ सूत्र—रेतःसिग्योगोऽथ	१७०१ – २३
व्रीह्यादिभावसे व्रीहि आदिके साथ संश्लेषमात्र ही विवक्षित है ...	१७०२ – २
२७वाँ सूत्र—योनेः शरीरम्	१७०३ – १
व्रीह्यादिभावसे व्रीह्यादिसंश्लेष ही लेना इसमें अन्य रीतिका कथन	१७०३ – १२
तृतीय अध्यायके द्वितीय पादका आरम्भ	१७०५ – १

सन्ध्याधिकरण [पृ० १७०५–]

तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके प्रथम अधिकरणका सार ...	१७०५ – ८
प्रथम सूत्र–सन्ध्ये सृष्टिराह हि	१७०६ – १
स्वप्नकी सृष्टि सत्य है [पूर्वपक्ष]...	१७०७ – ४
द्वितीय सूत्र–निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च	१७०९ – १
स्वाप्न प्रपञ्चका निर्माता ईश्वर है [पूर्वपक्ष]	१७०९ – १४
तृतीय सूत्र—मायामात्रन्तु—	१७११ – १४
स्वाप्न प्रपञ्च पारमार्थिक नहीं है	१७११ – २४
कार्त्स्न्यं पदका विवेचन	१७१२ – ४
सुप्त पुरुषका गमन क्षणमात्रमें सैकड़ों माइल नहीं हो सकता है	१७१३ – ५



ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष २ } आषाढ़ पूर्णिमा १९९२ { अङ्क ६

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

॥ श्रीः ॥

साधन-पञ्चकम्

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम् ।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसन्धीयता-
मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम् ॥१॥
सङ्गः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयतां
शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं कर्माशु संत्यज्यताम् ।
सद्विद्वानुपसर्प्यतां प्रतिदिनं तत्पादुके सेव्यतां
ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकर्ण्यताम् ॥२॥
वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरःपक्षः समाश्रीयतां
दुस्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम् ।
ब्रह्मैवास्मि विभाव्यतामहरहर्गर्वः परित्यज्यतां
देहेऽहंमतिरुज्झ्यतां बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम् ॥३॥
क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां
स्वाद्वन्नं नतु याच्यतां विधिवशात्प्राप्तेन सन्तुष्यताम् ।
शीतोष्णादि विसह्यतां नतु वृथा वाक्यं समुच्चार्यता-
मौदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम् ॥४॥
एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयताम्
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यताम् जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम् ।
प्राक्कर्म प्रविलाप्यताम् चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यताम्
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥५॥
यः श्लोकपञ्चकमिदं पठते मनुष्यः
संचिन्तयत्यनुदिनं स्थिरतामुपेत्य ।
तस्याशु संसृतिदवानलतीव्रघोर-
तापः प्रशान्तिमुपयाति चितिप्रसादात् ॥६॥

—श्रीशङ्कराचार्याः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

[तृतीयसाधनाख्याध्याये प्रथमपादे गत्यागतिचिन्ता-वैराग्यनिरूपणविचारश्च]

[१ तदनन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् सू० १-७]

अवेष्टितो वेष्टितो वा भूतसूक्ष्मैः पुमान् व्रजेत् ।
भूतानां सुलभत्वेन यात्यवेष्टित एव सः ॥ १ ॥
बीजानां दुर्लभत्वेन निराधारेन्द्रियागतेः ।
पञ्चमाहुतियुक्तेश्च जीवस्तैर्याति वेष्टितः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—जीव मरनेके अनन्तर सूक्ष्मभूतोंसे अवेष्टित जाता है या वेष्टित जाता है ?

पूर्वपक्ष—अवेष्टित जाता है, क्योंकि भूत सर्वत्र सुलभ हैं ।

सिद्धान्त—जीव सूक्ष्मभूतोंसे युक्त जाता है, क्योंकि भूतके सुलभ होनेपर भी देहके बीज भूत सर्वत्र सुलभ नहीं हैं और निराधार इन्द्रियोंकी गति नहीं हो सकती और पञ्चम आहुतिका कथन है ।

---

* इस अधिकरणका मतलब यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—पूर्वपादमें प्रतिपादित प्राणोपाधिक जीव अन्य शरीरकी प्राप्तिके समयमें पूर्व शरीरसे भावी शरीरके बीजभूत सूक्ष्मभूतोंसे वेष्टित नहीं जाता है, क्योंकि पञ्चभूत सर्वत्र सुलभ हैं, इसलिए उनको साथमें ले जाना निरर्थक है ।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि सामान्य भूत सर्वत्र सुलभ हैं, तथापि देहके कारण भूत सर्वत्र सुलभ नहीं है, इससे यहींसे भूत जाते हैं । किञ्च जीवके उपाधिभूत इन्द्रियोंका भूतके आधार बिना परलोकगमन नहीं हो सकता है, क्योंकि जीवनकी दशामें ऐसा देखा नहीं जाता है । श्रुति भी इसी अर्थको कहती है—'पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति' अर्थात् स्वर्गलोक, मेघ, पृथिवी, पुरुष और स्त्री ये पांच पदार्थ उपासनामें अग्निरूपसे स्वीकृत हैं । उन अग्नियोंमें स्वर्गके प्रति आता और जाता हुआ जीव आहुतिरूपसे परिकल्पित है, इष्टापूर्तकारी जीव स्वर्गमें जाकर वहांसे उपभोग द्वारा पुण्य कर्मोंके क्षीण होनेपर मेघमें जाकर फिर वृष्टिरूपसे पृथिवीमें आता है और अन्नरूपसे पुरुषको प्राप्तकर फिर रेतोद्वारा स्त्रीमें प्रवेश करके शरीरका ग्रहण करता है । इसलिए अप्शब्दसे उपलक्षित देहके बीजभूत पांचों भूत जीवके साथ स्वर्ग आदि पाच स्थानोंमें पहुँचकर पांचवें स्थानमें शरीर भाव प्राप्त करके पुरुष शब्दसे वाच्य होते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि—बीजोंसे वेष्टित ही जीव परलोकमें जाता है ।

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननि-रूपणाभ्याम् ॥१॥

पदच्छेद—तदन्तरप्रतिपत्तौ, रंहति, सम्परिष्वक्तः, प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।

पदार्थोक्ति—तदन्तरप्रतिपत्तौ—देहान्तरप्राप्तौ, [भाविशरीराम्भकभूत-सूक्ष्मैः] सम्परिष्वक्तः—परिवेष्टितः, [सन् धूमादिमार्गेण स्वर्गलोकं] रंहति—गच्छति, [कुतः ?] प्रश्ननिरूपणाभ्याम्—'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषपचसो भवन्ति' इति प्रश्नः, तथा 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इति प्रतिवचनम्, ताभ्याम् हेतुभ्यामित्यर्थः ।

भाषार्थ—अन्य देहकी प्राप्तिमें देहके बीजभूत भूतसूक्ष्मोंसे परिवेष्टित ही जीव धूमादि मार्गद्वारा स्वर्गलोकमें गमन करता है, क्योंकि 'वेत्थ यथा०' (पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषसंज्ञक होता है, क्या तू उसे जानता है ?) यह प्रश्न और 'इति तु पञ्चाम्यामाहुता०' (इस प्रकार पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषसंज्ञक होता है) यह निरूपण—प्रतिवचन है ।

भाष्य

द्वितीयेऽध्याये स्मृतिन्यायविरोधो वेदान्तविहिते ब्रह्मदर्शने परिहृतः । परपक्षाणां चानपेक्षत्वं प्रपञ्चितम् । श्रुतिविप्रतिषेधश्च परिहृतः । तत्र च

भाष्यका अनुवाद

द्वितीय अध्यायमें वेदान्तप्रतिपादित ब्रह्मज्ञानमें श्रुति और न्यायके विरोधका परिहार किया गया है । एवं परपक्ष अपेक्षित नहीं है इसका विस्तारपूर्वक वर्णन तथा श्रुतियोंके विरोधका निराकरण किया गया है । और उनमें जीवसे

रत्नप्रभा

ॐ ब्रह्मणे नमः ।

यं हि वैराग्यसम्पन्नास्तत्त्वमर्थविवेकिनः ।
लभन्ते साधनैर्दान्तास्तं सीतानायकं भजे ॥ १ ॥

वृत्तम् अनूद्य तृतीयाध्यायार्थमाह—द्वितीय इत्यादिना । अविरुद्धे वेदान्तार्थे

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैराग्यसे युक्त, अर्थ-अनर्थके विवेकी तथा दान्त–जितेन्द्रिय लोग जिस तत्त्वको अनेक साधनोंसे प्राप्त करते हैं, उस तत्त्व, सीताके नायक श्रीरामचन्द्रका मैं भजन करता हूं ॥ १ ॥

'तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' । वृत्तका अनुवाद करके तृतीय अध्यायका अर्थ—विषय कहते हैं—"द्वितीय" इत्यादिसे । वेदान्तार्थके अविरुद्ध सिद्ध

भाष्य

जीवव्यतिरिक्तानि तत्त्वानि जीवोपकरणानि ब्रह्मणो जायन्त इत्युक्तम्। अथेदानीमुपकरणोपहितस्य जीवस्य संसारगतिप्रकारस्तदवस्थान्तराणि ब्रह्मसतत्त्वं विद्याभेदाभेदौ गुणोपसंहारानुपसंहारौ सम्यग्दर्शनात्पुरुषार्थसिद्धिः सम्यग्दर्शनोपायविधिप्रभेदो मुक्तिफलानियमश्चेत्येतदर्थजातं तृतीयेऽध्याये निरूपयिष्यते प्रसङ्गागतं च किमप्यन्यत्। तत्र प्रथमे तावत्पादे पञ्चाग्निविद्यामाश्रित्य संसारगतिप्रभेदः प्रदर्श्यते वैराग्यहेतोः, 'तस्माज्जुगु-

भाष्यका अनुवाद

अतिरिक्त जो जीवके उपकरण हैं, वे ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं, यह कहा गया है। अब उपकरणोंसे सहित जीवकी संसारगतिका प्रकार, उसकी अन्य अवस्थाएँ, ब्रह्मका तत्त्व, विद्याका भेद और अभेद, गुणोंका उपसंहार और अनुपसंहार, सम्यग्ज्ञानसे पुरुषार्थकी सिद्धि, सम्यग्ज्ञानके उपायकी भिन्न-भिन्न विधियोंका भेद और मुक्तिफलका अनियम—इन विषयोंका तृतीय अध्यायमें निरूपण किया जायगा, और प्रसंगसे आया हुआ कुछ और भी कहा जायगा। वहां प्रथम पादमें पंचाग्नि विद्याका आश्रयण करके संसारगतिका प्रभेद वैराग्यके लिए दिखलाया जाता है, क्योंकि 'तस्माज्जुगुप्सेत' (उससे—आवागमनमें

रत्नप्रभा

तज्ज्ञानसाधनचिन्तावसर इत्यनयोर्हेतुहेतुमद्भावः। लिङ्गोपाधिसिद्धौ तदुपहितजीवसंसारचिन्ता इति पादयोरपि तद्भावसंगतिः। अत्र प्रथमपादे वैराग्यं, द्वितीये स्वप्नाद्यवस्थोक्त्या त्वम्पदार्थो ब्रह्मतत्त्वं च उच्यते। तृतीये वाक्यार्थः, तदर्थमुपासनाश्च विचार्यन्ते। चतुर्थपादार्थम् आह—सम्यग्दर्शनादिति। दर्शनोपायाः—संन्यासादयः। मुक्तिरूपफलस्य स्वर्गवत् तारतम्यनियमाभावः, एकरूपत्वम् इति यावत्। प्रसंगागतम्—देहात्मदूषणम्। पञ्चसु द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु अग्नित्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेपर उसके ज्ञानसाधनकी चिन्ताका अवसर उपस्थित होता है, इससे दूसरे और तीसरे अध्यायके अर्थमें हेतुहेतुमद्भाव संगति—संबन्ध है। लिंगोपाधि—जीवके उपकरण सिद्ध होनेपर उस उपाधिवाले जीवकी संसारगतिका चिन्ता-विचार होता है, इससे पिछले पाद और इस पादमें भी हेतुहेतुमद्भाव—कार्यकारणभाव ही संबन्ध है। यहां प्रथम पादमें वैराग्यका निरूपण है। द्वितीय पादमें स्वप्नादि अवस्थाओंकी उक्तिसे त्वंपदका अर्थ और ब्रह्मतत्त्व कहा गया है। तृतीयमें वाक्यार्थ—तत्-त्वंका ऐक्य और उसके लिए उपासनाका विचार किया गया है। चतुर्थपादका अर्थ कहते हैं—"सम्यग्दर्शनात्" इत्यादिसे। दर्शनोपाय—सम्यग्ज्ञानके उपाय

भाष्य

प्सेत्' इति चान्ते श्रवणात्। जीवो मुख्यप्राणसचिवः सेन्द्रियः समनस्कोऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वदेहं विहाय देहान्तरं प्रतिपद्यत इत्येतदवगतम्, अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति' इत्येवमादेः 'अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते' (बृ० ४।४।१,४) इत्येवमन्तात् संसारप्रकरणस्थाच्छब्दात्, धर्माधर्मफलोपभोगसंभवाच्च। स किं देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैरसंपरिष्वक्तो गच्छत्याहोस्वित्संपरिष्वक्त इति चिन्त्यते। किं तावत्प्राप्तम्? असंपरिष्वक्त

भाष्यका अनुवाद

दुःख होनेसे स्वर्गादिसे विरक्त होवे) ऐसी अन्तमें श्रुति है। मुख्य प्राण, इन्द्रिय, मन, अविद्या, कर्म और जन्मान्तरके संस्कारोंके साथ जीव पूर्वदेहका त्याग कर दूसरा देह प्राप्त करता है, ऐसा समझा गया है, क्योंकि 'अथैवमेते प्राणा०' (मरणकालमें ये वाक् आदि इन्द्रियां जीवके साथ हृदयमें एकत्रित हो जाती हैं) यहांसे लेकर 'अन्यन्नवतरम्०' (दूसरा, अधिक नवीन और कल्याणतर रूप-देहान्तरका ग्रहण करता है) यहां तक संसारप्रकरणमें शब्द-श्रुति है। और धर्म और अधर्मके फलके उपभोगका संभव भी है। वह जीव क्या देहके वीज भूतोंके सूक्ष्म भागोंके साथ असम्बद्ध जाता है या संबद्ध? इसका विचार किया जाता है। तब क्या प्राप्त होता है? असम्बद्ध जाता है,

रत्नप्रभा

ध्यानं—पञ्चाग्निविद्या। यस्मात् कर्मणा गत्यागतिरूपः अनर्थः, तस्मात् कर्मफले जुगुप्सां घृणां विरक्तिं कुर्वीत इति पञ्चाग्निविद्योपसंहारे श्रवणात् वैराग्यार्थं प्रदर्श्यते इत्यन्वयः। शास्त्रादिसूत्रे नित्यानित्यविवेककृतं वैराग्यम् उक्तम्, इह तद्व्याख्याय गत्यागतिक्लेशभावनाकृतं तदुच्यते इत्यपौनरुक्त्यम्। अधिकरणविषयमाह— जीव इति। अविद्या प्रसिद्धा। विद्येति पाठे उपासना ग्राह्या। कर्म—धर्माधर्माख्यम्। पूर्वप्रज्ञा—जन्मान्तरसंस्कारः। अथ मरणकाले प्राणा हृदये जीवेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

संन्यास आदि हैं। मुक्तिरूप फलका स्वर्गके समान तारतम्यरूप नियमका अभाव है अर्थात् एक रूप है। प्रसङ्गसे आया हुआ कुछ अन्य अर्थात् देहात्मदूषण। स्वर्ग, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और स्त्री इन पांचोंमें अग्निदृष्टि रखना अर्थात् अग्निरूपसे ध्यान करना, पंचाग्निविद्या है। जिससे कर्मद्वारा संसारमें गमन और आगमनरूप अनर्थ होता है, उससे कर्मफलमें जुगुप्सा—घृणा—विरक्ति करनी चाहिए, ऐसी पंचाग्निविद्याके उपसंहारमें श्रुति है, इससे [संसारगतिका प्रभेद—पुण्य-पापरूप फलकी गतिका प्रकार] वैराग्यके अर्थ दिखलाये गये हैं, ऐसा अन्वय है। शास्त्रके

भाष्य

इति। कुतः ? करणोपादानवद् भूतोपादानस्याश्रुतत्वात्। 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानः' (बृ० ४।४।१) इति ह्यत्र तेजोमात्राशब्देन करणानामुपादानं संकीर्तयति, वाक्यशेषे चक्षुरादिसंकीर्तनात्। नैवं भूतमात्रोपादानसंकीर्तनमस्ति, सुलभाश्च सर्वत्र भूतमात्राः, यत्रैव देह आरब्धव्यस्तत्रैव सन्ति ततश्च तासां नयनं निष्प्रयोजनम्, तस्मादसंपरिष्वक्तो यातीति।

भाष्यका अनुवाद

ऐसा। किससे ? इससे कि इन्द्रियोंके उपादानके समान भूतोंका उपादान श्रुतिमें नहीं कहा गया है। 'स एतास्तेजोमात्राः०' (वह आत्मा इन तेजके अवयवोंको साथ लेकर) इसमें 'तेजोमात्राः' शब्दसे श्रुति करणोंका उपादान कहती है, क्योंकि वाक्यशेषमें चक्षु आदिका कथन है। इस प्रकार भूतमात्राके उपादानका कथन नहीं है। और भूतोंके अवयव सर्वत्र सुलभ हैं। जहां देहका आरम्भ होगा, वहीं वे वर्तमान हैं, इसलिए उनको—भूतमात्राओंको साथ ले जाना, निष्प्रयोजन है। इससे जीव असम्बद्ध ही जाता है।

रत्नप्रभा

एकीभवन्तीत्यर्थः। रूपं—शरीरम्। पञ्चीकृतभूतभागाः उत्तरदेहपरिणामिनः—भूतसूक्ष्माः। वेदान्तार्थज्ञानसाधनविचारत्वात् सर्वाधिकरणानां श्रुतिशास्त्राध्यायसङ्गतयः। वैराग्यफलकत्वादेतत्पादसंगतिः। पूर्वाधिकरणे व्यवहारार्थं पञ्चीकरणमुक्तम्। स व्यवहारोऽत्र निरूप्यत इति फलफलिभावोऽवान्तरसंगतिः। अत्र पूर्वपक्षे निराश्रयप्राणगत्यभावात् न वैराग्यम्, सिद्धान्ते भूताश्रयप्राणगतेः वैराग्यमिति फलभेदः। तेजोमात्राः—चक्षुरादयः। पश्यति जिघ्रतीति वाक्यशेषात्। आपः पञ्चस्वग्निषु हुताः पञ्चम्याम् आहुतौ हुतायां यथा पुरुषशब्दवाच्याः पुरुषात्मना

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिके सूत्रमें नित्यानित्यविवेकरूप वैराग्य कहा गया है, और यहां संसारमें गमनागमन क्लेशकी भावनासे उत्पन्न वैराग्यकी दृढ़ता कही गई है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है। अधिकरणका विषय कहते हैं—"जीव" इत्यादिसे। अविद्या प्रसिद्ध है। [अनादि, अनिर्वाच्य, चित्प्रतिबिम्बका निमित्त होनेसे जो जीवत्वका कारण है, वह अविद्या है] यदि 'विद्या' पाठ हो, तो उपासनारूप अर्थ लेना चाहिए। कर्म—धर्म-अधर्म संज्ञक। पूर्वप्रज्ञा—जन्मान्तरीय संस्कार। मरणकालमें प्राण हृदयमें जीवके साथ एक हो जाते हैं, ऐसा अर्थ है। रूप—शरीर। उत्तर देहमें परिणामी पंचीकृत भूतोंके भाग 'भूतसूक्ष्म' है। सब अधिकरणोंमें वेदान्तके अर्थ—

भाष्य

एवं प्राप्ते पठत्याचार्यः—तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्त इति। तदन्तरप्रतिपत्तौ देहात् देहान्तरप्रतिपत्तौ देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहति गच्छतीत्यवगन्तव्यम्। कुतः? प्रश्ननिरूपणाभ्याम्। तथाहि प्रश्नः—'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति। निरूपणं च प्रतिवचनं द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोरूपाः पञ्चाहुतीर्दर्शयित्वा 'इति तु पञ्च-

भाष्यका अनुवाद

ऐसा प्राप्त होनेपर आचार्य कहते हैं—'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्त' इति। उस देहसे अन्य देहकी प्राप्तिमें देहके बीजभूत भूतोंके सूक्ष्म-मात्राओंके साथ सम्बद्ध (जीव) रंहति—जाता है, ऐसा समझना चाहिए। किससे? प्रश्न और उसके निरूपणसे। क्योंकि 'वेत्थ यथा०' (पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषसंज्ञक होता है, यह तू जानता है?) ऐसा प्रश्न है। और स्वर्ग, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और स्त्री इन पांच अग्नियोंमें श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और रेत ये पांच आहुतियां हैं, ऐसा दिखलाकर 'इति तु पञ्चम्या०' (इस प्रकार पांचवीं आहुतिके प्रक्षेप होनेपर जल पुरुषसंज्ञक होता है) ऐसा निरूपण

रत्नप्रभा

परिणमन्ते तथा किं त्वं वेत्थेति श्वेतकेतुं प्रति राज्ञः प्रवाहणस्य प्रश्नः। तस्य चोत्तराज्ञाने तत्पितरं प्रति राजोवाच [छा० ५।४।१ (बृ० ६।२।९)]—'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' तत्र श्रद्धाख्याः आपः आहुतिः, पर्जन्याग्नौ सोमरूपाः इह खल्वग्निहोत्रे श्रद्धया हुताः दध्यादिरूपा आपो यजमानसंलग्नाः स्वर्गं लोकं प्राप्य सोमाख्यदिव्यदेहात्मना स्थिताः कर्मान्ते द्रुताः पर्जन्ये हूयन्ते, ततो वृष्टिरूपाः पृथिव्याम्, अन्नरूपाः पुरुषे, रेतोरूपाः योषिति हुताः आपः पुरुष-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मका जो ज्ञान है, उसके साधनोंका विचार किया गया है, इसलिए श्रुति, शास्त्र और अध्यायोंकी संगति है, वैराग्य इसका फल है, इससे इस पादकी संगति है। पूर्व अधिकरणमें व्यवहारके लिए पंचीकरण कहा गया है, उस व्यवहारका यहां निरूपण किया गया है, इससे फलफलिभाव—कार्य्यकारणभाव अवान्तर संगति है। पूर्वपक्षमें निराश्रय प्राणकी गति न होनेसे वैराग्य सिद्ध नहीं होता है, और सिद्धान्तमें तो भूताश्रय प्राणोंकी गति होनेसे वैराग्य सिद्ध होता है, ऐसा फलभेद है। तेजोमात्रा—चक्षु आदि इन्द्रिया, क्योंकि पश्यति—देखता है, जिघ्रति—सूंघता है, ऐसा वाक्यशेष है। पाच अग्नियोंमें आहुति—हवन किया गया जल

भाष्य

म्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।९।१) इति। तस्मादद्भिः परिवेष्टितो जीवो रंहति व्रजतीति गम्यते। नन्वन्या श्रुतिर्जलूकावत्पूर्वदेहं न मुञ्चति यावन्न देहान्तरमाक्रमतीति दर्शयति—'तद्यथा तृणजलायुका' (बृ० ४।४।३) इति। तत्राप्यप्परिवेष्टितस्यैव जीवस्य कर्मोपस्थापित-

भाष्यका अनुवाद

है। इसलिए जलसे परिवेष्टित ही जीव जाता है, ऐसा समझा जाता है। परन्तु 'तद्यथा तृणजलायुका' (उसमें—देहान्तरसंचारमें जैसे तृणजलायुक—कीट विशेष) इस प्रकारकी अन्य श्रुति कीटके समान जबतक अन्य देहमें जीव नहीं जाता, तबतक पूर्वदेहका त्याग नहीं करता, ऐसा दिखलाती है। उसमें भी अप्-जलसे परिवेष्टित ही जो जीव है, उसके कर्मसे उपस्थापित प्राप्त करनेके योग्य

रत्नप्रभा

शब्दवाच्याः—पुमात्मका भवन्ति' इति निरूपणं कृतम्। ननु एतद्देहं त्यक्त्वा अद्भिः सह गतस्य पश्चाद् देहान्तरप्राप्तिः, इति अयुक्तम्। यथा तृणजलायुका तृणान्तरं गृहीत्वा पूर्वतृणं त्यजति, तथा जीवो देहान्तरं गृहीत्वा पूर्वदेहं त्यजतीति श्रुतिविरोधादिति शङ्कते—नन्वन्येति। इहैव कर्मायत्तभाविदेहं देवोऽहमित्यादिभावनया गृहीत्वा पूर्वदेहं त्यजतीति श्रुत्यर्थः। अतो न विरोधः इति समाधत्ते—तत्रापीति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पांचवीं आहुति होनेपर जैसे पुरुषशब्दवाच्य होता हुआ पुरुष (मनुष्य) शरीररूपमें परिणत होता है, उसे क्या तू जानता है? ऐसा श्वेतकेतुसे प्रवाहण राजाका प्रश्न है। उसके उत्तरका ज्ञान न होनेपर उसके पितासे राजाने कहा—'असौ वाव लोको०' (हे गौतम! वह स्वर्गलोक अग्नि है, उसमें श्रद्धानामक जल आहुति है, पर्जन्यरूप अग्निमें सोमरूप आहुति है, यहां अग्निहोत्रमें श्रद्धासे हवन किया गया दधि आदिरूप जल यजमानके साथ संलग्न होकर स्वर्गलोक प्राप्त करके सोमसंज्ञक दिव्य देहस्वरूपसे स्थित कर्मके अन्तमें पिघलकर (द्रवीभूत होकर) पर्जन्यमें आहुत होता है, पीछे यही हवन किया गया जल पृथिवीमें वृष्टिरूप, पुरुषमें अन्नरूप और स्त्रीमें रेतोरूप, पुरुषशब्दवाच्य—पुमात्मक होता है) ऐसा निरूपण किया है। परन्तु इस देहका त्याग करके जलके साथ गया हुआ जीव पीछे देहान्तर प्राप्त करता है, यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे तृणजलायुका-कीट अन्य तृणका ग्रहण करके पूर्व तृणका त्याग करता है, वैसे ही जीव भी अन्य देहका ग्रहण करके पूर्व देहका त्याग करता है, इस श्रुतिसे विरोध है, ऐसी शंका करते हैं—"नन्वन्या" इत्यादिसे। यहींपर कर्मसे उपस्थापित जो प्राप्तव्य देह है उसे 'मैं देव हूँ' इत्यादि भावना द्वारा प्राप्त कर (जीव) पूर्वदेहका त्याग करता है, ऐसा श्रुत्यर्थ है। इससे विरोध नहीं है, ऐसा समाधान करते हैं—"तत्रापि"

भाष्य

प्रतिपत्तव्यदेहविषयभावनादीर्घीभावमात्रं जलूकयोपमीयत इत्यविरोधः। एवं श्रुत्युक्ते देहान्तरप्रतिपत्तिप्रकारे सति याः पुरुषमतिप्रभवाः कल्पनाः—व्यापिनां करणानामात्मनश्च देहान्तरप्रतिपत्तौ कर्मवशाद् वृत्तिलाभस्तत्र भवति, केवलस्यैवात्मनो वृत्तिलाभस्तत्र भवति, इन्द्रियाणि तु देहवदभिनवान्येव तत्र तत्र भोगस्थान उत्पद्यन्ते, मन एव वा केवलं भोगस्थानमभिप्रतिष्ठते, जीव एव वोत्प्लुत्य देहाद्देहान्तरं प्रतिपद्यते शुक इव वृक्षाद् वृक्षान्तरम्—

भाष्यका अनुवाद

जो देह है, तद्विषयकभावनादीर्घीभावमात्र ही जलूका-कीटसे उपमित है, अतः विरोध नहीं है। उक्त रीतिसे अन्य देहकी प्राप्तिका प्रकार श्रुतिमें कहा गया है। इसलिए पुरुषबुद्धिसे उत्पन्न हुई जो कल्पनाएँ हैं—'आत्मा और इन्द्रियां व्यापक हैं जब वे अन्य देह प्राप्त करते हैं तब कर्मवशसे उस देहमें वृत्तिलाभ होता है, केवल आत्माका ही उसमें वृत्तिलाभ होता है, इन्द्रियां तो देहके समान नयी-नयी ही उन-उन भोगस्थानोंमें उत्पन्न होती हैं। अथवा केवल मन ही भोगस्थानके प्रति जाता है, जैसे शुक एक वृक्षसे कूदकर दूसरे वृक्षपर जा बैठता है, वैसे

रत्नप्रभा

भावनाया दीर्घीभावः—भाविदेहविषयत्वम्। घटाकाशवदुपहितो जीवः सूक्ष्मोपाधिगत्या लोकान्तरं गच्छतीति पञ्चाग्निश्रुत्युक्तः प्रकारः, तद्विरोधात् अन्याः कल्पनाः सर्वा अनादर्तव्या इत्यन्वयः। साङ्ख्यकल्पनामाह—व्यापिनामिति। सुगतकल्पनामाह—केवलस्येति। निर्विकल्पकज्ञानसन्तानरूपस्य आत्मनः देहान्तरे शब्दादिसविकल्पकज्ञानाख्यवृत्तिलाभो भवतीत्यर्थः। काणादकल्पनामाह—मन इति। देहान्तरं प्रति मनोमात्रं गच्छति। इन्द्रियाणि तु नूतनान्येवा

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। भावनाका दीर्घीभाव—भाविदेहविषयत्व। घटाकाशके समान उपाधिवाला जीव सूक्ष्म उपाधिकी गतिसे अन्य लोकमें जाता है, यह पंचाग्निश्रुतिमें कहा गया प्रकार है, उससे विरोध होनेके कारण अन्य कल्पनाएँ सबके सब अनादरणीय है, ऐसा अन्वय है। सांख्योंकी कल्पना कहते हैं—"व्यापिनाम्" इत्यादिसे। सुगतोंकी कल्पना कहते हैं—"केवलस्य" इत्यादिसे। निर्विकल्पकज्ञानका सन्तानरूप जो आत्मा है, उसका अन्य शरीरमें शब्दादिसविकल्पक ज्ञानसंज्ञक वृत्तिलाभ होता है, ऐसा अर्थ है। काणादोंकी कल्पना कहते हैं—"मन" इत्यादिसे।

भाष्य

इत्येवमाद्याः ताः सर्वा एवानादर्त्तव्याः, श्रुतिविरोधात् ॥ १ ॥

ननूदाहृताभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां केवलाभिरद्भिः संपरिष्वक्तो रंहतीति प्राप्नोति, अप्शब्दश्रवणसामर्थ्यात् । तत्र कथं सामान्येन प्रतिज्ञायते सर्वैरेव भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहतीति । अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

जीव ही एक देहसे कूदकर अन्य देह प्राप्त करता है,—इत्यादि सभी अनादरणीय हैं, क्योंकि श्रुतियोंके साथ उनका विरोध है ॥१॥

परन्तु निर्दिष्ट किये गये प्रश्न और प्रतिवचनसे जीव जलसे परिवेष्टित ही जाता है, क्योंकि अप् (जल) शब्दके श्रवणका सामर्थ्य है, तो सभी भूतसूक्ष्मोंसे संलग्न जीव जाता है, ऐसी सामान्य प्रतिज्ञा कैसे की है ? इससे उत्तर पढ़ते हैं—

रत्नप्रभा

आरभ्यन्ते । दिगम्बरकल्पनामाह—जीव इति ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य देहके प्रति केवल मन ही जाता है, इन्द्रियां तो नूतन ही उत्पन्न होती हैं । दिगम्बरोंकी कल्पना कहते हैं—''जीव'' इत्यादिसे ॥१॥

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

पदच्छेद—त्र्यात्मकत्वात्, तु, भूयस्त्वात् ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दः आशङ्कानिवृत्त्यर्थः, [त्रिवृत्करणश्रुत्या अपाम् इतरभूतद्वयमेलनेन] त्र्यात्मकत्वात्—भूतत्रयात्मकत्वात् [जलेतरभूतपरिष्वङ्गस्यापि सिद्धिः, ननु श्रुतौ जलभूयस्त्वं कथं सयुक्तिकमिति चेत्, न;] भूयस्त्वात्—तेज आद्यपेक्षया शरीरे जलभागस्याधिक्यात् इत्यर्थः ।

भाषार्थ—त्रिवृत्करण श्रुतिसे अन्य दो भूतोंके मेलनसे जल त्र्यात्मक है, अतः जलसे इतर भूतोंका परिष्वङ्ग सिद्ध है, यदि कोई कहे कि श्रुतिमें जल-भूयस्त्व अनुपपन्न है, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि तेज आदिकी अपेक्षासे शरीरमें जलका आधिक्य है ।

भाष्य

तुशब्देन चोदितामाशङ्कामुच्छिनत्ति। त्र्यात्मिका ह्यापः, त्रिवृत्करणश्रुतेः। तास्वारम्भिकास्वभ्युपगतास्वितरदपि भूतद्वयमवश्यमभ्युपगन्तव्यं भवति। त्र्यात्मकश्च देहः, त्रयाणामपि तेजोबन्नानां तस्मिन्कार्योपलब्धेः; पुनश्च त्र्यात्मकः, त्रिधातुत्वात्—त्रिभिर्वातपित्तश्लेष्मभिः। न भूतान्तराणि स प्रत्याख्याय केवलाभिरद्भिरारब्धुं शक्यते। तस्माद्भूयस्त्वापेक्षोऽयमापः पुरुषवचस इति प्रश्नप्रतिवचनयोरप्शब्दो न कैवल्यापेक्षः, सर्वदेहेषु हि रसलोहितादिद्रवद्रव्यभूयस्त्वं दृश्यते। ननु पार्थिवो धातुर्भूयिष्ठो देहेषूपलक्ष्यते। नैष दोषः। इतरापेक्षयाप्यपां बाहुल्यं भविष्यति। दृश्यते च शुक्रशोणितलक्षणेऽपि देहबीजे द्रवबाहुल्यम्। कर्म च निमित्तकारणं देहा-

भाष्यका अनुवाद

अवतरणमें की गई आशंकाका तुशब्दसे उच्छेद करते हैं। जल त्र्यात्मक है, क्योंकि त्रिवृत्करण की श्रुति है। उस जलको, देहका आरम्भक स्वीकार करनेपर दूसरे दो भूत—तेज और पृथिवीमें भी आरम्भकत्व अवश्य स्वीकार करना योग्य है। और देह त्र्यात्मक है, क्योंकि तेज, जल और अन्न इन तीनोंका कार्य उसमें उपलब्ध होता है। फिर भी देह त्र्यात्मक है, क्योंकि वात, पित्त और श्लेष्म होनेसे उसमें तीन धातु हैं। अन्य भूतोंका प्रत्याख्यान कर केवल जलसे वह उत्पन्न नहीं हो सकता, इसलिए 'जल पुरुषात्मक होता है' ऐसा जो प्रश्न और प्रतिवचनमें जल शब्द है, वह जलके कैवल्यकी अपेक्षासे नहीं है, किन्तु भूयस्त्वकी अपेक्षासे है। क्योंकि सब देहोंमें रस, लोहित आदि द्रवद्रव्यत्वका बाहुल्य देखनेमें आता है। परन्तु पार्थिव धातु भी देहोंमें भूयिष्ठ—अधिकतर देखा जाता है। यह दोष नहीं है, क्योंकि दूसरे—तेज और वायुकी अपेक्षासे जलका

रत्नप्रभा

ननु पाकस्वेदगन्धरूपकार्यत्रयोपलब्धेः त्र्यात्मको देह इति अयुक्तम्, प्राणावकाशयोरप्युपलब्ध्या देहस्य पञ्चभूतात्मत्वात्, इत्यरुच्या व्याख्यान्तरमाह—पुनश्चेति। देहधारकत्वात् धातवो वातादयः, तैः त्रिधातुत्वात् त्र्यात्मक इत्यन्वयः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु भुक्त अन्नके पाक, स्वेद और गन्ध ये तीन कार्य देहमें उपलब्ध होते हैं, अतः देह त्र्यात्मक है, ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि प्राण और अवकाशरूप कार्योंकी भी उपलब्धिसे देह पञ्चभूतात्मक है, इस अरुचिसे अन्य व्याख्या करते हैं—"पुनश्च" इत्यादिसे। वात, पित्त और कफ ये तीन देहके धारक होनेसे धातु हैं। इनसे तीन धातुवाला होनेके कारण देह त्र्यात्मक है, ऐसा अन्वय है। देह केवल जलसे उत्पन्न है, ऐसा माननेपर, वात

भाष्य

न्तरारम्भे । कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि सोमाज्यपयःप्रभृतिद्रवद्रव्यव्यपाश्रयाणि । कर्मसमवायिन्यश्चापः श्रद्धाशब्दोदिताः सह कर्मभिर्द्युलोकाख्येऽग्नौ हूयन्ते इति वक्ष्यति, तस्मादप्यपां बाहुल्यप्रसिद्धिः । बाहुल्याच्चाप्शब्देन सर्वेषामेव देहबीजानां भूतसूक्ष्माणामुपादानमिति निरवद्यम् ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

बाहुल्य होगा । और शुक्र, शोणितरूप देहबीजमें भी द्रवका बाहुल्य देखनेमें आता है । और अन्य (स्वर्गीय) देहकी उत्पत्तिमें कर्म निमित्तकारण है । अग्निहोत्र आदि कर्म सोम, आज्य, पय आदि द्रवद्रव्यके आश्रित होते हैं । और कर्ममें स्थित जो जल श्रद्धाशब्दसे कहा गया है, वह कर्मोंके साथ द्युलोकसंज्ञक अग्निमें प्रक्षिप्त किया जाता है, ऐसा आगे कहेंगे । इससे भी जलकी अधिकता सिद्ध है । और आधिक्य होनेके कारण जल शब्दसे सभी देहके बीज भूतसूक्ष्मोंका ग्रहण है, यह निरवद्य है ॥ २ ॥

रत्नप्रभा

देहस्य केवलाब्जत्वे वातं पित्तं च वायव्यं तैजसं न स्याताम् इति भावः । पृथिवीतरभूतापेक्षया अपां बाहुल्यम् । किञ्च देहनिमित्तानां कर्मणाम् अब्बाहुल्यात् ताभिर्भूतान्तराणि उपलक्ष्यन्त इत्याह—कर्म चेत्यादिना ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और पित्त जो वायव्य और तैजस हैं, वे उसमें नहीं होंगे, ऐसा भाव है । पृथिवीसे भिन्न भूतोंकी अपेक्षा देहमें जलका आधिक्य है । किंच, देहके निमित्त कर्मोंमें जलका बाहुल्य होनेसे जलसे अन्य भूत उपलक्षित होते हैं, ऐसा कहते हैं—"कर्म च" इत्यादिसे ॥२॥

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

पदच्छेद—प्राणगतेः, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, प्राणगतेः—['तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति इति श्रुतौ] प्राणानाम्—इन्द्रियाणाम्, गतेः—[जीवेन सह धूमादिमार्गेण] स्वर्गलोकगमनश्रवणात्, [तत्परिष्वङ्गसिद्धिः]

भाषार्थ—और 'तमुत्क्रामन्तम्०' इस श्रुतिमें इन्द्रियोंका जीवके साथ धूमादि मार्ग द्वारा स्वर्गलोकमें गमन कहा गया है, इससे भी परिष्वङ्ग सिद्ध है ।

भाष्य

प्राणानां च देहान्तरप्रतिपत्तौ गतिः श्राव्यते—'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्यादिश्रुतिभिः। सा च प्राणानां गतिर्नाश्रयमन्तरेण संभवतीत्यतः प्राणगतिप्रयुक्ता तदाश्रयभूतानामपामपि भूतान्तरोपसृष्टानां गतिरर्थात् अवगम्यते। नहि निराश्रयाः प्राणाः क्वचिद्गच्छन्ति तिष्ठन्ति वा, जीवतो दर्शनात् ॥३॥

भाष्यका अनुवाद

अन्य देहकी प्राप्तिमें 'तमुत्क्रामन्तम्०' (उसके—जीवके उत्क्रमण करनेपर प्राण उत्क्रमण करता है और प्राणके उत्क्रमण करनेपर सब प्राण उत्क्रमण करते हैं) इत्यादि श्रुतियां प्राणोंकी गतिका श्रवण कराती हैं। और प्राणोंकी वह गति आश्रयके बिना उपपन्न नहीं हो सकती है, इससे प्राणगतिमूलक प्राणके आश्रयभूत अन्य भूतोंसे संबद्ध जलकी भी गति अर्थतः समझी जाती है; क्योंकि निराश्रय प्राण कहीं जाते या रहते नहीं हैं, क्योंकि जीते हुए देहमें प्राण साश्रय देख पड़ते हैं [इसलिए उत्क्रमणमें भी उन जीवोंके गति आदि साश्रय प्राणके साथ ही होंगे] ॥३॥

रत्नप्रभा

उत्क्रान्तौ प्राणाः देहबीजपञ्चभूताश्रयाः, प्राणत्वात्, जीवद्देहस्थप्राणवत्, इत्याह—प्राणगतेश्चेति ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्क्रमणमें प्राण देहके बीजरूप पंचभूतोंमें आश्रित हैं, प्राण होनेसे, जीते हुए देहमें स्थित प्राणके समान, ऐसा कहते हैं—"प्राणगतेश्च" इत्यादिसे ॥३॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥४॥

पदच्छेद—अग्न्यादिगतिश्रुतेः, इति, चेत्, न, भाक्तत्वात्।

पदार्थोक्ति—अग्न्यादिगतिश्रुतेः—['अग्निं वागप्येति सूर्यं चक्षुरप्येति मनश्चन्द्रमप्येति' इत्यादि श्रुतौ मरणकाले इन्द्रियाणां तदभिमानिदेवतासु] अग्न्यादिषु गमनश्रवणात्, [इन्द्रियाणां जीवेन सह स्वर्गलोकप्राप्तिरनुपपन्ना] इति चेत्, न; भाक्तत्वात्—['तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति' इत्याद्यनेकश्रुतिविरोधेन अग्न्यादिषु गमनश्रुतेः] गौणत्वात्।

भावार्थ—'अग्निं वागप्येति' इत्यादि श्रुतिमें मरणकालमें इन्द्रियोंका अग्नि आदिमें गमनश्रवण होनेसे जीवके साथ इन्द्रियां स्वर्गमें जाती हैं, यह कथन युक्त नहीं है, यदि ऐसा कहो, तो नहीं कह सकते, क्योंकि 'तमुत्क्रामन्तम्०, इत्यादि अनेक श्रुतियोंके साथ विरोध होनेसे अग्नि आदिमें गतिप्रतिपादक श्रुति गौण है।

भाष्य

स्यादेतत्—नैव प्राणा देहान्तरप्रतिपत्तौ सह जीवेन गच्छन्ति, अग्न्यादिगतिश्रुतेः। तथाहि श्रुतिर्मरणकाले वागादयः प्राणा अग्न्यादीन्देवान्गच्छन्तीति दर्शयति—'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणः' (बृ० ३।२।१३) इत्यादिनेति चेत्, न; भाक्तत्वात्। वागादीनामग्न्यादिगतिश्रुतिर्गौणी, लोमसु केशेषु चादर्शनात्। 'ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः' (बृ० ३।२।१३) इति हि तत्राम्नायते। नहि लोमानि केशाश्चोत्प्लुत्यौषधीर्वनस्पतींश्च गच्छन्तीति संभवति। नच जीवस्य प्राणोपाधिप्रत्याख्याने गमनमवकल्प्यते। नापि प्राणैर्विना देहान्तर उपभोग उपपद्यते, विस्पष्टं च प्राणानां सह जीवेन गमनमन्यत्र श्रावितम्, अतो

भाष्यका अनुवाद

परन्तु हो सकता है—अन्य देहकी प्राप्तिमें प्राण जीवके साथ नहीं जाते, कारण, अग्नि आदिमें गतिका श्रवण है। क्योंकि 'यत्रास्य०' (जहां इस मृत पुरुषकी वाणी अग्निमें प्रलीन होती है और प्राण वायुमें लीन होते हैं) इत्यादिसे मरण कालमें वाणी आदि प्राण, अग्नि आदि देवोंमें जाते हैं, ऐसा श्रुति दिखलाती है—यदि ऐसी शंका करो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि वह भाक्त—गौण है। वाक् आदिका अग्नि आदिमें गमन दिखलानेवाली श्रुति गौणी है, क्योंकि लोम और केशमें वह देखनेमें नहीं आता। 'ओषधीर्लोमानि०' (लोम औषधियोंमें और केश वनस्पतियोंमें प्रलीन होते हैं) ऐसी वहाँ श्रुति है। लोम और केश कूदकर औषधि और वनस्पतिमें जाते हैं, ऐसा सम्भव नहीं है। इसी प्रकार प्राणरूप उपाधिके परित्याग करनेपर जीवका गमन नहीं हो सकता। और प्राणोंके बिना देहान्तरमें उपभोग भी नहीं हो सकता है और प्राणोंका जीवके

रत्नप्रभा

प्राणानां गतिः असिद्धा इत्याशङ्क्य निषेधति—अग्न्यादीति। अदर्शनात् ओषधिवनस्पतिगमनस्य इति शेषः। लोमानि अपियन्तीत्यर्थः। प्राणानामग्न्यादिषु

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि प्राण साश्रय हैं, तो भी उनकी गति सिद्ध नहीं है, ऐसी आशंका कर इसका निषेध करते हैं—"अग्न्यादि" इत्यादिसे। लोम और केशोंमें उसका दर्शन नहीं है, उसका अर्थात् औषधि और वनस्पतियोंमें गमनका, इतना शेष है। लोम अपियन्ति—लीन होते हैं, ऐसा अर्थ है। प्राणोंका अग्नि आदिमें लय मुख्यार्थमें लेनेसे जीवकी गति और भोग

भाष्य

वागाद्यधिष्ठात्रीणामग्न्यादिदेवतानां वागाद्युपकारिणीनां मरणकाले उपकारनिवृत्तिमात्रमपेक्ष्य वागादयोऽग्न्यादीन्गच्छन्तीत्युपचर्यते ॥ ४ ॥

भाष्यका अनुवाद

साथ गमन श्रुतिमें अन्यत्र विस्पष्ट सुनाया गया है। इस कारणसे वाक् आदिकी अधिष्ठात्री अग्नि आदि देवता वाक् आदिके उपकारक हैं और मरणकालमें उनके उपकारकी केवल निवृत्तिकी अपेक्षासे वाक् आदि अग्नि आदिमें जाते हैं, ऐसा उपचार किया गया है ॥ ४ ॥

रत्नप्रभा

लयस्य मुख्यत्वे जीवस्य गतिभोगयोः अयोगात् 'सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' इति विस्पष्टश्रुतेः लोमादिगौणलयपाठात् च गौणत्वम् इत्यर्थः ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अयुक्त होते हैं, अतः 'सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' ऐसी स्पष्ट श्रुति होनेसे, और लोमादिमें गौण लय है, ऐसा पाठ होनेसे अग्न्यादि गति श्रुति गौणी है, ऐसा अभिप्राय है ॥४॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥५॥

पदच्छेद—प्रथमे, अश्रवणात्, इति, चेत्, न, ताः, एव, हि, उपपत्तेः।

पदार्थोक्ति—[द्युलोकादिषु पञ्चाग्निषु] प्रथमे—आद्ये द्युलोकाख्ये अग्नौ ['तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ' देवाः श्रद्धां जुह्वति' इति श्रद्धाया एव आहुतित्वश्रुतेः अपाम्] अश्रवणात्—श्रवणाभावात् [कथं पुरुषवचस्त्वम्] इति चेत्, न, हि—यतः ['आपो हास्मै श्रद्धां सन्नमन्ते' इति श्रद्धाशब्देन तद्धेतवः] ता एव—आप एव [लक्ष्यन्ते, कुतः ?] उपपत्तेः—प्रश्नप्रतिवचनयोरुपपत्तेः।

भाषार्थ—द्युलोक आदि पांच अग्निओंमें प्रथम—द्युलोकनामक अग्निमें 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ' इत्यादि श्रुतिसे श्रद्धामे ही आहुतित्वका श्रवण है जलमें नहीं है, अतः जलके पुरुषवचस्त्वकी अनुपपत्ति है, ऐसा यदि कहो, तो युक्त नहीं है, क्योंकि 'आपो हास्मै' इत्यादि श्रुतिसे जल ही लक्षित होता है, किससे ? प्रश्न और प्रतिवचनकी उपपत्तिसे।

भाष्य

स्यादेतत्—कथं पुनः 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इत्येतन्निर्धारयितुं पार्यते, यावता नैव प्रथमेऽग्नावपां श्रवणमस्ति। इह हि द्युलोकप्रभृतयः पञ्चाग्नयः पञ्चानामाहुतीनामाधारत्वेनाधीताः, तेषां च प्रमुखे 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' (छा० ५।४।१) इत्युपन्यस्य 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति' (छा० ४।४।२) इति श्रद्धा हौम्यद्रव्यत्वेनावेदिता। न तत्रापो हौम्यद्रव्यतया श्रुताः। यदि नाम पर्जन्यादिषूत्तरेषु चतुर्ष्वग्निष्वपां हौम्यद्रव्यता परिकल्प्येत, परिकल्प्यतां नाम। तेषु होतव्यतयोपात्तानां सोमादीनामब्बहुलत्वोपपत्तेः। प्रथमे त्वग्नौ श्रुतां श्रद्धां परित्यज्याश्रुता आपः परिकल्प्यन्त इति साहसमेतत्। श्रद्धा च नाम प्रत्ययविशेषः, प्रसिद्धिसामर्थ्यात्। तस्मादयुक्तः पञ्चम्या-

भाष्यका अनुवाद

यहां शंका होती है—प्रथम अग्निमें जलका श्रवण नहीं है। इससे 'पञ्चम्यामा०' (पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषात्मक होता है) ऐसा निर्धारण करना किस प्रकार शक्य है ? क्योंकि यहांपर द्युलोक आदि पांच अग्नियां पांच आहुतियोंके आधाररूपसे अधीत—श्रुत हैं। उनमेंसे प्रथममें 'असौ वाव०' (निश्चय, गौतम ! वह (स्वर्ग) लोक अग्नि है) ऐसा उपन्यास करके 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ०' (इस अग्निमें देव श्रद्धाका हवन करते हैं) इस प्रकार श्रद्धा होम करनेके लिए योग्य द्रव्यरूपसे बताई गई है। वहां होमके योग्य द्रव्यरूपसे जलका श्रवण नहीं है। यदि उत्तरके पर्जन्य आदि चार अग्नियोंमें जल हौम्यद्रव्य है, ऐसी कल्पना की जाय, तो आनन्दसे इसकी कल्पना कर सकते हो, क्योंकि उन अग्नियोंमें हवनीयरूपसे गृहीत सोम आदिमें जलके आधिक्यकी उपपत्ति है। परन्तु प्रथम अग्निमें श्रुत श्रद्धाका परित्याग करके अश्रुत जलकी कल्पना करते

रत्नप्रभा

भूतान्तरयुक्तानाम् अपां गतिम् उक्त्वा पुरुषवचस्त्वं तासाम् आक्षिप्य समाधत्ते—प्रथम इति। ननु प्रथमपदं व्यर्थम्, उत्तराग्निष्वपि अपाम् अश्रवणात् इत्याशङ्क्य सोमवृष्ट्यन्नरेतसाम् अब्रूपत्वात् उत्तरत्र तासां श्रवणमस्ति न प्रथम इत्याह—यदि नामेति। पञ्चाग्निष्वपि अपामाहुतित्वे सिद्धे तासां पञ्चम्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य भूतोंसे युक्त जलकी गति कहकर वह पुरुषात्मक किस प्रकार होता है, ऐसा आक्षेप कर समाधान करते हैं—"प्रथम" इत्यादिसे। परन्तु प्रथमपद व्यर्थ है, क्योंकि उत्तर

भाष्य

माहुतावपां पुरुषभाव इति चेत्, नैष दोषः; हि—यतः तत्रापि प्रथमेऽग्नौ ता एवापः श्रद्धाशब्देनाभिप्रेयन्ते। कुतः? उपपत्तेः। एवं ह्यादिमध्यावसानसंगानादनाकुलमेतदेकवाक्यमुपपद्यते, इतरथा पुनः पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वप्रकारे पृष्टे प्रतिवचनावसरे प्रथमाहुतिस्थाने यद्यनपो द्रव्यं श्रद्धां नामावतारयेत्ततोऽन्यथा प्रश्नोऽन्यथा प्रतिवचनमित्येकवाक्यता न स्यात्। 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति'

भाष्यका अनुवाद

हो, यह साहस है। इसी प्रकार प्रसिद्धिके सामर्थ्यसे श्रद्धा—प्रत्यय—विश्वासविशेष है। इससे पांचवीं आहुतिमें जलका पुरुषभाव युक्त नहीं है, यदि ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है; क्योंकि वहां भी प्रथम अग्निमें श्रद्धाशब्दसे वही जल अभिप्रेत है। किससे? उपपत्तिसे। क्योंकि इस प्रकार आदि, मध्य और अन्तमें संगान—एकार्थता होनेसे विना आयासके ही एक वाक्य उपपन्न होता है। अन्यथा पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषात्मक किस प्रकार होता है? ऐसा प्रश्न होनेपर प्रतिवचनके अवसरमें यदि प्रथम आहुतिके स्थानमें जलसे अन्य हौम्यद्रव्यरूपसे श्रद्धाको कहो, तो प्रश्न एक प्रकारका और प्रतिवचन दूसरे प्रकारका, इस रीतिसे

रत्नप्रभा

माहुतौ पुरुषवचस्त्वं भवेत्, न तत्सिद्धम्, प्रथमाग्नौ तासाम् अनाहुतित्वात्, इति शङ्कार्थः। एवं हि श्रद्धाशब्देन अपां ग्रहे सति प्रश्नोत्तरोपसंहाराणां संगानाद्—एकार्थत्वात् एकवाक्यता उपपद्यते। अग्रहे तु चतुर्ष्वग्निष्वेव अपामाहुतित्वात् च चतुर्थ्यामाहुतौ इति वाच्यम्, अतः प्रश्नोपसंहारयोः पञ्चम्यामिति श्रवणात् प्रथमाग्नावपि आप एव ग्राह्या इति समाधानार्थः। अनपः—अद्भ्योऽन्यतः। एतदेवेति। श्रद्धाशब्दस्यापि अप्त्वं दर्शयतीत्यर्थः। उपपत्तेरित्यस्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अग्नियोंमें भी जलका श्रवण नहीं है, ऐसी आशंका करके कहते हैं कि सोम, वृष्टि, अन्न और रेत ये चार आहुतियां जलरूप हैं, अतः उत्तर अग्नियोंमें तो जलका श्रवण है, परन्तु प्रथममें नहीं है, यह कहते हैं—"यदि नाम" इत्यादिसे। पांचों अग्नियोंमें जल आहुति है, ऐसा सिद्ध होनेपर जल पांचवीं आहुतिमें पुरुषात्मक हो, परन्तु वही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि प्रथम अग्निमें जलकी आहुति नहीं है, ऐसा शंकाका अर्थ है। इस प्रकार श्रद्धाशब्दसे जलका ग्रहण होनेपर प्रश्न, उत्तर और उपसंहारके एकार्थ होनेसे एकवाक्यता उपपन्न होती है, यदि श्रद्धाशब्दसे जलका ग्रहण न हो, तो चार अग्नियोंमें ही जल आहुतिरूप होनेसे 'चतुर्थ्यामाहुतौ'

भाष्य

इति चोपसंहरन्नेतदेव दर्शयति । श्रद्धाकार्यं च सोमवृष्ट्यादि स्थूलीभवदब्बहुलं लक्ष्यते । सा च श्रद्धाया अप्त्वे युक्तिः । कारणानुरूपं हि कार्यं भवति । नच श्रद्धाख्यः प्रत्ययो मनसो जीवस्य वा धर्मः सन् धर्मिणो निष्कृष्य होमायोपादातुं शक्यते पश्वादिभ्य इव हृदयादीनीत्याप एव श्रद्धाशब्दा भवेयुः । श्रद्धाशब्दश्चाप्सूपपद्यते, वैदिकप्रयोगदर्शनात् 'श्रद्धा वा आपः' इति । तनुत्वं च श्रद्धासारूप्यं गच्छन्त्य आपो देहबीजभूता इत्यतः श्रद्धाशब्दाः स्युः, यथा सिंहपराक्रमो नरः सिंहशब्दो भवति ।

भाष्यका अनुवाद

एकवाक्यता नहीं होगी । 'इति तु पञ्चम्या०' (ऐसे पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषात्मक होता है) ऐसा उपसंहार कर श्रुति यही दिखलाती है । और सोम, वृष्टि आदि श्रद्धाके कार्य उत्तरोत्तर स्थूल होते हुए जलप्रचुर दिखाई देते हैं । यही श्रद्धाको जल माननेमें युक्ति है । क्योंकि कारणके अनुरूप ही कार्य होता है । जैसे पशु आदिसे हृदय आदि पृथक् कर हवनके लिए ग्रहण किये जाते हैं वैसे श्रद्धानामक प्रत्यय—विश्वास मन या जीवका धर्म होनेसे धर्मीसे पृथक् कर होमके लिए नहीं ग्रहण किया जा सकता, इसलिए श्रद्धाशब्द जलमें उपपन्न होता है, क्योंकि 'श्रद्धा वा आपः' (निश्चय, श्रद्धा जल है) ऐसा वैदिकप्रयोग देखनेमें आता है । श्रद्धाका तनुत्वरूप सादृश्य देहके बीजभूत जलमें है, इससे श्रद्धाशब्द उसमें प्रयुक्त होता है । जैसे सिंहके समान पराक्रमवाले पुरुषके लिए सिंहशब्द प्रयुक्त

रत्नप्रभा

र्थान्तरमाह—श्रद्धाकार्यमिति । तस्याः श्रद्धाहुतेः सोमः सम्भवतीत्यादिना श्रद्धासोमादीनां पूर्वपूर्वपरिणामत्वं श्रुतम्, ततो द्रवपरिणामत्वात् श्रद्धाया अप्त्वम्, प्रत्ययात्मकमुख्यश्रद्धाया आहुतित्वायोगाच्चेत्यर्थः । श्रद्धाशब्दस्याऽप्सु सूक्ष्मत्वगुणेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

(चौथी आहुतिमें) ऐसा कहना युक्त हो, अतः प्रश्न और उपसंहार इन दोनोंमें 'पञ्चम्यामाहुतौ' (पांचवी आहुतिमें) ऐसा श्रवण होनेसे प्रथम अग्निमें भी जल ही ग्राह्य है, ऐसा समाधानका अभिप्राय है । अनप—जलभिन्नसे । एतदेवेति—यही, अर्थात् श्रद्धाशब्दका अर्थ जल है, यही, [श्रुति] दिखलाती है, ऐसा अर्थ है । 'उपपत्ते' इसका अन्य अर्थ कहते हैं—"श्रद्धाकार्यम्" इत्यादिसे । 'तस्या श्रद्धाहुते.०' (उस श्रद्धारूप आहुतिसे सोम उत्पन्न होता है) इत्यादिसे श्रद्धा, सोम आदि पूर्व-पूर्वके परिणाम हैं, ऐसा श्रुतिमें कहा गया है, इसलिए द्रवपरिणाम होनेसे श्रद्धा जल है, क्योंकि प्रत्ययात्मक जो मुख्यार्थमें श्रद्धा है, उसकी आहुति नहीं,

भाष्य

श्रद्धापूर्वककर्मसमवायाच्चाप्सु श्रद्धाशब्द उपपद्यते, मञ्चशब्द इव पुरुषेषु। श्रद्धाहेतुत्वाच्च श्रद्धाशब्दोपपत्तिः 'आपो हास्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मणे' इति श्रुतेः ॥ ५ ॥

भाष्यका अनुवाद

होता है। श्रद्धापूर्वक कर्ममें जलका सम्बन्ध होनेसे भी श्रद्धाशब्द जलमें उपपन्न होता है। जैसे पुरुषमें मञ्चशब्द उपपन्न होता है, वैसे ही। और श्रद्धाका हेतु होनेसे भी श्रद्धाशब्दकी उपपत्ति (जलमें) होती है, क्योंकि 'आपो हास्मै०' (निश्चय, इस यजमानके स्नान आदि पुण्य कर्मके लिए जल श्रद्धा उत्पन्न करता है) ऐसी श्रुति है ॥ ५ ॥

रत्नप्रभा

वृत्तिमुक्त्वा लक्षणां वक्तुं श्रद्धाया अद्भिरेककर्मयोगित्वं हेतुत्वं वा सम्बन्धमाह— श्रद्धापूर्वकेति। अस्मै—यजमानाय स्नानाद्यर्थमापः श्रद्धां सन्नमन्ते जनयन्तीति श्रुत्यर्थः ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हो सकती है, ऐसा अर्थ है। श्रद्धाशब्दकी जलमें सूक्ष्मत्वरूप गुण द्वारा वृत्ति कहकर लक्षणा कहनेके लिए जलके साथ श्रद्धाका एककर्मयोगित्व अथवा हेतुत्वरूप संबन्ध कहते हैं— "श्रद्धापूर्वक" इत्यादिसे। अस्मै—यजमानके लिए—अधिकारी पुरुषके लिए। स्नान आदिके लिए जल श्रद्धा उत्पन्न करता है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

पदच्छेद—अश्रुतत्वात्, इति, चेत्, न, इष्टादिकारिणाम्, प्रतीतेः।

पदार्थोक्ति—[श्रद्धाशब्दितानामपां पुरुषवचस्त्वेऽपि न तद्वेष्टितत्वं जीवस्य] अश्रुतत्वात्—श्रुतिरहितत्वात्, इति चेन्न, [कुतः? 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते' इत्यादिना वाक्यशेषेण] इष्टादिकारिणाम्—इष्टापूर्तकर्मकारिणाम् प्रतीतेः—प्रत्ययात्।

भाषार्थ—श्रद्धाशब्दित जलके पुरुषवचस्त्व होनेपर भी जलसे वेष्टित जीव जाता है यह युक्त नहीं है, क्योंकि अप्—जल आदिके समान जीव श्रुत नहीं है ऐसा यदि कहो, तो युक्त नहीं है, किससे? 'अथ य इमे' इत्यादि वाक्य शेषसे इष्टापूर्तकर्मकारियों की प्रतीति है।

भाष्य

अथापि स्यात् प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां नामापः श्रद्धादिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषाकारं प्रतिपद्येरन्, न तु तत्संपरिष्वक्ता जीवा रंहेयुः, अश्रुतत्वात्। न ह्यत्रापामिव जीवानां श्रावयिता कश्चिच्छब्दोऽस्ति। तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इत्ययुक्तमिति चेत्, नैष दोषः; कुतः ? इष्टादिकारिणां प्रतीतेः 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति' (छा० ५।१०।३) इत्युपक्रम्येष्टादिकारिणां धूमादिना पितृयानेन यथा चन्द्रप्राप्तिं कथयति—'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा' (छा० ५।१०।४) इति,

भाष्यका अनुवाद

प्रश्न और प्रतिवचनसे पांचवीं आहुतिमें श्रद्धा आदिके क्रमसे जल पुरुषाकार प्राप्त करे, यह हो सकता है, परन्तु उस जलसे परिवेष्टित जीवोंका गमन प्रश्न और प्रतिवचनसे सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि यहां जलके समान जीवोंका श्रवण करानेवाला कोई शब्द नहीं है। इसलिए जीव संपरिष्वक्त—जलसे वेष्टित ही जाता है, यह युक्त नहीं है। यदि ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है। किससे ? इष्ट आदि कर्म करनेवालोंकी प्रतीति होनेसे। 'अथ य इमे०' (अब जो ये गृहस्थ ग्राममें इष्ट—अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्म, पूर्त, दत्त और इस प्रकारके अन्य धर्म्म करते हैं, वे धूमकी अभिमानी देवताको प्राप्त करते हैं) ऐसा उपक्रम करके 'आकाशाच्च चन्द्रमसमेष०' (वे आकाशसे चन्द्रलोकमें जाते हैं, यह सोम राजा हैं) इत्यादिसे श्रुति इष्टादि करनेवालोंकी धूमादि पितृयाण मार्ग

रत्नप्रभा

अपां गतिमुपेत्य अद्भिः सह जीवानां गतिम् आक्षिप्य समाधत्ते—अथापीत्यादिना। द्युलोकाग्नौ श्रद्धाहुतेः सोमो राजा सम्भवतीत्युक्त्वा वाक्यशेषे धूमादिमार्गेण आकाशात् चन्द्रमसं प्राप्ता इष्टादिकारिणः 'एष सोमो राजा' इत्युक्ताः, अतः सोमराजशब्दसामान्यात् इष्टादिकारिणां जीवानां श्रद्धाशब्दिता अद्भिः सह गतिः इह श्रद्धाहुतिवाक्ये प्रतीयत इत्यर्थः। तेषां सूक्ष्माभिर्द्रव्यापूर्वरूपाभिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

जलकी गतिका स्वीकारकर जलके साथ जीवोंकी गतिका आक्षेप करके सामाधान करते हैं—"अथापि" इत्यादिसे। द्युलोक अग्निमें श्रद्धारूप आहुतिसे सोम राजा होता है, ऐसा कहकर वाक्यशेपमें धूमादि मार्गके द्वारा आकाशसे चन्द्रलोकमें जो जाते हैं, उन इष्ट आदि करने वालोंको ही 'सोम राजा' कहा गया है। इसलिए 'सोम राजा' यह शब्द समान होनेसे इष्टादि करनेवाले जीवोंकी श्रद्धाशब्दसे सूचित जलके साथ गति यहा श्रद्धाहुतिके वाक्यमें प्रतीत

भाष्य

त एवेहापि प्रतीयन्ते 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' (छा० ५।४।२) इति श्रुतिसामान्यात्। तेषां चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मसाधनभूता दधिपयःप्रभृतयो द्रवद्रव्यभूयस्त्वात् प्रत्यक्षमेवापः सन्ति। ता आहवनीये हुताः सूक्ष्मा आहुत्योऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिण आश्रयन्ति। तेषां च शरीरं नैधनेन विधानेनान्त्येऽग्नावृत्विजो जुह्वति 'असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा' इति। ततस्ताः श्रद्धापूर्वककर्मसमवायिन्य आहुतिमय्य आपोऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिणो जीवान्परिवेष्ट्यामुं लोकं फलदानाय नयन्तीति यत्तदत्र जुहोतिनाऽभिधीयते—'श्रद्धां जुह्वति' (बृ० ६।२।९) इति। तथा चाग्नि-

भाष्यका अनुवाद

से चन्द्रप्राप्ति कहती है। वे ही यहां भी प्रतीत होते हैं, क्योंकि 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ०' (इस अग्निमें देव श्रद्धाकी आहुति देते हैं और उस आहुतिसे सोम राजा उत्पन्न होता है। ऐसी सामान्य श्रुति है। और उन जीवोंके अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि कर्मोंके साधनभूत दधि, पय आदि प्रत्यक्ष ही जल है, क्योंकि उनमें द्रवद्रव्यका आधिक्य है। आहवनीयमें हवन की गई वे सूक्ष्म आहुतियां अपूर्वरूप होकर उन इष्टादि करनेवालोंका आश्रयण करती हैं। ऋत्विज उनके शरीरको मरणके विधानसे अन्त्य अग्निमें 'असौ स्वर्गाय०' (यह स्वर्गलोक प्राप्त करे,) ऐसा कहकर हवन करते हैं। फिर, इसके बाद श्रद्धापूर्वक कर्मके साथ सम्बद्ध आहुतिमय वे जल अपूर्वरूप होकर उन इष्टादि करनेवाले जीवोंको परिवेष्टित करके फल देनेके लिए स्वर्गलोकमें ले जाते हैं, जो वे जाते हैं, उसी—लेजाने

रत्नप्रभा

पञ्चीकृताभिः अद्भिः सम्बन्धं वदन् सहगतिं विवृणोति—तेपाञ्चाग्निहोत्रेति। निधनं—मरणम्। तन्निमित्तकम् अन्त्येष्टिविधानम्। असौ—यजमानः, स्वर्गाय गच्छतु इति मन्त्रार्थः। हुतद्रव्यरूपाणाम् अपां गमने श्रुत्यन्तरमाह—तथा

रत्नप्रभाका अनुवाद

होती है, ऐसा अर्थ है। सूक्ष्म एवं अपूर्व द्रव्यरूप पंचीकृत जलके साथ उनके सम्बन्ध कहते हुए सहगतिका विवरण करते हैं—"तपा चाग्निहोत्र" इत्यादिसे। निधन—मरण और तन्निमित्तक अन्त्येष्टिका विधान। असौ—यजमान स्वर्गमें जावे, ऐसा मन्त्रका अर्थ है। हवन किये गये द्रव्यरूप जलके गमनमें अन्य श्रुति कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे।

भाष्य

होत्रे षट्प्रश्नीनिर्वचनरूपेण वाक्यशेषेण 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः' इत्येवमादिनाग्निहोत्राहुत्योः फलारम्भाय लोकान्तरप्राप्तिः प्रदर्शिता। तस्मादाहुतीमयीभिरद्भिः संपरिष्वक्ता जीवा रंहन्ति स्वकर्मफलोपभोगायेति श्लिष्यते ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

का 'श्रद्धां जुह्वति' (श्रद्धाकी आहुति देते हैं) इस श्रुतिमें 'जुहोति' (हवन करता है) शब्दसे अभिधान है इत्यादि। उसी प्रकार अग्निहोत्रमें छः प्रश्नोंके निर्वचनरूप वाक्यशेषमें 'ते वा एते' (वे ये दो आहुतियां हवनकी गई उत्क्रमण करती हैं) इत्यादिसे अग्निहोत्रकी दो आहुतियां फलारंभके लिए अन्य लोक प्राप्त करती हैं ऐसा दिखलाया गया है। इसलिए आहुतिमय जलसे परिवेष्टित जीव अपने कर्म फलके उपभोगके लिए जाते हैं, यह युक्त है ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

चेति। अग्निहोत्रप्रकरणे जनकेन याज्ञवल्क्यं प्रति 'नत्वेवैनयोः सायंप्रातराहुत्योस्त्वमुत्क्रान्तिं न गतिं न प्रतिष्ठां न तृप्तिं न पुनरावृत्तिं न लोकं प्रत्युत्थायिनं वेत्थ' इति षट् प्रश्नाः कृताः, तेषां निर्वचनमपि 'राज्ञैव ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः। तेऽन्तरिक्षद्वारा दिवं गच्छतः ते दिवमेव आहवनीयप्रतिष्ठां कुर्वाते ते दिवं तर्पयतः ते ततः पुनरावर्तेते ततः पृथिव्यां पुरुषे योषिति च पुरुषरूपेणोत्तिष्ठतः' इति वाक्यशेषेण कृतम् ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अग्निहोत्र प्रकरणमें जनकने याज्ञवल्क्यसे ६ प्रश्न किये हैं कि—'इन सायं और प्रात कालकी आहुतियोंमें उत्क्रान्ति, गति, प्रतिष्ठा, तृप्ति, पुनरावृत्ति और उत्पन्न होनेवाला लोक क्या तुम नहीं जानते?' राजाने उन प्रश्नोंका निर्वचन भी—'ये हवन की गई आहुतियां उत्क्रमण करती हैं, वे अन्तरिक्ष द्वारा आकाशमें जाती हैं, वे आहवनीय जो द्युलोक है, उसमें ही प्रतिष्ठा करती है, द्युलोकको तृप्त करती हैं, वहांसे पीछे लौटती हैं और पीछे फिर पृथिवीमें पुरुष या स्त्रीमें आहुत हुई पुरुषरूपसे उत्थान करती हैं, ऐसे वाक्यशेषसे—कर दिया है ॥ ६ ॥

भाष्य

कथं पुनरिदमिष्टादिकारिणां स्वकर्मफलोपभोगाय रंहणं प्रतिज्ञायते, यावता तेषां धूमप्रतीकेन वर्त्मना चन्द्रमसमधिरूढानामन्नभावं दर्शयति—'एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति' (छा० ५।१०।४) इति। 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेतांस्तत्र भक्षयन्ति' (बृ० ६।२।१६) इति च समानविषयं श्रुत्यन्तरम्। नच व्याघ्रादिभिरिव देवैर्भक्ष्यमाणानामुपभोगः संभवतीति। अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

परन्तु इष्टादि करनेवालोंका गमन अपने कर्मफलके उपभोगके लिए है, इस भांतिकी प्रतिज्ञा कैसे की जाती है? क्योंकि धूमलक्षण मार्गसे चन्द्रमें जो आरूढ़ होते हैं, उनका अन्नभाव श्रुति दिखलाती है—'एष सोमो राजा०' (यह सोम राजा है, वह देवताओंका अन्न है उस चन्द्ररूप अन्नको देवता भक्षण करते हैं) इत्यादिसे। और 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति०' (वे चन्द्रको प्राप्त कर अन्न होते हैं जैसे यज्ञमें पुनः पुनः वृद्धि और क्षय करके सोमरूप (लता) राजाका ऋत्विज भक्षण करते हैं, वैसे ही इनका—इष्टादि करनेवालोंका वहां देवता भक्षण करते हैं) इस प्रकारकी समानविषयक अन्य श्रुति है। और व्याघ्र आदिके समान जो देवोंसे भक्ष्य हों, उनका उपभोग हो नहीं सकता। इसलिए उत्तर कहते हैं—

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ७ ॥

पदच्छेद—भाक्तम्, वा, अनात्मवित्त्वात्, तथा, हि, दर्शयति।

पदार्थोक्ति—अस्मिन्सूत्रे वाशब्दः शङ्कानिरासार्थकः। [तेषामिष्टादिकारिणाम् अन्नत्वम्] भाक्तम्—गौणम् [न मुख्यम् अन्यथा 'स्वर्गकामो यजेत इति श्रुतिव्याकोपः स्यात् अतः] अनात्मवित्त्वात्—आत्मज्ञानशून्यत्वात् [तेषां देवोपभोग्यस्वरूपमन्नत्वं वाच्यम्] हि—यतः तथा—तेन प्रकारेण ['अथ योऽन्याम्' इत्यादि श्रुतिः] दर्शयति—कथयति।

भावार्थ—इष्टादिकारियोंमें अन्नत्व अप्रधान है, मुख्य नहीं है, क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' इस श्रुतिका विरोध होगा। इसलिए आत्मज्ञान न होनेसे देवोपभोग्यरूप अन्नत्व ही विवक्षित है, क्योंकि उसी प्रकार 'अथ योऽन्याम्' इत्यादि श्रुति कहती है।

भाष्य

वाशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः। भाक्तमेषामन्नत्वं न मुख्यम्, मुख्ये ह्यन्नत्वे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयकाधिकारश्रुतिरुपरुध्येत। चन्द्रमण्डले चेदिष्टादिकारिणामुपभोगो न स्यात्किमर्थमधिकारिण इष्टाद्यायासबहुलं कर्म कुर्युः। अन्नशब्दश्चोपभोगहेतुत्वसामान्यादनन्नेऽप्युपचर्यमाणो दृश्यते, यथा विशोऽन्नं राज्ञां पशवोऽन्नं विशामिति। तस्मादिष्टस्त्रीपुत्रमित्रभृत्यादिभिरिव

भाष्यका अनुवाद

वाशब्द कथित दोषकी व्यावृत्तिके लिए है। इनका—इष्टादि करनेवालोंका अन्नत्व गौण है, मुख्य हो, तो 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्गप्राप्ति चाहनेवाला यज्ञ करे) इस प्रकारकी अधिकारश्रुति उपरुद्ध हो जायगी। यदि इष्टादि करनेवालोंका चन्द्रमण्डलमें उपभोग न हो, तो अधिकारी जिनमें अधिक श्रम है, ऐसे इष्ट आदि कर्म ही क्यों करें! और अन्नशब्द 'उपभोगहेतुत्व' इस सामान्य धर्मसे अनन्न—अन्नभिन्न वस्तुमें भी उपचरित देखनेमें आता है। जैसे वैश्य राजाके अन्न हैं, पशु वैश्यके अन्न हैं, ऐसा कहते हैं। इसलिए इष्ट स्त्री,

---

रत्नप्रभा

सम्प्रति उत्तरसूत्रव्यावर्त्यं शङ्कते—कथमित्यादिना। अत्र सोमाख्यचन्द्रस्यान्नत्वम् उक्तं नेष्टादिकारिणाम् इति भ्रान्तिनिरासार्थं श्रुत्यन्तरमाह—ते चन्द्रमिति। यथा यज्ञे चमसस्थं सोमम् ऋत्विजः आप्यायस्व इति क्रियावृत्तौ लोट्, पुनःपुनः आप्याय्य पुनः पुनः अपक्षय्य भक्षयन्ति, एवमेतान् इष्टादिकारिणः अन्नरूपान् भक्षयन्ति, देवा इत्यर्थः। अधिक्रियते पुरुषो विधिना सम्बध्यतेऽनेनेति अधिकारः—फलकामना। शास्त्रानर्थक्यवारणाय अन्नत्वं गौणमिति भावः। केन दोषेण तेषां देवभोग्यता इत्यत आह—अनात्मवित्त्वाच्चेति। यथा पशुर्भोग्यः, एवमज्ञः स भेदधीमान् देवानां भोग्य इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब उत्तर सूत्रमें निराकरणीय वस्तुकी शंका करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। यहां सोम संज्ञक चन्द्र अन्न है, ऐसा कहा गया है, इष्टादि करनेवाले अन्नरूप हैं, ऐसा नहीं कहा गया है, इस भ्रान्तिको दूर करनेके लिए अन्य श्रुति कहते हैं—'ते चन्द्रम्" इत्यादिसे। जैसे यज्ञमें चमसमें स्थित सोमका ['आप्यायस्व' यह क्रियाव्यापारमें लोट् लकार है] ऋत्विज वार वार वृद्धि और क्षय करके भक्षण करते हैं, वैसे ही इष्टादि करनेवाले अन्नरूप हैं, उनका देव भक्षण करते हैं, ऐसा अर्थ है। जिसके द्वारा पुरुष विधिसे अधिकृत अर्थात् संबद्ध होता

भाष्य

गुणभावोपगतैरिष्टादिकारिभिर्यत्सुखविहरणं देवानां तदेवैषां भक्षणमभिप्रेतं न मोदकादिवच्चर्वणं निगरणं वा। 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येत-देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छा० ३।६।१) इति च देवानां चर्वणादिव्यापारं वारयति। तेषां चेष्टादिकारिणां देवान्प्रति गुणभावोपगतानामप्युपभोग उपपद्यते राजोपजीविनामिव परिजनानाम्, अनात्मवित्त्वाच्चेष्टादिकारिणां देवोपभोग्यभाव उपपद्यते। तथाहि श्रुतिरनात्मविदां देवोपभोग्यतां दर्शयति-'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्' (बृ० १।४।१०) इति। स चास्मिन्नपि लोक इष्टादिभिः कर्मभिः प्रीणयन्पशुवद्देवानामुपकरोत्यमुष्मिन्नपि लोके तदुपजीवी तदादिष्टं फलमुपभुञ्जानः पशुवद्देवानामुपकरोतीति गम्यते।

भाष्यका अनुवाद

पुत्र, मित्र आदिके समान गुणभावको प्राप्त हुए इष्ट आदि करनेवालोंके द्वारा जो देवताओंका सुखविहरण है, वही इनका भक्षण यहां अभिप्रेत है, मोदक आदिके समान चर्वण—चबाना, या निगरण—निगल जाना अभिप्रेत नहीं है। 'न ह वै देवाः०' (निश्चय, देव कुछ खाते और पीते नहीं हैं, इसी सूर्यमण्डलमें रोहितरूप अमृतको देखकर वे तृप्त हो जाते हैं) यह श्रुति देवोंके चर्वण आदि व्यापारका निषेध करती है। और देवोंके प्रति गुणभावको प्राप्त हुए इन इष्टादि करनेवालोंका भी राजाके उपजीवी परिजनोंके समान उपभोग उपपन्न होता है और आत्मज्ञान न होनेसे इष्टादि करनेवाले देवताओंके उपभोग्यरूप हैं, यह उपपन्न भी है। क्योंकि—'अथ योऽन्यां देवता०' (जो कोई [अब्रह्मवित्] अपनेसे अन्य देवताकी उपासना करता है—'वह (देव) अन्य है, मैं अन्य हूँ ऐसा' वह तत्त्वको नहीं जानता, जैसे पशु [वाहन, दोहन आदि उपकरणोंसे उपभुक्त होता है] वैसे ही वह देवोंका [उपभोग्य होता है]) यह श्रुति अनात्मवेत्ताओंकी देवोपभोग्यता दिखलाती है। इस लोकमें इष्टादि कर्मोंसे देवोंको प्रसन्न करता हुआ वह पशुके समान देवोंका उपकारक होता है, और परलोकमें भी उनका

रत्नप्रभा

आत्मशब्दस्य मुख्यत्वबलेन सूत्रांशं व्याख्याय प्रकृतपक्षागमयः सूत्रकृता

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, यह अधिकार—फलकामना है। शास्त्रकी अनर्थकता निवारण करनेके लिए अभत्व गौण

भाष्य

अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयतीत्यस्यापरा व्याख्या—अनात्मविदो ह्येते केवलकर्मिण इष्टादिकारिणो न ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायिनः। पञ्चाग्निविद्यामिहात्मविद्येत्युपचरन्ति प्रकरणात्, पञ्चाग्निविज्ञानविहीनत्वाच्चेदमिष्टादिकारिणां गुणवादेनान्नत्वमुद्भाव्यते पञ्चाग्निविज्ञानप्रशंसार्थं। पञ्चाग्निविद्या हीह विधित्सिता, वाक्यतात्पर्यावगमात्। तथाहि श्रुत्यन्तरं चन्द्रमण्डले भोगसद्भावं दर्शयति—'स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते' (प्र०५।४) इति। तथान्यदपि श्रुत्यन्तरम् 'अथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्व लोके आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः

भाष्यका अनुवाद

उपजीवी होकर उनसे आदिष्ट फलका उपभोग करता हुआ पशुवत् देवोंका उपकारक होता है, ऐसा समझा जाता है।

'अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति' इसकी दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—केवल कर्म—इष्टादि करनेवाले वे निश्चय, अनात्मवेत्ता हैं। ज्ञान और कर्मका समुच्चय करनेवाले अनात्मवेत्ता नहीं हैं। प्रकरणसे पञ्चाग्निविद्या ही यहां उपचार से आत्मविद्यारूपसे कही गई है। पंचाग्निविज्ञानसे रहित होनेके कारण इष्टादि करनेवाले देवोंके अन्न हैं, ऐसा पञ्चाग्निविद्याकी प्रशंसाके लिए ही गुणवादसे कहा गया है। निश्चय यहां पंचाग्निविद्याका ही विधान करना अभीष्ट है, क्योंकि वाक्यका तात्पर्य ऐसा समझा जाता है, अन्य श्रुति भी 'स सोमलोके०' (वह सोम लोकमें विभूतिका अनुभव करके फिर लौट आता है) इत्यादिसे चन्द्रमण्डलमें भोगका सद्भाव दिखलाती है। उसी प्रकार 'अथ ये०' (लोकविजयी पितरोंका जो शतगुण—सौ गुना आनन्द है वह गन्धर्वलोकके एक आनन्दके बराबर है, और जो गन्धर्वलोकमें सौ गुना आनन्द है वह

रत्नप्रभा

आत्मत्वेन उपचरिता इति व्याख्यान्तरमाह—अनात्मेत्यादिना। विद्यास्तुत्यर्थम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसा भाव है। किस दोषसे वे देवोंके भोग्य हैं, इसे कहते हैं—"अनात्मवित्त्वाच्च" इत्यादिसे। अनात्मवित्—आत्मज्ञानरहित होनेसे ही वह अज्ञ भेदबुद्धिवाला पशुके समान देवोंका भोग्य है, ऐसा अभिप्राय है। आत्म शब्दकी मुख्यताके बलसे सूत्रांशकी व्याख्या करके—प्रकृत पांच अग्नियां सूत्रमें पठित आत्मत्वसे उपचरित है, ऐसी दूसरी व्याख्या कहते

भाष्य

कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते' (बृ० ४।३।३३) इतीष्टादिकारिणां देवैः सह संवसतां भोगप्राप्तिं दर्शयति। एवं भाक्तत्वादन्नभाववचनस्येष्टादिकारिणोऽत्र जीवा रंहन्तीति प्रतीयते। तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इति युक्तमेवोक्तम् ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

कर्मदेवोंके एक आनन्दके बराबर है, जो कर्मसे देवपदवीको प्राप्त होते हैं) यह दूसरी श्रुति भी इष्टादि करनेवाले जो देवोंके साथ बसते हैं उनकी भोगप्राप्ति दिखलाती है। इस प्रकार अन्नभाववचनके गौण होनेसे इष्टादि करनेवाले जीव वहां जाते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए 'रंहति संपरिष्वक्तः' (जीव परिवेष्टित जाता है) यह ठीक ही कहा गया है ॥७॥

रत्नप्रभा

अन्नत्वं न मुख्यम् इत्यत्र श्रुत्यन्तरार्थं सूत्रशेषं व्याचष्टे—तथाहीति। एवं गतिपर्यालोचनया वैराग्यमिति सिद्धम् ॥ ७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"अनात्म" इत्यादिसे। विद्याकी स्तुतिके लिए अन्नत्व मुख्य नहीं है, इसमें अन्य श्रुतिके अर्थरूपसे सूत्रके अन्तिम अंशका व्याख्यान करते हैं—"तथाहि" इत्यादिसे। इस प्रकार गतिके पर्यालोचनसे वैराग्य होता है, यह सिद्ध है ॥७॥



[२ कृतात्ययाधिकरण सू० ८–११]

स्वर्गावरोही क्षीणानुशयः सानुशयोऽथवा ।
यावत्संपातवचनात् क्षीणानुशय इष्यते ॥ १ ॥
जातमात्रस्य भोगित्वादैकभव्ये विरोधतः ।
चरणश्रुतितः सानुशयः कर्मान्तरैरयम्* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—स्वर्गमें गया हुआ जीव निरनुशय आता है अथवा सानुशय आता है ?

पूर्वपक्ष—निरनुशय आता है, क्योंकि यावत्सम्पातका वचन है ।

सिद्धान्त—सानुशय जीव आता है, क्योंकि जन्म लेते ही बालकको सुख-दुःखका अनुभव होता है और 'एक ही जन्ममें सब कर्मानुशय का भोग होता है', इस मतमें विरोध है एवं चरणकी श्रुति है ।

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥

पदच्छेद—कृतात्यये, अनुशयवान्, दृष्टस्मृतिभ्याम्, यथेतम्, अनेवम्, च ।

पदार्थोक्ति—कृतात्यये—कृतस्य स्वर्गप्रापककर्मसमूहस्य [भोगेन] अत्यये—विनाशे, सति अनुशयवान्—आमुष्मिकफलप्रापककर्मातिरिक्तकर्मवान् [अवरोहति, कुतः ?] दृष्टस्मृतिभ्याम्—दृष्टम्—'तद्य इह रमणीयचरणा' इत्यादिकं श्रुतिरूपं प्रत्यक्षं शास्त्रम्, तथा 'प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्ट-देशकाल०'इत्यादि स्मृतिः, ताभ्यां हेतुभ्याम् । [ते च येन मार्गेण चन्द्रलोकमारूढा-स्तेनैवावरोहन्ति आहोस्वित्तद्विपरीतेनेत्याकाङ्क्षायामाह—] यथेतम् अनेवं च—यथा इतम् येन क्रमेण धूमादिमार्गद्वारा गतं तद्विपरीतेन कथयिष्यमाणाभ्रादिमार्गेण च अवरोहन्ति इति सूत्रतात्पर्य्यम् ।

भाषार्थ—स्वर्गके लिए किये हुए कर्मोंके उपभोगके अनन्तर उस कर्मसे अतिरिक्त कर्म युक्त ही जीव इस लोकमें आता है, क्योंकि 'तद्य इह रमणीयचरणा' और 'प्रेत्य कर्मफलमनुभूय' इत्यादि श्रुति और स्मृति प्रमाणभूत हैं । और जिस धूमादि मार्गसे वे गये हों उससे और उससे विपरीत वक्ष्यमाण अभ्रादि मार्गद्वारा इस लोकमें आते हैं ।

---

* भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—स्वर्गका उपभोग करके आनेवाला जीव निरनुशय ही इस संसारमें आता है । अनुशय शब्दका अर्थ 'जीवमनुशेते' इस प्रकार की व्युत्पत्तिसे कर्मका बचा हुआ

भाष्य

इष्टादिकारिणां धूमादिना वर्त्मना चन्द्रमण्डलमधिरूढानां भुक्तभोगानां ततः प्रत्यवरोह आम्नायते—'तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्' (छा० ५।१०।५) इत्यारभ्य यावत् 'रमणीयचरणा ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते कपूयचरणाः श्वादियोनिम्' इति। तत्रेदं विचार्यते—

भाष्यका अनुवाद

धूमादि मार्गसे चन्द्रमण्डलमें आरूढ़ इष्ट आदि करनेवाले भुक्तभोगियोंका वहांसे प्रत्यवरोहण (चन्द्रमण्डलसे पीछे लौटना), श्रुतिमें कहा गया है—'तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वा०' (उसमें संपातपर्यन्त रहकर जिस मार्गसे वहां गया है, उसी मार्गसे पुनः निवृत्त होता है) यहांसे प्रारम्भ करके 'रमणीयचरणा०' (जिनका रमणीय आचरण है, वे ब्राह्मण आदि योनि प्राप्त करते हैं और जिनका आचरण निकृष्ट है, वे श्वान आदि योनि प्राप्त करते हैं) यहां तक। उसमें यह

रत्नप्रभा

इदानीं गत्यन्तरभाविनीमागतिं निरूपयति—कृतात्यय इति। भोक्तव्यकर्मसमाप्त्यानन्तर्यम् अथशब्दार्थः। यथेतमित्यारभ्य श्वादियोनिमित्यन्तं वाक्यं यावत्तावदाम्नायत इति योजना। अत्र यावत्सम्पातमितिविशेषणात् रमणीयचरणा इति वाक्याच्च संशयमाह—तत्रेति। अनुशयः—कर्म। अत्र पूर्वपक्षे कर्माभावेना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब गतिके अनन्तर होनेवाली आगतिका निरूपण करते हैं—"कृतात्यये" इत्यादिसे। भोक्तव्य कर्मकी समाप्तिके अनन्तर—यह श्रुतिके एकदेश अथशब्दका अर्थ है। 'यथेतम्' यहांसे लेकर 'श्वादियोनिम्' इस वाक्यतक प्रत्यवरोह—स्वर्गसे आना कहा गया है, यह योजना है। यहांपर 'यावत्संपातम्' (कृत कर्मकी समाप्ति पर्यन्त स्वर्गलोकमें रहकर) इस विशेषणसे और

कुछ भाग, इसलिए उक्त अर्थकी (जीव निरनुशय आता है) सग्राहिका श्रुति भी है—'यावत्सम्पातम्' इत्यादि। इससे कर्मके शेषसे रहित ही जीव आता है, यह सिद्ध है।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त—स्वर्गके लिए अनुष्ठित कर्मोंका सर्वथा उपभोग होनेपर भी सञ्चित कर्म जो कि अनुपभुक्त हैं, वे रहते हैं, अन्यथा तत्क्षणमें उत्पन्न बालकको इस जन्ममें धर्माधर्मके अनुष्ठान न होनेसे सुख-दुःखका अनुभव नहीं होगा। किसीका मत है—एक जन्ममें अनुष्ठित कर्मसमूह आगेके जन्ममें उपभोगसे क्षीण होता है, यह युक्त नहीं है, क्योंकि इन्द्र आदि पदके प्रापक अश्वमेध आदि और वराह आदिके प्रापक पापकर्मोंके एक क्षणमें उपभोगका असम्भव होनेसे 'ऐकभविकः कर्मानुशयः' इस मतमें विरोध है। यावत्सम्पातशब्द तो केवल स्वर्गको देनेवाले कर्मका वाचक है, अन्यका नहीं है, श्रुति भी स्वर्गसे आनेके बाद पञ्चमी आहुतिमें शरीरग्रहण करनेवाले जीवोंके पुण्य और पापका सद्भाव प्रतिपादन करती है—'तद्य इह रमणीयचरणा' इत्यादिसे।

भाष्य

किं निरनुशया भुक्तकृत्स्नकर्माणोऽवरोहन्त्याहोस्वित्सानुशया इति ?

किं तावत्प्राप्तम् ? निरनुशया इति। कुतः ? यावत्संपातमिति विशेषणात्। संपातशब्देनात्र कर्माशय उच्यते—संपतन्त्यनेनास्माल्लोकादमुं लोकं फलोपभोगायेति, यावत्संपातमुषित्वेति च कृत्स्नस्य तस्य कृतस्य तत्रैव भुक्ततां दर्शयति। 'तेषां यदा तत्पर्यवैति' (बृ० ६।२।१६) इति च श्रुत्यन्तरेणैष एवार्थः प्रदर्श्यते। स्यादेतत्—यावदमुष्मिंल्लोक उपभोक्तव्यं कर्म तावदु-

भाष्यका अनुवाद

विचार किया जाता है कि—जिन्होंने सब कर्मोंका उपभोग कर लिया है, वे अनुशयरहित अवरोहण करते हैं या अनुशयसहित ?

पूर्वपक्षी—तब क्या प्राप्त होता है ? अनुशयरहित अवरोहण करते हैं। किससे ? 'यावत् संपातम्' (संपातपर्यन्त) ऐसा विशेषण होनेसे। संपातशब्दसे यहां कर्माशय कहा गया है—क्योंकि इस लोकसे परलोकमें फलके उपभोगके लिए जीव इसकी (कर्मकी) सहायतासे संपतन्ति—गमन करते हैं। और 'यावत्संपातमुषित्वा'(संपातपर्यन्त रहकर) यह श्रुति किये गये उसके सब कर्मोंका वहीं उपभोग होता है, ऐसा दिखलाती है। और 'तेषां यदा पर्यवैति' (जब उन कर्म करनेवालोंका वह [यज्ञ, दानादिलक्षण सोमलोकप्रापक कर्म] परिक्षीण हो जाता है) इस दूसरी श्रुतिसे भी यही अर्थ दिखलाया गया है। यदि कहो कि जब

रत्नप्रभा

गतेः अनियमात् वैराग्यादार्ढ्यं, सिद्धान्ते कर्मसत्त्वेनागतिनियमाद् वैराग्यदार्ढ्यमिति भेदः। तेषाम् इष्टादिकारिणां यदा तत् कर्म पर्यवैति—विपरिक्षीणं भवति, तदा पुनरावर्तन्त इति श्रुत्यन्तरेणापि कृत्स्नकर्मणः चन्द्रलोके भुक्तत्वमुच्यते इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

'रमणीयचरणा-' इत्यादि वाक्यसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। अनुशय—कर्म। यहां पूर्वपक्षमें कर्मका अभाव होनेसे आगतिमें अनियम है, इसलिए वैराग्यका शैथिल्य है, सिद्धान्तमें कर्मकी सत्ता होनेसे आगतिमें नियम है, इसलिए वैराग्यकी दृढ़ता है, ऐसा फलभेद है। उनका अर्थात् इष्टादि कर्म करनेवालोंका जब वह कर्म पर्यवैति—विपरिक्षीण होता है तब वे पीछे लौटते हैं, इस प्रकार अन्य श्रुतिसे भी सब कर्मका चन्द्रलोकमें भोग होता है, ऐसा कहा गया है, यह अर्थ है। यावत्पदका संकोच, ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरी श्रुतिसे विरोध होता है,

भाष्य

पभुक्तमिति कल्पयिष्यामीति। नैवं कल्पयितुं शक्यते, यत्किंचेत्यन्यत्र परामर्शात्। 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४।४।६) इति ह्यपरा श्रुतिर्यत्किंचेत्यविशेषपरामर्शेन कृत्स्नस्येह कृतस्य कर्मणस्तत्र क्षयिततां दर्शयति। अपि च प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकम्, प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्याभिव्यक्त्यनुपपत्तेः। तच्चाविशेषाद्यावत्किंचिदनारब्धफलं तस्य सर्वस्याभिव्यञ्जकम्, नहि साधारणे निमित्ते नैमित्तिकमसाधारणं भवितुमर्हति। न ह्यविशिष्टे प्रदीपसंनिधौ घटोऽभिव्यज्यते न पट इत्युपपद्यते। तस्मान्निरनुशया अवरोहन्तीति।

भाष्यका अनुवाद

तक इस लोकमें उपभोग करनेके योग्य कर्म हैं तबतक जीव उनका उपभोग करता है, ऐसी मैं कल्पना करूंगा, तो ऐसी कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि 'यत्किंच' (जो कुछ) ऐसा अन्यत्र परामर्श है। क्योंकि 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य०' (यह नर इस लोकमें जो कुछ कर्म करता है उसका अन्त-फल परलोकमें प्राप्त करके उस लोकसे यहांपर फिर कर्म करनेके लिए लौट आता है) यह दूसरी श्रुति 'यत्किंच' (जो कुछ) ऐसे अविशेषके परामर्शसे यहां किये गये सब कर्मोंका वहां क्षय होता है, ऐसा दिखलाती है। और मरण भी अनारब्ध फलवाले कर्मोंका अभिव्यञ्जक है (जिसका फल आरब्ध नहीं हुआ है, ऐसे कर्मका अभिव्यंजक है), क्योंकि मरणसे पहले जिसका फल आरब्ध हुआ है, ऐसे कर्मसे प्रतिबद्ध हुए की अभिव्यक्ति उपपन्न नहीं है। और विशेष न होनेसे वह मरण जिस किसी कर्मका फल आरब्ध नहीं हुआ है, उस सबका अभिव्यञ्चक है, क्योंकि साधारण निमित्त रहने पर नैमित्तिक असाधारण हो, यह नहीं हो सकता। निश्चय, प्रदीपकी अविशिष्ट संनिधिमें घट अभिव्यक्त होता है, पट अभिव्यक्त नहीं होता, यह उपपन्न नहीं है। इससे जीव अनुशयरहित ही अवरोहण करते हैं।

रत्नप्रभा

यावत्पदसङ्कोचो न युक्तः, श्रुत्यन्तरविरोधात् इत्याह—नैवमिति। अयं नरः यत्किञ्चित् इह लोके कर्म करोति तस्य अन्तं फलं—परलोके प्राप्य कर्मार्थं पुनराया-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"नैवम्" इत्यादिसे। यह नर जो कुछ कर्म इस लोकमें करता है, उसका अन्त—फल परलोकमें प्राप्तकर कर्मके लिए फिर इस लोकमें पुनरागमन करता है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है।

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—कृतात्ययेऽनुशयवानिति। येन कर्मवृन्देन चन्द्रमसमारूढाः फलोपभोगाय तस्मिन्नुपभोगेन क्षयिते तेषां यदम्मयं शरीरं चन्द्रमस्युपभोगायारब्धं तदुपभोगक्षयदर्शनशोकाग्निसंपर्कात्प्रविलीयते सवितृकिरणसंपर्कादिव हिमकरकाः हुतभुगर्चिःसंपर्कादिव च घृतकाठिन्यम्। ततः कृतात्यये—कृतस्येष्टादेः कर्मणः फलोपभोगेनोपक्षये सति सानुशया एवेममवरोहन्ति। केन हेतुना? दृष्टस्मृतिभ्यामित्याह। तथाहि प्रत्यक्षा श्रुतिः सानुशयानामवरोहं दर्शयति—'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'कृतात्ययेऽनुशयवान्०' (कर्मके क्षय होनेपर अनुशयवाला)। जिस कर्मसमूहसे फलके उपभोगके लिए चन्द्रमें आरूढ हुए हैं, उस कर्मसमूहके उपभोगसे क्षय होनेपर उनका जो जलमय शरीर चन्द्रलोकमें उपभोगके लिए आरब्ध हुआ है, वह उपभोगके क्षयदर्शनसे उत्पन्न शोकाग्निके सम्पर्कसे विलीन हो जाता है। जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंके सम्पर्कसे हिम और करक विलीन हो जाते हैं और अग्निकी ज्वालाके सम्पर्कसे घृतका काठिन्य विलीन हो जाता है, उसी प्रकार। इसलिए कृतात्यये—अर्थात् किये गये इष्ट आदि कर्मके फलोपभोगसे उपक्षय होनेपर अनुशयसहित ही जीव इस लोकमें अवरोहण करते हैं। किस हेतुसे? दृष्ट—श्रुति

रत्नप्रभा

तीति श्रुत्यर्थः। कर्माभावे श्रुतिमुक्त्वा युक्तिमाह—अपि चेति। अभिव्यक्तिः—फलोन्मुखता। मरणेनाभिव्यक्तस्य सर्वस्य कर्मणः परलोकभोगस्य अवश्यम्भावात् कर्माभाव इत्यर्थः। चरणाख्यशीलमात्राद् अवरोह इति प्राप्ते सिद्धान्तप्रतिज्ञां व्याचष्टे—येनेत्यादिना। 'तद्' तत्राऽवरोहतां जीवानां मध्ये ये केचिद् इह कर्मभूमौ रमणीयचरणाः पुण्यकर्माणः पुण्ययोनिभाज इति यद् तद् अभ्याशो ह—अवश्यं हीत्यर्थः। कपूयम्—पापम्। दृष्टशब्दस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मके अभावमें श्रुति कहकर युक्ति कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अभिव्यक्तिः—फलोन्मुखता। मरणसे अभिव्यक्त सब कर्मोंका परलोकमें भोग होना अनिवार्य है, इसलिए कर्मका अभाव है, ऐसा अर्थ है। चरण—शीलमात्रसे अवरोह होता है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्तप्रतिज्ञाका

भाष्य

वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा' (छा० ५।१०।७) इति। चरणशब्देनानुशयः सूच्यत इति वर्णयिष्यति। दृष्टश्चायं जन्मनैव प्रतिप्राण्युच्चावचरूप उपभोगः प्रविभज्यमान आकस्मिकत्वासम्भवादनुशयसद्भावं सूचयति, अभ्युदयप्रत्यवाययोः सुकृतदुष्कृतहेतुत्वस्य सामान्यतः शास्त्रेणावगमितत्वात्। स्मृतिरपि—'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुख-

भाष्यका अनुवाद

और स्मृतिसे, ऐसा कहते हैं। क्योंकि श्रुति प्रत्यक्ष अनुशयसहित जीवोंका अवरोहण दिखलाती है—'तद्य इह रमणीयचरणा' (उनमें जो यहां पुण्य कर्म करनेवाले हैं; वे अवश्य ही रमणीययोनि—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि या वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं और जो पाप करनेवाले हैं वे अवश्य ही पापयोनि—श्वयोनि, सूकरयोनि या चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं) इस प्रकार। चरणशब्दसे अनुशय सूचित होता है, ऐसा वर्णन करेंगे। और जन्मसे ही प्रत्येक प्राणीमें भिन्न-भिन्न प्रकारका उपभोग विभक्त हुआ देखनेमें आता है। वह आकस्मिकत्वके असंभवसे अनुशयके सद्भाव—अस्तित्वका सूचन करता है, क्योंकि अभ्युदय और दुःखका सुकृत और दुष्कृत हेतु है, ऐसा सामान्य रीतिसे शास्त्रद्वारा समझा जाता है। 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः०' (वर्ण और आश्रमवाले मरणके पीछे अपने

रत्नप्रभा

श्रुतमर्थमुक्त्वा अर्थान्तरमाह—दृष्टश्चेति। 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इत्यादिशास्त्रेण सुखदुःखयोर्धर्माधर्म हेतुकत्वमवगतम्। ततश्च जन्मारभ्य दृष्टो भोगः कर्महेतुकः, भोगत्वात्, स्वर्गभोगवत्, इति अनुशयसिद्धिः। विपक्षे च हेत्वभावाद् भोगस्य आक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्याख्यान करते हैं—"येन" इत्यादिसे। तत्—वहां अवरोहण करनेवाले जीवोंमें जो कोई यहां कर्मभूमिमें पुण्य कर्मवाले आते हैं वे रमणीययोनि प्राप्त करते हैं, यह जो (रमणीय योनि) प्राप्त करना है वह अवश्य ही प्राप्त होता है। कपूय—पाप। दृष्ट शब्दका दृष्ट—श्रुत, ऐसा अर्थ कहकर अन्य अर्थ कहते हैं—"दृष्टश्च" इत्यादिसे। 'पुण्यो वै०' (निश्चय, पुण्यकर्मसे सुखशाली और पाप कर्मसे पापः—दुःखी होता है) इत्यादि शास्त्रसे सुख और दुःखके धर्म और अधर्म हेतु हैं, ऐसा अवगत होता है। इसलिए जन्मसे लेकर देखा गया भोग कर्महेतुक—कर्म जिसका

भाष्य

मेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' इति सानुशयानामेवावरोहं दर्शयति। कः पुनरनुशयो नामेति—केचित्तावदाहुः—स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषः कश्चिदनुशयो नाम भाण्डानुसारिस्नेहवत्—यथाहि स्नेहभाण्डं रिच्यमानं न सर्वात्मना रिच्यते भाण्डानुसार्येव कश्चित्स्नेहशेषोऽवतिष्ठते तथाऽनुशयोऽ-

भाष्यका अनुवाद

कर्ममें स्थित हुए कर्मफलका अनुभव करके उससे शेषकर्म द्वारा—अनुशयसंज्ञक कर्म द्वारा विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, ज्ञान, आचार, वित्त, सुख और मेधावाले होकर जन्म प्राप्त करते हैं) यह स्मृति भी अनुशयसहित जीवोंका ही अवरोहण दिखलाती है। परन्तु वह अनुशय क्या है ? कितने तो 'भाण्डके अनुसारी स्नेह—तैलके समान स्वर्गके लिए किया गया कर्म जिसका

रत्नप्रभा

स्मिकत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। स्मृतौ आश्रमाः—आश्रमिणः, प्रेत्य—मृत्वा लोकान्तरे कर्मफलं भुक्त्वा ततः शेषेण—भुक्तादन्येन कर्मणा अनुशयाख्येन पुनः जन्म प्रतिपद्यन्ते इति सम्बन्धः। विशिष्टाः देशादयो मेधान्ताः दश गुणाः येषु ते तथोक्ताः। श्रुतं—ज्ञानम्। वृत्तम्—आचारः। स्वाभिमतानुशयं वक्तुं पृच्छति—**कः पुनरिति**। कृतस्य कर्मणः स्वर्गे भोगे सति भुक्तस्य कर्मणो लेशोऽनुशयः, तद्वानवरोहति, भाण्डे स्नेहलेशस्य दृष्टत्वात्। ततः शेषेणेति स्मृतेश्च इति एकदेशिव्याख्याम् आह—**केचिदित्यादिना**। रिच्यमानं—स्नेहेन वियुज्यमानम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

हेतु है, ऐसा है, भोग होनेसे, स्वर्गभोगके समान, इस प्रकार अनुशय सिद्ध होता है, और विपक्षमें कर्मके अभावमें भोग होनेपर हेतु—कर्म न होनेसे भोगके आकस्मिक होनेका प्रसंग आता है, ऐसा अर्थ है। स्मृतिमें आश्रमा—आश्रममें रहनेवाले। प्रेत्य—मरण पाकर, ततः शेषेण—भुक्तसे अन्य अनुशयसंज्ञक कर्म द्वारा वर्ण और आश्रमवाले मरण पाकर लोकान्तरमें कर्मफलका उपभोग कर भुक्तसे अन्य अनुशयनामक कर्म द्वारा पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं, ऐसा सम्बन्ध है। विशिष्ट देश आदि मेधान्त दश गुण जिनमें हैं, वे तथोक्त—'विशिष्ट देश ...... मेधसः' हैं। श्रुत—ज्ञान, वृत्त—आचार। स्वाभिमत अनुशयका अर्थ करनेके लिए पूछते है—"क पुन·" इत्यादिसे। किये गये कर्मका स्वर्गमें भोग होनेपर भुक्त कर्मका जो लेश वह अनुशय है और उस अनुशयसे युक्त जीव पृथिवीपर अवरोहण करता है, क्योंकि भाण्डमें स्नेहलेश देखनेमें आता है और 'ततःशेषेण' ऐसी स्मृति है, इस प्रकार एकदेशीकी व्याख्या कहते है—"केचित्" इत्यादिसे। रिच्यमान—तैलसे वियुज्यमान। परन्तु कर्म तो भोगसे

भाष्य

पीति। ननु कार्यविरोधित्वाददृष्टस्य न भुक्तफलस्यावशेषावस्थानं न्याय्यम्। नायं दोषः। नहि सर्वात्मना भुक्तफलत्वं कर्मणः प्रतिजानीमहे। ननु निरवशेषकर्मफलोपभोगाय चन्द्रमण्डलमारूढः ? बाढम्; तथापि स्वल्पकर्मावशेषमात्रेण तत्रावस्थातुं न लभ्यते। यथा किल कश्चित्सेवकः सकलैः सेवोपकरणै राजकुलमुपसृप्तश्चिरप्रवासात्परिक्षीणबहूपकरणश्छत्रपादुकादिमात्रावशेषो न राजकुलेऽवस्थातुं शक्नोति, एवमनुशयमात्रपरिग्रहो न चन्द्र-

भाष्यका अनुवाद

फलभोग किया गया है, उसका जो कुछ अवशेष रहता है, वह अनुशय है। जैसे तेलसे भरे हुए भाण्डको खाली करनेपर भी सर्वात्मना वह खाली नहीं होता, भाण्डका अनुसारी कुछ स्नेह अवश्य ही अवशिष्ट रह जाता है, वैसे अनुशय भी जीवके साथ रह जाता है'—इस प्रकार कहते हैं। परन्तु अदृष्टके कार्य-फल विरोधी होनेसे जिसका फलभोग किया गया है उस कर्मका अवशेष रहना, युक्त नहीं है, यह दोष नहीं है, क्योंकि कर्म सब तरहसे भुक्तफल हैं, ऐसी प्रतीज्ञा हम नहीं करते। परन्तु निरवशेष कर्मके फलोपभोगके लिए जीव चन्द्रमण्डलमें आरूढ हुआ है ? सत्य है, तो भी कर्मके केवल स्वल्प अवशेषसे वहां अवस्थिति प्राप्त नहीं कर सकता है। जिस प्रकार कोई एक सेवक

रत्नप्रभा

ननु भोगनाश्यत्वात् कर्मणो लेशो न युक्त इति शङ्कते—नन्विति। कृत्स्नकर्मणः भोगे जाते नाशः स्यात्, न तु भोगो जातः इति परिहारार्थः। भोगः न जायत इति अयुक्तम् इति शङ्कते—नन्विति। भोगः सावशेषो जात इति समाधत्ते—बाढमित्यादिना। इदम् एकदेशिव्याख्यानं दूषयति—न चेति। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिशास्त्रेण स्वर्गभोगार्थं कर्म चोदितम्, तच्छेषस्य मर्त्यभोगहेतुत्वे शास्त्रविरोध इत्यर्थः। किञ्च स्वर्गहेतुकर्मशेषात् अवरोहे कपूययो-

रत्नप्रभाका अनुवाद

नाश्य होनेके कारण उसका लेश युक्त नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। भोग हो जानेपर सब कर्मोंका नाश होगा, परन्तु भोग तो हुआ ही नहीं है, ऐसा परिहारका अर्थ है। भोग नहीं हुआ, यह अयुक्त है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। भोग सावशेष ही होता है, ऐसा समाधान करते हैं—"बाढम्" इत्यादिसे। इस एकदेशीके व्याख्यानको दूषित करते हैं—"न च" इत्यादिसे। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि शास्त्रसे स्वर्गभोगके लिए कर्मका विधान है, यदि उस कर्मका शेषभाग मर्त्यभोगका हेतु हो, तो शास्त्रविरोध होगा,

भाष्य

मण्डलेऽवस्थातुं शक्नोतीति। न चैतद्युक्तमिव, नहि स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषानुवृत्तिरुपपद्यते कार्यविरोधित्वादित्युक्तम्। नन्वेतदप्युक्तम्—न स्वर्गफलस्य कर्मणो निखिलस्य भुक्तफलत्वं भविष्यति—इति। तदेतद-पेशलम्—स्वर्गार्थं किल कर्म स्वर्गस्थस्यैव स्वर्गफलं निखिलं न जनयति स्वर्गच्युतस्यापि कंचित्फललेशं जनयतीति, न शब्दप्रमाणकानामीदृशी कल्पनाऽवकल्पते। स्नेहभाण्डे तु स्नेहलेशानुवृत्तिर्दृष्टत्वादुपपद्यते। तथा सेवकस्योपकरणलेशानुवृत्तिश्च दृश्यते, न त्विह तथा स्वर्गफलस्य कर्मणो लेशानुवृत्तिर्दृश्यते; नापि कल्पयितुं शक्यते, स्वर्गफलत्वशास्त्रविरोधात्। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्—न स्वर्गफलस्येष्टादेः कर्मणो भाण्डानुसारिस्नेह-वदेकदेशोऽनुवर्तमानोऽनुशय इति। यदि हि येन सुकृतेन कर्मणेष्टादिना

भाष्यका अनुवाद

सेवाके सब उपकरणोंके साथ राजकुलमें जाय, वहां उसके बहुतसे उपकरण चिरप्रवाससे परिक्षीण हो जांय और छत्र, पादुका आदि अवशेष रह जांय, तो वह राजकुलमे अवस्थान नहीं कर सकता, इसी प्रकार अनुशयमात्र जिसका परिग्रह है, ऐसा जीव चन्द्रमण्डलमें अवस्थान नहीं कर सकता। परन्तु यह युक्त ही नहीं है, क्योंकि स्वर्गके लिए किया हुआ कर्म जो भुक्तफल है, उसके अवशेषकी अनुवृत्ति कार्य-फलके विरोधी होनेसे उपपन्न नहीं होती, ऐसा कहा गया है। परन्तु यह भी कहा गया है कि—जिसका फल स्वर्ग है, ऐसा निखिल कर्म भुक्तफल नहीं होता, यह युक्त नहीं है, क्योंकि स्वर्गार्थ कर्म स्वर्गमें रहनेवालेको ही निखिल स्वर्गफल उत्पन्न नहीं करता, किन्तु स्वर्गसे गिरे हुए को भी कुछ एक फललेश उत्पन्न करता है। यह कल्पना जिनको शब्द प्रमाण है उनको नहीं घटती। स्नेह भाण्डमें तो स्नेहलेशकी अनुवृत्ति देखनेमें आनेसे उपपन्न होती है, उसी प्रकार सेवकके उपकरणलेशकी अनुवृत्ति भी देखनेमें आती है। परन्तु इस प्रकार यहां जिसका फल स्वर्ग है, ऐसे कर्मके लेशकी अनु-

रत्नप्रभा

न्यापत्तिश्श्रुतिविरोध इत्याह—अवश्यञ्चेति। स्वाभिमतम् अनुशयम् आह—तस्मा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है। और स्वर्गके लिए किये गये कर्मोंका जो शेष अनुशय है, उससे अवरोहण माननेपर कर्म्मशेषसे कपूययोनिकी प्राप्ति होती है। यह जो श्रुति कहती है, उसका विरोध होगा, ऐसा कहते हैं—'अवश्यं च' इत्यादिसे। स्वाभिमत अनुशय कहते हैं—'तस्मात्'

भाष्य

स्वर्गमन्वभूवंस्तस्यैव कश्चिदेकदेशोऽनुशयः कल्प्येत ततो रमणीय एवैकोऽनुशयः स्यान्न विपरीतः। तत्रेयमनुशयविभागश्रुतिरुपरुध्येत—'तद्य इह रमणीयचरणा, अथ य इह कपूयचरणाः' (छा० ५।१०।७) इति। तस्मादामुष्मिकफले कर्मजात उपभुक्तेऽवशिष्टमैहिकफलं कर्मान्तरजातमनुशयस्तद्वन्तोऽवरोहन्तीति। यदुक्तं—यत्किञ्चेत्यविशेषपरामर्शात्सर्वस्येह कृतस्य कर्मणः फलोपभोगेनान्तं प्राप्य निरनुशया अवरोहन्ति इति। नैतदेवम्। अनुशयसद्भावस्यावगमितत्वात्, यत्किंचिदिह कृतमामुष्मिकफलं कर्मारब्ध-

भाष्यका अनुवाद

वृत्ति नहीं दिखाई देती, तथा उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि जो शास्त्र स्वर्गरूप फल कहता है, उसका विरोध है। और अवश्य ही यह इसी प्रकार समझना चाहिए—इष्ट आदि कर्म जिसका फल स्वर्ग है, उसीका भाण्डानुसारी स्नेहके समान अनुवर्तमान जो एकदेश है, वह अनुशय नहीं है, क्योंकि इष्ट आदि सुकृत कर्म द्वारा जीवोंने स्वर्गका अनुभव किया है, उसका ही कोई एक देश अनुशय है, ऐसी यदि कल्पना की जाय, तब तो अकेला रमणीय ही अनुशय होगा, उससे विपरीत नहीं होगा। तब इस अनुशयका विभाग दिखलानेवाली श्रुतिका बाध होगा—'तद्य इह रमणीयचरणा०' (उनमें जो यहां पुण्य कर्म करनेवाले हैं और जो यहां पाप करनेवाले हैं) इस प्रकारकी। इसलिए परलोकमें फल देनेवाले सब कर्मोंके उपभुक्त हो जानेपर बचे हुए इस लोकमें फल देनेवाले दूसरे जो कर्म हैं वे अनुशय हैं और उनके साथ ही (जीव) अवरोहण करते हैं। 'यत् किंच' (जो कुछ) इस प्रकार अविशेषके परामर्शसे यहां किये गये सब कर्मोंके फलोप-

---

रत्नप्रभा

दिति। पूर्वपक्षबीजम् अनूद्य दूषयति—यदित्यादिना। क्षपयित्वा पुनरागच्छतीति प्राप्यान्तमिति वाक्येन गम्यत इति योजना। जन्मारभ्य दृष्टभोगलिङ्गानुगृहीतया रमणीयकपूयचरणश्रुत्या ऐहिकानुशयाख्यकर्मविशेषपरया विरोधाद् यत्किञ्चेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। पूर्वपक्ष बीजका अनुवाद कर उसे दूषित करते हैं—"यत्" इत्यादिसे। क्षपयित्वा—क्षय कर फिर लौट आते हैं, यह 'प्राप्यान्तं' इस वाक्यसे समझा जाता है, ऐसी योजना है।

भाष्य

भोगं तत्सर्वं फलोपभोगेन क्षपयित्वेति गम्यते। यदप्युक्तं—प्रायणमविशेषादनारब्धफलं कृत्स्नमेव कर्माभिव्यनक्ति, तत्र केनचित्कर्मणाऽमुष्मिल्लोके फलमारभ्यते केनचिदस्मिन्नित्ययं विभागो न सम्भवति इति। तदप्यनुशयसद्भावप्रतिपादनेनैव प्रत्युक्तम्। अपि च केन हेतुना प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकं प्रतिज्ञायते इति वक्तव्यम्। आरब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तेस्तदुपशमात् प्रायणकाले

भाष्यका अनुवाद

भोगसे अन्त प्राप्त करके अनुशयरहित ही जीव अवरोहण करते हैं, ऐसा जो कहा गया है, वह ऐसा नहीं है, क्योंकि अनुशयका सद्भाव अवगमित है। जो कुछ यहां आमुष्मिक फलवाला कर्म किया गया है वह सब जिसका भोग आरब्ध है, उसका फलके उपभोगसे क्षय करके—ऐसा अर्थ समझा जाता है। और मरण अविशेषसे अनारब्ध फलवाले सब कर्मोंकी अभिव्यक्ति करता है, इसलिए किसी एक कर्मसे परलोकमें फल उत्पन्न होता है और किसी एकसे इस लोक में, यह विभाग नहीं हो सकता, ऐसा जो कहा गया है, उसका भी अनुशयके सद्भावको प्रतिपादन करनेसे ही निराकरण किया गया है। इसी प्रकार

रत्नप्रभा

यावत्सम्पातमिति च सामान्यशब्दयोः आमुष्मिकविषयत्वेन सङ्कोचः न्याय्य इति भावः। मरणं कृत्स्नकर्माभिव्यञ्जकम् इति अयुक्तम्, उक्तानुशयश्रुतिविरोधादित्याह—तदपीति। बलवदनारब्धकर्मप्रतिबन्धात् च न कृत्स्नकर्माभिव्यक्तिः इत्याह—अपि चेत्यादिना। तस्य कृत्स्नकर्मव्यञ्जकत्वे हेतुर्नास्तीति भावः। प्रश्नं मत्वोत्तरं शङ्कते—आरब्धेति। आरब्धवत् अनारब्धस्यापि बलवतः प्रतिबन्ध-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जन्मके आरम्भसे ही भोग देखनेमें आता है, इस लिंगसे अनुगृहीत और ऐहिक अनुशयसंज्ञक कर्मविशेषका प्रतिपादन करनेवाली 'रमणीयकपूयचरण' श्रुतिके साथ विरोध होनेसे 'यत्किंच' और 'यावत्संपातम्' इन सामान्य शब्दों आमुष्मिक कर्मविषयक हैं, ऐसा संकोच करना युक्त है, ऐसा भाव है। मरण सब कर्मोंका अभिव्यञ्जक है, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि उक्त 'रमणीयचरण' इत्यादि अनुशयश्रुतिका विरोध है, ऐसा कहते हैं—"तदपि" इत्यादिसे। मरण सब कर्मोंका अभिव्यञ्जक नहीं है, क्योंकि बलवत् अनारब्धकर्म प्रतिबन्धक हैं, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। मरण सब कर्मोंका अभिव्यंजक है, इसमें कोई कारण नहीं है, ऐसा भाव

भाष्य

वृत्त्युद्भवो भवतीति यद्युच्येत । तत्र वक्तव्यम् । यथैव तर्हि प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तिरित्येवं प्रायणकालेपि विरुद्धफलस्यानेकस्य कर्मणो युगपत्फलारम्भासम्भवाद्बलवता प्रतिबद्धस्य दुर्बलस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तिरिति । न ह्यनारब्धफलत्वसामान्येन जात्यन्तरोपभोग्यफलमप्यनेकं कर्मैकस्मिन् प्रायणे युगपदभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभत इति शक्यं वक्तुं, प्रतिनियतफलत्वविरोधात्, नापि कस्यचित्कर्मणः प्रायणेऽभिव्यक्तिः कस्यचिदुच्छेद इति शक्यते वक्तुम् । ऐकान्तिकफलत्वविरोधात् ।

भाष्यका अनुवाद

जिसका फल आरब्ध नहीं हुआ है ऐसे सब कर्मका मरण अभिव्यञ्जक है, ऐसी प्रतिज्ञा किस हेतुसे की गई है, यह कहना चाहिए। जिसका फल आरब्ध हो गया है ऐसे कर्मसे प्रतिबद्ध अन्य फलके व्यापारका उद्भव अनुपपन्न है, अतः उस प्रतिबन्धके शान्त होनेसे मरणकालमें व्यापारका उद्भव होगा, ऐसा यदि कहे, तो उस पर कहना चाहिए—जैसे जिसका फल आरब्ध हुआ है, ऐसे कर्मसे प्रतिबद्ध दूसरे कर्मके व्यापारकी मरणके पूर्व अनुपपत्ति है, वैसे ही मरणकालमें भी विरुद्ध फलवाले अनेक कर्म एक ही समयमें फलको उत्पन्न करें यह असंभव है, अतः बलवत् कर्मसे प्रतिबद्ध दुर्बल कर्मके व्यापारका उद्भव अनुपपन्न है, जिनके फल अन्य जातिमें

रत्नप्रभा

कत्वात् न सर्वकर्मणः फलदानाय अभिव्यक्तिः इति समाधत्ते—यथेति । अनारब्धफलत्वाविशेषात् सर्वकर्मणाम् अभिव्यक्तिम् आशङ्क्य मिथोविरुद्धस्वर्गनरकादिदेहफलानामेकदेहारम्भकत्वासम्भवः उक्तः, तं विवृणोति—न हीति । अस्तु तर्हि दुर्बलस्य कर्मणो नाश इत्यत आह—नापीति । 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इति एकान्तः उत्सर्गः, स च प्रायश्चित्तब्रह्मज्ञानध्यानैर्बाध्यते, न मरणमात्रणेत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। पूर्ववादी प्रश्न मानकर उत्तरकी आशंका करता है—'अनारब्ध कर्मके समान यदि आरब्ध भी बलवत् हो, तो दुर्बलका प्रतिबन्ध होनेसे सब कर्म फलदानके लिए अभिव्यक्त नहीं होंगे, ऐसा समाधान करते हैं—"यथा" इत्यादिसे। अनारब्धफलत्वके विशेष न होनेसे सब कर्मोंकी अभिव्यक्तिकी आशंका करके परस्पर-विरुद्ध स्वर्ग, नरक आदि देहके फल एक देहके आरम्भक नहीं हो सकते, ऐसा कहा गया है, उसका विवरण करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। ठीक है, तब तो दुर्बल कर्मका नाश हो सकता है, इसपर कहते हैं—"नापि" इत्यादिसे। अभुक्त कर्मका क्षय नहीं होता, यह एकान्त अर्थात् उत्सर्ग है, उस एकान्तका प्रायश्चित, ब्रह्मज्ञान और ध्यानसे बाध होता

भाष्य

नहि प्रायश्चित्तादिभिर्हेतुभिर्विना कर्मणामुच्छेदः संभाव्यते। स्मृतिरपि विरुद्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्य कर्मान्तरस्य चिरमवस्थानं दर्शयति—

कदाचित्सुकृतं कर्म कूटस्थमिह तिष्ठति।
मज्जमानस्य संसारे यावद्दुःखाद्विमुच्यते ॥

इत्येवंजातीयका। यदि च कृत्स्नमनारब्धफलं कर्मैकस्मिन्प्रायणेऽभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभेत, ततः स्वर्गनरकतिर्यग्योनिष्वधिकारानवग-

भाष्यका अनुवाद

उपभोग्य हैं, ऐसे अनेक भी कर्म एक मरणमें एक ही समय अभिव्यक्त होकर अनारब्धफलत्वरूप सामान्य धर्मसे एक जाति आरंभ करते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतिनियतफलत्वका विरोध है। और किसी एक कर्मकी मरणकालमें अभिव्यक्ति हो और किसीका उच्छेद हो, ऐसा कहना शक्य नहीं है, क्योंकि कर्मका ऐकान्तिक फल होता है, उसका विरोध होगा। निश्चय, प्रायश्चित आदि हेतुओंके बिना कर्मोंका उच्छेद नहीं हो सकता। विरुद्ध फलवाले कर्मसे प्रतिबद्ध अन्य कर्मकी चिरस्थिति स्मृति भी दिखलाती है—'कदाचित् सुकृतं कर्म०' (किसी समय संसारमें मग्न हुए पुरुषका सुकृत कर्म यहां कूटस्थ रहता है, जहां तक वह दुःखसे विमुक्त होता है वहां तक) इस प्रकार। यदि अनारब्ध फलवाले सब कर्म एक मरणसमयमें अभिव्यक्त

रत्नप्रभा

मरणेन दुर्बलकर्माविनाशे मानम् आह—स्मृतिरिति। कर्मनाशपक्षं निरस्य प्रकृतकृत्स्नकर्माभिव्यक्तिपक्षे दोषान्तरम् आह—यदि चेति। कृत्स्नकर्मणाम् एकस्मिन् देवादिजन्मनि भोगेन क्षयात् न जन्मान्तरं स्यात्, ज्ञानाभावात् न मुक्तिः इति अज्ञदेवस्य कष्टान्तरालदशा स्यात् इति अर्थः।

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम्।
चण्डालपुल्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, मरणमात्रसे कर्मका नाश नहीं होता, ऐसा अर्थ है। मरणसे दुर्बल कर्मका नाश नहीं होता, इसमें प्रमाण कहते हैं—"स्मृति." इत्यादिसे। कर्मका नाश होता है, इस पक्षका निरसन करके प्रकृत सब कर्मोंकी अभिव्यक्ति-पक्षमें अन्य दोष कहते हैं—"यदि च" इत्यादिसे। सब कर्मका एक देवादि जन्ममें भोगद्वारा क्षय होनेके कारण दूसरा जन्म और ज्ञानके अभावसे मुक्ति भी नहीं होगी। इस प्रकार अज्ञ देवकी कष्टसे भरी हुई] दशा होगी, ऐसा तात्पर्य है।

भाष्य

माद्धर्माधर्मानुत्पत्तौ निमित्ताभावान्नोत्तरा जातिरुपपद्येत। ब्रह्महत्यादीनां चैकैकस्य कर्मणोऽनेकजन्मनिमित्तत्वं स्मर्यमाणमुपरुध्येत। नच धर्माधर्मयोः स्वरूपफलसाधनादिसमधिगमे शास्त्रादतिरिक्तं कारणं शक्यं सम्भावयितुम्। नच दृष्टफलस्य कर्मणः कारीर्यादेः प्रायणमभिव्यञ्जकं सम्भवतीति, अव्यापिकाऽपीयं प्रायणस्याभिव्यञ्जकत्वकल्पना। प्रदीपोपन्यासोऽपि कर्मबलाबलप्रदर्शनेनैव प्रतिनीतः। स्थूलसूक्ष्मरूपाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिवच्चेदं द्रष्टव्यम्। यथाहि प्रदीपः समानेऽपि संनिधाने स्थूलं रूपमभिव्यनक्ति न सूक्ष्मम्, एवं

भाष्यका अनुवाद

होकर एक जाति उत्पन्न करें, तो स्वर्ग, नरक और पशु योनियोंमें अधिकार की अप्राप्तिसे धर्म और अधर्मकी अनुपपत्ति होनेपर उत्तर जन्म उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि निमित्तका अभाव है। और ब्रह्महत्या आदि एक एक कर्म अनेक जन्मोंका निमित्त है, यह जो स्मृति कहती है, उसका बाध होगा और धर्म और अधर्मके स्वरूप, फल, साधन आदिके ज्ञानके लिए शास्त्रसे अन्य कारणकी संभावना नहीं कर सकते। और मरण, कारीर्यादि कर्म जिनका फल इस जन्ममें देखनेमें आता है, उनका अभिव्यञ्जक नहीं हो सकता, इसलिए मरण अभिव्यञ्जक है, यह कल्पना व्यापक नहीं है। प्रदीपके उपन्यासका भी कर्मके बलाबलके प्रदर्शनसे ही निराकरण किया गया है

रत्नप्रभा

इत्यादिस्मृतिविरोधाच्च न सर्वकर्मणाम् एकजन्मारम्भकत्वम् इत्याह—ब्रह्मेति। ननु एकस्य कर्मणः कथमनेकजन्मफलकत्वम्, अदृष्टत्वात्, इत्यत आह—न चेति। किञ्च व्यञ्जकत्वेपि मरणस्य किं सर्वकर्मव्यञ्जकत्वं कल्प्यते उत यत्किंचित्कर्मव्यञ्जकत्वम्? नाद्यः इह कृतकारीर्यादेः अत्रैव फलहेतोर्मरणव्यज्यत्वासंभवात् इत्याह—नचेति। द्वितीयं निरस्यन् परोक्तं दृष्टान्तम् विघटयति—प्रदीपेति। रूपाणां प्रदीपवत् मरणं न कस्यचिद् अपि कर्मणो व्यञ्जकम्, किन्तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

और 'श्वसूकरखरोष्ट्राणां०' (ब्रह्महत्या करनेवाला, कुत्ता, सूअर, गदहा, ऊँट, बैल, बकरी, भेड़, मृग, पक्षी, चण्डाल और पुक्कसकी योनिको प्राप्त करता है) इत्यादि स्मृतिसे विरोध होनेके कारण सब कर्म एक जन्म उत्पन्न नहीं करते, ऐसा कहते हैं—"ब्रह्म" इत्यादिसे। परन्तु एक कर्म अनेक जन्मरूप फलका उत्पादक किस प्रकार होता है, क्योंकि देखनेमें नहीं आता, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। और मरण कर्मका व्यञ्जक होनेपर भी क्या वह सब कर्मोंका

भाष्य

प्रायणं समानेऽप्यनारब्धफलस्य कर्मजातस्य प्राप्तावसरत्वे बलवतः कर्मणो वृत्तिमुद्भावयति न दुर्बलस्येति। तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायविरोधादश्लिष्टोऽयमशेषकर्माभिव्यक्त्यभ्युपगमः। शेषकर्मसद्भावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्ययमप्यस्थाने संभ्रमः, सम्यग्दर्शनादशेषकर्मक्षयश्रुतेः। तस्मात्स्थितमेतदेवानुशयवन्तोऽ-

भाष्यका अनुवाद

और स्थूल और सूक्ष्म रूपकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिके समान इसे जानना चाहिए। क्योंकि जैसे सन्निधिके समान होनेपर भी प्रदीप स्थूलरूप अभिव्यक्त करता है, सूक्ष्म नहीं, वैसे जिस कर्मवृन्दका फल अनारब्ध है, ऐसे कर्मवृन्दका प्राप्त हुआ अवसर समान है, तो भी मरण बलवत् कर्मका व्यापार उत्पन्न करता है, दुर्बलका नहीं करता। इसलिए श्रुति, स्मृति और न्यायके विरोधसे अशेष कर्मकी अभिव्यक्तिका यह स्वीकार युक्त नहीं है। शेष कर्मके सद्भावसे अनिर्मोक्षका प्रसंग होगा, यह भी संभ्रम स्थानमें नहीं है,

---

रत्नप्रभा

प्रबलकर्मप्रतिबन्धाभावे दुर्बलं व्यज्यत इत्यर्थः। एवं मरणस्य व्यञ्जकत्वानङ्गीकारेण प्रदीपदृष्टान्तो निरस्तः, अङ्गीकारे अपि अनुकूलो दृष्टान्त इत्याह—स्थूलेति। सूक्ष्मम् अनुद्भूतरूपमिति, मरणे सर्वकर्माभिव्यक्त्यसिद्धिरिति शेषः। एवं सर्वकर्मसंघः एकजन्मारम्भकः इत्यैकभविकः कर्माशय इति मतनिराससमुपसंहरति—तस्मादिति। चरणश्रुत्या ततः शेषेणेत्यादिस्मृत्या 'प्रबलप्रतिबन्धात्' इति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभिव्यञ्जक है, ऐसी कल्पना करते हो अथवा यत्किंचित् कर्मका अभिव्यञ्जक है, ऐसी? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि कारीर्यादि इष्टि जो मेघके लिए की जाती है, उसका फल यहीं होता है, इसलिए मरण उसका व्यञ्जक है, ऐसा संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। द्वितीयका निरसन करते हुए परोक्त दृष्टान्तका निराकरण करते हैं—"प्रदीप" इत्यादिसे। जैसा दीप रूपोंका व्यञ्जक है, वैसा मरण किसी भी कर्मका व्यञ्जक नहीं है, किंतु प्रबल कर्मके प्रतिबन्धके अभावमें दुर्बल कर्म व्यक्त होता है, ऐसा अर्थ है। इस प्रकार मरणके व्यञ्जकत्वका न स्वीकार करनेसे प्रदीपका दृष्टान्त निरस्त है, और मरणके व्यंजकत्वका स्वीकार करनेपर भी प्रदीपका दृष्टान्त अनुकूल है, ऐसा कहते हैं—"स्थूल" इत्यादिसे। सूक्ष्म—अनुद्भूत रूपवाला, इस प्रकार मरणमें सब कर्मोंकी अभिव्यक्ति असिद्ध है, इतना शेष है। इस प्रकार सब कर्म एक जन्मके उत्पादक हैं, इससे कर्माशय 'ऐकभविक है' इस मतके निरासका उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। चरणश्रुतिसे 'ततः शेषेण'

भाष्य

वरोहन्तीति । ते चावरोहन्तो यथेतमनेवं चावरोहन्ति । यथेतमिति यथागत-मित्यर्थः । अनेवमिति तद्विपर्ययेणेत्यर्थः । धूमाकाशयोः पितृयाणेऽध्वन्यु-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि सम्यग् दर्शनसे अशेष कर्मका क्षय होता है, इसप्रकार श्रुति कहती है, इसलिए अनुशयसहित जीव अवरोहण करते हैं, ऐसा सिद्ध है। और वे अवरोहण करनेवाले जिस मार्गसे गये थे उस मार्गसे और अन्य मार्गसे भी अवरोहण करते हैं। 'यथेतम्' अर्थात् जैसे गये थे, वैसे ही, ऐसा अर्थ है। 'अनेवम्' अर्थात्

रत्नप्रभा

न्यायेन च अनभिव्यक्तकर्मसद्भावाद् इत्यर्थः । ननु मुक्त्यनुपपत्त्याऽङ्गीकार्यः ऐकभविकः ? इत्यत आह—शेषेति । सूत्रशेषं व्याचष्टे—ते चेत्यादिना । अवरोहमार्गः इत्थं श्रूयते—'तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते, यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं, वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमोभूत्वाऽभ्रं भवति अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति, त इह व्रीहियवा, ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते, अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं योयो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति तद्य इह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते' इति । धूमाद्यध्वना यथेतं—यथागतं तथैतमध्वानं पुनरायान्तीत्युक्त्वा धूमादिरूपपितृमार्गस्थरात्र्यादिकं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादि स्मृतिसे और 'प्रबलप्रतिबन्धात्' इस न्यायसे अनभिव्यक्त कर्मका सद्भाव है, अतः ऐसा अर्थ है। परन्तु मुक्तिकी अनुपपत्तिसे ऐकभविक सब कर्मोंका स्वीकार करना चाहिए, इसपर कहते हैं—"शेष" इत्यादिसे। सूत्रशेषका व्याख्यान करते हैं—"ते च" इत्यादिसे। अवरोह मार्ग इस प्रकार सुना जाता है—'तस्मिन् यावत्०' (वह चन्द्रमण्डलमें जबतक कर्मका क्षय नहीं होता तबतक रहकर फिर इसी मार्गसे पीछे लौटता है—प्रथम आकाशमें, आकाशसे वायुमें, वायु होकर धूम होता है, धूम होकर अभ्र होता है, अभ्र होकर मेघ होता है, और मेघ होकर जलरूपसे पृथिवीपर गिरता है, वे यहां, व्रीहि यव, ओषधि, वनस्पति, तिल और माष आदि होते हैं, उससे अनुशयीका निस्सरण दुष्कर है, जो जो अन्न खाता है और जो रेतका सिंचन करता है, वह तदाकृति होता है और वे यहां पर जो रमणीय आचरणवाले होते हैं वे रमणीय योनि पाते हैं)। धूमादिमार्गसे जैसे गया था वैसे ही फिर लौटता है, यह कहकर धूमादिरूप पितृमार्गमें स्थित रात्रि आदि नहीं कहे गये हैं, और अभ्र आदि अधिक कहे गये हैं, ऐसा

भाष्य

पात्तयोरवरोहे संकीर्तनाद्यथेतंशब्दाच्च यथागतमिति प्रतीयते। रात्र्याद्य-संकीर्तनादभ्राद्युपसंख्यानाच्च विपर्ययोऽपि प्रतीयते ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

उससे विपरीत प्रकारसे, ऐसा अर्थ है। धूम और आकाश जो पितृमार्गमें कहे गये हैं, उनका अवरोहणमें संकीर्तन होनेसे और 'यथेतम्' इस शब्दसे 'जैसे गया वैसे' ऐसी प्रतीति होती है। रात्रि आदिका संकीर्तन नहीं है और अभ्र आदिका उपसंख्यान है, इससे विपरीतकी भी प्रतीति होती है ॥ ८ ॥

रत्नप्रभा

नोक्तम् अधिकं चाऽभ्रादिकमुक्तम् इति मत्वा सूत्रकृतोक्तं—यथेतमनेवञ्चेति। अवशिष्टश्रुत्यर्थोऽग्रे स्फुटीभविष्यति ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विचारकर सूत्रकारने—'यथेतमनेवं च' (जैसे गया था वैसे ही नही) ऐसा कहा है। अवशिष्ट श्रुतिका अर्थ आगे स्पष्ट हो जायगा ॥८॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ९ ॥

पदच्छेद—चरणात्, इति, चेत्, न, उपलक्षणार्था, इति, कार्ष्णाजिनिः।

पदार्थोक्ति—[ननु] चरणात्—चारित्र्यात् [एव 'रमणीयचरणा' इत्यादि श्रुतिः योन्यापत्तिं दर्शयति, न अनुशयात्, चरणानुशयौ च परस्परं भिन्नौ] इति चेन्न, [यतः] कार्ष्णाजिनिः—तन्नामकः कश्चनाचार्यः [इयं चरणश्रुतिः] उपलक्षणार्था—स्वप्रतिपादकत्वविशिष्टस्वेतरप्रतिपादिका इति [मन्यते]।

भाषार्थ—'रमणीयचरणा' इत्यादि श्रुति चरण—चारित्र्यसे ही योन्यापत्तिको कहती है, अनुशयसे नहीं, अनुशय और चरण परस्पर विलक्षण हैं, यदि ऐसी शङ्का करो, तो युक्त नहीं है, क्योंकि कार्ष्णाजिनि नामके आचार्य चरणश्रुतिको उपलक्षणार्थ मानते हैं अर्थात् चरणशब्दसे अनुशय भी लिया जाता है।

भाष्य

अथापि स्यात्—या श्रुतिरनुशयसद्भावप्रतिपादनायोदाहृता—'तद्य इह रमणीयचरणाः' (छा० ५।१०।७) इति–सा खलु चरणाद्योन्यापत्तिं दर्शयति, नानुशयात्। अन्यच्चरणमन्योऽनुशयः, चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यनर्थान्तरम्। अनुशयस्तु भुक्तफलात्कर्मणोऽतिरिक्तं कर्माभिप्रेतम्। श्रुतिश्च कर्मचरणे भेदेन व्यपदिशति—'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' (बृ० ४।४।५) इति, 'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यस्माक ँ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि' (तै०१।११।२)

भाष्यका अनुवाद

हो सकता है—'तद्य इह रमणीयचरणाः०' (उनमें जो यहां पुण्य कर्मवाले हैं) यह जो श्रुति अनुशयके सद्भावके प्रतिपादनके लिए कही गई है, वह चरणसे योनिकी आपत्ति—प्राप्ति दिखलाती है, अनुशयसे नहीं। चरण भिन्न है और अनुशय भिन्न है। चरण, चारित्र, आचार और शील ये पर्यायशब्द हैं। अनुशय तो जिस कर्मका फलभोग किया गया है, ऐसे कर्मसे अतिरिक्त कर्म है, यह अभिप्राय है। और श्रुति भेदसे कर्म और चरणको कहती है—'यथाकारी यथाचारी०' (जैसा कर्म और जैसा आचरण करता है, वैसा ही वह होता है) इस प्रकार। और 'यान्यनवद्यानि० कर्माणि०' (जो अनिन्दित कर्म हैं, वे तुम्हें करने चाहिए अन्य नहीं, जो हम आचार्योंके सुचरित हैं वे ही तुम्हें करने चाहिएँ) इसप्रकार। इसलिए चरणसे योनिकी आपत्ति

रत्नप्रभा

सम्प्रति श्रुतिस्थचरणशब्दम् आक्षेपपूर्वकं सूत्रकृद् व्याचष्टे—चरणादिति चेदिति।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधाः॥

इति स्मृतावुक्ताः अद्रोहादयः। शास्त्रार्थज्ञानरूपं शीलं सर्वकर्माङ्गमुक्तम्। तद्बोधकं चरणपदम् अङ्गिनः श्रौतादिकर्मणो लक्षकम्। 'कर्मण एवोत्तरावस्था

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब श्रुतिस्थ चरणशब्दका सूत्रकार आक्षेपपूर्वक व्याख्यान करते हैं—"चरणादिति चेन्न" इत्यादिसे। 'अद्रोह. सर्वभूतेषु०' (सब भूतोंमें कर्म, मन और वाणीसे अद्रोह–द्रोह न रखना अनुग्रह और ज्ञानको पण्डित लोग शील जानते हैं) इस प्रकार स्मृतिमें भी अद्रोह आदि कहा गया

भाष्य

इति च । तस्माच्चरणाद्योन्यापत्तिश्रुतेर्नानुशयसिद्धिरिति चेत्; नैष दोषः; यतोऽनुशयोपलक्षणार्थैवैषा चरणश्रुतिरिति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते ॥९॥

भाष्यका अनुवाद

कहनेवाली श्रुतिसे अनुशय सिद्ध नहीं होता, यदि ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि यह चरणश्रुति अनुशयके उपलक्षणके लिए ही है, ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्य मानते हैं ॥ ९ ॥

रत्नप्रभा

धर्माधर्माख्याऽपूर्वम्' इति कर्मलक्षणयैव तदभिन्नाऽपूर्वाख्यानुशयसिद्धिः इति कार्ष्णाजिनिमतम् ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है । शास्त्रार्थज्ञानरूप शील सब कर्मोंका अंग कहा गया है । उसका बोधक चरणपद अंगी जो श्रौतादि कर्म है, उसका लक्षक है । कर्मकी ही उत्तर अवस्था—धर्म और अधर्मरूप अपूर्व है, इस प्रकार कर्ममें लक्षणासे ही तदभिन्न अपूर्वनामक अनुशयकी सिद्धि है, ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्यका मत है ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥१०॥

पदच्छेद—आनर्थक्यम्, इति, चेत्, न, तदपेक्षत्वात् ।

पदार्थोक्ति—[ननु चरणश्रुतेर्मुख्यार्थपरित्यागेनानुशयार्थकत्वे] आनर्थक्यमिति चेन्न, तदपेक्षत्वात्—इष्टादिकर्मणामाचारनिर्वर्त्यत्वेन चरणापेक्षत्वात् [चरणश्रुतेः सार्थकत्वम् इत्यर्थः]

भाषार्थ—यदि चरणश्रुति अपने मुख्य अर्थको छोड़कर अनुशयरूप अर्थका बोधन करावे, तो उसमें—चरणश्रुतिमें आनर्थक्य प्रसक्त होगा, परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि इष्ट आदि कर्मोंकी सत्ता आचारके अधीन होनेसे चरणापेक्ष है, अतः नैरर्थक्य नहीं है ।

भाष्य

स्यादेतत्—कस्मात्पुनश्चरणशब्देन श्रौतं शीलं विहाय लाक्षणिकः अनुशयः प्रत्याय्यते ? ननु शीलस्यैव श्रौतस्य विहितप्रतिषिद्धस्य साध्वसाधुरूपस्य शुभाशुभयोन्यापत्तिः फलं भविष्यति, अवश्यं च शीलस्यापि किंचित्फलमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा ह्यानर्थक्यमेव शीलस्य प्रसज्येत—इति चेत्, नैष दोषः; कुतः ? तदपेक्षत्वात्। इष्टादि हि कर्मजातं चरणापेक्षम्। नहि सदाचारहीनः कश्चिदधिकृतः स्यात्, 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इत्यादिस्मृतिभ्यः। पुरुषार्थत्वेऽप्याचारस्य नानर्थक्यम्। इष्टादौ हि कर्मजाते

भाष्यका अनुवाद

परन्तु चरणशब्दसे श्रुतिमें कहे गये शीलका त्याग करके लाक्षणिक अनुशयकी प्रतीति किस प्रकार की जाती है ? श्रुतिमें कहा गया विहित या प्रतिषिद्ध, साधु या असाधुरूप शीलका ही शुभ अथवा अशुभ जन्मप्राप्तिरूप फल होगा और शीलका भी कुछ फल अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, नहीं तो शीलमें आनर्थक्य ही प्रसक्त होगा। यदि ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है। किससे ? उस चरणकी अपेक्षा होनेसे। क्योंकि इष्ट आदि कर्मसमूह चरणकी अपेक्षा रखते हैं। निश्चय, सदाचारसे हीन पुरुष यज्ञमें अधिकृत नहीं होता, क्योंकि 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः, (आचारहीनको वेद पवित्र नहीं करते) इत्यादि स्मृतियां हैं। पुरुषार्थ—पुरुषसंस्कारक होनेपर भी आचारमें

रत्नप्रभा

तदेव शङ्कासमाधानाभ्याम् आह—आनर्थक्यमिति चेदित्यादिना सूत्रेण। चरणशब्दवाच्यस्यैव ग्रहणसम्भवात् न लक्षणा युक्ता इति शङ्किता एव ब्रूते—नन्विति। प्रतिषिद्धं शीलं क्रोधानृतादिरूपम्। किञ्च शीलस्य विफलत्वायोगात् श्रुतयोन्यापत्तिः तस्यैव फलं, नानुशयस्य इत्याह—अवश्यं चेति। 'वेदास्तदर्थकर्माण्याचारं विना न फलन्ति' इति स्मृत्या शीलस्य कर्माङ्गत्वात् न पृथक्फलापेक्षा, अङ्गिफलेन अर्थवत्त्वात्। न च अङ्गमात्रात् योन्यापत्तिः फलम् इति वाच्यम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसे ही शंका और समाधानसे कहते हैं—"आनर्थक्यमिति चेन्न" इत्यादिसे। चरणशब्दके वाच्यार्थका ही ग्रहणसम्भव होनेसे लक्षणा युक्त नहीं है, ऐसी शंका करनेवाला ही कहता है—"ननु" इत्यादिसे। प्रतिषिद्ध शील, क्रोध, अनृतादिरूप है। और शीलमें निष्फलत्वके अयोगसे श्रुतिमें कहा गया जन्मप्रसंग उसका ही फल है, अनुशयका नहीं, ऐसा कहते हैं—"अवश्यं च' इत्यादिसे। वेद अर्थात् वेदार्थ कर्म आचारके विना फल नहीं देते, ऐसी स्मृति होनेसे शील

भाष्य

फलमारभमाणे तदपेक्ष एवाचारस्तत्रैव कंचिदतिशयमारप्स्यते। कर्म च सर्वार्थकारि—इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः' तस्मात्कर्मैव शीलोपलक्षितमनुशयभूतं योन्यापत्तौ कारणमिति कार्ष्णाजिनेर्मतम्। नहि कर्मणि सम्भवति शीलाद्योन्यापत्तिर्युक्ता। नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हतीति ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

आनर्थक्य नहीं है, क्योंकि इष्ट आदि कर्मसमूह जब फल उत्पन्न करने लगेंगे। तब उनकी अपेक्षा रखनेवाला आचार उनमें ही कुछ अतिशय उत्पन्न करेगा। और कर्म सर्वार्थकारी है, ऐसी श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्धि है। इसलिए कर्म ही शीलसे उपलक्षित अनुशयरूप होकर जन्मप्रसंगमें कारण है, ऐसा कार्ष्णाजिनिका मत है। यह निश्चित है कि जब कर्मका संभव है तब शीलसे जन्मप्रसंग युक्त नहीं है, क्योंकि पैरसे पलायन करनेमें समर्थ कोई भी घुटनोंसे पलायन नहीं करता ॥ १० ॥

रत्नप्रभा

अङ्गस्य फलासम्भवेन मुख्यार्थस्याऽऽचारस्य ग्रहणायोगात् लक्षणा युक्ता इति समाधानार्थः। यदि आचारस्य स्नानादिवत् पुरुषसंस्कारतया पुरुषार्थत्वं तदापि अविरोध इत्याह—पुरुषार्थत्वेऽपीति। अङ्गावबद्धोपास्तिवदाचारोऽर्थवानित्यर्थः। अस्तु तर्हि शीलाख्याचारादेव योन्यापत्तिरित्याशङ्क्य 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा' इत्यादिश्रुत्या विरोधात् न एवम् इति आह—कर्म चेति। पारयमाणः—शक्तः ॥ १० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मका अंग है, इसलिए उसको अलग फलकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि अंगी जो कर्म है उसके फलसे अङ्ग जो शील है वह अर्थवत्–फलवाला होता है। और अङ्गमात्रसे योनिकी आपत्तिरूप—जन्मप्रसङ्गरूप फल होता है, ऐसा कहना युक्त नही है, क्योंकि अङ्गमें फलका सम्भव नहीं है, इससे मुख्य अर्थमें आचारका ग्रहण करना युक्त नही है, अत॰ लक्षणा युक्त है, ऐसा समाधानका अर्थ है। यदि आचारमें स्नानादिके समान पुरुषसंस्कार द्वारा पुरुषार्थत्व माना जाय, तो भी कोई विरोध नही है, ऐसा कहते हैं—"पुरुषार्थत्वेऽपि" इत्यादिसे। अङ्गके साथ जुटी हुई उपासनाके समान आचार भी फलवान् है, ऐसा अर्थ है। तब शीलनामक आचारसे ही जन्मप्रसंग हो, ऐसी आशंका करके 'पुण्यो वै पुण्येन०' इत्यादि श्रुतिका विरोध होनेसे, ऐसा नहीं हो सकता, इस प्रकार कहते हैं—"कर्म च" इत्यादिसे। पारयमाण—शक्त अर्थात् समर्थ ॥१०॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥११॥

पदच्छेद—सुकृतदुष्कृते, एव, इति, तु, बादरिः।

पदार्थोक्ति—बादरिः—तन्नामकः आचार्यवर्य्यस्तु [चरणशब्देन] सुकृतदुष्कृते—पुण्यपापे एव [गृह्येते] इति [मन्यते, कुतः? लोके 'धर्मं चरति' इति प्रतीत्या कर्मचरणयोः परस्परमभेदेन प्रयोगदर्शनात्, अतः इष्टादिकर्मकारिणां चन्द्रलोकं गतानाम् पुनरवरोहार्थमनुशयोऽस्तीति सिद्धम्]।

भाषार्थ—बादरि नामके आचार्यप्रवर तो 'चरण शब्दसे पुण्यपापरूप कर्म गृहीत होता है' ऐसा मानते हैं, क्योंकि लोकमें 'धर्म चरति' इस प्रकारकी प्रतीतिसे कर्म और चरणका परस्पर अभेद प्रतीत होता है, अतः चन्द्रलोकमें गये हुए इष्टादिकारियोंका अनुशय है, यह सिद्ध हुआ।

भाष्य

बादरिस्त्वाचार्यः सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्देन प्रत्याय्येते इति मन्यते। चरणमनुष्ठानं कर्मेत्यनर्थान्तरम्। तथाहि—अविशेषेण कर्ममात्रे चरतिः प्रयुज्यमानो दृश्यते—यो हीष्टादिलक्षणं पुण्यं कर्म करोति तं लौकिका आचक्षते—धर्मं चरत्येष महात्मेति। आचारोऽपि च धर्मविशेष

भाष्यका अनुवाद

परन्तु चरणशब्दसे सुकृत और दुष्कृतकी ही प्रतीति होती है, ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं। चरण, अनुष्ठान और कर्म ये अनर्थान्तर—पर्याय वाचक शब्द हैं। क्योंकि 'चर्' धातु अविशेषसे कर्ममात्रमें प्रयुक्त देखनेमें आता है। इसीलिए जो इष्ट आदि लक्षण पुण्य कर्म करता है, उसको, यह

रत्नप्रभा

यद्यपि अक्रोधादिरूपं शीलं साधारणधर्मात्मकं विशेषरूपात् कर्मणो भिन्नम्, तथापि चरणाचारशब्दौ कर्मवाचिनौ एव न शीलवाचकौ इति न लक्षणावसर इति बादरिमतम् मुख्यसिद्धान्तम् आह—सुकृतेति। चरणशब्दार्थम् उपसंहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि अक्रोध आदिरूप शील जो साधारण धर्मात्मक है, वह विशेषरूपकर्मसे भिन्न है, तो भी चरण और आचारशब्द कर्मवाची है, शीलवाचक नहीं है, इससे लक्षणाका अवसर नहीं है, ऐसा जो बादरिका मत है, वही मुख्य सिद्धान्त है, ऐसा कहते है—"सुकृतदुष्कृते"

भाष्य

एव । भेदव्यपदेशस्तु कर्मचरणयोर्ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनाप्युपपद्यते । तस्माद्रमणीयचरणाः—प्रशस्तकर्माणः, कपूयचरणाः—निन्दितकर्माण इति निर्णयः ॥ ११ ॥

भाष्यका अनुवाद

महात्मा धर्मका आचरण करता है' ऐसा लोकमें सब कहते हैं। आचार भी धर्म विशेष ही है। कर्म और चरणका भेदव्यपदेश तो 'ब्राह्मणपरिव्राजक'[1] न्यायसे भी उपपन्न होता है। इसलिए 'रमणीयचरणाः—प्रशस्तकर्मवाले और कपूयचरणाः—निन्दित कर्मवाले, ऐसा निर्णय है ॥ ११ ॥

रत्नप्रभा

आचारोऽपीति। कर्मण एव आचारत्वे 'यथाकारी' इत्यादिभेदोक्तिः कथमित्यत आह—भेदव्यपदेश इति। निरुपपदाचारशब्दात् सदाचाररूपो विशेषो भाति, अतस्तत्समभिव्याहृतः कर्मसामान्यवाचको यथाकारीति शब्दस्तदितरविशेषपरः, एवम् 'अनवद्यानि कर्माणि' इति सामान्यतः, अस्माकं सुचरितानि' इति विशेष इति विवेकः। तस्मात् अनुशयबलादागत्यवश्यम्भावानुसन्धानाद्वैराग्यमिति सिद्धम् ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। चरणशब्दके अर्थका उपसंहार करते हैं—"आचारोऽपि" इत्यादिसे। यदि कर्म ही आचार हो, तो 'यथाकारी' इत्यादि भेदोक्ति किस प्रकार सिद्ध होगी, इसपर कहते हैं—"भेदव्यपदेश" इत्यादिसे। उपपदरहित आचारशब्दसे सदाचाररूप विशेष समझा जाता है, इसलिए उसके पास आया हुआ कर्मसामान्यवाचक यथाकारीशब्द उससे (सदाचारसे) अन्य विशेष अर्थका प्रतिपादन करता है। इस प्रकार 'यान्यनवद्यानि' इस श्रुतिमें 'अनवद्यानि कर्माणि' यह सामान्य रीतिसे कहा गया है, 'अस्माकं सुचरितानि, यह विशेष है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए अनुशयके बलसे आगति अवश्य होनेवाली है, इस अनुसन्धानसे वैराग्य सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

१—जहां सामान्यवाची शब्दका विशेषार्थक पदके सान्निध्य होनेसे अन्य अर्थ प्राप्त होता है, वहाँ यह न्याय प्राप्त होता है। जैसे ब्राह्मणों और परिव्राजकोंको भोजन करावो, इस वाक्यमें परिव्राजकके ब्राह्मण होनेपर भी ब्राह्मण शब्द परिव्राजकसे इतर ब्राह्मणपरक है वैसे प्रकृतमे कर्म और चरणका परस्पर अभेद होनेपर भी इस न्यायसे कथञ्चित् भेदव्यपदेश होता है—यहा सामान्यवाची यथाकारीशब्द है और निरुपपद आचारशब्दसे विशेष—सदाचार भासता है। अत उक्त न्यायकी संगति है।

[३ अनिष्टादिकार्यधिकरण सू० १२-२१]

चन्द्रं याति न वा पापी 'ते सर्व' इति वाक्यतः ।
पञ्चमाहुतिलाभार्थं भोगाभावेपि यात्यसौ ॥१॥
भोगार्थमेव गमनमाहुतिर्व्यभिचारिणी ।
सर्वश्रुतिः सुकृतिनां याम्ये पापिगतिः श्रुता* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—पाप कर्म करनेवाला चन्द्रलोकमें जाता है, या नहीं ?

पूर्वपक्ष—जाता है, क्योंकि 'ते सर्वे' इत्यादि वाक्य है, यद्यपि वहाँ भोगका अभाव है तथापि पञ्चम आहुतिरूप प्रयोजनके लिए गति माननी पड़ेगी ।

सिद्धान्त—भोगके लिए ही स्वर्गमें गमन है और पञ्चम आहुतिमें व्यभिचार है, अतः 'ते सर्वे' यह श्रुति सुकृतिपुरुषोंके लिए है, इससे पापी यमलोकमें जाता है, स्वर्गलोकमें नहीं ।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥

पदच्छेद—अनिष्टादिकारिणाम्, अपि, च, श्रुतम् ।

पदार्थोक्ति—[इदं पूर्वपक्षसूत्रम्] अनिष्टादिकारिणाम्—इष्टादिकर्मशून्यानाम्, अपि श्रुतम्—'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति' इत्यादिश्रुत्या चन्द्रलोकगमनं प्रतिपादितम्, च—अतः [इष्टादिकर्मकारिणो धार्मिका एव चन्द्रलोकं गच्छन्ति इत्येतदसङ्गतमिति सूत्रस्याभिप्रायः] ।

भाषार्थ—यह पूर्वपक्षसूत्र है, 'ये वै के च' इत्यादि श्रुतिसे इष्ट आदि कर्म नहीं करनेवालोंका भी चन्द्रलोकमें गमन श्रुत है, अतः धार्मिक पुरुष ही स्वर्गलोकमें जाते हैं, यह कथन असङ्गत है ।

---

* भाव यह है कि 'ये वै के चास्माल्लोकात्' इत्यादि श्रुतिसे ज्ञात होता है—चन्द्रलोक नामके स्वर्गमें पापकर्म करनेवाले भी जाते हैं । यद्यपि स्वर्गलोकमें पापी पुरुषोंका भोग नहीं है, तथापि पुनः शरीर-ग्रहणके लिए पञ्चम आहुतिके लाभार्थ स्वर्गगमन नितान्त अपेक्षित है ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—स्वर्गमें जानेका मुख्य प्रयोजन भोग ही है, पञ्चमाहुतिका लाभ नहीं, क्योंकि द्रोण आदिमें उसका व्यभिचार है । 'ते सर्वे' इत्यादि श्रुति सुकृतिजनको विषय करती है और पापी जनोंकी गति यमलोकमें श्रुत है—'वैवस्वतं संगमनम्' इत्यादिसे । इसलिए पापकर्म करनेवालेकी स्वर्गलोकमें गति नहीं है ।

भाष्य

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसं गच्छन्तीत्युक्तम्। ये त्वितरेऽनिष्टादिकारिणस्तेऽपि किं चन्द्रमसं गच्छन्त्युत न गच्छन्तीति चिन्त्यते। तत्र तावदाहुः—इष्टादिकारिण एव चन्द्रमसं गच्छन्तीत्येतत् न, कस्मात्? यतोऽनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रमण्डलं गन्तव्यत्वेन श्रुतम्। तथा ह्यविशेषेण कौषीतकिनः समामनन्ति—'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति'

भाष्यका अनुवाद

इष्ट आदि कर्म करनेवाले चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा कहा गया है। परन्तु दूसरे जो इष्टादि कर्म नहीं करनेवाले हैं, वे भी चन्द्रलोकमें जाते हैं या नहीं जाते, इसका विचार किया जाता है।

पूर्वपक्षी—इष्ट आदि करनेवाले ही चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है, किससे? इससे कि इष्ट आदि न करनेवालोंके भी गन्तव्यरूपसे चन्द्रमण्डलको श्रुति कहती है, क्योंकि कौषीतकी—कौषीतकी शाखावाले बिना विशेषके पढ़ते हैं—'ये वै के च०' (जो कोई इस लोकसे प्रयाण करते हैं, वे सब चन्द्रमण्डलमें ही जाते हैं) इस प्रकार। पुनर्जन्म पानेवालोंकी

रत्नप्रभा

एवं पुण्यात्मनां गत्यागतिचिन्तया वैराग्यं निरूप्य पापिनां तच्चिन्तया तन्निरूपयति—अनिष्टादिकारिणामपि चेति। 'ये वै के च' इत्यविशेषश्रुतेः 'वैवस्वतं सङ्गमनं जनानाम्' इति श्रुतेश्च संशये प्रथमाधिकरणेन सिद्धनियमाक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे—तत्रेत्यादिना। यमराजं पापिजनानां सम्यग्गम्यं, हविषा प्रीणयतेति श्रुत्यर्थः। पूर्वपक्षे पुण्यवतामेव चन्द्रगतिरिति नियमाभावात् पुण्यवैयर्थ्यं पापात् वैराग्यादार्ढ्यम् च इति फलम्, सिद्धान्ते पापिनां

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार पुण्यात्माओंकी गति और आगतिके विचारसे वैराग्यका निरूपण करके पापियोंकी गति और आगतिके विचारसे वैराग्यका निरूपण करते हैं—"अनिष्टादिकारिणामपि" इत्यादिसे। 'ये वै के च' इस अविशेष श्रुति तथा 'वैवस्वतम् संगमनं जनानाम्' इस श्रुतिसे भी संशय होनेपर प्रथम अधिकरणसे सिद्ध नियमके आक्षेपरूप संगतिसे पूर्वपक्षसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पापियोंके सम्यग्गम्य यमराजको हविषसे प्रसन्न करो, यह श्रुतिका अर्थ है। पूर्वपक्षमें पुण्यवान्की ही चन्द्रगति है, यह, नियम न होनेसे पुण्य व्यर्थ है और पापसे वैराग्यका अदृढ़त्व फल है। सिद्धान्तमे पापियोंको चन्द्रलोकका दर्शन भी नही होता है, अत,

भाष्य

(कौषी० १।२) इति। देहारम्भोऽपि च पुनर्जायमानानां नान्तरेण चन्द्रप्राप्तिमवकल्पते पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्यानियमात्, तस्मात्सर्व एव चन्द्रमसमासीदेयुः। इष्टादिकारिणामितरेषां च समानगतित्वं न युक्तमिति चेत्, न; इतरेषां चन्द्रमण्डले भोगाभावात् ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

देहोत्पत्ति भी चन्द्रप्राप्तिके विना नहीं हो सकती, क्योंकि 'पंचम्यामाहुतौ' (पांचवी आहुतिमें) इस प्रकार आहुतिसंख्याका नियम है, इसलिए सभी चन्द्रलोकमें जाते हैं। इष्ट आदि कर्म करनेवाले की और नहीं करनेवाले की भी एकसी गति हो, यह ठीक नहीं है, यदि ऐसा कहो, तो युक्त नहीं है, क्योंकि अन्यके चन्द्रमण्डलमें भोगका अभाव है ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

चन्द्रलोकदर्शनम् अपि नास्ति इति पुण्यार्थवत्त्वं वैराग्यदार्ढ्यञ्चेति फलम्, पञ्चमाग्नौ देहारम्भ इति नियमात् पापिनामपि प्रथमद्युलोकाग्निप्राप्तिः वाच्या इत्याह— देहारम्भ इति। पापिनां स्वर्गभोगाभावेऽपि मार्गान्तराभावात् चन्द्रगतिः इति भावः ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुण्यका अर्थवत्त्व और वैराग्यका दृढत्व फल है। पांचवी अग्निमें देहारम्भ है, ऐसा नियम होनेसे पापियोंकी प्रथम द्युलोकाग्निकी प्राप्ति है, ऐसा कहना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"देहारम्भ" इत्यादिसे। पापियोंको स्वर्गका भोग नहीं होता, तो भी अन्य मार्गके न होनेसे चन्द्रमें गति है, ऐसा भाव है ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥१३॥

पदच्छेद—संयमने, तु, अनुभूय, इतरेषाम्, आरोहावरोहौ, तद्गतिदर्शनात्।

पदार्थोक्ति—तुशब्दप्रयोजनम्—पूर्वोक्तशङ्काविनाशः। संयमने—यमगृहे [स्वकीयदुष्कृत्यनुरूपा यामी यातनाः] अनुभूय—उपभुज्य [एव] इतरेषाम्—निषिद्धानुष्ठातॄणाम्—आरोहावरोहौ—गत्यागती भवतः, कुतः?] तद्गतिदर्शनात्—'अयं लोको नास्ति' इत्यादिश्रुतौ यमाधीनत्वलक्षणतद्गतेः दर्शनात् इत्यर्थः।

भाषार्थ—पूर्वपक्षका निवारण करना इस सूत्रमें पठित तुशब्दका प्रयोजन है। यमगृहमें यमकी यातनाका अनुभव करके ही पापी जन गमनागमन करते हैं, क्योंकि 'अयं लोको नास्ति' इत्यादि श्रुतिमें यमाधीनत्वरूप तद्गतिका दर्शन है।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्तीति। एतत्कस्मात्? यतो भोगायैव हि चन्द्रारोहणं न निष्प्रयोजनम्। नापि प्रत्यवरोहायैव—यथा कश्चिद् वृक्षमारोहति पुष्पफलोपादानायैव न निष्प्रयोजनं नापि पतनायैव। भोगश्चानिष्टादिकारिणां चन्द्रमसि नास्तीत्युक्तम्, तस्मादिष्टादिकारिण एव चन्द्रमसमारोहन्ति नेतरे। ते तु संयमनं—यमालयमवगाह्य स्वदुष्कृतानुरूपा यामीर्यातना अनुभूय पुनरेवेमं लोकं प्रत्यवरोहन्ति। एवंभूतौ तेषामारोहावरोहौ भवतः। कुतः? तद्गतिदर्शनात्। तथाहि—यमवचनसरूपा श्रुतिः प्रयतामनिष्टादिकारिणां यमवश्यतां दर्शयति—

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है, सब चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा नियम नहीं है। यह किससे? इससे कि भोगके लिए ही चन्द्रमें आरोहण होता है, निष्प्रयोजन नहीं होता है, और केवल प्रत्यवरोहके लिए भी नहीं होता है। जैसे कोई पुरुष वृक्षपर आरोहण करता है—चढ़ता है, तो वह आरोहण पुष्प और फलके लानेके लिए ही है, निष्प्रयोजन नहीं है और गिरनेके लिए भी नहीं है। और भोग भी इष्ट आदि न करनेवालोंका चन्द्रलोकमें नहीं है, ऐसा कहा गया है, इसलिए इष्ट आदि करनेवाले ही चन्द्रमें आरोहण करते हैं, दूसरे नहीं। वे तो संयमन—यमालयमें प्रवेशकर अपने दुष्कृतोंके अनुसार यमयातनाका अनुभव करके फिर इस लोकमें प्रत्यवरोहण करते हैं—लौट आते हैं। इस प्रकार उनका आरोह और अवरोह होता है। किससे? उनकी गतिके दर्शन होनेसे। क्योंकि यमवचनरूप श्रुति मरकर जानेवाले, इष्टादि न करनेवाले यमके अधीन हैं ऐसा दिखलाती है—'न सांपरायः प्रतिभाति०' (अज्ञ वित्तसे मूढ़, प्रमाद करनेवालेको परलोकका

रत्नप्रभा

सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—तुशब्द इत्यादिना। संयमने—यमलोके यमकृताः यातनाः अनुभूय अवरोहन्तीत्येवमारोहावरोहाविति योजना सूत्रस्य ज्ञेया। प्रयताम्—

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्तसूत्रकी व्याख्या करते हैं—"तुशब्द" इत्यादिसे। संयमनमें—यमलोकमें यमकृत यातनाका अनुभव करके अवरोहण करते है, ऐसा आरोह और अवरोह होता है, ऐसी

भाष्य

(कठ० २।६) इति । 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' इत्येवंजातीयकं च बह्वेव यमवश्यताप्राप्तिलिङ्गं भवति ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

उपाय नहीं सूझता, यह स्त्री, अन्न, पान आदि विशिष्ट लोक है, परलोक नहीं है, ऐसा मनन करनेवाला मेरे वशमें बार-बार आता है) इस प्रकारकी। और 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' (जिन लोगोंका यमालय संगमन-स्थान है) इस प्रकारके भी बहुतसे यमकी अधीनताकी प्राप्तिके लिंग हैं ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

मृत्वा गच्छताम् । सम्यक् परस्तात् प्राप्यत इति संपरायः—परलोकः, तदुपायः साम्परायः, बालम्—अज्ञम्, विशेषतो वित्तरागेण मूढं मोहात् प्रमादं कुर्वन्तं प्रति न भाति । स च बालोऽयं स्त्रीवित्तादिलोकोऽस्ति न परलोकोऽस्तीति मानी, स मे—मम यमस्य वशमाप्नोतीत्यर्थः । पापिनां यमवश्यतावादिविशेषश्रुतिस्मृतिबलाद् 'ये वै के च' [कौषी० १।२] इत्यविशेषश्रुतिरिष्टादिकारिविषयत्वेन व्याख्येयेति भावः ॥१३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रकी योजना समझनी चाहिए । प्रयताम्—मरकर जानेवाले । सम्पराय—परलोक, साम्पराय—परलोकका उपाय, बाल—अज्ञ, विशेषतः वित्तरागसे मूढ, प्रमाद करनेवालेको नही सूझता । और वह अज्ञ, 'यह स्त्री, वित्त आदि लोक है, परलोक नहीं है' ऐसा माननेवाला मेरे (यमके) वशमें आता है, ऐसा अर्थ है । 'पापी यमके वशमें हैं, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली विशेषश्रुति और स्मृतिके बलसे 'ये वै के च' यह अविशेषश्रुति इष्ट आदि कर्म करनेवालेके लिए ही है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए, यह भाव है ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥१४॥

पदच्छेद—स्मरन्ति, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि [मन्वादयः शिष्टाः स्मृतिकारा दुष्कृतिजनिजुषां नरकभोगम्] स्मरन्ति—स्वीयस्मृतिग्रन्थैः स्पष्टं कथयन्ति, [अतः इष्टादिकारिणः एव चन्द्रलोकं गन्तारः नान्ये इतिगूढाभिप्रायः] ।

भाषार्थ—और मनु प्रभृति प्रमुख स्मृतिकारोंने दुष्कृतिनरोंके नरकभोगका अपने स्मृतिग्रन्थ द्वारा प्रतिपादन किया है। अतः इष्टादिकारी ही चन्द्रलोकमें जाते हैं अन्य—पापी नहीं जाते, ऐसा सूत्रका अभिप्राय है ।

भाष्य

अपिच मनुव्यासप्रभृतयः शिष्टाः संयमने पुरे यमायत्तं कपूयकर्मविपाकं स्मरन्ति नाचिकेतोपाख्यानादिषु ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

और मनु, व्यास आदि शिष्टोंने संयमन—यमके नगरमें पापकर्मोंका विपाक—यमके अधीन है, इस प्रकार नाचिकेत आदिके उपाख्यानोंमें स्मरण किया है ॥१४॥

अपि च सप्त ॥१५॥

पदच्छेद—अपि, च, सप्त।

पदार्थोक्ति—अपि च—अन्यदपि सप्त—रौरवप्रमुखाः सप्तसङ्ख्यकाः नरकाः [पापफलभूमित्वेन स्मर्य्यन्ते पौराणिकैः, अतः सुकृतिन एव चन्द्रलोकाख्यपुण्यफलभूमेरधिकारिणः न दुर्मेधसो दुष्कृतिन इति भगवतः सूत्रकृतोऽभिप्रायः]

भाषार्थ—और भी पौराणिक लोग रौरव आदि सात नरक पापफलके उपभोगकी भूमि कहते हैं, अतः पुण्यजन ही चन्द्रलोकके अधिकारी हैं, अन्य नहीं।

भाष्य

अपिच सप्त नरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोगभूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैः,ताननिष्टादिकारिणः प्राप्नुवन्ति। कुतस्ते चन्द्रं प्राप्नुयुः इत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

और रौरव आदि[1] सात नरकोंका दुष्कृतफलके उपभोगकी भूमिके रूपसे पौराणिक स्मरण करते हैं। उन नरकोंको इष्टादि न करनेवाले प्राप्त करते हैं, वे चन्द्रलोकको कैसे प्राप्त करें ? ऐसा अभिप्राय है ॥१५॥

---

१ रौरवादिमें आदिशब्दसे महारौरव, वह्नि, वैतरणी, कुम्भी, तामिस्रा और अन्धतामिस्राका ग्रहण करना चाहिए। अनिष्टादिकारी लोग इन्ही सात नरकोंमें जाते हैं, चन्द्रलोकमें नहीं जाते हैं इसीलिए मनु आदि स्मृतिकारोंने अनिष्टादि कर्म करनेवालोंके नरकमें ही गमनका यत्र तत्र प्रतिपादन किया है, तथा पुराणोंमें भी उपलब्ध होता है, जैसे—'कूट साक्षी तथाऽसम्यक् पक्षपातेन यो वदेत्। यश्चान्यदनृतं वक्ति स नरो याति रौरवम्॥ भ्रूणहा पुरहर्ता च गोघ्नश्च मुनिसत्तमाः ?, यान्ति ते नरके घोरे यश्चोच्छ्वासनिरोधकः॥ इत्यादि।

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥१६॥

पदच्छेद—तत्र, अपि, च, तद्व्यापारात्, अविरोधः ।

पदार्थोक्ति—[ननु एतदयुक्तमिव—पापभाजो यामीर्यातना उपभुञ्जते इति, रौरवप्रभृतिषु नरकेषु चित्रगुप्तादीनामधिष्ठातृत्वस्य शास्त्रेषु प्रसिद्धत्वादिति चेन्न] तत्र अपि—रौरवादिष्वपि [चित्रगुप्तादीनां यमायत्तत्वेन] तद्व्यापारात्—यमाधिष्ठातृत्वव्यापारात्, च—अतः, अविरोधः—न यामीयातनाविरोध इति ।

भावार्थ—पापी लोग यमकी यातना भोगते हैं, यह अयुक्त है, क्योंकि 'चित्रगुप्त आदिका ही रौरव आदिमें शासन है, यह शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है, यदि ऐसा कहा जाय, तो युक्त नहीं है, इसलिए कि वहाँ रौरव आदिमें भी यमप्रयुक्त ही चित्रगुप्त आदिका शासन है, अतः विरोध नहीं है ।

भाष्य

ननु विरुद्धमिदं—यमायत्ता यातनाः पापकर्माणोऽनुभवन्ति-इति । यावता तेषु रौरवादिष्वन्ये चित्रगुप्तादयो नानाधिष्ठातारः स्मर्यन्त इति । नेत्याह—

तेष्वपि सप्तसु नरकेषु तस्यैव यमस्याधिष्ठातृत्वव्यापाराभ्युपगमादविरोधः । यमप्रयुक्ता एव हि ते चित्रगुप्तादयोऽधिष्ठातारः स्मर्यन्ते ॥ १६ ॥

भाष्यका अनुवाद

परन्तु यमके अधीन यातनाका पाप करनेवाले अनुभव करते हैं, यह विरुद्ध है, क्योंकि उन रौरव आदि नरकोंमें अन्य चित्रगुप्त आदि भिन्न-भिन्न अधिष्ठाता कहे गये हैं । नहीं, ऐसा कहते हैं—

उन सात नरकोंमें भी उस यमके ही अधिष्ठातृत्वरूपसे व्यापारका अभ्युपगम है, अतः विरोध नहीं है । क्योंकि यमसे प्रयुक्त ही वे चित्रगुप्त आदि अधिष्ठातृत्व-रूपसे स्मरण किये गये हैं ॥१६॥

रत्नप्रभा

सूत्रत्रयस्य भाष्यं सुबोधम् ॥१४॥१५॥१६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तीन ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ सूत्रोंका भाष्य सुबोध—स्पष्ट है ।

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥

पदच्छेद—विद्याकर्मणोः, इति, तु, प्रकृतत्वात् ।

पदार्थोक्ति—['अथैतयोः पथोर्न' इत्यादि श्रुतौ 'एतयोः' शब्देन] विद्याकर्मणोरिति [गृह्यते कुतः ?] प्रकृतत्वात्—तयोर्विद्याकर्मणोरेव देवयान-पितृयाणात्मकमार्गद्वयसाधनत्वेन प्रकृतत्वात् । तुशब्दो ह्यत्र 'चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' इति श्रुतिसंजातशङ्कां विच्छिनत्ति ।

भाषार्थ—'अथैतयोः पथोर्न' इत्यादि श्रुतिमें 'एतयोः' शब्दसे विद्या और कर्म इन दोनोंका ही ग्रहण होता है, क्योंकि उन्हींका, देवयानपितृयाणरूप दो मार्गके साधनरूपसे कथन है। तु-शब्दसे 'चन्द्रमसमेव' इत्यादिशास्त्रसे प्राप्त शङ्काका निरास होता है ।

भाष्य

पञ्चाग्निविद्यायाम् 'वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।३।३) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे श्रूयते—अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति, जायस्व म्रियस्वेत्ये-तत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।१०।८) इति ।

भाष्यका अनुवाद

पञ्चाग्निविद्यामें 'वेत्थ यथाऽसौ लोको०' (यह लोक जिस कारण नहीं भरता, क्या वह तू जानता है ?) इस प्रश्नके प्रतिवचन—उत्तरके अवसरमें—'अथैतयोः पथोर्न०' (पीछे, इन दोनों विद्या और कर्मके मार्गोंके साधनोंमें किसी एक भी साधनसे जो नर युक्त नहीं हैं, वे ये क्षुद्र जीव [दंश, मशक,

---

रत्नप्रभा

यदुक्तं मार्गान्तराभावात् पापिनाम् अपि चन्द्रगतिः इति । तन्न । तृतीयमा-र्गश्रुतेः इत्याह—विद्याकर्मणोरिति । मार्गद्वितयोक्त्यनन्तरं तृतीयमार्गोक्तिसमा-रम्भार्थं श्रुतौ अथशब्दः । एतयोर्विद्याकर्मणोः पथिद्वयसाधनयोः अन्यतरेणापि साधनेन ये नरा न युक्ताः, ते जन्ममरणावृत्तिरूपतृतीयमार्गस्थानि

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य मार्ग न होनेके कारण, पापी भी चन्द्रलोकमें ही जाते हैं, ऐसा जो कहा गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि तृतीय मार्गकी श्रुति है [श्रुतिमें तृतीय मार्ग है], ऐसा कहते हैं—"विद्याकर्मणोः" इत्यादिसे । दो मार्गोंके कथनके अनन्तर, तृतीय मार्गकी उक्तिके प्रारम्भके लिए श्रुतिमें अथशब्द है । विद्या और कर्म ये दो मार्गके (उत्तर और दक्षिण मार्गके)

भाष्य

तत्रैतयोः पथोरिति विद्याकर्मणोरित्येतत् । कस्मात् ? प्रकृतत्वात् । विद्याकर्मणी हि देवयानपितृयाणयोः पथोः प्रतिपत्तौ प्रकृते—'तद्य इत्थं विदुः' इति विद्या तया प्रतिपत्तव्यो देवयानः पन्थाः प्रकीर्तितः । 'इष्टापूर्ते दत्तम्' (छा० ५।१०।१,३) इति कर्म तेन प्रतिपत्तव्यः पितृयाणः पन्थाः प्रकीर्तितः । तत्प्रक्रियायाम्—'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन' इति श्रुतम् । एतदुक्तं भवति—ये च न विद्यासाधनेन देवयाने पथ्यधिकृता नापि कर्मणा पितृयाणे तेषामेष क्षुद्रजन्तुलक्षणोऽसकृदावर्ती तृतीयः पन्था भवतीति ।

भाष्यका अनुवाद

कीट आदि] बार-बार आवर्तन करनेवाले होते हैं—जन्म लेते और मरते रहते हैं, वह यह तीसरा स्थान है, इसलिए यह लोक नहीं भरता) इस प्रकारकी श्रुति है। उसमें उन दोनों मार्गोंके अर्थात् विद्या और कर्मके । किससे ? प्रकृत होनेसे । क्योंकि विद्या और कर्म ये देवयान और पितृयानकी प्राप्तिके साधनमें प्रकृत हैं । 'तद्य इत्थं विदुः' (इनमें जो इस प्रकार जानते हैं) यह विद्या है उससे प्राप्तव्य देवयान मार्ग कहा गया है । 'इष्टापूर्ते दत्तम्' (इष्ट, पूर्त, और दत्त) अर्थात् कर्म, उससे प्राप्तव्य पितृयान मार्ग कहा गया है । उसके प्रकरणमें 'अथैतयोः पथोर्न०' (और इन दोनों मार्गोंमें किसी एक भी मार्गसे) इस प्रकार श्रुतिमें कहा गया है । तात्पर्य यह है कि—जो विद्यासाधन द्वारा देवयान मार्गमें अधिकृत नहीं हैं, और कर्म द्वारा पितृयानमें भी अधिकृत नहीं हैं, उनका ही क्षुद्रजन्तुरूप जिसमें बार-बार आवर्तन करना पड़ता है यह तीसरा मार्ग होता है ।

रत्नप्रभा

भूतानि भवन्ति । क्रियावृत्तौ लोट्, तेन पापिनां चन्द्रगत्यभावात् चन्द्रलोकः न संपूर्यत इति श्रुत्यर्थः । प्रतिपत्ताविति । प्राप्तिसाधने इत्यर्थः । अपि च पापिनां चन्द्रगतौ 'असौ लोकः सम्पूर्येत, अतश्च न सम्पूर्यते' इत्येतत्प्रतिवचनं विरुद्धं प्रसज्येत इति अन्वयः । अवरोहात् असम्पूरणम् अश्रुतं न कल्प्यम्, श्रुतहान्यापत्तेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

साधन हैं, इन दोनोंमेंसे अगर एक साधनसे भी जो युक्त नहीं, हैं, वे सर्प, कीट आदि जन्ममरणकी आवृत्तिरूप जो तृतीय मार्ग है उसमें रहनेवाले भूत होते हैं तथा पुनः पुनः जन्म लेते और मरते रहते हैं । 'जायस्व म्रियस्व' इसमें लोट्लकार क्रियाकी आवृत्तिमें है, इसलिए पापियोंकी चन्द्रगतिके अभावसे चन्द्रलोक नहीं भरता, ऐसा श्रुतिका अर्थ है । "प्रतिपत्तौ" इत्यादि । प्राप्तिके साधन हैं, यह अर्थ है । और पापियोंकी भी चन्द्रलोकमें गति

भाष्य

तस्मादपि नानिष्टादिकारिभिश्चन्द्रमाः प्राप्यते। स्यादेतत्—तेऽपि चन्द्रबिम्बमारुह्य ततोऽवरुह्य क्षुद्रजन्तुत्वं प्रतिपत्स्यन्त इति। तदपि नास्ति। आरोहानर्थक्यात्। अपि च सर्वेषु प्रयत्सु चन्द्रलोकं प्राप्नुवत्स्वसौ लोकः प्रयद्भिः संपूर्येतेत्यतः प्रश्नविरुद्धं प्रतिवचनं प्रसज्येत। तथाहि प्रतिवचनं दातव्यम्, यथाऽसौ लोको न संपूर्यते। अवरोहाभ्युपगमादसंपूर्णोपपत्तिरिति चेत्, न; अश्रुतत्वात्। सत्यम्, अवरोहादप्यसंपूरणमुपपद्यते। श्रुतिस्तु तृतीयस्थानसंकीर्तनेनासंपूरणं दर्शयति—'एतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।१०।८) इति। तेनानारोहादेवासंपूरणमिति युक्तम्। अवरोहस्येष्टादिकारिष्वप्यविशिष्टत्वे सति तृतीयस्थानोक्त्यानर्थक्यप्रसङ्गात्।

भाष्यका अनुवाद

इससे भी इष्ट आदि न करनेवालोंसे चन्द्र प्राप्त नहीं होता। परन्तु वे भी चन्द्रबिम्बमें आरूढ होकर उससे अवरोहण करके क्षुद्रजन्तुत्व प्राप्त करेंगे। वह भी नहीं है, क्योंकि इसमें आरोहका आनर्थक्य है। और सब प्रयाण करनेवाले—मरकर जानेवाले यदि चन्द्रलोक ही प्राप्त करें, तो यह चन्द्रलोक प्रयाण करनेवालोंसे भर जायगा, अतः प्रश्नविरुद्ध प्रतिवचन प्रसक्त होगा। क्योंकि 'जिस प्रकार यह लोक नहीं भरता' इस प्रकार प्रतिवचन दातव्य है। अवरोह स्वीकार करनेसे असंपूर्णताकी उपपत्ति होगी, यदि ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि श्रुतिमें नहीं है। सच्ची बात यह है कि—अवरोहसे भी असंपूर्णता उपपन्न होती है। परन्तु श्रुति तो तृतीय स्थानके संकीर्तनसे असंपूर्णता दिखलाती है—'एतत् तृतीयं स्थानम्०' (यह तीसरा स्थान है, इसलिए यह लोक नहीं भरता)

रत्नप्रभा

इत्याह—नाश्रुतत्वादिति। अवरोह एव तृतीयं स्थानं श्रुत्युक्तम् इत्यत आह—अवरोहस्येति। इममध्वानं पुनर्निवर्तन्त इति इष्टादिकारिणाम् अवरोहोक्तेः अनिष्टादिकारिणाम् अपि अवरोहस्य अर्थसिद्धत्वात् पुनरुक्तिः व्यर्थेत्यर्थः 'अथैतयोः'

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेपर वह चन्द्रलोक बिल्कुल भर जायगा, अतः 'वह चन्द्रलोक नहीं भरता' यह प्रतिवचन भी विरुद्ध प्रसक्त होगा, ऐसा अन्वय है। अवरोह ही तृतीय स्थान श्रुतिमें कहा गया है, इसपर कहते हैं—"अवरोहस्य" इत्यादि। इस मार्गसे फिर पीछे लौटते हैं, ऐसा इष्ट आदि कर्म करनेवालोंके लिए अवरोह कहा गया है, इससे इष्ट आदि न करनेवालोंका भी अवरोह

भाष्य

तुशब्दस्तु शाखान्तरीयवाक्यप्रभवामशेषगमनाशङ्कामुच्छिनत्ति, एवं सत्यधिकृतापेक्षः शाखान्तरीये वाक्ये सर्वशब्दोऽवतिष्ठते—ये वै केचिदधिकृता अस्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति—इति ॥१७॥

यत्पुनरुक्तम्—देहलाभोपपत्तये सर्वे चन्द्रमसं गन्तुमर्हन्ति, पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्यानियमात्—इति, तत्प्रत्युच्यते—

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार। इसलिए अनारोहसे ही असंपूर्ण है, यह युक्त है। क्योंकि इष्ट आदि करनेवालों में भी अवरोह अविशिष्ट होनेसे तृतीय स्थानकी उक्तिके अनर्थक होनेका प्रसंग आवेगा। तुशब्द तो अन्य शाखाके वाक्यसे उत्पन्न हुई सबके गमनकी आशंकाका उच्छेद करता है। ऐसा प्राप्त होनेपर अन्य शाखाके वाक्यमें सर्वशब्द अधिकारीकी अपेक्षा रखता है—'जो कोई अधिकृत हुए इसलोकसे प्रयाण करते हैं वे सब चन्द्रमें ही जाते हैं, इस प्रकार ॥१७॥

और देहलाभकी उपपत्तिके लिए सब चन्द्रलोकमें जा सकते हैं, क्योंकि 'पंचम्यामाहुतौ' (पांचवीं आहुतिमें) ऐसा आहुतिसंख्याका नियम है, ऐसा जो कहा गया है, उसके प्रति कहते हैं—

रत्नप्रभा

इति मार्गान्तरोपक्रमबाधः तृतीयशब्दबाधश्चेत्यतः स्थानशब्दो मार्गलक्षक इति द्रष्टव्यम् ॥१७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ सिद्ध होनेसे [तृतीय स्थानरूपसे अवरोहकी] पुनरुक्ति व्यर्थ है, ऐसा अर्थ है। 'अथैतयोः' इसमें अन्य मार्गके उपक्रमका बाध है, अतः स्थानशब्द यहाँ मार्गलक्षक है, ऐसा समझना चाहिए ॥१७॥

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥१८॥

पदच्छेद—न, तृतीये, तथा, उपलब्धेः।

पदार्थोक्ति—तृतीये—तृतीयमार्गे [प्रविष्टानां पापिनां देहप्राप्त्यर्थम् आहुतिसंख्यानियमः] न—न भवति, [कुतः ?] तथोपलब्धेः—'जायस्व म्रियस्व' इत्यादिश्रुतौ संख्यानियमं विनैव तृतीये मार्गे देहप्राप्तेरुपलब्धेः [इत्यर्थः, अतश्चेष्टादिकारिणामेवायं संख्यानियम इति भावः]

भावार्थ—तृतीय मार्गमें प्रविष्ट पापी लोग देह प्राप्तिके लिए आहुतिसङ्ख्याके नियमसे बद्ध नहीं हैं, क्योंकि 'जायस्व म्रियस्व' इत्यादि श्रुतिमें संख्या नियमके बिना ही देहप्राप्ति की उपलब्धि है। अतः आहुतिसंख्याका नियम इष्ट आदि करनेवालोंके लिए ही है, ऐसा भाव है।

भाष्य

न तृतीये स्थाने देहलाभाय पञ्चसंख्यानियम आहुतीनामादर्तव्यः। कुतः? तथोपलब्धेः। तथाहि अन्तरेणैवाहुतिसंख्यानियमं वर्णितेन प्रकारेण तृतीयस्थानप्राप्तिरुपलभ्यते 'जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्' (छा० ५।१०।८) इति। अपिच 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति मनुष्यशरीरहेतुत्वेनाहुतिसंख्या कीर्त्यते, न कीटपतङ्गादिशरीरहेतुत्वेन, पुरुषशब्दस्य मनुष्यजातिवचनत्वात्। अपिच पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वमुपदिश्यते नापञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वं प्रति-

भाष्यका अनुवाद

तृतीय स्थानमें देहलाभके लिए आहुतिकी पंचसंख्याके नियमका आदर करना ठीक नहीं है। किससे? वैसा उपलब्ध होनेसे। क्योंकि आहुतिसंख्याके नियमके विना भी वर्णन किये गये प्रकारसे तृतीय स्थानकी प्राप्ति उपलब्ध होती है—'जायस्व म्रियस्व०' (पुनः पुनः जन्म लो और मरा करो, यह तृतीय स्थान है) इस प्रकार। और 'पंचम्यामाहुतौ०' (पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषसंज्ञक होता है) इस प्रकार मनुष्यशरीरके हेतुरूपसे आहुतिकी संख्या कही गई है कीट, पतंग आदि शरीरोंके हेतुरूपसे नहीं, क्योंकि पुरुषशब्द मनुष्यजातिवाचक है। उसी प्रकार 'पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषसंज्ञक होता है' ऐसा उपदेश किया जाता है 'पांचवीं आहुति नहीं होनेपर जल पुरुषसंज्ञक नहीं होता, ऐसा

रत्नप्रभा

एवम् अविशेषश्रुतेर्मार्गान्तराभावात् चेति पूर्वपक्षबीजद्वयं निरस्य तृतीयबीजनिरासार्थं सूत्रमादत्ते—यत्पुनरित्यादिना। विद्याकर्मशून्यानां कृमिकीटादिभावेन 'जायस्व' [छा० ५।१०।८] इत्यादिश्रुत्या निरन्तरजन्ममरणोपलब्धेर्नाहुतिसङ्ख्यादर इत्यर्थः। पुरुषशब्दाच्चैवमित्याह—अपि चेति। मनुष्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार 'अविशेषश्रुतिसे' और अन्य मार्गके अभावसे इन दो पूर्वपक्षबीजोंका निरसन कर तृतीय बीजका निरसन करनेके लिए सूत्रकी अवतरणिका देते हैं—"यत्पुन॰" इत्यादिसे। विद्या और कर्मसे शून्यवालोंका कृमि कीटादिभावसे पुन॰ पुन जन्म-मरण होता है, क्योंकि 'जायस्व' इत्यादि श्रुतिसे निरन्तर 'जन्म और मरणकी उपलब्धि होती है, अतः आहुति संख्यामे आदर नहीं है, ऐसा अर्थ है। पुरुषशब्दसे भी ऐसा है—इसे कहते है—"अपि च" इत्यादिसे। मनुष्य देहमे आहुतिसंख्याका नियम नही है ऐसा कहते हैं—

भाष्य

षिध्यते, वाक्यस्य द्व्यर्थतादोषात्। तत्र येषामारोहावरोहौ संभवतस्तेषां पञ्चम्यामाहुतौ देह उद्भविष्यति, अन्येषां तु विनैवाहुतिसंख्यया भूतान्तरोपसृष्टाभिरद्भिर्देह आरप्स्यते ॥१८॥

भाष्यका अनुवाद

प्रतिषेध नहीं किया जाता, क्योंकि वाक्यमें द्व्यर्थ होनेका दोष आवेगा। उसमें जिनका आरोह और अवरोह हो सकता है, उनका देह पांचवीं आहुतिमें उत्पन्न होगा, और दूसरोंका देह तो आहुतिसंख्याके विना ही अन्य भूतोंसे उपसृष्ट जलसे उत्पन्न होगा ॥ १८ ॥

रत्नप्रभा

देहस्याऽपि नाहुतिसंख्यानियम इत्याह—अपि चेत्यादिना। विधिनिषेधरूपार्थद्वये वाक्यभेदः स्यात् इत्यर्थः ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अपि च" इत्यादिसे। विधि और निषेधरूप दो अर्थ लेनेमें वाक्यभेद होगा, ऐसा अर्थ है ॥१८॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥१९॥

पदच्छेद—स्मर्यते, अपि, च, लोके।

पदार्थोक्ति—अपिच लोके—भारतादौ* द्रोणधृष्टद्युम्नादीनामयोनिजत्वम्—स्मर्यते—स्मृतिपथं भवति [तत्र द्रोणादेः योषिदाहुतिर्न धृष्टद्युम्नादीनाञ्च योषित्पुरुषविषये द्वे आहुती न भवतः, अतः आहुतिसंख्यानियमव्यभिचारः, तथान्यत्रापीति भावः।

भाषार्थ—भारत आदि ग्रन्थोंमें द्रोण, धृष्टद्युम्न आदि अयोनिज हैं, ऐसा प्रसिद्ध है, उसमें द्रोणादिकी योषित् में आहुति नहीं है और धृष्टद्युम्न आदिकी स्त्रीपुरुषविषयक दो आहुतियाँ नही हैं अतः आहुतिसंख्याका नियम नहीं है।

* द्रोणकी उत्पत्ति कलशसे—यज्ञपात्रविशेषसे हुई है, क्योंकि द्रोण-कलश उत्पत्ति स्थान है जिसका, इस अर्थमें अच् प्रत्यय है—इसका महाभारतमें यों स्मरण है—व्यपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषिश्चकमे ततः, तत्र संयुक्तमनसो भारद्वाजस्य धीमतः, ततोऽस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे। ततः समभवद्द्रोणः कलशे तस्य धीमत.। तथा धृष्टद्युम्नके बारेमें भी— तथैव धृष्टद्युम्नोऽपि साक्षादग्निसमद्युतिः, वैताने कर्मणि तात! पावकात् समजायत। इत्यादि महाभारतमें उपलब्ध होता है।

भाष्य

अपिच स्मर्यते लोके द्रोणधृष्टद्युम्नप्रभृतीनां सीताद्रौपदीप्रभृतीनां चायोनिजत्वम्। तत्र द्रोणादीनां योषिद्विषयकाहुतिर्नास्ति। धृष्टद्युम्नादीनां तु योषित्पुरुषविषये द्वे अप्याहुती न स्तः। यथा च तत्राहुतिसंख्यानियमानादरो भवत्येवमन्यत्रापि भविष्यति। बलाकाप्यन्तरेणैव रेतःसेकं गर्भं धत्त इति लोकरूढिः ॥१९॥

भाष्यका अनुवाद

और द्रोण, धृष्टद्युम्न आदि तथा सीता, द्रौपदी आदि अयोनिज ही हैं, ऐसा लोकमें स्मरण है। वहां द्रोणादिमें स्त्रीविषयिका एक आहुति नहीं है, धृष्टद्युम्न आदिमें तो स्त्रीविषयक और पुरुषविषयक ये दोनों आहुतियां नहीं हैं। जिस प्रकार वहां आहुतिसंख्याका अनादर है, इसी प्रकार अन्यत्र भी होगा। बलाका भी विना रेतःसेकके ही गर्भ धारण करती है, ऐसी लोकरूढि है ॥ १९ ॥

रत्नप्रभा

अनियमे स्मृतिसंवादार्थं सूत्रम्—स्मर्यतेऽपीति। लोक्यतेऽनेनेति लोकः भारतादिरुक्तः। मुख्यार्थम् अपि आह—बलाकेति ॥ १९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनियम—मनुष्यदेहकी उत्पत्तिमें आहुतिसंवादका कोई नियम नहीं है, ऐसी स्थितिमें स्मृतिसंवादके लिए सूत्र दिखलाते हैं—"स्मर्य्यतेऽपि" इत्यादि। जिससे देखा जाता है वह लोक अर्थात् महाभारत आदि इतिहास [लोक शब्दसे] कहा गया है। लोक शब्दका मुख्य अर्थ भी कहते हैं—"बलाका" इत्यादिसे ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥२०॥

पदच्छेद—दर्शनात्, च।

पदार्थोक्ति—च—अपि [लोके जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जेषु चतुर्विधेषु देहेषु स्वेदजोद्भिज्जयोः स्त्रीपुंसव्यक्तिसंयोगं विना एवोत्पत्तिदर्शनान्नाहुतिसंख्यानियम इत्यर्थः]

भाषार्थ—लोकमें जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज, इस प्रकारके चतुर्विध देहोंमें स्वेदज और उद्भिज्जकी स्त्री और पुरुषके संयोगके विना ही उत्पत्ति देखनेमें आती है, अतः आहुतिसंख्याका नियम नहीं है,

भाष्य

अपिच चतुर्विधे भूतग्रामे जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणे स्वेदजोद्भिज्जयोरन्तरेणैव ग्राम्यधर्ममुत्पत्तिदर्शनादाहुतिसंख्यानादरो भवति । एवमन्यत्रापि भविष्यति ॥२०॥

ननु 'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६।३।१) इत्यत्र त्रिविध एव भूतग्रामः श्रूयते; इत्यत्र कथं चतुर्विधत्वे भूतग्रामस्य प्रतिज्ञातमिति । अत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

और चार प्रकारके भूतसमूहमें—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्जरूपसें, स्वेदज और उद्भिज्जमें ग्राम्यधर्मके विना ही उत्पत्ति देखनेमें आती है, इसलिए आहुतिसंख्याका आदर नहीं है, इसी प्रकार अन्यत्र भी होगा ॥ २० ॥

परन्तु 'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति० (निश्चय, उन भूतोंके तीन ही बीज होते हैं—अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज) ऐसा यहां तीन प्रकारके ही भूतसमूह श्रुतिमें हैं (सुने जाते हैं), फिर भूतसमूह चार प्रकारके हैं, ऐसी प्रतिज्ञा किस प्रकार की गई है ? इसलिए कहते हैं—

रत्नप्रभा

'अण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि च उद्भिज्जानि च' [ऐत० ३ । १ । ३] इतिश्रुत्यवष्टम्भेन सूत्रं व्याचष्टे—अपि चेति । अन्यत्रापि अनिष्टादिकारिष्वित्यर्थः ॥ २० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'अण्डजानि च जरायुजानि च०' (*अण्डज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज्ज ये चार प्रकारके भूतसमूह हैं) श्रुतिके अवलम्बनसे सूत्रकी व्याख्या करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । अन्यत्र—इष्ट आदि न करनेवालोंमें, ऐसा अर्थ है ॥ २०॥

---

* जरायु—गर्भका वेष्टनचर्म, उसमें उत्पन्न हुए भूत जरायुज—नामसे कहे जाते हैं, जैसे मनुष्य आदि । अण्डज—अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले भूत,—पक्षी आदि । स्वेदज—पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले मत्कुण आदि । उद्भिज्ज—भूमिका भेदन करके उत्पन्न होनेवाले वृक्ष आदि ।

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥२१॥

पदच्छेद—तृतीयशब्दावरोधः, संशोकजस्य ।

पदार्थोक्ति—संशोकजस्य—स्वेदजस्य, तृतीयशब्दावरोधः—तृतीयशब्देन 'आण्डजं जीवजम्' इत्यत्र श्रुतेनोद्भिज्जेन अवरोधः—सङ्ग्रहः [वृक्षादिकं पृथ्वीमुद्भिद्य जायते स्वेदजन्तु जलमिति उभयोरवयवार्थत्वाविशेषात्, तथाच 'आण्डजम्' इत्यादि श्रुतौ शरीरत्रैविध्यश्रवणेऽपि न लोकप्रसिद्धशरीरचातुर्विध्यप्रसिद्धिभङ्ग इति भावः]।

भाषार्थ—स्वेदज शरीरका 'आण्डजम्' इत्यादि श्रुतिमें पठित उद्भिज्जरूप तृतीय-शब्दसे ग्रहण होता है क्योंकि अवयवार्थसे वृक्षादिका जैसा ग्रहण होता है वैसे स्वेदजका भी संग्रह हो सकता है, कारण कि स्वेदज भी जलका भेदन करके ही उत्पन्न होता है ।

भाष्य

'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६।३।१) इत्यत्र तृतीयेनोद्भिज्ज-शब्देनैव स्वेदजोपसंग्रहः कृतः प्रत्येतव्यः । उभयोरपि स्वेदजोद्भिज्जयोर्भू-म्युदकोद्भेदप्रभवत्वस्य तुल्यत्वात् । स्थावरोद्भेदात्तु विलक्षणो जङ्गमोद्भेद इत्यन्यत्र स्वेदजोद्भिज्जयोर्भेदवाद इत्यविरोधः ॥२१॥

भाष्यका अनुवाद

'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज) इसमें तृतीय उद्भिज्जशब्दसे ही स्वेदजका उपसंग्रह किया गया है, ऐसा जानना चाहिए । क्योंकि स्वेदज और उद्भिज्ज ये दोनों ही भूमि और उदकका उद्भेद करके उत्पन्न होते हैं, अतः तुल्य हैं । स्थावरोद्भेदसे जंगमोद्भेद विलक्षण है, इस प्रकार स्वेदज और उद्भिज्जका भेदवाद अन्यत्र [वर्णित] है, इससे विरोध नहीं है ॥ २१ ॥

रत्नप्रभा

अनया श्रुत्या चातुर्विध्यं कथमुक्तम्, श्रुत्यन्तरे त्रीण्येवेत्यवधारणविरोधादिति शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रमादत्ते—नन्वित्यादिना । जीवजं जरायुजं मनुष्यादि, भूमिमुद्भिद्य जायते वृक्षादिकम्, उदकं भित्वा जायते यूकादिजङ्गममिति भेदः । संशोकः—स्वेदः॥२१॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस श्रुतिसे भूतसमूह चार प्रकारके कैसे कहे गये हैं, जबकि अन्य श्रुतिमें तीन ही निश्चित किये गये हैं, उस अवधारणसे विरोध होता है इस शंकाके उत्तररूपसे सूत्रका ग्रहण करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । जीवज—जीव जरायुसे उत्पन्न हुआ, जरायुज—मनुष्य, पशु आदि । भूमिका उद्भेदकर वृक्षादि उत्पन्न होते हैं, और उदकका भेदकर यूकादि जंगम उत्पन्न होते हैं, ऐसा भेद है । संशोक—स्वेद ॥ २१ ॥

[४ साभाव्यापत्त्यधिकरण सू० २२]

वियदादिस्वरूपत्वं तत्साम्यं वावरोहिणः ।
वायुर्भूत्वेत्यादिवाक्यात् तत्तद्भावं प्रपद्यते ॥१॥
खवत्सूक्ष्मो वायुवशो युक्तो धूमादिभिर्भवेत् ।
अन्यस्यान्यस्वरूपत्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—स्वर्गसे अवरोह करनेवाले जीव वियदादिके स्वरूपको प्राप्त होते हैं अथवा उनकी साम्यताको ?

पूर्वपक्ष—वायुर्भूत्वा इत्यादि वाक्यसे वियदादिस्वरूप होते हैं ।

सिद्धान्त—अन्य अन्यका स्वरूप नहीं हो सकता है, अतः आकाशादिकी प्रतिपत्तिसे आकाशके समान सूक्ष्म, वायुवश और धूम आदिसे सम्बद्ध ही विवक्षित है ।

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥२२॥

पदच्छेद—साभाव्यापत्तिः, उपपत्तेः ।

पदार्थोक्ति—[जीवानाम्] साभाव्यापत्तिः—[तैः आकाशादिभिः] साभाव्यापत्तिः—समानः भावः—रूपं येषां ते सभावाः, तेषां भावः साभाव्यं-सादृश्यम्—तस्य आपत्तिः प्राप्तिः, [कुतः ?] उपपत्तेः—चन्द्रलोकं गतानामनुशयिनां प्रवृत्तफलकर्मक्षयदर्शनजनितशोकाग्निना दह्यमानमिदं शरीरं करकादिवत् विलीयमानमाकाशसमं भवतीति—एतदुपपद्यते, [नहि अन्यस्यान्यभावो मुख्य उपपद्यते, तस्मात् सादृश्यमेव प्रतिपद्यन्त इति सिद्धम्] ।

भाषार्थ—जीवोंका उन आकाश आदिके साथ साभाव्यापत्ति—सादृश्य ही है, क्योंकि उपपत्ति है—चन्द्रलोकमें गये हुए अनुशयी जीवोंके फलोपभोगके अनन्तर कर्मक्षयके दर्शनसे उत्पन्न शोकाग्नि द्वारा दह्यमान शरीर बरफके समान गलता हुआ आकाशके समान होता है, अन्यका अन्यभाव मुख्य नहीं हो सकता है, इससे सादृश्यको ही प्राप्त होते हैं, ऐसा सिद्ध हुआ ।

---

*भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—स्वर्गसे अवरोहका क्रम इस प्रकार सुना जाता है—'अथैतमेवाध्वान पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशम्' इत्यादिसे । यहाँ स्वर्गसे उतरनेवाला जीव आकाशादि रूप ही हो जाता है, क्योंकि 'वायुर्भूत्वा' इत्यादि वाक्य तद्भाव—तद्रूपताका ही बोधन करते हैं, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—अन्यमें अन्यकी स्वरूपताके सम्भव न होनेसे आकाश-प्रतिपत्तिसे आकाशके समान सूक्ष्म, ऐसा अर्थ विवक्षित है, वायुभावसे वायुवशता, और धूमादिभाव माने धूमादिसे सम्पर्क, ऐसा निर्णय है, अतः पूर्वपक्ष असङ्गत है ।

भाष्य

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसमारुह्य तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वा ततः सानुशया अवरोहन्तीत्युक्तम् । अथावरोहप्रकारः परीक्ष्यते । तत्रेयमवरोहश्रुतिर्भवति— 'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वा अभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति'

भाष्यका अनुवाद

इष्ट आदि करनेवाले चन्द्रमें समारोहण करके उसमें कर्मफल स्वर्गसुखभोग पर्यन्त रहकर वहांसे अनुशयसहित अवरोहण करते हैं, ऐसा कहा गया है। अब अवरोहप्रकारकी परीक्षा की जाती है। वहां यह अवरोह श्रुति है— 'अथैतमेवाध्वानम्०' (पीछे इसी मार्गसे फिर लौटता है, जैसे गया था वैसे ही

रत्नप्रभा

एवं पापिनां गत्यागती विचार्य सम्प्रतीष्टादिकारिणामवरोहे विशेषमाह— साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः । 'यथेतमनेवं च' इत्युक्तरीत्या यथागतं धूमाद्यध्वानं पुनर्निवर्तन्ते, निवृत्ताश्चानुशयिनः कर्मान्ते द्रुतदेहाः आकाशं गताः आकाशसदृशा भवन्ति । आकाशसादृश्यानन्तरं पिण्डीकृतातिसूक्ष्मलिङ्गोपहिताः वायुना इतस्ततश्च नीयमाना वायुसमा भवन्ति । सानुशयः सद्यो वायुसमो भूत्वा धूमं गतः तत्समो भवति, धूमसमो भूत्वा अभ्रसमो भवति । अपो बिभ्रतीत्यभ्रम् । मेहति— सिञ्चतीति वृष्टिकर्ता मेघः तत्समो भूत्वा वर्षधाराद्वारा पृथिवीमुपविश्य व्रीहियवादिरूपो भवतीति सिद्धान्तगत्या श्रुत्यर्थः । पूर्वोत्तरयुक्तिद्वयं संशयबीजं मन्तव्यम् । पूर्वत्र मार्गद्वयमुक्त्वा तृतीयत्वोक्तेर्युक्तं स्थानशब्दस्य मार्गलक्षकत्वम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार पापियोंकी गति और आगतिका विचार करके इष्ट आदि करनेवालोंके अवरोहमें विशेष कहते हैं—"साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः"। 'यथेतमनेवं च' (जैसे गया था वैसे नहीं—विपरीत ढंगसे) इस उक्त रीतिसे जैसे गये थे वैसे ही धूमादि मार्गसे पीछे लौटते हैं और निवृत्त—लौटे हुए अनुशयी जीव कर्मके अन्तमें द्रवीभूत—पिघले हुए देहवाले आकाशमें जाकर तत्सदृश हो जाते हैं। आकाशसादृश्यके अनन्तर पिण्डीकृत होकर अतिसूक्ष्म लिंगसे उपहित वायुद्वारा इधर उधर नीयमान होनेसे वायुसम होते हैं। वह अनुशयी जीव तत्क्षण वायुसम होता हुआ धूमको प्राप्तकर तत्सदृश होता है। धूमतुल्य होकर अभ्रतुल्य होता है। अप अर्थात् जलको जो धारण करे, वह अभ्र, 'मेहति' अर्थात् जो सिंचन करता है, वह वृष्टिकर्ता मेघ, तत्सम होकर वृष्टिधाराद्वारा पृथिवीमें प्रवेश करके व्रीहियवादिरूप होता है, इस प्रकार सिद्धान्तकी गतिके अनुसार श्रुतिका अर्थ है। पूर्वोत्तर दो युक्तियोंको संशयका बीज समझना

भाष्य

(छा० ५।१०।५) इति। तत्र संशयः—किमाकाशादिस्वरूपमेवावरोहन्तः प्रतिपद्यन्ते किंवाऽऽकाशादिसाम्यमिति। तत्र प्राप्तं तावत्—आकाशादिस्वरूपमेव प्रतिपद्यन्त इति। कुतः? एवं हि श्रुतिर्भवति। इतरथा लक्षणा स्यात्। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा। तथा च वायुर्भूत्वा धूमो भवतीत्येवमादीन्यक्षराणि तत्तत्स्वरूपोपपत्तावाञ्जस्येनावकल्पन्ते। तस्मादाकाशादिस्वरूपप्रतिपत्तिरिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आकाशादिसाम्यं प्रतिपद्यन्त इति। चन्द्रमण्डले यदम्मयं शरीरमुपभोगार्थमारब्धं तदुपभोगक्षये सति प्रविलीयमानं सूक्ष्ममाकाशसमं भवति ततो वायोर्वशमेति ततो धूमा-

भाष्यका अनुवाद

आकाशमें लौटता है, आकाशसे वायुमें, वायु होकर धूम होता है, धूम होकर अभ्र होता है, अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर जलरूपमें पृथिवीपर गिरता है) उसमें संशय है कि अवरोहण करनेवाला क्या आकाशादिस्वरूप ही प्राप्त करता है, या आकाशादिसाम्य? उसमें आकादिस्वरूप ही प्राप्त करता है, ऐसा प्राप्त होता है। किससे? इससे कि इसी प्रकारकी श्रुति है, नहीं तो लक्षणा होगी। श्रुति और लक्षणाके संशयमें श्रुति न्याय्य है, लक्षणा नहीं। उसी प्रकार 'वायुर्भूत्वा धूमो भवति (वायु होकर धूम होता है) इत्यादि अक्षर तत्-तत्स्वरूपकी उपपत्तिमें अनायास उपपन्न होते हैं, इसलिए आकाशादिस्वरूपकी प्रतिपत्ति है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'आकाशादिके साम्यको प्राप्त करते हैं'। चन्द्रमण्डलमें जो जलमय शरीर उपभोगके लिए उत्पन्न हुआ है, वह उपभोगके क्षय

रत्नप्रभा

इह तु दुग्धं दधि भवतीत्यादिप्रयोगे भवतिश्रुतेर्विकारस्वरूपापत्तौ मुख्यत्वात् सादृश्यापत्तिलक्षणाबीजं नास्तीति प्रत्युदाहरणसङ्गतिः। श्रुतिमुख्यत्वं फलमिति पूर्वपक्षः। अनुशयिनां पूर्वसिद्धाकाशादिस्वरूपापत्त्ययोगात् लक्षणेति सिद्धन्तयति—एवमित्यादिना। समानो भावो धर्मो यस्य तद्भावः—साभाव्यम्, साम्यमिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए। पूर्वमें दो मार्ग कहकर तृतीयत्व कहा गया है, इसलिए स्थानशब्द मार्गलक्षक है, यह युक्त है, यहां तो 'दुग्धं दधि भवति' (दूध दही होता है) इत्यादि प्रयोगमें 'भवति' श्रुतिका विकारस्वरूपप्राप्ति मुख्य अर्थ होनेसे सादृश्यापत्तिमें लक्षणाबीज नहीं है, ऐसी प्रत्युदाहरणसंगति है। यह पूर्वपक्ष है। अनुशयी-जीवोंकी पूर्वसिद्ध आकाशादिस्वरूप प्राप्तिके अयुक्त होनेसे लक्षणा है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। समान—एकसा, भाव—धर्म है

भाष्य

दिभिः संपृच्यत इति। तदेतदुच्यते—'यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुम्' (छा० ५।१०।५) इत्येवमादिना। कुतः एतत्? उपपत्तेः। एवं ह्येतदुपपद्यते। नह्यन्यस्यान्यभावो मुख्य उपपद्यते। आकाशस्वरूपप्रतिपत्तौ च वाय्वादिक्रमेणावरोहो नोपपद्यते। विभुत्वाच्चाकाशेन नित्यसम्बद्धत्वान्न तत्सादृश्यापत्तेरन्यस्तत्सम्बन्धो घटते। श्रुत्यसम्भवे च लक्षणाश्रयणं न्याय्यमेव। अत आकाशादितुल्यतापत्तिरेवात्राकाशादिभाव इत्युपचर्यते ॥२२॥

भाष्यका अनुवाद

होने पर प्रविलीन होकर सूक्ष्म आकाशके समान होता है, पीछे वायुके वशमें होता है, फिर उसके बाद धूमादिके साथ संपृक्त होता है। वह 'यथेतमाकाशम्०' (जैसे गया था वैसे ही आकाशमें पीछे लौटता है, आकाशसे वायुमें) इत्यादिसे कहा गया है। यह किससे? उपपत्तिसे। क्योंकि इस प्रकार यह उपपन्न होता है, क्योंकि एक वस्तुका अन्यभाव मुख्य अर्थमें उपपन्न नहीं होता। आकाशस्वरूपकी प्रतिपत्ति माननेपर वायु आदिमें क्रमसे अवरोह उपपन्न नहीं होगा और आकाशके विभु होनेसे तथा उसके साथ नित्य संबन्ध होनेसे आकाशादि-तुल्यताप्राप्तिसे भिन्न उसका संबन्ध नहीं घटता। और श्रुतिके असंभवमें लक्षणाका आश्रयण करना ठीक ही है। इसलिए यहां आकाशादितुल्यताप्राप्ति ही आकाशादिभाव है ॥ २२ ॥

रत्नप्रभा

सूत्रपदार्थः। एवं ह्येतदिति। एतद्—भवनम्, एवं—सादृश्यरूपमेवोपपद्यते इत्यर्थः। अनुशयिनामाकाशादिभ्यो निर्गमनान्यथानुपपत्त्यापि सादृश्यलक्षणा इत्याह—आकाशस्वरूपेति। संयोगलक्षणाम् आशङ्क्याह—विभुत्वादिति। भवतिश्रुत्या संयोगलक्षणायाम् अनुवादः स्यात् इत्यर्थः। विविधभूतसाम्यमवरोहे भवतीत्यनुसन्धानाद्वैराग्यमुपसंहरति—अत इति ॥ २२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिसका वह सभाव, उसका जो भाव वह साभाव्य—साम्य है, ऐसा सूत्रपदका अर्थ है। "एवं ह्येतत्" इत्यादि। एतत्—यह आकाशादि भवन, एवम्—सादृश्यरूप ही उपपन्न होता है, ऐसा अर्थ है। अनुशयी (जीवों) के आकाश आदिसे निर्गमनकी अन्यथानुपपत्ति होनेसे भी सादृश्यलक्षणा है, ऐसा कहते हैं—"आकाशस्वरूप" इत्यादिसे। परन्तु भवतिश्रुतिसे आकाश आदिके संयोगमात्रमें लक्षणा करो, सादृश्यमें लक्षणाका क्या प्रयोजन है? ऐसी आशंका करके कहते हैं—"विभुत्वात्" इत्यादिसे। भवतिश्रुतिसे संयोगमें लक्षणा माननेपर अनुवाद होगा, ऐसा अर्थ है। अवरोहमें विविध भूतसाम्य होता है, ऐसे अनुसन्धानसे वैराग्य होता है, इस प्रकार उपसंहार करते हैं—"अतः" इत्यादिसे ॥ २२ ॥

[५ नातिचिराधिकरण सू० २३]

व्रीह्यादेः प्राग्विलम्बेन त्वरया वाऽवरोहति ।
तत्रानियम एव स्यान्नियामकविवर्जनात् ॥१॥
दुःखं व्रीह्यादिनिर्याणमिति तत्र विशेषितः ।
विलम्बस्तेन पूर्वत्र त्वराऽर्थादवसीयते* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—व्रीह्यादिभावके पूर्व अनुशयी आकाशादिमेंसे विलम्बसे अवरोह करता है अथवा त्वरासे ?

पूर्वपक्ष—किसी नियामकके न रहनेसे अनियम है ।

सिद्धान्त—व्रीह्यादिभावसे निकलना कठिन है, क्योंकि श्रुतिमें विलम्ब विशेषित है, अतः आकाश आदिसे शीघ्र उतरता है, ऐसा अर्थात् ज्ञात होता है ।

नातिचिरेण विशेषात् २३

पदच्छेद—न, अतिचिरेण, विशेषात् ।

पदार्थोक्ति—[जीवः] न अतिचिरेण—अल्पकालमेव [आकाशादिवर्षान्तैः सादृश्येनावस्थाय वर्षणधाराद्वारा पृथिवीं प्रविशति, कुतः ?] विशेषात्—व्रीह्यादिभावापत्त्यनन्तरम् 'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' इत्येवं रूपेण विशेषात् [ततः पूर्व सुनिष्प्रपतरत्वं ज्ञायते इति भावः] ।

भाषार्थ—जीव स्वल्पकाल ही आकाश आदिके साथ समानरूपसे रहकर वर्षाकी धारा द्वारा पृथ्वीमें प्रवेश करता है, क्योंकि व्रीह्यादि भावकी प्राप्तिके अनन्तर ही 'अतो वै' इत्यादि श्रुतिसे दुर्निष्प्रपतरत्वका कथन है, उसके पूर्व नहीं, ऐसा ज्ञात होता है ।

---

* वर्षणके बाद व्रीह्यादिभाव श्रुतिमें कहा गया है—'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयास्तिलमाषा इति जायन्ते' इत्यादि, इससे व्रीह्यादिभावसे पूर्व आकाश आदिभावसे जीव शीघ्र अवरोह करता है या विलम्बसे ? उसमें नियामकके अभाव होनेसे अनिर्णय है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—व्रीह्यादिभावको कहकर 'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' इत्यादि श्रुति 'व्रीह्यादिभावसे निकलना अति कठिन है' इस प्रकार कहती हुई व्रीहि आदिमें विलम्बका कथन करती है, इसलिए पूर्व आकाश आदिमें त्वरा है, ऐसा अवगम होता है ।

भाष्य

तत्राकाशादिप्रतिपत्तौ प्राग्व्रीह्यादिभावापत्तेर्भवति विशयः—किं दीर्घं दीर्घं कालं पूर्वपूर्वसादृश्येनावस्थायोत्तरोत्तरसादृश्यं गच्छन्त्युताल्पमल्पमिति। तत्रानियमः, नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादिति। एवं प्राप्त इदमाह—नातिचिरेणेति। अल्पमल्पं कालमाकाशादिभावेनावस्थाय वर्षधाराभिः सहेमां भुवमापतन्ति। कुत एतत्? विशेषदर्शनात्। तथाहि व्रीह्यादिभावापत्तेरनन्तरं विशिनष्टि—'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' (छा० ५।१०।६) इति। तकार एकश्छान्दस्यां प्रक्रियायां लुप्तो मन्तव्यः। दुर्निष्प्रपततरं दुर्निष्क्रमतरम्—दुःखतरमस्माद् व्रीह्यादिभावान्निःसरणं भवतीत्यर्थः। तदत्र दुःखं निष्प्रपतनं प्रदर्शयन्पूर्वेषु सुखं निष्प्रपतनं दर्शयति। सुख-

भाष्यका अनुवाद

वहां व्रीहि आदिकी प्राप्तिके पहले आकाशादिकी प्राप्तिमें संशय होता है—क्या दीर्घ-दीर्घ कालतक पूर्व-पूर्वसादृश्यसे अवस्थित होकर उत्तरोत्तर सादृश्य पाते हैं या अल्प-अल्प कालतक अवस्थित होकर? उसमें अनियम है, क्योंकि नियम करनेवाला शास्त्र नहीं है। ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहते हैं—'नातिचिरेण' इत्यादि। अल्प अल्प काल आकाशादिभावसे अवस्थित होकर वृष्टिधाराओंके साथ इस पृथिवी पर पड़ते हैं। यह किससे? विशेषका दर्शन होनेसे। क्योंकि व्रीहि आदिभावकी प्राप्तिके पीछे विशेष कहते हैं—'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' (निश्चय, इससे निष्क्रमण विशेष कष्टदायक है) इस प्रकार एक तकार छान्दस प्रक्रियामें लुप्त समझना चाहिए। दुर्निष्प्रपततर—दुर्निष्क्रमतर, इस व्रीहि आदिभावसे निःसरण दुःखतर है, ऐसा अर्थ है। वह वचन यहां दुःखयुक्त निष्क्रमण दिखलाता हुआ पूर्वभावोंमें सुखसे निष्क्रमण दिखलाता है। और निष्क्रमणमें

रत्नप्रभा

नातिचिरेणेति। उक्तं सादृश्यमुपजीव्य लोके गन्तॄणां चिराचिरगतिदर्शनात् संशयं वदन् पूर्वपक्षयति—तत्रेत्यादिना। अनियमात् कदाचिद्विलम्बेन योन्यापत्तिरिति पूर्वपक्षफलम्। सिद्धान्ते तु व्रीहियवादिभावादनुशयिनां विलम्बेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

"नातिचिरेण" इत्यादि। सादृश्यका उपजीवन—अवलम्बनकर चिर और अचिर गतिके प्रदर्शनके संशयको कहते हुए पूर्वपक्ष कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। अनियम होनेसे कदाचित् विलम्बसे जन्मप्रसंग होता है, ऐसा पूर्वपक्षमें फल है। सिद्धान्तमे तो व्रीहियवादिभावसे

भाष्य

दुःखताविशेषश्चायं निष्प्रपतनस्य कालाल्पत्वदीर्घत्वनिमित्तः। तस्मिन्नवधौ शरीरानिष्पत्तेरुपभोगासम्भवात्। तस्माद् व्रीह्यादिभावापत्तेः प्रागल्पेनैव कालेनावरोहः स्यादिति ॥२३॥

भाष्यका अनुवाद

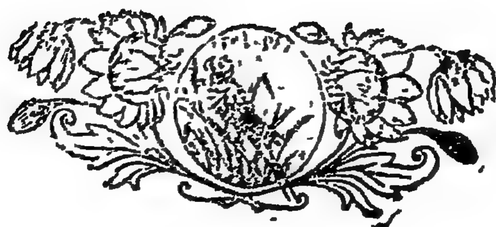
सुख और दुःखकी स्थितिका जो विशेष है उसके निमित्त कालका अल्पत्व और दीर्घत्व है। क्योंकि उस अवधि-कालमें शरीरकी अनिष्पत्तिसे उपभोगका असंभव है। इसलिए व्रीहि आदिकी प्राप्तिके पूर्व अल्पकालमें ही अवरोह होता है ॥२३॥

रत्नप्रभा

निर्गमनमिति विशेषात् आकाशादिभावात् शीघ्रं निर्गम इति अविलम्बेन योन्यापत्तिरित्यनुसन्धानात् वैराग्यदार्ढ्यमिति विवेकः। नन्वाकाशादिष्वनुशयिनां सुखं, व्रीहियवादिषु दुःखमिति दुःखशब्दाद्भाति, न चिराचिरनिर्गमनमित्यत आह—सुखदुःखताविशेषश्चायमिति। अवधिः—कालः ॥ २३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनुशयिओंका (जीवोंका) विलम्बसे निर्गमन होता है, ऐसा विशेष होनेसे आकाशादिभावसे शीघ्र ही निर्गमन होता है अर्थात् अविलम्बसे जन्मप्राप्ति है, इस अनुसन्धानसे वैराग्यकी दृढता है, ऐसा विवेक है। परन्तु आकाशादिमें अनुशयिओंको (जीवोंको) सुख और व्रीह्यादिमें दुःख है, यह दुःखशब्दसे समझमें आता है, चिर या अचिरकालमें निर्गमन समझमें नहीं आता, इसलिए कहते हैं—"सुखदुःखताविशेषश्चायम्" इत्यादिसे। अवधि—काल ॥ २३ ॥



[६ अन्याधिष्ठिताधिकरण । सू०—२४-२७]

व्रीह्यादौ जन्म तेषां स्यात्संश्लेषो वा जनिर्भवेत् ।
'जायन्त' इति मुख्यत्वात्पशुहिंसादिपापतः ॥१॥
वैधान्न पापसंश्लेषः कर्मव्यापृत्यनुक्तितः ।
श्वविप्रादौ मुख्यजनौ चरणव्यापृतिः श्रुता* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—व्रीहि आदिमें जीवोंका संसर्गमात्र है अथवा मुख्य जन्म है ?

पूर्वपक्ष—मुख्य जन्म है, क्योंकि 'जायन्ते' इसका श्रवण है और पशु हिंसादि पापका योग है ।

सिद्धान्त—वैध होनेसे पशुहिंसा पाप नहीं है और कर्मके व्यापारका कथन नहीं है, अतः व्रीह्यादिमें संसर्गमात्र है, जन्म नहीं है ।

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥२४॥

पदच्छेद—अन्याधिष्ठितेषु, पूर्ववदभिलापात् ।

पदार्थोक्ति—अन्याधिष्ठितेषु—अन्यैः जीवैः अधिष्ठितेषु [व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनां भवति, कुतः ?] पूर्ववदभिलापात्—यथा आकाशादिवर्षान्तेषु कर्मपरामर्शमन्तरेणैव प्रवेश उक्तः, तथा व्रीह्यादिष्वपि कर्मपरामर्शं विनैव प्रवेशाभिलापात्, [अतः कर्मपरामर्शाभावान्न व्रीह्यादिष्वनुशयिनां सुखादिभोगः] ।

भाषार्थ—जीवोंसे अधिष्ठित व्रीहि आदिमें अनुशयी जीवोंका संसर्गमात्र ही है, क्योंकि जैसे आकाश आदिसे वर्षा पर्य्यन्त कर्म परामर्शके बिना प्रवेश कहा गया है, वैसे व्रीहि आदिमें भी कर्म परामर्शके बिना ही प्रवेशका कथन है। इससे कर्मके परामर्श के न होनेसे व्रीह्यादिमें अनुशयियोंका सुखादिसाक्षात्कार नहीं है ।

---

* भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—आकाश आदिके समान व्रीहि आदिमें ससर्गमात्र नहीं है, किन्तु व्रीहि आदिके रूपसे मुख्य जन्म है, कारण कि 'जायन्ते' यह श्रुति है। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए—'स्वर्गमें पुण्यफलका भोगकर पापफलरूप स्थावर जन्मका सम्भव हो सकता है' क्योंकि स्थावर जन्मका कारण पशुहिंसादि वर्तमान है, अत मुख्य ही जन्म है, ऐसा प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—विधिशास्त्रलभ्य होनेसे यज्ञमें पशुहिंसा पाप नहीं हो सकता, इसलिए 'जायन्ते' इस शब्दसे सश्लेषमात्र विवक्षित है मुख्य जन्म नहीं, क्योंकि कर्मके व्यापारका अभिधान नहीं है, जहा मुख्य जन्म विवक्षित होता है वहा कर्मके व्यापारका अभिधान होता है—जैसे 'रमणीयचरणाः' इत्यादि । अतः स्वर्गसे अवरोह करनेवालोंका व्रीह्यादिमें सश्लेषमात्र है ।

भाष्य

तस्मिन्नववरोहे प्रवर्षणानन्तरं पठ्यते—'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' (छा० ५।१०।६)। तत्र संशयः—किमस्मिन्नवधौ स्थावरजात्यापन्नाः स्थावरसुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्त्याहोस्वित् क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितेषु स्थावरशरीरेषु संश्लेषमात्रं गच्छन्तीति। किं तावत्प्राप्तम्? स्थावरजात्यापन्नास्तत्सुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्तीति। कुत एतत्? जनेर्मुख्यार्थत्वोपपत्तेः, स्थावरभावस्य च श्रुतिस्मृत्योरुपभोगस्थानत्वप्र-

भाष्यका अनुवाद

उसी अवरोहमें प्रवर्षणके अनन्तर ऐसा पढ़ा गया है—'त इह व्रीहियवा०' (वे यहां व्रीहि और यव, ओषधि और वनस्पति, तिल तथा उड़दरूपसे उत्पन्न होते हैं) उसमें संशय होता है कि—इस अवधि—कालमें स्थावरजाति प्राप्त हुए अनुशयी स्थावरके सुख-दुःख भोगनेवाले होते हैं या अन्य आत्मासे अधिष्ठित स्थावर शरीरोंमें संश्लेशमात्र पाते हैं? तब क्या प्राप्त होता है? स्थावरजाति प्राप्त हुए अनुशयी उसके सुख-दुःख भोगनेवाले होते हैं। यह किससे? इससे कि इसमें 'जन्' धातुका मुख्य अर्थ उपपन्न होता है। स्थावरभाव श्रुति और

रत्नप्रभा

अन्याधिष्ठितेष्विति। श्रुतिक्रमाद् अर्थक्रमात् च अधिकरणानां क्रमो बोध्यः। इह भूमौ वर्षधाराद्वारा पतिताः ते—अनुशयिनो व्रीह्यादिसाम्येन जायन्ते इति श्रुत्यर्थः। अत्र जायन्त इति श्रुतेः पूर्वत्राकाशादिवर्षान्तसादृश्योक्तेः च संशयमाह—तत्रेति। अस्मिन्नवधौ वर्षसादृश्यानन्तरमित्यर्थः। दुर्निष्प्रपतरशब्देन चिरनिर्गमनलक्षणा उक्ता न युक्ता, दुःखेन निर्गमनमिति मुख्यसम्भवात् इत्याक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षयति—किन्तावदित्यादिना। अत्र पूर्वपक्षे स्थावरत्वनिवृत्तयेऽधिकारिणां यत्नगौरवम्। सिद्धान्ते व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं परिहर्तुं यत्नलाघवं वैराग्यध्रौव्यञ्चेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्"। श्रुति और अर्थके क्रमसे अधिकरणोंका क्रम समझना चाहिए। यहां भूमिपर वृष्टिधारा द्वारा पड़े हुए वे अनुशयी जीव व्रीहि आदिके सदृश होकर जन्म लेते हैं, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। यहां 'जायन्ते' (जन्म लेते हैं) ऐसी श्रुति होनेसे, और पूर्व अधिकरणमें आकाश आदिसे वृष्टिपर्यन्तमें सादृश्य कहा गया है इससे, संशय होता है, ऐसा कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। अस्मिन् अवधौ—(इस अवधिमें) वृष्टिसादृश्यके अनन्तर, ऐसा अर्थ है। दुर्निष्प्रपतरशब्दसे चिरकालके बाद निर्गमन होता है, ऐसी जो लक्षणा कही गई है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि दुःखसे निर्गमन होता है, इस मुख्य अर्थका संभव है, इस

भाष्य

सिद्धेः, पशुहिंसादियोगाच्चेष्टादेः कर्मजातस्यानिष्टफलत्वोपपत्तेः। तस्मान्मुख्यमेवेदमनुशयिनां व्रीह्यादिजन्म, श्वादिजन्मवत्। यथा श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वेति मुख्यमेवानुशयिनां श्वादिजन्म तत्सुखदुःखान्वितं भवति, एवं व्रीह्यादिजन्मापीति।

भाष्यका अनुवाद

स्मृतिमें उपभोगस्थानरूपसे प्रसिद्ध है और पशुहिंसा आदिके योगसे इष्ट आदि कर्मसमूह अनिष्ट फलको देनेवाले हैं, ऐसा उपपन्न होता है। इसलिए अनुशयिओंका व्रीहि आदिरूपसे जन्म मुख्यार्थमें ही है, कुत्ते आदिरूपसे जन्मके समान। जैसे श्वयोनि, सूकरयोनि, या चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं, ऐसा कहनेसे अनुशयिओंका श्वादिजन्म मुख्य ही है, और वे उसके सुखदुःखसे युक्त होते हैं, वैसे ही व्रीहि आदि जन्म भी।

रत्नप्रभा

विवेकः। ननु देहोत्पत्त्या जीवानां जन्म स्यात्, न स्वतः, व्रीह्यादेस्तु न देहत्वमित्यत आह—स्थावरभावस्येति। 'स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति' इत्याद्या श्रुतिः। 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः' इत्याद्या स्मृतिः। ननु स्वर्गिणां पापाभावात् कथं स्थावरत्वं तत्राह—पश्विति। सोमाद्युच्छिष्टभक्षणसुराग्रहौ—आदिशब्दार्थः। क्रत्वर्थहिंसादेरपि हिंसात्वादिसामान्येन प्रवृत्तेः 'न हिंस्यात्' इत्यादिशास्त्रनिषिद्धत्वाकारेण दुरितापूर्वकारित्वम् अविरुद्धमिति सांख्या आहुः।

श्रुतोऽत्र व्रीह्यादिभावोऽनुशयिनां न जन्मरूपः कर्मविशेषपरामर्शं विना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकार आक्षेपसंगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"कि तावत्" इत्यादिसे। यहा पूर्वपक्षमें अधिकारियोंकी स्थावरत्वनिवृत्तिके लिए यत्नगौरव है, सिद्धान्तमें व्रीह्यादि संश्लेषमात्रका परिहार करनेके लिए यत्नलाघव और वैराग्यदार्ढ्य है, ऐसा विवेक है। देहकी उत्पत्तिसे जीवोंका जन्म हो सकता है, स्वतः—अपने आप नहीं, व्रीहि आदि तो देह ही नहीं है, इसलिए कहते हैं—"स्थावरभावस्य" इत्यादि। 'स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति' (अन्य स्थाणुभाव प्राप्त करते हैं) इत्यादि श्रुति है। 'शरीरजैः कर्मदोषैः०' (शरीरसे उत्पन्न कर्मदोषसे मनुष्य स्थावरता प्राप्त करता है) इत्यादि स्मृति है। परन्तु स्वर्ग जानेवालोंमे पापका अभाव है, अतः वे स्थावरत्व कैसे प्राप्त कर सकते हैं, इसपर कहते हैं—"पशु" इत्यादि। सोमादि पानके अवसरमें परस्पर उच्छिष्ट भक्षण और सुराग्रह, यह आदि शब्दका अर्थ है। यज्ञके लिए हिंसा आदि भी हिंसात्वसामान्यधर्मसे ही प्रवृत्त है, इसलिए 'न हिंस्यात्' (हिंसा न करे) इत्यादि शास्त्रसे निषिद्ध किये गये स्वरूपसे हिंसामें पापरूप अपूर्वकारिता अविरुद्ध है, ऐसा सांख्योंने कहा है। यहां शास्त्रसे कहे गये

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अन्यैर्जीवैरधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनः प्रतिपद्यन्ते न तत्सुखदुःखभाजो भवन्ति, पूर्ववत्। यथा वायुधूमादिभावोऽनुशयिनां तत्संश्लेषमात्रम्, एवं व्रीह्यादिभावोऽपि जातिस्थावरैः संश्लेषमात्रम्। कुत एतत्? तद्वदेवेहाप्यभिलापात्। कोऽभिलापस्य तद्वद्भावः? कर्मव्यापारमन्तरेण संकीर्तनम्, यथाकाशादिषु प्रवर्षणान्तेषु न कंचित्कर्मव्यापारं परामृशत्येवं व्रीह्यादिजन्मन्यपि। तस्मान्नास्त्यत्र सुखदुःखभाक्त्वमनुशयिनाम्। यत्र तु सुखदुःखभाक्त्वमभिप्रैति, परामृशति तत्र

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होने पर—हम कहते हैं—अन्यजीवोंसे अधिष्ठित व्रीहि आदिमें अनुशयी संसर्गमात्र प्राप्त करते हैं, उनके सुख या दुःखके भागी नहीं होते, पूर्वके समान। जैसे अनुशयिओंका वायु, धूमादि होना, उनके साथ संश्लेषमात्र है, वैसे ही व्रीहि आदि होना, भी स्थावर जातिके साथ संश्लेषमात्र है। यह किससे? उसके ही समान यहां भी उपदेश होनेसे। उसीके समान व्यपदेश होना किस प्रकार है? कर्म—पुण्य-पापके व्यापारके विना संकीर्तन है। जैसे आकाशसे लेकर प्रवर्षण तक श्रुति किसी भी कर्मव्यापारका परामर्श नहीं करती, वैसे व्रीहि आदिरूपसे

रत्नप्रभा

अत्रोक्तत्वात् पूर्वोक्ताकाशादिभाववत्, इति सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इत्यादिना। पूर्ववत् इतिपदं दृष्टान्तत्वेन हेत्वंशत्वेन च व्याख्यातम्। यदत्र प्रकरणे कर्मविशेषपरामर्शपूर्वकमुच्यते, तज्जन्मेति व्यतिरेकदृष्टान्तमप्याह—अत्र त्विति। अपि च 'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति' इति वाक्यशेषे व्रीह्यादिषु प्रविष्टस्यानुशयसंघस्यान्नद्वारा रेतःसिक्पुरुषयोगः श्रुतः, तदन्यथानुपपत्त्यापि जन्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनुशयी जीवोंका व्रीह्यादिभाव जन्मरूप नहीं है, कर्म—पुण्यपापविशेषके परामर्शके विना उक्त होनेसे, पूर्वोक्त 'आकाशादि भावके समान' ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। 'पूर्ववत्' इस पदका दृष्टान्तरूपसे और हेत्वंशरूपसे व्याख्यान किया है, जो इस प्रकरणमें कर्म। पुण्यपापविशेषके परामर्शसे कहा गया है, वह जन्म है, ऐसा व्यतिरेकदृष्टान्तसे भी कहते हैं—'यत्र तु' इत्यादिसे। और 'यो यो ह्यन्नमत्ति०' (जो जो अनुशयीसे संश्लिष्ट अन्न खाता है और ऋतुकालमें स्त्रीमें रेत—वीर्यका सिंचन करता है, वह तदाकृति ही होता है) इस वाक्य

भाष्य

कर्मव्यापारम्—रमणीयचरणाः कपूयचरणा इति च। अपिच मुख्येऽनुशयिनां व्रीह्यादिजन्मनि व्रीह्यादिषु लूयमानेषु कण्ड्यमानेषु पच्यमानेषु भक्ष्यमाणेषु च तदभिमानिनोऽनुशयिनः प्रवसेयुः। यो हि जीवो यच्छरीरमभिमन्यते स तस्मिन्पीड्यमाने प्रवसतीति प्रसिद्धम्। तत्र व्रीह्यादिभावाद्रेतःसिग्भावोऽनुशयिनां नाभिलप्येत। अतः संसर्गमात्रमनुशयिनामन्याधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु भवति। एतेन जनेर्मुख्यार्थत्वं प्रतिब्रूयादुपभोगस्थानत्वं च स्थावरभावस्य। न च वयमुपभोगस्थानत्वं स्थावरभावस्यावजानीमहे। भवत्वन्येषां जन्तूनामपुण्यसामर्थ्येन स्थावरभावमुप-

भाष्यका अनुवाद

जन्ममें भी। इसलिए यहां अनुशयी जीव सुखदुःखके भागी ही नहीं है। जहां पर सुखदुःखका भागी होना, श्रुतिका उद्देश होता है, वहांपर कर्मव्यापारका श्रुति परामर्श करती है, जैसे कि 'रमणीय चरणाः (शुभ शीलवाले), 'कपूयचरणाः' निन्दित शीलवाले)। और यदि अनुशयी जीवोंका व्रीहि आदिरूपसे जन्म मुख्यार्थमें हो, तो जब व्रीहि आदि काटे जांय, कूटे जांय, रांधे जांय या खाये जांय, तब उनके अभिमानी अनुशयी जीव प्रवास करे, क्योंकि जो जीव जिस शरीरका अभिमानी होता है, वह उस शरीरके पीडित होनेपर प्रवास करता है, यह प्रसिद्ध है। अनुशयी जीवोंका व्रीह्यादिभावसे रेतःसिग्भावका—पुरुषयोगका जो श्रुतिमें कथन है, वह नहीं होता। इसलिए अन्यसे अधिष्ठित व्रीह्यादिमें अनुशयी जीवोंका संसर्गमात्र होता है। इससे 'जन्' धातुके मुख्यार्थत्वका और स्थावरभावके उपभोगस्थानत्वका निराकरण करना

रत्नप्रभा

श्रुतिर्न मुख्येत्याह—अपि चेत्यादिना। व्रीह्यादिरूपदेहनाशे देहिनामुत्क्रान्तेरवश्यम्भावाद्रेतःसिग्योगो न स्यादित्यर्थः। एतेनेति। उक्तानुमानार्थापत्तिभ्यां जायत इति श्रुतेर्मुख्यार्थत्वमनुशयिभोगायतनत्वं च व्रीह्यादेः प्रतिब्रूयादित्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

शेषमें व्रीहि आदिमें प्रविष्ट अनुशयिओंका अन्न द्वारा वीर्यके आधानकर्ता पुरुषसे जो योग कहा गया है, उसकी अन्यथा अनुपपत्तिसे भी जन्मश्रुति मुख्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। व्रीहि आदिरूप देहका नाश होनेपर देहीकी उत्क्रान्ति अवश्य होनेसे रेत सिक् (पुरुष) योग नही होगा, ऐसा अर्थ है। एतेन—इससे अर्थात् उक्त अनुमान और अर्थापत्तिसे जन् धातुके मुख्यार्थ-

भाष्य

गतानामेतदुपभोगस्थानम् । चन्द्रमसस्त्ववरोहन्तोऽनुशयिनो न स्थावरभावमुपभुञ्जत इत्याचक्ष्महे ॥२४॥

भाष्यका अनुवाद

चाहिए। और स्थावरभाव उपभोगका स्थान है, इसकी हम अवज्ञा नहीं करते। अन्य जन्तु जो पापके सामर्थ्यसे स्थावरभाव प्राप्त कर चुके हैं, उनका यह उपभोगस्थान हो, परन्तु चन्द्रसे अवरोह करनेवाले अनुशयी स्थावरभावका उपभोग नहीं करते, ऐसा हम कहते हैं ॥ २४ ॥

रत्नप्रभा

ननु व्रीह्यादेर्भोगायतनत्वानङ्गीकारे पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिप्रवृत्तिबाध इत्यत आह—न चेति ॥ २४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

त्वका और व्रीह्यादि स्थावरभाव अनुशयीका भोग स्थान है—इसका खण्डन करना चाहिए, यह अर्थ है। परन्तु व्रीहि आदि भोगस्थान नहीं हैं, ऐसा स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त श्रुति, स्मृति और प्रसिद्धिका बाध होगा, इससे कहते हैं—"न च" इत्यादिसे ॥ २४ ॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

पदच्छेद—अशुद्धम्, इति, चेत्, न, शब्दात् ।

पदार्थोक्ति—[ननु ज्योतिष्टोमादिकं कर्म पशुहिंसादियोगात्] अशुद्धम्, [अतस्तत्कारिणामनुशयिनां व्रीह्यादिस्थावरेषु दुःखानुभवार्थं मुख्यमेव जन्माऽस्तु] इति चेन्न, शब्दात्—विधिरूपात् शास्त्रात् [अग्निष्टोमादीनां धर्मतयावगमान्न तत्र दुःखजनकता इति भावः] ।

भाषार्थ—अग्निष्टोम आदि याग पशुहिंसाके योगसे अशुद्ध हैं, अतः उनके करनेवाले अनुशयी व्रीहि आदि स्थावरोंमें दुःखके लिए मुख्य ही जन्म प्राप्त करते हैं, ऐसा यदि कहो, तो युक्त नहीं है, क्योंकि विधिशास्त्र अग्निष्टोम आदिका धर्मरूपसे ज्ञान कराता है, अतः उनमें दुःखहेतुता नहीं है ।

भाष्य

यत्पुनरुक्तम्—पशुहिंसादियोगादशुद्धमाध्वरिकं कर्म, तस्यानिष्टमपि फलमवकल्पत इत्यतो मुख्यमेवानुशयिनां व्रीह्यादिजन्मास्तु, तत्र गौणी कल्पनानर्थिका—इति, तत्परिह्रियते—न, शास्त्रहेतुत्वाद्धर्माधर्मविज्ञानस्य। अयं धर्मोऽयमधर्म इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम्, अतीन्द्रियत्वात्तयोः। अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च, यस्मिन्देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो भवति, तेन न शास्त्रादृते धर्माधर्मविषयं विज्ञानं कस्यचिदस्ति। शास्त्राच्च हिंसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्टोमो

भाष्यका अनुवाद

पशु-हिंसा आदिके योगसे यज्ञकर्म अशुद्ध है, उसका फल—अनिष्ट भी हो सकता है, इसलिए अनुशयी जीवोंका व्रीहि आदिरूपसे जन्म यदि मुख्यार्थमें हो सकता है तो उसमें गौणी कल्पना अर्थ (प्रयोजन) रहित होगी, ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार किया जाता है—नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि धर्म और अधर्मके विज्ञानका हेतु शास्त्र है, यह धर्म है और यह अधर्म है, इसके विज्ञानमें शास्त्र ही कारण है, क्योंकि वे दोनों धर्म और अधर्म अतीन्द्रिय हैं और उनका देश, काल और निमित्त अनियत है जिस देश, काल और निमित्तमें जिस धर्मका अनुष्ठान होता है वही धर्म अन्य देश, अन्य काल और अन्य निमित्तमें अधर्म हो जाता है इसलिए शास्त्रके बिना धर्म और अधर्मका ज्ञान किसीको भी नहीं होता। हिंसानुग्रह आदि जिसका स्वरूप

रत्नप्रभा

वैदिकं कर्म अशुद्धं न भवति, शास्त्रविहितत्वात्, इति सूत्रार्थं प्रपञ्चयति—अयं धर्म इत्यादिना। शुचौ देशे प्रातः सायङ्काले जीवनादिनिमित्तकृतमग्निहोत्रं धर्मो भवति, स एवाशुचिदेशे मध्यरात्रे मरणादिनिमित्ते कृतः सन्नधर्मो भवतीति निर्णयः शास्त्रैकसाध्य इत्यर्थः। ततः किं? तत्राह—शास्त्राच्चेति। ननु या हिंसा

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैदिक कर्म अशुद्ध नहीं होता, क्योंकि वह शास्त्रसे विहित है, इस प्रकार सूत्रका अर्थ विस्तारसे समझाते हैं—"अयं धर्म" इत्यादिसे। पवित्र देशमें प्रातः तथा सायंकालमें जीवन आदि निमित्तसे किया गया अग्निहोत्र धर्म है, किन्तु वही अग्निहोत्र अपवित्र देशमें मध्यरात्रिमें मरणादि निमित्तसे किया गया अधर्म होता है, ऐसा निर्णय केवल शास्त्रसे ही किया जा सकता है ऐसा अर्थ है। इससे क्या? इसपर कहते हैं—"शास्त्राच्च" इत्यादिसे। परन्तु जो हिंसा है

भाष्य

धर्म इत्यवधारितं स कथमशुद्ध इति शक्यते वक्तुम्। ननु 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति शास्त्रमेव भूतविषयां हिंसामधर्म इत्यवगमयति। बाढम्। उत्सर्गस्तु सः। अयश्चापवादः 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इति। उत्सर्गापवादयोश्च व्यवस्थितविषयत्वम्। तस्माद्विशुद्धं कर्म वैदिकं, शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वादनिन्द्यमानत्वाच्च। तेन न तस्य प्रतिरूपं फलं जातिस्थावरत्वम्। न च श्वादिजन्मवदपि व्रीह्यादिजन्म भवितुमर्हति। तद्धि कपूयचरणा-

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा ज्योतिष्टोम धर्मरूपसे शास्त्रद्वारा निश्चित हुआ है, वह अशुद्ध है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? परन्तु 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' (सब भूतोंकी—किसी भी जीवकी हिंसा न करो) यह शास्त्र ही भूतविषयक हिंसा अधर्म है, ऐसा बतलाता है। सत्य है, वह तो उत्सर्ग है। और 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' (अग्नि और सोमके लिए पशुका वध करे) यह अपवाद है। उत्सर्ग और अपवादका विषय व्यवस्थित है। इसलिए वैदिक कर्म विशुद्ध है, क्योंकि शिष्ट उसका अनुष्ठान करते हैं और वह निन्दा करनेके योग्य नहीं है। इसलिए स्थावररूपसे जन्म जो प्रतिकूल है, वह उसका फल नहीं है। श्वादिजन्मके

रत्नप्रभा

सोऽधर्म इत्युत्सर्गस्य विशेषविधिना बाधोऽत्र न युक्तः, 'नाभिचरेत्' इति निषिद्धश्येनस्य पुरुषार्थत्ववत् निषिद्धहिंसादेरपि क्रतूपकारकत्वाविरोधादिति, तत्राह—उत्सर्गापवादयोरिति। अयमर्थः—काम्ये कर्मणि सर्वत्र करणांशे रागतः प्रवृत्तिः, अङ्गेषु विधित इति स्थितिः। तथा च श्येनाख्ये कर्मणि निषेधेपि रागप्राबल्यात् प्रवृत्तिः स्यात्। क्रत्वङ्गहिंसादौ तु विधित एव प्रवृत्तिर्वाच्या। स च विधिर्यदि उत्सर्गप्राप्तमनर्थहेतुत्वं न बाधेत, तर्हि प्रवर्तको न स्यात्। प्रवर्तकत्वे वा विधि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वह अधर्म है, इस उत्सर्गका विशेषविधिसे बाध यहां युक्त नहीं है, 'नाभिचरेत्' (श्येन याग न करे) इसमें निषिद्ध किया गया श्येनयाग जैसे पुरुषार्थ है, वैसे निषिद्ध हिंसादिको भी यज्ञका उपकारक होनेमें विरोध नहीं है, ऐसी शंकाका निराकरण करते हैं—"उत्सर्गापवादयोः" इत्यादिसे। यह अभिप्राय है—काम्य कर्ममें सर्वत्र करणअंशमें रागसे प्रवृत्ति होती है और अंगोंमें विधिसे प्रवृत्ति होती है, ऐसी स्थिति है। इसलिए श्येननामक कर्मके निषेध होनेपर भी रागके प्राबल्यसे प्रवृत्ति होगी, क्रतुके अंग जो हिंसादि हैं उनमें तो विधिसे ही प्रवृत्ति होती है, ऐसा कहना चाहिए। और वह विधि यदि उत्सर्गसे प्राप्त हुए अनर्थहेतुत्वका बाध न करे,

भाष्य

नधिकृत्योच्यते, नैवमिह वैशेषिकः कश्चिदधिकारोऽस्ति । अतश्चन्द्रस्थल-स्खलितानामनुशयिनां व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भाव इत्युपचर्यते ॥२५॥

भाष्यका अनुवाद

समान व्रीहि आदिरूपसे जन्म नहीं हो सकता, क्योंकि, जैसे श्वादिरूपसे जन्म कपूयचरणोंका अधिकार करके कहा गया है, वैसे यहां—व्रीहि आदिरूपसे जन्ममें कोई विशेष अधिकार नहीं है। इसलिए चन्द्रमण्डलसे स्खलित अनुशयी जीवोंका व्रीह्यादिभाव—व्रीह्यादिसंश्लेशमात्र है, ऐसा उपचार है ॥ २५ ॥

रत्नप्रभा

रनर्थाय स्यात् । अतो निरवकाशो विधिः सावकाशमुत्सर्गमविहितहिंसादिषु स्थापयतीति । इदञ्च निषेधशास्त्रस्य हिंसात्वादिसामान्येन प्रवृत्तिम् अङ्गीकृत्योक्तम् । वस्तुतस्तस्य रागप्राप्तहिंसाविषयत्वाद्वैधहिंसायामप्रवृत्तेर्नाशुद्धत्वशङ्कावसर इति द्रष्टव्यम् । प्रतिरूपं दुःखरूपं तस्य फलं नेति योजना । इह व्रीह्यादिभावे कश्चिद-धिकारः कर्मपरामर्शे नास्तीत्युक्तम् ॥ २५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो वह विधि प्रवर्तक न हो, या प्रवर्तक हो, तो केवल अनर्थके लिए होगी। इससे निरवकाश विधि सावकाश उत्सर्गको अविहित हिंसा आदिमें स्थापन करती है, यह जो कहा गया है, वह हिंसात्वादि सामान्यसे—सब हिंसाओंमें हिंसात्वजाति जो समान धर्म है, उससे निषेधशास्त्र प्रवृत्त हुआ है, ऐसा स्वीकार करके कहा गया है। वस्तुत निषेधशास्त्र रागप्राप्तहिंसाके लिए है, अतः वैधहिंसामें उसकी प्रवृति न होनेसे वैदिक कर्म अशुद्ध है, इस शंकाका अवसर नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। प्रतिरूप—दुःखरूप, वह उसका फल नहीं है, ऐसी योजना है। यहां व्रीह्यादिभावमें कर्मका परामर्श करनेवाला कोई अधिकार नहीं है, ऐसा कहा गया है ॥२५॥

रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥

पदच्छेद—रेतस्सिग्योगः, अथ ।

पदार्थोक्ति—अथ—व्रीह्यादिभावानन्तरम् [अनुशयिनाम्] रेतस्सिग्योगः—रेतः सिञ्चतीति रेतस्सिक् तद्योगः—तद्भावः ['यो रेतः सिञ्चति' इत्यादि श्रुतौ आम्नायते ।]

भाषार्थ—व्रीह्यादिभावके अनन्तर अनुशयियोंका रेतसिग्भाव होता है, क्योंकि 'यो रेतः सिञ्चति' इत्यादि श्रुतिमें सुना जाता है।

भाष्य

इतश्च व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भावो यत्कारणं व्रीह्यादिभावस्यानन्तरमनुशयिनां रेतःसिग्भाव आम्नायते—'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति' (छा० ५।१०।६) इति । नचात्र मुख्यो रेतःसिग्भावः सम्भवति । चिरजातो हि प्राप्तयौवनो रेतःसिग्भवति । कथमिवानुपचरिततद्भावमद्यमानान्नानुगतोऽनुशयी प्रतिपद्यते । तत्र तावदवश्यं रेतःसिग्योग एव रेतःसिग्भावोऽभ्युपगन्तव्यः । तद्वद् व्रीह्यादिभावोऽपि व्रीह्यादियोग एवेत्यविरोधः ॥ २६ ॥

भाष्यका अनुवाद

इस कारणसे भी व्रीह्यादिभाव व्रीह्यादिसंश्लेशमात्र है, क्योंकि व्रीह्यादिभावके पीछे श्रुतिमें अनुशयी जीवोंका रेतःसिग्भाव—वीर्यके आधानका कर्तृभाव कहा गया है—'यो यो ह्यन्नमत्ति०' (जो जो अन्न खाता है, जो वीर्य्यका आधान करता है, उसीके भाव को वह अनुशयी जीव प्राप्त होता है) इस प्रकार । यहां आधान करनेवालेका भाव मुख्यार्थमें नहीं घट सकता, क्योंकि चिरकालसे उत्पन्न हुआ प्राप्तयौवनवाला ही आधान करनेवाला है तो खाये गये अन्नके साथ अनुगत हुआ अनुशयी जीव आधानक्रिया करनेवालेका भाव उपचारके विना किस प्रकार प्राप्त करेगा ? रेतःसिग्योग—आधानक्रिया करनेवालेके साथ योग ही रेतःसिग्भाव—आधानक्रिया करनेवाला होना है, ऐसा अवश्य स्वीकार करना चाहिए । इसी प्रकार व्रीह्यादिभाव भी व्रीह्यादि योग ही विवक्षित है, इस लिए विरोध नहीं है ॥ २६ ॥

रत्नप्रभा

अथ व्रीह्यादिभावानन्तरं रेतःसिग्भावः श्रुतः । तत्रान्नस्थानुशयिनो रेतःसेककर्तृत्वयोगाद्योगमात्रं वाच्यम्, तद्वदुपक्रमेऽपि योग एवास्थेयः, अन्यथोपक्रमोपसंहारयोः विरोधः स्यात्, इति मत्वोक्तम्—इत्यविरोध इति ॥ २६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्रीह्यादिभावके अनन्तर रेतःसिग्भाव—श्रुतिमें कहा गया है। उसमें रेतःसिक्कर्तृभाव अन्नस्थ अनुशयी जीवका हो, यह युक्त न होनेसे रेत.सिग्भावको संयोगमात्र कहना चाहिए। उसी प्रकार उपक्रम और उपसंहारमें विरोध होगा, ऐसा विचारकर कहते हैं—"इत्यविरोध" इत्यादिसे ॥ २६ ॥

योनेः शरीम् ॥ २७ ॥

पदच्छेद—योनेः, शरीरम् ।

पदार्थोक्ति—[योनौ रेतसि निषिक्ते सति ततः] योनेः—शरीरम्—सुख-दुःखोपभोगयोग्यं कर्मोपार्जितम् शरीरम् [जायते, इति 'रमणीयचरणा' इत्यादि शास्त्रं कथयति, तस्माद् ब्राह्मणादियोनावेवानुशयिनां मुख्यं जन्म नान्यत्र व्रीह्यादाविति भावः] ।

भावार्थ—योनिमें वीर्यके सेचनके बाद उस योनिसे सुखदुःखरूप फलके उपभोगके लिए योग्य शरीर उत्पन्न होता है, क्योंकि 'रमणीयचरणा' इत्यादि शास्त्र कहता है, अतः ब्राह्मण आदि योनिमें ही अनुशयियोंका मुख्य जन्म है, अन्यत्र नहीं, ऐसा सूत्रका तात्पर्य है ।

भाष्य

अथ रेतःसिग्भावस्यानन्तरं योनौ निषिक्ते रेतसि योनेरधिशरीरमनुशयिनामनुशयफलोपभोगाय जायत इत्याह शास्त्रम्—'तद्य इह रमणीयचरणाः' (छा० ५।१०।७) इत्यादि । तस्मादप्यवगम्यते नावरोहे व्रीह्यादिभावावसरे तच्छरीरमेव सुखदुःखान्वितं भवतीति । तस्माद्व्रीह्यादिसंश्ले-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आधानक्रिया करनेवालेके साथ योग होनेके अनन्तर योनिमें रेतःसेक होनेपर अनुशयी जीवोंका अनुशयका फल भोगनेके लिए शरीर उत्पन्न होता है, ऐसा शास्त्र कहता है—'तद्य इह रमणीयचरणा०' (उनमें जो यहां रमणीय शीलवाले हैं) इत्यादिसे । इससे भी ऐसा समझा जाता है कि अवरोहमें व्रीह्यादिभावके अवसरमें अनुशयी जीवका सुखदुःखयुक्त व्रीह्यादि शरीर ही नहीं

रत्नप्रभा

योनेः शरीरश्रुतेर्न व्रीह्यादिशरीरत्वमनुशयिनामिति सूत्रार्थः । एवं कर्मिणां गत्यागतिसंसारो दुर्वार इत्यनुसन्धानात् कर्मफलाद्वैराग्यं तत्त्वज्ञानसाधनं सिद्धमिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

योनिसे शरीरकी श्रुति है, इसलिए अनुशयी जीव व्रीह्यादि शरीरको नही प्राप्त करते, ऐसा सूत्रका अर्थ है । इस प्रकार कर्म करनेवालोंका गति और आगतिरूप संसार दुर्वार है, ऐसे अनुसन्धानसे कर्मफलसे वैराग्य जो तत्वज्ञानका साधन है, वह सिद्ध होता है, ऐसा पादके

भाष्य

षमात्रमनुशयिनां तज्जन्मेति सिद्धम् ॥२७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१ ॥

भाष्यका अनुवाद

होता। इसलिए अनुशयी जीवोंका व्रीह्यादिजन्म व्रीह्यादिसंश्लेशमात्र है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ २७ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित शाङ्करभाष्यके भाषानुवादमें तृतीय अध्यायका प्रथम पाद समाप्त ।

रत्नप्रभा

पादार्थमुपसंहरति—इति सिद्धमिति ॥ २७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्यश्रीरामानन्दकृतौ शारीरकमीमांसादर्शनभाष्यव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थका उपसंहार करते हैं—"इति सिद्धम्" इत्यादिसे ॥ २७ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित तृतीय अध्यायके प्रथमपादका रत्नप्रभाभाषानुवाद समाप्त ।



तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः ।

[अत्र पादे तत्त्वंपदार्थपरिशोधनविचारः]

[१ संध्याधिकरण सू०–१–६]

सत्या मिथ्याऽथवा स्वप्नसृष्टिः सत्या श्रुतीरणात् ।
जाग्रद्देशाविशिष्टत्वादीश्वरेणैव निर्मिता ॥१॥
देशकालाद्यनौचित्याद्बाधितत्वाच्च सा मृषा ।
अभावोक्तेर्द्वैतमात्रसाम्याज्जीवानुवादतः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—स्वप्नसृष्टि सत्य है अथवा मिथ्या है ?

पूर्वपक्ष—सत्य है, क्योंकि श्रुति कहती है, और जागरितके समान स्वप्नसृष्टि ईश्वर द्वारा ही की गई है ।

सिद्धान्त—स्वप्नसृष्टि मिथ्या है, क्योंकि देश और कालका औचित्य नहीं है और इसका बाध होता है एवं अभावका कथन है, तथा द्वैतकी साम्यतामात्रसे जीवका अनुवाद 'य एव' इत्यादिसे होता है ।

---

* भाव यह है कि 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इत्यादि श्रुतिसे स्वप्नमें रथादिकी सृष्टि प्रतिपादन की है । वह वियदादि सृष्टिके समान व्यावहारिक है, क्योंकि जाग्रद्देश और स्वप्नदेशमें कोई विशेषता प्रतीत नहीं होती, इसलिए स्वप्नसृष्टि सत्य है, ईश्वरकर्तृक होनेसे, वियदादिके समान, इस प्रकार पूर्वपक्ष होनेपर—

सिद्धान्ती—स्वप्नसृष्टि मिथ्या है, किससे ? इससे कि उसके उचित देशकालका सम्भव नहीं है, अतिसूक्ष्म नाडीके मध्यमें गिरि, नदी आदिका समुचित देश नहीं हो सकता है, किञ्च, स्वप्नमें उपलब्ध पदार्थका स्वप्न ही में बाध होता है, क्योंकि जिस पदार्थका तरुत्वेन ग्रहण हुआ हो उसीका गिरित्वेन अवगाहन होता है, स्वप्नसृष्टिको जो श्रुति कहती है वह अभावपूर्वक कहती है—'न तत्र रथः' इत्यादिसे । अतः वस्तुतः रथादिकें न होनेपर भी शुक्तिकारजतके समान वे भासमान होते हैं, ऐसा श्रुतिका तात्पर्य है । जाग्रत्साम्य भी उसमें नहीं है, क्योंकि अनुचित देशका प्रतीत होता है, ऐसा कहा जा चुका है । यह जो कहा है कि स्वप्नसृष्टि ईश्वर निर्मित है, वह भी असत् है, 'य एव सुप्तो जागर्ति' इत्यादिसे जीव ही स्वप्नका निर्मातारूपसे अनुदित है, इसलिए स्वप्नसृष्टि मिथ्या है ।

संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

पदच्छेद—सन्ध्ये, सृष्टिः, आह, हि ।

पदार्थोक्ति—सन्ध्ये—जाग्रत्सुषुप्त्योः सन्धौ भवे स्वप्ने, सृष्टिः—तत्र स्वप्ने दृश्यमानं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् [व्यावहारिकमेव भवितुमर्हति, कुतः ?] हि—यतः [तथा भगवती श्रुतिः] आह—'अथ रथान्' इत्यादिना कथयति ।

भाषार्थ—जाग्रत् और सुषुप्तिकी सन्धिमें होनेवाली स्वप्नावस्था व्यावहारिक है, क्योंकि 'अथ रथान्' इत्यादिसे भगवती श्रुति उसी अर्थका प्रतिपादन करती है।

भाष्य

अतिक्रान्ते पादे पञ्चाग्निविद्यामुदाहृत्य जीवस्य संसारगतिप्रभेदः प्रपञ्चितः। इदानीं तु तस्यैवावस्थाभेदः प्रपञ्च्यते। इदमामनन्ति—'स यत्र प्रस्वपिति' (बृ० ४।३।९) इत्युपक्रम्य 'न तत्र रथा न रथयोगा

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपादमें पञ्चाग्नि विद्याके दृष्टान्तसे जीवकी संसारगतिका प्रभेद विस्तारसे कहा गया है, परन्तु अब उसीकी भिन्न भिन्न अवस्थायें सविस्तर कही जाती हैं। 'स यत्र प्रस्वपिति०' (वह जहां सोता है) ऐसा उपक्रम करके 'न तत्र' (वहां

रत्नप्रभा

संध्ये सृष्टिराह हि—उक्तवैराग्यसाध्यः तत्त्वम्पदार्थविवेको वाक्यार्थज्ञानसाधनमस्मिन् पादे निरूप्यत इति पादयोः हेतुसाध्यभावसङ्गतिमाह—अतिक्रान्त इति। साधनविचारत्वादेवास्य पादस्यास्मिन्नध्याये संगतिः । अस्मिन् पादे 'न स्थानतोऽपि' इत्यतः प्रागुद्देश्यत्वेन प्रथमं जिज्ञासित-त्वम्पदार्थोऽवस्थाद्वारा विविच्यते । तदारभ्यापादसमाप्तेर्विधेयतत्पदार्थविवेकः । तत्र पूर्वं गत्यागति-चिन्तया जाग्रदवस्था निरूपिता, तदनन्तरभाविनीं स्वप्नावस्थां श्रुत्युक्तां विषयी-

रत्नप्रभाका अनुवाद

'सन्ध्ये सृष्टिराह हि'। पूर्वमें उक्त वैराग्यसे साध्य तत्त्वंपदार्थका विवेक जो वाक्यार्थज्ञानका साधन है, उसका इस पादमें निरूपण होता है, अतः दो पादोंकी हेतुसाध्यभाव संगति है, इसको कहते हैं, "अतिक्रान्त" इत्यादिसे। इस पादमें साधनका विचार है, इसीलिए इस पादकी इस अध्यायमें संगति है, इस पादमें 'न स्थानतोऽपि' इसके पहिले उद्देशरूपसे प्रथम जिज्ञासित त्वं पदार्थका अवस्था द्वारा विवेचन होता है। उससे लेकर पाद पर्यन्त विधेय जो तत्पदार्थका विवेक है, उसका निरूपण होता है । उसमें पूर्वमें जीवकी गति और आगतिके विचारसे जाग्रदवस्थाका निरूपण

भाष्य

न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि। तत्र संशयः—किं प्रबोध इव स्वप्नेऽपि पारमार्थिका सृष्टिराहोस्विन्मायामयीति। तत्र तावत्प्रतिपद्यते—संध्ये तथ्यरूपा सृष्टिरिति। संध्यमिति स्वप्नस्थानमाचष्टे, वेदे प्रयोगदर्शनात् 'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (बृ० ४।३।९) इति द्वयोर्लोकस्थानयोः प्रबोधसंप्रसादस्थानयोर्वा संधौ

भाष्यका अनुवाद

रथ नहीं, रथके घोड़े नहीं, या मार्ग नहीं, वह रथ रथके घोड़े और मार्ग उत्पन्न करता है) इत्यादि श्रुति कहती है, उसमें संशय होता है—प्रबोधके समान स्वप्नमें भी पारमार्थिक सृष्टि है, या मायामयी सृष्टि है, इस प्रकारके संशयमें 'पूर्वपक्षी—स्वप्नमें सत्यरूप सृष्टि है, ऐसा मानता है। संध्य स्वप्नस्थानको कहते हैं, क्योंकि वेदमें प्रयोग देखने आता है—'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (संध्य तृतीय स्वप्नस्थान है) इस प्रकार दो लोकस्थान प्रबोधस्थान और संप्रसादस्थानकी संधि-

---

रत्नप्रभा

कृत्य तत्र स्वप्ने रथादिसृष्ट्युक्तेः तदभावोक्तेश्च संशयं वदन् पूर्वपक्षसूत्रं योजयति—तत्र संशय इत्यादिना। स्वप्नरथादयो जाग्रद्रथादिवत् व्यावहारिकसत्ताका—उत शुक्तिरजतवत् प्रातीतिका इति संशयार्थः। आरम्भणाधिकरणे प्रपञ्चस्य परमार्थिकत्वनिषेधादिति मन्तव्यम्। अत्र पूर्वपक्षे जाग्रद्वत् स्वप्नाज्जीवस्य विवेकासिद्धिः, सिद्धान्ते प्रातीतिकदृश्यसाक्षितया विवेकात् स्वयंज्योतिष्ट्वसिद्धिरिति फलम्। मुमूर्षोः सर्वेन्द्रियोपसंहारादेतल्लोकाननुभवे सति वासनामात्रेण इमं लोकं स्मरतः कर्मबलादुद्धृदये मनसा परलोकस्फूर्तिरूपः स्वप्नोभवति। सोऽयं लोकद्वयसन्धौ भवतीति सन्ध्यः स्वप्नः। तथा च श्रुतिः—'तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने

रत्नप्रभाका अनुवाद

किया गया है, उस अवस्थाके पीछे होनेवाली स्वप्नावस्था श्रुतिमें कही गई है, उसका विषय करके (उद्देशकर) स्वप्नमें रथ आदिकी सृष्टि कही गई है, और इसका अभाव भी कहा गया है, इसलिए संशय दिखलाकर पूर्वपक्ष सूत्रकी योजना करते हैं—"तत्र संशय" इत्यादिसे। स्वप्नमें दृष्ट रथ आदि जाग्रदवस्थामें दृष्ट रथ आदिके समान व्यावहारिक अस्तित्ववाले हैं या शुक्तिरजतके समान केवल प्रातिभासिक—प्रतीतिके विषय हैं, ऐसा संशयका अर्थ है, क्योंकि आरंभण अधिकरणमें प्रपञ्चके पारमार्थिकत्वका निषेध किया है, ऐसा समझना चाहिए। यहां पूर्वपक्षमें जाग्रदवस्थाके समान जीवके स्वप्नसे विवेककी असिद्धि है। सिद्धान्तमें प्रतीतिके विषय जो दृश्य है उसके

भाष्य

भवतीति संध्यम्, तस्मिन्संध्ये स्थाने तथ्यरूपैव सृष्टिर्भवितुमर्हति। कुतः ? यतः प्रमाणभूता श्रुतिरेवमाह 'अथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि। स हि कर्तेति चोपसंहारादेवमेवावगम्यते ॥१॥

भाष्यका अनुवाद

में होता है, अतः सन्ध्य कहलाता है। उस सन्ध्यस्थानमें सत्यरूप ही सृष्टि हो सकती है, किससे ? क्योंकि प्रमाणभूत सृष्टि ऐसा ही कहती है—'अथ रथान् रथयोगान्' (रथ रथके घोड़े और मार्ग उत्पन्न करता है। 'स हि कर्ता' (क्योंकि वह कर्ता है) ऐसा उपसंहार होनेसे ऐसा ही है, ऐसा समझा जाता है ॥ १ ॥

रत्नप्रभा

तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदञ्च परलोकस्थानञ्च' [बृ० ४।३।९] इति। अयं स्वप्नः कादाचित्क इत्यरुच्या नित्यस्वप्नस्य प्रबोधसम्प्रसादसन्धिभवत्वमुक्तम्। अन्ये तु मर्त्यचक्षुराद्यजन्यरूपादिसाक्षात्कारवत्त्वं परलोकलक्षणं, दैवचक्षुराद्य-जन्यतद्वत्त्वं मर्त्यलोकलक्षणं च स्वप्नेऽस्तीति लक्षणतो लोकद्वयस्पर्शित्वात् नित्य-स्वप्नस्यैव लोकद्वयसन्ध्यत्वं ग्रामद्वयस्पर्शिमार्गस्य तत्सन्ध्यत्ववदिति व्याचक्षते। न केवलं श्रुत्या स्वप्नार्थानां व्यवहारारिकसत्यत्वं, किन्तु सकर्तृकत्वादपीत्याह—सहि कर्तेति ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

साक्षीरूपसे जीवका विवेक होनेसे उसके स्वयं प्रकाशकी सिद्धि है, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें भिन्न फल है। मुमुर्षुकी—मुक्ति चाहनेवालेकी सब इन्द्रियोंके उपसंहारसे इस लोकका अनुभव नहीं होता अर्थात् वासनामात्रसे इस लोकका स्मरण होता है, उसके कर्मबलसे हृदयमें मानसिक परलोककी स्फूर्तिरूप स्वप्न होता है, वह स्वप्न इस लोक और परलोक दोनोंकी सन्धिमें होता है, इसलिए सन्ध्य-स्वप्न कहा गया है, क्योंकि—'तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने०' (उस सन्ध्य स्थानमें रहकर यह दोनों स्थान यह लोकस्थान और परलोक स्थान देखता है) इस प्रकारकी श्रुति है। परन्तु यह स्वप्न कादाचित्क है, इस अरुचिसे नित्य स्वप्न प्रबोध और सम्प्रसादकी सन्धिमें होता है, ऐसा कहा गया है। अन्य तो मर्त्य चक्षु आदिसे अजन्य रूपादिसाक्षात्कार जिसमें है, वह परलोकका लक्षण है और दैव चक्षु आदिसे अजन्य रूपादिसाक्षात्कार जिसमें है वह मर्त्यलोकका लक्षण है, स्वप्नमें दोनों लक्षण होनेसे लक्षणसे नित्य स्वप्न दोनों लोकोंका स्पर्श करता है, इसलिए वह सन्ध्य है, जैसे दो ग्रामोंके बीचमें स्थित मार्ग उनकी सन्धिमें स्थित हुआ कहलाता है, वैसे, इस प्रकार व्याख्यान करते हैं। केवल श्रुतिसे स्वाप्निक पदार्थोंमें व्यावहारिक सत्यत्व नहीं है, किन्तु सकर्तृकत्व हेतु होनेसे भी व्यावहारिक सत्यत्व है, ऐसा कहते हैं—"स हि कर्ता" इत्यादिसे ॥ १ ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

पदच्छेद—निर्मातारम्, च, एके, पुत्रादयः, च।

पदार्थोक्ति—एके—केचन शाखिनः [अस्मिंश्च स्वप्ने कामानाम्] निर्मातारम्—उत्पादकम् [ईश्वरम् आमनन्ति, 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' इतिश्रुतेः तत्र श्रुतौ 'कामाः' इत्यनेन] पुत्रादयश्च—तनुजादयश्च [अभिधीयन्ते, काम्यन्त इति व्युत्पत्तेः, एवञ्च स्वप्नसृष्टिः व्यावहारिकसत्ववती ईश्वरकर्तृकत्वात्, क्षित्यादिवत्, इत्यनुमानं सूत्रेणानेन प्रत्यर्पितमिति श्रुत्यानुमानेन च स्वप्नप्रपञ्चस्य व्यावहारिकत्वं सिद्धम्]।

भाषार्थ—कोई शाखावाले—स्वप्नमें कामोंका निर्माता ईश्वर है, ऐसा मानते हैं, और कामशब्दसे पुत्रादि लिए जाते हैं, इसलिए स्वप्नसृष्टि ईश्वरकर्तृक होनेसे क्षिति आदिके समान व्यावहारिक है, यह तर्क हो सकता है, अतः पूर्वोक्त श्रुति और इस तर्कसे स्वाप्नप्रपञ्चमें व्यावहारिकत्व सिद्ध हुआ।

भाष्य

अपि चैके शाखिनोऽस्मिन्नेव संध्ये स्थाने कामानां निर्मातारमात्मानमामनन्ति—'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' (क० ५।८) इति। पुत्रादयश्च तत्र कामा अभिप्रेयन्ते काम्यन्त इति। ननु कामशब्देनेच्छाविशेषा एवोच्येरन्। न। 'शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व'

भाष्यका अनुवाद

और एक शाखावाले इसी सन्ध्यस्थानमें आत्मा कामोंका निर्माता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—'य एष सुप्तेषु जागर्ति०' (जो यह पुरुष इनके सोनेपर जागता, है तो इष्ट—स्त्री आदि अर्थोंका निर्माण करता हुआ जागता है) इत्यादिसे। इसमें पुत्र आदि काम हैं, ऐसा अभिप्राय है, क्योंकि उनकी कामना की जाती है। परन्तु कामशब्दका अर्थ इच्छाविशेष ही है, ऐसा

रत्नप्रभा

किञ्च स्वप्नार्थाः सत्याः प्राज्ञनिर्मितत्वाद् आकाशादिवदिति सूत्रार्थमाह—**अपि चेत्यादिना**। रूढिमाशंक्य प्रकरणान्निरस्यति—**नन्वित्यादिना**। यः सुप्तेषु

रत्नप्रभाका अनुवाद

किंच, स्वप्नके पदार्थ सत्य हैं, प्राज्ञसे निर्मित होनेसे, आकाशादिके समान, ऐसा सूत्रार्थ कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। रूढिकी आशंका करके प्रकरणका विरोध होनेसे उसका

भाष्य

(क० १।२३) इति प्रकृत्यान्ते 'कामानां त्वा कामभाजं करोमि' (क० १।२४) इति प्रकृतेषु तत्र तत्र पुत्रादिषु कामशब्दस्य प्रयुक्तत्वात् । प्राज्ञं चैनं निर्मातारं प्रकरणवाक्यशेषाभ्यां प्रतीमः । प्राज्ञस्य हीदं प्रकरणम् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इत्यादि, तद्विषय एव च वाक्यशेषोऽपि—

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ (क०५।८) इति ।

प्राज्ञकर्तृका च सृष्टिस्तथ्यरूपा समधिगता जागरिताश्रया, तथा स्वप्नाश्रयापि सृष्टिर्भवितुमर्हति । तथाच श्रुतिः—'अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्तः' (बृ० ४।३।१४)

भाष्यका अनुवाद

यदि कहो तो, नहीं, क्योंकि 'शतायुषः पुत्रपौत्रान्०' (सौ वर्षकी आयुवाले पुत्र और पौत्रोंके लिए वर मांग) ऐसा प्रस्ताव करके अन्तमें 'कामानां त्वा०' (सब कामोंका तुझे कामभाजन बनाता हूँ) इस प्रकार प्रकृत पुत्रादिमें कामशब्दका प्रयोग किया गया है । और यह निर्माता प्राज्ञ है, ऐसा प्रकरण और वाक्यशेषसे हम प्रतीत करते हैं, क्योंकि यह प्राज्ञका प्रकरण है—'अन्यत्र धर्माद०' (धर्मसे—और अधर्मसे अन्य है) इत्यादि । वाक्यशेष भी तद्विषयक ही है—'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म०' (वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही अमृत कहलाता है, उसमें सब लोक आश्रित हैं, उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं करता) इस प्रकारका । प्राज्ञ जिसका कर्ता है, ऐसी जाग्रदवस्थाकी सृष्टि जब सत्यस्वरूप समझी गई है, तो स्वप्नाश्रया—स्वप्नावस्थाकी सृष्टि भी वैसी ही हो सकती है, क्योंकि 'अथो खल्वाहुर्जागरित०' (और दूसरे कहते हैं कि उसका यह [जो स्वप्न है, वह] जागरित देश ही है, क्योंकि जागता हुआ जो पदार्थ देखता है, वही सोता हुआ देखता

रत्नप्रभा

निर्व्यापारेषु करणेषु जागर्ति, तदेव शुक्रं स्वप्रकाशं ब्रह्म इत्यर्थः । स्वप्नस्य जाग्रदर्थैः

रत्नप्रभाका अनुवाद

निरसन करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । स्वप्नमें इन्द्रियोंके व्यापारशून्य हो जानेपर जो जागता है, वही शुक्र—स्वप्रकाश ब्रह्म है, ऐसा अर्थ है । जाग्रदवस्थाके पदार्थोंके साथ स्वप्नके

भाष्य

इति स्वप्नजागरितयोः समानन्यायतां श्रावयति। तस्मात्तथ्यरूपैव संध्ये सृष्टिरिति ॥ २ ॥

एवं प्राप्ते प्रत्याह—

भाष्यका अनुवाद

है) इस प्रकार श्रुति स्वप्न और जाग्रदवस्थाकी समान रीतिका श्रवण कराती है। इसलिए स्वप्नमें सत्यरूप ही सृष्टि है ॥ २ ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर निराकरण करते हैं—

रत्नप्रभा

समानदेशत्वश्रुतेरभेदश्रुतेश्च सत्यत्वे तात्पर्यमित्याह—अथो खल्वाहुरिति ॥२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पदार्थोंकी जो समानदेशताकी तथा अभेदकी श्रुति है, उसका स्वाप्निक पदार्थोंके सत्यत्वमे तात्पर्य है, ऐसा कहते हैं—"अथो खल्वाहु." इत्यादिसे ॥२॥

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

पदच्छेद—मायामात्रम्, तु, कार्त्स्न्येन, अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्।

पदार्थोक्ति—तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः । [स्वप्नसृष्टिः शुक्तिरूप्यवन्मायामात्रम्, कुतः ?] कार्त्स्न्येन—देशकालादिसम्पत्त्यबाधरूपपरमार्थवस्तुधर्मेण अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्—अभिव्यक्तिशून्यस्वरूपत्वात्, [अतः प्रातिभासिक एव स्वप्नः न व्यावहारिकः इति सिद्धम्]।

भाषार्थ—सूत्रमें तुशब्द पूर्वपक्षका निवारण करता है स्वप्नकी सृष्टि शुक्तिरूप्यके समान मायामात्र है, क्योंकि देश, काल आदि सम्पूर्ण धर्मोंसे अभिव्यक्त स्वरूप नहीं है, अतः स्वप्नप्रपञ्च प्रातिभासिक—मायामात्र है।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति—यदुक्तं सन्ध्ये सृष्टिः पारमा-

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है। सन्ध्य—स्वप्नमें सृष्टि पारमार्थिक

रत्नप्रभा

स्वप्नरथादयः प्रातीतिकाः, जाग्रद्रथादौ क्लृप्तसामग्रीं विना दृष्टत्वात्, शुक्ति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वप्नमें रथ आदि पदार्थ जो दिखाई पड़ते हैं, वे प्रातिभासिक हैं, जाग्रदवस्थामें वर्तमान

भाष्य

र्थिकीति । मायैव संध्ये सृष्टिर्न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति । कुतः ? कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् । नहि कार्त्स्न्येन परमार्थवस्तुधर्मेणाभिव्यक्तस्वरूपः स्वप्नः । किं पुनरत्र कार्त्स्न्यमभिप्रेतं देशकालनिमित्तसंपत्तिरबाधश्च । नहि परमार्थवस्तुविषयाणि देशकालनिमित्तान्यबाधश्च स्वप्ने संभाव्यन्ते । न तावत्स्वप्ने रथादीनामुचितो देशः संभवति । नहि संवृते देहदेशे रथादयोऽ-

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा जो कहा गया है, वह नहीं है । सन्ध्य-सृष्टि माया ही है, उसमें परमार्थका गन्ध भी नहीं है । किससे ? सर्वात्मना उसका स्वरूप अभिव्यक्त न होनेसे । क्योंकि स्वप्न ऐसा नहीं है कि जिसका स्वरूप समस्त परमार्थवस्तुके धर्मसे अभिव्यक्त हो । परन्तु यहां कार्त्स्न्यका अर्थ क्या अभिप्रेत है ? देश, काल, निमित्तकी सम्पत्ति और अबाध अभिप्रेत है । देश, काल, निमित्त और अबाध जो पारमार्थिक वस्तुके विषय हैं, उनका स्वप्नमें संभव नहीं है । स्वप्नमें रथादिका

रत्नप्रभा

रूप्यादिवदिति सिद्धान्तयति—तुशब्द इत्यादिना । चिन्मात्रनिष्ठाऽविद्या चित्त्वावच्छेदेन जीवेऽपि स्थिता रथाद्याकारा मायेति सूत्रभाष्ययोरुक्ता मायाऽविद्ययोरभेदज्ञापनाय, मात्रपदेन तु सति प्रमातर्यबाध्यत्वरूपस्य व्यावहारिकसत्यत्वस्य निरास उक्तः । कार्त्स्न्यमत्र जाग्रति या क्लृप्तसामग्री, तज्जन्यत्वं परमार्थवस्तुनो जाग्रदर्थस्य कार्यस्य धर्मः सत्यत्वव्यापकः तदभावं स्वप्ने विवृणोति—न तावदित्यादिना । संवृते सङ्कीर्णे, पर्येतुम्—गन्तुम्, विपर्येतुम्—आगन्तुम् । श्रावयति

रत्नप्रभाका अनुवाद

रथ आदिमें कल्पित सामग्रीके विना दृष्ट होनेसे, शुक्तिरजत आदिके समान, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"तुशब्द" इत्यादिसे । चिन्मात्रनिष्ठ अविद्या जो चित्त्वावच्छेदसे जीवमें भी स्थित है वही रथ आदि आकारवाली माया है, इस प्रकार माया और अविद्यामें कोई भेद नहीं है, ऐसा कहनेके लिए सूत्र और भाष्यमें माया कही गई है । सूत्रमें मात्रपदसे तो सद्रूप प्रमातामें अबाध्यत्वरूप व्यावहारिक सत्यताका निरास कहा गया है । जाग्रदवस्थामें निश्चित जो सामग्री है, तज्जन्यत्व ही यहां कार्त्स्न्य है, वह परमार्थवस्तु—सत्य जाग्रदर्थरूप कार्यका धर्म, सत्यत्वव्यापक है, स्वप्नमें उसके अभावका विवरण करते हैं—"न तावत्" इत्यादिसे । संवृतमें—संकीर्णमें, पर्येतुं—जानेके लिए, विपर्येतुम्—आनेके लिए ।

भाष्य

वकाशं लभेरन्। स्यादेतत्। बहिर्देहात्स्वप्नं द्रक्ष्यति, देशान्तरितद्रव्यग्रहणात्। दर्शयति च श्रुतिर्बहिर्देहात्स्वप्नं—'बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा, स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' (बृ० ४।३।१२) इति। स्थितिगतिप्रत्ययभेदश्च नानिष्क्रान्ते जन्तौ सामञ्जस्यमश्नुवीतेति। नेत्युच्यते। नहि सुप्तस्य जन्तोः क्षणमात्रेण योजनशतान्तरितं देशं पर्येतुं विपर्येतुं च ततः सामर्थ्यं संभाव्यते, क्वचिच्च प्रत्यागमनवर्जितं स्वप्नं श्रावयति 'कुरुष्वहमद्य शयानो निद्रयाऽभिप्लुतः स्वप्ने पञ्चालानभिगतश्चास्मिन्प्रतिबुद्धश्चे'ति। देहाच्चेदपेयात्पञ्चालेष्वेव प्रतिबुध्येत तानसावभिगत इति कुरुष्वेव तु प्रतिबुध्यते। येन चायं

भाष्यका अनुवाद

उचित देश नहीं हो सकता, क्योंकि संवृत देहदेशमें रथ आदि अवकाश प्राप्त नहीं कर सकेंगे। परन्तु देहसे बाहर विषयोंका स्वप्नमें प्रत्यक्ष होगा, क्योंकि देशान्तरित द्रव्योंका (जिनमें देशका व्यवधान है, ऐसे द्रव्योंका) स्वप्नमें ग्रहण होता है। श्रुति भी देहसे बाहर विषयोंमें स्वप्न दिखलाती है—'बहिष्कुलायादमृत:०' (कुलायसे—देहसे बाहर अमृत—जीव घूम-फिरकर जहाँ इच्छा होती है, वहाँ विहार करता है) इस प्रकारकी। और ऐसी स्थिति और गतिकी भिन्नप्रतीति जन्तुकी अनिष्क्रान्तिमें नहीं घट सकती। हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि सोये हुए जन्तुमें सैकड़ों योजनोंसे व्यवहित देशमें क्षणमात्रमें ही जाने या आनेके सामर्थ्यकी सम्भावना नहीं की जा सकती। और कहीं, [प्रबुद्ध पुरुष] प्रत्यागमनके बिना ही स्वप्न [समीपमें स्थित लोगोंको] सुनाता है—'मैं इसी कुरुदेशमें सोता हुआ निद्रासे अभिभूत होकर स्वप्नमें पंचालदेशमें चला गया था और फिर यहींपर जाग गया'। यदि देहसे दूर गया होता, तो पंचालदेशमें जागता, क्योंकि वह वहां गया है, किन्तु कुरुदेशमें ही जागृत होता है। और जिस देहसे यह अपनेको अन्य देशव्याप्त हुआ मानता

रत्नप्रभा

प्रबुद्धो जनः पार्श्वस्थान् प्रतीतिशेषः। एतत्—स्वप्नं यथा स्यात् तथा यत्र काले स्वप्नया वृत्त्या चरति तदा यथेष्टं स्वशरीरे चरतीत्यर्थः। बहिरिवेति। कुला-

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रावयति—सुनाता है, प्रबुद्ध जन, पार्श्वमें स्थित लोगोंको, इतना शेष है। एतत्—जबतक स्वप्न है तबतक, जिस स्वप्नकालमें अन्तःकरणकी वृत्तिसे जो व्यवहार करता है, वह यथेष्ट

भाष्य

देहेन देशान्तरमश्नुवानो मन्यते तमन्ये पार्श्वस्थाः शयनदेश एव पश्यन्ति। यथाभूतानि चायं देशान्तराणि स्वप्ने पश्यति न तानि तथाभूतान्येव भवन्ति। परिधावंश्चैतपश्येज्जाग्रद्वद्वस्तुभूतमर्थमाकलयेत्। दर्शयति च श्रुतिरन्तरेव देहे स्वप्नम्—'स यत्रैतत्स्वप्नया चरति' इत्युपक्रम्य 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' (बृ० २।१।१८) इति। अतश्च श्रुत्युपपत्तिविरोधाद्बहिष्कुलायश्रुतिर्गौणी व्याख्यातव्या—बहिरिव कुलायादमृतश्चरित्वेति। यो हि वसन्नपि शरीरे न तेन प्रयोजनं करोति स बहिरिव शरीराद्भवतीति। स्थितिगतिप्रत्ययभेदोऽप्येवंसति विप्रलम्भ एवाभ्युपगन्तव्यः। कालवि-

भाष्यका अनुवाद

है, उस देहको अन्य पास रहनेवाले शयनदेशमें ही है, ऐसा देखते हैं। इसी प्रकार यह जैसे देशान्तर स्वप्नमें देखता है, वे वैसे ही नहीं होते। यदि दौड़ता हुआ [पदार्थ] देखे, तो वह वे जाग्रतके समान सत्य पदार्थ हैं, ऐसी कल्पना करे। श्रुति भी देहके भीतर ही स्वप्न दिखलाती है—'स यत्रैतत्०' (यह स्वप्न जैसा हो, वैसा जिस कालमें वह [अमृत-आत्मा] स्वप्नवृत्तिसे व्यवहार करता है) ऐसा उपक्रम करके 'स्वे शरीरे यथा काम०' (अपने ही शरीरमें जैसा चाहता है वैसा फिरता है) इस प्रकार। इससे, श्रुति और उपपत्तिके विरोध होनेसे 'बहिष्कुलाय' (कुलायसे—देहसे बाहर) यह श्रुति गौणी है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए, अर्थात्, मानो देहके बाहर अमृत—आत्मा घूम-फिरकर [जहाँ चाहता है वहां यथेष्ट विहार करता है] इस प्रकार। निश्चय, जो शरीरमें रहता हुआ भी उससे प्रयोजन नहीं रखता, वह शरीरसे बाहर-सा होता है। स्थिति और गतिकी भिन्नप्रतीति भी ऐसा होनेपर विप्रलम्भ ही है, ऐसा

रत्नप्रभा

याद्—देहात् बहिरिव अमृतः—आत्मा चरित्वा यथा कामं यथेष्टम् ईयते—विहरतीत्यर्थः। गुणमाह—यो हीति। देहाभिमानहीनत्वगुणेन बहिष्ठवद्देहस्थोऽपि बहिरित्युक्त इत्यर्थः। एवं सति—श्रुतियुक्तिभ्यां अंतरेव स्वप्ने सतीत्यर्थः। विप्र-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अपने शरीरमें ही व्यवहार करता है, ऐसा अर्थ है। "बहिरिव" इत्यादि। देहके बाहर जैसा अमृत—आत्मा घूम-फिरकर यथेष्ट विहार करता है, यह अर्थ है। गुण कहते हैं—"यो हि" इत्यादिसे। देहस्थ है, तो भी देहाभिमानरहितत्व गुणसे बहिष्ठके समान है, अतः बहिः, यह कहा है, ऐसा अर्थ है। ऐसा होनेपर—श्रुति और युक्तिसे देहके भीतरके ही प्रदेशमें स्वप्न

भाष्य

संवादोऽपि च स्वप्ने भवति रजन्यां सुप्तो वासरं भारते वर्षे मन्यते। तथा मुहूर्तमात्रवर्तिनि स्वप्ने कदाचिद्बहुवर्षपूगानतिवाहयति। निमित्तान्यपि च स्वप्ने न बुद्धये कर्मणे वोचितानि विद्यन्ते। करणोपसंहाराद्धि नास्य रथादिग्रहणाय चक्षुरादीनि सन्ति। रथादिनिर्वर्तनेऽपि कुतोऽस्य निमेषमात्रेण सामर्थ्यं दारूणि वा। बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः प्रबोधे। स्वप्न एव चैते सुलभबाधा भवन्ति, आद्यन्तयोर्व्यभिचारदर्शनात्। रथोऽयमिति हि कदाचित्स्वप्ने निर्धारितः क्षणेन मनुष्यः संपद्यते, मनुष्योऽयमिति निर्धारितः क्षणेन वृक्षः। स्पष्टं चाभावं रथादीनां स्वप्ने श्रावयति

भाष्यका अनुवाद

स्वीकार करना युक्त है। स्वप्नमें कालविरोध भी होता है, रात्रिमें सोया हुआ भारतवर्षमें दिवस है, ऐसा मानता है तथा मुहूर्तमात्र रहनेवाले स्वप्नमें कदाचित् बहुवर्ष समुदाय निर्गमन करता है। और स्वप्नमें विचार या कर्मके लिए योग्य निमित्त भी नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियोंका उपसंहार होनेसे रथादिके ग्रहण करनेके लिए चक्षु आदि नहीं हैं। इसी प्रकार निमेषमात्रमें रथादिके निर्माणमें इसे सामर्थ्य और भी लकड़ी कहाँ है? अथवा और स्वप्नमें देखे गये ये रथ आदि पदार्थ जाग्रदवस्थामें बाधित होते हैं और इनका बाध स्वप्नमें भी सुलभ होता है, क्योंकि स्वप्नके आदि और अन्तमें व्यभिचार देखनेमें आता है। निश्चय, कदाचित्, यह रथ है, ऐसा स्वप्नमें निर्धारित हुआ पदार्थ क्षणमें मनुष्य हो जाता है और यह मनुष्य है, ऐसा निश्चय किया गया क्षणमें वृक्ष हो जाता है। शास्त्र भी स्वप्नमें रथ आदिके अभावका स्पष्ट श्रवण कराता है—'न तत्र

रत्नप्रभा

लम्भः—विभ्रमः। योग्यदेशाभावमुक्त्वा कालाभावमाह—कालेति। अत्र रात्रिसमयेऽपि केतुमालादिवर्षान्तरे वासरो भवतीति भारते इत्युक्तम्। पूर्वपक्षानुमानानां

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेपर, ऐसा अर्थ है। विप्रलम्भ—विभ्रम, योग्य देशका अभाव कहकर कालका अभाव कहते हैं—"काल" इत्यादिसे। यहां रात्रि समयमें भी केतुमाल आदिके दूसरे वर्षमें दिन होता है, ऐसा महाभारतमें कहा गया है। पूर्वपक्षके अनुमानोंमें जो जाग्रदर्थके दृष्टान्त हैं,

भाष्य

शास्त्रम्—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि। तस्मान्मायामात्रं स्वप्नदर्शनम् ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

रथा न रथयोगा०' (वहां रथ नहीं, रथके घोड़े नहीं और मार्ग नहीं हैं) इत्यादि। इसलिए स्वप्नदर्शन मायामात्र है ॥३॥

रत्नप्रभा

जाग्रदर्थदृष्टान्ते क्लृप्तसामग्रीजन्यत्वमबाधयोग्यत्वं वोपाधिरिति सूत्रतात्पर्यम् ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उनमें क्लृप्तसामग्रीजन्यत्व और अबाधयोग्यत्व उपाधि है, ऐसा सूत्रका तात्पर्य है ॥३॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥४॥

पदच्छेद—सूचकः, च, हि, श्रुतेः, आचक्षते, हि, तद्विदः।

पदार्थोक्ति—[स्वप्ने जायमानः स्त्रीदर्शनादिः सत्य एव, स च सत्यस्य साध्वसाधुवस्तुनः] सूचकः—हेतुः, हि—यतः [तथा] श्रुतेः—'यदा कर्मसु काम्येषु' इति श्रुतेः [अवगम्यते] तद्विदः—स्वप्नाध्यायविदो हि आचक्षते च—शुभाशुभसूचकत्वं कथयन्ति च [स्वप्नदर्शनस्य, [वस्तुतस्तु दर्शनस्य स्त्र्याद्यर्थरूपितत्वेनासत्यत्वेऽपि शुक्तिरूप्यविज्ञानस्य तथ्यहर्षादिजनकत्ववत् सत्यशुभादिसूचकत्वमविरुद्धम्, इति भावः] ।

भाषार्थ—स्वप्नमें जायमान स्त्री दर्शनादि सत्य हैं, क्योंकि शुभाशुभ फलके वे सूचक हैं। स्वप्नावस्थाके जाननेवाले भी स्वप्नदर्शनको शुभाशुभफलसूचकत्व कहते हैं, वस्तुतस्तु स्त्री आदिका दर्शन स्त्री आदि अर्थसे रूपित होनेके कारण असत्य होनेपर भी शुक्तिरूप्यका विज्ञान जैसे हर्षादिका जनक है, वैसे स्वप्न-दर्शनके शुभ और अशुभादि सूचकत्व माननेमें कोई बाधा नहीं है, ऐसा भाव है।

अच्युतग्रन्थमालासे प्रकाशित पुस्तकोंका सूचीपत्र

(क) विभाग

१–**भगवन्नामकौमुदी**—[भगवन्नामकी महिमाका प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ] मीमांसाके धुरन्धर विद्वान् श्रीलक्ष्मीधरकी कृति, अनन्तदेवरचित 'प्रकाश' टीकासहित। सम्पादक–आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री।

पृ० सं० १५०, मू.—आ. १०

२–**भक्तिरसायन**—[भक्तिस्वरूपका परिचायक अत्युत्तम ग्रन्थ] यतिवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीरचित प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकाररचित शेष दो उल्लासोंमें आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री रचित टीकासे विभूषित। सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री। पृ० सं० १७०, मू.–आ. १२

३–**शुल्बसूत्र**—[कात्यायनश्रौतसूत्रका परिशिष्ट अंश] वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़की बनाई हुई सरलवृत्तिसहित। सं०–वेदाचार्य विद्याधर गौड़।

पृ० सं० ६०, मू.—आ. ४

४–**कात्यायनश्रौतसूत्र**—[इसमें दर्शपूर्णमाससे लेकर अश्वमेध, पितृमेधपर्यन्त कितने ही यज्ञोंकी विधियां साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं] महर्षि कात्यायनप्रणीत, वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़ द्वारा रचित सुसरल वृत्तिसे अलंकृत। सं०–वेदाचार्य विद्याधर गौड़। पृ० सं० लगभग १०००, मू. –रु. ६

५–**प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि**—(प्रथम भाग) [शाङ्करभाष्यानुसार वेदान्तका सुसरल पद्यमय ग्रन्थ] श्रीसदानन्द व्यासविरचित, ग्रन्थकाररचित सरल संस्कृत टीकासहित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।

पृ० सं० ३४०, मू.–रु. २

६–**भक्तिरसामृतसिन्धु**—[भक्तिरससे परिपूर्ण यह ग्रन्थ सचमुच पीयूषसिन्धु है] श्रीरूप गोस्वामीप्रणीत, श्रीजीव गोस्वामीप्रणीत दुर्गमसङ्गमनी टीकासहित। सं०–आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री। पृ० सं० ६२५, मू०–रु०३

७–**प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि**—(द्वितीय भाग) पृ० सं० ४५० मू०–रु. २ आ. ४

८–**तिथ्यर्क**—[तिथियोंके निर्णय आदिपर अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ] श्रीदिवाकर विरचित। सं०साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।

पृ० सं० ३४०, मू०–रु० १ आ० ८

९–परमार्थसार—[वेदान्तका अति प्राचीन ग्रन्थ] श्रीपतञ्जलि भगवान्‌की कृति, प्राचीन टीका तथा टिप्पणीसे विभूषित । सं०—न्यायव्याकरणाचार्य श्रीसूर्यनारायणशुक्ल । पृ० सं० १००, मू.–आ. ६

१०–प्रेमपत्तन—[श्रीकृष्णभक्तिसे सरावोर चैतन्य-सम्प्रदायका अपूर्व ग्रन्थ] भक्तवर रसिकोत्तंसकी कृति तथा अद्‌भुतप्रणीत टीकासे अलंकृत । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ. सं. २३०, मू.–रु.१

(ख) विभाग

१–खण्डनखण्डखाद्य—कवितार्किकशिरोमणि श्रीहर्षरचित, पंडितवर श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल विरचित भाषानुवादसे विभूषित ।
पृ० सं० ४३५ (बड़ा आकार) मू.–रु. २ आ. १२

२–काशी-केदार-माहात्म्य—[ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत] साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्द त्रिपाठीद्वारा विरचित भाषानुवादसहित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं० २६+६०४, मू.–रु. २ आ. ८

३–सिद्धान्तविन्दु—(वेदान्तका प्रमेयवहुल अपूर्व ग्रन्थ) आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीविरचित, भाषानुवाद तथा टिप्पणीसे विभूषित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं २८०, मू. रु. १ आ. ६

५–प्रकरणपञ्चक—भगवान् शङ्कराचार्यके आत्मबोध, प्रौढानुभूति, तत्त्वोपदेश आदि ५ प्रकरण-ग्रन्थोंका भाषानुवादसहित संग्रह । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं० १३१, मू.–आ. ८

यन्त्रस्थ ग्रन्थ—

१ षट्सन्दर्भ, विविध टीकाओंसे विभूषित ।

मिलनेका पता—

(१) अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी ।

(२) गीताप्रेस, गोरखपुर ।



नोट—अच्युतग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहकोंको उक्त सभी पुस्तकें पौन मूल्यपर दी जाती हैं । 'अच्युत' मासिक पत्रके स्थायी ग्राहक (ख) विभागके स्थायी ग्राहक समझे जायँगे ।

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ॥) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मंगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।



Regd. No. A. 2426

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

Cover printed at the Indian Press, Ltd ,